Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज-कल्याण तथा सुरक्षा

(Social Welfare and Security)

9.5

लेखक

विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

प्रकाशक

विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज-कल्याण तथा सुरक्षा

महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी.....
पु०सं०.....
भारती पुस्तकालय
769

श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख
अध्यक्षा,
केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड
लिखती हैं :

"प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रणेता श्री सत्यव्रत सिद्धांतालंकार का व्यक्तित्व एक कुशल अध्यापक और विद्वान् लेखक के रूप में हिंदी-जगत् के लिए जाना-पहचाना व्यक्तित्व है। इनकी पुस्तक 'समाज-कल्याण और सुरक्षा' समाज-कल्याण भावना से अनुप्राणित है। पुस्तक की विषय-सूची को देखने से प्रकट होता है कि लेखक ने इस ग्रन्थ में मूलतः समाज-कल्याण और सुरक्षा-सम्बन्धी विषयों को ही न लेकर उन विषयों को भी लिया है, जो हमारे नागरिक सामान्य-ज्ञान से सम्बन्धित हैं।"

"इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के प्रणेता ने भरसक यह प्रयत्न किया है कि भारतीय-नागरिक के नैत्यिक-जीवन में समाज-कल्याण-संबंधी जितने सामान्य-ज्ञान की आवश्यकता है, उसका इस ग्रन्थ में समावेश कर दिया जाय।"

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार ने ८०० रुपया पारितोषिक दिया है।

समाज-कल्याण तथा सुरक्षा

[SOCIAL WELFARE AND SECURITY]

लेखक

अखिल-भारतीय मंगलाप्रसाद पारितोषिक विजेता

विद्या-मार्तण्ड प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

उप-कुलपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय

'विद्या-विहार', बलबीर ऐवेन्यू,

देहरादून

[संशोधित तथा परिवर्धित नवीन संस्करण]

12/5

मूल्य : [illegible]

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकाशक
विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी,
'विद्या-विहार',
४-बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून

हमारे प्रकाशन

[इंटरमीजियेट 'समाज-शास्त्र' के लिए]

१. प्रारम्भिक समाजशास्त्र ३॥)
२. भारतीय सामाजिक-संगठन ३)

[इंटरमीजियेट 'मनोविज्ञान' के लिए]

३. व्यावहारिक-मनोविज्ञान ४)

[इंटरमीजियेट 'होम-साइंस' कन्याओं के लिए]

४. समाजशास्त्र तथा बाल-कल्याण ४)

[इंटरमीजियेट 'शिक्षा' के लिए]

५. शिक्षा-मनोविज्ञान ५॥=)
६. शिक्षाशास्त्र ४)

[बी० ए० 'समाज-शास्त्र' के लिए]

७. समाज-शास्त्र के मूलतत्व १५)
८. समाज-कल्याण तथा सुरक्षा ६)
९. भारतीय जन-जातियाँ तथा संस्थाएँ १२॥)

[एम० ए० के लिए]

१०. सामाजिक मानव-शास्त्र १२॥)
११. सामाजिक विचारों का इतिहास १२॥)

[सर्व-साधारण के लिए]

१२. धारावाही हिन्दी में सचित्र एकादशोपनिषद् (मूलसहित) १२)
१३. ब्रह्मचर्य-सन्देश ४॥)
१४. आर्य-संस्कृति के मूलतत्व ४)
१५. स्त्रियों की स्थिति ४)

विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी
विद्या-विहार, ४—बलबीर एवेन्यू, देहरादून।

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

मुद्रक
न्यू इण्डिया प्रेस
कनाट सरकस
नई दिल्ली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कम्पनी
विद्या-विहार, ४—बलबीर ऐवेन्यू, देहरादून
की प्रकाशित
पन्द्रह अमर-कृतियां

इस पुस्तक पर उत्तर-प्रदेश सरकार ने ८०० रु० पारितोषिक दिया है

हरि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी.....
पु०सं० 761
भारती पुस्तकालय

धारावाही हिन्दी में सचित्र

१. एकादशोपनिषद्—मूल-सहित

[ब्रह्म-विद्या]

भूमिका-लेखक—भारत के उपराष्ट्रपति श्री डा० राधाकृष्णन

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

आर्य-संस्कृति के प्राण उपनिषद् हैं। उपनिषदों के अनेक अनुवाद हुए हैं, परन्तु प्रस्तुत अनुवाद अन्य अनुवादों से विशेषता रखता है। इस अनुवाद में हिन्दी को प्रधानता दी गई है। जो व्यक्ति संस्कृत के बखेड़े में न पड़ कर उपनिषद् का तत्व ग्रहण करना चाहे, वह सिर्फ़ हिन्दी भाग पढ़ जाये, उसे कोई स्थल ऐसा नहीं मिलेगा जो सरल न हो, स्पष्ट न हो, जिसमें किसी तरह की कोई भी उलझन हो। ऊपर मोटे-मोटे अक्षरों में हिन्दी भाग दिया गया है, यह हिन्दी भाग धारावाही तौर पर दिया गया है, और जो-कोई हिन्दी तथा मूल संस्कृत की तुलना करना चाहे, उसके लिए अंक देकर नीचे संस्कृत भाग भी दे दिया गया है। फुटनोट में दिये संस्कृत-भाग को छोड़ कर जो सिर्फ़ हिन्दी-भाग पढ़ना चाहे, वह धारावाही हिन्दी-भाग को पढ़ता चला जाय—विषय एकदम स्पष्ट होता चला जायगा, कहीं किसी तरह का अटकाव नहीं आयेगा। पुस्तक की सब से बड़ी विशेषता यह है कि अनुवाद में मक्खी-पर-मक्खी मारने की कोशिश नहीं की गई, विषय को खोल कर रख दिया गया है। साधारण पढ़े-लिखे तथा संस्कृत के अगाध पंडितों—दोनों के लिए यह नवीन ढंग का ग्रन्थ है। यही इस अनुवाद की मौलिकता है।

अब तक उपनिषदों के जो अनुवाद हुए हैं, वे पढ़ने वालों को शब्द-जाल में भरमा देते हैं, मनुष्य शब्द-जाल से आगे निकलकर ऋषियों के भाव तक नहीं पहुँच पाता। इस अनुवाद में हम शब्द-जाल को पार कर के उपनिषद् के ऋषियों की भावना को जा पकड़ते हैं।

मुख्य-मुख्य उपनिषद् ११ मानी गई हैं। इन सभी उपनिषदों का धारावाही स्वतंत्र-हिन्दी-अनुवाद इस ग्रन्थ में मूल-सहित दे दिया गया है। पुस्तक को रोचक बनाने के लिये जगह-जगह पर २५-३० चित्र भी दिये गए हैं। टाइटल पर आर्ट पेपर का तीन रंगों का डस्ट कवर है। कपड़े की सुन्दर जिल्द है। मूल्य केवल बारह रुपया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. आर्य-संस्कृति के मूल-तत्व

लेखक---विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

[कुछ समालोचनाओं का सार]

"दैनिक-हिन्दुस्तान" (१० जनवरी १९५४)--

"हम तो यहाँ तक कहने का साहस रखते हैं कि भारत से बाहर जाने वाले सांस्कृतिक-मिशन के प्रत्येक सदस्य को इस पुस्तक का अवलोकन अवश्य करना चाहिए। लेखक की विचार-शैली, प्रतिपादन-शक्ति, विषय-प्रवेश की सूक्ष्मता डा० राधाकृष्णन से टक्कर लेती है। आज के देश के अंग्रेज़ीमय वातावरण में यदि इस पुस्तक का अंग्रेज़ी में अनुवाद करा दिया जाय, तो पुस्तक विशेष रूप से लोकप्रिय होगी।"

"नव-भारत टाइम्स" (१० दिसम्बर १९५३)—

"लेखक ने आर्य-संस्कृति के अथाह समुद्र में पैठकर, उसका मन्थन करके, उसमें छिपे रत्नों को बाहर लाकर रख दिया है। भाषा इतनी परिमार्जित है कि पढ़ते ही बनती है। इस ग्रन्थ को अगर आर्य-संस्कृति का दर्शन-शास्त्र कहा जाये, तो अत्युक्ति न होगी। हिन्दी के संस्कृति-संबंधी साहित्य में इस ग्रन्थ का स्थान अमर रहने वाला है।"

"जनसत्ता" (१० जनवरी १९५४)

'लेखक ने बड़ी परिमार्जित भाषा में भारतीय-संस्कृति के उन मूल-तत्वों का वर्णन किया है जो इसके आधार हैं। उन्होंने एक दार्शनिक और वैज्ञानिक की तरह 'आर्य-संस्कृति' का विश्लेषण कर दिया है, और उसके प्रत्येक तत्व को पाठक के सामने निखार कर रख दिया है। 'संस्कृति' के विषय में अनेक पुस्तकें हमने देखी हैं, परन्तु प्रो० सत्यव्रत जी की इस पुस्तक का स्थान अद्वितीय है। पुस्तक हिन्दी-साहित्य के मस्तक को ऊँचा करने वाली है। ऐसी पुस्तकों से ही देश का स्थिर-साहित्य बनता है। प्रत्येक भारतीय को इस ग्रन्थ का अध्ययन करना चाहिये---यह हमारी हार्दिक इच्छा है।"

साप्ताहिक-हिन्दुस्तान (३ जनवरी १९५४)—

"हमारी सम्मति में आर्य-संस्कृति के संबंध में आज तक जो पुस्तकें लिखी गई हैं, उनमें प्रो० सत्यव्रत जी की लिखी इस पुस्तक का बहुत ऊँचा स्थान है। समस्त पुस्तक गहन विषयों को सरल भाषा में व्यक्त किये गए विचारों से भरी पड़ी है। आर्य-संस्कृति के संबंध में इस प्रकार की मार्मिक-विवेचना करने वाली यह पहली पुस्तक हमारे देखने में आयी है। जो लोग 'आर्य-संस्कृति' के संबंध में जानकारी हासिल करना चाहें, उनका ज्ञान इस पुस्तक को पढ़े बिना अधूरा रहेगा। प्रत्येक पुस्तकालय के लिए इस पुस्तक का संग्रह करना पुस्तकालय की शोभा को बढ़ायेगा। पुस्तक सुन्दर कागज़ पर छपी है, बढ़िया जिल्द, मोनो टाइप है, यह सब-कुछ देखते हुए मूल्य भी उचित ही है।"

सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. ब्रह्मचर्य-संदेश

भूमिका लेखक—स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

नवयुवकों को 'ब्रह्मचर्य' जैसे गंभीर विषय पर, सरल-सुन्दर भाषा में जो-कुछ कहा जा सकता है, इस पुस्तक में कह दिया गया है। स्वर्गवासी श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज ने इस पुस्तक की भूमिका लिखी थी। स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज भारत-भूमि के पहले व्यक्ति थे जिन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में 'ब्रह्मचर्य' को क्रियात्मक रूप देने के लिए गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की थी। ऐसे महा-पुरुष ने इस पुस्तक की भूमिका इसीलिए लिखी थी क्योंकि उन्होंने पुस्तक के महत्व को देख लिया था। इस पुस्तक ने हिन्दी-साहित्य में अमर स्थान बना लिया है। पुस्तक का यह पाँचवाँ संस्करण है। पुस्तक की श्रेष्ठता इसी से सिद्ध है कि इसके गुजराती भाषा में दो स्वतन्त्र अनुवाद हो चुके हैं। कुछ समालोचनाओं का सार निम्न है :—

खंडवा का 'कर्मवीर' लिखता है—"इस विषय पर हिन्दी में सबसे अधिक प्रामाणिक, सबसे अधिक खोजपूर्ण और सबसे अधिक ज्ञातव्य बातों से भरी हुई यही पुस्तक देखने में आयी है।"

दिल्ली का 'वीर अर्जुन' लिखता है—"हम चाहते हैं कि प्रत्येक नव-युवक के हाथ में यह पुस्तक हो।"

लखनऊ की 'माधुरी' लिखती है—"भाषा परिमार्जित तथा वर्णन-शैली एकदम अछूती है। मालूम होता है, कोई विज्ञान-वेत्ता सांसारिक तत्व-विवेचना पर व्याख्यान दे रहा है। आजतक जितनी पुस्तकें इस विषय पर निकली हैं उन सब में यह बढ़िया है।"

पुस्तक सचित्र तथा सजिल्द है। मूल्य : साढ़े चार रुपया।

'स्त्रियों की स्थिति' पुस्तक पर पाँच सौ रुपया सेकसरिया-पारितोषिक मिला है

४. स्त्रियों की स्थिति

भूमिका लेखिका—श्रीमती लीलावती मुन्शी (धर्मपत्नी श्री के० एम० मुंशी)

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम०ए०, बी०टी०

इस पुस्तक की लेखिका को, इस पुस्तक के लिखने पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, अलाहाबाद ने उस वर्ष की सर्वोत्तम लेखिका घोषित कर पाँच सौ रुपए का 'सेकसरिया-पुरस्कार' दिया था। इस पुस्तक में स्त्रियों सम्बन्धी प्रश्नों पर बिल्कुल मौलिक ढंग से विचार किया गया है। पुस्तक की विचार-धारा में एक प्रवाह है, जो साहित्यिक-पुस्तकों में कम देखने में आता है। यह पुस्तक पिता अपनी पुत्री को, पति अपनी पत्नी को, और भाई अपनी बहिन को भेंट दे, तो इससे बढ़कर दूसरी भेंट नहीं हो सकती। यह पुस्तक का नवीन संस्करण है जिसमें स्त्रियों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक नवीन विषयों का समावेश किया गया है। सजिल्द पुस्तक का मूल्य—चार रुपया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस पुस्तक पर अखिल-भारतीय-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२००) का मंगला-प्रसाद पारितोषिक तथा उत्तर-प्रदेश सरकार ने १०००) रु० पारितोषिक दिया है क्योंकि सरकार द्वारा डिग्री-क्लासों के लिए इस विषय की यह सर्वोत्तम पुस्तक मानी गई है।

५. समाज-शास्त्र के मूल-तत्व

[नवीन संशोधित तथा परिवर्धित संस्करण]

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

समाज-शास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् डा० रामनारायण सक्सेना इस पुस्तक के विषय में लिखते हैं :—'इस पुस्तक में 'समाज-शास्त्र' के सभी विषयों का सुन्दर तथा सरल विवेचन दिया गया है। वैसे तो पुस्तक 'समाज-शास्त्र' से परिचय प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले सभी पाठकों के लिए उपयोगी है, परन्तु विश्व-विद्यालयों के उन विद्यार्थियों के लिए तो, जो 'समाज-शास्त्र' का अध्ययन कर रहे हैं, यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगी क्योंकि इसमें बी० ए० तथा एम० ए० की पाठविधि के इस क्षेत्र के किसी विषय को छोड़ा नहीं गया, हर विषय की गहन तथा विशद विवेचना की गई है। 'समाज-शास्त्र' के सभी विश्व-विद्यालयों के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक बड़ी आसानी से 'पाठ्य-पुस्तक' का काम दे सकेगी।"

सात सौ छप्पन पृष्ठों की सजिल्द पुस्तक का दाम सिर्फ़ पन्द्रह रुपया रखा गया है।

६. समाजिक मानव-शास्त्र

(SOCIAL ANTHROPOLOGY)

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

दैनिक हिन्दुस्तान लिखता है—"यह ग्रंथ बी० ए० तथा एम० ए० की इस विषय की निर्धारित पाठविधि के अनुसार लिखा गया है, अतः इसमें उन सब मतों तथा सिद्धान्तों का तो समावेश है ही जो इस विषय पर लिखी अंग्रेजी की प्रामाणिक पुस्तकों में है, पर इसके साथ-साथ विद्वान् लेखक ने निःसंकोच भाव से भारतीय वेद-स्मृति एवं पुराण-शास्त्र सम्मत मत भी यथास्थान विचार के साथ लिखे हैं। ग्रंथ में ३१ अध्याय हैं। यह ग्रंथ इस विषय पर हिन्दी में मौलिक-ग्रंथ से किसी प्रकार कम नहीं है।

भिन्न-भिन्न विश्वविद्यालयों की 'मानव-शास्त्र' (Anthropology) की एम० ए० की पाठविधि में जो-जो विषय हैं, उन पर इस ग्रंथ में विशद तथा सरल भाषा में सुन्दर विवेचना है। ६४० पृष्ठों की सुन्दर कपड़े की जिल्द तथा सुन्दर कागज़ पर छपी इस पुस्तक का दाम १२॥) रु० है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इण्टरमीजियेट के लिए समाज-शास्त्र पर तीन पुस्तकें

७. प्रारम्भिक समाज-शास्त्र

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

१९५८–५९ से उत्तर-प्रदेश के अनेक इण्टर-कालेजों में समाजशास्त्र का विषय रखा गया है। इण्टर की पाठविधि को सम्मुख रख कर दोनों पर्चों के लिए समाजशास्त्र के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० सत्यव्रत जी ने पुस्तक लिखी हैं। इनमें से प्रारम्भिक समाजशास्त्र का दाम तीन रुपया है और उसकी विषय-सूची नीचे दी जा रही है:

Nature and Scope of Sociology; Relation of Sociology with other Social Sciences; Definitions of Society, Community, Association; Caste and Class; Family organisation—Structure and Function; Marriage—Structure and Function; Environment and its effects on Social life; Geographical environment; Cultural environment; Individual and Society; Social disorganisation; Crime; Juvenile delinquency; Poverty—Causes and Cures; Unemployment—Causes and Cures.

८. भारतीय सामाजिक-संगठन

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय-सूची—Caste system—characteristics, function and change; Joint-family—characteristics, defects and factors influencing change; Forms of marriage, Social legislation and its effect on marriage; Village communities; Village Panchayat; Indian poverty—causes and remedies; Social welfare and planning; Community Development Projects. मूल्य : तीन रुपया।

९. समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण

लेखक—विद्यामार्तण्ड कर्नल प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

कन्याओं की पाठशालाओं में इन्टरमीजियेट में गृह-विज्ञान (Home Science) विषय पढ़ाया जाता है। गृह-विज्ञान के अन्दर 'समाज-शास्त्र तथा बाल-कल्याण'—इस नाम से एक विषय रखा हुआ है जिस पर अभी तक कोई प्रामाणिक पुस्तक नहीं थी। प्रो० सत्यव्रत जी की इस पुस्तक ने यह समस्या पूर्ण रूप से हल कर दी है। पुस्तक की विषय-सूची नीचे दी जा रही है।

Human Needs; Frustration; Family as Satisfying Human needs; The Indian family and the roles played by each member of the family; Immediate and Joint family; How childhood influences personality of the individual; Childhood and Sex-education; Girl-boy relationship; Early marriage; Legal and Biological qualifications for marriage; Adjustments in marriage; Budgetting family income; Care of expectant Mother; Care of New-born child; Care of the infant; Infant mortality; Modern movements of child-welfare; Children's development. मूल्य: दो रुपया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. शिक्षा-शास्त्र

भूमिका लेखक—श्री डा० सम्पूर्णानन्द जी

पुस्तक लेखक—प्रो० सत्यव्रत तथा श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल

'शिक्षा' के सम्बन्ध में जितने आधुनिक विचार हैं, वे सब इस ग्रन्थ में थोड़े-से में, अत्यन्त सरल तथा रोचक भाषा में दे दिये गए हैं। शिक्षा के सिद्धान्त (Principles of Education), शिक्षा की विधि (Method of Education), शिक्षा का विधान (Organisation of Education) तथा भारतीय-शिक्षा का आदि-काल से आज तक का इतिहास (History of Indian Education)—ये सब विषय एक स्थान पर दे दिये गए हैं। इस पुस्तक की उपयोगिता इसी बात से स्पष्ट है कि शिक्षा-संस्थाओं में जहाँ-जहाँ 'शिक्षा' विषय पढ़ाया जाता है, वहाँ-वहाँ इस पुस्तक का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

सजिल्द पुस्तक का दाम चार रुपया है।

मंगलाप्रसाद-पारितोषिक-प्राप्त ग्रन्थ

११. शिक्षा-मनोविज्ञान

लेखिका—आचार्या चन्द्रावती लखनपाल एम० ए०, बी० टी०

'शिक्षा-मनोविज्ञान' पर यह हिन्दी में सर्वोत्तम पुस्तक है। इस पर हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन ने १२०० (बारह सौ) रुपए का मंगलाप्रसाद-पारितोषिक देकर लेखिका को सम्मानित किया था।

काशी-विश्वविद्यालय के ट्रेनिंग-कालेज के उस समय के प्रिन्सिपल, जिस समय यह पुस्तक लिखी गई थी, रायबहादुर पं० लज्जाशंकर झा, आ० ई० एस० ने इस पुस्तक पर निम्न सम्मति प्रकट की थी :—

"मुझे शिक्षा-मनोविज्ञान विषय से विशेष प्रेम है, और मुझे इस विषय की अनेक पुस्तकें देखने का अवसर मिला है। हिन्दी में इस विषय पर अभी तीन चार ही पुस्तकें छपी हैं, वे भी देखी हैं, परन्तु चन्द्रावती जी की पुस्तक में निम्न गुण मुझे बहुत अधिक पसन्द आये :—

१. चन्द्रावती जी ने विषय का बहुत ही अच्छा अध्ययन कर लिया है, और उनकी बुद्धि कुशाग्र और निर्मल होने के कारण उन्होंने विषय की बारीकियों को भी खूब समझा है।

२. विषय बहुत ही रोचक रूप से सामने रखा गया है, शब्दाडंबर नहीं है। भाषा सरल तथा शुद्ध है। पारिभाषिक शब्द मन को एकदम ठीक जँचते हैं।

३. उदाहरण अपने अनुभव से दिये हैं।

४. मनोविज्ञान जटिल विषय है, परन्तु लेखिका ने ट्रेनिंग कालेज की पद्धतियों का अनुसरण करके विषय अत्यन्त रोचक तथा स्पष्ट बना दिया है।

चन्द्रावती जी ने ऐसी उत्तम पुस्तक लिख कर हिन्दी-साहित्य की भारी सेवा की है, और ट्रेनिंग कालेज को तो वरतंतु के शिष्य के समान १४ करोड़ की दक्षिणा चुका दी है।" पुस्तक सचित्र है, मूल्य पाँच रुपया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विषय-सूची

प्राक्कथन—श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख, अध्यक्षा, समाज-कल्याण-पटल केन्द्रीय-सरकार

भूमिका—लेखक द्वारा

१. 'समाज-कल्याण' तथा 'कल्याण-राज्य' का विचार १७
(Theory of Social Welfare and Welfare State)

२. समाज-कल्याण के विचार तथा भारत ३१
(Concepts of Social Welfare and India)

३. समाज-कल्याण के विचार तथा युरोप ४२
(Concepts of Social Welfare and Europe)

४. राज्य के कार्य-क्षेत्र संबंधी सिद्धान्त ५३
(Principles of State Action)

५. सामाजिक-पुनर्निर्माण के सिद्धान्त ८०
(Theories of Social Reconstruction)

६. भिन्न-भिन्न देशों में सामाजिक-पुनर्निर्माण १०६
(Social Reconstruction in Different Countries)

७. भारत में सामाजिक-पुनर्निर्माण—पंचवर्षीय योजनाएँ ... १२६
(Social Reconstruction in India—Five-year Plans)

८. भारत में सामाजिक-विधान १४९
(Social Legislation in India)

९. भारत में सामाजिक-सुधार १७५
(Social Reform in India)

१०. भारत में शिक्षा-संबंधी-सुधार—बेसिक तथा सामाजिक शिक्षा ... १८७
(Educational Reforms in India—Basic and Social Education)

११. भारत की निर्धनता—कारण तथा निवारण २३१
(Poverty—Causes and Cures)

१२. निर्धनता तथा जन-संख्या का प्रश्न २५६
(Poverty and Population Problem)

१३. भारत में स्वास्थ्य २८१
(Health in India)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४. भारत में पोषण ३०७
(Nutrition in India)
१५. भारत में ग्रामीण-जीवन ३१४
(Rural Life in India)
१६. भारत में ग्राम का महत्व तथा उसका संगठन ३४३
(Importance of the Village in India and its Organisation)
१७. ग्रामों का पुनर्निर्माण ३५९
(Rural Reconstruction)
१८. नगरों का विकास ३८७
(The Growth of Towns)
१९. नागरिक समस्याएँ ४०१
(Urban Problems)
२०. उद्योगीकरण तथा उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभाव ४१५
(Industrialization and its Socio-economic Effects)
२१. सामाजिक-विगठन ४२६
(Social Disorganisation)
२२. भारत में युवापराध ४५२
(Crime in India)
२३. भारत में किशोरापराध ४७६
(Juvenile Delinquency in India)
२४. नशा-निरोध ५०१
(Prohibition)
२५. भारत में श्रमिकों की हालत ५२१
(Labour Conditions in India)
२६. श्रम-कल्याण की समस्याएँ ५२८
(Problems of Labour Welfare)
२७ श्रम-कानून ५८०
(Labour Legislation)
२८. श्रम-कल्याण ६१५
(Labour Welfare)
२९. सामाजिक-सुरक्षा ६२०
(Social Security)
३०. प्रश्न-पत्र (१९५१ से १९६४ तक) ६४७

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राक्कथन

(लेखिका---श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख, अध्यक्षा, केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड, भारत-सरकार)

भारतीय-इतिहास का वर्तमान युग वस्तुतः पीड़ित मानवता की मुक्ति का युग है, और इस युग में जीने वालों का यह सौभाग्य है कि इस महान् मानवतावादी क्रान्ति का श्रीगणेश करने का अवसर उन्हें प्राप्त हुआ है।

जिस समय "समाज-कल्याण" एवं "सुरक्षा" जैसे शब्द मेरे सामने आते हैं, तो उनके साथ हमारे महान् प्रयत्नों का इतिहास भी मेरी आँखों के समक्ष साकार हो उठता है जो कि समय-समय पर समाज-सुधारकों और सामाजिक विद्रोहियों की संज्ञा से अभिहित की जाने वाली महान् आत्माओं द्वारा किए गए। आज उन बलिदानों के फलीभूत होने का अवसर उपस्थित हुआ है, और उसी के साथ मनुष्यता के भाग्य का नए तौर पर सृजन करने का पुनीत कर्त्तव्य भी हमारे कन्धों पर आ गया है।

वस्तुतः जिस प्रकार राजनीतिक स्तर पर लड़े जाने वाले आन्दोलनों का अपना इतिहास है, उसी के समानान्तर सामाजिक विषमताओं और निर्योग्यताओं को मिटाने के लिए चलाये गए आन्दोलनों का भी अपना इतिहास है। अनेक बार ये संघर्ष-कारी-आन्दोलन समान-मंचों से भी चलाए गए हैं, और इस दृष्टि से भारतवर्ष के इतिहास के पिछली एक शताब्दी के इस प्रगति-अभियान को अगर हम एक नवीन सांस्कृतिक-पुनर्जागरण की संज्ञा से पुकारें, तो अनुचित न होगा। इस महान् सांस्कृतिक-पुनर्जागरण को वैज्ञानिक ढंग से जनता के समक्ष प्रस्तुत करना हमारे इतिहासकारों और साहित्यकारों का कर्त्तव्य है।

प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रणेता श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार का व्यक्तित्व एक कुशल अध्यापक और विद्वान् लेखक के रूप में हिन्दी-जगत् के लिए जाना-पहिचाना व्यक्तित्व है। इनकी पुस्तक "समाज-कल्याण और सुरक्षा" समाज-कल्याण भावना से अनुप्राणित है। पुस्तक की विषय-सूची को देखने से ही प्रकट हो जाता है कि लेखक ने इस ग्रंथ में मूलतः समाज-कल्याण और सुरक्षा सम्बन्धी विषयों को ही न लेकर उन विषयों को भी लिया है, जो हमारे नागरिक सामान्य-ज्ञान से सम्बन्धित हैं।

वस्तुतः हमारा देश इस समय आर्थिक और सामाजिक प्रगति के ऐसे मोड़ पर खड़ा हुआ है, जहाँ से हम भावी भारत के अभिनव स्वरूप की स्पष्ट झाँकी ले सकते हैं। जहाँ एक तरफ प्रथम और द्वितीय पंच-वर्षीय आयोजनाओं के क्रियान्वित होने पर औद्योगिक और आर्थिक-क्षेत्र में क्रान्ति सम्पन्न हो रही है, और जनता के हाथों निर्मित होने वाले विशाल बाँधों और नदी-घाटी योजनाओं के द्वारा जिस प्रकार औद्योगिक समृद्धि का पथ प्रशस्त हो रहा है, उसी प्रकार सामाजिक-क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति सम्पन्न हो रही है जिसका उदाहरण हमारे इतिहास में खोजना दुर्लभ,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। सदियों पुरानी वर्ग-वैषम्य की दुर्भेद्य दीवारें ढह रही हैं, और शोषितों और पीड़ितों का उद्धार हो रहा है। सदियों तक स्त्री-वर्ग के नाम से सम्बोधित इस देश की आधी मानवता शोषण और दमन के चक्र में पिसती रही है। भारतीय समाज की इस विशृंखलता के कारण ही अनेक बार इस देश की गौरव-महिमा विदेशी आक्रान्ताओं के पाद-प्रहारों से भू-लुण्ठित हुई है। आज इस देश के लोग इस सत्य से अवगत हो चुके हैं और यह स्वीकार करते हैं कि एक सबल और सम्पुष्ट राष्ट्र का निर्माण करने का स्वप्न तब तक पूरा नहीं हो सकता जब तक प्रत्येक राष्ट्र-जन को वास्तविक स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हो जाती।

इस अलक्षित रूप से सम्पन्न होने वाली क्रान्ति का यह चक्र स्त्रियों और बच्चों के साम्पत्तिक और सामाजिक अधिकारों की प्राप्ति तक ही सीमित नहीं रहा है। वरन्, समस्त देश में बाधितों, पीड़ितों और सामाजिक विषमताओं के शिकार होने वाले लोगों के प्रति एक स्वस्थ, बौद्धिक संगति तथा मानवीय भावनाओं से युक्त दृष्टिकोण का आविर्भाव हो रहा है। आज से पहिले शारीरिक तथा मानसिक रूप से बाधितों, तिरस्कृत महिलाओं और विधवाओं के कल्याण का कार्य केवल कुछ-एक पारमार्थिक संस्थाओं द्वारा की जाने वाली सेवाओं के सहारे ही चलता था। भारतीय इतिहास में यह पहिला अवसर है कि इन अभागे इंसानों की सेवा करने और उन्हें प्रतिष्ठापूर्ण सामाजिक-जीवन जी सकने योग्य बना देने का दायित्व राष्ट्र के द्वारा अपना पुण्य उत्तरदायित्व स्वीकार किया गया है। देश के कोने-कोने में उपेक्षितों के पुनरुद्धार का यह धर्म-चक्र चल रहा है और उसके सुपरिणाम हमारे सामने प्रकट हो रहे हैं।

इसी से मेरी मान्यता है कि "समाज-कल्याण और सुरक्षा"-शीर्षक से प्रस्तुत किए जाने वाले ग्रन्थ के लिए विशाल और प्रचुर सामग्री हमारे सामने बिखरी पड़ी है; केवल उसके एक सुनिश्चित और सुसम्पादित रूप से प्रस्तुत भर किए जाने की आवश्यकता है।

इसी प्रसंग में केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड द्वारा सम्पादित "सोश्यल-वेल्फ़ेयर इन इण्डिया"-ग्रन्थ का नाम उल्लेख कर देना अनुचित न होगा। समाज-कल्याण विषय को इस ग्रन्थ के सम्पादकों ने एक ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और प्रयत्न सफल हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता ने समाज-कल्याण सम्बन्धी उन मोटी-मोटी सुर्खियों को ले लिया है, जिनके बारे में साधारण जनता बहुधा जानने की इच्छा रखती है। इसमें सन्देह नहीं कि इस ग्रन्थ के प्रणेता ने भरसक यह प्रयत्न किया है कि भारतीय-नागरिक के नैत्यिक जीवन में समाज-कल्याण सम्बन्धी जितने सामान्य-ज्ञान की आवश्यकता है, उसका इस ग्रन्थ में समावेश कर दिया जाय।

राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक-व्यवस्थाओं, राजनीतिक-सिद्धान्तों, अन्तर्राष्ट्रीय, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक-संगठनों, राजनीतिक-मतवादों और कल्याण-संस्थाओं—सभी का व्याख्या सहित परिचय इस ग्रन्थ में दिया गया है—इस दृष्टि से यह ग्रन्थ एक सफल संदर्भ-ग्रन्थ के रूप में सम्पादित हुआ है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भूमिका

स्वराज्य-प्राप्ति से पहले तक समाज-कल्याण का काम सरकार की तरफ़ से न होकर निजी संस्थाओं की तरफ़ से होता था। विदेशी-सरकार का उद्देश्य किसी देश का, किसी समाज का भला करना नहीं हो सकता। वह तो अपने भले, अपने कल्याण के लिए सब-कुछ करती है। स्वतन्त्र-देश ही समाज-कल्याण की बात सोच सकता है, और इसीलिए कहने को भले ही विदेशी-हुकूमत समाज-कल्याण की बात करती रही हो, करने को तो इस दिशा में देश के स्वतंत्र होने के बाद से ही काम शुरू हुआ है। ऐसी हालत में समाज-कल्याण की दिशा एक बिल्कुल नई दिशा है, ऐसी दिशा जिसकी तरफ़ अभी तक हम लोगों ने पग ही नहीं बढ़ाया था। और, क्योंकि इस दिशा की तरफ़ से हम सदियों से बेसुध रहे, इसलिए आज देश की शक्ति इस दिशा की तरफ़ वेग से लग रही है, और हम वेग से ही समाज-कल्याण की तरफ़ पग बढ़ा रहे हैं।

इस समय हमारे सैकड़ों नहीं, हजारों समाज-सेवक सरकारी प्रबन्ध से शिक्षा पा रहे हैं। समाज-सेवा का कार्य निजी रूप से काम करने वालों के स्थान में सरकार ने अपने हाथ में ले लिया है। ऐसी अवस्था में हम लोगों के मन में तरह-तरह की शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं। क्या समाज-सेवा के क्षेत्र में सरकार को हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं ? अगर हमने समाज-कल्याण अपना लक्ष्य बनाना है, तो इस क्षेत्र के अन्तर्गत कौन-कौन-सी बातें आ जाती हैं ? समाज-कल्याण की दृष्टि से हमें क्या-क्या सामाजिक-सुधार करने होंगे ? सामाजिक ही नहीं, आर्थिक-सुधार भी हमें क्या करने होंगे ? क्या पूँजीवादी व्यवस्था से समाज का कल्याण होगा, या समाजवादी व्यवस्था से ? ये सब बातें यों ही टाली नहीं जा सकतीं। इन सब पर हमें निर्णय पर पहुँचना होगा और वह निर्णय दार्शनिक आधार पर टिक कर ही स्थिर हो सकेगा। जब तक हम अपने समाज-सेवकों को समाज-कल्याण की प्रामाणिक विचार-धारा नहीं दे देते, तब तक उनके कदम डगमगाते रहेंगे और वे दृढ़-संकल्प से कार्य नहीं कर सकेंगे। यही-सब सोचकर समाज-कल्याण को आधार बना कर यह पुस्तक लिखी गई है। इसका उद्देश्य समाज-सेवक को एक ऐसी निश्चित विचार-धारा दे देना है जो सन्देहों और परेशानियों में उसकी आत्मा को बल दे सके।

यह तो पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है। इसके साथ-साथ भिन्न-भिन्न विश्व-विद्यालयों में समाज-कल्याण का जो विषय पढ़ाया जाने लगा है, उसके लिए भी एक ऐसी प्रामाणिक पुस्तक की आवश्यकता थी जो विश्व-विद्यालयों के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की समस्या को हल कर सके। जब से मेरी 'समाज-शास्त्र के मूल-तत्व' पुस्तक प्रकाशित हुई है, तब से मुझे पत्रों पर पत्र आते रहे कि 'समाज-कल्याण' पर भी एक पुस्तक लिखूं क्योंकि यह विषय भी बी० ए० तथा एम० ए० में पढ़ाया जाता है। इसी उद्देश्य से यह पुस्तक लिखी गई जिसके अनेक संस्करण हुए। इससे यही आशा करनी चाहिए कि इस पुस्तक ने एक भारी कमी को पूरा किया है।

पुस्तक का प्राक्कथन भारत-सरकार के उस समय के 'सेंट्रल-सोश्यल-वेलफ़ेयर बोर्ड' की प्रधाना श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख ने लिखा —इसके लिये मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

पुस्तक के पिछले संस्करण की पृष्ठ-संख्या ६०० के लगभग थी, इस संस्करण की पृष्ठ-संख्या ६५८ है। प्रत्येक पृष्ठ में पंक्तियों की संख्या भी ज्यादा है। इतना सब कुछ होते हुए भी पुस्तक का दाम साढ़े बारह से सिर्फ़ ९ रुपये कर दिया गया है जिससे कि इन महँगाई के दिनों में विद्यार्थियों को राहत पहुँचे। आशा है, प्रकाशक की इस उदारता का विद्यार्थी-जगत् में हार्दिक स्वागत होगा।

उत्तर-प्रदेश की सरकार ने पुस्तक की उपादेयता को स्वीकार करते हुए इस पर लेखक को ८००) रुपये का पारितोषिक दिया है जिसके लिये लेखक आभार स्वीकार करता है।

विद्या-विहार,
४ बलबीर-एवेन्यू, देहरादून —सत्यव्रत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१

'समाज-कल्याण' तथा 'कल्याण-राज्य' का विचार
(THEORY OF SOCIAL WELFARE AND WELFARE STATE)

आज के युग में 'समाज-कल्याण' (Social welfare) तथा 'कल्याण-राज्य' (Welfare state)—ये दो शब्द राजनीतिक नभो-मंडल में गूँज रहे हैं। इस अध्याय में पहले हम 'समाज-कल्याण' तथा फिर 'कल्याण-राज्य' पर प्रकाश डालेंगे।

१. समाज-कल्याण की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ*
(Social welfare defined)

[क] वाटर ए० फ्रीडलैंडर की व्याख्या—"समाज-कल्याण समाज-सेवाओं और सामाजिक-संस्थाओं के व्यवस्थित संगठन का नाम है। इसका उद्देश्य व्यक्ति तथा समूह को जीवन तथा स्वास्थ्य का संतोषप्रद माप-दंड प्रदान करना है। समाज-कल्याण द्वारा हम इस प्रकार की वैयक्तिक तथा सामाजिक परिस्थितियों को जन्म देते हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति अपनी संपूर्ण शक्तियों का विकास कर सके, जिन परिस्थितियों से व्यक्ति का कल्याण हो सके, ऐसा कल्याण जो समाज की आवश्यकताओं के अनुरूप हो।"

इस अध्याय से सम्बन्ध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं। जिस प्रश्न के सम्मुख *—यह चिह्न लगा है, उस प्रश्न से ऊपर के विवरण का संबंध है। नीचे दिये गये सब प्रश्नों के सम्मुख *—यह चिह्न लगा है। इसका यह अर्थ है कि इन सभी प्रश्नों का इसी विवरण से संबंध है।

*** 1. What is a welfare state? State what principles should be adopted by it to promote social welfare in India. (1953)**

*** 2. Examine critically the concept of 'Welfare State'. Is India a welfare State? (1959)**

*** 3. Define 'Social Welfare' and discuss the concept of 'Welfare State'. (1960)**

*** 4. Discuss the concepts of 'Social welfare' and 'Welfare State'. (1963)**

[क] "Social welfare is the organised system of social services and institutions, designed to aid individuals and groups to attain satisfying standards of life and health. It aims at personal and social relationships which permit

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ख] जरट्रूड विल्सन तथा ग्लैडीज राइलैंड की व्याख्या—"सब व्यक्तियों के सब की भलाई करने के संगठित प्रयास को समाज-कल्याण कहते हैं।"

[ग] हैरी एच० कैसिडी की व्याख्या—"उन संगठित प्रयत्नों का नाम समाज-कल्याण है जिनमें मुख्य तौर पर और सीधे तौर पर मानव-शक्ति को नष्ट होने से बचाने, उसकी रक्षा करने तथा उसकी वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है। इसमें सामाजिक-सहायता, सामाजिक-बीमा, बाल-कल्याण, सुधार, मानसिक-स्वास्थ्य, सार्वजनिक-स्वास्थ्य, शिक्षा, आमोद-प्रमोद, श्रम-समस्याएँ, गृह-समस्याएँ आदि सब-कुछ आ जाता है।"

[घ] रौबर्ट कैलसो की व्याख्या—"समाज-कल्याण के उद्देश्य हैं—प्रत्येक व्यक्ति की आर्थिक आवश्यकताओं को पूर्ण करना, उसके स्वास्थ्य को ऊँचे स्तर पर उठाना, उसके लिए सुचारु जीवन बिता सकने योग्य परिस्थितियों को उत्पन्न करना, उसे अपने विकास के दूसरों के समान अवसर देना, उसे आत्म-सम्मानपूर्वक जीवन बिताने देना, उसे विचार तथा आचार की पूर्ण स्वतंत्रता देना, ऐसी स्वतंत्रता जो दूसरों की इसी प्रकार की स्वतंत्रता में बाधक न हो।"

तो फिर समाज-कल्याण क्या है? समाज-कल्याण का अर्थ है व्यक्ति की तथा समाज की ऐसी सहायता करना जिससे व्यक्ति की आवश्यकताएँ पूर्ण हों, और समाज की आवश्यकताएँ पूर्ण हों। व्यक्ति की आर्थिक-आय बढ़ाना, उसके जीवन के स्तर को ऊँचा करना, रोगी होने पर उसके लिए निःशुल्क दवा-दारू की व्यवस्था करना, वृद्ध होने पर उसकी देख-रेख करना, अपंग तथा निस्सहाय हो जाने पर उसके दुःख को मिटाने का प्रयत्न करना, उसके सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ

---

individuals the development of their full capacities and the promotion of their well-being in harmony with the needs of the community."— *Water A. Friedlander in 'Introduction to Social Welfare'*.

[ख] "Social welfare is an organised concern of all people for all people." —*Gertrude Wilson and Gladys Ryland in 'Social Group Work Practice'*.

[ग] Social welfare connotes "those organised activities that are primarily and directly concerned with the conservation, the protection and the improvement of human resources and includes social assistance, social insurance, child welfare, corrections, mental hygiene, public health, education, recreation, labour protection and housing."—*Harry H. Cassidy in 'Social Security and Reconstruction in Canada'*.

[घ] "The objective of social welfare is to secure for each human being the economic necessities, a high standard of health and decent living conditions, equal opportunities with his fellow-citizens, and the highest possible degree of self-respect and freedom of thought and action without interfering with the same right of others." —*Robert Kelso in 'Science of Public Welfare'*.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ला रखना जिनमें वह अपना सर्वाङ्गीण विकास कर सके, इस प्रकार सारे समाज का उत्थान कर देना—यह समाज-कल्याण है। आज प्रत्येक राज्य यह चर्चा कर रहा है कि उसका उद्देश्य अपने राज्य के हर मानव का कल्याण करना है। यह चर्चा 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (U.N.O.) की स्थापना के बाद से तो सब राज्यों के कोने-कोने में सुनाई देने लगी है। 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' का कहना है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष-बालक के कुछ 'आधारभूत मानवीय-अधिकार' (Fundamental Human Rights) हैं जिनकी रक्षा करना राज्य का कर्तव्य है। जो राज्य इन 'आधारभूत मानवीय-अधिकारों' की रक्षा करता है वही 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) है। आज प्रत्येक राज्य का ध्येय 'आधारभूत मानवीय-अधिकारों' की रक्षा करके अपने को 'कल्याण-राज्य' बनाना हो गया है। 'कल्याण-राज्य' के आधार में 'समाज-कल्याण' का विचार बैठा हुआ है, परन्तु प्रश्न उत्पन्न होता है कि क्या 'समाज-कल्याण' का विचार बिल्कुल आधुनिक है, क्या यह विचार बीसवीं सदी में ही उत्पन्न हुआ है, क्या मानव ने पहले कभी इधर ध्यान नहीं दिया ?

२. समाज-कल्याण के विचार का विकास

जब अभी राज्य का एक संगठन के रूप में विकास नहीं हुआ था तब मानव-समाज में कोई-न-कोई तो सामाजिक संगठन थे ही। वे संगठन थे—परिवार का संगठन, ग्राम का संगठन, नगर का संगठन। आज तो राज्य का काम समाज-कल्याण कहा जाता है, परन्तु जब राज्य का विकास नहीं हुआ था तब समाज-कल्याण का कार्य इन छोटे-छोटे संगठनों द्वारा ही होता था। वह कैसे ?

(क) परिवार द्वारा समाज-कल्याण—मानव-समाज का सर्व-प्रथम संगठन परिवार रहा है। परिवार के अन्य अनेक कार्य हैं, परन्तु इसका सबसे बड़ा कार्य परिवार के व्यक्तियों की रक्षा तथा कल्याण करना है। जैसे राज्य आमदनी का ध्यान न रख कर समाज के कल्याण की हर बात पर व्यय करना अपना कर्तव्य समझता है, कर्ज़ा लेकर पंच-वर्षीय योजनाएँ बनाता है ताकि समाज का कल्याण हो, वैसे ही परिवार में पति अपनी पत्नी के भले के लिए, पिता अपनी सन्तान की समृद्धि के लिए हर प्रकार का कष्ट उठाता है। आज के युग में भी व्यक्ति की सुरक्षा का सब से बड़ा साधन परिवार ही है। जिस व्यक्ति का परिवार नहीं वह नदी में बहते तिनके के समान अपने को लहरों की लपेट में इधर-से-उधर उलझा पाता है।

(ख) ग्राम के संगठन द्वारा समाज-कल्याण—परिवार के बाद ग्राम के संगठन का विकास हुआ। परिवार का आधारभूत कार्य व्यक्ति का कल्याण था, ग्राम के संगठन का कार्य भी स्थानीय शासन द्वारा ग्राम में सुख, शान्ति, व्यवस्था रखने के साथ-साथ एक-दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होकर पारस्परिक सहायता करना था। एक-दूसरे के सुख-दुःख में शरीक होने तथा एक-दूसरे की सहायता करने का ही दूसरा नाम समाज-कल्याण है। आज जैसे राज्य का काम देश-हित

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कार्यों के लिए कर लगाना, शिक्षा के लिए स्कूल-कालेज खोलना, स्वास्थ्य की देख-भाल के लिए अस्पताल चलाना है, वैसे ही जब पहले-पहल ग्रामों का संगठन बना तब उस संगठन का काम ग्राम की शिक्षा, स्वास्थ्य आदि समस्याओं के लिए पंचायतें बनाना था। ये पंचायतें पाठशालाएँ खोलती थीं, गाँव की सफ़ाई आदि की देख-भाल करती थीं, गाँव में उपद्रव करने वालों को दण्ड देती थीं, गौओं के लिए गोचर-भूमि की व्यवस्था करती थीं। गाँव की शासन-व्यवस्था के साथ-साथ गाँव की कल्याण-व्यवस्था करना भी इन संगठनों का काम था।

(ग) नगर के संगठन द्वारा समाज-कल्याण—ग्रामों के बाद नगरों के संगठन का विकास हुआ। नगरों में शासन-व्यवस्था की दृष्टि से शासन की इकाई बड़ी थी, और एक थी, परन्तु उसके भीतर अवान्तर इकाइयाँ छोटी-छोटी थीं और अनेक थीं। उदाहरणार्थ, नागरिक शासन का संबंध सारे नगर से था, इस शासन की एक ही इकाई थी, परन्तु नगर में छोटे-छोटे अनेक समूह थे, तब भी थे, आज भी हैं। ये छोटे-छोटे समूह परिवारों के थे, जाति-उपजातियों के थे। परिवारों के संगठन का रूप संयुक्त-परिवार का था। आज हमारे नव-युवक शादी हो जाने के बाद अपना घर अलग बसाना चाहते हैं, माता-पिता या परिवार के अन्य व्यक्तियों के साथ रहना पसन्द नहीं करते। इससे उनके सुख-दुःख का साथ देने वाले भी कोई नहीं रहते। प्रारंभिक परिवार संयुक्त-परिवार थे। घर के सब सगे-संबंधी एक-साथ रहते थे, मौका पड़ने पर सब एक-दूसरे की सहायता करते थे। इसी प्रकार जात-बिरादरी के लोग, अपनी जाति-उपजाति के लोग अपने निकट के किसी व्यक्ति को सहायता की ज़रूरत पड़ने पर उसकी सहायता करते थे। नगरों का जीवन यद्यपि वैयक्तिकता की तरफ़ बढ़ता था तो भी संयुक्त-परिवार तथा जात-बिरादरी की भावना समाज-कल्याण की दिशा में कुछ-न-कुछ करती ही थी। नगरों के ये छोटे-छोटे संगठन अनेक थे, परन्तु सब मिलकर एक होकर समाज-कल्याण के कार्य में सहायक थे।

३. राज्य के विकास हो जाने पर समाज-कल्याण का विचार नहीं विकसित हुआ

परिवार, गाँव, नगर के विकास के बाद राज्य का विकास हुआ। मानव-समाज की मुख्य समस्या सुशासन की थी, बाहर के शत्रुओं तथा भीतर के उपद्रवियों से रक्षा की थी। इस प्रयोजन के लिए परिवारों, गाँवों तथा नगरों का एक शासन में बँध जाना आवश्यक था। जो बलशाली था, बाहर तथा भीतर के शत्रुओं से सब की रक्षा कर सकता था, वह राजा बना और जहाँ-जहाँ उसका शासन चल सकता था वह सारा क्षेत्र उसका राज्य बना।

राज्य का काम अत्यन्त सीमित था। उसका काम ज्यादातर सैनिक-शक्ति तथा पुलिस-शक्ति का संगठन था जिससे सैनिक-शक्ति द्वारा बाहर के तथा पुलिस-शक्ति द्वारा अन्दर के शत्रुओं से देश की रक्षा हो सके। जब देश में शान्ति हो,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तभी तो समाज-कल्याण आदि कार्यों की तरफ़ ध्यान दिया जा सकता था, परन्तु वह अवस्था शान्ति की अवस्था नहीं थी, अशान्ति की अवस्था थी। हर राज्य दूसरे राज्य पर हमला करने के लिए तैयार रहता था, देश के भीतर भी चोर-लुटेरे मौक़े की ताक में रहते थे। राज्य का काम इस सारी स्थिति से जूझना था। यही कारण है कि शुरू-शुरू में समाज-कल्याण की तरफ़ राज्य का ध्यान नहीं गया। यह कार्य परिवार, गाँव, नगर आदि के भीतरी संगठनों द्वारा, संयुक्त-परिवार द्वारा, जात-बिरादरी द्वारा, प्रथा-परंपरा द्वारा होता रहा। उस समय राज्य अपने को समाज-कल्याण के कार्य के लिए उत्तरदायी नहीं समझता रहा। जिस राज्य में शान्ति थी, न बाहर के शत्रु आक्रमण करते थे, न भीतर के उपद्रवी उपद्रव करते थे, दो-चार सड़कें, दो-चार नहरें, थोड़ी-बहुत पाठशालाएँ, कुछ अस्पताल थे, वह कल्याण-राज्य समझा जाता था और राज्य के इस तरफ़ तनिक-सा ध्यान देने पर भी जनता उस राज्य से संतुष्ट थी।

४. राज्य तथा समाज-कल्याण का विचार

राज्य अपने विकास में अनेक रूपों में से गुज़रा है जिनमें से इसके मुख्य-मुख्य रूप हैं—राजा का युग, साम्राज्यवाद का युग, अधिनायकवाद का युग तथा जनतंत्र का युग। इन तीनों युगों में समाज-कल्याण की भावना का धीरे-धीरे विकास हुआ है और आज प्रजातंत्र-युग के युग में तो समाज-कल्याण शासन का आधारभूत तत्व बन गया है।

(क) राजा का युग (Age of Kingship)—जैसा हम पहले कह आये हैं, जिस युग में राजा राज्य करता था उसमें राजा की इच्छा ही प्रजा की इच्छा समझी जाती थी, 'जी-हजूर' उस युग का एकमात्र नारा था, इसलिए उस युग में समाज-कल्याण प्रजा का अधिकार नहीं था, राजा की कृपा थी। ऐसे युग में ही रोम में आग की प्रचंड ज्वालाएँ देखते हुए भी नीरो जैसे बादशाह बांसुरी बजा सकते थे।

(ख) साम्राज्यवाद का युग (Age of Imperialism)—जब एक राजा अपने राज्य से ही संतुष्ट न होकर दुनिया भर पर अपना आधिपत्य जमाने के लिए चल पड़ता है तब साम्राज्यवाद का जन्म होता है। राजा भी ऐसा कर सकते हैं, देश तथा राष्ट्र भी ऐसा कर सकते हैं। उस समय इनका उद्देश्य दूसरे देशों को पद-दलित करके उनकी धन-सम्पत्ति को अपने देश और देश-वासियों के लिए अपहरण कर लेना होता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद यही कुछ करता रहा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद को देख कर युरोप के अन्य देश भी साम्राज्यवाद के शिकार रहे। साम्राज्यवाद में अपने देश का कल्याण तो होता है, परन्तु दूसरे देश का अकल्याण ही नहीं, सत्यानाश होता है। साम्राज्यवादी अंग्रेज़ भारत में राज्य करते रहे, परन्तु उन्होंने यहाँ जो-कुछ भी समाज-कल्याण का कार्य किया, स्कूल-कालेज खोले, अस्पताल खड़े किये, अंधों-अपंगों की व्यवस्था की, वह सब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'ग्रामं गच्छन् तृणं स्पृशति'-न्याय से की, समाज-कल्याण करना उनका मुख्य उद्देश्य नहीं रहा, दूसरे काम करते-करते समाज-कल्याण का कार्य उनसे हो गया।

(ग) अधिनायकवाद का युग (Age of Dictatorship)—राज्य का एक रूप अधिनायकवाद है। अधिनायकवाद को तानाशाही भी कहते हैं। तानाशाही में प्रजा की इच्छा का, जनतंत्र का कोई स्थान नहीं। प्रजातंत्र में बहुमत का जो स्थान है, तानाशाही में डिक्टेटर की वैयक्तिक इच्छा का वही स्थान है। राजा के युग तथा तानाशाह के युग में यही भेद है कि राजा के युग में राज-परंपरा ख़ानदान से चलती है, तानाशाही युग में तानाशाही वंश-परंपरा से नहीं चलती। अधिनायकवाद वैयक्तिक स्वतंत्रता, समानता, बहुमत आदि प्रजातंत्र के सिद्धान्तों को नहीं मानता। समाज-कल्याण के आधार ही ये तत्व हैं इसलिए अधिनायकवाद चाहे तो समाज-कल्याण में प्रजातंत्र से बहुत आगे निकल जाय, चाहे तो समाज-कल्याण की बातों को ताक में रख दे। इस युग में समाज-कल्याण अधिनायक की वैयक्तिक इच्छा पर निर्भर करता है, सिद्धान्त का रूप नहीं धारण करता।

(घ) जनतंत्र का युग (Age of Democracy)—राज्य का आधुनिकतम रूप जन-तंत्र है। जन-तंत्र में राजा का स्थान प्रजा ले लेती है। जब राज्य किसी राजा का, किसी साम्राज्य का, किसी तानाशाह का न हो, प्रजा का अपना राज्य हो, तब प्रजा के कल्याण की भावना का उदय हो जाना स्वाभाविक है। इसलिए प्रजातंत्र तथा समाज-कल्याण के पारस्परिक संबंध पर विचार करना आवश्यक है।

५. प्रजा-तंत्र तथा समाज-कल्याण का विचार

वैसे तो परिवार, ग्राम तथा नगर के संगठन में हर स्थल पर समाज-कल्याण की भावना मौजूद है, परन्तु राज्य ने समाज-कल्याण को अपना क्षेत्र तभी बनाया जब राज्य ने प्रजा-तंत्र का रूप ले लिया। प्रजा-तंत्र का क्या अर्थ है? प्रजा-तंत्र में हर व्यक्ति की पृथक् सत्ता को स्वीकार किया जाता है, उसे अन्यों के समान समझा जाता है, राज्य से रक्षा तथा आजीविका पाने के उसके अधिकार को जन्म-सिद्ध माना जाता है। इसी को तो समाज-कल्याण कहते हैं। कोई समय था जब व्यक्ति का निजी तौर पर कोई अधिकार नहीं था, उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं थी। अगर राजा राज्य करता था, तो जैसा राजा चाहे वैसा व्यक्ति को करना होता था, अगर कोई तानाशाह शासन करता था, तो व्यक्ति को तानाशाह के सामने सिर झुकाना पड़ता था। प्रजा-तंत्र के युग में राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार किया गया, इसके स्वीकार करते ही राज्य का कर्तव्य हो गया कि वह व्यक्ति के कल्याण को अपना ध्येय बनाये, व्यक्ति का अधिकार हो गया कि वह अपने कल्याण की राज्य से आशा करे,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्योंकि प्रजा-तंत्र के भवन की नींव व्यक्ति के स्वतन्त्र अस्तित्व पर खड़ी की गई। अगर व्यक्ति का राज्य से स्वतंत्र अस्तित्व है, अगर राज्य का अस्तित्व ही व्यक्ति पर निर्भर है, उसके वोट पर निर्भर है, तो व्यक्ति की रक्षा करना, उसके कल्याण के लिए प्रयत्नशील होना राज्य का आधारभूत कर्तव्य है। आज के युग में प्रजा-तंत्र के प्रवाह के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गईं, जिनमें हर व्यक्ति अपने अधिकारों के लिए सचेत होने लगा, उनके लिए लड़ने लगा। पहले कभी डरा-धमका कर व्यक्ति को चुप कराया जा सकता था, प्रजा-तंत्र में यह संभव नहीं रहा। एक व्यक्ति की माँग सब व्यक्तियों की माँग बन गईं, और सारे समाज का कल्याण प्रजा-तंत्र का नारा बन गया।

प्रजा-तंत्र में समाज-कल्याण की भावना के उत्कट रूप से प्रकट होने में एक और भी कारण था। प्रजा-तंत्र उन्नीसवीं-बीसवीं सदी की उपज है। इसी सदी में उद्योगीकरण हुआ। प्रजा-तंत्र तथा उद्योगीकरण साथ-साथ जन्मे। उद्योगीकरण से जहाँ समृद्धि हुई, कल-कारख़ाने बढ़े, वहाँ इनके साथ-साथ ग़रीबी बढ़ी, अमीर ज्यादा अमीर हुए तो ग़रीब ज्यादा ग़रीब हुए, मज़दूर लोग खुले गाँव छोड़-छोड़ कर तंग शहरों में आकर बसने लगे, निर्धनता के साथ-साथ बीमारी, अपराध, श्रम-समस्याएँ बढ़ीं। एक तरफ़ प्रजा-तंत्र की विचार-धारा, यह विचार-धारा कि समाज के सब लोग एक-समान हैं, कोई ऊँचा नहीं, कोई नीचा नहीं, सामाजिक धारणाओं से मनुष्य मनुष्य में भेद बना हुआ है, आधारतः उनमें भेद नहीं है, समाज इस भेद-भाव को दूर कर सकता है; दूसरी तरफ़ समाज में दीख रहा प्रत्यक्ष भेद, अमीरी-ग़रीबी का भेद, ऊँच-नीच का भेद, सब तरह का भेद। परिणाम यह हुआ कि प्रजा-तंत्र के प्रबल प्रवाह ने उद्योगीकरण द्वारा उत्पन्न किये हुए भेदों को मिटा देने की माँग खड़ी कर दी। यह माँग उठ खड़ी हुई कि समाज से गरीबी, बीमारी, अपंगता, निराश्रयता, अपराध—इन सबको दूर करने का काम राज्य का है। ये सब समाज में क्यों बने हुए हैं? क्योंकि हम प्रत्येक व्यक्ति को प्रगति करने का अवसर नहीं देते, सब के साथ समान बर्ताव नहीं करते, निराश्रितों को आश्रय नहीं देते। समाज-कल्याण के विचार ने उक्त कारणों से सामूहिक रूप धारण कर लिया।

६. क्या प्रजा-तंत्र से भिन्न राज्यों में समाज-कल्याण का विचार नहीं रहता?

हमने ऊपर जो-कुछ लिखा उससे यह ध्वनित होता है कि समाज-कल्याण तथा कल्याण-राज्य का विचार प्रजातंत्र-राज्य में ही होता है, अन्य प्रकार के राज्यों में नहीं होता। इस प्रकरण में हम यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं कि प्रजा-तंत्र तथा समाज-कल्याण के संबंध में लिखते हुए हमने जो विचार प्रकट किये उनका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रजा-तंत्र से भिन्न प्रकार के राज्यों में समाज-कल्याण का विचार होता ही नहीं है। आज के युग में तो यह फ़ैशन-सा हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है कि हर प्रकार का राज्य, चाहे वह राज-तंत्र हो, चाहे पार्टी-तंत्र, चाहे अधिनायकतंत्र, चाहे प्रजा-तंत्र, चाहे प्रेजीडेंट-प्रधान, चाहे पार्लियामेंट-प्रधान—सब अपने को कल्याण-राज्य कहने लगे हैं, सब का लक्ष्य प्रजा का कल्याण करना हो गया है। कल्याण-राज्य के विचार ने १९३९–४५ में जन्म लिया, और तब से सब प्रकार की सरकारें अपने को कल्याण-राज्य कहने लगी हैं, उनकी रचना भले ही कुछ हो, वे अपना लक्ष्य बेकारी दूर करना, राज्य के हर बच्चे को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की पूर्ण सुविधा देना, सामाजिक-सुरक्षा का प्रबन्ध करना आदि कहने लगे हैं। गिलक्राइस्ट का कहना है कि 'कल्याण-राज्य' का किसी राज्य-विशेष से संबंध नहीं, हर प्रकार का राज्य 'कल्याण-राज्य' होता जा रहा है।*

हमने प्रजा-तंत्र तथा समाज-कल्याण के पारस्परिक संबंध पर जो ज़ोर दिया उसका अभिप्राय इतना ही है कि समाज-कल्याण के विचार ने एक मुख्य विचार के तौर पर प्रजा-तंत्र में ही जन्म लिया यद्यपि अब इस विचार को हर प्रकार के राज्य के लिए अपनाना अनिवार्य हो गया है।

हमने इस अध्याय के प्रारंभ में लिखा था कि आज के युग में 'समाज-कल्याण' तथा 'कल्याण-राज्य'—ये दो शब्द गूंज रहे हैं। इनमें से 'समाज-कल्याण' पर हम लिख चुके हैं, अब हम 'कल्याण-राज्य' पर प्रकाश डालेंगे।

७. कल्याण-राज्य की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ
(Welfare-state defined)

प्रजा-तंत्र के लिए 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) का होना आवश्यक है, और 'कल्याण-राज्य' होने के लिए राज्य का दो दिशाओं में कार्य करना आवश्यक है—'समाज-कल्याण' (Social welfare) तथा 'सामाजिक-सुरक्षा' (Social security)।

'समाज-कल्याण' की व्याख्या हम कर आये हैं। 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) के भवन के निर्माण के लिए 'समाज-कल्याण' (Social welfare)

---

* "The term 'Welfare State' has come to vogue since the end of 1939-45 World War. This term applies not to any particular form of government, but to all governments, whatever their structure, which set themselves out to achieve a wide range of social purposes, such as, full employment, free universal education, free medical services and comprehensive measures of social insurance. Such ends may be achieved by various forms of governments, including the so-called Communist social democracies, the monarchical parliamentary Government of United Kingdom, the presidential non-parliamentary government of United States or the presidential government of India."
—*R. N. Gilchrist in 'Principles of Political Science'.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहला आधार-स्तम्भ है, इसके लिए दूसरा आधार-स्तम्भ 'सामाजिक-सुरक्षा' (Social security) है। 'सामाजिक-सुरक्षा' का क्या अर्थ है? मौरिस स्टैक ने अपनी पुस्तक 'मीनिंग ऑफ़ सोशियल सिक्यूरिटी' में 'सामाजिक-सुरक्षा' की निम्न व्याख्या की है:

"सामाजिक-सुरक्षा से हमारा अभिप्राय उस प्रोग्राम से है जिसके द्वारा समाज आज के युग की आपदाओं से व्यक्ति की रक्षा करता है। उदाहरणार्थ, बीमारी, बेकारी, वृद्धावस्था, दुर्घटनाएँ, अपंगता आदि ऐसी घटनाएँ हैं जिनसे व्यक्ति अपने-आप न अपनी रक्षा कर सकता है, न अपने परिवार की। इस प्रकार की सुरक्षा सामूहिक सामाजिक-संगठन से ही हो सकती है।"*

जब 'समाज-कल्याण' तथा 'सामाजिक-सुरक्षा' का काम परिवार, ग्राम, नगर, प्रथा-परंपरा, संयुक्त कुटुम्ब, जात-बिरादरी पर आश्रित न होकर राज्य का कर्त्तव्य हो जाता है, तब 'कल्याण-राज्य' का उदय होता है। कल्याण-राज्य में राज्य के समस्त नागरिकों की शिक्षा, उनके स्वास्थ्य, उनके निम्नतम आर्थिक माप-दंड का निर्धारण करना, उनकी आर्थिक स्थिति सुधारते जाना—ये सब ज़िम्मेदारियाँ राज्य की मानी जाती हैं।

'कल्याण-राज्य' के विषय में भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ की हैं जिनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] मार्क अब्राहम की 'कल्याण-राज्य' की व्याख्या—"आधारतः 'कल्याण-राज्य' उस समुदाय का नाम है जिसमें राज्य की शक्ति का आय के प्रजा में समान वितरण में विचारपूर्वक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार व्यक्ति के निजी कार्य तथा उसकी निजी सम्पत्ति का बाज़ार-भाव कुछ भी हो, कल्याण-राज्य में यह निश्चित कर दिया जाता है कि उसकी आधारभूत न्यूनतम आय क्या होगी।"

---

* "By 'Social Security' we understand a programme of protection provided by society against those contingencies of modern life—sickness, unemployment, old age, dependency, industrial accidents and invalidism—against which the individual cannot be expected to protect himself and his family by his own ability and foresight."—*Maurice Stack in 'The Meaning of Social Security'*.

[क] "Essentially Welfare State is a community where the State power is deliberately used to obtain a more equal distribution of income, in this way ensuring for every citizen a basic real income irrespective of the market value of his work and of his property."—*Dr. March Abraham.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ख] **टी० एच० मार्शल की कल्याण-राज्य की व्याख्या**—"कल्याण-राज्य की विशेषता यह है कि इसमें राज्य के माध्यम द्वारा समुदाय उन ज़िम्मेवारियों को अपने ऊपर ले लेता है जिनके साधन से समुदाय के प्रत्येक सदस्य को स्वास्थ्य, आर्थिक-सुरक्षा, सभ्य-सुसंस्कृत जीवन का न्यूनतम माप-दंड प्राप्त हो सके और समुदाय के ये सदस्य अपनी क्षमता तथा सामर्थ्य के अनुसार सामाजिक तथा सांस्कृतिक विरासत में भाग ले सकें।"

८. कल्याण-राज्य के आधारभूत सिद्धान्त (Fundamentals of a Welfare State)

'कल्याण-राज्य' की चर्चा हमने की, इसकी व्याख्याएँ भी कीं, परन्तु प्रश्न उठता है कि कल्याण-राज्य के आधार-भूत सिद्धान्त क्या हैं?

(क) **कल्याण-राज्य के लिए बेवरिज योजना द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त**—इस संबंध में भिन्न-भिन्न लेखकों ने अपने-अपने विचार प्रकट किये हैं, भिन्न-भिन्न योजनाएँ बनाई हैं। इन सब का सार यह है कि जिस राज्य में समाज के कल्याण का कार्य राज्य का मुख्य ध्येय हो वह कल्याण-राज्य है। समाज का कल्याण कैसे होता है? इंग्लैंड के सर **विलियम बेवरिज** के कथनानुसार जिस राज्य में पाँच शत्रुओं से लगातार युद्ध जारी रहता है वह कल्याण-राज्य है। ये पाँच शत्रु हैं—अशिक्षा, ग़रीबी, बेकारी, बीमारी तथा गन्दगी।

बेवरिज-योजना का विस्तृत वर्णन हम अगले एक अध्याय में करेंगे, परन्तु कल्याण-राज्य के इन पाँच शत्रुओं से कैसे लड़ा जाय इस संबंध में इस योजना की मुख्य बातों का वर्णन कर देना उचित है। ये मुख्य बातें निम्न हैं:

(i) **अशिक्षा**—राज्य का मुख्य कर्तव्य है कि वह प्रत्येक नागरिक की निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करे, यह न हो कि पैसे वाले अयोग्य होते हुए भी शिक्षा प्राप्त कर सकें, निर्धन योग्य होते हुए भी शिक्षा के खर्चीली होने के कारण उसे प्राप्त न कर सकें। इंग्लैंड में १९४४ से पहले प्राथमिक-शिक्षा तो निःशुल्क थी, माध्यमिक-शिक्षा निःशुल्क नहीं थी। बेवरिज-योजना के बाद १९४४ से माध्यमिक-शिक्षा भी १६ वर्ष की आयु तक के प्रत्येक व्यक्ति के लिए निःशुल्क कर दी गई। जो राज्य अपने को कल्याण-राज्य कहलाना चाहता है उसे प्रत्येक नागरिक के लिए उच्चतम शिक्षा की निःशुल्क व्यवस्था करनी होगी।

(ii) **ग़रीबी**—कल्याण-राज्य का यह भी कर्तव्य है कि देश का कोई नागरिक भूखा, नंगा न रहे, सब को अपनी योग्यता के अनुसार काम मिले,

---

[ख] "The distinguishing characteristic of the Welfare State is the assumption by the community, acting through the State, of the responsibility for providing the means whereby all its members can reach minimum standards of health, economic security, and civilized living, and can share according to their capacity in the social and ultural cheritage."—*T. H. Marshall.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बीमारी, दुर्घटना, बुढ़ापे, संकट की अवस्था में सब की सुरक्षा हो। बेवरिज-योजना के बाद इंग्लैंड में इस दिशा की तरफ़ विशेष ध्यान दिया गया।

(iii) **बेकारी**—मनुष्य का सबसे बड़ा संकट यह है कि इच्छा और योग्यता होते हुए भी उसे कोई काम न मिले। कल्याण-राज्य का कोई नागरिक ऐसा न होना चाहिए जो भला-चंगा हो और काम ढूँढने के लिए दर-दर मारा-मारा फिरे।

(iv) **बीमारी**—कल्याण-राज्य में प्रत्येक नागरिक को दवा-दारू मिलनी चाहिए, उसके स्वास्थ्य की पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। जिस राज्य में कोई भी व्यक्ति बीमारी की हालत में ग़रीबी के कारण बढ़िया-से-बढ़िया इलाज नहीं करा सकता वह कल्याण-राज्य नहीं कहला सकता।

(v) **गन्दगी**—हमारे देश में जहाँ-तहाँ गन्दी बस्तियाँ बसी हुई हैं, जहाँ मक्खी-मच्छर-खटमल-पिस्सू, गोबर-कीचड़ ही देखने को मिलता है। इससे जहाँ मनुष्य स्वस्थ नहीं रह सकता वहाँ उसे जीवन का रस भी प्राप्त नहीं होता। कल्याण-राज्य में शहर तथा गाँव में कहीं गन्दगी नहीं होनी चाहिए।

(ख) **कल्याण-राज्य के लिए बेवरिज-योजना में प्रतिपादित उपाय**—बेवरिज-योजना में जिन पाँच दानवों से जूझने का ज़िक्र पाया जाता है, इन दानवों से कल्याण-राज्य किन उपायों से जूझे ? वे उपाय हैं :

(i) सामाजिक-सुरक्षा की योजनाओं का निर्माण;

(ii) राष्ट्रीय स्वास्थ्य-सेवा की व्यवस्था जिसके द्वारा प्रत्येक नागरिक की दवा-दारू का प्रबन्ध हो;

(iii) प्रत्येक नागरिक के लिए मकान, भोजन की व्यवस्था;

(iv) उपभोग्य वस्तुओं के मूल्य को बढ़ने न देना;

(v) निजी विनियोजन (Private investment) को प्रोत्साहित करने के लिए राष्ट्रीय-विनियोजन-बोर्ड (National Investment Board) की स्थापना जिससे निजी विनियोजन के लिए रुपया कम सूद पर उधार दिया जा सके;

(vi) निजी-क्षेत्र (Private sector) के साथ-साथ सरकारी-क्षेत्र (Public sector) का विकास जिससे एकाधिकार के दोष न उत्पन्न हों;

(vii) उद्योगों का एक ही स्थान पर केन्द्रीकरण न होने देना। इससे एक ही स्थान पर गन्दी-बस्तियाँ उठ खड़ी होती हैं।

(ग) **कल्याण-राज्य के लिए डॉ० जगन्नाथम द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त**—डॉ० जगन्नाथम ने 'सोशियल इन्श्युरेंस इन इंडिया' में कल्याण-राज्य के आधार-भूत सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए जिन सिद्धान्तों को कल्याण-राज्य का आधार माना है वे हैं—(i) पारस्परिक-सहायता, (ii) समाज-कल्याण, (iii) सामाजिक-न्याय तथा (vi) सामाजिक-सुधार।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) **पारस्परिक-सहायता** (Mutual aid)—कल्याण-राज्य का मुख्य कर्तव्य है कि इस राज्य के व्यक्तियों में एक-दूसरे के प्रति सहायता की भावना उत्पन्न हो। ऐसा न हो कि सब को अपनी-अपनी पड़ी रहे, और दूसरे की तकलीफ़ को कोई देखने को तैयार न हो।

(ii) **समाज-कल्याण** (Social welfare)—कल्याण-राज्य का दूसरा कर्तव्य यह है कि उसमें प्रत्येक योजना समाज-कल्याण की दृष्टि से बने। समाज-कल्याण का अर्थ हम पहले ही समझा आये हैं। समाज-कल्याण समाज-सेवाओं और सामाजिक-संस्थाओं के व्यवस्थित संगठन का नाम है। राज्य को समाज में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देनी चाहिएँ जिनसे सब को भोजन मिले, सब का पोषण हो, समाज में बेकारी न हो, बीमारी न हो, सब को सदा सुरक्षा की भावना बनी रहे।

(iii) **सामाजिक-न्याय** (Social justice)—कल्याण-राज्य का तीसरा कर्तव्य यह है कि उसमें किसी वर्ग के साथ अन्याय न हो। जिस समाज में एक वर्ग दलित है, अछूत है, जिस समाज में पुरुषों के साथ एक तथा स्त्रियों के साथ दूसरा बर्ताव होता है, जिस समाज में एक वर्ग धनी तथा दूसरा निर्धन है, उस समाज में सामाजिक-न्याय नहीं हो रहा। कल्याण-राज्य का काम इस अन्याय को, इस असमानता को दूर करना है।

(iv) **समाज-सुधार** (Social reform)—कल्याण-राज्य का चौथा कर्तव्य यह है कि समाज में प्रचलित कुरीतियों को, अन्ध-परंपराओं को दूर करे। जिस समाज में छोटी आयु के बच्चों का विवाह हो जाता हो, विधवाओं के विवाह पर रोक हो, यज्ञों में पशु-वध किया जाता हो वह समाज कुरीतियों का शिकार है। कल्याण-राज्य में ऐसी कुरीतियों को रोका जाता है।

(घ) **कल्याण-राज्य के लिए संयुक्त-राष्ट्र-संघ द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त**—संयुक्त-राष्ट्र-संघ (U.N.O.) ने, जो अखिल विश्व की सर्वोच्च संस्था है, कल्याण-राज्य के लिए कुछ आधारभूत सिद्धान्त निश्चित किये हैं। इस संस्था का कहना है कि प्रत्येक मनुष्य के कुछ आधारभूत मानवीय अधिकार हैं। जो राज्य इन आधारभूत मानवीय अधिकारों की रक्षा करता है वह कल्याण-राज्य है। वे मानवीय अधिकार क्या हैं जिनसे आज का कोई भी राज्य इन्कार नहीं कर सकता ?

९. संयुक्त-राष्ट्र-संघ के आधारभूत मानवीय-अधिकार (U.N.O.'s Fundamental Human Rights)

१० दिसम्बर १९४८ को 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (U.N.O.) की जनरल एसेम्बली में 'अन्तर्राष्ट्रीय मानवीय अधिकारों का अधिनियम' (International Bill of Human Rights) स्वीकृत हुआ जिसका नाम 'मानवीय-अधिकारों की सार्वभौम घोषणा' (Universal Declaration of Human

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Rights) रखा गया। इस घोषणा के अनुसार यह ऐलान कर दिया गया कि प्रत्येक मनुष्य के निम्न आधारभूत अधिकार हैं :

(i) जीने का, स्वतंत्रता का, व्यक्ति की सुरक्षा का प्रत्येक को अधिकार है;

(ii) बिना कारण बताये कैद न किये जाने का और कैद किये जाने पर निष्पक्ष जाँच का प्रत्येक को अधिकार है;

(iii) कानून के सामने हर किसी को दूसरे के मुकाबिले में समान बर्ताव तथा कानून द्वारा अपनी पूरी-पूरी रक्षा कराने का अधिकार;

(iv) व्यक्ति के आने-जाने पर रोक-टोक न होने का अधिकार;

(v) किसी राष्ट्र का सदस्य होने का अधिकार;

(vi) सम्पत्ति के स्वामी होने का अधिकार;

(vii) विचार तथा धर्म में स्वतंत्र विचार रखने का अधिकार;

(viii) स्वतंत्र विचार तथा सम्मति प्रकट करने का अधिकार;

(ix) स्वतंत्र रूप से मिलने-जुलने, सभा करने का अधिकार;

(x) अपने देश के शासन में भाग लेने का अधिकार;

(xi) सामाजिक-सुरक्षा का अधिकार—ऐसा अधिकार जिससे अगर वह कभी रोगी हो जाय तो उसे भूखा न मरना पड़े, बूढ़ा हो जाय तो दर-दर भीख न माँगनी पड़े, मर जाय तो बाल-बच्चे दाने-दाने को न तरसने लगें;

(xii) आजीविका के लिए काम उपलब्ध करने का अधिकार;

(xiii) एक-से काम के लिए एक-सा वेतन प्राप्त करने का अधिकार—ऐसा न हो कि एक ही काम के लिए एक को दस रुपये मिलते हैं तो उसी काम के लिए दूसरे को बीस या पाँच ही रुपये मिलें;

(xiv) आराम, अवकाश तथा छुट्टी का अधिकार;

(xv) जीवन-स्तर की पर्याप्त मात्रा प्राप्त करने का अधिकार; तथा

(xvi) शिक्षा प्राप्त करने का तथा अपने देश के सांस्कृतिक-जीवन में भाग लेने का अधिकार।

ये सब मानव-मात्र के आधारभूत अधिकार हैं। कल्याण-राज्य वह राज्य है जिसमें मनुष्य मात्र के ये आधारभूत अधिकार स्वीकार किये जाते हैं। यह माना जाता है कि प्रत्येक मनुष्य जो उस राज्य में पैदा हुआ है उसे आजीविका पाने, स्वस्थ परिस्थितियों में रहने, शिक्षा के अन्य सब के साथ समान अवसर प्राप्त करने तथा इसी प्रकार की अन्य सब बातों का जन्म-सिद्ध अधिकार है। कोई राज्य यह नहीं कह सकता कि हम जिसे चाहें शिक्षा देंगे, जिसे चाहें शिक्षा नहीं देंगे; यह नहीं कह सकता कि जिसे चाहे खाने-रहने की सुविधा देंगे, जिसे चाहें नहीं देंगे। जो राज्य ऐसा कहता है वह कल्याण-राज्य नहीं है, और अगर कोई ऐसा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य हो तो आज की विचार-धारा के अनुसार प्रजा को उसे पलट देने का, उसके प्रति विद्रोह करने का अधिकार है।

प्रश्न

१. कल्याण-राज्य क्या है? भारत में सामाजिक-कल्याण के कार्यों को क्रियान्वित करने के लिये राज्य को किन सिद्धांतों का अनुसरण करना चाहिये। (१९५३)

२. कल्याण-राज्य की धारणा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। क्या भारत एक कल्याण-राज्य है? (१९५९)

३. कल्याण-राज्य की परिभाषा कीजिये और कल्याण-राज्य के विचार की विवेचना कीजिये। (१९६० तथा १९६३)

४. समाज-कल्याण के विचार का विकास कैसे हुआ?

५. क्या प्रजा-तंत्र से भिन्न राज्यों में भी समाज-कल्याण का विचार रहता है?

६. कल्याण-राज्य की व्याख्या करते हुए लिखिये कि इसके आधारभूत सिद्धान्त क्या हैं?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२

समाज-कल्याण के विचार तथा भारत
(CONCEPTS OF SOCIAL WELFARE AND INDIA)

पिछले अध्याय में हम लिख आये हैं कि आज के युग की पुकार 'कल्याण-राज्य' की पुकार है। दुनिया भर के देश कल्याण-राज्य के विकास में लगे हुए हैं। भारत भी इस दिशा में अन्य देशों से पीछे नहीं है। भारत ने कल्याण-राज्य बनने के लिए जो पग उठाये हैं वे हैं—भारतीय संविधान का निर्माण, समाज-कल्याण-पटलों का निर्माण तथा समाज-कल्याण-योजनाओं का संगठन। इन तीनों पर हम इस अध्याय में प्रकाश डालेंगे।

१. भारतीय-संविधान में आधारभूत कल्याणकारी-अधिकार*
(Fundamental Welfare Rights of Indian Constitution)

प्रथम अध्याय में जिन 'आधार-भूत' मानवीय-अधिकारों' की चर्चा हमने की उन अधिकारों की जो राष्ट्र रक्षा करता है, जो राष्ट्र अपने नागरिकों के जीने के, स्वतंत्रता के, वैयक्तिक-सुरक्षा के, सामाजिक-सुरक्षा के, आजीविका उपलब्ध करने के, उच्च-जीवन-स्तर प्राप्त करने के, शिक्षा के तथा इसी प्रकार पहले वर्णित किये हुए अन्य सब अधिकारों को स्वीकार करता है, वह 'कल्याण-कारी राष्ट्र' (Welfare state) है। भारत ने भी २६ नवम्बर १९४९ में अपने संविधान के तीसरे भाग में इन्हीं 'आधारभूत-अधिकारों' (Fundamental Rights) को संविधान का अंग माना है। वहाँ कहा गया है कि कानून के सामने हर व्यक्ति बराबर माना जायगा, कोई व्यक्ति कानून की सुरक्षा से वंचित नहीं हो सकेगा, धर्म, नस्ल, जाति, लिंग आदि के भेद के आधार पर किसी के साथ असमानता का बर्ताव नहीं हो सकेगा, नौकरी सब के लिए समान रूप से खुली रहेगी, प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार प्रकट करने की स्वतंत्रता रहेगी, मिलने-

---

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

*** 1. What is a Welfare State ? State what principles should be adopted by it to promote social welfare in India. (1953)**

2. Examine critically the concept of 'Welfare State'. Is India a Welfare State? (1959).

3. Review the efforts being made by the Indian Government for promoting the welfare of the people. (1962)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जुलने तथा सभा आदि करने में किसी के मार्ग में रुकावट नहीं डाली जायगी, भारत के किसी भाग में भी आने-जाने की सब को स्वतन्त्रता रहेगी, जो जहाँ चाहे रह सकेगा, सम्पत्ति खरीदने, रखने तथा बेचने की आज़ादी होगी, उद्योग-धंधा-व्यापार जो चाहे कर सकेगा परन्तु कोई किसी से ज़बर्दस्ती काम न ले सकेगा, बच्चों से कल-कारखानों में काम नहीं लिया जा सकेगा, धर्म में प्रत्येक को स्वतन्त्रता होगी—इत्यादि, इत्यादि।

२. भारतीय-संविधान में कल्याणकारी प्रेरक-सिद्धान्त (Directive Welfare-Principles of Indian Constitution)

भारतीय-संविधान के चौथे भाग में कुछ मूल-भूत सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है और कहा गया है कि इस राष्ट्र के शासन के ये ही 'प्रेरक-सिद्धान्त' (Directive principles) रहेंगे। राष्ट्र जिन भी कानूनों को बनायेगा वे इन प्रेरक-सिद्धान्तों के विपरीत नहीं होने चाहियें। संविधान के चौथे भाग की ३८ धारा का आशय निम्न शब्दों से स्पष्ट होता है :

"राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह जनता के कल्याण को अधिकाधिक बढ़ाने का प्रयत्न करे। यह तभी संभव है अगर राष्ट्र एक ऐसा सामाजिक-विधान बनाये जिसके अनुसार राष्ट्र की प्रत्येक संस्था तथा राष्ट्र के प्रत्येक संगठन में सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक न्याय अनुप्राणित हो। हमारा राष्ट्र इस प्रकार का जनता के कल्याण करने वाला सामाजिक-विधान बनायेगा।"

३८ के बाद ३९वीं धारा है जिसका आशय निम्न है :

"राष्ट्र के शासन की प्रेरक-भावना निम्न रहेगी—

(क) राष्ट्र के नागरिकों—स्त्री-पुरुषों—को आजीविका के साधनों पर समान अधिकार रहेगा, किसी को ये साधन अधिक मिलें, किसी को कम—ऐसा न होगा। आजीविका के साधन भी इतने अपर्याप्त नहीं होंगे जिनसे आजीविका ही न चल सके। वे पर्याप्त होने चाहियें—इतने जिनसे आजीविका चल सके।

(ख) राष्ट्र की भौतिक-सम्पत्ति पर अधिकार या स्वामित्व इस प्रकार बंटा हुआ होना चाहिए जिससे किसी एक का कल्याण न होकर सब का कल्याण हो, सब का भला हो।

(ग) राष्ट्र का आर्थिक-ढाँचा इस प्रकार का नहीं होना चाहिए जिससे उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति एक जगह इस प्रकार केन्द्रित हो जाँय कि उससे दूसरों का नुकसान होने लगे।

(घ) एक-जैसे काम के लिए स्त्री तथा पुरुष दोनों को एक-जैसा पैसा मिलना चाहिए।

(ङ) स्त्री, पुरुष तथा कोमल-वयस्क बालकों के स्वास्थ्य तथा शारीरिक बल का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए, और राष्ट्र के नागरिकों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आर्थिक-कठिनाइयों से प्रेरित होकर ऐसे धंधों को करने के लिए बाधित नहीं होना चाहिए जो धंधे उनकी आयु अथवा उनके शारीरिक बल के अनुरूप न हों।

(च) राष्ट्र के बच्चों तथा युवकों की असहाय अवस्था का कोई फ़ायदा नहीं उठा सकेगा और राष्ट्र का कर्तव्य होगा कि उनकी भौतिक तथा नैतिक आवश्यकताओं को देखे-भाले।"

इन धाराओं के अतिरिक्त अगली धाराओं में कहा गया है कि प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह राष्ट्र से काम-धंधे की आशा करे; बेकारी, बुढ़ापे, बीमारी, अपंगता आदि की अवस्था में व्यक्ति का अधिकार है कि वह राष्ट्र से सहायता प्राप्त करे। व्यक्ति का अधिकार है कि उसके बच्चों को किसी ख़ास आयु तक राष्ट्र निःशुल्क शिक्षा दे। व्यक्ति का अधिकार है कि उसे राष्ट्र की तरफ़ से काम के ऐसे साधन प्राप्त हों, जिनसे वह पौष्टिक भोजन स्वयं प्राप्त कर सके और अपने बाल-बच्चों को भी दे सके।

हमने देखा कि आज के युग में राष्ट्र का काम समाज का कल्याण करना होता जा रहा है। जिस जनता को सदियों तक भुलाया जाता रहा, जिस जनता का काम सदियों तक कुछ गिने-चुने लोगों की—राजा, महाराजा, नवाबों, ज़मींदारों की—सेवा करना समझा जाता रहा, आज प्रत्येक राष्ट्र उस भुलाई हुई जनता को याद कर रहा है, और उस जनता का कल्याण करना अपना लक्ष्य घोषित कर रहा है। जनता तो जनता, आज समाज-कल्याण के विचार की दौड़ बहुत दूर तक होने लगी है। समाज का जो भी निर्बल वर्ग है—पिछड़ा वर्ग, अनाथ, अबलाएँ, विधवाएँ, हरिजन, मानसिक तथा शारीरिक दृष्टि से असमर्थ व्यक्ति, लूले, लंगड़े, बहरे, अंधे, अपंग, कोढ़ी, भिखारी, अपराधी, वेश्याएँ, शराबी, मज़दूर—इन सब का कल्याण समाज का लक्ष्य है। इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए भारत में क्या हो रहा है ?

३. भारत में समाज-कल्याण की रूप-रेखा*

भारत जब से प्रजा-तंत्र देश हुआ है तब से स्वाभाविक तौर पर यहां समाज-कल्याण की तरफ़ विशेष ध्यान देना अनिवार्य हो गया है। यह कार्य दो केन्द्रों से चल रहा है। केन्द्र में 'केन्द्रीय समाज-कल्याण पटल' स्थापित हुआ है, प्रान्तों में 'प्रान्तीय समाज-कल्याण पटल' कायम हुए हैं।

(क) **'केन्द्रीय समाज-कल्याण पटल'** (Central Social Welfare Board)—शिक्षा-मंत्रालय की साधारण देख-रेख में १२ अगस्त १९५३ में 'केन्द्रीय समाज-कल्याण पटल' की स्थापना हुई। इस बोर्ड का काम तीन तरह का है। एक काम तो अबतक जो समाज-कल्याणकारी कार्य जनता की तरफ़ से चल

*** Review the efforts being made by the Indian Government for promoting the welfare of the people. (1962).**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहे थे, उनकी जाँच-पड़ताल कर योग्य संस्थाओं को परामर्श तथा सहायता देना है; दूसरा भिन्न-भिन्न मंत्रालयों द्वारा जो समाज-कल्याण कार्य चल रहे हैं उनमें पारस्परिक सहयोग स्थापित करना है; तीसरा जहाँ समाज-कल्याणकारी कार्य नहीं चल रहे वहाँ योजनाएँ बनाना तथा उन योजनाओं को पूरा करने के लिए आर्थिक सहायता देना है। अबतक देश में स्वतंत्र रूप से काम करने वाली लगभग ६,००० संस्थाओं को इस बोर्ड के तत्वावधान में सहायता दी जा चुकी है, इनमें से २,९०० के लगभग तो केवल स्त्रियों तथा २,४०० के लगभग केवल बच्चों के समाज-कल्याण में लगी हुई थीं। द्वितीय-योजना काल (१९५६–६१) में ३,७०० स्वतंत्र संस्थाओं को २.६ करोड़ के लगभग सहायता रूप में दिया गया। तृतीय-योजना काल (१९६१–६६) में इसी प्रकार की सहायता का विस्तार किया जा रहा है।

इस बोर्ड के तत्वावधान में अगस्त १९५४ से 'ग्रामीण समाज-कल्याण प्रसार-योजनाएँ' (Rural Welfare Extension Projects) तथा 'नागरिक समाज-कल्याण प्रसार-योजनाएँ' (Urban Welfare Extension Projects) प्रारम्भ की गई। ग्रामीण-योजनाओं में २५ से ३० ग्रामों एवं २० हज़ार की आबादी को इकाई माना गया है। इन इकाइयों में बालवाडियाँ, शिशु-गृह, बेसिक-पूर्व शालाएँ, मातृत्व-गृह, शिशु-स्वास्थ्य-केन्द्र, तरुण-तरुणी शिक्षा प्रचार, कला, गृहोद्योग, मनोरंजन-केन्द्र आदि खोले जाते हैं। प्रत्येक प्रसार-योजना को ५ भागों में विभक्त कर दिया गया है। एक-एक भाग में ५ गाँव होते हैं। पाँच गाँवों की इस इकाई में १ दाई, १ गृहोद्योग शिक्षक, १ ग्राम-सेविका रखी गई हैं। नागरिक-योजनाओं में शहर की गन्दी बस्तियों का सुधार, शिशु-गृह, बाल-वाड़ी, माताओं के लिए गर्भावस्था से पूर्व तथा बाद के स्वास्थ्य की देख-रेख, बालकों के स्वास्थ्य के केन्द्र, उद्योगों के लिए सलाह केन्द्र आदि खोले जाते हैं।

(ख) राज्य समाज-कल्याण सलाहकार पटल (State Social Welfare Advisory Boards)—केन्द्रीय समाज-कल्याण-पटल क्योंकि केन्द्रीय-संस्था है इसलिए उसका हर प्रांत के कार्य की गति-विधि के विषय में जानकारी रख सकना कठिन है। इस कठिनाई को दूर करने के लिए मार्च १९५४ में केन्द्रीय समाज-कल्याण-पटल ने एक प्रस्ताव द्वारा भिन्न-भिन्न राज्यों में 'राज्य समाज-कल्याण सलाहकार पटलों' की स्थापना की। इन राज्य-पटलों का काम केन्द्रीय पटल को इस बात का परामर्श देना है कि उनके राज्य में कौन-कौन-सी संस्थाएँ हैं जिन्हें आर्थिक सहायता देना रुपये का सद्-व्यय होगा, अपव्यय नहीं। राज्य-पटल में ९ सदस्य होते हैं जिनमें से आधे केन्द्रीय-पटल नामज़द करता है, बाकी आधे राज्य-सरकार नियत करती है। इन राज्य-बोर्डों का काम आर्थिक-सहायता देना, 'कल्याण-विस्तार-योजनाओं' (Welfare Extension Projects) को चलाना, परिवार कल्याण-योजनाओं को जारी करना तथा अन्य नवीन-नवीन योजनाओं को चलाना है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. भारत में समाज-कल्याण योजनाएँ*

[पिछड़े वर्गों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

भारत में समाज-कल्याण का जो महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है उसमें पिछड़े वर्ग के लोगों, अनाथों, असहायों, बीमारों, बच्चों, अबलाओं, विधवाओं, अन्धों, बहरों, अपंगों, अपराधियों आदि के लिए भी योजनापूर्वक कल्याण-कार्य हो रहा है। इस सब का वर्णन इस पुस्तक में विस्तारपूर्वक अगले अध्यायों में होगा, परन्तु यहाँ संक्षेप से यह दिग्दर्शन करा देना असंगत न होगा कि अपने देश में समाज-कल्याण-कार्य की रूप-रेखा क्या है ?

(क) **भारत की जन-जातियाँ तथा समाज-कल्याण** (Indian tribes and Social welfare)—जन-जातियों के कल्याण का काम केन्द्र तथा प्रान्त —इन दोनों स्थानों से चल रहा है। केन्द्र में गृह-मंत्रालय के आधीन एक 'आयुक्त' (कमिश्नर) नियुक्त है जिसकी नियुक्ति विधान की ३३८ धारा के अनुसार राष्ट्रपति करता है। प्रान्तों में जन-जातियों के कल्याण का कार्य करने के लिए 'कल्याण-विभाग' खोले हुए हैं जिनमें 'आयुक्त' की देख-रेख में कार्य करने के लिए 'सहायक-आयुक्त' (असिस्टेंट कमिश्नर) काम करते हैं। 'आयुक्त' के अतिरिक्त जन-जातियों की समस्याओं पर विचार करने के लिए केन्द्र में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड फॉर ट्राइबल वेलफ़ेयर' बना हुआ है, प्रान्तों में 'सहायक आयुक्तों' के अतिरिक्त 'ट्राइब्स एडवाइज़री वेलफ़ेयर कौंसिल्स' बनी हुई हैं जिनके आधीन ज़िलों में 'ट्राइब्स वेलफ़ेयर एडवाइज़री कमेटियाँ' बनी हुई हैं। १९५३ में काका कालेलकर की अध्यक्षता में एक 'पिछड़ी जातियों का आयोग' बना था जिसने सिफ़ारिश की थी कि पिछड़ी जातियों के कल्याण के लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय बनना चाहिए और यह मंत्रालय एक मिनिस्टर के आधीन काम करे जिससे जन-जातियों तथा समाज के अन्य पिछड़े वर्गों के कल्याण के कार्य को विशेष रूप से प्रगति मिले।

आदिवासियों की समाज-कल्याण संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए जिन योजनाओं पर धन व्यय किया जाता है वे हैं—शिक्षा, कृषि, गृहोद्योग, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, यातायात, सहकारिता, पुनर्वास, जंगल, पशु-विभाग, प्रचार-विभाग, कम्यूनिटी सेंटर, ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को सहायता, प्रबन्ध, डिवलेपमेंट ब्लॉक तथा अन्य व्यय। इन सब कार्यों में प्रथम पंचवर्षीय-योजना में जन-जातियों की भिन्न-भिन्न समाज-कल्याण संबंधी योजनाओं पर १९.८३ करोड़, द्वितीय योजना में ४३ करोड़ रुपया व्यय हुआ। तृतीय-योजना में जन-जातियों के समाज-कल्याण सम्बन्धी योजनाओं पर ६०.४३ करोड़ व्यय रखा गया है।

(ख) **भारत की अनुसूचित-जातियाँ तथा समाज-कल्याण** (Scheduled castes and Social welfare)—समाज में अस्पृश्य, हरिजन आदि नामों

---

* **Review the efforts being made by the Indian Government for promoting the welfare of the people. (1962).**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से कही जाने वाली जातियों को सरकारी तौर पर 'अनुसूचित-जाति' कहा जाता है। अनुसूचित-जातियों के कल्याण का कार्य भी केन्द्र तथा प्रान्त—इन दोनों स्थानों से चल रहा है। केन्द्र में गृह-मंत्रालय के आधीन जो 'आयुक्त' (कमिश्नर) नियुक्त हैं वे ही अनुसूचित-जातियों के भी समाज-कल्याण के कार्य के ज़िम्मेदार हैं। इन्हीं 'आयुक्त' के आधीन प्रान्तों में 'सहायक आयुक्त' नियत किये जाते हैं। उक्त आयुक्त के अतिरिक्त अनुसूचित-जातियों की समस्याओं पर विचार करने के लिए १९५६ में एक 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड फ़ॉर हरिजन वेलफ़ेयर' बनाया गया है जिसमें पार्लियामेंट तथा जनता के कुछ प्रतिनिधि रखे गये हैं। केन्द्र के अतिरिक्त प्रान्तों में 'एडवाइज़री कौंसिल फ़ॉर हरिजन वेलफ़ेयर' तथा ज़िलों में 'एडवाइज़री कमिटी फ़ॉर हरिजन वेलफ़ेयर' बनी हुई हैं जो सारे देश में अनुसूचित-जातियों के समाज-कल्याण की समस्याओं पर विचार करती रहती हैं। काका कालेलकर-आयोग ने सिफ़ारिश की थी कि पिछड़ी जातियों के उद्धार के लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय बनना चाहिए।

अनुसूचित-जातियों के शिक्षा, कृषि, गृहोद्योग, स्वास्थ्य, गृह-निर्माण, यातायात, सहकारिता, पुनर्वास, वन-विभाग, पशु-विभाग, प्रचार-विभाग, कम्यूनिटी सेंटर, गैर सरकारी संस्थाएँ, प्रबन्ध, डिवलेपमेंट ब्लॉक आदि पर प्रथम-योजना में ७.०८ करोड़, द्वितीय योजना में २७.६६ करोड़ व्यय हुआ। तृतीय-योजना में अनुसूचित-जातियों के समाज-कल्याण संबंधी योजनाओं पर ४०.४० करोड़ रुपया व्यय रखा गया है।

(ग) **विमुक्त-जातियाँ तथा समाज-कल्याण** (Denotified tribes and Social welfare)—कुछ जातियाँ ऐसी हैं, जिन्हें 'अपराधी-जातियाँ' (Criminal tribes) कहा जाता था। इनसे समाज को सुरक्षित रखने के लिए १९२४ में 'क्रिमिनल ट्राइब्स एक्ट' बना जिसके अनुसार इन्हें किसी विशेष स्थान पर बसा दिया जाता था, और काम-धन्धे में लगा दिया जाता था। किसी भी समूह को सदा के लिए अपराधी घोषित कर देना उसे अपराधी ही बना देना है, इसलिए १९५२ में पुराना कानून रद्द कर दिया गया और इन लोगों को 'अपराधी' या 'जरायमपेशा' (Criminal) की जगह 'विमुक्त-जातियाँ' (Denotified tribes) कहा जाने लगा। इनकी संख्या ४० लाख है। प्रथम-योजना में इन पर १.१० करोड़, द्वितीय में २.८९ करोड़ व्यय हुआ और तृतीय-योजना में इन पर ४.०० करोड़ रु० व्यय करने की व्यवस्था की गई है।

उक्त तीनों के अलावा समाज में अन्य भी अनेक पिछड़े वर्ग हैं। उन पर प्रथम योजना में २.०३ करोड़, द्वितीय में ५.८६ करोड़ और तृतीय योजना में ९.०४ करोड़ व्यय होगा। इस प्रकार पिछड़े-वर्गों पर प्रथम, द्वितीय, तृतीय योजनाओं में जो व्यय किया गया या किया जा रहा है उसका संक्षिप्त विवरण निम्न है :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

	प्रथम-योजना (१९५१–५६)	द्वितीय-योजना (१९५६–६१)	तृतीय-योजना (१९६१–६६)
जन-जातियाँ*	१९.८३ करोड़	४३.०० करोड़	६०.४३ करोड़
अनुसूचित जातियाँ	७.०८ ,,	२७.६६ ,,	४०.४० ,,
विमुक्त जातियाँ	१.१० ,,	२.८९ ,,	४.०० ,,
अन्य पिछड़े वर्ग	२.०३ ,,	५.८६ ,,	९.०४ ,,
व्यय का कुल योग	३०.०४ करोड़	७९.४१ करोड़	११३.८७ करोड़

[बाधितों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

बाधित का अर्थ है शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से असमर्थ व्यक्ति। समाज में जन्म से, रोग से अथवा किसी दुर्घटना से कोई व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से अथवा मानसिक दृष्टि से असमर्थ हो जाय तो कल्याण-राज्य में उसकी देख-रेख करना भी राज्य का कर्तव्य हो जाता है। भारत में शिक्षा-मंत्रालय के आधीन एक 'बाधितों की शिक्षा के लिए राष्ट्रीय सलाहकार समिति' (नेशनल एडवाइज़री कौन्सिल फ़ार दी एज्यूकेशन आफ दी हैण्डीकैप्ड) बनी हुई है जो अन्धों, बहरों, गूंगों तथा मानसिक बाधितों आदि की शिक्षा, नौकरी आदि की व्यवस्था करती है। जो संस्थाएँ इन्हें शिक्षा आदि देने की व्यवस्थाएँ करती हैं उन्हें इस बोर्ड की सिफ़ारिश पर आर्थिक सहायता भी दी जाती है।

देहरादून में अन्धों को प्रशिक्षित करने तथा उन्हें हस्त-कला की शिक्षा देने के लिए एक केन्द्र खुला हुआ है जिसमें लगभग १५० चक्षु-हीनों को प्रशिक्षित करने की व्यवस्था है। अब यहाँ ३५ चक्षुहीन स्त्रियों के प्रशिक्षित करने की भी व्यवस्था कर दी गई है। इस केन्द्र में १९५४ से एक छोटा-सा वर्कशॉप भी खोल दिया गया है जिसमें १० चक्षु-हीन व्यक्ति कार्य करते हैं। मद्रास में १९५४ से चक्षु-हीनों को व्यवसाय देने के लिए एक कार्यालय काम कर रहा है जिसने भिन्न-भिन्न उद्योगों में १० अन्धों को कार्य दिलवाया है। बम्बई में १९५९ में इसी प्रकार का एक दफ्तर खोला गया जिसने अबतक १० अन्धों, २९ बहरों, ५६ अंग-हीनों को काम दिलवाया है।

बाधितों के समाज-कल्याण के संबंध में हमने कुछ विस्तार से अपनी पुस्तक **'भारतीय-सामाजिक-संगठन'** में लिखा है। जो इस विषय में अधिक जानकारी चाहें, वे उस पुस्तक के 'भारत में सामाजिक-कल्याण'—इस अध्याय को पढ़ें।

[स्त्रियों तथा बच्चों के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

(क) स्त्री-शिक्षा के लिए नेशनल कौंसिल की स्थापना. (National Council for the Education of Girls and Women)—स्त्रियों के क्षेत्र

---

* ये सब आँकड़े Third Five Year Plan, 1961 Edition, p. 701 तथा 666 से लिए गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में सब से महत्वपूर्ण समाज-कल्याण का कार्य उनकी शिक्षा का है। १९५८ में शिक्षा-मंत्रालय द्वारा 'नेशनल कौंसिल फ़ॉर दी एज्यूकेशन ऑफ़ गर्ल्स एण्ड विमेन' की स्थापना हुई जिसका काम स्त्री-शिक्षा के प्रश्न को हल करना हो गया। प्रारंभ में इसकी प्रधाना श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख हुईं, फिर श्रीमती रक्षासरन हो गईं। इस संस्था द्वारा स्त्री-शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन मिल रहा है।

(ख) मातृत्व तथा शिशु-कल्याण (Maternity and Child Welfare)—द्वितीय योजना के अन्त में देश में ४,५०० मातृत्व तथा शिशु-कल्याण केन्द्र स्थापित हो चुके थे जिनमें से प्रत्येक केन्द्र से १० हज़ार से २५ हज़ार की आबादी को लाभ पहुँच रहा था। इन केन्द्रों में से एक-तिहाई ग्रामों में खोले गये हैं। इसका परिणाम यह हुआ है कि पहले अगर हज़ार में २० बच्चे ज़िंदा पैदा होकर मर जाते थे तो अब यह मृत्यु-दर १२.४ प्रति हज़ार रह गई है। तृतीय-योजना में इस प्रकार के मातृत्व-कल्याण तथा शिशु-कल्याण केन्द्रों की संख्या बढ़ा दी जायगी।

(ग) वेश्यावृत्ति-निरोध तथा स्त्रियों की आर्थिक समस्या—स्त्रियों की दुर्दशा का एक बड़ा कारण समाज में वेश्या-वृत्ति का प्रचलन है। २४ दिसम्बर १९५४ में 'केन्द्रीय समाज-कल्याण-बोर्ड' ने एक 'सामाजिक एवं नैतिक स्वास्थ्य सलाहकार समिति' का निर्माण किया था जिसने देश में जगह-जगह फिर कर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट के आधार पर १९५६ में 'सप्प्रेशन ऑफ़ इम्मौरल ट्रेफ़िक इन विमेन एण्ड गर्ल्स' नाम का बिल पार्लियामेंट में स्वीकृत हुआ जिसके आधार पर वेश्यावृत्ति को ग़ैर-कानूनी करार दे दिया गया। इससे स्त्रियों के कल्याण की दिशा में समाज ने एक बड़ा भारी कदम उठाया। कई स्त्रियों के लिए वेश्यावृत्ति एक तरह का आर्थिक समस्या का हल बना हुआ था, अब वेश्यावृत्ति के गैर-कानूनी हो जाने से इन स्त्रियों का गृहोद्योगों की तरफ़ ध्यान आकर्षित हो जाना स्वाभाविक है। सरकार की तरफ़ से प्रयत्न किया जा रहा है कि स्त्रियों के लिए ऐसे गृहोद्योग स्थापित किये जायें जिनसे उनकी आर्थिक समस्या का समाधान हो जाय।

[विस्थापितों के क्षेत्र में पुनर्वास]

१९६० के अन्त तक पाकिस्तान छोड़ कर ८८.५७ लाख व्यक्ति भारत आये जिनमें से ४७.४०लाख पश्चिमी पाकिस्तान से और शेष पूर्वी पाकिस्तान से आये। इन विस्थापित व्यक्तियों के पुनर्वास की समस्या एक भारी समाज-कल्याण की समस्या थी। १९६२ के अन्त तक इन व्यक्तियों का लगभग पुनर्वास हो चुका था। इन लोगों के पुनर्वास पर मार्च १९६१ के अन्त तक पश्चिमी पाकिस्तान के विस्थापितों पर १८९.२९ करोड़ तथा पूर्वी पाकिस्तान के विस्थापितों पर १७८.१० करोड़ व्यय हुआ। इस प्रकार इस समस्या का समाधान करने के लिए भारत ने मार्च १९६१ तक ३३७.३९ करोड़ रुपया व्यय किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[मजदूर-वर्ग के क्षेत्र में समाज-कल्याण]

भारत की अर्थ-व्यवस्था में सब से अधिक श्रमिक फ़ैक्टरियों में काम करते हैं। इनके अतिरिक्त खानों में, बागान में, उद्योगों में भी मजदूर-वर्ग काम करता है। इन सब की अपनी-अपनी समस्याएँ हैं। वे समस्याएँ क्या हैं? इनके काम करने के कितने घंटे हों, इन्हें कब-कब और कितनी छुट्टी दी जाय, स्त्रियों और बच्चों से काम लिया जाय या न लिया जाय, लिया जाय तो किस अवस्था के बच्चों से काम लिया जाय, किस अवस्था के बच्चों से न लिया जाय, स्त्रियों तथा बच्चों के काम के कितने घंटे हों, इनके स्वास्थ्य के संबंध में क्या व्यवस्था रहे—ये सब समस्याएँ मजदूर-वर्ग के कल्याण की समस्याएँ हैं, और इन्हें ध्यान में रखते हुए सरकार ने अनेक कायदे-कानून बनाये हैं। इन कानूनों को बनाते हुए मुख्य दृष्टिकोण यही रहता है कि ऐसे कानून बनें जिनसे श्रमिकों को आराम मिले। इन सब कानूनों के संबंध में हम विस्तृत विवेचन पुस्तक के अन्तिम दो-तीन अध्यायों में करेंगे।

जैसा हम अभी कह आये हैं मजदूर अधिकतर कारखानों में, खानों में और बागान में काम करते हैं। इनकी समस्याओं को सुलझाने तथा इन्हें सुविधाएँ देने के लिए १९४८ में कारखानों का कानून, १९५१ में बागान का कानून तथा १९५२ में खानों का कानून बनाया गया। इन सब मजदूरों के लिए चाहे वे फ़ैक्टरियों में, चाहे खानों में, चाहे बाग़ान में काम करते हों १९४८ में बीमे की व्यवस्था की गई जिसके लिए 'बीमा-अधिनियम' बना, और १९५२ में इनके लिए प्रोवीडेंट फंड की व्यवस्था की गई जिसके लिए 'प्रोवीडेंट फंड अधिनियम' बना। मजदूर-वर्ग में स्त्रियां भी काम करती हैं, स्त्रियों को गर्भावस्था तथा प्रसूति-काल के लिए अवकाश की आवश्यकता होती है, इसलिए स्त्रियों के लिए 'मातृत्व-लाभ अधिनियमों' की व्यवस्था की गई। इन सब का वर्णन हम इस पुस्तक में दूसरी जगह करेंगे।

[पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा समाज-कल्याण]

भारत में जहाँ केन्द्रीय तथा राज्य कल्याण-बोर्डों द्वारा, एवं जन-जातियों, अनुसूचित जातियों, विमुक्त जातियों, बाधितों, स्त्रियों, विस्थापितों तथा मजदूरों के क्षेत्र में समाज-कल्याण की योजनाएँ चल रही हैं, वहाँ पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा भी समाज-कल्याण का कार्य हो रहा है।

(क) १९५१ से ५६ में प्रथम पंचवर्षीय-योजना—सब से पहले १९५१ में प्रथम पंचवर्षीय-योजना चालू की गई जिसका आधार ही कल्याण-राज्य स्थापित करना था। भारत क्योंकि कृषि-प्रधान देश है, यहाँ ८२.२ प्रतिशत जन-संख्या गाँवों में बसती है इसलिए प्रथम-योजना में गाँवों के सुधार तथा कृषि पर बल दिया गया और प्रथम योजना के संपूर्ण व्यय का १५.१ प्रतिशत व्यय कृषि तथा सामुदायिक-विकास पर व्यय किया गया। सामुदायिक-विकास योजनाओं का उद्देश्य गाँवों में शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात तथा बेरोज़गारी का प्रबन्ध था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस योजना में यह घोषित कर दिया गया कि इन सब योजनाओं का मूल उद्देश्य 'कल्याण-राज्य' (Welfare State) का निर्माण करना है।

(ख) १९५६ से १९६१ में द्वितीय पंचवर्षीय-योजना—प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य 'कल्याण-राज्य' स्थापित करना था, द्वितीय पंचवर्षीय योजना में यह स्पष्ट कर दिया गया कि 'कल्याण-राज्य' का अर्थ 'समाजवादी-राज्य' (Socialistic state) है। प्रथम-योजना में, कृषि, ग्राम, ग्रामोद्योगों पर बल दिया गया था, द्वितीय-योजना में 'उद्योगों' (Industry) पर बल दिया गया और प्रयत्न किया गया कि बड़े-बड़े उद्योग राज्य के हाथ में आ जायें। बड़े उद्योगों के 'राष्ट्रीयकरण' (Nationalization) से सम्पत्ति राज्य के पास आयेगी, व्यक्ति के हाथ में केन्द्रित नहीं होगी, इससे समाजवादी-समाज बनने में सहायता मिलेगी।

(ग) १९६१ से १९६६ में तृतीय पंचवर्षीय योजना—तृतीय-योजना में अगले पन्द्रह वर्षों का उद्देश्य निर्धारित करते हुए कहा गया है कि हमारा दीर्घ-कालीन उद्देश्य यह है कि (i) १९६०–६१ में राष्ट्रीय आय जो १४,५०० करोड़ है, वह १९७५–७६ में ३४,००० करोड़ हो जाय, अर्थात् दुगुनी से भी ज्यादा हो जाय; प्रति व्यक्ति आय जो १९६०–६१ में ३३० प्रतिवर्ष है, वह १९७५–७६ में ५३० प्रति व्यक्ति हो जाय, अर्थात् ६१ प्रतिशत बढ़ जाय, (ii) कृषि पर निर्भर रहने वाले व्यक्तियों की संख्या ७० प्रतिशत से घट कर ६० प्रतिशत रह जाय, तथा (iii) १४ वर्ष तक के प्रत्येक बालक-बालिका को शिक्षित कर दिया जाय।

इन दीर्घ-कालीन उद्देश्यों के अतिरिक्त तृतीय-योजना के तात्कालिक उद्देश्य ये हैं: (i) राष्ट्रीय-आय ५ प्रतिशत प्रतिवर्ष बढ़ जाय और आगे लगातार ५ वर्ष तक राष्ट्रीय-आय बढ़ने का यही अनुपात रहे, (ii) अनाज की पैदावार में देश को किसी अन्य पर निर्भर रहना न पड़े, (iii) लोहे, रासायनिक-पदार्थ, तेल, विद्युत् आदि का इतना उत्पादन किया जाय कि कारखानों के लिए मशीनें अपने देश में ही बनाई जा सकें, उन्हें बाहर से न मँगवाना पड़े, (iv) प्रत्येक को काम मिल जाय तथा (v) आय में विषमता को मिटा दिया जाय।

उक्त तीनों पंचवर्षीय योजनाएँ समाज-कल्याण को आधार बनाकर बनाई गई हैं।

५, क्या भारत एक कल्याण-राज्य है ?*

कल्याण-राज्य की हमने व्याख्या की। प्रश्न है कि क्या इस व्याख्या के अनुसार भारत को एक कल्याण-राज्य कहा जा सकता है? इसका उत्तर 'न' तथा 'हाँ' दोनों में दिया जा सकता है। वह कैसे?

*** Examine critically the concept of 'Welfare State'. Is India a Welfare State? (1959).**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) भारत कल्याण-राज्य नहीं है—कल्याण-राज्य वह कहाता है जिसमें सब को भरपेट खाने को मिले, बदन ढाँपने को कपड़ा, सिर ढाँकने को मकान, बीमारी से बचने को दवा-दारू मिले, सब को शिक्षा मिले, जिसमें अपने विकास के सब को समान अवसर मिलें। इस कड़े पैमाने से देखा जाय तो अभी इस देश को कल्याण-राज्य बनने में बहुत समय लगेगा। अभी देश में भूखों-नंगों की कमी नहीं, मकानों के लिए लोग तरसते रहते हैं, बीमारी के समय अस्पतालों का प्रबन्ध हो भी, तो डाक्टरों में वह इन्सानियत नहीं कि मरीज़ के लिए दिल नरम करें, शिक्षा सब को मिल नहीं पाती, बेकारी दिनोंदिन बढ़ती जाती है। कल्याण-राज्य में यह सब-कुछ नहीं होता।

(ख) भारत कल्याण-राज्य है—तो क्या भारत कल्याण-राज्य नहीं है? यह ठीक है कि देश में भूखों-नंगों की कमी नहीं, बेकारी, बीमारी, असुरक्षा से लोग परेशान हैं, परन्तु क्या यह ठीक नहीं है कि जब से देश स्वतंत्र हुआ है तब से इन कष्टों को दूर करने का लगातार प्रयत्न हो रहा है। दुनिया एक दिन में नहीं बदली जा सकती। भारतीय-संविधान में कल्याण-राज्य को लक्ष्य घोषित किया जा चुका है, केन्द्र तथा राज्यों में कल्याण सलाहकार समितियाँ बनाई जा चुकी हैं, हर क्षेत्र में कल्याण-योजनाएँ चलाई जा रही हैं। इन सब योजनाओं का हम अभी वर्णन कर आये हैं।

ऐसी हालत में यह कहना अधिक उपयुक्त है कि यद्यपि भारत कल्याण-राज्य नहीं बना तो भी इसने कल्याण-राज्य को अपना लक्ष्य बना लिया है, और बड़े वेग से प्रथम, द्वितीय, तृतीय पंचवर्षीय-योजनाओं द्वारा हर क्षेत्र में समाज-कल्याण को आधार बना कर कल्याण-राज्य के ध्येय को पाने के लिए आगे-आगे कदम बढ़ाता जा रहा है।

प्रश्न

१. भारत में सामाजिक-कल्याण के कार्यों को क्रियान्वित करने के लिये राज्य को किन सिद्धान्तों का अनुसरण करना चाहिये? (१९५३)

२. कल्याण-राज्य की धारणा की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये। क्या भारत कल्याण-राज्य है? (१९५९)

३. भारतीय सरकार द्वारा किये गये कल्याण-कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिये। (१९६२)

४. भारतीय संविधान में जिन आधारभूत कल्याणकारी अधिकारों का वर्णन किया गया है उनका उल्लेख कीजिये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३

समाज-कल्याण के विचार तथा युरोप
(CONCEPTS OF SOCIAL WELFARE AND EUROPE)

समाज-कल्याण के संबंध में भारत में जो विचार-धारा चल रही है इसका संक्षिप्त वर्णन हमने पिछले अध्याय में किया। इस अध्याय में हम इस विचार-धारा का युरोप में किस प्रकार प्रादुर्भाव हुआ—इसका वर्णन करेंगे। आज इस बीसवीं सदी में युरोप समाज-कल्याण के लक्ष्य तक कैसे पहुँचा—यह एक दिलचस्प कहानी है जिसका 'औद्योगिक क्रान्ति' तथा 'पूँजीवाद' के साथ घनिष्ठ संबंध है। हम इस अध्याय में इसी कहानी का उल्लेख करेंगे।

१. युरोप में औद्योगिक क्रान्ति
(Industrial Revolution in Europe)

युरोप के इतिहास का मध्यकाल 'अन्धकार-युग' (Dark Age) कहलाता है। इस समय युरोप में शिक्षा का प्रचार न के बराबर था। बड़े-बड़े राजा-महाराजा भी निरक्षर होते थे। शिक्षा कहीं दीखती भी थी तो ईसाइयों के गिर्जों और मठों में। वहाँ पर भी लैटिन के ग्रन्थों को कण्ठस्थ करना ही शिक्षा समझा जाता था। रूढ़ि, परंपरा—बस, यही-कुछ चलता था, स्वतंत्र-विचार का उस समय अभाव था। विज्ञान का उदय इस समय तक नहीं हुआ था।

इस 'अन्धकार-युग' के बाद १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में 'पुनर्जागरण-युग' (Age of Renaissance) आया जिसमें युरोप ने पलटा खाया। नए-नए विचार जन्म लेने लगे। **कॉपर्निकस** (१४७६–१५४३) ने सूर्य को विश्व का केन्द्र सिद्ध किया, **गैलिलियो** (१५६४–१६४२) ने दूर-वीक्षण यन्त्र का आविष्कार किया, **हार्वे** (१५७८–१६५७) ने शरीर में रुधिर की गति का पता लगाया, **न्यूटन** (१६४२–१७२७) ने गुरुत्व-शक्ति का प्रतिपादन किया। 'अन्धकार-युग' में स्वतंत्र-विचार न कर सकने की जो परंपरा चली आ रही थी, वह इन विचारकों ने तोड़ दी और यद्यपि इन विचारकों को बड़ी जद्दोजहद में से गुज़रना पड़ा, किसी-किसी को अपने विचारों के लिए प्राण तक देने पड़े, तो भी इनके प्रयत्न से युरोप के मानव-समाज ने सृष्टि की समस्याओं पर स्वतंत्र विचार करना प्रारंभ कर दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'पुनर्जागरण-युग' के साथ-साथ मार्टिन लूथर (१४८३–१५४६) के उद्योग से १६वीं शताब्दी में 'सुधार-युग' (Age of Reformation) का भी जन्म हुआ। अबतक धार्मिक क्षेत्र के बाहर जहाँ पुरानी मान्यताएँ चली आ रही थीं, उनको 'पुनर्जागरण के युग' से धक्का लगा था, और लोग स्वतंत्र रूप से संसार की समस्याओं को सोचने लगे थे, अब धार्मिक-क्षेत्र के अन्दर भी जहाँ पोप की तूती बोल रही थी, और पोप को परमेश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था, पोप की बात से स्वतंत्र होकर कोई कुछ कह तक न सकता था, वहाँ भी अब 'सुधार के युग' के कारण स्वतन्त्र रूप से विचार होने लगा। अबतक तो यह समझा जाता था कि बीमारी आदि का कष्ट कर्मों का फल है, भगवान् की तरफ़ से दिया जाता है। पादरी लोग कहते थे कि स्त्री को प्रसूति के समय की व्यथा भगवान् ने इसलिए दी क्योंकि बायबल के कथानक के अनुसार हव्वा ने आदम को बहकाकर अदन के बगीचे का निषिद्ध फल खिला दिया था। इसी कारण जब विज्ञान ने संज्ञाहर औषधियों का आविष्कार किया, क्लोरोफ़ार्म आदि देना शुरू किया, तब पादरियों ने इसका घोर विरोध किया और कहा कि यह तो भगवान् के कार्य में हस्तक्षेप करना है। परन्तु ज्यों-ज्यों 'सुधार' के युग का प्रभाव बढ़ने लगा त्यों-त्यों धर्म के क्षेत्र में भी विचार की प्रणाली में भेद आने लगा।

इस प्रकार १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में 'पुनर्जागरण' (Renaissance) तथा 'सुधार' (Reformation) के युग ने युरोप में सामाजिक तथा धार्मिक दोनों क्षेत्रों में स्वतंत्र विचार करने के बीज को रोप दिया।

व्यक्ति की विचार करने की स्वतंत्रता का परिणाम यह हुआ कि धीरे-धीरे युरोप की काया पलटने लगी। विचार-स्वातंत्र्य के परिणाम-स्वरूप १८वीं शताब्दी में अनेक आविष्कार हुए। १७६४ में **जेम्स हरग्रीव**-नामक एक अंग्रेज कारीगर ने एक ऐसे चरखे का निर्माण किया जिससे एक के स्थान में आठ-दस सूत इकट्ठे काते जा सकते थे। १७६८ में **रिचर्ड आर्कराइट**-नामक एक अन्य अंग्रेज कारीगर ने ऐसे बेलनों का निर्माण किया जो हाथ से चलने के स्थान में यन्त्र से चलते थे और जिनसे ज्यादा काम लिया जा सकता था। १७८४ में ऐसी खड्डी का निर्माण हुआ जो पानी से चलती थी और जिससे एक पन्द्रह वर्ष का बालक उतना काम कर सकता था जितना पहले दस कारीगर करते थे। १७५० में पत्थर के कोयले का पता चला। अबतक भट्टियों में लकड़ी का कोयला जलता था जिसमें गर्मी उतनी न होती थी जितनी पत्थर के कोयले में पायी गई। इससे लोहा भी गलाया जा सकता था और लोहे के गलाये जा सकने से लोहे की मशीनों का निर्माण प्रारंभ हो गया। १७६५ में स्टीम ऐंजिन का प्रयोग हुआ। पहले मशीनें हाथ से, या घोड़े-बैल से चलती थीं, अब मशीनें स्टीम द्वारा चलने लगीं। १८१४ में **जार्ज स्टीवनसन** ने भाप से पहली रेलगाड़ी बनायी। इस प्रकार १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में जो 'पुनर्जागरण' और 'सुधार' का युग प्रारंभ हुआ था, वह १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में 'वैज्ञानिक आविष्कारों के युग' के रूप में परिणत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो गया और 'वैज्ञानिक आविष्कारों' ने 'नवीन यान्त्रिक-आविष्कारों' को जन्म दिया। इन 'यान्त्रिक-आविष्कारों' से जो काम पहले दस आदमी करते थे, वह काम अब एक व्यक्ति मशीन की सहायता से करने लगा। पहले छोटे-छोटे 'गृहोद्योग' (Cottage industries) होते थे, जिनमें थोड़े-से व्यक्ति काम करते थे, अब उनका स्थान 'यान्त्रिक-उद्योगों' (Mechanical industries) ने ले लिया जिनमें एक-साथ हजारों व्यक्ति काम करते थे। यान्त्रिक उपकरणों से इतना अधिक काम हो सकता था कि १८१५ में राबर्ट ओवन नाम के एक कपड़े के कारखाने के मालिक ने कहा था कि उसके दो हज़ार मज़दूर जितना काम करते हैं, उतना काम पुराने तरीके के करघों से स्काटलैंड के सब जुलाहे मिलकर भी नहीं कर सकते थे। इस क्रांति से थोड़े श्रम द्वारा अधिक काम होने लगा। यह क्रांति कपड़े की मशीनों तक ही सीमित नहीं थी। इस क्रांति की छाप सब दिशाओं में थी। कोयला, भाप, बिजली ने जीवन के हर क्षेत्र को व्याप लिया और चारों तरफ़ बड़ी-बड़ी मशीनें सिर उठाये आसमान में धुँआ फूँकने लगीं। इस क्रान्ति को युरोप के इतिहास में 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) का नाम दिया जाता है।

२. औद्योगिक-क्रांति के परिणाम

वैसे तो 'औद्योगिक-क्रांति' के अनेक परिणाम हुए परन्तु हमें सिर्फ़ उन्हीं की तरफ़ ध्यान देना है जिनका 'समाज-कल्याण' तथा 'सामाजिक-पुनर्निर्माण' (Social welfare and Social reconstruction) के साथ विशेष सम्बन्ध है। इस सिलसिले में इस क्रांति के निम्न परिणाम विशेष ध्यान देने योग्य हैं :—

(क) पूँजीवाद का जन्म—युरोप के इतिहास में 'औद्योगिक-क्रांति' से पहले का युग मध्य-युग था। उस समय बड़े-बड़े कारखाने न होकर छोटे-छोटे गृहोद्योग होते थे। गृहोद्योगों में चरखा, करघा तथा इसी प्रकार के छोटे-छोटे उपकरण काम में लाये जाते थे। ऐसी हालत में घर में ही सब-कोई काम-काज कर लेते थे क्योंकि किसी भी धंधे के लिए थोड़ी-सी पूँजी पर्याप्त होती थी। ज्यों-ज्यों कोयले-भाप-बिजली से काम लिया जाने लगा और छोटे उपकरणों के स्थान में बड़े यन्त्रों का निर्माण हुआ, त्यों-त्यों थोड़ी पूँजी से काम कर सकना कठिन हो गया। अधिक पूँजीवाले ही इन यन्त्रों को खरीद सकते थे और वे ही, स्वयं कारीगर न होते हुए भी, कारखानों को खरीद कर हज़ारों मज़दूरों को नौकरी में रख सकते थे। 'मध्य-युग' में तो पूँजीवाला और श्रमी एक ही थे क्योंकि उस समय बड़े-बड़े कारखाने नहीं खुले थे, छोटे-छोटे गृहोद्योग ही चले थे, परन्तु 'औद्योगिक-क्रान्ति' के युग में क्योंकि कारखाने के लिए बहुत अधिक पूँजी की आवश्यकता हो गई इसलिए पूँजीवाला तथा श्रमी अलग-अलग हो गए। परिणाम यह हुआ कि 'मध्य-युग' में जहाँ आर्थिक-उत्पत्ति स्वतंत्र शिल्पियों के हाथ में थी, वहाँ 'औद्योगिक-युग' में वह उनके हाथ से निकल कर पूँजीपतियों के हाथ में चली गई और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'शिल्पी' सिर्फ़ शिल्पी रह गया, 'श्रमी' अर्थात् 'मज़दूर' बन गया, ऐसा मज़दूर जिसके पास अगर कोई धन था तो सिर्फ़ अपना 'श्रम', अपनी 'मेहनत', अपनी मज़दूरी—बस यही था, और 'पूँजीपति' नाम का एक नया वर्ग उत्पन्न हो गया जो स्वयं कुछ नहीं करता था, बड़े-बड़े कारखाने खड़े करने के लिए सिर्फ़ अपनी 'पूँजी' लगाता था। इस प्रकार जहाँ मध्य-युग में 'श्रम' तथा 'पूँजी' एक ही व्यक्ति के हाथ में थे, वहाँ 'औद्योगिक-क्रांति' के युग में वे अलग-अलग हो गए—मज़दूर के हाथ में 'श्रम' रह गया, मालिक के हाथ में 'पूँजी' आ गई और इस प्रकार 'पूँजीवाद' (Capitalism) का जन्म हुआ।

बड़े-बड़े यन्त्रों को बड़ी पूँजीवाले ही ख़रीद सकते थे, छोटी पूँजीवाले नहीं—इसलिए नवीन-यांत्रिक-आविष्कारों ने पूँजीवाद को जन्म दिया, परन्तु जन्म लेने के बाद कई अन्य कारणों से इसको बढ़ावा मिला। इन कारणों में सब से बड़ा कारण यह था कि यन्त्रों द्वारा काम करने में पूँजीपति को मज़दूर की मज़दूरी का बहुत अधिक हिस्सा मुफ्त में मिलने लगा। जिस काम को पहले दस मज़दूर करते थे, उसे बड़ी मशीनों के ज़रिये अब केवल एक मज़दूर करने लगा। यह मज़दूर एक आदमी की मज़दूरी लेता था, और दस मज़दूरों का काम करता था। इस प्रकार पूँजीपति को नौ मज़दूरों की मज़दूरी मुफ्त में मिलने लगी। इसे अर्थ-शास्त्र में 'अतिरिक्त-मूल्य का सिद्धान्त' (Surplus-value theory) कहा जाता है। यह नौ मज़दूरों की मज़दूरी उस मज़दूरी से 'अतिरिक्त' (Surplus) है, जो पूँजीपति ने मज़दूर को काम करने के लिए दी है। दी तो उसे एक मज़दूर की मज़दूरी है, और किया है उसने दस मज़दूरों का काम। यह अतिरिक्त नौ मज़दूरों का काम ऐसा है जिसका पूँजीपति को दाम नहीं देना पड़ा किन्तु उस मज़दूरी से जो कमाई हुई है वह पूँजीपति की जेब में आयी है। इस प्रकार पूँजीवाद दिनोंदिन बढ़ता गया—पूँजीपति सिर्फ़ पूँजीपति ही नहीं रहा, धड़ल्ले से उसकी पूँजी बढ़ती चली गई।

(ख) धनी-निर्धन श्रेणियों का जन्म—युरोप के मध्य-युग में समाज तीन श्रेणियों में बँटा हुआ था—पादरी, जागीरदार तथा शिल्पी। औद्योगिक-क्रान्ति के बाद जागीरदार तो खत्म हो गए—भारत में भी ऐसा ही हो गया है। शिल्पी भी उस प्रकार के न रहे जो अपनी पूँजी लगाते थे और अपना कारोबार स्वयं करते थे। इस युग में एक नया श्रेणी-विभाग उत्पन्न हो गया। मध्य-युग के जागीर-दारों का स्थान पूँजीपतियों ने ले लिया और शिल्पियों का स्थान मज़दूरों ने ले लिया। जागीरदार जन्म के जागीरदार होते थे, जो-चाहे जागीरदार नहीं बन सकता था। पूँजीपति तो जो-कोई बन सकता था। कभी-कभी बिना कौड़ी के सट्टेबाज़ भी तो पूँजीपति बन जाते हैं। 'शिल्पी' अब शिल्पी न रहा, 'श्रमी' बन गया, क्योंकि शिल्प चलाने के लिए उसके पास पर्याप्त पूँजी न थी, श्रम-भर था। 'पूँजीपति' तथा 'श्रमी'—मुख्यतया इन दो वर्गों में समाज बँट गया। हाँ, इस 'औद्योगिक-क्रांति' के युग में एक अन्य वर्ग भी उत्पन्न हुआ जिसे 'मध्य-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रेणी वर्ग' (Bourgeois—बूरज्वा) कहा जाता है। 'पूँजीपति' के पास पूँजी तो थी, परन्तु वह इन जटिल मशीनों के काम-काज को नहीं जानता था, न इतने लम्बे-चौड़े हिसाब-किताब रख सकता था; 'मज़दूर' के पास मज़दूरी बेचने के सिवा अपना और कुछ न था; इन दोनों की गाड़ी चलाने के काम को इस 'मध्य-श्रेणी' ने ले लिया। इस श्रेणी में कौन लोग थे? व्यापारी, महाजन, क्लर्क, वकील—ये सारी शिक्षित मध्य-श्रेणी पूँजीवाद की मशीन को चलाने लगी और जहाँ-जहाँ भी पूँजीवाद उत्पन्न हुआ, वहाँ-वहाँ यही मध्य-श्रेणी प्रभावशाली दिखाई देने लगी। आज हमारे समाज में इसी मध्य-श्रेणी को बाबू-लोग कहा जाता है। ये ही लोग व्यापारियों के व्यापार और सरकारों का दफ्तर चलाते हैं। पूंजीवादी समाज में गाड़ी चलती ही तब है जब इन बाबुओं की कृपा-दृष्टि होती है, नहीं तो फ़ाइलों की फ़ाइलें दबी पड़ी रह जाती हैं। इस प्रकार पूँजीवादी युग में सत्ता 'पूँजीपति' (Capitalist) तथा 'मध्य-श्रेणी' (Bourgeois) अर्थात् बाबू-वर्ग के हाथ में आ गई, 'श्रमी' (Proletariat) के हाथ में केवल 'श्रम' रह गया।

(ग) **वैयक्तिक-स्वतन्त्रता के सिद्धांत का जन्म**—युरोप के मध्य-युग में वैयक्तिक-स्वतंत्रता का लगभग अभाव था। १८वीं शताब्दी से पहले राज्य व्यक्ति के हर काम में दखल देता था। किस दिन किस प्रकार का वस्त्र पहनना चाहिए, किस दिन क्या खाना चाहिए आदि हर छोटी-छोटी बात के लिए नियम बने हुए थे। व्यापार के ऊपर भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध थे। १८वीं शताब्दी में जब 'औद्योगिक-क्रांति' हुई और 'वैयक्तिक-स्वतन्त्रता' के विचारों ने जन्म लिया तब अब तक के लगे हुए इन प्रतिबन्धों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का होना स्वाभाविक था और इसलिए इस समय व्यक्ति ने मध्य-युग से चले आ रहे बन्धनों को तोड़ कर हर बात में अपने को स्वतन्त्र करना प्रारंभ किया। विचार-स्वातन्त्र्य का परिणाम जहाँ यांत्रिक-आविष्कार थे, और यांत्रिक-आविष्कारों का परिणाम जहाँ पूँजीवाद हुआ, वहाँ उसी विचार-स्वातंत्र्य का परिणाम व्यक्ति का अपने को हर बात में स्वतंत्र समझना भी हुआ। इसी को 'व्यक्तिवाद' (Individualism) कहा जाता है। यह 'व्यक्तिवाद' (Individualism) 'पूँजीवाद' का परिणाम नहीं था, परिणाम तो यह उस स्वतंत्र विचार करने की लहर का था, जो १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में 'पुनर्जागरण' (Renaissance) तथा 'सुधार' (Reformation) के रूप में शुरू होकर 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) के रूप में परिणत हुई थी, परन्तु 'पूँजीवाद' से 'व्यक्ति-वाद' को सहारा अवश्य मिला, और कुछ दिनों में 'व्यक्तिवाद' का सबसे बड़ा समर्थक 'पूँजीवाद' हो गया। वह कैसे?

'पूँजीवाद' पर यह आक्षेप किया जाता था कि पूँजीपति लोग मज़दूरों से दिन भर काम करवाते हैं, उन्हें किसी समय छुट्टी नहीं देते, बच्चों को सस्ते में काम करने के कारण थोड़ी मज़दूरी में रखते हैं, स्त्रियों से भी सस्ते में काम लेते हैं,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परन्तु इस आक्षेप के उत्तर में पूँजीवाद ने कहना शुरू किया कि पूँजीपति और मज़दूर के आपस के सम्बन्ध ज़ोर-जब्र पर आश्रित नहीं हैं, कोई मज़दूर को मज़दूरी के लिए बाधित नहीं करता, यह तो एक प्रकार का ठेका है, हम इतनी मज़दूरी देंगे, काम करना चाहो करो, न करना चाहो न करो, जो इतनी मज़दूरी पर काम करने के लिए तैयार हो जायगा वह करेगा, जो तैयार नहीं होगा वह नहीं करेगा। मज़दूर को काम छोड़ देने की पूरी स्वतन्त्रता है, वह किसी प्रकार बंधा हुआ नहीं है। उक्त आक्षेप का इस प्रकार का उत्तर देने के अलावा भी 'व्यक्ति-वाद' (Individualism) का यह सिद्धान्त कि 'हर-एक व्यक्ति स्वतंत्र हैं', पूंजीवाद के बड़े काम का था क्योंकि इस के आधार पर पूँजीवाद कह सकता था कि राज्य का काम व्यक्ति के किसी काम में दख़ल देने का नहीं है, व्यक्ति स्वतंत्र है, वह अपने भले-बुरे को स्वयं बनाता है, अपने भाग्य का स्वयं निर्माण करता है, अगर उसे स्वतंत्र छोड़ दिया जाय तो वह अपनी योग्यता के अनुसार समाज में स्वयं अपना उचित स्थान बना लेगा। जब व्यक्तियों को अपनी योग्यता के अनुसार संघर्ष करके अपना स्थान बनाना होगा, तब व्यक्ति के अच्छे-से-अच्छे गुण पनपेंगे। पूँजीवाद का कहना था कि अगर कुछ व्यक्ति संघर्ष के जीवन में दूसरों से आगे बढ़ गए, तो इससे समाज का ही भला होगा, समाज का कल्याण होगा। अमीर-ग़रीब संघर्ष से बनते हैं। अगर यह संघर्ष न रहे, अगर सब को एक-समान कर दिया जाय, अगर व्यक्ति को दूसरों को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता न रहे, तो समाज में उच्च कोटि के व्यक्ति पैदा ही न हो सकें और सारा-का-सारा समाज एक अत्यन्त साधारण व्यक्तियों का समाज बन जाय।

३. न्यूनतम-हस्तक्षेप के सिद्धान्त द्वारा समाज-कल्याण
(Social welfare through the theory of Laissez-faire)

पूँजीवाद का कहना था कि व्यक्ति को पूरी वैयक्तिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए, उस पर किसी प्रकार की रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। ऐसा करने से अपनी योग्यता और कार्य-क्षमता के आधार पर वह समाज में अपना स्थान ढूँढ लेगा। ऊँचा जाना होगा तो ऊँचे जायगा, भूखा मरना होगा तो भूखा मरेगा। इसमें हस्तक्षेप करने का राज्य का काम नहीं है।

इसी प्रकार वस्तुओं की कीमतों के विषय में भी पूँजीवाद का कहना था कि वस्तुओं का दाम 'माँग और पूर्ति' (Demand and supply) के ऊपर आश्रित है। अगर माँग ज़्यादा है, उसे पूरा नहीं किया जा सकता, तो दाम अपने-आप बढ़ जायगा; अगर माल ज़्यादा पैदा हो गया, माँग उतनी ही है, तो दाम अपने आप घट जायगा। अर्थशास्त्र के नियम के अनुसार वस्तुओं के दाम अपने-आप ठीक होते रहते हैं। इसमें भी राज्य को हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं। इसे अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में 'न्यूनतम-हस्तक्षेप का सिद्धान्त' (Theory of Laissez-faire) कहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तो फिर पूँजीवाद के दृष्टि-कोण से राज्य का क्या काम है? राज्य का काम बाहर के शत्रुओं से देश की रक्षा करना तथा देश के अन्दर शासन की व्यवस्था रखना है। बाहर से कोई आक्रमण न करे, और भीतर कोई कानून को न तोड़े—इन दो कार्यों के अतिरिक्त राज्य का तीसरा कोई काम नहीं। शिक्षा देना, स्वास्थ्य की देख-भाल करना, बच्चों की परवरिश, सब को खाने को पूरा-पूरा मिले, जो-कुछ खाने को मिले वह पौष्टिक हो—ये सब बातें राज्य की नहीं हैं। हर व्यक्ति का काम है कि वह इन बातों के लिए जद्दोजहद करे। व्यक्ति स्वतंत्र है, वह इनके लिए जद्दोजहद करेगा तो सब-कुछ पा जायेगा, अगर न करेगा तो अपने-आप भुगतेगा। जब राज्य सब के लिए देख-भाल करने लगते हैं, तो लोग अपनी ज़िम्मेदारी भूल जाते हैं, सब-कुछ राज्य से आशा करने लगते हैं। इसलिए ये सब काम राज्य के नहीं, व्यक्ति के अपने-अपने हैं। समाज का कल्याण इसी प्रकार हो सकता है—यह पूँजीवाद की विचार-धारा है।

पूँजीवाद का कहना है कि राज्य का काम तो सेना द्वारा देश की बाहर के तथा पुलिस द्वारा देश की अन्दर के शत्रुओं से रक्षा करना है, उसके बाद राज्य का काम व्यक्ति को बिल्कुल स्वतंत्र छोड़ देना है। समाज-कल्याण इसी में है कि व्यक्ति अपनी भलाई-बुराई को स्वयं सोचे-समझे। इसके साथ ही पूँजीवाद का कहना है कि जब समाज-कल्याण की ज़िम्मेदारी राज्य पर न रहकर व्यक्ति पर आ पड़ती है, तब पूँजीपति भी अपने दान से सामाजिक कल्याण के कार्य करते हैं। आखिर, बड़े-बड़े धनी-मानी सज्जन धर्मशालाएँ बनवाते हैं, कुएँ खुदवाते हैं, पाठ-शालाएँ चलाते हैं, अस्पताल बनवाते हैं—यह सब-कुछ समाज-कल्याण नहीं तो क्या है? पूँजीवाद का कहना है कि इस प्रकार केवल देश की बाह्य तथा आन्तरिक रक्षा करना तथा अन्य हर बात के लिए राज्य का व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देना ही समाज-कल्याण का सही रास्ता है।

४. राज्य-नियन्त्रण के सिद्धान्त द्वारा समाज-कल्याण (Social welfare through the theory of State-control)

पूँजीवादी-राज्य में यह समझा जाता है कि राज्य को व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, संसार में समर्थ को जीने का अधिकार है असमर्थ को नहीं, वस्तुओं का भाव-ताव आर्थिक प्रतिस्पर्धा के आधार पर घटता-बढ़ता है, असमर्थ व्यक्तियों की सहायता पूँजीपतियों के दान तथा दया-धर्म से संभव है। अब यह सारी विचार-धारा बदलती जा रही है और पूँजीवादी-राज्य की जगह कल्याणकारी-राज्य की भावना का उदय हो रहा है। विचार-धारा में यह परिवर्तन कैसे हो रहा है—इस पर विचार करना आवश्यक है।

(क) कल्याणकारी-राज्य के विचार का जन्म—पन्द्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में 'पुनर्जागरण' तथा 'सुधार' के युगों द्वारा उत्पन्न स्वतंत्र-विचार की लहर ने युरोप की दिशा पलट दी। इस लहर का परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को हर तरह से स्वतंत्र माना जाने लगा। व्यक्ति की इस स्वतंत्रता के आधार पर हमने अभी देखा कि पूँजीवाद ने यह कहा कि राज्य को देश के अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा के अतिरिक्त अन्य कोई काम नहीं करना। 'न्यूनतम हस्त-क्षेप' (Laissez-faire) के इस सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ कि व्यक्ति की देख-भाल करने वाला कोई न रहा। पूँजीपति पैसा पैदा करने में इतना जुट गया कि मज़दूर की हालत गुलाम से बदतर हो गई। 'समाज-कल्याण' का कार्य पूँजीपति की दया पर निर्भर हो गया—वह चाहता तो कुछ करता, न चाहता तो कुछ न करता। दीन-दुःखियों, अनाथों का कोई रखवारा न रहा। इस सिद्धान्त ने ज़ोर पकड़ा कि जीवन के संघर्ष में जो टिक सकेगा, वह जीने का अधिकारी है, जो संघर्ष में टिक ही नहीं सकता उसे जीने का भी कोई अधिकार नहीं। जब वैयक्तिक-स्वतंत्रता के विचार ने व्यक्ति की यह दुर्दशा कर दी, तब वैयक्तिक-स्वतंत्रता के विचार से ही एक-दूसरे सिद्धान्त का जन्म हुआ। यह सिद्धान्त पहले सिद्धान्त से उलटा था। जहाँ पहले यह माना जाता था कि राज्य का काम समाज के कार्यों में हस्त-क्षेप न करने का है, वहाँ अब यह माना जाने लगा कि अगर राज्य हस्त-क्षेप नहीं करेगा तो कुछ गिने-चुने लोग समाज के अन्य वर्गों का शिकार खेला करेंगे, और समाज का कल्याण न हो सकेगा। वैयक्तिक-स्वतंत्रता की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि राज्य के हस्त-क्षेप द्वारा एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति की स्वार्थ-भावना से बचाया जाय। अगर ऐसा न होगा, तो मानव-समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा गुलामी का जीवन बिताता रहेगा। इस सिद्धान्त के मानने वालों ने कहा कि राज्य का काम सिर्फ़ देश की अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा करना ही नहीं है, राज्य की आधार-भूत भावना 'कल्याणकारी-राज्य' (Welfare-state) की है, अर्थात् राज्य का काम देश की अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा के साथ-साथ अन्य बहुत-कुछ भी है। देश के हर व्यक्ति को आजीविका प्राप्त हो, हर व्यक्ति से जितना काम लिया जाय, उतना पैसा उसे मिले, हर व्यक्ति को काम के अलावा फ़ुर्सत का समय भी दिया जाय, बीमारी तथा मृत्यु हो जाने पर उसका तथा उसके बाल-बच्चों का प्रबन्ध हो, वे भूखों न मरें, सब को पौष्टिक भोजन मिले, कोई अनाथ, दीन-दुखिया न हो, मुसीबत में किसी को गली-गली का मोहताज न होना पड़े—यह सब-कुछ करना भी राज्य का काम है और इन सब बातों के लिए समाज के हर काम में दखल देना राज्य का कर्तव्य है। राज्य एक 'पोलिस-राज्य' (Police state) है, इस पूँजीवादी विचार के स्थान में राज्य एक 'कल्याण-कारी-राज्य' (Welfare state) है—यह समाजवादी विचार उत्पन्न हुआ।

(ख) असमर्थ की रक्षा के विचार का जन्म—पूँजीवाद के युग में डार्विन का 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का सिद्धान्त ज़ोर पकड़े हुए था। उन लोगों का कहना था कि जैसे प्रकृति समर्थ को चुन लेती है, असमर्थ को छाँट कर अलग कर देती है, बड़े वृक्षों के सामने छोटे पौधे मर जाते हैं, बड़े

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जानवर छोटों को हड़प जाते हैं, वैसे मानव-समाज में भी असमर्थ को—कमज़ोर और ग़रीब को—जीने का कोई अधिकार नहीं। इस प्रतिक्रिया के युग में इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया। समाज-शास्त्रियों ने कहना शुरू किया कि अन्धी प्रकृति को मानव-समाज अपना पथ-प्रदर्शक नहीं बना सकता। मानव-समाज में पशु-जगत् का 'प्राकृतिक-चुनाव' (Natural selection) का नियम नहीं, मनुष्य-जगत् का 'सामाजिक-चुनाव' (Social selection) का नियम काम करता है। मनुष्य-समाज कमज़ोरों को मार नहीं देता, उनकी रक्षा करता है। माता-पिता के बूढ़े हो जाने पर उनकी कौन हत्या कर देता है? किसी को भयंकर कष्ट में देख कर किस मनुष्य के हृदय में उसे बचाने की भावना नहीं पैदा होती? ऐसी हालत में मानव-समाज पर डार्विन के 'प्राणि-शास्त्रीय प्राकृतिक-चुनाव' (Biological law of natural selection) को लागू नहीं किया जा सकता। मानव-समाज में तो असमर्थ की रक्षा ही की जायगी, उसे किसी की कृपा पर नहीं छोड़ा जा सकता।

(ग) अर्थशास्त्र के नियमों पर आपत्ति—पूँजीवादी-युग का कहना था कि अर्थशास्त्र के नियमों के अनुसार हर वस्तु का दाम दो बातों पर तय होता है। पहली बात है—'माँग तथा पूर्ति' (Demand and supply) तथा दूसरी बात है 'प्रतिस्पर्धा' (Competition)। जब किसी वस्तु की माँग ज़्यादा हो, मिले कम, तो उसका दाम चढ़ जाता है; जब माँग कम हो, मिले ज़्यादा, तब दाम अपने-आप घट जाता है; किसी को बीच में हस्त-क्षेप करने की ज़रूरत नहीं। इसी प्रकार जब बाज़ार में एक-सी अनेक वस्तुएँ मिलती हों, तब उनकी 'प्रतिस्पर्धा' से अपने-आप दाम तय हो जाता है। जो चीज़ अच्छी होगी वह टिकेगी, जो अच्छी नहीं होगी वह नहीं टिकेगी। समाजवादियों को अर्थशास्त्र के इन नियमों पर आपत्ति है और उनका कहना है कि इस प्रकार वस्तुओं के दाम चढ़ने-उतरने से मज़दूर को नुक़सान पहुँचता है। पूँजीपति अपने नुकसान को मज़दूरी की दर घटा कर कम कर लेता है। परिणाम यह होता है कि मज़दूर ख़ाली बैठ जाता है। अगर बाज़ार में एक-सी कोई चीज़ें आ गई हैं, तो संघर्ष में चीज़ का दाम घटा दिया जाता है, परन्तु यह घाटा भी मज़दूर के सिर आ पड़ता है, पूँजीपति कहता है कि मैं घाटा कहाँ से वर्दाश्त करूँ? ऐसी हालत में अर्थशास्त्र के नियम मानव-समाज को समय-समय पर संकट में डालते रहते हैं। इसीलिए 'कल्याणकारी-राज्य' में वस्तुओं के दामों पर राज्य की तरफ़ से समय-समय पर नियन्त्रण किया जाता है। नियन्त्रण के समय पूँजीपति काला-बाज़ार चलाने लगते हैं, नियन्त्रण से बचने का प्रयत्न कर मुनाफ़ा उठाने की कोशिश करते हैं और इसलिए 'कल्याण-कारी-राज्य' को काला-बाज़ार रोकने के लिए सख़्ती करनी पड़ती है। इसीलिए 'कल्याणकारी-राज्य' में यह भी आवाज़ उठती है कि बड़े-बड़े व्यापार को राज्य ही अपने हाथ में ले ताकि मुनाफ़ेख़ोरी तथा अर्थ-शास्त्र के नियमों से वस्तुओं के भाव चढ़ें-उतरें नहीं। एक व्यक्ति अगर अपनी पूँजी लगायेगा तो मुनाफ़े के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्देश्य से ही लगायेगा, राज्य अगर पूँजी लगायेगा तो मुनाफ़े के उद्देश्य से नहीं लगायेगा। अगर राज्य को मुनाफ़ा होगा भी तो वह उसे फिर समाज-कल्याण के ही किसी कार्य में लगा देगा—शिक्षा की व्यवस्था करेगा, रोगियों के लिए अस्पताल खोलेगा या ऐसा ही जन-हित का कोई कार्य करेगा।

(घ) दान की भावना पर आपत्ति—पूँजीवाद का कहना है कि 'प्रतिस्पर्धा' का सिद्धान्त ही मानव-समाज की उन्नति में एकमात्र साधन है। अगर सब को समान खाने को मिल जाय, कोई अमीर न हो, कोई गरीब न हो, तो कोई भी श्रम काहे को करेगा और अगर करेगा, तो बस नाममात्र को करेगा। उन्नति की प्रेरणा इसी बात से मिल सकती है कि जान लड़ाओगे तो दूसरों से ज़्यादा मुनाफ़ा उठाओगे, दूसरों से बेहतर ज़िन्दगी बसर करोगे। हाँ, जो जीवन की इस दौड़ में पीछे रह जाँय, उनके लिए रुपये-पैसे वाला दान देगा, उनके लिए पाठशाला, अस्पताल बनवायेगा, सब-कुछ करेगा, परन्तु उनकी रक्षा के लिए ज़बर्दस्ती अमीरों पर क्यों हाथ चलाया जाय ?

इस समय जो विचार ज़ोर पकड़ रहा है वह समाज के किसी व्यक्ति को किसी की दया, कृपा या भीख पर नहीं जीने देना चाहता। जैसा हम प्रथम अध्याय में लिख आये हैं, जीने का अधिकार प्रत्येक मनुष्य का जन्म-सिद्ध अधिकार है, उसकी समाज में पूरी-पूरी देख-भाल हो, उसे पूरी-पूरी शिक्षा मिले, उसे अपने विकास के पूरे-पूरे अवसर मिलें, आजीविका का साधन हर व्यक्ति को प्राप्त हो, जिस प्रकार के नैतिक काम से वह अपनी आजीविका सुविधापूर्वक प्राप्त कर सकता है, वैसा काम उसे मिल सके, बीमारी के समय उसे किसी का मोहताज न होना पड़े, मृत्यु के बाद उसके बाल-बच्चे दर-दर न भटकें—ये सब 'प्रत्येक मनुष्य के आधारभूत मौलिक अधिकार' (Fundamental Human Rights) हैं, इनके लिए उसे किसी पूँजीपति का मुख देखने की और उसकी दया पर आश्रित रहने की आवश्यकता नहीं होनी चाहिए। दान के विचार का आधार यह है कि हम दीन-दुःखियों पर तरस खा कर, उन पर दया करके, उनपर पसीज कर अपनी टेबल पर से एक टुकड़ा फेंक देते हैं। यह विचार 'समाज-कल्याण' का आधार नहीं है। हमारी सामाजिक तथा आर्थिक रचना ऐसी है जिसमें हर व्यक्ति को ऊँचे उठने का मौका नहीं। कुछ अधिकार जन्म से चले आते हैं, ऐसे अधिकार जिनके लिए हमने स्वयं कोई श्रम नहीं किया होता। पैसे वाले के लड़के को निकम्मा होते हुए भी पैदाइश से ही ऐसे अवसर मिल जाते हैं जिनसे वह आगे बढ़ सके, बढ़े या न बढ़े यह दूसरी बात है; गरीब का बच्चा होनहार होता हुआ भी ऐसे अवसरों को सहज रूप से नहीं प्राप्त कर सकता। इस विषम सामाजिक तथा आर्थिक संगठन का नतीजा है कि हमारे समाज में कुछ लोग भूखे मरते हैं, उनको शिक्षा नहीं मिल पाती, वे दुःखी, अनाथ तथा दरिद्र हैं। ऐसी हालत में दान का क्या अर्थ है। हमारे संगठन के कारण उनकी यह अवस्था है अतः समाज में जो समर्थ हैं वे तो इस संगठन को आमूल-चूल बदलने का प्रयत्न करते हैं ताकि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक-संगठन ही ऐसा न रहे जिससे इस-प्रकार की भीषण विषमता दिखाई दे, और जो असमर्थ हैं वे हमारी दया और भीख पर नहीं रहेंगे, परन्तु समर्थ लोग इन असमर्थों के अधिकारों के लिए लड़ेंगे। यही अवस्था आज आ रही है। आज हर देश का आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा बदल रहा है। 'सामाजिक-कल्याण' को आधार बनाकर देश-देश में आन्दोलन हो रहे हैं और दीन-दरिद्र-अनाथ-अपाहिज-वृद्ध-रोगी को पूँजीपतियों की दया का पात्र न समझ कर यह समझा जा रहा है कि राज्य से हर प्रकार की सहायता पाना इनका अधिकार है। कर्तव्य तथा अधिकार के झमेले में अब तक तो यह समझा जाता था कि पूँजीपति का कर्तव्य है कि इन अनाश्रितों पर दया करके इन्हें चन्दे से और दान से पाले। यह उसकी इच्छा पर आश्रित था कि वह ऐसा करे या न करे, परन्तु अब 'कल्याण-कारी-राज्य' में दृष्टिकोण बदल गया है। यह पूँजीपति का कर्त्तव्य नहीं कि वह इन्हें पाले-पोसे, यह इन अनाश्रितों का अधिकार है कि समाज से इन्हें पूरी-पूरी सुरक्षा प्राप्त हो। हमने समाज की रचना ऐसी क्यों की जिससे इनकी ऐसी हालत हुई? किसी को चोट लग गई, कोई बीमार पड़ गया, तो वह समाज का काम करता-करता ही तो इस मुसीबत में आ फँसा। इसकी देख-रेख की ज़िम्मेदारी राज्य की नहीं तो किस की है? इस प्रकार दया तथा कर्तव्य का भाव पीछे हट कर मनुष्य का राज्य से हर प्रकार की रक्षा प्राप्त करने का अधिकार आगे आ रहा है, और मनुष्य के इस अधिकार को पूरा करने के लिए राज्य पूँजीवालों पर ज्यादा-से-ज्यादा कर लगा रहा है ताकि इस प्रकार प्राप्त किये हुए धन से राज्य अपने देश के प्रत्येक नर-नारी, बाल-वृद्ध के लिए कल्याणकारी राज्य बन सके। आज भारत, युरोप, अमरीका तथा अन्य देशों में विचार की यही दिशा है।

प्रश्न

१. युरोप में कल्याणकारी राज्य के विचार का कैसे जन्म हुआ?
२. युरोप में जो औद्योगिक क्रांति हुई, उसके क्या सामाजिक परिणाम हुए?
३. न्यूनतम हस्तक्षेप का सिद्धांत क्या है? पूँजीवाद का इस सिद्धांत के विषय में क्या मत है? इस सिद्धांत के संबंध में अपने विचार प्रकट कीजिए।
४. समाजवादी विचारधारा में दान के भाव पर क्या आपत्ति की जाती है?
५. पूँजीवाद की दृष्टि से राज्य का क्या काम है?
६. कल्याणकारी राज्य के विचार में 'न्यूनतम हस्तक्षेप' (Laissez faire), 'प्राकृतिक चुनाव' (Natural selection), 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) तथा 'दान' (Charity) का क्या स्थान है? इसके विपरीत पूँजीवाद में इनका क्या स्थान है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४

राज्य के कार्य-क्षेत्र संबंधी सिद्धान्त
(PRINCIPLES OF STATE ACTION)

हमने पिछले दो अध्यायों में देखा कि भारत तथा युरोप में किस प्रकार समाज-कल्याण का विचार पनपा तथा पनप रहा है। समाज-कल्याण के विचार का आधारभूत विचार यह है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र समाज का कल्याण करना है। इससे पहले कि हम आगे बढ़ें, यह जान लेना आवश्यक है कि राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या है, और इस संबंध में क्या-क्या सिद्धान्त हैं ? हम इस अध्याय में राज्य के कार्य-क्षेत्र संबंधी सिद्धान्तों की चर्चा करेंगे।

१. राज्य के दैवीय-अधिकार का सिद्धान्त
(Theory of Divine Right of the State)

युरोप के मध्य-युग में 'राज्य' (State) तथा 'धर्म' (Church) का संघर्ष उत्पन्न हो गया। 'राज्य' का दावा था कि 'व्यक्ति' के ऊपर 'राज्य' का शासन चलना चाहिये, 'धर्म' का दावा था कि 'व्यक्ति' के ऊपर 'धर्म' का शासन चलना चाहिए। 'राज्य' तथा 'धर्म' के इस पारस्परिक संघर्ष में दोनों का कहना था कि वे एक-दूसरे से ऊपर हैं। 'राज्य' (State) अपनी सत्ता को सर्वोपरि बनाने के लिए एक तरफ़ 'धर्म' (Church) के साथ लड़ाई लड़ रहा था, दूसरी तरफ़ मध्य-युग की 'जागीरदारी-प्रथा' या 'सामन्तशाही' (Feudalism) के

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Discuss the grounds on which the state should interfere in the economic activities of the individual. (1954)

2. Discuss the causes of growth of state activity in recent times in India. (1954)

3. Is the state justified in undertaking social legislation? Give reasons for your answer. (1955)

4. What importance does social legislations have in a country like India. Is the state justified in undertaking social legislation? (1959)

5. "Increasing state control in the name of a Welfare state is fraught with great dangers." Discuss this statement in the present Indian context. (1962)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ लड़ाई लड़ रहा था। 'राज्य' का कहना था कि 'धार्मिक-मठ' (Church) तथा 'जागीरदार' (Feudal lords)—ये दोनों उसके आधीन हैं। इस संघर्ष में 'राज्य' की विजय हुई और यह स्वीकार किया जाने लगा कि सर्वोपरि सत्ता 'राज्य' की है, अन्य किसी की नहीं।

'धर्म' के ठेकेदार क्योंकि अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि मानते थे, और इसी कारण कहते थे कि 'व्यक्ति' के ऊपर अधिकार 'राज्य' का नहीं 'धर्म' का है, इसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि 'राज्य' के पक्षपाती कहने लगे कि राज्य की उत्पत्ति ईश्वर की तरफ़ से हुई है, राज्य को मानव-समाज ने नहीं, स्वयं ईश्वर ने रचा है, और इसी कारण 'राज्य' को दैवीय-अधिकार प्राप्त हैं। अगर 'राज्य' को दैवीय-अधिकार प्राप्त हैं तो राजा क्या है? राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है! राज्य के दैवीय-अधिकार के सिद्धान्त का परिणाम यह हुआ कि राजा के दैवीय-अधिकारों के सिद्धान्त का जन्म हो गया।

२. राजा के दैवीय-अधिकारों का सिद्धान्त (Theory of Divine Rights of the King)

राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी आज्ञा का पालन ईश्वर की आज्ञा का पालन है, राजा जो चाहे कर सकता है, उसका कार्य-क्षेत्र असीमित है—यह विचार-धारा राजा के दैवीय-अधिकार का परिणाम थी। इंग्लैण्ड के **जेम्स प्रथम** ने यह घोषित कर दिया कि राजा ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसकी सत्ता अखंड है, वह कानून का निर्माता है, स्वयं कानून से ऊपर है, वह ईश्वर के सिवाय किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं।

युरोप में १८वीं शताब्दी से पहले तक यह सिद्धान्त अखंड रूप से माना जाता रहा। इस सिद्धान्त का पृष्ठ-पोषक **जॉन आस्टिन** (१७७०–१८५९) माना जाता है। उसका कहना था कि राजा ही सब कानूनों का स्रोत है, उसी से राज्य के सब नियम बनते-बिगड़ते हैं, उसकी इच्छा को कोई टाल नहीं सकता, वह जिस बात को ठीक कहे वह ठीक, जिसे गलत कहे वह गलत। इसी को 'राजा के दैवीय-अधिकारों का सिद्धान्त' (Divine Rights of the King) कहा जाता है। राज्य तथा राजा की सत्ता अखंड है, सार्वभौम है, प्रभुत्व-संपन्न है। राजा हर बात में दखल दे सकता है, उसकी बात में कोई दखल नहीं दे सकता। इसका परिणाम यह हुआ कि राज्य की तरफ़ से हर बात में दखल दिया जाने लगा। ऐसा करो, ऐसा न करो; यह कपड़ा या यह जूता पहनो, यह न पहनो; यह भोजन खाओ, यह न खाओ—इस सब का नियन्त्रण राज्य करने लगा।

राजा के विषय में ऐसे विचार भारतीय ग्रन्थों में भी पाये जाते हैं। महाभारत में लिखा है कि राजा का निर्माण इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं के अंश लेकर होता है। यहूदियों का विश्वास था कि ईश्वर ही राजा को चुनता है, मुसलमानों में भी राजा के विषय में ऐसे विचार पाये जाते हैं। यह सब-कुछ होते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भी आज के युग में ये विचार उपहासास्पद हो गये हैं। आज राज्य या राजा को कोई ईश्वर का प्रतिनिधि नहीं मानता। आज तो यह समझा जाता है कि राज्य की संस्था विकास की प्रक्रिया का परिणाम है, इसका विकास मनुष्य ने किया है, ईश्वर ने इसका निर्माण नहीं किया। क्योंकि राज्य का विकास मानव की आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए हुआ है इसलिए राज्य का कार्य-क्षेत्र सीमित है, असीमित नहीं। आज का युग राज्य या राजा के दैवीय-अधिकार के सिद्धान्त को मानने के लिए तैयार नहीं। यह सिद्धान्त पुराना हो चुका है।

३. सामाजिक-संविदा या अनुबन्ध का सिद्धान्त (Theory of Social Contract)

(क) सामाजिक-संविदा के सिद्धान्त का स्वरूप—'सामाजिक-संविदा' को अंग्रेज़ी में 'सोशियल कन्ट्रैक्ट' (Social contract) कहते हैं। इस सिद्धान्त को माननेवालों का कहना है कि एक समय था जब 'राज्य' नाम की कोई संस्था नहीं थी, उस दशा को 'अराजक-अवस्था' कहा जाता है। उसके बाद समय आया जब राज्य की उत्पत्ति हुई। अराजक-अवस्था से राज्य की अवस्था क्यों उत्पन्न हुई? अराजक-अवस्था में कोई किसी की पर्वाह नहीं करता था, सब अपनी-अपनी करते थे, बलवान् निर्बल को मसल डालता था, लड़ाई-झगड़े में बीच-बचाव करनेवाला कोई नहीं था, सब को पूर्ण स्वतंत्रता थी, किसी का किसी पर नियन्त्रण नहीं था। इसका परिणाम यह था कि किसी का अधिकार सुरक्षित नहीं था, अपने बल-बूते पर जो अपनी रक्षा कर सकता था वह सुरक्षित था, अन्यथा हर-एक का जीवन ख़तरे में पड़ा रहता था। हर समय बने रहनेवाले ख़तरे से बचने के लिए समाज के व्यक्तियों ने एक-दूसरे के साथ संविदा की, कन्ट्रैक्ट किया, इकरार किया, समझौता किया कि वे अपने को मर्यादा में, नियन्त्रण में रखेंगे, और दूसरे के अधिकार को स्वीकार करेंगे। हो सकता है कि उन्होंने यह इकरार एक-दूसरे के साथ किया, या हो सकता है कि किसी ऐसे व्यक्ति के साथ किया जो सब से ज्यादा बलशाली था, जिसे उन्होंने अपना राजा स्वीकार किया, परन्तु यह मानना पड़ेगा कि राज्य का विकास तब हुआ जब मनुष्य ने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता के अधिकार को छोड़ने तथा सामूहिक शक्ति के आधीन रहने के सिद्धान्त को स्वेच्छापूर्वक स्वीकार किया। इसी को 'सामाजिक-संविदा' (Social contract) का सिद्धान्त कहा जाता है।

'सामाजिक-संविदा' क्योंकि आपस की सहमति, इकरार और समझौते से होती है इसलिए यह आवश्यक है कि जिस आधार पर सहमति हुई है वह आधार बना रहे। राजा तथा प्रजा के इस समझौते का आधार यह था कि प्रत्येक व्यक्ति के अधिकार सुरक्षित रहें, कोई किसी पर ज़बर्दस्ती न करे, अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं से प्रजा की रक्षा की जाय, सब के साथ न्याय हो—इत्यादि। परन्तु अगर राज्य इन सब कर्त्तव्यों को न निभा सके, तब? 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार तब राज्य को पलट दिया जाय, और ऐसे राज्य का निर्माण किया जाय या ऐसे व्यक्ति को राजा बनाया जाय जो इन कार्यों को कर सके।

(ख) 'सामाजिक-संविदा' के समर्थक विचारक—'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त का प्रतिपादन टामस हॉब्स, जॉन लॉक तथा रूसो ने किया है। इनके विचारों में आपस में कुछ भेद हैं, फिर भी मूलतः ये तीनों राज्य की उत्पत्ति 'सामाजिक-संविदा' से ही मानते हैं और उसी के आधार पर राज्य के कार्य-क्षेत्र का निर्णय करते हैं। इनके विचार क्या हैं?

(i) टामस हॉब्स (१५८८–१६७९)—हमने अभी कहा था कि 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त के अनुसार अगर राज्य प्रजा की रक्षा नहीं कर सकता, राजा तथा प्रजा के बीच हुए समझौते को पूरा नहीं कर सकता, तो प्रजा को विद्रोह कर देने तथा राज्य को बदल देने का अधिकार है। हॉब्स 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त को तो मानता है, परन्तु प्रजा के विद्रोह के अधिकार को नहीं मानता। इसका क्या कारण है?

स्टुअर्ट राजा जेम्स प्रथम के समय इंग्लैण्ड में राजा के विरुद्ध प्रजा ने जो विद्रोह किया था उसे हॉब्स ने देखा था। इसे देख कर वह इस नतीजे पर पहुँचा कि राजा के अत्याचार की अपेक्षा प्रजा का अत्याचार कहीं अधिक भयंकर होता है। राजा निरंकुश होकर भी इतना अत्याचारी नहीं हो सकता जितनी प्रजा निरंकुश होकर अत्याचारी हो जाती है। राजा निरंकुश होगा तो इकला निरंकुश होगा, वह कितना अत्याचार कर सकेगा, प्रजा निरंकुश होगी तो प्रजा का हर-एक व्यक्ति निरंकुश हो जायगा, अत्याचार की हद नहीं रहेगी।

हॉब्स का कहना है कि हमारे सामने दो ही विकल्प हैं—या तो अराजक-अवस्था हो, या राजा का राज्य हो। मनुष्य क्योंकि स्वभाव से स्वार्थी, लालची, झगड़ालू है इसलिए अराजक-अवस्था में कभी सुख, शान्ति हो नहीं सकती, अराजक-अवस्था निरन्तर झगड़े की और अशान्ति की अवस्था है। इस अवस्था में जो चाहे जिसे लूटता, मारता, सताता है। इस अवस्था से निकलने का एक ही रास्ता है, और वह है समझौते से किसी को राजा मान लेना और सब का अपने अधिकारों को उसके सुपुर्द कर देना। यही 'सामाजिक-संविदा' है। परन्तु ज्यों ही 'सामाजिक-संविदा' से, समझौते से हम किसी को राजा मान लेते हैं, त्यों ही निम्न बातें स्वतः मान लेते हैं:

(a) जब हम सब मिल कर अपने को किसी के आधीन कर देते हैं तब हमारा अपना अधिकार कुछ नहीं रहता, हम अपने हर प्रकार के अधिकार का परित्याग कर देते हैं, इसलिए 'हमारे अधिकारों की रक्षा' का प्रश्न नहीं उठता, और इसीलिए 'अधिकारों की रक्षा की खातिर प्रजा के विद्रोह' का प्रश्न भी नहीं उठता।

(b) जब हम सब मिल कर अपने को किसी के आधीन कर देते हैं तब हम समझौता कर रहे होते हैं, वह समझौता नहीं कर रहा होता। क्योंकि वह हम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब से बलवान् होता है इसीलिए तो हम समझौते की बात कर रहे होते हैं। इस समझौते में वह पार्टी नहीं होता इसलिए वह हर कानून से ऊपर होता है, निरंकुश होने का उसे अधिकार होता है, वह जैसा चाहे कर सकता है, उसकी सत्ता निरंकुश, अविभाज्य, स्थायी तथा अदेय होती है। उसके सम्मुख व्यक्ति कुछ भी नहीं है, वह सर्वेसर्वा है।

हॉब्स 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त को मानता है, और राज्य के कार्य-क्षेत्र को निरंकुश मानता है, राज्य चाहे जो करे, जहाँ भी चाहे हस्त-क्षेप करे, ---यह मानता है। उसके ऐसा मानने का कारण यह है कि वह मनुष्य को स्वभाव से स्वार्थी, लोभी, लालची, झगड़ालू मानता है। अगर राजा का प्रजा पर निरंकुश शासन न होगा तो प्रजा एक-दूसरे का गला काटने पर उतारू हो जायगी—यह उसका कहना है। उसने अपने समाज में इंग्लैण्ड में ऐसा ही देखा था इसलिए उसका ऐसा सोचना स्वाभाविक था, परन्तु यह बात ठीक नहीं है कि मनुष्य सदा लोभ, लालच का ही शिकार रहता है। जहाँ मनुष्य में लोभ, लालच, ईर्ष्या-द्वेष हैं, वहाँ उसमें त्याग, निर्मोह, प्रेम, मैत्री के गुण भी मौजूद हैं। मनुष्य जहाँ दूसरे की जान ले लेता है, वहाँ दूसरे के लिए जान दे भी देता है। इसलिए यह कहना कि राजा का नियंत्रण हर हालत में रहना चाहिए चाहे राजा कितना ही अत्याचारी क्यों न हो क्योंकि प्रजा तो सदा अत्याचारी ही होती है---गलत है। 'सामाजिक-संविदा' तभी सार्थक है जब राजा प्रजा की भलाई करे, उसके कल्याण के कार्य करे, जहाँ राजा प्रजा का कल्याण करना छोड़ देता है वहाँ प्रजा को राज्य पलटने का अधिकार है।

इसके अतिरिक्त यह ध्यान रखना चाहिए कि 'राज्य' तथा 'राज्य-संस्था' में भेद है। अगर 'राज्य' अत्याचारी है, और प्रजा उसके प्रति विद्रोह करती है, तो इसका यह अभिप्राय नहीं है कि प्रजा 'राज्य-संस्था' को ही नष्ट कर देना चाहती है, अराजकता लाना चाहती है। इसका सिर्फ़ इतना अर्थ है कि प्रजा एक प्रकार की 'राज्य-संस्था' के स्थान में, एक प्रकार की सरकार के स्थान में दूसरे प्रकार की 'राज्य-संस्था', दूसरे प्रकार की सरकार लाना चाहती है, ऐसी सरकार जो उसके कल्याण की तरफ़ विशेष ध्यान दे। हॉब्स ने 'राज्य' तथा 'राज्य-संस्था' में भेद नहीं किया इसलिए उसने कह दिया कि प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार नहीं है, अन्यथा 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त के साथ उसका यह कहना कि राजा कितना भी निरंकुश हो प्रजा का विद्रोह करने का कभी अधिकार नहीं---असंगत है।

(ii) जॉन लॉक (१६३२–१७०४)---लॉक भी हॉब्स की तरह अंग्रेज़ था, दोनों 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त को मानने वाले थे, परन्तु हॉब्स जहाँ राज्य की निरंकुश सत्ता मानता था वहाँ लॉक राज्य की सीमित-सत्ता मानता था। राज्य का कार्य-क्षेत्र वहीं तक है जहाँ तक जनता का हित सिद्ध हो, इससे अतिरिक्त नहीं। सुरक्षा, सुशासन, न्याय---ये राज्य के क्षेत्र हैं, परन्तु इस से अधिक जनता के कार्य में हस्त-क्षेप करना राज्य का काम नहीं है। उदाहरणार्थ, राज्य का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम जनता को नैतिक बनाना, उसे अपनी संस्कृति के अनुसार ढालना, जनता की स्वीकृति के बिना कर लगाना, जनता की पसन्दगी के खिलाफ़ कोई काम करना—ये सब राज्य का काम नहीं है। लॉक का दृष्टि-कोण हॉब्स से भिन्न था—इसका कारण है।

हॉब्स ने जनता की क्रांति देखी थी, जनता का स्वार्थी, लालची, विद्रोही रूप देखा था, इसलिए उसने कहा कि निरंकुश जनता की अपेक्षा निरंकुश राजा का शासन अच्छा है। लॉक के समय इंग्लैण्ड की १६८८ की क्रांति सफल हो चुकी थी, स्टुअर्ट राजा जेम्स द्वितीय के उच्छृंखल राज्य का अन्त हो चुका था, वैध राज-सत्ता की स्थापना हो चुकी थी। लॉक ने जनता के लोभी, लालची रूप को नहीं देखा था, विद्रोह सफल हो चुकने के बाद जनता का जो शानदार रूप होता है उसे देखा था।

हॉब्स का कहना था कि हमारे सामने दो ही विकल्प हैं—या तो अराजक अवस्था हो, या राजा का राज्य हो। अराजक-अवस्था में मनुष्य स्वार्थी, लोभी, लालची, झगड़ालू होता है, इसलिए राजा को संविदा, इकरार द्वारा चुना जाता है जिसे निरंकुश होने का अधिकार है। लॉक भी मानता था कि हमारे सामने दो ही विकल्प हैं—अराजक-अवस्था तथा राजा का शासन। परन्तु वह अराजक-अवस्था को लोभी, लालची, झगड़ालू मनुष्य की अवस्था नहीं मानता था। उसका कहना था कि अराजक अवस्था बहुत ऊँची अवस्था थी। उसमें मनुष्य शान्ति से रहता था, किसी के काम में दखल नहीं देता था, प्राकृतिक नियमों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करता था। प्रकृति के अनुसार जो उचित था उसे उचित मानता, जो न्याय्य था उसे न्यायसंगत मानता था।

परन्तु उचित क्या है, अनुचित क्या है, न्याय्य क्या है, अन्याय्य क्या है—इसमें मत-भेद तो हो सकता है। मत-भेद की हालत में क्या किया जाय? इस समस्या को सदा के लिए हल कर देने के लिए एक ऐसी संस्था की रचना की गई जिसका निर्णय सब को स्वीकार करना था। यही निर्णायक-संस्था राज्य की संस्था थी। इस संस्था की उत्पत्ति 'सामाजिक-संविदा' से हुई, सब की आपसी सहमति से हुई। जब से यह राज-संस्था बनी तब से मानव-समाज ने अपनी-अपनी समझ के प्राकृतिक नियमों के अनुसार चलने के स्थान में समाज के बनाये हुए नियमों, कानूनों के पीछे चलना स्वीकार कर लिया। लॉक का कहना है कि हमारा यह समझना ग़लत है कि राज-संस्था को उत्पन्न करते हुए मानव-समाज अपने स्वतंत्रता के अधिकार को छोड़ देता है, राज्य को निरंकुश शक्ति दे देता है। राज्य के साथ मानव-समाज का सिर्फ़ यह समझौता हुआ था कि राज्य मानव-समाज के कल्याण के कार्य सामूहिक रूप से करेगा, अगर नहीं करेगा तो जनता को अधिकार होगा कि वह राज्य को बदल दे। लॉक के अनुसार प्रजा ने राज्य को इसलिए नहीं चुना क्योंकि मनुष्य एक-दूसरे की जान का दुश्मन है, मनुष्य तो स्वभाव से शान्तिप्रिय है, उसने राज्य को इसलिए चुना क्योंकि इससे उसके कार्य सामूहिक शक्ति के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सहारे सहूलियत से हो जाते हैं, जिस राज्य से वे न हों उसे बदलने का प्रजा को अधिकार है।

(iii) रूसो (१७१२–१७७८)—रूसो फ्रांस का विचारक था। उसकी पुस्तक 'सोशियल कौन्ट्रैक्ट' सामाजिक-संविदा पर प्रसिद्ध पुस्तक है। उसने कुछ हॉब्स की बात को माना, कुछ लॉक की बात को माना, और इन दोनों के विचारों के सम्मिश्रण से 'सामाजिक-संविदा' के एक नवीन विचार को जन्म दिया।

रूसो का कहना है कि पहले अराजकता की अवस्था थी। उस अवस्था में हॉब्स के अनुसार मनुष्य स्वार्थी, लालची, झगड़ालू था; लॉक के अनुसार वह शान्तिप्रिय, सदाचारी, न्यायपरायण था, परन्तु रूसो के अनुसार उस अवस्था में मनुष्य न स्वार्थी और शैतान ही था, न शान्तिप्रिय और देवता ही था। तब वह कैसा था? रूसो का कहना है कि उस अवस्था में मनुष्य सीधा-सादा, सरल प्रकृति का था। वह जो चाहता था उसे आसानी से मिल जाता था इसलिए उसमें संचय की प्रवृत्ति नहीं थी, वैयक्तिक सम्पत्ति का विचार उस समय नहीं उत्पन्न हुआ था, जो-कुछ मिल जाता था उससे वह संतुष्ट हो जाता था। उसे न्याय-अन्याय, उचित-अनुचित का ज्ञान नहीं था। ये सब बातें विकसित सभ्यता में होती हैं। उस समय तो सभ्यता का विकास ही नहीं हुआ था, इसलिए इन बातों का उसे ज्ञान नहीं था। क्रमशः जन-संख्या बढ़ने लगी, वस्तुओं की बहुतायत कम दीखने लगी, वैयक्तिक सम्पत्ति के विचार ने जन्म लिया, वैयक्तिक सम्पत्ति के विचार ने ईर्ष्या-द्वेष को जन्म दिया, लड़ाई-झगड़े होने लगे। इन लड़ाई-झगड़ों को कैसे दूर किया जाता?

इस समस्या को हल करने के लिए व्यक्तियों ने राज्य की संस्था को जन्म दिया। उन्होंने क्या किया? प्रत्येक व्यक्ति ने अपनी स्वतंत्रता को, अपने वैयक्तिक अधिकार को समाज के समूह के सुपुर्द कर दिया। अपनी स्वतन्त्रता को समाज या समूह के सुपुर्द करने का क्या अर्थ था? व्यक्ति अपने को दो रूपों में देखने लगा। एक उसका वह रूप जो वैयक्तिक रूप कहा जा सकता है, दूसरा उसका वह रूप जो सामाजिक या सामूहिक रूप कहा जा सकता है, जिस रूप में वह व्यक्ति नहीं रहता, समाज या समूह का अंग हो जाता है। व्यक्ति ने अपनी स्वतंत्रता समूह को सौंप दी—इसका क्या अर्थ हुआ? क्योंकि समूह भी तो व्यक्तियों से मिल कर बनता है इसलिए इसका यह अर्थ हुआ कि जिस अपनी वैयक्तिक स्वतंत्रता को वह समूह को सौंप रहा था वह समूह का अंग होने के कारण उसे फिर प्राप्त हो रही थी। रूसो का कहना है कि 'सामाजिक-संविदा' का यही रूप था। व्यक्ति अपनी रक्षा अपने-आप नहीं कर सकता, वह समूह के प्रति अपने को सौंप देता है, समूह क्योंकि व्यक्तियों से बनता है, इसलिए समूह की शक्ति व्यक्ति को प्राप्त हो जाती है। अब व्यक्ति की रक्षा करने का काम व्यक्ति का नहीं रहता, यह काम समूह का हो जाता है। व्यक्ति इसी इकरार पर अपनी स्वतंत्रता को समूह के चरणों में अर्पित कर देता है, अपनी स्वतंत्रता का अपने-आप त्याग कर देता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रूसो का कहना है कि व्यक्ति के अपनी स्वतंत्रता के इस प्रकार त्याग कर देने का यह अभिप्राय नहीं है कि व्यक्ति का कोई अधिकार नहीं रहता और राज्य को निरंकुश अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। व्यक्ति के अधिकार तो जैसे-के-तैसे बने रहते हैं, उन अधिकारों की रक्षा करने का काम समूह का हो जाता है। यह समूह ही जनता है, और इस जनता का राज्य ही जन-तंत्र कहलाता है। रूसो ने जन-तंत्र को एक ठोस विचार-धारा दी। जनता जिस राज्य-संस्था या राजकीय-संगठन का निर्माण करती है उसमें एक इकरार, एक संविदा काम कर रही होती है। वह इकरार और संविदा यह है कि अगर हमारी बनाई राज्य-संस्था जनता का कल्याण कर रही है तब तो सब ठीक, अगर वह जनता का कल्याण नहीं कर रही, तो जनता को अधिकार है कि उसे पदच्युत कर दे।

ऊपर जो-कुछ कहा गया उससे स्पष्ट है कि राज्य का जन्म जनता की सामान्य-इच्छा (General will) से होता है, और क्योंकि यह सामान्य-इच्छा किसी एक व्यक्ति की नहीं, सब की सामूहिक इच्छा है इसलिए यह इच्छा प्रभुत्व-संपन्न है, और यही राज्य का आधार है। सामूहिक-इच्छा का रूप सब का कल्याण है इसलिए राज्य का कार्य-क्षेत्र प्रजा का सब प्रकार का हित करना है। जिस कार्य से भी प्रजा का हित हो, चाहे वह सामाजिक हो, राजनीतिक हो, आर्थिक हो, कुछ भी क्यों न हो, उसे करना, उसमें हस्त-क्षेप राज्य का काम है।

'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त की राजनीति-शास्त्र में समालोचना की जाती है और इस सिद्धान्त को सर्वमान्य सिद्धान्त नहीं माना जाता। कहा जाता है कि मानव-समाज के विकास में ऐसा समय कोई नहीं पाया जाता जब लोगों ने इकट्ठे होकर तय किया हो कि हम लोग अराजकता से तंग आ चुके हैं, अब हम राज्य का निर्माण करते हैं, और यह इकरार करते हैं कि हम अपने अधिकारों को राज्य के अर्पण कर देंगे। हमें इस विवाद में नहीं पड़ना। इस सिद्धान्त की आलोचना राजनीति-शास्त्र का विषय है। हमें तो इतना देखना है कि राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए, व्यक्ति के कल्याण-साधन के लिए, समाज के सब व्यक्तियों के हित के लिए हुई है इसलिए 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त के अनुसार समाज का कल्याण करना राज्य का कार्य-क्षेत्र है।

४. व्यक्तिवाद का सिद्धान्त
(Theory of Individualism)

(क) व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का विकास—हम देख आये हैं कि मध्य-युग में 'राजा के दैवीय-अधिकारों का सिद्धान्त' काम कर रहा था। उसके बाद 'सामाजिक-संविदा' का सिद्धान्त १६वीं, १७वीं तथा १८वीं सदी में चलता रहा। १८वीं सदी के उत्तरार्ध में 'व्यक्तिवाद' के सिद्धान्त का जन्म हुआ। 'मध्य-युग' से १८वीं सदी के उत्तरार्ध से पहले तक युरोप में राज्य की सत्ता सर्वोपरि थी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति की राज्य के सम्मुख कोई सत्ता ही नहीं थी, राज्य का कार्य-क्षेत्र इतना विस्तृत था कि वह व्यक्ति की हर बात में हस्त-क्षेप कर सकता था।

'मध्य-युग' में राजा के ही अधिकार माने जाते थे, उसे ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। १६, १७, १८ शताब्दी में 'सामाजिक-संविदा' के सिद्धान्त ने राजा के साथ प्रजा को भी ला खड़ा किया और कहा कि राज्य तो राजा तथा प्रजा के बीच एक इकरार है, एक समझौता है, इसलिए राजा के ही अधिकार नहीं, प्रजा के भी अधिकार हैं। मध्य-युग का विचार राजा के निरंकुश अधिकार मानता था, १६–१८ सदी का 'संविदा' का विचार इस निरंकुशता पर एक प्रहार था, यद्यपि अभी तक व्यक्ति के अधिकार के सिद्धान्त का जन्म नहीं हुआ था तो भी 'संविदा' का सिद्धान्त 'व्यक्ति' के अधिकार स्वीकार करने की तरफ़ एक कदम था। १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तो 'व्यक्ति के अधिकारों' का नारा बुलन्द होने लगा। इस शताब्दी में युरोप में 'औद्योगिक-क्रांति' हुई और इस क्रांति के साथ 'राजा' तथा 'राज्य के अधिकार' के मुकाबिले में 'व्यक्ति के अधिकार' का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। अब स्पष्ट रूप से घोषित किया जाने लगा कि राजा या राज्य के ही अधिकार नहीं होते, व्यक्ति के भी अधिकार होते हैं। ये अधिकार 'प्राकृतिक' (Natural) हैं, ये अधिकार राजा या राज्य से नहीं प्राप्त होते, मनुष्य के जन्मते ही प्रकृति द्वारा प्राप्त हो जाते हैं। ये उसके 'प्राकृतिक-अधिकार' (Natural rights) हैं। इन अधिकारों में कोई राजा या कोई राज्य दख़ल नहीं दे सकता। हर मनुष्य को जीने का 'प्राकृतिक-अधिकार' है। हर मनुष्य को अच्छी शिक्षा प्राप्त करने का 'प्राकृतिक-अधिकार' है। हर मनुष्य को राज्य द्वारा काम मिलने का 'प्राकृतिक-अधिकार' है। ये अधिकार राजा या राज्य की इच्छा पर आश्रित नहीं हैं, ये अधिकार मनुष्य होने के नाते उसे जन्म से प्राप्त हैं। राज्य को व्यक्ति के कार्य में हस्त-क्षेप करने का अधिकार नहीं, व्यक्ति अनेक बातों में राज्य के कार्य-क्षेत्र से सर्वथा बाहर है, स्वतंत्र है।

(ख) **व्यक्तिवाद के जन्म के कारण**––हम देख आये हैं कि **टामस हॉब्स** (१५८८–१६७९) तथा **जॉन आस्टिन** (१७७०–१८५९) राज्य की निरंकुशता के, राज्यसत्तावाद (Sovereignty of the state) के पक्षपाती थे। इस सिद्धान्त की प्रतिक्रिया के रूप में 'व्यक्तिसत्तावाद' (Sovereignty of the individual) के सिद्धान्त का जन्म हुआ। व्यक्तिवाद के जन्म का प्रधान कारण औद्योगिक-क्रांति तथा इस युग के आर्थिक सिद्धान्त थे।*

(i) **व्यक्तिवाद का कारण औद्योगिक-क्रांति थी**––१८वीं शताब्दी का युग औद्योगिक-क्रांति का युग था। इस समय नये-नये आविष्कार हो रहे थे, नवीन यंत्रों का निर्माण हो रहा था, समाज का आर्थिक ढाँचा बिल्कुल बदल रहा था।

---

* **"Increasing State control in the name of Welfare state is fraught with great dangers". Discuss this statement in the present Indian context. (1962)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़ी मशीनों द्वारा बड़े पैमाने पर माल तैयार हो रहा था। माल बेचने के नये क्षेत्र ढूँढे जा रहे थे। ऐसे समय साहसिक व्यक्तियों के लिए यह कहना स्वाभाविक था कि उन्हें अपनी बुद्धि तथा प्रतिभा का अबाधित रूप से उपयोग करने दिया जाय, उनके मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट न डाली जाय और राज्य उनके काम में दखल न दे। उस समय के विचारकों का भी यही कहना था कि समाज की उन्नति व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देने में है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि 'व्यक्तिवाद' उस समय की 'औद्योगिक-क्रांति' की स्वाभाविक उपज था। जो परिस्थितियाँ थीं, उनमें उस समय के विचारक तथा उद्योगपति दोनों 'व्यक्ति-वाद' का ही पक्ष ले सकते थे, और किसी पक्ष का पोषण नहीं कर सकते थे। उन्हें दीखता था कि इस औद्योगिक-युग में व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ दिया जाय, राज्य बीच में हाथ न डाले, तभी वह उन्नति कर सकता था, अन्यथा नहीं।

(ii) **व्यक्तिवाद का कारण इस युग के आर्थिक-सिद्धान्त थे**—इस युग के अर्थशास्त्री कहने लगे थे कि जैसे सूर्य, चाँद, तारे किन्हीं प्राकृतिक, निश्चित नियमों के अनुसार चल रहे हैं, जैसे वृक्षों के फूलने-फलने के नियम हैं, ऋतुओं के नियम हैं, इन नियमों में हम हस्त-क्षेप नहीं कर सकते, करते हैं तो काम बिगड़ता है, इसी प्रकार आर्थिक-जगत् में भी कुछ प्राकृतिक नियम काम कर रहे हैं, ये नियम स्वाभाविक हैं, निश्चित हैं, इनमें राज्य का हस्त-क्षेप अनुचित है। उदा-हरणार्थ, मज़दूर को मज़दूरी कितनी दी जाय—यह अर्थ-शास्त्र के प्राकृतिक-नियम से तय होगा, राज्य के विधान द्वारा नहीं। मज़दूरी का निश्चय अर्थ-शास्त्र के 'माँग तथा पूर्ति' (Demand and supply) के नियम से होगा, माँग कम होगी तो मज़दूरी कम मिलेगी, माँग ज़्यादा होगी तो मज़दूरी ज़्यादा मिलेगी, इसका निश्चय राज्य द्वारा मज़दूरी निश्चित कर देने से नहीं हो सकता। अर्थ-शास्त्र के नियम प्राकृतिक नियमों की तरह प्राकृतिक कारणों से निश्चित होते हैं इसलिए राज्य को इन बातों में हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य का यह काम नहीं है कि मज़दूरों के काम करने के समय पर प्रतिबन्ध लगाये, 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) को रोकने का प्रयत्न करे, वस्तुओं के दाम निश्चित करे या वस्तुओं के उत्पादन पर नियन्त्रण करे, कन्ट्रोल करे। इस अर्थशास्त्रीय सिद्धान्त का प्रतिपादन **एडम स्मिथ** ने किया और इस सिद्धान्त की पुष्टि में **'वेल्थ आफ़ नेशन्स'** पुस्तक लिखी। उसकी बात का समर्थन **जेम्स स्टुअर्ट मिल, हर्बर्ट स्पेंसर** आदि विद्वानों ने किया।

(ग) **व्यक्तिवाद के समर्थक विचारक**—ऊपर जिस व्यक्तिवादी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है उसके अर्थशास्त्रीय पक्ष का प्रतिपादन एडम स्मिथ ने किया और अपने मत की पुष्टि में 'वेल्थ ऑफ़ नेशन्स' पुस्तक लिखी। इनका कहना था कि राज्य को हस्त-क्षेप की नीति नहीं अपनानी चाहिए। १९वीं शताब्दी में इस मत के समर्थक जॉन स्टुअर्ट मिल तथा हर्बर्ट स्पेंसर थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) **जॉन स्टुअर्ट मिल (१८०६–१८७३)**––मिल का कहना था कि अगर कोई दूसरों को नुक्सान पहुँचाता है तभी उसकी स्वतंत्रता में हस्त-क्षेप किया जा सकता है, अन्यथा प्रत्येक व्यक्ति को हर प्रकार की स्वतंत्रता है। अगर हमारे किसी व्यवहार का दूसरों पर बुरा असर पड़ता है, तब तो हमारी स्वतंत्रता में हस्त-क्षेप किया जा सकता है, परन्तु अगर हमारे व्यवहार का सिर्फ़ हमारे साथ संबंध है तो किसी को हमारे कार्य में हस्त-क्षेप करने का अधिकार नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने संबंध में पूर्ण, अमर्यादित, अखंड, अनियंत्रित अधिकार हैं। ये विचार उसने अपनी पुस्तक **'लिबर्टी'** में व्यक्त किये हैं।

(ii) **हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०–१९०३)**––स्पेंसर का कहना था कि जिन लोगों के हाथ में राज-शक्ति होती है वे अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए उसका उपयोग करते हैं, सब के हित की दृष्टि से नहीं, इसलिए राज्य का काम व्यक्ति की स्वतंत्रता में हस्त-क्षेप करना नहीं है। शासक लोग जिसमें सब का हित कहते हों, ज़रूरी नहीं कि उसमें सब का हित हो। स्पेंसर तो व्यक्तिवाद का इतना कट्टर समर्थक था कि उसके अनुसार शिक्षा, रेल, तार, टैलीफ़ोन आदि कार्य भी राज्य को नहीं करने चाहियें, इन कामों को व्यक्ति राज्य की अपेक्षा अधिक कुशलता से कर सकते हैं। राज्य के काम सिर्फ़ दो होने चाहिएँ––जनता की अन्दर के तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा करना, बाकी सब काम व्यक्तियों की स्वतंत्रता पर छोड़ देने चाहिएँ। इस दृष्टि से राज्य का कार्य-क्षेत्र सिर्फ़ पुलिस का काम करना है, अन्य किसी क्षेत्र में हाथ डालना नहीं।

(घ) **व्यक्तिवाद के सिद्धान्त का स्वरूप**––व्यक्तिवाद का कहना था कि व्यक्ति स्वतंत्र है। इसका यह मतलब नहीं कि 'राज्य' की ज़रूरत ही नहीं। 'राज्य' की ज़रूरत है, परन्तु उसे एक आवश्यक बुराई समझना होगा। राज्य की तरफ़ से व्यक्ति को ज़्यादा-से-ज़्यादा स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और उसके काम में कम-से-कम दख़ल देना चाहिए। राज्य का काम सिर्फ़ व्यक्ति को संरक्षण देना है, उसकी अन्दर के तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा करना है। इन दो कामों के अतिरिक्त व्यक्ति के अन्य किसी काम में दख़ल देने का काम राज्य का नहीं है। 'व्यक्ति के कल्याण' का काम व्यक्ति का अपना है, राज्य का नहीं। व्यक्ति स्वयं ही यह तय कर सकता है कि किस बात में उसका भला है, किस बात में उसका कल्याण है, राज्य इस बात को नहीं तय कर सकता। ख़ास कर आर्थिक-क्षेत्र में तो राज्य को व्यक्ति के मामलों में हस्त-क्षेप हर्गिज़ नहीं करना चाहिए। इस विचार को अर्थ-शास्त्र की परिभाषा में 'न्यूनतम-हस्तक्षेप' या 'अ-हस्तक्षेप' (Laissez-faire) का विचार कहा जाने लगा। 'न्यूनतम-हस्तक्षेप' का अर्थ यह था कि 'आर्थिक-क्षेत्र' में वस्तुओं का दाम और मज़दूरों की मज़दूरी 'प्रति-स्पर्धा' (Competition) तथा 'माँग एवं पूर्ति' (Demand and supply) के नियमों पर छोड़ दी जाय। इन नियमों के आधार पर जो ठीक-ठीक दाम या मज़दूरी होगी, वह अपने-आप निकल आयेगी, इसमें किसी को हस्त-क्षेप करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की ज़रूरत नहीं। अगर इन नियमों के कारण वस्तु का दाम बहुत गिर जाता है तो गिर जाने दो, बहुत बढ़ जाता है तो बढ़ जाने दो; अगर इन नियमों के कारण मज़दूर भूखा मरता है तो मरने दो, कोई दूसरा व्यक्ति पूंजीपति बन जाता है तो बन जाने दो। राज्य को क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए—इन बातों का निर्णय 'व्यक्तिवाद' को आधार बनाकर किया गया। 'व्यक्तिवाद' के अनुसार राज्य के काम निम्न हैं और इन बातों के अतिरिक्त राज्य का काम अन्य किसी बात में हस्त-क्षेप करना नहीं है:

(क) बाहर के शत्रुओं से व्यक्ति तथा राज्य की रक्षा करना।

(ख) भीतर के शत्रुओं से व्यक्तियों की रक्षा करना। इस बात की व्यवस्था करना कि कोई किसी को मारे नहीं, किसी को बदनाम न करे—आदि।

(ग) व्यक्ति की सम्पत्ति की लूट-खसोट, तथा नुकसान से रक्षा करना।

(घ) व्यक्ति-व्यक्ति के बीच हुए फ़ैसलों को कोई तोड़े नहीं, या व्यक्ति व्यक्ति को ठगे नहीं—इसकी व्यवस्था करना।

(ङ) जो बिल्कुल अपाहिज हो गए हों, उनकी रक्षा करना।

(च) जिन रोगों से व्यक्ति को बचाया जा सकता है, उनकी व्यवस्था करना। उदाहरणार्थ, हैज़ा, मलेरिया, चेचक के फैलने से व्यक्ति को हम बचा सकते हैं—इन सब का बन्दोबस्त करना राज्य का काम है।

उक्त बातों में हमें राज्य पर इसलिए निर्भर रहना पड़ता है, क्योंकि इनका प्रबन्ध व्यक्ति स्वयं नहीं कर सकता, कर सकता होता तो इनमें भी वह राज्य का हस्त-क्षेप न चाहता।

'व्यक्तिवाद' की तरफ़ से अपने पक्ष के समर्थन में जो युक्तियाँ दी जाती रहीं, वे चार हैं। हम यहाँ उनका संक्षेप में विवेचन करेंगे।

५. व्यक्तिवाद के समर्थन में युक्तियाँ

(क) नैतिक-युक्ति—पहली युक्ति यह है कि व्यक्ति के चरित्र के विकास के लिए उसका किसी प्रकार के भी बन्धन से मुक्त होना, स्वतंत्र होना आवश्यक है। मनुष्य जो-कुछ है, उसका पूर्ण-विकास वह तभी कर सकता है, जब उसे अपने विकास करने की पूरी आज़ादी हो, उस पर कोई रोक-टोक न हो। राज्य का यह नैतिक-कर्त्तव्य है कि हर व्यक्ति को अपने-आप को विकसित होने की खुली छूट दे। व्यक्ति का ऊँचे-से-ऊँचा जो रूप है, वह तभी प्रकट हो सकता है, अगर उस रूप को प्रकट करने का उसे पूर्ण अवसर प्राप्त हो। ऐसा अवसर हर व्यक्ति को देना राज्य का कर्तव्य है। इसी को राज्य के हस्त-क्षेप न करने में नैतिक-युक्ति कहा जाता है। राज्य का हस्त-क्षेप कुछ अंश तक ही उचित कहा जा सकता है, उससे आगे वह व्यक्ति के विकास में बाधक हो जाता है। जहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सरकारी हस्त-क्षेप ज्यादा होने लगता है, वहाँ व्यक्ति में से आत्म-निर्भरता की भावना जाती रहती है, वह हर बात में सरकार का मुँह ताकने लगता है। व्यक्ति आलसी हो जाता है, स्वयं कुछ नहीं करना चाहता, यही चाहता है कि दूसरे लोग उसके लिए सब-कुछ करें। इसका परिणाम यह होता है कि समाज में अपने भरोसे और अपने बुद्धि-बल पर काम करने वालों की संख्या घटने लगती है, आलसी-ढाँचे में एक-से पलने वाले लोग पैदा हो जाते हैं, मनुष्य की विविध-शक्तियों से समाज लाभ नहीं उठा सकता—इसलिए नहीं उठा सकता क्योंकि अपनी विलक्षण बुद्धि से कोई चमत्कारी काम करके किसी को कुछ फ़ायदा नहीं दीखता। कुछ करो तो भी ठीक, न करो तो भी ठीक। इसलिए 'व्यक्तिवाद' का कहना है कि राज्य को व्यक्ति के लिए मैदान खुला छोड़ देना चाहिए ताकि वह अपना विकास कर सके और अपने विकास के साथ-साथ समाज का भी विकास कर सके। व्यक्ति के विकास के रुक जाने पर समाज का विकास भी तो रुक जाता है। भीतर-बाहर शान्ति रखने के अलावा राज्य और कुछ न करे, यही उचित है।

(ख) आर्थिक-युक्ति—'व्यक्तिवाद' के पक्ष में दूसरी युक्ति यह दी जाती है कि मनुष्य एक स्वार्थी-प्राणी है और वह जानता है कि उसका स्वार्थ किस बात में है। अगर उसे स्वतंत्र छोड़ दिया जायगा, तो वह अवसर का ठीक समय पर, और ठीक-ठीक फ़ायदा उठा सकेगा जिससे उसे लाभ होगा, समाज को भी लाभ होगा। अगर पूँजीपति को खुला छोड़ दिया जाय, तो वह अपनी पूँजी ऐसे काम में लगा सकेगा जिससे उसकी पूँजी बढ़े और समाज को भी लाभ हो; मज़दूर को भी खुला छोड़ दिया जाय, तो जहाँ उसे ज्यादा-से-ज्यादा मज़दूरी मिलेगी वहाँ वह जा पहुँचेगा। 'प्रतिस्पर्धा' और 'माँग तथा पूर्ति' के नियम अपने-आप हर वस्तु और हर मनुष्य का मूल्य निर्धारित कर देते हैं—इनमें हस्त-क्षेप करना ठीक नहीं। बनावटी तौर से जो दाम कायम किये जाते हैं, वे टिक नहीं सकते। जब 'कंट्रोल' लगाये जाते हैं तभी 'काला-बाज़ार' चल निकलता है, अगर खुला-व्यापार होने दिया जाय, अर्थ-शास्त्र के नियमों से वस्तुओं के भाव-ताव हों, तब तो किसी प्रकार के 'काले-बाज़ार' की संभावना ही नहीं रहती। दो शब्दों में 'व्यक्तिवाद' के पक्ष में 'आर्थिक-युक्ति' यह है कि जिस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में 'प्रतिस्पर्धा' तथा 'माँग और पूर्ति' के अर्थशास्त्र के नियमों से हर वस्तु और हर मनुष्य का अपने-आप ठीक-ठीक भाव-ताव निकल आता है, हस्त-क्षेप करने से नहीं निकलता, ठीक इसी तरह व्यक्ति के आर्थिक-क्षेत्र में ही नहीं, अपितु उसके हर क्षेत्र में बिना दखल देने पर ही सही-सही हालत अपने-आप प्रकट हो जाती है। राज्य द्वारा हस्त-क्षेप करने से तो स्वाभाविक नहीं, कृत्रिम अवस्था उत्पन्न हो जाती है, ऐसी अवस्था जो मनुष्य को हर समय अखरती रहती है।

(ग) वैज्ञानिक-युक्ति—'व्यक्तिवाद' के पक्ष में तीसरी युक्ति यह दी जाती है कि यह वाद प्राणि-शास्त्रीय नियम के अनुकूल है। प्राणि-शास्त्रीय नियम यह है कि प्रकृति में 'जीवन के लिए संघर्ष' (Struggle for existence)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चल रहा है। इस संघर्ष में बलवान् बच रहते हैं, कमज़ोर नष्ट हो जाते हैं—इसे 'बलवान् का बच रहना' (Survival of the fittest) कहा जाता है। संसार में जीवन का विकास इसी नियम के आधार पर हुआ है। जब जीवन अत्यन्त निम्न-स्तर पर था उस समय जो जीवधारी प्रकृति के थपेड़ों को बर्दाश्त कर सका वही आज जी रहा है, बाकी सब नष्ट हो गए। जो नियम प्रकृति में जीव-जन्तुओं में काम कर रहा है वही मनुष्य में चलना चाहिए। अगर प्रकृति हस्त-क्षेप करके कमज़ोरों की रक्षा करती, तो इतने प्राणी हो जाते कि बलवानों के लिए भी जीना दूभर हो जाता। इसी नियम से संसार में श्रेष्ठ-प्राणी उत्पन्न हो सकते हैं। अगर हम कमज़ोरों को और अपाहिजों को समाज-कल्याण के नाम से जीने देंगे, तो यह संसार निकम्मे प्राणियों से ही भर जायगा। इसमें सन्देह नहीं कि संघर्ष द्वारा कमज़ोर के नष्ट हो जाने पर कुछ व्यक्तियों के साथ अन्याय होगा, परन्तु इस प्रकार योग्य व्यक्तियों के साथ न्याय हो जायगा। इस कठोरता का परिणाम मानव-जाति के लिए सुखद और कल्याणमय होगा। यह विचार-धारा विकासवादियों की है और वे इसे व्यक्तिवाद के लिए वैज्ञानिक-युक्ति कहते हैं। हर्बर्ट स्पेंसर इस विचार-धारा के अगुआ थे। उनका कहना था कि अगर राज्य व्यक्ति के कार्य-क्षेत्र में हस्त-क्षेप नहीं करेगा, तो अपने-आप सबल व्यक्ति समाज में रह जायेंगे, निर्बल समाप्त हो जायेंगे, और इस प्रकार समाज के विकास की वह प्रक्रिया जारी रहेगी जो सृष्टि के प्रारंभ से आज तक चली आ रही है, और जिस प्रक्रिया के परिणाम-स्वरूप आज मनुष्य सृष्टि में इतनी उन्नति कर सका है।

(घ) क्रियात्मक कठिनाइयाँ—'व्यक्तिवाद' के पक्ष में चौथी युक्ति यह दी जाती है कि जब 'व्यक्ति' की जगह 'राज्य' किसी काम को करने लगता है, तब वह उसे उतनी कुशलता से नहीं कर सकता जितनी कुशलता से उस काम को व्यक्ति करता है। राज्य के कार्यों में दफ्तरी काम बढ़ जाता है, अपने ऊपर कोई ज़िम्मेवारी नहीं लेना चाहता, इसलिए सब कामों में ढील पड़ जाती है। ज़रूरी-से-ज़रूरी काम भी पड़े रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त सरकारी कामों में सफलता की अपेक्षा असफलता अधिक होती है, इसलिए होती है क्योंकि कामों को सफलता से करने की किसी को वैयक्तिक प्रेरणा तो होती नहीं। सरकारी कामों में भ्रष्टाचार भी ज़्यादा चलता है।

६. व्यक्तिवादी युक्तियों की समीक्षा

'व्यक्तिवाद' के पक्ष में हमने ऊपर जो चार युक्तियाँ दीं, उनकी समीक्षा करना आवश्यक है। ये युक्तियाँ कहाँ तक ठीक हैं, कहाँ तक ठीक नहीं हैं?

(क) नैतिक-युक्ति—'व्यक्तिवाद' का यह कहना तो ठीक है कि व्यक्ति को अपने विकास के लिए राज्य पर निर्भर न रहकर अपने ऊपर निर्भर रहना चाहिए, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि आजकल की विषम परिस्थितियों में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यक्ति सर्वथा आत्म-निर्भर रह सकता है और राज्य की सहायता के बिना अपना विकास कर सकता है। आजकल की परिस्थितियाँ तो इतनी विषम हैं कि व्यक्ति को कदम-कदम पर राज्य की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। जिस समय जीवन-संग्राम इतना विकट नहीं था जितना आज हो गया है उस समय व्यक्ति स्वतंत्र रूप में अपना विकास कर सकता था। आज तो जीवन का ताना-बाना अन्य व्यक्तियों के साथ इतना उलझ गया है कि इकला व्यक्ति समुद्र में तिनके के समान है। अगर उसे बाहर से सहायता न पहुँचे तो वह जीवन-समुद्र में गोते खाता-खाता ही डूब जाय। जैसे पहले कभी आत्म-निर्भरता जीवन का मूल-सूत्र थी, वैसे आज पर-निर्भरता मूल-भूत हो गई है। जब हर-एक व्यक्ति दूसरे पर निर्भर है, तब 'राज्य' के सिवाय कौन किस की सहायता कर सकता है ?

(ख) आर्थिक-युक्ति—'व्यक्तिवाद' का यह कहना कि मनुष्य एक स्वार्थी-प्राणी है, ग़लत है। मनुष्य में स्वार्थ ही नहीं, परार्थ की भावना भी है। प्रत्येक मनुष्य में स्वार्थ तथा परार्थ का पुट रहता है। स्वार्थ की दृष्टि से 'व्यक्ति-वाद' वैयक्तिक-कल्याण की बात ही सोचता है, परन्तु क्या सामाजिक-कल्याण की कल्पना व्यक्ति नहीं करता ? व्यक्ति जहाँ अपनी भलाई की बात सोचता है वहाँ समाज की भलाई की बात भी सोचता है। इसलिए व्यक्ति के विषय में 'व्यक्तिवाद' का यह कहना कि यह सिर्फ़ 'स्वार्थ' की बात सोचता है, 'परार्थ' की नहीं, गलत धारणा है। अगर 'व्यक्ति' दूसरों के कल्याण की बात भी सोचता है, तो 'व्यक्तिवाद' कहाँ रहा ?

इसके अतिरिक्त 'व्यक्तिवाद' का कहना है कि 'व्यक्ति' यह खुद जानता है कि उसका स्वार्थ, उसकी भलाई, उसका कल्याण किस बात में है, अतः राज्य को उसके कार्य में हस्त-क्षेप न करके व्यक्ति पर ही अपनी भलाई की बात छोड़ देनी चाहिए। परन्तु यह बात भी ठीक नहीं। व्यक्ति अपनी तात्कालिक-भलाई तो देखता है, भविष्य में उसका किस बात में भला है, इसे नहीं देख पाता। अगर व्यक्ति भविष्य के ख़तरों को देख भी पाता है, तो उनका अपने परिमित साधनों के कारण परिहार नहीं कर सकता। कई बातों में तो राज्य ही व्यक्ति की भविष्य की कठिनाइयों का हल कर सकता है, व्यक्ति अपनी कठिनाइयों का हल नहीं कर सकता। महामारियों की मार से व्यक्ति को राज्य ही तो बचा सकता है, इकला व्यक्ति हैज़े और प्लेग के फैलने को कैसे रोक सकता है ?

प्रत्येक व्यक्ति अपने हित का चिन्तन स्वयं कर सकता है—यह बात हमने मानी। परन्तु व्यक्तियों के अपने-अपने हित, अपने-अपने स्वार्थ तो टकरा जाते हैं। जिस बात में मेरा हित है, उसमें दूसरे का अहित है। ऐसी अवस्था में व्यक्तियों को अपना-अपना स्वार्थ सिद्ध करने की छूट कैसे दी जा सकती है ? तब तो हर-एक अपने-अपने स्वार्थ के लिए लड़ा करेगा। ऐसा क्या ठीक होगा ?

'व्यक्तिवाद' में व्यापारी ऐसा ही उद्योग करना चाहता है जिसमें उसकी पूंजी बढ़े, उसे लाभ हो, भले ही उससे समाज को हानि हो। 'व्यक्तिवाद' भांग,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चरस, शराब का व्यापार करना चाहेगा क्योंकि इनमें पूँजी एकदम बढ़ती है, परन्तु जंगलों को लगाने, कटती भूमि को रोकने, आदि में पूँजी का उपयोग नहीं करेगा, क्योंकि इन कामों में बहुत अधिक पूँजी लगती है, और जो लगती है उसका लाभ बहुत देर में मिलता है। इसीलिए समाज-हित के बड़े-बड़े कामों में राज्य को ही अपना कदम आगे बढ़ाना पड़ता है। इनके अतिरिक्त अनुत्पादक परन्तु समाज के लिए उपयोगी कार्यों को व्यक्ति क्यों करने लगा? उदाहरणार्थ, संग्रहालय, सार्वजनिक उद्यान, सार्वजनिक वाचनालय, पुस्तकालय, शिक्षा, चिकित्सा, पिछड़े लोगों को सहायता, गन्दी बस्तियों का सुधार आदि कार्य 'व्यक्तिवाद' क्यों करेगा, इन कार्यों से तो पूँजी का निर्माण नहीं होता। इन कार्यों को राज्य के सिवाय दूसरा कोई करने को तय्यार नहीं होता।

'व्यक्तिवाद' अर्थशास्त्र के 'प्रतिस्पर्द्धा' तथा 'माँग और पूर्ति' के नियम पर बहुत भरोसा रखता है। परन्तु ये नियम वैसे अखंडित-नियम नहीं हैं जैसा इन्हें समझा जाता है। कहा जाता है कि 'प्रतिस्पर्धा' से जो चीज़ अच्छी होगी, वह स्वयं टिकेगी, जो अच्छी नहीं होगी, वह बाज़ार में नहीं टिक सकेगी। परन्तु आज के आर्थिक-क्षेत्र में ऐसा नहीं हो रहा। पूँजीपति 'प्रतिस्पर्धा' को चलने ही कहाँ देते हैं। बड़े-बड़े कारखानों वाले मिल कर ऐसे संगठन बना लेते हैं, इस प्रकार मिल जाते हैं जिससे बाज़ार में 'प्रतिस्पर्द्धा' रहती ही नहीं, और जैसा रद्दी-सद्दी माल चाहते हैं, लोगों के सिर मढ़ देते हैं। व्यापारियों के इस प्रकार के 'ट्रस्ट' और 'कम्बाइन' (संघ) बने हुए हैं। ये लोग संघ बनाकर कभी-कभी अधिक मुनाफ़ा लेने के लिए वस्तु के उत्पादन को ही घटा देते हैं, कभी-कभी माल ज्यादा पैदा हो जाये तो दाम बढ़ाने के लिए उसे नष्ट भी कर देते हैं। ब्राज़ील के काफ़ी इन्स्टीट्यूट ने १९३१–१९३४ में लाखों रुपयों से अधिक की काफ़ी इसलिए नष्ट कर दी थी ताकि उसके दाम गिरने न पायें। इसमें 'प्रतिस्पर्धा' कहाँ रही? यही हाल 'माँग और पूर्ति' के नियम के साथ है। जब उत्पादन करने वाले मिल गए तो उनका एकाधिकार हो गया, एकाधिकार होते ही 'माँग और पूर्ति' का नियम टूट गया। 'माँग और पूर्ति' का नियम तो तभी काम करेगा जब मैदान में कई लोग होंगे और उनमें 'प्रतिस्पर्धा' होगी। तभी तो इस बात की आवश्यकता है कि 'व्यक्ति' के भरोसे ही सब-कुछ न छोड़ कर 'राज्य' की तरफ़ से हस्त-क्षेप हो और गृह-कानून ऐसे बनें जिनसे मकानों का एक-जगह भीड़-भड़क्का न हो, बीमारी न फैले; श्रम-कानून ऐसे बनें जिनसे बच्चों से मज़दूरी न ली जाय; कारखानों के कानून ऐसे बनें जिनसे श्रमियों का जीवन ख़तरे में न पड़े। यह सब-कुछ तभी हो सकता है, जब राज्य की तरफ़ से हस्त-क्षेप हो।

(ग) वैज्ञानिक-युक्ति—'व्यक्तिवाद' का यह कहना कि व्यक्ति के विकास को 'प्राणि-शास्त्रीय प्राकृतिक नियमों' (Biological natural laws) पर छोड़ देने से ही श्रेष्ठतर व्यक्ति समाज में उत्पन्न होंगे, भ्रान्तिपूर्ण है। यह ठीक है कि प्रकृति में बलवान् जीतता है, निर्बल हार जाता है, परन्तु 'बलवान्'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और 'श्रेष्ठ' दोनों का एक ही अर्थ नहीं है। डाकू-चोर-लुटेरा जीत जाता है, तो क्या इसका यह अर्थ है कि श्रेष्ठ व्यक्ति जीत गया ? इसके अतिरिक्त अगर निम्न-प्राणियों में 'बलवान् के जीतने और निर्बल के हार जाने' का सिद्धान्त काम कर रहा है, तो मनुष्य निम्न-प्राणियों के इस सिद्धान्त को अपने ऊपर क्यों लागू करे ? मनुष्य तो निम्न-श्रेणी का प्राणी नहीं है। निम्न-श्रेणियों में बुद्धि नहीं होती इसलिए वे प्रकृति के अन्धे प्राणि-शास्त्रीय नियम के अनुसार चलते हैं, मनुष्य में तो बुद्धि है, इसलिए वह जितनों की रक्षा कर सकता है, करता है और जिन्हें आज सामाजिक सुविधा न मिलने के कारण निम्न कहा जाता है, उन्हें सब प्रकार की सुविधा देकर उन्नत बना लेता है। इस दृष्टि से व्यक्ति को स्वतंत्र छोड़ देना उसे अन्धी प्रकृति के हवाले कर देना है। मनुष्य के कार्यों का नियन्त्रण राज्य द्वारा इस प्रकार होना चाहिए जिससे वह अन्धी प्रकृति का शिकार न बना रहे। यह तभी हो सकता है जब 'व्यक्तिवाद' के अनुसार व्यक्ति को स्वतंत्र न छोड़ कर राज्य के हस्त-क्षेप द्वारा ऐसे कार्य किये जाँय जिनके द्वारा समाज का कल्याण हो सके।

(घ) क्रियात्मक कठिनाइयाँ—'व्यक्तिवाद' का यह कहना कि जब राज्य किसी काम को करने लगता है तब अनेक भूलें करता है, व्यक्ति के कार्य में कुशलता होती है, गलत है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भूलें व्यक्तियों द्वारा भी होती हैं, परन्तु हाँ, उनकी तरफ़ सब-किसी का ध्यान नहीं जाता, राज्य क्योंकि एक बड़ी चीज़ है इसलिए उसकी भूलों की तरफ़ सब का ध्यान एकदम चला जाता है। राज्य अगर भूलें करता है, तो समाज के लिए ऐसे कल्याणकारी कार्य भी तो करता है जिन्हें व्यक्ति नहीं कर सकता। क्योंकि लोग राज्य से बहुत ऊँचे स्तर की आशा करते हैं, इसलिए राज्य की ज़रा-सी भी भूल को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर देखते हैं, और क्योंकि व्यक्ति से कुछ आशा नहीं की जाती, इसलिए उसकी बड़ी-बड़ी भूलों को भी साधारण-सा समझते हैं।

७. समाजवाद*
(Socialism)

राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में 'व्यक्तिवाद' का जो-कुछ कहना था वह हमने लिखा। 'व्यक्तिवाद' का कथन है कि राज्य का कार्य व्यक्ति के काम में हस्त-क्षेप करने का नहीं है। परन्तु ऐसे विचारक भी हैं जो राज्य के हस्त-क्षेप के पक्ष में हैं। इस पक्ष का सबसे ज़बर्दस्त समर्थन 'समाजवाद' की तरफ़ से किया जाता है। अगर कहा जाय कि 'व्यक्तिवाद' का विरोधी पक्ष 'समाजवाद' है तो कोई अत्युक्ति न होगी। 'व्यक्तिवाद' का नारा व्यक्ति की 'स्वतंत्रता' (Liberty) है, तो 'समाजवाद' का नारा व्यक्ति की 'समानता' (Equality)

*** Discuss the grounds on which the state should interfere in the economic activities of the individual. (1954)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। समाजवाद का कहना है कि 'समानता' के लिए 'स्वतंत्रता' को छोड़ा जा सकता है, स्वतंत्रता के लिए समानता को नहीं छोड़ा जा सकता क्योंकि परतंत्रता में इतना दुःख नहीं है जितना असमानता में है। समाज में समानता राज्य के हस्त-क्षेप से ही हो सकती है, व्यक्ति की इच्छा पर छोड़ देने से नहीं हो सकती।

'समाजवाद' बहुत व्यापक शब्द है। इसमें 'साम्यवाद' (Communism), 'संघवाद' (Syndicalism), 'समष्टिवाद' (Collectivism), 'श्रेणी-समाजवाद' (Guild socialism), 'अराजकतावाद' (Anarchism)—सब आ जाते हैं। इन सब की व्याख्या हमें यहाँ नहीं करनी। इन पर हम अगले अध्याय में 'सामाजिक पुनर्निर्माण' के सिद्धान्तों पर लिखते हुए लिखेंगे। ये सब सिद्धान्त समाजवाद कहलाते हुए भी आपस में भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इन सब सिद्धान्तों का एक सारभूत सिद्धान्त है जिसके कारण इन सब को अलग-अलग होते हुए भी 'समाजवाद' कहा जाता है। वह सारभूत सिद्धान्त, जिसमें ये सब सहमत हैं, राज्य के कार्य-क्षेत्र से संबंध रखता है। इन सब का एकमत है कि राज्य को व्यक्ति के हित में उसके प्रत्येक क्षेत्र में हस्त-क्षेप करने का अधिकार है।

(क) समाजवाद क्या है?—जैसे 'व्यक्तिवाद' राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है, राज्य के हस्त-क्षेप को अनुचित मानता है, और यह मानता है कि राज्य की तरफ़ से व्यक्ति को ज्यादा-से-ज्यादा स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और उसके काम में कम-से-कम दखल देना चाहिए, वैसे 'समाजवाद' इससे ठीक उल्टा, राज्य को एक अच्छाई और भलाई की चीज़ मानता है, राज्य के हस्त-क्षेप को उचित मानता है, और यह मानता है कि राज्य की तरफ़ से व्यक्ति को कम-से-कम स्वतंत्रता मिलनी चाहिए और सारे समाज के भले और कल्याण के लिए राज्य को व्यक्ति के काम में ज्यादा-से-ज्यादा दखल देना चाहिए। समाजवादियों का कहना है कि संपूर्ण मानव-समाज के साथ न्याय तभी हो सकेगा जब व्यक्ति की स्वार्थ-भावना पर समाज का अंकुश लगेगा। समाजवाद का उद्देश्य एक ऐसा सहयोगी, समाजवादी समाज बनाना है जिसमें उत्पत्ति के साधनों पर जैसे अब व्यक्ति का स्वामित्व है, वैसे व्यक्तियों के स्वामित्व की जगह समाज का या राज्य का स्वामित्व हो और हर वस्तु का बँटवारा व्यक्ति की इच्छानुसार न होकर आवश्यकतानुसार हो। प्रत्येक व्यक्ति से उतना काम लिया जाय जितना वह कर सकता है और प्रत्येक व्यक्ति को उतना पैसा दिया जाय जितना उसकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए ज़रूरी है।

(ख) समाजवाद के गुण—'समाजवाद' का पहला गुण यह है कि इसके अनुसार वर्तमान आर्थिक-विषमताएँ दूर हो जाती हैं। इस समय हमारी आर्थिक-रचना इस प्रकार की है कि धन-सम्पत्ति कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित हो गई है और जो मज़दूर धन को उत्पन्न करता है, वह निर्धन है। वह कपड़ा बनाता और कपड़े के लिए तरसता है, मकान बनाता और मकान के लिए मारा-मारा फिरता है। मज़दूर और पूँजीपति की मुकाबिले में जब सौदेबाज़ी होने लगती है तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूंजीपति के पास ताकत ज़्यादा होने के कारण मज़दूर को हार खानी पड़ती है, और नतीजा यह होता है कि पूंजीपति अधिकाधिक धनी होता जाता है, मज़दूर अधिकाधिक निर्धन होता जाता है। उत्पत्ति के साधनों पर राज्य के अधिकार कर लेने से पूंजीपति की शक्ति जाती रहती है और धनी-निर्धन की विषमता दूर हो जाती है। 'समाजवाद' का दूसरा गुण यह है कि इसके अनुसार आर्थिक-व्यवस्था एक नियोजना में बँध जाती है। इस समय तो 'प्रतिस्पर्धा' तथा 'माँग और पूर्ति' के नियम से उत्पादन होता है, खोटा और बनावटी माल भी बनता है, मज़दूर को उसकी मेहनत का कम-से-कम पैसा दिया जाता है, जिस चीज़ का पूंजीपति चाहता है, कारख़ाना खोल देता है, कभी-कभी एक ही तरह के इतने कारख़ाने उठ खड़े होते हैं कि ज़रूरत से ज़्यादा माल पैदा होने लगता है, परन्तु 'समाजवाद' में मज़दूर को 'प्रतिस्पर्धा' के आधार पर नहीं, मज़दूर की ज़रूरियात के आधार पर पैसा दिया जाता है, जिस कारख़ाने की देश को ज़रूरत है, वही खड़ा किया जाता है। 'समाजवाद' से हर चीज़ के उत्पादन का नियन्त्रण किया जाता है, इसलिए न तो ज़रूरत से ज़्यादा चीज़ पैदा होती है, न हानिकारक चीज़ें पैदा होने दी जाती हैं। 'व्यक्तिवाद' में तो जिस तरह पैसा पैदा होगा, उस तरह पैदा किया जायगा, चाहे वह अच्छी चीज़ों से पैदा हो, चाहे बुरी चीज़ों से। 'समाजवाद' में ऐसा नहीं है। 'समाजवाद' में स्वार्थ की जगह परार्थ पर बल दिया जाता है।

समाजवादी दृष्टि-कोण को सम्मुख रख कर अपने देश में राज्य की तरफ़ से अनेक क्षेत्रों में राष्ट्रीयकरण होने लगा है। उदाहरणार्थ, इम्पीरियल बैंक अब स्टेट बैंक हो गया है, बीमा कम्पनियों का राज्य की तरफ़ से एक 'इन्श्योरेंस कौरपोरेशन' बन गया है और राज्य के व्यापार करने वाले एक 'स्टेट ट्रेड कौरपोरेशन' का भी निर्माण हो गया है।

(ग) समाजवाद के दोष*—'समाजवाद' के गुणों के साथ इसके दोष भी हैं। इसका पहला दोष तो यह है कि इसमें 'प्रतिस्पर्धा' न होने के कारण 'समाजवादी-राज्य' में जो-कुछ उत्पादन होता है, उसमें नुकसान बहुत होता है। किसी का निजी तो कुछ जाता नहीं, जो-कुछ उत्पादन हो रहा है उसमें किसी के साथ मुकाबिला नहीं, इसलिए कोई किसी की नहीं सुनता, और जैसी-कैसी भी चीज़ बन गई, उसी से गुज़ारा करना पड़ता है। कई लोगों का कहना है कि अगर डाकख़ाने, तारघर आदि राज्य की तरफ़ से न चलाकर व्यक्तियों की तरफ़ से चलाये जायें, तो लोगों पर इनका ख़र्चा कम पड़े और इस समय की अपेक्षा वे ज़्यादा ख़ूबी से चलें। आज तो राज्य ने जब चाहा डाक-व्यय पहले से दुगुना कर दिया, तिगुना कर दिया, कोई पूछने वाला नहीं, परन्तु अगर ये काम 'व्यक्ति' के हाथ में हों, तो दाम बढ़ने के स्थान में घटते रहा करें। 'समाजवाद' के आलो-

---

* **Is the state justified in undertaking social legislation? Give reasons for your answer. (1955, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चकों का कहना है कि थोड़े-बहुत कार्यों में राष्ट्रीयकरण करके भले ही राज्य कुछ व्यवसायों को चला ले, परन्तु व्यापार करना राज्य का काम नहीं है, और अगर राज्य अपने सिर पर इतना भारी बोझ ले लेगा तो इसकी कमर टूट जायगी। राज्य का काम शासन करना है, व्यापार करना नहीं। 'समाजवाद' का दूसरा दोष यह है कि वैयक्तिक-लाभ की भावना से व्यक्ति को नये-नये कार्य करने की जो प्रेरणा होती है, वह नहीं रहेगी। आज का मनुष्य वैयक्तिक-लाभ की भावना से काम करता है। यह भावना जाती रही, तो कार्य का प्रेरक-सूत्र जाता रहा। मनुष्य निकम्मा होकर बैठ रहेगा। उसे क्या करना है, जो-कुछ करना होगा राज्य करेगा। 'समाजवाद' का तीसरा दोष यह है कि यह व्यक्ति की स्वतन्त्रता में अनुचित हस्त-क्षेप करता है। मनुष्य एक स्वतंत्र प्राणी है। हर-एक व्यक्ति अनुभव करता है कि उसे स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जिस स्वतंत्रता को पाने के लिए आज़ादी के दीवाने फाँसी की रस्सियों पर झूल जाते हैं, उसके लिए क्या इसलिए खून बहाया जाता है कि देश के भीतर अपने ही लोगों के हाथों हम उस स्वतन्त्रता को खो दें? व्यक्ति के कुछ कार्यों पर नियन्त्रण और बात है, परन्तु व्यक्ति का सारे-का-सारा जीवन राज्य के बंधनों से बाँध देना स्वतंत्रता के उन आधारभूत अधिकारों पर आक्रमण करना है जो प्रत्येक मनुष्य को जन्म से प्राप्त हैं।

८. व्यक्तिवाद तथा समाजवाद का मेल

असल बात यह है कि न तो शुद्ध व्यक्तिवाद से काम चल सकता है, न शुद्ध समाजवाद से। समाज की भलाई दोनों के स्वस्थ-सम्मिश्रण में है। दोनों अपने गुणों और दूसरे के दोषों को बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताते हैं। शुद्ध सिद्धान्त रूप में दोनों काल्पनिक विचार हैं, जब ये क्रिया रूप में परिणत होने लगते हैं, तब 'व्यक्तिवाद' के साथ 'समाजवाद' का और 'समाजवाद' के साथ 'व्यक्तिवाद' का पुट आ जाता है। हम कहते हैं कि 'व्यक्तिवाद' में मज़दूरों की बुरी हालत है, परन्तु आज क्या मज़दूरों के हाथ में शक्ति नहीं है? आज मज़दूरों के संगठन बने हुए हैं, हड़तालें होती हैं और मिल-मालिकों के ये लोग छक्के छुड़ा देते हैं। इसी प्रकार क्या समाजवादी-देशों में वैयक्तिक सम्पत्ति नाम मात्र को भी नहीं है? भारत ने अपना ध्येय 'समाजवादी ढाँचे का समाजवाद' क्यों रखा है? यह इसीलिए रखा है क्योंकि 'समाजवाद' तो एक विचार-धारा का नाम है, उसे ठीक रूस और चीन के नक्शे के अनुसार भारत में क्रिया रूप में उतार लेना व्यावहारिक नहीं है। 'समाजवाद' ने 'व्यक्तिवाद' के जिन दोषों की तरफ़ हमारा ध्यान आकर्षित किया है उन्हें हमें दूर करना होगा, और 'व्यक्तिवाद' भी 'समाजवाद' के जिन दोषों की तरफ़ हमारा ध्यान आकर्षित करता है, उन्हें हमें दूर करना होगा। इस दृष्टि से न तो राज्य को हर काम में दख़ल देना उचित है, न बिल्कुल दख़ल न देना उचित है। कुछ कामों में राज्य को दख़ल देना होगा, कुछ में बिल्कुल अलग रहना होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

९. आदर्शवाद
(Idealism)

राज्य के हस्त-क्षेप के विषय में एक और दृष्टि से भी विचार किया जाता है। इस विचार को 'आदर्शवाद' (Idealism) का नाम दिया गया है। राज्य के हस्त-क्षेप के विषय में विचार करते हुए 'आदर्शवाद' के विषय में भी कुछ जान लेना आवश्यक है।

(क) आदर्शवाद क्या है ?—'व्यक्तिवाद' (Individualism) का कहना था कि राज्य 'व्यक्ति' के लिए है; 'समाजवाद' (Socialism) का कहना है कि व्यक्ति 'राज्य' के लिए है; 'आदर्शवाद' (Idealism) का कहना है कि व्यक्ति तथा राज्य दोनों में कोई संघर्ष नहीं है। 'आदर्शवाद' के अनुसार व्यक्ति के सच्चे-स्वार्थ और राज्य के सच्चे-स्वार्थ एक ही हैं। इन दोनों का स्वार्थ, इन दोनों का लक्ष्य क्या है ? व्यक्ति का लक्ष्य तथा राज्य का लक्ष्य—इन दोनों का लक्ष्य यह है कि मनुष्य के व्यक्तित्व का पूरा-पूरा विना किसी रोक-टोक के विकास हो। ग्रीक विचारकों का कहना था कि 'व्यक्ति' समष्टि पर और 'समष्टि' व्यक्ति पर आश्रित है—एक सब के और सब एक के सहारे खड़े हुए हैं। इसी ग्रीक विचार को लेकर 'आदर्शवाद' का कहना है कि व्यक्ति का स्वार्थ राज्य का स्वार्थ है, और राज्य का स्वार्थ व्यक्ति का स्वार्थ है। इसलिए जब व्यक्ति राज्य की इच्छा का पालन करता है, तब दूसरे शब्दों में, वह अपनी ही इच्छा का पालन करता है।

राज्य का काम क्या है ? राज्य का काम व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देना है जिससे वह अपने व्यक्तित्व का पूर्ण-विकास कर सके। इस काम को राज्य दो तरह से कर सकता है। एक प्रकार तो यह है कि राज्य अपनी शक्ति द्वारा—ताकत और ज़बर्दस्ती (Force and compulsion) से—ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दे जिससे व्यक्ति अपना पूर्ण विकास कर सके। यह काम तो समाजवादी-समाज में होता ही है। 'आदर्शवाद' इस उपाय का प्रयोग नहीं करना चाहता। दूसरा प्रकार यह है कि व्यक्ति के विकास में जो बाधाएँ हैं, उन बाधाओं को राज्य हटा दे। इसे 'बाधा-निराकरण' (Removal of hindrances) कहा जा सकता है। 'आदर्शवाद' व्यक्ति के विकास में ताकत और ज़बर्दस्ती नहीं करना चाहता, बाधाओं को हटा भर देना चाहता है। 'आदर्शवाद' के अनुसार राज्य को कितना हस्त-क्षेप करना चाहिए ? सिर्फ़ इतना जिससे व्यक्ति के पूर्ण-विकास में जो बाधाएँ हैं, वे हट जाँय। इसे 'नकारात्मक हस्तक्षेप' (Negative State action) कहा जा सकता है, यह 'धनात्मक हस्तक्षेप' (Positive State action) नहीं है। 'धनात्मक हस्तक्षेप' तो 'समाजवाद' में होता है जिसके अनुसार हर क्षेत्र में राज्य अपना दखल देता है। प्रश्न यह है कि 'आदर्शवादी' जब राज्य तथा व्यक्ति के स्वार्थों को एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहते हैं, इनमें कोई संघर्ष नहीं समझते, तब राज्य के पूरे-पूरे हस्तक्षेप के पक्ष का समर्थन क्यों नहीं करते ? इसका एक कारण है। वह कारण क्या है ?

आदर्शवादियों के मत से राज्य एक 'नैतिक-संगठन' (Ethical institution) है। राज्य का काम व्यक्ति को 'नैतिक-विकास' (Moral development) में सहायता देना है। परन्तु 'नैतिकता' (Morality) का क्या अर्थ है ? एक आदमी को नीति-शास्त्र की दृष्टि से हम सच्चा या ईमानदार कब कहते हैं ? अगर कोई राज्य के डर से सच बोलता है, राज्य के डर से ईमानदार है, तो क्या 'नैतिकता' की दृष्टि से उसे सच्चा या ईमानदार कहा जा सकता है ? मनुष्य सच्चा तब कहलाता है जब वह झूठ बोल सकता हो, और तब झूठ बोलने के स्थान में सच बोले। ईमानदार वह है जो बेईमानी कर सकता हो, और तब ईमानदारी से बरते। जो आदमी डर के मारे झूठ बोल ही नहीं सकता, जो आदमी डर के मारे बेईमानी कर ही नहीं सकता, वह 'नैतिक-व्यक्ति' (Moral person) नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि मनुष्य को नैतिक होने के लिए काम करने में स्वतंत्र होना चाहिए—वह इस बात में स्वतंत्र होना चाहिए कि चाहे तो निर्भयता-पूर्वक वह झूठ बोल सके, चाहे सच बोल सके। इन दोनों बातों में स्वतंत्र होने पर जब वह झूठ नहीं बोलेगा, सच बोलेगा, बेईमानी नहीं करेगा, ईमानदारी से बरतेगा, तब वह नैतिक दृष्टि से विकसित होगा। परन्तु अगर इस बीच राज्य दखल देने लगे और व्यक्ति को सच बोलने या ईमानदारी के लिए बाधित करे, तो क्या व्यक्ति का विकास हो सकेगा ? तब तो व्यक्ति के सामने चुनाव ही नहीं होगा, वह दो मार्गों में से एक को चुनने में स्वतंत्र ही नहीं होगा, तब तो जैसा राज्य चाहेगा वैसा करने में वह बाधित होगा। 'आदर्शवाद' का कहना है कि राज्य को हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि अगर राज्य हस्त-क्षेप करेगा, तो व्यक्ति अपने नैतिक-विकास में परतंत्र हो जायगा, और अगर व्यक्ति अपने नैतिक-विकास में परतंत्र है, अगर वह राज्य के हस्त-क्षेप से बाधित होकर सच बोलता है, बाधित होकर ईमानदार है, तब वह सही मानों में सच्चा और ईमानदार नहीं है। इसलिए 'आदर्शवादी' लोग यद्यपि राज्य तथा व्यक्ति के स्वार्थों को एक ही मानते हैं, दोनों में संघर्ष नहीं मानते, तो भी व्यक्ति के नैतिक-विकास के लिए राज्य का हस्त-क्षेप नहीं चाहते। अगर वे कुछ हस्त-क्षेप चाहते हैं, तो इतना ही कि राज्य व्यक्ति के मार्ग में आने वाली उन बाधाओं को हटा दे जिनके कारण उसका नैतिक-विकास नहीं होने पाता। उदाहरणार्थ, अशिक्षा से व्यक्ति का विकास नहीं हो पाता। राज्य का काम अशिक्षा को दूर करना है। शराबखोरी से व्यक्ति विकास नहीं कर पाता। राज्य का काम इस पर प्रतिबन्ध लगाना है। 'आदर्शवाद' के उक्त विचारों के समर्थकों में **कांट** (१७२४–१८०४), **हीगल** (१७७०–१८३१), **ग्रीन** (१८३६–१८८२) तथा **बोसांके** (१८४८–१९२३) का नाम मुख्य है। इनका कहना है कि राज्य के हस्त-क्षेप के बिना नैतिक होना ही यथार्थ नैतिकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) 'आदर्शवाद' की आलोचना—'आदर्शवाद' का यह कहना तो ठीक है कि राज्य के हस्त-क्षेप से व्यक्ति की 'स्वतंत्र-क्रियाशीलता' (Spontaneity) मारी जाती है, उसमें 'स्वतंत्र-कर्तृत्व' (Free-will) नहीं रहता, उसमें 'जड़वत्-संचालन' (Automatism) आ जाता है, परन्तु प्रश्न यह है कि राज्य कब तक व्यक्ति को दूर से देखता रहे, और कब तक देखता रहे कि यह अपने-आप नैतिक-विकास करने लगता है या नहीं। हो सकता है कि दूर से देखते-देखते ऐसी अवस्था आ पहुँचे जब व्यक्ति का इतना नुकसान हो जाय कि फिर उसका कुछ बन ही न सके। एक बालक आग के साथ खेल रहा है। माँ-बाप कबतक उसे आग से खेलने दें? हो सकता है कि आग से खेलने की स्वतंत्रता देने का परिणाम यह हो कि बच्चा अपना हाथ जला बैठे, उसे इतना नुकसान पहुँच जाय जिसे दूर करना असंभव हो जाय। 'आदर्शवाद' की एक दूसरी आलोचना भी है। 'आदर्शवाद' कहता है कि व्यक्ति के 'आन्तरिक-नियन्त्रण' का काम 'नीति' (Morality) द्वारा होता है, 'वाह्य-नियन्त्रण' का काम 'कानून' (Law) द्वारा होता है। राज्य का काम 'कानून' बनाकर 'वाह्य-नियन्त्रण' को प्रभावित करना है, 'कानून' से 'आन्तरिक-नियन्त्रण' नहीं बदला जा सकता, 'आन्तरिक-नियन्त्रण' को बदलने के लिए नीति-शास्त्र का सहारा लेना पड़ता है और इसीलिए 'आदर्शवाद' कहता है कि क्योंकि राज्य व्यक्ति के अन्दर तक नहीं पहुँच सकता इसलिए उसे हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य घोड़े को पानी तक ले जा सकता है, परन्तु पानी पीने के लिए मजबूर नहीं कर सकता; व्यक्ति को डराकर सच बुलवा सकता है, परन्तु उसे सच्चा नहीं बना सकता। यह सब-कुछ हमने माना, परन्तु प्रश्न यह है कि क्या राज्य ऐसे 'कानून' नहीं बना सकता जो 'नीति' (Morality) की दृष्टि से भी ठीक हों? कानून बनाया गया कि जानवरों को कष्ट नहीं देना चाहिए, घोड़े को कुछ निश्चित घंटे जोतना चाहिए, तांगे पर बहुत ज्यादा सामान नहीं लादना चाहिए। ये कानून नीति-शास्त्र को सामने रखकर बनाये गए हैं। नीति-शास्त्र जहाँ मनुष्य को अपने-आप, बिना किसी बाह्य-प्रेरणा के सदाचारी बनने का मार्ग दिखाता है, वहाँ राज्य का कानून भी अगर नीति-शास्त्र के नियमों को ही कानून का रूप दे देता है, तो व्यक्ति के स्वतंत्र-विकास में सहायता ही पहुँचाता है। इस दृष्टि से 'आदर्शवाद' का यह कहना कि राज्य का हस्त-क्षेप व्यक्ति के नैतिक-विकास में नैतिकता की आधारभूत चीज़ स्वतंत्रता को छीन लेता है, ग़लत है, क्योंकि राज्य द्वारा उन कानूनों को बनाने में जिन्हें नीति-शास्त्र स्वीकार करता है व्यक्ति की स्वतंत्रता नहीं छिनती, अपितु जिन बातों को हमारा अन्तरात्मा स्वीकार करता है उन्हीं को राज्य कानून का रूप दे देता है। ऐसी हालत में व्यक्ति स्वतंत्र होकर जो रास्ता पकड़ना चाहता है, राज्य कानून के हस्त-क्षेप द्वारा उसी रास्ते को व्यक्ति के लिए सरल बना देता है। फिर 'आदर्शवाद' को राज्य के हस्त-क्षेप में आपत्ति क्यों है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. क्या राज्य का काम धर्म, नीति, प्रथा आदि में हस्त-क्षेप करना है ?

हमने देखा कि 'व्यक्तिवाद' राज्य के हस्त-क्षेप के पक्ष में नहीं है, 'समाजवाद' हस्त-क्षेप चाहता है, 'आदर्शवाद' नैतिक दृष्टि से हस्त-क्षेप नहीं चाहता। आज-कल जब समाज-कल्याण की भावना दिनोंदिन बढ़ रही है, यह समस्या उग्र रूप धारण करती जा रही है कि राज्य को किन मामलों में दखल देना चाहिए, किन में नहीं। यह तो सब मानने लगे हैं कि व्यक्ति के स्वास्थ्य, शिक्षा आदि के मामले में राज्य को कानून की सहायता से हस्त-क्षेप करना चाहिए। प्रश्न यह रह जाता है कि यह तो ठीक है कि जिस राज्य का लक्ष्य जन-कल्याण है वह व्यक्ति के जीवन की आधारभूत बातों में हस्त-क्षेप करके उसके जीवन को सुरक्षित बनाये, परन्तु क्या राज्य अपने कानूनों द्वारा धर्म, नीति, देश की प्रथाओं आदि में भी हस्तक्षेप करे, या नहीं ? साधारण रूप से विचारकों का यही कहना है कि इन बातों में राज्य को हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। जहाँ तक 'धर्म' का संबंध है, इसे अपनी रक्षा के लिए राज्य का मुँह नहीं ताकना चाहिए, न राज्य को धर्म में हाथ ही डालना चाहिए। जिन व्यक्तियों को धर्म अपनी रक्षा के लिए प्रेरणा नहीं दे सकता, उन्हें राज्य क्या प्रेरणा दे सकेगा। जो धर्म किसी राज्य की रक्षा के कारण टिकता है वह बिना राज्य के संरक्षण के समाप्त भी हो जाता है। धर्म को तो अपने आधार पर टिक सकना चाहिए। यही बात 'नीति' (Morality) के विषय में कही जा सकती है। राज्य के कानून से किसी को सदाचारी नहीं बनाया जा सकता। कानून के डर से अगर लोग सच्चे और ईमानदार हैं, तो कानून का डर हटने से वे झूठ बोलने लगते और बेइमानी करने लगते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि राज्य को 'नीति' में हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। 'प्रथा' की बाबत भी यही बात है। 'प्रथा' मानव-जाति के सहस्रों वर्षों के अनुभव का परिणाम होती है। उसका बल राज्य के कानून के बल से भी बड़ा होता है। जब ज़बर्दस्ती कानून से किसी प्रथा को बदलने का प्रयत्न किया जाता है तब प्रथा कानून को चुनौती दे देती है और कानून को वह मार देती है कि कानून धराशायी हो जाता है। ऐसी हालत में धर्म, नीति तथा प्रथा में हस्त-क्षेप करते हुए राज्य को बहुत साव-धानी से काम लेना चाहिए, नहीं तो लेने के देने पड़ जाते हैं।

११. वर्तमान समय में विश्व तथा भारत में राज्य के कार्यों का विस्तार*

पहले के युग और आज के युग में भेद है। पहले का युग सरल था, आज का युग विषम है; पहले का युग कृषि-प्रधान था, आज का युग उद्योग-प्रधान है; पहले के युग में छोटे-छोटे समूह थे, आज के युग में बड़े-बड़े समूह हैं; पहले का युग

---

* **Discuss the causes of the growth of State activity in recent times in India. (1954)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धर्म-प्रधान था, आज का युग राजनीति-प्रधान है; पहले का युग शासन-प्रधान था, आज का युग कल्याण-प्रधान है। इन सब कारणों से विश्व के प्रत्येक देश में राज्य का हस्त-क्षेप दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, भारत में भी इन्हीं कारणों से राज्य का हस्त-क्षेप बढ़ता जा रहा है। विश्व में सर्वत्र तथा भारत में जिन कारणों से राज्य के कार्यों का, राज्य के हस्त-क्षेप का विस्तार हो रहा है उनमें से मुख्य कारण निम्न हैं :

[विश्व में राज्य के कार्यों के विस्तार के कारण]

(क) सामाजिक-जीवन की विषमता—पहले का युग कृषि-प्रधान था। छोटे-छोटे गाँव थे। अपनी सब आवश्यकताएँ वहीं पूरी कर लेते थे। हर गाँव में पंचायत थी। सब एक-दूसरे को जानते थे। जो झगड़ा खड़ा होता वह वहीं और उसी समय गाँव वाले तय कर लेते थे। आज का युग उद्योग-प्रधान हो गया है। ग्रामीण-जीवन की जगह नागरिक-जीवन बनता जा रहा है। लोग गाँवों से उठ कर बड़े-बड़े उद्योगों में काम करने शहरों में आकर बसते जा रहे हैं। ऐसी हालत में पंचायतों का पहले जैसा नियन्त्रण रह नहीं सकता। शहरों में जो लोग आ बसते हैं वे एक-दूसरे को जानते-पहचानते नहीं। इन सब असंबद्ध व्यक्तियों को एक-सूत्र में, एक अनुशासन में कौन बाँधे ? जब तक लोग गाँवों में या छोटे-झोटे समूहों में रहते थे तब तक धर्म, प्रथा, पंचायत उनको बाँधे रखती थी। इन सब के शहरों में बिखर जाने से इन पर से धर्म, प्रथा, परंपरा, पंचायत का बंधन उठ जाता है। इन सब को शासन के सूत्र में बाँधने का काम राज्य के सिवाय कौन कर सकता है ? यही कारण है कि नगरीकरण, उद्योगीकरण के साथ-साथ धर्म, प्रथा, परंपरा, पंचायत का बंधन शिथिल होता जा रहा है, राज्य का बंधन विस्तृत होता जा रहा है।

(ख) कल्याण-राज्य का विचार—वर्तमान समय में राज्य के संबंध में भी धारणा बदलती जा रही है। पहले राज्य का कार्य पुलिस का काम समझा जाता था। देश की अन्दर तथा बाहर के शत्रुओं से रक्षा करना राज्य का कार्य था। शिक्षा, स्वास्थ्य, रोगों का निवारण आदि कार्य राज्य का नहीं समझा जाता था। आज ऐसी बात नहीं रही। आज तो यह समझा जाता है कि शिक्षा, स्वास्थ्य, रोगों का निवारण, लोगों को काम देना, बेकारी दूर करना आदि सब कार्य राज्य के हैं। आज का युग जन-तंत्र का युग है। जन-तंत्र के युग का अर्थ है जनता की भलाई करना, जनता की समस्याओं का समाधान करना। यही कारण है कि वर्तमान समाज में राज्य के कार्य का क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है।

(ग) देश की आन्तरिक समस्याएँ—पहले के युग में देश में आन्तरिक समस्याएँ इतनी विकट नहीं होती थीं जितनी आज के युग में हो गई हैं। किसी देश में गोरे-कालों का झगड़ा है, किसी देश में भाषा का झगड़ा है, किसी देश में वहाँ के नागरिकों की समस्याएँ हैं, किसी देश में अन्न का संकट है। पहले के युग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में देश के व्यापक रूप का उदय ही नहीं हुआ था, छोटे-छोटे खंडों में देश बँटा हुआ था, आज के युग में देश का व्यापक रूप उठ खड़ा हुआ है इसलिए समस्याएँ भी संपूर्ण देश को छूती हैं। इनका समाधान राज्य के सिवाय कौन करे? इसलिए भी राज्य का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है।

(घ) देश की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ—पहले के युग में समस्याएँ छोटे-छोटे क्षेत्रों में सीमित थीं, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ तो थी ही नहीं। अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ तो आज के युग में पैदा हुई हैं जब पानी के जहाज़, हवाई जहाज़, रेल, तार आदि का निर्माण हुआ है। एक देश का दूसरे देश से संबंध कैसा हो, एक देश के दूसरे देश के साथ संबंध रखने वाली बातों को कैसे सुलझाया जाय—यह सब राज्य के सिवाय कौन करे? इस कारण भी संसार के सब देशों में राज्य के कार्य का, राज्य के हस्त-क्षेप का विस्तार हो रहा है।

(ङ) समाजवादी विचार-धारा—हम इस अध्याय में देख आये हैं कि किस तरह आज के युग में हर देश व्यक्तिवाद से समाजवाद की तरफ़ बढ़ता जा रहा है। समाजवाद का अर्थ ही यह है कि सारी शक्ति व्यक्ति के हाथ से निकल कर समाज के हाथ में चली जाय। 'राज्य' समाज का ही प्रतीक है। समाज के शासन को दूसरे शब्दों में राज्य का शासन कहा जा सकता है। समाजवादी विचार-धारा राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तार में सब से बड़ा कारण है।

[भारत में राज्य के कार्यों के विस्तार के कारण]

जिन कारणों से सारे विश्व में राज्य का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है उन्हीं कारणों से भारत में भी राज्य का कार्य-क्षेत्र विस्तृत होता जा रहा है। भारत में राज्य के कार्य-क्षेत्र के विस्तृत होने के निम्न कारण कहे जा सकते हैं :

(क) कल्याण-राज्य का विचार—जब से देश स्वतंत्र हुआ है तब से अपने देश में यह भावना प्रबल रही है कि हमने हर दिशा में उन्नति करनी है, खासकर सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में किसी देश से पिछड़ा नहीं रहना। सामाजिक-दृष्टि से हम अन्य देशों से बहुत पिछड़े रहे हैं। स्त्रियों को हमने सदियों से पददलित रखा, हरिजनों को मानवता के अधिकारों से वंचित रखा। स्वतंत्र होने के बाद से स्त्रियों तथा दलित वर्ग की तरफ़ राज्य का ध्यान विशेष रूप से गया है। ऐसे कानून बनाये गये हैं जिनसे स्त्रियों को सम्पत्ति में अधिकार मिले, उनकी शिक्षा की व्यवस्था हो, बाल-विवाह न हो, दहेज-प्रथा को बन्द किया जाय, स्त्रियों को कुरीतियों का शिकार न होना पड़े। इसी प्रकार हरिजनों के संबध में कानून बनाये गये हैं जिनके अनुसार उनके साथ अबतक चले आ रहे भेद-भाव को मिटा दिया गया है। देश में जो समाज-कल्याण संबंधी अन्य कार्य हो रहे हैं उनका हम जगह-जगह वर्णन कर आये हैं और करेंगे। इन सब के कारण भारत में राज्य के कार्यों का विस्तार होना अवश्यंभावी हो गया है।

(ख) समाजवादी आर्थिक-व्यवस्था के निर्माण का विचार—अपना देश अत्यन्त गरीब देश है। धनी-निर्धन की आय में ज़मीन-आसमान का भेद है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस देश में ऐसे भी हैं जिन्हें भर पेट खाने को नहीं मिलता, सिर ढाँपने को मकान नहीं मिलता, ऐसे भी हैं जिन्हें समझ नहीं आता कि अपनी सम्पत्ति का क्या करें। इस आर्थिक विषमता को दूर करने के लिए सारी स्थिति को व्यक्तियों के हाथ में नहीं छोड़ा जा सकता, राज्य इस प्रश्न को हाथ में ले तभी यह विषमता दूर हो सकती है। इसी कारण भारत ने यह घोषित कर दिया है कि हम आर्थिक ढाँचे को समाजवादी-व्यवस्था के अनुसार ढालेंगे। जब समाजवादी-व्यवस्था के अनुसार सब-कुछ ढालना होगा तब तो आर्थिक योजनाएँ बनानी होंगी। वे योजनाएँ अपने देश में बन रही हैं—प्रथम पंचवर्षीय योजना, द्वितीय पंचवर्षीय योजना, तृतीय पंचवर्षीय योजना। इन योजनाओं को क्रियान्वित करने के लिए राज्य का हस्त-क्षेप ज़रूरी हो गया है।

प्रश्न

१. उन कारणों का वर्णन कीजिए, जिनके आधार पर राज्य को व्यक्ति के आर्थिक कार्यों में हस्तक्षेप करना चाहिए। (१९५४)

२. वर्तमान समय में भारत में राज्य के कार्यों के विस्तार के कारणों का वर्णन कीजिए। (१९५४)

३. "समाज-कल्याण के नाम पर दिनोंदिन बढ़ता हुआ राज्य का हस्तक्षेप खतरनाक है"—इस कथन की भारतीय पृष्ठभूमि को सामने रखते हुए समीक्षा कीजिए। (१९६२)

४. राज्य के कार्य-क्षेत्र के विषय में 'व्यक्तिवाद' का क्या कहना है? उस कथन की आलोचना कीजिए।

५. 'समाजवाद' का राज्य के हस्तक्षेप के विषय में क्या कहना है?

६. 'आदर्शवाद' का राज्य के हस्तक्षेप के विषय में क्या कहना है? इसकी युक्तियों की समीक्षा कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पू

सामाजिक-पुनर्निर्माण के सिद्धान्त

(THEORIES OF SOCIAL RECONSTRUCTION)

१. सामाजिक-पुनर्निर्माण का स्वरूप*

(क) सामाजिक पुनर्निर्माण का अर्थ—समाज एक परिवर्तनशील संगठन है। इस परिवर्तन के भिन्न-भिन्न कारण होते हैं। उदाहरणार्थ, युद्ध एक बड़ा कारण है, जिससे सामाजिक-संगठन में परिवर्तन आ जाता है। युद्ध से पहले शान्ति की अवस्था में समाज का निर्माण एक तरह का होता है, युद्ध में दूसरी तरह का, युद्ध के बाद युद्ध के अनुभवों में से गुज़र जाने के बाद तीसरी तरह का। जिस किसी कारण से भी सामाजिक-संगठन में परिवर्तन आ जाये, यह हो सकता है कि यह परिवर्तन ऐसा हो जिससे सब परेशान हो जायें, इस परिवर्त्तन से सामाजिक-संगठन छिन्न-भिन्न हो जाय। औद्योगिक-युग में कल-कारखानों का निर्माण हुआ। पहले से चली आ रही आर्थिक-व्यवस्था में जिसमें गृहोद्योग चल रहे थे, यह एक भारी परिवर्तन हुआ। इस परिवर्तन का सामाजिक-संगठन पर परिणाम यह हुआ कि कल-कारखाने वाले बहुत ज्यादा धनी हो गये, दूसरे लोग मज़दूर हो गये, धनी-निर्धन का वर्ग उत्पन्न हो गया। धनी-निर्धन के उत्पन्न होने से वर्ग-संघर्ष पैदा हो गया, पहले हर कोई अपने कर्तव्य और दूसरे के अधिकार पर ध्यान देता था, अब हर कोई अपने अधिकार के लिए लड़ने लगा, दूसरे को अपने कर्तव्य की सीख देने लगा। इससे सामाजिक-संगठन छिन्न-भिन्न हो गया। समाज में परेशानी पैदा हो गई, समाज संगठित रहने के स्थान में विगठित हो गया। जब समाज में ऐसी अवस्था आ जाती है तब समाज के विचारशील लोग समाज का फिर से नवीन आधारों पर निर्माण करने की सोचने लगते हैं। इसी को सामाजिक-पुनर्निर्माण कहा जाता है।

(ख) सामाजिक-पुनर्निर्माण की प्रक्रिया निरन्तर चलती है—समाज क्योंकि एक परिवर्तनशील संगठन है, इसलिए समाज का विगठन तथा संगठन सदा चलता रहता है। जैसे शरीर का रोग से, वृद्धावस्था से, मानसिक कारणों से, बेकारी आदि सामाजिक कारणों से ह्रास होता रहता है, जैसे इस ह्रास को रोकने के लिए हम भिन्न-भिन्न उपाय करते रहते हैं, वैसे ही समाज का संगठन भी भिन्न-

---

* **Examine Critically the modern theory of social reconstruction. (1957)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न कारणों से छिन्न-भिन्न होता रहता है, इस ह्रास को रोकने के लिए सामाजिक विचारक अपने-अपने विचार समाज को देते रहते हैं। इसी प्रक्रिया में सामाजिक-विचारकों तथा समाज-सुधारकों का जन्म होता हैं। आज समाज का जो रूप हैं, उससे कुछ लोग सन्तुष्ट रहते हैं तो दूसरे असन्तुष्ट रहते हैं। जो सन्तुष्ट रहते हैं, वे 'कट्टरपन्थी' (Conservatives) कहलाते हैं, जो असन्तुष्ट रहते हैं, वे 'सुधारवादी' (Reformers) कहलाते हैं, और यह प्रक्रिया हर समाज में सदा चला करती है। 'कट्टरपन्थी' समाज में राज्य का हस्तक्षेप नहीं चाहते, सुधारवादी राज्य का सहारा लेकर सामाजिक-पुनर्निर्माण करने के पक्षपाती होते हैं।

(ग) सामाजिक-पुनर्निर्माण का उदाहरण—२० अक्तूबर १९६२ को चीन ने भारत पर अचानक हमला कर दिया। क्यों किया? जुलाई १९६३ में रूस और चीन के विचारों के आपसी मत-भेद पर बातचीत हुई। क्यों हुई? चीन के कर्णधारों के दिमाग में यह समा गया है कि थर्मो-न्यूक्लियर युद्ध से इस बनी-बनाई दुनिया को नष्ट कर उसके विनाश पर ही नई दुनिया को बनाया जा सकता है। रूस और चीन दोनों साम्यवादी हैं, परन्तु रूस का कथन है कि थर्मो-न्यूक्लियर युद्ध से अमरीका ही नष्ट नहीं होगा, चीन भी नष्ट हो जायगा, दुनिया ही नष्ट हो जायगी, फिर पुनर्निर्माण का प्रश्न ही नहीं रहेगा; चीन क्योंकि साम्यवाद का नया मुल्ला बना है, इसलिए वह अपने सपनों का नया संसार बनाने के लिए पागलों की तरह दोस्तों-दुश्मनों सब पर अन्धाधुंध वार कर रहा है। सामाजिक-पुनर्निर्माण का बुखार पागलपन की हद तक पहुँच सकता है—इसका चीन एक खासा उदाहरण है।

२. सामाजिक-पुनर्निर्माण के सिद्धान्त

हम पिछले अध्याय में व्यक्तिवाद, समाजवाद तथा आदर्शवाद का विवरण दे आये हैं। इन वादों का विवरण देते हुए हमने स्पष्ट किया है कि इनकी दृष्टि से राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या है, राज्य को व्यक्ति के काम में हस्तक्षेप करना चाहिए या नहीं करना चाहिए, करना चाहिए तो किस हद तक? हमने यह भी देखा कि इन सब वादों का लक्ष्य अपने सिद्धांतों के अनुसार समाज का पुनर्निर्माण करना हैं। वर्तमान-युग में पुनर्निर्माण का कार्य विशेष रूप से 'समाजवाद' द्वारा हो रहा है। हम यह भी लिख आये हैं कि 'समाजवाद' के भिन्न-भिन्न रूप हैं जिन सबकी विचारधारा एक-सी है। यद्यपि इन सबकी विचारधारा का आधारभूत विचार 'समानता' (Equality) है, तो भी इनकी समाजवादी विचारधारा अलग-अलग है, इनके सिद्धांत अलग-अलग हैं, उन्हीं सिद्धांतों के आधार पर ये समाज का पुनर्निर्माण करने की बात कहते हैं। इस अध्याय में हम सामाजिक-पुनर्निर्माण के इन समाजवादी सिद्धांतों की चर्चा करेंगे। समाज का पुनर्निर्माण करने वाले ये समाजवादी सिद्धांत निम्न हैं:—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) साम्यवाद (Communism)
(ख) समष्टिवाद (Collectivism)
(ग) संघवाद (Syndicalism)
(घ) श्रेणी-समाजवाद (Guild Socialism)
(ङ) अराजकवाद (Anarchism)
(च) गांधीवाद (Gandhism)
(छ) विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ

(क) साम्यवाद
(COMMUNISM)

समाजवादी सिद्धांतों में सबसे मुख्य सिद्धांत 'साम्यवाद' (Communism) का है। तृतीय अध्याय में हम देख चुके हैं कि युरोप में औद्योगिक-क्रांति के परिणामस्वरूप वैयक्तिक स्वतन्त्रता के, 'व्यक्तिवाद' (Individualism) के सिद्धांत का जन्म हुआ, और 'व्यक्तिवाद' से 'पूँजीवाद' (Capitalism) को सहारा मिला। 'साम्यवाद' का मुख्य उद्देश्य आर्थिक-असमानता को दूर करना था, इसलिए 'साम्यवाद' ने जहाँ 'व्यक्तिवाद' पर प्रहार किया वहाँ 'व्यक्तिवाद' की उपज 'पूँजीवाद' पर सीधी चोट की।

(१) साम्यवाद का स्वरूप—आर्थिक-विषमता का कारण व्यक्ति का पूँजी पर एकाधिकार है, इसलिए 'साम्यवाद' का कहना है कि पूँजी तथा सम्पत्ति पर व्यक्ति का नहीं, समाज का अधिकार होना चाहिए, राज्य का अधिकार होना चाहिए। पूँजी तथा सम्पत्ति पैदा कैसे होती हैं? ये पैदा होती हैं, 'उत्पादन के साधनों' (Means of production) से। कल-कारखाने 'उत्पादन के साधन' हैं, इन्हीं से पूँजी बनती है, क्योंकि इन पर व्यक्तियों का अधिकार है, इसलिए व्यक्तियों के पास पूँजी इकट्ठी हो जाती है, उसी से कोई पूँजीपति तथा कोई निर्धन हो जाता है। 'साम्यवाद' का कहना है कि धनी-निर्धन की असमानता को दूर करने का तरीका यह है कि 'उत्पादन के साधनों' पर राज्य का स्वामित्व हो जाय। ऐसी हालत में इन साधनों से जो पूँजी पैदा होगी वह व्यक्ति की न हो कर समाज की होगी, राज्य की होगी। इस प्रकार धनी-निर्धन का भेद अपने-आप समाप्त हो जायगा।

(२) साम्यवाद का प्रोग्राम—'साम्यवाद' का कहना है कि पूँजीवाद को समाप्त किये बगैर सामाजिक पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। सामाजिक पुनर्निर्माण करना हो तो निम्न कार्य करने होंगे :

(i) पिता से पुत्र को मिलने वाली सम्पत्ति की परम्परा को समाप्त करना,

(ii) उत्पादन के साधनों पर कल-कारखाने, बैंक, यातायात के साधन, देश की सारी भूमि—इन सब पर व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त कर उन पर राज्य का स्वामित्व स्थापित करना। 'व्यक्तिगत-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वामित्व' और 'व्यक्तिगत-सम्पत्ति' में भेद है। 'व्यक्तिगत-स्वामित्व' से पूँजीवाद बढ़ता है, परन्तु साम्यवाद का उद्देश्य 'व्यक्तिगत-सम्पत्ति' को बढ़ाना है। साम्यवादी देश में हर व्यक्ति को मकान, वस्त्र, शिक्षा, चिकित्सा, परिवार-पालन, मोटर, रेडियो—सब की प्रभूत मात्रा दी जायगी।

(iii) प्रत्येक व्यक्ति से उसकी शक्ति के अनुसार काम लेना और प्रत्येक व्यक्ति को उसकी आवश्यकता के अनुसार उपभोग्य पदार्थ देना (From each according to his ability and to each according to his need)।

(३) वर्ग-संघर्ष के संबंध में साम्यवाद का १८४८ का घोषणा-पत्र—'साम्यवाद' की यह विचारधारा १८–१९ वीं शताब्दी में युरोप में प्रकट हुई, इस संबंध में विचारकों ने अनेक योजनाएँ बनायीं, इन योजनाओं का उद्देश्य समाज की रचना को बदलना था, उसका पुनर्निर्माण करना था, युरोप के भिन्न-भिन्न देशों में इस प्रकार के वैयक्तिक परीक्षण भी होते रहे, परन्तु उक्त विचारों का असली प्रवर्तक **कार्ल मार्क्स** (१८१८–१८७८) था। उसने अपने मित्र **एन्जल्स** (१८२०–१८९५) के साथ मिल कर १८४८ में एक घोषणा-पत्र तैयार किया जो साम्यवादी साहित्य में सबसे अधिक पढ़ा जानेवाला घोषणा-पत्र है। इस घोषणा-पत्र में साम्यवाद का निचोड़ आ जाता है। इस घोषणा-पत्र का ही परिणाम था कि 'समाजवाद' (Socialism) 'साम्यवाद' (Communism) का रूप धारण कर गया। इस घोषणा-पत्र में कहा गया है :—

"मनुष्य-समाज भिन्न-भिन्न वर्गों में बंटा हुआ है। इन वर्गों में लगातार संघर्ष बना रहता है। पहले एक वर्ग सम्पत्ति कमाकर सम्पन्न हो जाता है। मध्य-युग में 'सम्पत्ति' तथा 'सत्ता' जागीरदारों के हाथ में थी। मध्य-युग के बाद 'औद्योगिक-क्रांति' का युग आया, जिसके परिणाम-स्वरूप जागीरदारों का स्थान पूँजीपतियों ने ले लिया और धीरे-धीरे राजनीतिक-सत्ता भी पूँजीपतियों के हाथ में आ गई। 'औद्योगिक-क्रांति' द्वारा नगरों का निर्माण और विकास हुआ। 'औद्योगिक-युग' में सत्ता पूँजीपतियों के हाथ से निकल कर 'शिक्षित-मध्य-श्रेणी' —'बाबू वर्ग'—(Bourgeois) के हाथ में आ गई और पूँजीपतियों का धन पर और मध्य-श्रेणी का सत्ता पर अधिकार हो गया। यह प्रक्रिया अभी तक चल रही है और तब तक चलती रहेगी, जब तक मज़दूर-वर्ग 'मध्य-श्रेणी' से सत्ता को छीन नहीं लेगा। जैसे १७८९ में 'पूँजीपतियों' और 'मध्य-श्रेणी' ने जागीरदारों की सम्पत्ति तथा उनकी सत्ता छीन ली थी, ठीक इसी प्रकार अब 'मज़दूर-वर्ग' पूँजीपतियों से आर्थिक-सम्पत्ति के 'उत्पादक-साधनों' को और मध्य-श्रेणी से 'राजनीतिक-सत्ता' को छीन लेगा।"

"समाज का ऐसा पुनर्निर्माण कब होगा ? ऐसा निर्माण तब होगा जब पिता से पुत्र को बिना श्रम किये पैतृक-सम्पत्ति मिलने की परम्परा नष्ट हो जायगी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्पत्ति को उत्तराधिकार के रूप में कोई न प्राप्त कर सकेगा, ऐसा निर्माण तब होगा जब देश की सारी भूमि, कारखाने, यातायात के साधन तथा आर्थिक उत्पत्ति के सब साधनों पर राज्य का अधिकार हो जायगा, इन पर व्यक्ति का अधिकार नहीं रहेगा और जब हर व्यक्ति को बाधित रूप में कोई-न-कोई श्रम करना पड़ेगा और बिना श्रम किये कोई व्यक्ति आमदनी नहीं प्राप्त कर सकेगा। ऐसी अवस्था में हर व्यक्ति को बाधित रूप में शिक्षा दी जायगी जिसके परिणामस्वरूप हर व्यक्ति को योग्यता प्राप्त करने का समान अवसर मिल सकेगा। हर व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करके योग्य होने के बाद अपनी-अपनी योग्यता तथा सामर्थ्य के अनुसार श्रम करना होगा। कारखाने तथा भूमि—ये सब इस नव-निर्माण में राज्य की सम्पत्ति बन जायेंगे, व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं रहेंगे।"

"इस नवीन साम्यवादी समाज में हर श्रम करने वाले को—चाहे वह शारीरिक श्रम करे, चाहे मानसिक—अपने 'श्रम' का पूरा-पूरा 'मूल्य' दिया जायगा। क्योंकि सब को योग्यता तथा शिक्षा प्राप्त करने का समान अवसर दिया जायगा इसलिए सब को श्रम भी अपनी योग्यता तथा शिक्षा के अनुसार करना होगा। अपनी योग्यता तथा शिक्षा के अनुरूप श्रम किये बिना कोई न रह सकेगा। ऐसे समाज में 'वर्ग-संघर्ष' (Class conflict) का अन्त हो जायगा क्योंकि समाज में दो वर्ग ही नहीं रहेंगे, केवल एक वर्ग रह जायगा, और वह श्रमी-वर्ग, मेहनत करने वाला वर्ग होगा, निठल्ला रह कर बाप-दादा की कमाई या दूसरों के परिश्रम से बैठे-बैठे खाने वाला वर्ग ही नहीं रहेगा। इस प्रक्रिया का होना भी परमावश्यक है, मानव-समाज की उन्नति इसी प्रक्रिया से हो सकती है और इसी प्रक्रिया से हो रही है। इस प्रक्रिया को टाला नहीं जा सकता। यह नव-निर्माण शान्ति-पूर्वक हो गया तो अच्छा है, अगर यह परिवर्तन शान्ति-पूर्वक न हुआ तो बल-पूर्वक यह परिवर्तन लाना होगा। ऐसा परिवर्तन, समाज का ऐसा पुनर्निर्माण हुए बिना रह नहीं सकता। संसार की सब घटनाएँ इसी दिशा की तरफ़ निर्देश कर रही हैं, और कह रही हैं कि यह परिवर्तन होने जा रहा है।"

"यह परिवर्तन एक क्रांति है। इस क्रांति के लिए संसार के सब मज़दूर वर्ग को एक हो जाने की ज़रूरत है। मज़दूर-वर्ग के हितों को हर बात से ऊपर रखना होगा। यह समझ लेना होगा कि राष्ट्र तथा मातृभूमि के हितों की अपेक्षा भी इस साम्यवादी क्रांति के लिए मज़दूर-वर्ग के हितों को अधिक महत्व देना पड़ेगा। यह साम्यवादी क्रांति आ रही है, शासक-श्रेणियो! कांपो, देखो कैसा महा-बवंडर उमड़ रहा है। साधारण जनता का इस क्रांति में पड़ कर क्या जायगा? उनके पास खोने के लिए है ही क्या—सिवाय अपनी दासता की साँकलों के? दुनिया भर के किसानो और मजदूरो! आपस में मिल जाओ और एक हो जाओ।"

कार्ल-मार्क्स तथा ऐंजल्स का यह घोषणा-पत्र इस समय के साम्यवाद का आधार है और इस घोषणा-पत्र को लेनिन ने रूस में क्रिया-रूप में परिणत करके एक साम्यवादी समाज का निर्माण करके दिखा दिया। फ्रांस के लूई ब्लां

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि एवं इंग्लैंड के राबर्ट ओवन आदि के समाजवादी नव-निर्माण तथा कार्ल-मार्क्स एवं लेनिन आदि के साम्यवादी नव-निर्माण में एक भेद है। 'औद्योगिक-क्रांति' के परिणाम-स्वरूप तीन श्रेणियाँ उत्पन्न हो गयीं—यह तो दोनों के विचार में एक-सा है। ये तीन श्रेणियां थीं—पूँजीपति, मध्य-श्रेणी तथा मज़दूर-वर्ग। फ्रांस तथा इंग्लैंड के विचारक सिर्फ़ पूँजीपतियों द्वारा किये गए शोषण पर विचार कर सके थे और इस बात का प्रचार कर रहे थे कि राज्य को कल-कारख़ाने अपने अधिकार में कर लेने चाहिएँ। कार्ल-मार्क्स का कहना था कि फ्रांस और इंग्लैंड में जो कुछ हो रहा है, यह क्रांति तो है, परन्तु इस क्रांति का परिणाम यह होगा कि पूँजीपतियों के स्थान में मध्य-श्रेणी के हाथ में सत्ता आ जायगी, परन्तु मज़दूरों का हाल फिर वैसे-का-वैसा रहेगा। असली साम्यवादी-क्रांति और असली सामाजिक नव-निर्माण तब होगा जब सत्ता न 'पूँजीपतियों' के हाथ में रहेगी, न 'मध्य-श्रेणी' के हाथ में अपितु सत्ता 'मज़दूर-वर्ग' के हाथ में आ जायगी, उस वर्ग के हाथ में जो वास्तव में उत्पादन करता है अपनी मेहनत-मज़दूरी से, अपने श्रम से उत्पादन करता है। इस क्रांति को लाने का मार्क्स का प्रयत्न रूस में और अब हाल में चीन में सफल हुआ।

इस घोषणा-पत्र से यह स्पष्ट है कि साम्यवाद 'वर्ग-संघर्ष' (Class conflict) में विश्वास करता है। धनी-निर्धन वर्ग में पूँजीपतियों के कारण ज्यों-ज्यों विषमता बढ़ती जायगी, त्यों-त्यों उनका संघर्ष बढ़ता जायगा और एक समय ऐसा आयगा जब श्रमी-वर्ग जो अपना ख़ून तथा पसीना बहाकर पूँजी का निर्माण करता है, इस आर्थिक-विषमता को सह नहीं सकेगा। ऐसी हालत में श्रमी-वर्ग यह देखकर कि आर्थिक-विषमता तभी दूर हो सकती है जब राजनीतिक सत्ता को अपने हाथ में लिया जाय, क्रांति कर देगा और राजनीतिक-सत्ता श्रमी-वर्ग के हाथ में आ जायगी। यह अवस्था 'श्रमिक-वर्ग' के अधिनायकतन्त्र (Dictatorship of the proletariat) की अवस्था होगी, यही साम्यवाद होगा।

(४) साम्यवाद तथा हिंसात्मक-क्रांति—समाजवादी अन्य सिद्धांतों तथा साम्यवाद में यह भेद है कि अन्य समाजवादी हिंसक-क्रांति के पक्ष में नहीं हैं, साम्यवादी हिंसक-क्रांति के पक्ष में हैं। रूस ने साम्यवादी होते हुए अन्य देशों के साथ अनाक्रामक फैसले जो किये हैं, उन पर साम्यवादी चीन बिगड़ता जा रहा है। चीन का कहना है कि रूस मार्क्स-लेनिन के सिद्धांतों को छोड़ रहा है, इसलिए वह साम्यवादी नहीं रहा। साम्यवाद का यह हिंसात्मक पथ संसार के लिए ख़तरा बन कर खड़ा हो गया है। आज चीन साम्यवाद के इसी हिंसात्मक पथ को लेकर अन्य देशों पर अकारण हमले करने लगा है। साम्यवाद राज्य को हिंसा का प्रतीक मानता है।

(५) साम्यवाद तथा राज्य की संस्था—साम्यवाद का यह भी कहना है कि संसार एकदम तो अपने को नहीं बदल सकता। जिस प्रकार का पुनर्निर्माण साम्यवादी चाहते हैं, उसके लिए क्रांति लानी होगी। जब तक यह क्रांति सफल नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती, तब तक का काल 'संक्रमण-काल' (Transitional period) है। राज्य की आवश्यकता उस संक्रमण-काल के लिए ही है। इस संक्रमण-काल में राज्य देश के भीतर साम्यवाद की रक्षा करेगा, और अपने देश से बाहर साम्यवाद का प्रचार तथा आक्रमण से साम्यवाद की स्थापना करेगा। जब संपूर्ण भू-मंडल पर साम्यवाद की स्थापना हो जायगी तब राज्य की आवश्यकता नहीं रहेगी, और तब राज्य की संस्था आवश्यकता न रहने के कारण अपने-आप समाप्त हो जायगी।

(६) **साम्यवाद का मूल्यांकन**—साम्यवाद राज्य को हिंसा का प्रतीक मानता है। क्रांति का रूप हिंसात्मक क्रांति है। चीन इसी आधार पर बिना मतलब भारत पर हिंसात्मक आक्रमण के लिए तुला हुआ है। साम्यवादी देशों में देश के भीतर भी अपने से विरोधी तत्वों को मौत के घाट उतार दिया जाता है। राज्य का यह हिंसात्मक रूप जिसमें जनता की इच्छा पर नहीं अपितु शक्ति और बल प्रयोग से शासन किया जाता है, शासन का जंगली रूप है। शासन का आधार व्यक्ति की इच्छापूर्वक स्वीकृति होना चाहिए, बल-प्रयोग नहीं।

राज्य के हिंसात्मक रूप के अतिरिक्त साम्यवाद देश-वासियों में वर्ग-विद्वेष की अग्नि को प्रचंड करता है, धनी-निर्धन को आपस में लड़ाता है। यह ठीक है कि धनी-निर्धन का भेद दूर होना चाहिए, परन्तु साम्यवाद जिस प्रकार इस विद्वेषाग्नि को भड़काता है, उससे उसी समाज का नव-निर्माण होगा जिसका साम्यवादी सपना लेते हैं—यह सन्देहास्पद है। क्रांति के जन्मदाता जिन भावनाओं को लेकर चला करते हैं, वे क्रांति के सफल होने के बाद वैसी-की-वैसी नहीं बनी रहतीं। क्रांति तो समाज को अस्त-व्यस्त कर देती है, क्रांति में हर बात की जड़ हिल जाती है, जैसे तूफान आने पर मकानों की छतें उड़ जाती हैं, कहा नहीं जा सकता कि नवीन भवन कैसे बनेंगे, बन भी सकेंगे या नहीं, वैसे ही क्रांति के तूफान आने पर समाज का भवन डाँवाडोल हो जाता है, कहा नहीं जा सकता कि समाज के नवीन भवन का निर्माण हो भी सकेगा या नहीं।

इसके अतिरिक्त क्रांति का नारा लगा देना आसान है, क्रांति को सफल बना सकना कठिन है। राज्य के पास सेना का बल होता है, उस बल के आधार पर राज्य अपने वर्तमान संगठन को जैसा है, वैसा बनाये रखने के लिए पूरी शक्ति लगा देता है। वर्तमान संगठन को लोगों को शिक्षित करके, प्रचार और आन्दोलन के सहारे तो बदला जा सकता है, एकदम हिंसात्मक क्रांति और वर्ग-विद्वेष फैलाने से सारे समाज को खतरा पैदा हो जाता है।

साम्यवादियों का कहना है कि राज्य से ज़बर्दस्ती शक्ति छीन लेने के बाद वे वर्ग-हीन तथा राज्य-विहीन समाज की रचना करेंगे, ऐसा समय आ जायगा जब न धनी-निर्धन का वर्ग होगा, न राज्य के ही रहेगा। यह धारणा भ्रांतिमूलक है। शक्ति हाथ में आने पर उसे कोई छोड़ता नहीं। बल-प्रयोग तथा दमन के आधार पर वैयक्तिक-स्वतन्त्रता का अपहरण करके जिस साम्यवादी राज्य का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्माण होगा वह अपने-आप अपने को समाप्त कर लेगा—यह कल्पना नहीं की जा सकती।

(ख) राजकीय-समाजवाद या समष्टिवाद
(STATE SOCIALISM OR COLLECTIVISM)

'समाजवाद' (Socialism) की अनेक शाखाओं में से एक शाखा 'साम्यवाद' (Communism) है, तो दूसरी एक शाखा 'राजकीय-समाजवाद' (State Socialism) है। 'राजकीय-समाजवाद' को 'समष्टिवाद' (Collectivism) भी कहते हैं।

(१) **समष्टिवाद का अर्थ**—**प्रो० एली** का कथन है कि समष्टिवादी वह व्यक्ति है, जो समाज में आर्थिक वस्तुओं का समुचित विभाजन तथा मानव-समाज के उच्च-स्तर पर उठने के लिए राज्य की सहायता चाहता है।* एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार 'समष्टिवाद' वह सिद्धांत है जो केंद्रीय शासन की सहायता से वर्तमान अवस्था की अपेक्षा सम्पत्ति का अधिक अच्छा वितरण और उत्पादन करना चाहता है।† समष्टिवाद का कहना है कि पूँजीपति द्वारा श्रमिक का जो निरन्तर शोषण हो रहा है, उसे समाप्त करने के लिए राज्य का हस्तक्षेप अनिवार्य है। राज्य के हस्तक्षेप से ही व्यक्ति को पूँजीपति की दासता से मुक्त किया जा सकता है, अन्य किसी उपाय द्वारा नहीं।

(२) **समष्टिवाद का लक्ष्य**—समष्टिवाद का उद्देश्य व्यक्ति को पूँजीवाद के चंगुल से छुड़ाना तथा पूँजीवाद की बुराइयों से बचाना है। श्रमिक को मनोरंजन का समय मिले, वह कभी बेकार न रहे, उसकी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक उन्नति हो, उसका न्यूनतम वेतन निश्चित कर दिया जाय, सप्ताह में ४८ घंटों से ज़्यादा उससे काम न लिया जाय, राज्य का लक्ष्य कल्याण-राज्य के ध्येय को प्राप्त करना हो—यह समष्टिवाद का लक्ष्य कहा जा सकता है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए राज्य वस्तुओं का उत्पादन इस उद्देश्य से नहीं करेगा कि उनकी बिक्री से आय बढ़े, आर्थिक लाभ हो, वह वस्तुओं का उत्पादन इस उद्देश्य से करेगा कि जिससे आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो। व्यक्तिवाद का प्रेरक-सूत्र 'आर्थिक लाभ' (Profit motive) है, समष्टिवाद का प्रेरक-सूत्र 'उपयोगिता' (Utility motive) है।

---

* "A collectivist is a person who looks to society organised in the State for aid in bringing about a more perfect distribution of economic goods and an elevation of humanity."
—*Prof. Ely.*

† "Collectivism is that policy or theory which aims at securing by the action of the central democratic authority a better distribution and, in due subordination thereto, a better production of wealth than now prevails."—*Encyclopaedia Britannica* (*Eleventh edition*).

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(३) **समष्टिवाद में राज्य की आमदनी**—इसमें सन्देह नहीं कि समष्टि-वादी राज्य में समाज-कल्याण के कार्यों पर अधिक व्यय होगा। तो फिर यह रुपया कहाँ से आयगा ? इसमें से बहुत कुछ रुपया तो उन उद्योगों से आयगा जिन्हें राज्य व्यक्ति के हाथ से लेकर स्वयं करने लगेगा, कुछ भिन्न-भिन्न प्रकार के करों से आयगा। उदाहरणार्थ, समष्टिवाद में मृत्यु-कर लगाया जायगा, एक निश्चित आमदनी से ऊपर अधिकाधिक आय-कर लगाया जायगा, बहुत ज्यादा अमीरों से रुपये में १४–१५ आने कर के रूप में ले लिये जायेंगे। यह सब आय राष्ट्रीय-कल्याण के कार्यों में लगाई जायगी।

(४) **समष्टिवाद तथा साम्यवाद में भेद**—समष्टिवादी तथा साम्यवादी दोनों के मत में पूँजीवाद का विनाश किये बगैर सामाजिक पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। इन दोनों सिद्धांतों मे भेद यह है कि साम्यवाद तो हिंसात्मक-क्रांति से पूँजीवाद का विनाश करना चाहता है, समष्टिवाद हिंसात्मक-क्रांति के पक्ष में नहीं है। समष्टिवाद का कहना है कि पूँजीवादी व्यवस्था को धीरे-धीरे, क्रमशः, समाज के ढाँचे को एकदम झटका देकर नहीं अपितु जनता में प्रचार के द्वारा, विचार-परिवर्तन के द्वारा बदलना उचित है। दोनों का उद्देश्य 'उत्पादन के साधनों' (Means of production) पर, कल-कारखानों पर वैयक्तिक प्रभुत्व हटा कर राज्य का प्रभुत्व स्थापित करना है, परन्तु साम्यवाद हिंसात्मक उपायों से और समष्टिवाद वैधानिक उपायों से यह कार्य करना चाहता है। इस दृष्टि से भारत भी समष्टिवादी या राजकीय-समाजवादी देश है। समष्टिवादी लोग जनतन्त्र के उपासक हैं। वे जनता के पास अपने विचारों को रखते हैं। चुनाव लड़ते हैं। एसेम्बली तथा पार्लियामेंट में चुने जाते हैं। वहां जाकर समाजवादी कायदे-कानून पास कराते हैं और इस प्रकार लोकमत को तैयार करके वैध उपायों द्वारा समाज का पुनर्निर्माण करते हैं ? ब्रिटेन में १९४६ में बैंक ऑफ इंग्लैंड को राज्य की सम्पत्ति बना दिया गया, १९४७ में कोयले की खानों को राज्य के आधीन कर दिया गया। भारत में इन्श्योरेंस के काम को राज्य ने ले लिया। ये सब कार्य सामाजिक-साम्यवाद के दृष्टांत हैं।

(५) **समष्टिवाद द्वारा उद्योगों का राष्ट्रीयकरण**—समष्टिवाद तथा साम्यवाद दोनों सामाजिक-पुनर्निर्माण में निम्न लक्ष्यों को लेकर चलते हैं :—

(i) उत्पादन के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व हटा कर राज्य का स्वामित्व,

(ii) आर्थिक-व्यवस्था का वर्ग-विशेष के हित में न हो कर सबके हित में होना,

(iii) सम्पत्ति का उचित तथा न्यायसंगत विभाजन।

इन तीनों उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए समष्टिवाद उद्योगों का वैधानिक राष्ट्रीयकरण करने की योजना प्रस्तुत करता है, साम्यवाद की तरह हिंसात्मक उपायों से इन समस्याओं का हल नहीं करता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के लिए समष्टिवाद उद्योगों को तीन श्रेणियों में बांटता है—प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी, तृतीय श्रेणी।

(i) **प्रथम श्रेणी के उद्योग**—इस श्रेणी में बैंक, लोहे के कारख़ाने, कोयले की खानें, बिजली, रेल, तार, टेलीफोन आदि आ जाते हैं, जिन्हें तुरन्त राज्य को अपने हाथ में ले लेना चाहिए। ये 'आधारभूत उद्योग' (Key industries) हैं।

(ii) **द्वितीय श्रेणी के उद्योग**—इस श्रेणी में कागज़, तेल, साबुन, दिया-सलाई, कपड़ा, शीशे का सामान, आदि उद्योग हैं जो आधारभूत उद्योग तो नहीं हैं, परन्तु जिन्हें धीरे-धीरे राष्ट्र को अपने हाथ में ले लेना चाहिए।

(iii) **तृतीय श्रेणी के उद्योग**—इस श्रेणी में छोटे-छोटे गृहोद्योग आ जाते हैं जिनके राष्ट्रीयकरण पर समष्टिवाद बल नहीं देता।

(६) **राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था**—कुछ उद्योग केन्द्रीय होंगे, कुछ स्थानीय। केन्द्रीय उद्योगों की व्यवस्था केन्द्रीय सरकार करेगी, स्थानीय-उद्योगों की व्यवस्था स्थानीय निकाय, अर्थात् म्युनिसिपैलिटी, सिटी बोर्ड आदि करेंगे। राष्ट्रीयकरण का यह अर्थ नहीं है कि सब उद्योगों का प्रबन्ध केन्द्रीय-सरकार ही करे। इन उद्योगों में काम करने वाले सब कर्मचारी सरकारी नौकर होंगे और सब को इतना वेतन मिलेगा जिनमें उनकी आवश्यकताओं की पूर्त्ति हो सके।

(७) **समष्टिवाद का मूल्यांकन तथा उसकी आलोचना**—समष्टिवाद के विषय में कम्युनिस्ट तो यह कहते हैं कि यह अध-कचरा सिद्धांत है, न यह व्यक्तिवाद है, न साम्यवाद है, दोनों में से किसी का मतलब यह हल नहीं करता; व्यक्तिवादी यह कहते हैं कि यह तो कम्युनिज़्म ही है, इससे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है। व्यक्तिवादियों का यह कहना कि समष्टिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण करता है और यह लगभग कम्युनिज़्म है, कुछ-कुछ ठीक जँचता है। जैसा हम पहले कह आये हैं, समष्टिवाद तथा कम्युनिज़्म के आधारभूत सिद्धांत एक-से हैं, भेद इतना ही है कि समष्टिवाद क्रांति का रास्ता धीरे-धीरे तय करना चाहता है, बिना खून बहाये, बिना हिंसा का सहारा लिये चलना चाहता है, कम्युनिज़्म धीरे-धीरे चलने के पक्ष में नहीं है, क्रांति के लिए उतावला है, खून बहा कर, हिंसा के द्वारा पूंजीवाद का अन्त करना चाहता है।

कम्युनिज़्म के विरोध में जो बातें कही जाती हैं, वे ही समष्टिवाद के विरोध में भी कही जाती हैं। वे क्या हैं?

(i) समष्टिवाद में वैयक्तिक लाभ नहीं होता इसलिए कार्य करने की प्रेरणा का अभाव रहता है।

(ii) समष्टिवाद में व्यवसायों का संचालन राजनीतिक नेताओं के संरक्षण में होता है। व्यवसायों में राजनीतिक-दलों की छाया आ पड़ती है, इसलिए समष्टिवाद में व्यवसाय पनपते नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) संघवाद
(SYNDICALISM)

(१) संघवाद की व्याख्या—समाज का पुनर्निर्माण करने वाले समाजवादी सिद्धांतों में तीसरा सिद्धांत 'संघवाद' है। 'समष्टिवाद' का कथन था कि राज्य ही सब-कुछ है, वैध उपायों से पूँजीवाद को नष्ट किया जा सकता है, राज्य को उचित है कि व्यवसाय तथा व्यापार का राष्ट्रीयकरण करके इन्हें अपने हाथ में ले। इन सबके विपरीत फ्रांस में एक लहर चली जिसके चलाने वालों का कहना था कि समष्टिवाद में राज्य की बागडोर राजनीतिक नेताओं के हाथ में होती है, ये लोग राज्य की सत्ता को अपने हाथ में रखने के लिए सब प्रकार के दाँवपेंच चला करते हैं, राज्य के हाथ में व्यवसाय तथा व्यापार दे देने का अर्थ होगा आर्थिक-क्षेत्र में राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व हो जाना। आर्थिक-क्षेत्र में राजनीतिज्ञों के प्रभुत्व हो जाने से वे आर्थिक-क्षेत्र में भी ऐसी आपाधापी करने लगेंगे जैसी राजनीतिक-क्षेत्र में करते हैं। मनुष्य की असली समस्या आर्थिक है। इसलिए इस समस्या का हल करने के लिए आवश्यक है कि आर्थिक-क्षेत्र में राजनीतिज्ञों का प्रभुत्व होने के स्थान में उन लोगों का प्रभुत्व हो जो आर्थिक उत्पादन करते हैं। आर्थिक-उत्पादन का काम श्रमिकों का है। व्यवसाय तथा व्यापार का संचालन न पूँजीपतियों के हाथ में होना चाहिए, न राजनीतिक नेताओं के हाथ में होना चाहिए, इनका संचालन श्रमिकों तथा मज़दूरों के हाथ में होना चाहिए। मज़दूरों द्वारा इस प्रकार व्यवसाय तथा व्यापार पर आधिपत्य जमा लेने को 'संघवाद' (Syndicalism) कहते हैं। श्रमिकों के इस प्रकार के संगठन को फ्रेंच में 'सिन्दिका' कहते हैं, उसी से अंग्रेजी के 'सिन्डीकेट' तथा 'सिण्डिकेलिज़्म' शब्द बने हैं जिसके लिए हमने 'संघवाद' शब्द का प्रयोग किया है।

(२) संघवादी संगठन तथा राज्य—संघवादी लोगों का कहना है कि जैसे आजकल राज्य का संगठन है, वैसे संघवाद में राज्य के स्थान में श्रमिक-संघों का संगठन होगा। प्रत्येक गाँव में अपने-अपने व्यवसाय के श्रमिक-संगठन होंगे, उनके प्रतिनिधि नागरिक संघों में सदस्य होकर चुने जायेंगे, नागरिक संघों के प्रतिनिधि क्षेत्रीय-संघों में, क्षेत्रीय संघों के प्रतिनिधि केन्द्रीय संघों में चुने जायेंगे। उदाहरणार्थ, शिक्षकों, डाक्टरों, वकीलों, कपड़ा बुननेवालों आदि सब व्यवसायों के गाँव, नगर, क्षेत्र, केन्द्र में श्रमिक-संघ होंगे और इन का संगठन ठीक वैसे प्रजातन्त्र के नियमों के आधार पर होगा जैसे राज्य का शासन करने वाले म्युनिसिपैलिटी, सिटी बोर्ड, एसेंबली, पार्लियामेंट आदि का होता है। प्रत्येक संघ अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होगा, संघ का प्रबन्ध संघ के सदस्य ही करेंगे। उदाहरणार्थ, शिक्षकों का, डाक्टरों का, वकीलों का, कपड़ा बुननेवालों का अपना-अपना एक राष्ट्रीय-संघ होगा, और अपने क्षेत्र में वह स्वतन्त्र होगा, उसका संचालन उस व्यवसाय के लोग ही करेंगे, दूसरे व्यवसाय के लोग उसमें हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस संघवादी संगठन में राज्य को कोई स्थान नहीं होगा। संघवाद को राज्यविहीन समाज कहा जा सकता है। इन सब संघों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में एकसूत्रता उत्पन्न करने के लिए एक व्यापक राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन का संगठन होगा जो राष्ट्रीय सेवाओं—डाक, तार, रेल, मुद्रा आदि—की व्यवस्था करेगा, वही राष्ट्रीय कल्याण, सुरक्षा आदि की योजनाओं को क्रियान्वित करेगा। इस व्यवस्था में राज्य का स्थान संघवाद लेगा, यह संघ राजनीति के दाँव-पेंच खेलने वालों का नहीं, परन्तु उत्पादकों का, श्रमिकों का, मज़दूरों का होगा। इस संगठन में मनुष्यों को राजनीतिक नेताओं के चंगुल से छुड़ाकर स्वतन्त्र कर दिया जायगा, यह एक प्रकार की श्रमिकों की क्रांति होगी। संसार में मुख्य कार्य श्रम द्वारा उत्पादन करना है, इसलिए यह संघ सारी शक्ति इन उत्पादनकर्ताओं, श्रमिकों, मज़दूरों के हाथ में दे देगा। इस संगठन में आर्थिक दृष्टि से सब समान होंगे इसलिए इसमें चोरी, लूटमार, अन्याय, अपराध न होगा, यह सब न होगा तो पुलिस, जेलखाने, न्यायालय भी न होंगे, राज्य भी नहीं होगा।

(३) **संघवाद तथा उसके साधन**—संघवाद शान्तिमय उपायों में विश्वास नहीं करता। संघवादियों का कहना है कि पूँजीपतियों के हाथ से शक्ति छीनने के लिए वर्ग-संघर्ष करना होगा। इस दृष्टि से संघवादी तथा कम्युनिस्ट एक ही विचार-धारा के हैं। संघवाद के अपने उद्देश्य को पूर्ण करने के निम्न साधन हैं :—

(i) **हड़तालें।**

(ii) **संघ की छाप**—इसका अर्थ यह है कि जिस सिन्डीकेट के लोग संघ की शर्तों को स्वीकार करेंगे उन्हीं के माल पर संघ की छाप, संघ का लेबल लगेगा और जनता से कहा जायगा कि संघ की छाप वाले माल को ही खरीदे, दूसरे को नहीं।

(iii) **बहिष्कार**—जो संघ के कायदे-कानून को न माने, उसका बहिष्कार किया जाय।

(iv) **क्षति पहुँचाना (सैबोटेज)**—जो कारखाने संघ के कायदे-कानून को न मानें, उन्हें कारखाने के मज़दूर क्षति पहुँचाएँ। क्षति पहुँचाने का तरीका है, जान-बूझ कर काम कम करना, मशीनों को तोड़-फोड़ देना, माल को बिगाड़ देना, कारखाने के विरुद्ध झूठी खबरें फैला देना।

संघवादियों का कथन है कि इन उपायों से वे समाज की आर्थिक चालू व्यवस्था को नष्ट-भ्रष्ट कर समाज का नव-निर्माण कर सकते हैं।

(४) **संघवाद का मूल्यांकन तथा आलोचना**—संघवाद की आलोचना के संबंध में मुख्य तौर पर तीन बातें कही जाती हैं :

(i) **उपभोक्ता का हित नहीं देखा जाता**—संघवाद में 'उत्पादक' (Producer) का हित तो देखा जाता है, उपभोक्ता (Consumer) का हित नहीं देखा जाता। इस बात की कोई गारन्टी नहीं है कि उत्पादक या श्रमी वर्ग अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर उपभोक्ताओं को नुकसान नहीं पहुँचायेंगे। जहाँ 'उत्पादक' का स्वार्थ सुरक्षित रहना चाहिए, वहाँ 'उपभोक्ता' का स्वार्थ भी सुरक्षित रहना चाहिए। संघवाद में इसकी कोई व्यवस्था नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) **उग्र उपाय**—अपने अधिकारों को प्राप्त करने के दो उपाय होते हैं, —एक तो वैधानिक उपाय, दूसरे अवैधानिक उपाय। वैधानिक उपाय का अर्थ है राजनीतिक उपाय, अपना बहुमत तैयार करके अपनी बात को बहुमत के ज़ोर पर मनवाने का उपाय; अवैधानिक उपायों का अर्थ है उग्र उपायों का अवलम्बन करना, तोड़-फोड़ करना, लड़ना-झगड़ना। संघवाद वैधानिक उपायों की अपेक्षा अवैधानिक उपायों का अवलम्बन करता है, राजनीतिक उपायों की अपेक्षा हिंसात्मक उपायों का अवलम्बन करता है जो अनुचित है।

(घ) गिल्ड-समाजवाद
(GUILD SOCIALISM)

(१) **गिल्ड समाजवाद की व्याख्या**—'संघवाद' (Syndicalism) का जन्म फ्रांस में हुआ। संघवाद की ही विचारधारा इंग्लैंड में पहुँची। वहाँ इसका नाम 'गिल्ड-समाजवाद' (Guild socialism) पड़ा। फ्रांस के 'संघवाद' का जो रूप था उसमें कुछ बुराइयाँ थीं। उदाहरणार्थ, संघवाद केवल उत्पादकों के हित की तरफ़ ध्यान देता था, उपभोक्ताओं के हित की तरफ़ नहीं ध्यान देता था। संघवादी संगठन सिर्फ उत्पादकों का, मज़दूरों का संगठन था, उपभोक्ताओं को इसमें अपनी आवाज़ उठाने का अधिकार नहीं था। इसी तरह संघवाद उग्र उपायों का उपयोग करता था, उसमें वैधानिक उपायों का उपयोग करने की गुंजायश नहीं थी। ब्रिटिश स्वभाव उग्रता का पक्षपाती नहीं है, उसमें मृदुता का, कोमलता का अंश अधिक है। इसीलिए जब संघवाद ने ब्रिटेन में प्रवेश किया तब संघवाद के ये दोनों दोष दूर करने का प्रयत्न किया गया। वह कैसे ?

(i) **उत्पादकों के साथ-साथ उपभोक्ताओं के हितों को ध्यान में रखना**—संघवाद तथा गिल्ड-समाजवाद दोनों में आधारभूत सिद्धांत यह है कि पूँजीपतियों की सत्ता को समाप्त किया जाय और आर्थिक उत्पादन करने वाले, कारखानों में काम करनेवाले श्रमिकों के हाथ में सत्ता दी जाय। इसके लिए फ्रांस में सिन्डीकेटों तथा ब्रिटेन में गिल्डों के संगठन पर बल दिया गया। इनमें कारखाने के मज़दूर, क्लर्क, इन्जीनियर आदि को सिन्डीकेट या गिल्ड का सदस्य समझा गया। स्थानीय, क्षेत्रीय तथा केन्द्रीय सिन्डीकेटों या गिल्ड बनाने की व्यवस्था की गई। यहाँ तक तो उत्पादकों का संगठन है, और यहाँ तक संघवाद तथा गिल्ड समाजवाद दोनों एक-समान हैं। इसके आगे दोनों में भेद शुरू होता है।

वह भेद क्या है ? जैसा हमने कहा, संघवादी अपने संघ में सिर्फ़ उत्पादकों को, श्रमिकों को स्थान देते हैं। गिल्ड समाजवादी अपने संगठन में उपभोक्ताओं को भी स्थान देते हैं। उनका कहना है कि अगर सारा संगठन श्रमिकों के हाथ में होगा तो वे अपने स्वार्थ के लिए, अपना लाभ बढ़ाने के लिए वस्तुओं का मनमाना दाम निश्चित करेंगे, श्रमिक ही एक प्रकार के पूँजीपति हो जायेंगे, और पूँजीपति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की जिन बुराइयों को समाजवाद दूर करना चाहता है, वे सामने आ खड़ी होंगी। इसका इलाज यह है कि श्रमिकों के संघ की तरह उपभोक्ताओं का एक जुदा संगठन होना चाहिए। जैसे स्थानीय, क्षेत्रीय तथा केन्द्रीय संगठन श्रमिकों के हों, वैसे ही स्थानीय, क्षेत्रीय तथा केन्द्रीय संगठन उपभोक्ताओं के हों। इनके अतिरिक्त इन दोनों के सम्मिलित संगठन हों, उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के। ये सम्मिलित संगठन परस्पर विचार-विनिमय करके तय करें कि किस वस्तु का क्या दाम हो। इस प्रकार उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं—दोनों के हित सुरक्षित रहेंगे और धनिकों के पूँजीवाद की जगह श्रमिकों के पूँजीवाद का खतरा जाता रहेगा। गिल्ड समाजवाद का संघवाद से यही भेद है कि संघवादी तो सिर्फ उत्पादकों के संघ का निर्माण करके चुप बैठ जाते हैं, गिल्ड-समाजवादी उत्पादकों के साथ उपभोक्ताओं के संघ का निर्माण करते हैं और केन्द्र में एक 'सर्वोपरि सम्मिलित संघ' (Supreme joint committee) का निर्माण करते हैं जिसमें उत्पादकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की समान संख्या हो और जो वस्तुओं के दाम निश्चित करे।

(ii) **उग्र उपायों के स्थान में मध्यम गति के उपायों का प्रयोग करना**—संघवादी कहते हैं कि पूँजीपति अपने-आप अपनी सत्ता को नहीं छोड़ेंगे, गिल्ड-समाजवादी भी इस बात में सहमत हैं। दोनों में भेद यह है कि संघवादी तो उग्र उपायों का प्रयोग करते हैं, गिल्डवादी कहते हैं कि श्रमिकों को धीरे-धीरे अपनी शक्ति बढ़ानी होगी। उदाहरणार्थ, मजदूरों को चाहिए कि पहले वे कारखाने के मालिक को कहें कि अपने फोरमैन को वे स्वयं चुनेंगे, जिसे वे स्वयं चुनेंगे उसकी बात तो वे सहज रूप से मानेंगे ही। इस बात को कारखाने का मालिक आसानी से मान जायगा। इसके बाद वे ये माँग रखें कि किसी नये मजदूर को रखते हुए या पुराने को हटाते हुए उनकी सलाह ली जाया करे क्योंकि आपस में काम करना या न करना तो उन्हें ही है। इसके बाद वे ये माँग रखें कि उनके नियन्त्रण के नियम बनाते हुए उनकी सलाह ली जाया करे। इस प्रकार धीरे-धीरे ऐसे कदम उठाते जायें, जिन्हें कारखाने का मालिक अपने तथा मजदूरों दोनों के हित में समझे और अन्त में ऐसी अवस्था आ जाय जिसमें कारखाने के मालिक नाममात्र के मालिक रह जायें। पूँजीपतियों को अपने स्थान से हटा देना तो उक्त दोनों का उद्देश्य है, परन्तु गिल्डवादियों का कहना है कि बेतहाशा भागने की अपेक्षा धीरे-धीरे चलना अधिक उपयुक्त है।

(२) **गिल्ड-समाजवाद तथा राज्य**—गिल्ड-समाजवादियों के राज्य के विषय में क्या विचार हैं? इस संबंध में इनकी दो विचारधाराएँ पाई जाती हैं। एक हाब्सन की, दूसरी कोल की। ये दोनों विचारधाराएँ क्या हैं?

(i) **हाब्सन की विचारधारा राज्य को सर्वोपरि मानती है**—हाब्सन का कहना है कि समाज में भिन्न-भिन्न संगठन समाज के भिन्न-भिन्न वर्गों के हितों की रक्षा के लिए बनते हैं। समाज का सबसे बड़ा हित आर्थिक है। गिल्ड ऐसा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संगठन हैं जो समाज के आर्थिक ढाँचे का पुनर्निर्माण करेगा, नई अर्थ-व्यवस्था का संचालन करेगा। गिल्ड का काम होगा कि राज्य को समाज की अर्थ-व्यवस्था के संचालन के काम से मुक्त कर दे। गिल्ड का काम अर्थ-व्यवस्था का संचालन हो और राज्य का काम देश की राजनीतिक व्यवस्था का, नागरिक व्यवस्था का संचालन हो। राज्य देश की अर्थ-व्यवस्था को स्वतन्त्र रूप से चलने दे, उसमें हस्तक्षेप न करे। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य की सत्ता गिल्ड की सत्ता के बराबर होगी। राज्य तो हर हालत में सर्वोपरि रहेगा। देश में शान्ति, सुरक्षा, पुलिस का काम गिल्ड नहीं कर सकते। जब आर्थिक व्यवस्था में कोई ऐसा प्रश्न उपस्थित हो जाय जिसका प्रभाव देश के हर नागरिक पर पड़े तब हाब्सन के अनुसार राज्य को अर्थ-व्यवस्था में भी हस्तक्षेप करना होगा। उदाहरणार्थ, अगर विदेश से सस्ते श्रमिक आने लगें और उनके कारण देश की अर्थ-व्यवस्था छिन्न-भिन्न होने लगे, तब राज्य के सिवाय कौन इस समस्या का हल कर सकता है। इस दृष्टि से देश के भिन्न-भिन्न आर्थिक संगठनों के स्वतन्त्र होते हुए भी राज्य सर्वोपरि सत्ता ही है।

(ii) **कोल की विचारधारा राज्य को सर्वोपरि नहीं मानती**—कोल की विचारधारा हाब्सन से भिन्न है। उसका कहना है कि राज्य सर्वोपरि सत्ता नहीं है। मानव-समाज में अनेक समुदाय हैं, और उन अनेकों में राज्य भी एक समुदाय है। उदाहरणार्थ, समाज में एक धार्मिक समुदाय है, एक आर्थिक समुदाय है, एक राजनीतिक समुदाय है। इन सबकी सत्ता राज्य से कम नहीं है। यह हो सकता है कि राज्य की बात को कोई धार्मिक-समुदाय मानने को तैयार न हो, और राज्य को उस धार्मिक समुदाय के सामने झुकना पड़े। युरोप के मध्यकालीन इतिहास में ऐसे दृष्टांत पाये जाते हैं जहाँ चर्च ने राजाओं को दण्ड दिया। ऐसा भी समय आया, जब राज्य तथा चर्च की सत्ता एक-समान थी। इसी प्रकार श्रमी-संघ भी एक ऐसा समुदाय है, जो कभी-कभी राज्य का प्रतिद्वंद्वी बन जाता है, लोग राज्य का साथ देने के स्थान में अपने संघ का साथ देते हैं। **प्रो० लास्की** ने लिखा है कि अमरीका में रेलवे यूनियन ने सरकार को विवश करके मजदूरों के कार्य करने के घंटे ८ से ज्यादा न हों—यह निश्चय कराया। इंग्लैंड में वेल्स के श्रमी-संघ ने खानों के श्रमिकों की माँगों को सरकार से ज़बर्दस्ती स्वीकृत कराया। इस सब का अभिप्राय यह है कि श्रमिकों का आर्थिक संगठन ठीक ऐसा संगठन है, जैसा राज्य का संगठन। दोनों संगठन स्वतन्त्र हैं। इसी प्रकार अन्य संगठन भी हो सकते हैं जो अपनी सत्ता रखता हो, जिस पर राज्य का नियन्त्रण न हो, जो राज्य से सर्वथा स्वतन्त्र हो। इस प्रकार स्वतन्त्र समुदायों की सत्ता को मानने का सिद्धांत 'बहुसमुदायवाद' (Pluralism) कहलाता है। कोल का कहना है कि राज्य सर्वोपरि सत्ता नहीं है, राज्य तथा गिल्ड सम-कक्ष सत्ताएँ हैं, बराबर की सत्ताएँ हैं, और राज्य को आर्थिक-संगठनों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोल के अनुसार देश की व्यवस्था के लिए तीन समुदाय होने आवश्यक हैं। वे तीन समुदाय निम्न हैं :—

(अ) केन्द्रीय पार्लियामेंट (इसका काम देश की रक्षा करना आदि होगा)।

(आ) स्थानीय स्वशासन संस्थाएँ (म्युनिसिपैलिटी, जिला बोर्ड, आदि जिनका काम स्थानीय कार्य करना, स्वास्थ्य आदि की देख-भाल होगा)।

(इ) गिल्ड (ये राज्य की संपूर्ण आर्थिक-व्यवस्था का संचालन करेंगे)।

इस प्रकार राज्य तथा गिल्ड एक-दूसरे से स्वतन्त्र होंगे, सम-कक्ष होंगे, एक-दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस प्रकार आर्थिक-क्षेत्र को सर्वथा स्वतन्त्र कर देने से ही समाज का पुनर्निर्माण हो सकता है—यह कोल सदृश गिल्डवादियों का कथन है।

(३) गिल्ड-समाजवाद का मूल्यांकन तथा आलोचना—'समष्टिवादी' (Collectivists) वैधानिक उपायों द्वारा, प्रचार, आन्दोलन, पार्लियामेंट द्वारा पूँजीवाद का विनाश करना चाहते हैं; 'संघवादी' (Syndicalists) उग्र उपायों द्वारा, अवैधानिक उपायों द्वारा, तोड़-फोड़ द्वारा पूँजीवाद को नष्ट करना चाहते हैं; गिल्ड-समाजवादी (Guild socialists) इन दोनों के बीच के रास्ते पर चलते हैं। ये न तो पार्लियामेंट आदि में विश्वास करते हैं, न तोड़-फोड़ में। इनका मध्य-मार्ग है—धीरे-धीरे चलना, राज्य की सहायता द्वारा नहीं, तोड़-फोड़ द्वारा भी नहीं, अपितु अपने संगठन को मज़बूत करके, गिल्डों के साधन से आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना। ये पूँजीपतियों से सीधी लड़ाई नहीं मोल लेते, न राज्य की सहायता से कानूनों के ज़रिये लड़ते हैं, ये तो थोड़ा-थोड़ा करके, धीरे-धीरे अपने अधिकारों को बढ़ाते जाते हैं, यहाँ तक कि उन्हें बढ़ाते-बढ़ाते कारख़ानों पर ये ही छा जायें—ऐसी अवस्था ला देना चाहते हैं।

(ङ) अराजकवाद
(ANARCHISM)

'अराजकवाद' तथा 'अराजकतावाद' में भेद है। 'अराजकवाद' का अर्थ है, ऐसा संगठन जिसमें राज्य की कल्पना न हो, 'अराजकतावाद' का अर्थ है ऐसा संगठन जिसमें किसी प्रकार की व्यवस्था ही न हो, आपा-धापी हो। ऐसा कोई 'वाद' नहीं है, जो व्यवस्था को ही न मानता हो, इसलिए 'अराजकतावाद' कोई वाद नहीं है। हाँ, 'अराजकवाद' एक 'वाद' है जिसका अर्थ है—सुव्यवस्था तो हो परन्तु वह सुव्यवस्था राज्य के ज़रिये न हो।

(१) अराजकवाद की व्याख्या—अराजकवाद का कहना है कि आदर्श समाज वह है जिसमें राज्य की सत्ता न हो, जो 'राज्य-विहीन' (Stateless) हो। राज्य की उत्पत्ति कैसे होती है? कुछ ज़बर्दस्त लोग दूसरों को अपने क़ाबू कर लेते हैं, और अपनी मनमानी चलाते हैं। राज्य से उनका उल्लू सीधा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होता है, उनका स्वार्थ पूरा होता है, सर्व-साधारण का इससे हित नहीं होता। प्रजातन्त्र में भी क्या होता है? प्रजातन्त्र में भी गुट बन जाते हैं और सब अपने गुटों का हित साधने में जुट जाते हैं। प्रजातन्त्र में यह हो सकता है कि देश में बीस पार्टियां हों, इनमें से एक पार्टी को जितने वोट मिलें, उनसे कहीं अधिक वोट दूसरी पार्टियों के मिलाकर हो जाते हों, परन्तु अलग-अलग उनके वोट कम रहते हों। ऐसी हालत में कम वोट होने पर भी सबसे अधिक संगठित पार्टी शासन करती है और अपने से भिन्न मत वालों पर ज़बर्दस्ती करती है। प्रजातन्त्र में भी जो लोग एक बार चुने जाते हैं, फिर उनका निर्वाचकों की तरफ़ ध्यान नहीं रहता, वे अपनी ही चलाते हैं। अगर प्रजातन्त्र में भी ज़बर्दस्ती का अंश रहता है तब मानना पड़ेगा कि राज्य का आधार ज़बर्दस्ती है। अराजकवादी **श्री जोड** (Joad) का कहना है कि अराजकवाद का उद्देश्य मनुष्य को किसी भी प्रकार के राज्य की इस ज़बर्दस्ती से छुड़ाना है, उसे स्वतन्त्र करना है। कैसे छुड़ाना है? नागरिक की हैसियत से 'राज्य' की ज़बर्दस्ती से, उत्पादक की हैसियत से 'पूँजीवाद' की ज़बर्दस्ती से, विचारक की हैसियत से 'धर्म' से। इस समय राज्य, पूँजीवाद तथा धर्म के बंधनों से हम जकड़े हुए हैं, इनके राज्य से मानव-समाज को मुक्त कर देना 'अराजकवाद' है।

(२) अराजकवाद में व्यवस्था कैसे रह सकेगी? 'अराजकवाद' का सबसे प्रबल समर्थक **क्रोपोटकिन** (Kropotkin) को कहा जाता है। वे रूस के निवासी थे। उनका कहना है कि यह समझना कि राज्य नहीं होगा तो लोग एक दूसरे को खा जायेंगे, एक-दूसरे को लूटेंगे, गलत धारणा है। डार्विन का सिद्धांत कि बलवान् कमज़ोर को पछाड़ देता है, गलत है। निम्न श्रेणी के प्राणियों में भी वही प्राणी जीवित रहते हैं जो परिस्थिति के साथ संघर्ष करते हुए एक-दूसरे की सहायता करते हैं, एक-दूसरे के साथ संघर्ष तथा स्पर्धा नहीं, सहयोग से चलते हैं। मानव-जगत् में तो सहयोग का सिद्धांत आधारभूत सिद्धांत है। अगर किसी समुदाय में 'सहयोग' की अपेक्षा 'संघर्ष तथा स्पर्धा' की मात्रा अधिक है तो उस समुदाय का विनाश अवश्यंभावी है। मनुष्य स्वभाव से लड़ने-झगड़ने वाला, लूट-मार करने वाला नहीं है। स्वभाव से वह सहयोगी, शान्तिप्रिय तथा व्यवस्थाप्रिय है। इसलिए अगर हम अपनी सामाजिक-व्यवस्था में से ज़बर्दस्ती करने वाली दो चीज़ों को निकाल दें तो समाज में व्यवस्था अपने-आप हो जायेगी, उसके लिए राज्य की आवश्यकता नहीं होगी। ज़बर्दस्ती करनेवाली दो चीज़ क्या हैं? क्रोपोटकिन का कहना है कि वे दो चीज हैं—हमारी 'स्पर्धात्मक आर्थिक व्यवस्था' (Competitive economic system) तथा 'बलप्रयोगात्मक राजनीतिक व्यवस्था' (Coercive political system)। 'स्पर्धात्मक आर्थिक व्यवस्था' न हो, 'बलप्रयोगात्मक राजनीतिक व्यवस्था' न हो तो इनके स्थान में कौन-सी व्यवस्था हो? इसका उत्तर क्रोपोटकिन ने यह दिया है कि इनके स्थान में 'ऐच्छिक समितियाँ' (Voluntary associations)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हों, जिनमें ज़बर्दस्ती का कोई अंश न हो। हम यहाँ इन तीनों की व्याख्या करेंगे।

(i) **स्पर्धात्मक आर्थिक-व्यवस्था का अन्त** (Abolition of competitive economic system)—अराजकवादियों का कहना है कि आज की आर्थिक-व्यवस्था 'स्पर्धात्मक' है। इसका परिणाम यह होता है कि कुछ लोग 'स्पर्धा' के द्वारा अधिक सम्पत्ति इकट्ठी कर लेते हैं, कुछ पीछे रह जाते हैं। अधिक सम्पत्ति वाले 'पूँजीवादी' और बिना सम्पत्ति वाले 'निर्धन' रह जाते हैं। 'पूंजीवादी' व्यवस्था को नष्ट करने के लिए समाज की आर्थिक रचना 'स्पर्धा' (Competition) पर आश्रित नहीं होनी चाहिए। समाज का आर्थिक-निर्माण 'स्पर्धा' के स्थान में 'सहयोग' (Co-operation) पर आश्रित होना चाहिए। जहाँ सहयोगी भावना आयी वहां आर्थिक विषमता अपने-आप दूर होने लगेगी।

'सहयोग' की आर्थिक-व्यवस्था का क्या रूप होगा ? आर्थिक-व्यवस्था के दो छोर हैं—एक है सम्पत्ति के 'उत्पादन' का, दूसरा है सम्पत्ति के 'वितरण' का। सम्पत्ति के 'उत्पादन' (Production) के संबंध में अराजकवादियों का कथन है कि कारख़ानों तथा भूमि पर, उत्पादन के साधनों पर, व्यक्ति का नहीं, समाज का अधिकार होना चाहिए। श्रमिकों के संघ इन कारख़ानों का संचालन करें, और वैयक्तिक सम्पत्ति की भावना को समाप्त कर दिया जाय। सम्पत्ति के 'वितरण' (Distribution) के संबंध में अराजकवादियों का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री बिना मूल्य दी जानी चाहिए। वैयक्तिक सम्पत्ति या पूँजीवाद तभी बनता है जब आवश्यक जीवनोपयोगी सामग्री किसी को कम, किसी को अधिक मिलती है। जब सब को जीवनोपयोगी सामग्री समान रूप से मिलेगी, तब पूँजी जमा करने का, बैंक बैलेंस बढ़ाने का किसी को प्रलोभन न होगा और पूँजीवाद अपने-आप समाप्त हो जायगा। काम सब यथा-शक्ति करेंगे, अपनी सामर्थ्य के अनुसार, परन्तु सब की आवश्यकताओं की पूर्ति बराबर की जायगी।

क्रोपोटकिन का कहना है कि आवश्यक सामग्री सबको बिना मूल्य के मिलनी चाहिए, वितरण का यही सिद्धांत ठीक है। जो लोग कहते हैं कि अगर सब-कुछ मुफ़्त मिलने लगा तो काम कौन करेगा इस का उत्तर कोपोटकिन यह देता है कि काम करना तो मनुष्य के स्वभाव में है। पेंशनर लोग भी बेकार बैठना नहीं चाहते। मनुष्य कुछ देर बिना कुछ किये बैठ सकता है, परन्तु काम करे ही नहीं—ऐसा नहीं होता। 'कार्यते ह्यवशं कर्म स्वभावैः प्रकृतिजैर्गुणैः।'—मनुष्य न भी चाहे तो भी उसका स्वभाव ही ऐसा है कि कर्म के बिना वह रह नहीं सकता। इसलिए यह कहना व्यर्थ है कि सबको सब-कुछ बिना दाम के मिलने लगेगा तब काम कौन करेगा ?

(ii) **बलप्रयोगात्मक राजनीतिक-व्यवस्था का अन्त** (Abolition of coercive political system)—स्पर्धात्मक आर्थिक-व्यवस्था को हटा देने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से समाज का पुनर्निर्माण होगा, इसके साथ दूसरी वस्तु जिससे समाज का अराजकवादी पुनर्निर्माण करना चाहते हैं, वह है राज्य को ही समाप्त कर देना। कुछ लोग राज्य के विरुद्ध होते हुए भी इसे एक 'आवश्यक' बुराई मानते हैं, अराजकवादी राज्य को बुराई ही नहीं मानते, 'अनावश्यक बुराई' (Unnecessary evil) मानते हैं। उनका कहना है कि राज्य बल-प्रयोग का नाम है, बल-प्रयोग के लिए ही पुलिस, सेना, न्यायालय, जेल, कानून आदि बनते हैं। इन सबमें व्यवस्था नहीं अव्यवस्था होती है। जब शासन किया जाता है तब शासन तोड़ने की प्रवृत्ति बढ़ती है, कानून बनते हैं, तब कानूनों को तोड़ा जाता है।

(iii) ऐच्छिक समितियों का निर्माण (Formation of Voluntary associations)—प्रश्न यह रह जाता है कि अगर बल-प्रयोग न हो तो देश में व्यवस्था कैसे होगी ? अराजकवादियों का कहना है कि अराजक-समाज का संगठन बल-प्रयोग के आधार पर नहीं होगा, भिन्न-भिन्न सामाजिक-संगठनों की स्वतन्त्र इच्छा के आधार पर होगा। अगर लोगों को घरों की आवश्यकता है तो ऐसे लोग अपने आप इकट्ठे हो जायेंगे, जिन्हें घरों की ज़रूरत है और उनका एक संगठन अपने आप बन जायगा। अगर माता-पिता को बच्चों को पढ़ाने की आवश्यकता है तो ऐसे माता-पिता इकट्ठे हो जायेंगे, अपने-आप एक संगठन बना लेंगे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए आवश्यकता पड़ने पर अपने आप ऐच्छिक समितियाँ बन जायेंगी। शिक्षा का कार्य करनेवाली ऐच्छिक समितियाँ, उत्पादन का कार्य करनेवाली ऐच्छिक समितियाँ, उद्योग तथा व्यवसाय का कार्य करने वाली ऐच्छिक समितियाँ—ये अपने-आप बनती चली जायेंगी और अपने नियम अपने-आप बना लेंगी। ये सब ऐच्छिक-समितियाँ पूर्ण रूप से स्वतन्त्र होंगी, अपने पदाधिकारियों को अपने-आप चुनेंगी, अपने-आप अपनी व्यवस्था करेंगी। क्रोपोटकिन ने इन 'ऐच्छिक-समितियों' को 'कम्यून' (Commune) का नाम दिया है।

इन 'कम्यूनों' का संगठन स्थानीय, क्षेत्रीय तथा केन्द्रीय होगा। उदाहरणार्थ, ज़िले भर के सब कम्यूनों के प्रतिनिधि मिलकर ज़िला-कम्यून को बनायेंगे, ज़िला-कम्यूनों से प्रतिनिधि भेजे जायेंगे जिनसे क्षेत्रीय-कम्यून बनेंगे, क्षेत्रीय-कम्यूनों के प्रतिनिधि मिलकर प्रांतीय या केंद्रीय कम्यून बनायेंगे। यही सिलसिला जब संसार भर में चल जायगा तो भिन्न-भिन्न देशों के प्रतिनिधि मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय कम्यून बनायेंगे, और जो कार्य इस समय राज्य करता है वही कार्य ये स्वेच्छा से बने ज़िले के, क्षेत्र के, प्रांत के, केन्द्र के, अन्तर्राष्ट्र के कम्यून करेंगे। इस प्रकार संपूर्ण समाज राज्य के बलप्रयोग पर संगठित न होकर सबकी सहयोग की स्वतन्त्र इच्छा पर संगठित होगा। ऐसी हालत में अव्यवस्था कहाँ रहेगी।

(३) अराजकवाद का मूल्यांकन तथा आलोचना—अराजकवाद का मूल्यांकन तथा इसकी आलोचना करते हुए निम्न बातों पर ध्यान देना होगा :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) इसमें सन्देह नहीं कि राज्य के द्वारा संसार में युद्धों का सूत्रपात होता है, एक देश दूसरे देश का शत्रु हो जाता है। संसार के दो विश्व-युद्ध राज्यों द्वारा ही लड़े गये थे। इससे कहा जा सकता है कि राज्य का विचार विश्व के लिए हितकर नहीं है, परन्तु यह बात भी ठीक है कि राज्य ही संसार मे सभ्यता ,संस्कृति, विज्ञान, कला, धर्म, दर्शन का रक्षक है। राज्य की संस्था में इनका जितना विकास हो सकता है, उतना दूसरी तरह नहीं।

(ii) क्रोपोटकिन् का यह कथन कि डार्विन का बलशाली का निर्बल को खा जाने का सिद्धांत प्रकृति में नहीं चल रहा, ठीक नहीं है। प्रकृति में बलवान् निर्बल को निगल रहा है। मनुष्यों में स्वार्थ, संघर्ष चारों तरफ़ दिखाई देता है। यह कहना कि मनुष्य सहयोग से ही चलता है, आदर्शवादी कल्पना है।

(iii) यह कहना कि सबको सब-कुछ एक-समान बाँट दिया जाय—यह भी आदर्शवादी कल्पना है। अगर सब-कुछ बिना हाथ-पैर चलाये मिलने लगे तो निकम्मों की भरमार हो जायगी। यह ठीक है कि मनुष्य के काम बगैर नहीं रहता, परन्तु इसकी क्या गारन्टी है कि जिन लोगों को घर बैठे सब-कुछ मिलेगा वे वही काम करेंगे जो समाज की दृष्टि से उत्पादक तथा लाभप्रद होगा।

(च) गांधीवाद*
(GANDHISM)

महात्मा गांधी के सामाजिक पुनर्निर्माण के विचार भारतीय परिस्थितियों को देख कर बने थे। गांधीवाद को समझने के लिए गांधी जी के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक विचारों को समझना ज़रूरी है। इन चारों पर हम यहां प्रकाश डालेंगे।

[गाँधी जी के आर्थिक पुनर्निर्माण के विचार]

(१) **ग्रामीण पुनर्निर्माण**—भारत ग्राम-प्रधान देश है इसलिए महात्मा गांधी का कहना था कि भारत का नक्शा बदलना हो तो ग्रामों का नक्शा बदलना होगा। भारत की सामाजिक रचना इस समय इतनी अस्त-व्यस्त हो चुकी है कि जब तक भारतीय-समाज की इकाई—ग्राम का सुधार नहीं किया जाता तब तक भारतीय समाज का सुधार नहीं हो सकता। उनका कहना था कि ग्रामों को आत्म-निर्भर होना चाहिए। मनुष्य की आधारभूत आवश्यकताएँ दो हैं—अन्न तथा वस्त्र। ग्रामों में इतना अन्न उत्पन्न होना चाहिए कि उन्हें दूसरे का मुँह न ताकना पड़े। ग्रामों में रुई भी इतनी पैदा होनी चाहिए कि बाहर से कपड़ा न मँगाना पड़े। प्रत्येक ग्राम में खड्डियाँ होनी चाहिएँ, जुलाहे इतना कपड़ा तैयार कर दें कि गाँव की ज़रूरियात वहीं से पूरी हो जायें। आजकल के उद्योगीकरण से गाँव खाली

---

* **Give briefly history of social reform movement in India with special reference to the role of Mahatma Gandhi. (1962)**
(इस प्रश्न के उत्तर के लिये अध्याय ९ भी देखिये)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होते जाते हैं, भारत का नक्शा बदलता जा रहा है। यह देश के हित में नहीं है। जिन लोगों को खुली हवा में रहने का अभ्यास है, जिनका स्वास्थ्य स्पृहणीय है, वे शहरों में जा बसते हैं, अपना स्वास्थ्य, अपनी आज़ादी सब-कुछ खो देते हैं। बड़े-बड़े उद्योगों के स्थान में लघु-उद्योग होने चाहिएँ ताकि ग्राम के लोग अपने घरों में रहकर आजीविका का उपार्जन कर सकें। गाँव को रहने का आदर्श स्थान बनाना चाहिए। वहाँ शिक्षा, स्वास्थ्य, जल आदि का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। गाँव में ही सब प्रकार की सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। गाँवों के इस प्रकार के जीवन को वे राम-राज्य का नाम देते थे।

(२) **गांधी जी की आर्थिक-योजना का पहला तत्व समाज-कल्याण था**—गांधी जी ने अपनी आर्थिक विचारधारा का नाम 'सर्वोदय विचारधारा' रखा था। 'अर्थशास्त्र' की प्रचलित विचारधारा तथा 'सर्वोदय' की विचारधारा में मौलिक भेद है। ये दोनों यह तो स्वीकार करते हैं कि उद्योग के क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में मनुष्यों का आपसी व्यवहार प्रेम, सद्भावना, सेवा आदि पर आश्रित रहता है। सैनिक, डाक्टर, वैद्य, वकील, अध्यापक आदि के पेशे में धनोपार्जन का उद्देश्य तो रहता है, परन्तु इन व्यवसायों का प्रधान-उद्देश्य समाज के लिए उपयोगिता होना, और गौण उद्देश्य अर्थोपार्जन होता है। प्रचलित 'अर्थशास्त्र' तथा 'सर्वोदय' में पहला भेद यह है कि प्रचलित अर्थशास्त्र यह मानकर चलता है कि उद्योग के क्षेत्र में अर्थोपार्जन मुख्य है, समाज के कल्याण की भावना गौण है। अन्य व्यवसायों का मूल त्याग-भावना है, उद्योग का मूल स्वार्थ-भावना है। अन्य व्यवसायों को करते हुए पैसा कमाया जाता है, व्यापार-उद्योग मुख्य तौर पर पैसा कमाने के लिए ही किये जाते हैं। इसीलिए मालिक-मज़दूर में सदा संघर्ष और तनातनी चला करती है। महात्मा गांधी की 'सर्वोदय' की विचार-धारा अर्थशास्त्र के प्रचलित इस विचार से उल्टी है। 'सर्वोदय' का कहना यह है कि जैसे सैनिक, डाक्टर, वकील, अध्यापक आदि अन्य व्यवसायों में सामाजिक-कल्याण मुख्य उद्देश्य होता है, अर्थ-प्राप्ति उसके साथ-साथ गौण रूप में हो जाती है, वैसे उद्योग तथा व्यापार में भी सामाजिक-कल्याण का विचार ही मुख्य होना चाहिए, अर्थप्राप्ति का विचार मुख्य नहीं होना चाहिए। अगर व्यापार तथा उद्योग के क्षेत्र में समाज-कल्याण की यह भावना आ जायेगी, तो सैनिक तथा डाक्टर की तरह कर्तव्य-बुद्धि जागृत हो जाने के कारण आवश्यकता पड़ने पर व्यापारी भी समाज के कल्याण के लिए जान तक देने के लिए तैयार रहेगा। ऐसी हालत में माल में मिलावट करना तो एक असंभव बात हो जायगी। साथ ही आजकल जैसे मज़दूर को हर समय नौकरी खोने का भय बना रहता है, वह नहीं रहेगा। व्यापारी अपने श्रमी को सदा इतना अवश्य देता रहेगा जिससे श्रमी को आर्थिक तंगी का कभी भय न हो। वर्तमान 'अर्थशास्त्र' तो व्यापार को केवल पैसा कमाने का साधन मानता है, परन्तु 'सर्वोदय' के अनुसार व्यापार केवल पैसा कमाने का साधन न होकर समाज-सेवा और समाज-कल्याण का साधन होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसी दृष्टि को सम्मुख रखकर भारत की वर्ण-व्यवस्था में वैश्य का कर्तव्य धन कमा कर उसे सामाजिक हित के कार्यों में लगा देना कहा गया था, उसका अपने पास संग्रह करना नहीं। जब व्यापार में यह भावना आ जायगी, तब औद्योगिक-युग के परिणाम—स्ट्राइक, कारखानों में ताले ठोक देना—आदि अपने-आप मिट जायेंगे। महात्मा गांधी का यह दृष्टिकोण था।

(३) **गाँधीजी की आर्थिक-योजना का दूसरा तत्व अर्थ-शास्त्र के माँग तथा पूर्ति एवं प्रतिस्पर्धा के नियम को न मानना था**—'सर्वोदय' की विचार-धारा और प्रचलित 'अर्थशास्त्र' में दूसरा भेद यह है कि 'अर्थशास्त्र' तो यह मानकर चलता है कि अर्थोत्पादन के क्षेत्र में 'माँग और पूर्त्ति' (Demand and supply) तथा 'प्रतिस्पर्धा' (Competition) के नियमों के अनुसार वस्तु का मूल्य निर्धारित होता है। अगर माँग ज्यादा है और पूर्त्ति नहीं हो रही, तो दाम बढ़ जायगा, अगर माँग कम है और पूर्त्ति ज्यादा हो रही है, तो दाम घट जायगा। वस्तु तथा मनुष्य दोनों पर यह नियम घटता है। गेहूँ बहुत पैदा हो गया, खरीदार कम हैं, दाम गिर जायगा। किसी काम पर मज़दूर ज्यादा आ गए, मज़दूरी कम हो जायगी; मज़दूर मिल ही नहीं रहे, तो मज़दूरी बढ़ जायगी। महात्मा गांधी की 'सर्वोदय' की विचार-धारा अर्थ-शास्त्र की इन बातों को नहीं मानती। इस विचारधारा का कहना है कि वस्तु का मूल्य 'माँग और पूर्त्ति' एवं 'प्रतिस्पर्धा' पर आश्रित नहीं होना चाहिए। वस्तु का मूल्य उस वस्तु की समाज के लिए उपयोगिता या समाज के लिए कल्याण करने की सामर्थ्य पर आश्रित होना चाहिए। खाने-कपड़े की वस्तुओं की समाज के लिए अत्यधिक उपयोगिता है। इनका मूल्य 'माँग तथा पूर्त्ति' एवं 'प्रतिस्पर्धा' के नियमों से बढ़ना नहीं चाहिए। 'सर्वोदय' का कहना है कि अगर अर्थशास्त्र के नियमों से इनका मूल्य बढ़ता है, तो उन नियमों को ताक में रख देना चाहिए। व्यापारी का कर्तव्य है कि स्वयं नुकसान उठा कर भी समाज के हित के लिए ऐसी वस्तुओं का मूल्य न बढ़ने दे। अगर राज्य को इसमें मदद देने की ज़रूरत पड़े तो मदद दे। इसी प्रकार 'सर्वोदय' का कथन है कि आज तो 'माँग और पूर्त्ति' तथा 'प्रतिस्पर्धा' के आधार पर पारिश्रमिक या मज़दूरी की दर निश्चित की जाती है, परन्तु अर्थ-शास्त्र का यह नियम भी ठीक नहीं है। पारिश्रमिक की दर काम करने वालों की संख्या पर निर्भर नहीं रहनी चाहिए। मुझे अपने घोड़े के पैर में नाल लगवानी है, तो नालबन्दी का काम करने वालों की संख्या बीस रहे या बीस हजार रहे, उनके बीच, अधिक संख्या के कारण 'प्रतिस्पर्धा' रहने पर भी, नाल जोड़ने वाले की उचित मज़दूरी में रत्ती भर भी फ़र्क नहीं पड़ना चाहिए। 'माँग और पूर्त्ति' के नियमानुसार कम-से-कम मूल्य देने के बजाय श्रमी को हमें न्याय्य तथा उचित मूल्य देना चाहिए—यह महात्मा गांधी की, 'सर्वोदय' की विचार-धारा है। 'सर्वोदय' का कहना है कि मान लीजिए मेरे पास दो श्रमी काम माँगने के लिए आये, जिनमें से कम पारिश्रमिक माँगने वाले को मैंने रख लिया। इसका नतीजा यह होगा कि उन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दो में से बेकार आदमी तो भूखा मरेगा ही, साथ ही काम करनेवाले श्रमी को भी आधा पेट ही रहना पड़ेगा। इसके बजाय, काम करने वाले को अगर पूरा पारिश्रमिक दिया गया, तो वह भरपेट खा सकेगा। श्रमी को 'प्रतिस्पर्धा' के नियम से कम-से-कम पारिश्रमिक देने के स्थान में उसे न्याय्य तथा उचित एवं पूरे पारिश्रमिक देने का परिणाम यह होगा कि वह दूसरों को भी पूरा पारिश्रमिक देगा जिससे न्याय का वृक्ष सूखने की अपेक्षा फूले-फलेगा। इस प्रकार अगर समाज में धन का सम-विभाजन होगा, तो श्रेणियों के कारण जो विषमता पायी जाती है, वह कम हो जायगी।

[गांधी जी के राजनीतिक पुनर्निर्माण के विचार]

(१) अहिंसात्मक-क्रांति—क्रांति एक राजनीतिक विचार है। क्रांति का हिंसा के साथ सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। जिस क्रांति में हिंसा न हो, मार-काट न हो, उसे हम क्रांति ही नहीं समझते। महात्मा गांधी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने राजनीतिक-जगत् को एक मौलिक विचार दिया। वह विचार था 'हिंसात्मक' के स्थान में 'अहिंसात्मक' क्रान्ति का। वे मूलतः आध्यात्मिक व्यक्ति थे। अध्यात्मवाद में द्वेष का स्थान प्रेम को, हिंसा का स्थान अहिंसा को है। अगर आध्यात्मिक व्यक्ति राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करता है, तो वह अपने प्रेम तथा अहिंसा के तत्त्वों को कैसे छोड़ सकता है? महात्मा गांधी ने जब राजनीतिक-जगत् में प्रवेश किया तब उनके आध्यात्मिक दृष्टि-कोण के कारण उन्हें क्रांति का एक नया, सर्वथा मौलिक रूप सूझा। उन्होंने कहा कि हमें किसी से द्वेष नहीं करना, द्वेष के स्थान में प्रेम करना है। तो फिर क्या हम शत्रु से प्रेम करें? शत्रु से प्रेम करें तो वह शत्रु नहीं रहता। इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए वे ज़रा गहराई में उतरे। उनका कहना था कि शत्रु तथा वे दुर्गुण जिनके कारण वह हमें शत्रु दिखाई पड़ता है—दो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं। हमें असल में शत्रु के प्रति शत्रुता नहीं है, शत्रु के दुर्गुणों के कारण शत्रुता है। इसका प्रमाण यह है कि अगर शत्रु का व्यक्तित्व वही बना रहे, और वह उन दुर्गुणों को त्याग दे जिनके कारण वह हमारा शत्रु है, तब हमारी उससे शत्रुता नहीं रहती। हम शत्रु से प्रेम कर सकते हैं, उससे प्रेम करते हुए उसके दुर्गुणों से शत्रुता कर सकते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया ही अहिंसात्मक-क्रांति है। महात्मा गांधी ने अपनी इस विचारधारा को क्रिया में परिणत किया। वे अंग्रेज़ों के मित्र रहे, परन्तु अंग्रेज़ी राज के प्रबल विरोधी रहे, उसके प्रति उन्होंने क्रांति का झंडा खड़ा किया। यही उनकी अहिंसात्मक क्रांति थी। इस क्रांति में शत्रु के प्रति शस्त्रों का प्रयोग करने के स्थान में उन्होंने अपने को कष्ट में डालने का साधन प्रयुक्त किया। स्वयं जेल गये, लाठियाँ खाईं, उपवास किये। इससे शत्रु का हृदय पसीजा, उसे अपने शासन को बदलने के लिए विवश होना पड़ा। इस अहिंसात्मक क्रांति को उन्होंने 'सत्याग्रह' का नाम दिया।

(२) राजकीय शक्ति का विकेन्द्रीकरण या पंचायत-राज—राजनीतिक दृष्टि से गांधी जी राजकीय सत्ता के 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization) के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पक्षपाती थे। उनका कहना था कि इस देश में सत्ता ग्रामों में ग्राम-वासियों के हाथ में आनी चाहिए। भारत क्योंकि ग्राम-प्रधान देश है इसलिए भारत में जन-तंत्र का अर्थ है ग्राम के हर व्यक्ति का यह अनुभव करना कि कहीं दूर से शासन नहीं हो रहा, उसके गाँव से शासन चल रहा है। यह तभी हो सकता है जब हर गाँव में पंचायत की स्थापना हो, पंचायतों का राज्य हो। भारत के स्वतन्त्र होने के बाद हर प्रान्त में पंचायत-राज की स्थापना हो गई। २ अक्तूबर १९५९ में राजस्थान में, ३ दिसम्बर १९६१ में उत्तर-प्रदेश में तथा इसी प्रकार अन्य सभी प्रान्तों में अब पंचायत-राज स्थापित हो चुके हैं। पंचायत-राज की कल्पना को ही महात्मा गांधी राम-राज्य का नाम देते थे।

[गांधी जी के सामाजिक पुनर्निर्माण के विचार]

(१) **महिला-आन्दोलन**—महात्मा गांधी की विचारधारा का आधार अहिंसा था। उनके अहिंसा के आन्दोलन का अर्थ था किसी पर अत्याचार न हो, किसी के मानवता के अधिकारों पर कुठाराघात न हो। भारतीय समाज में स्त्रियों की जो दीन-हीन अवस्था थी वह महात्मा गांधी की परिभाषा में हिंसा का एक रूप था। महात्मा गांधी ने अपने आन्दोलन में स्त्रियों को महत्वपूर्ण स्थान दिया, इस आन्दोलन से स्त्रियों में अपने अधिकारों के प्रति जागरूक होने की भावना जागी और महात्मा गांधी के आन्दोलन का कल्याणकारी प्रभाव यह हुआ कि स्त्री स्वतंत्र हो गई।

(२) **हरिजन-आन्दोलन**—अहिंसा के आन्दोलन की दूसरी उपज हरिजनों का आन्दोलन था। अगर अहिंसा एक व्यापक भावना है, तो किसी के मानवीय अधिकार का अपहरण हिंसा है। बाहर वालों के साथ अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग करते हुए सत्याग्रह का आन्दोलन चला, अन्दर वालों के साथ अहिंसा के शस्त्र का प्रयोग करते हुए हरिजन-आन्दोलन चला। हमें सब को भाई-भाई समझना चाहिए, किसी को नीच नहीं समझना चाहिए, किसी के साथ हीनता का, अत्याचार का बर्ताव नहीं करना चाहिए। हरिजन-आन्दोलन इसी विचार-धारा का परिणाम था।

(३) **जाति-व्यवस्था**—प्रचलित जात-पाँत का आधार भी मानवता का तिरस्कार था, मनुष्य के मूलभूत अधिकारों को न मानना था। संसार में जन्म से कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं, सब समान हैं। अहिंसा का विचार जब पूर्ण विकसित होता है तब छोटे-बड़े की भावना स्वयं मिट जाती है, सब एक-दूसरे का आदर करते हैं, मनुष्य मनुष्य का जन्म-जात भेद नहीं रहता। यही कारण है कि महात्मा गांधी जन्म के आधार पर चलने वाली जाति-व्यवस्था को नहीं मानते थे। जाति-व्यवस्था के कारण छूआछूत का भेद पैदा होता है, रोटी-बेटी का भेद पैदा होता है, महात्मा गांधी की अहिंसा की विचारधारा में इन सब बातों को कोई स्थान नहीं था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[महात्मा गांधी के आध्यात्मिक पुनर्निर्माण के विचार]

(१) **वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में अभेद**—महात्मा गांधी से पहले आध्यात्मिकता का अर्थ था व्यक्ति का संसार से अलग होकर अपने चरित्र का निर्माण, अपनी आध्यात्मिक उन्नति। व्यक्ति अगर अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का पालन करता है तो उससे वे सन्तुष्ट थे। महात्मा बुद्ध तथा ईसा मसीह अध्यात्मवादी थे, परन्तु उन्होंने व्यक्ति के चरित्र-निर्माण पर ही बल दिया। महात्मा गांधी का कहना था कि वैयक्तिक तथा सामाजिक क्षेत्र अलग-अलग नहीं हैं, ये दोनों एक ही क्षेत्र के दो हिस्से हैं। महात्मा गांधी उन्हीं कल्याणकारी सिद्धान्तों का प्रयोग विशाल विश्व पर करना चाहते थे जिनका दूसरे अध्यात्मवादियों ने प्रयोग व्यक्ति के जीवन के कल्याण के लिए किया। वे व्यक्ति तथा समाज को भिन्न-भिन्न न मान कर एक ही सत्ता के दो पक्ष समझते थे और इसलिए उनका कहना था कि अगर व्यक्ति-व्यक्ति में ईमानदारी से बरतना चाहिये तो समाज-समाज में भी ईमानदारी से बरतना चाहिए, अगर व्यक्ति-व्यक्ति में सुलह-सफ़ाई से झगड़ों का निपटारा होना चाहिए तो समाज-समाज में भी सुलह-सफ़ाई से, बिना लड़ाई के झगड़ों का निपटारा होना चाहिए। समझा यह जाता है कि वैयक्तिक-जीवन में तो प्रेम-भाव के द्वारा मामले तय हों, परन्तु सामूहिक-जीवन में तोप-बन्दूक द्वारा मामलों को तय किया जाय। आज तक का संसार का इतिहास इसी दिशा की तरफ़ चलता रहा है। महात्मा गांधी पहले व्यक्ति थे जिन्होंने व्यक्ति तथा समाज के इस भेद को मिटा कर व्यक्ति के ही नहीं समाज के भी आध्यात्मिक पुनर्निर्माण का मार्ग दिखलाया।

(२) **व्यक्ति तथा समाज के अभेद का परिणाम 'सर्वोदय' का विचार**—महात्मा गांधी से पहले भारत की आध्यात्मिक विचार-धारा यह थी कि मनुष्य को मोक्ष पाने के लिए आत्म-साधना करनी चाहिए। इसी विचार-धारा का परिणाम था कि मुमुक्षु लोग संसार से परे, वीत-राग होकर, जंगल में निकल जाना ही जीवन का ध्येय समझते थे। महात्मा गांधी ने व्यक्ति तथा समाज के इस भेद को मिटा कर दोनों को एक कर दिया। उनका कहना था कि समाज से भिन्न होकर व्यक्ति अपनी उन्नति नहीं कर सकता। मनुष्य अपनी उन्नति वहीं तक कर सकता है जितना वह दूसरों को उठा सकता है। मकान की ईंट उतनी ही ऊँची होती है जितना मकान ऊँचा होता है। अपना भला उतना ही हो सकता है जितना हम दूसरों का भला कर सकते हैं। इस विचार-धारा का परिणाम था कि महात्मा गांधी के दृष्टि-कोण से 'आत्मोदय' वहीं तक हो सकता था जहाँ तक 'सर्वोदय' हो सकता था। उनके कथनानुसार 'आत्मोन्नति' के लिए 'सर्वोन्नति' आवश्यक थी। समाज के पुनर्निर्माण का उनका यही दृष्टि-कोण था। यही कारण है कि जन-सेवा उनकी विचार-धारा का आधार था। इस विचार-धारा को मूर्त रूप देने के लिए उन्होंने 'सर्वोदय'-शब्द की रचना की। इसी 'सर्वोदय' को आधार बना कर आचार्य विनोबा ने 'भूदान-आन्दोलन' को जन्म दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(छ) विनोबा भावे का भूदान-यज्ञ का आन्दोलन

महात्मा गांधी के 'सर्वोदय' की विचार-धारा ने आचार्य विनोबा भावे के भू-दान यज्ञ के विचार को जन्म दिया। दक्षिण-भारत के तैलंगाना प्रान्त में जब कम्यूनिस्ट लोग किसानों को भड़का-भड़का कर इस बात के लिए प्रेरित कर रहे थे कि वे ज़मीन पर ज़बर्दस्ती कब्ज़ा कर लें, तब आचार्य विनोबा उधर पहुँचे। हैदराबाद से ३० मील की दूरी पर पोचम्पल्ली नाम का एक गाँव है। वहाँ कुछ हरिजनों ने उन्हें घेर लिया और कहा कि हमें खेती-बाड़ी करके आजीविका चलाने के लिए कुछ भूमि दिलवा दीजिए। आचार्य विनोबा ने उनसे कहा कि उनके अपने पास तो कोई भूमि नहीं है, परन्तु सरकार से वे इस सम्बन्ध में बातचीत करेंगे। सायं को जो प्रार्थना-सभा हुई उसमें विनोबा ने इन हरिजनों की समस्या आम जनता के सामने रख दी, और पूछा कि क्या कोई इन हरिजनों को भूमि देने के लिए तैयार हैं? एक सज्जन रामचन्द्र रेड्डी थे। उन्होंने उठकर कहा कि उनके पास २०० एकड़ भूमि पैतृक-सम्पत्ति के रूप में मौजूद है। उसमें से वे १०० एकड़ देने को तैयार हैं। यह १८ अप्रैल १९५० की बात है। जो हरिजन भूमि चाहते थे वे ४० परिवार थे। उनसे पूछा गया कि उन्हें कितनी भूमि चाहिए। चाहते तो वे कह सकते थे कि उन्हें यह पूरी १०० एकड़ चाहिए, परन्तु उन्होंने ऐसा नहीं कहा। उन्होंने कहा कि हममें से हर-एक को दो-दो एकड़ मिल जाय, तो बस है। ४० परिवार हैं, इनके लिए ८० एकड़ से सब का गुज़ारा चल जायगा। इन दोनों घटनाओं से आचार्य विनोबा पर भारी प्रभाव पड़ा। उन्हें अनुभव हुआ कि वैयक्तिक-स्वार्थ ही मानव-समाज की प्रेरणा में आधार-भूत तत्व नहीं हैं, त्याग भी उतना ही आधार-भूत तत्त्व है। रेड्डी का १०० एकड़ देना और हरिजनों का ८० एकड़ ही अपने लिए पर्याप्त समझना—दोनों ही प्रचलित 'अर्थशास्त्र' के विपरीत घटनाएँ थीं। दोनों का आधार 'सर्वोदय' की भावना थी। इस दिन विनोबा को एक नवीन विचार सूझा और उन्होंने भारत के पुनर्निर्माण में एक नवीन कार्य शुरू कर दिया—वह कार्य था जगह-जगह घूम कर भूमि का दान लेना और उसे भूमिहीनों को वितरण कर देना। ३१ मार्च १९६४ तक आचार्य विनोबा को ५१ लाख एकड़ के करीब ज़मीन मिल चुकी थी। भूदान के साथ-साथ विनोबा ने सम्पत्ति-दान, जीवन-दान, श्रम-दान, मनुष्य-दान आदि अनेक विचारों को जन्म दिया, जो विचार आज भारत के पुनर्निर्माण में काम कर रहे हैं।

प्रश्न

१. सामाजिक-पुनर्निर्माण के आधुनिक सिद्धांत की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (१९५७)

२. भारत में सामाजिक-सुधार के इतिहास का संक्षिप्त विवेचन करते हुए महात्मा गांधी का उसमें क्या सहयोग रहा—इस पर संक्षेप में लिखिए। (१९६२)

३. साम्यवाद, गांधीवाद, भूदान-यज्ञ में से किसी एक पर निबन्ध लिखिये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

भिन्न-भिन्न देशों में सामाजिक-पुनर्निर्माण
(SOCIAL RECONSTRUCTION IN DIFFERENT COUNTRIES)

हमने पिछले एक अध्याय में देखा कि 'समाज-कल्याण' के सम्बन्ध में दो विचार-धाराएँ हैं। एक विचार-धारा वाले समाज में राज्य का हस्त-क्षेप होना अनुचित समझते हैं, दूसरी विचार-धारा वाले समाज के पुनर्निर्माण में राज्य का हस्त-क्षेप उचित समझते हैं। पहली विचार-धारा पूँजीवादियों की है, दूसरी विचार-धारा समाजवादियों की है। पूँजीवादियों की विचार-धारा के अनुसार समाज में राज्य का हस्त-क्षेप व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्त-क्षेप करना है, समाज-वादियों के अनुसार समाज में राज्य का हस्त-क्षेप व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखने के लिए है। पहले हम उन लोगों की चर्चा करेंगे जो समाज में राज्य का हस्त-क्षेप नहीं चाहते। उन लोगों का कथन है कि जब व्यक्ति की स्वतन्त्रता में राज्य का हस्त-क्षेप नहीं होगा तभी राज्य सही अर्थों में अपने विकास के मार्ग पर चलेगा। इन लोगों को हम 'पुनर्निर्माण-विरोधी' कह सकते हैं :—

(क) **'प्राकृतिक अधिकार-वाद'** (Theory of natural rights)—**जॉन लॉक** (१६३२–१७०४) तथा इस विचार के अन्य मानने वाले कहते थे कि मनुष्य के कुछ प्राकृतिक-अधिकार हैं, ऐसे अधिकार जो मनुष्य के वैसे ही अंग हैं, जैसे उसके आँख-नाक-कान। इन अंगों को मनुष्य से पृथक् नहीं किया जा सकता, अगर पृथक् किया जाय तो मनुष्य का स्वरूप ही बिगड़ जाता है, इसी प्रकार मनुष्य के कुछ अधिकार हैं, जो राज्य ने नहीं, परन्तु परमात्मा ने या

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न अबतक परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. "Organisation of social insurance should be treated as one part only of a comprehensive policy of social progress. Social insurance fully developed may provide income security; it is an attack upon Want. But Want is only one of the five giants on the road of reconstruction and in some ways the easiest to attack. The others are: Disease, Ignorance, Squalor and Idleness." Discuss. Show the importance of social security in India. (*Raj. 1953,1955*)

2. Write a short essay on 'Five Giants' which hinder the progress of a country. (*Rajasthan, 1961*)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रकृति ने उसे दिये हैं। इन अधिकारों में राज्य का हस्त-क्षेप करना अनुचित है। उदाहरणार्थ, राज्य द्वारा किसी बाधा के बिना डाले आर्थिक उन्नति कर सकना मनुष्य का 'प्राकृतिक-अधिकार' है, मनुष्य अपने निजी दायरे में दूसरे को हानि बिना पहुँचाये जो-कुछ करना चाहे वह सब-कुछ कर सके—इसकी आज़ादी होना मनुष्य का 'प्राकृतिक-अधिकार' है। इस अधिकार के प्रयोग से अगर कोई धनी हो जाता है, कोई निर्धन, कोई सुखी हो जाता है, कोई दुःखी, तो राज्य को उसमें हस्त-क्षेप करने का कोई अधिकार नहीं। इन अधिकारों के क्षेत्र में व्यक्ति राज्य की सीमा से बाहर है। ज़बर्दस्ती सब को एक-सा बनाने का प्रयत्न करना उस वर्ग पर अत्याचार है जो अपनी स्वतन्त्र कार्य-क्षमता के बल पर समाज की सीढ़ी के ऊपर के पाये पर पाँव रख सकता है। समाज का नये सिद्धान्तों पर पुनर्निर्माण मानव-समाज के एक हिस्से के 'प्राकृतिक-अधिकारों' को कुचल कर ही हो सकता है। यह तभी हो सकता है अगर हम अमीरों को अमीर न बनने दें, अर्थात् उनकी कार्य-क्षमता के 'प्राकृतिक-अधिकार' को कुचल दें।

आलोचना—परन्तु 'प्राकृतिक-अधिकार' के इस विचार को रखने वाले यह भूल जाते हैं कि वे 'प्राकृतिक-अधिकार' की कोई ठीक-ठीक व्याख्या नहीं कर सकते। जिस चीज़ को वे चाहते हैं, उसी को 'प्राकृतिक-अधिकार' कहने लगते हैं। वे स्वयं धनी हैं अतः आर्थिक-क्षेत्र में पूर्ण-स्वतन्त्रता को वे 'प्राकृतिक-अधिकार' कहते हैं, और धन के एक व्यक्ति के पास संग्रह पर लगाये गए प्रतिबन्धों को "प्राकृतिक-अधिकारों" पर कुठाराघात कहने लगते हैं। परन्तु यह बात ठीक नहीं। समाज के अन्य व्यक्तियों को भूखा रखकर सम्पत्ति संग्रह करने का किसी को "प्राकृतिक-अधिकार" नहीं हो सकता। जीने का सब को 'प्राकृतिक-अधिकार' है, परन्तु दूसरे को मार कर जीने का कोई 'प्राकृतिक-अधिकार' नहीं। अतः अगर राज्य तथाकथित 'प्राकृतिक-अधिकारों' में, जो वास्तव में 'प्राकृतिक-अधिकार' नहीं हैं, हस्त-क्षेप कर समाज का पुनर्निर्माण करता है, तो क्या बुरा करता है?

(ख) **'उपयोगितावाद'** (Utilitarian theory)—**बैन्थम** (१७४८–१८३२) तथा उपयोगितावाद के अन्य अनुयायियों का कहना था कि मनुष्य जो-कुछ करता है, अपने 'प्राकृतिक-अधिकारों' के लिए नहीं करता, अपितु इसलिए करता है क्योंकि वह काम उसे 'उपयोगी' अनुभव होता है। 'उपयोगितावाद' की दृष्टि से 'प्राकृतिक-अधिकारों' का वाद निस्सार है, सही बात यही है कि मनुष्य जो-कुछ करता है वह 'उपयोगिता' की दृष्टि से करता है, इसलिए करता है क्योंकि वैसा करने से उसे सुख मिलता है। जिस चीज़ से दुःख मिले उसे वह छोड़ देता है, जिससे सुख मिले उसे करने लगता है। अगर यह बात ठीक है, तो यह भी स्पष्ट है कि मनुष्य को खुला, स्वतंत्र छोड़ दिया जाय, तो अपने-आप वह उस मार्ग को छोड़ देगा जो दुःखदायी होगा और उसे अपना लेगा जो सुखदायी होगा। दुःखदायी मार्ग तो किसी भी हालत में उपयोगी नहीं हो सकता। क्या सुखदायी है और क्या दुःखदायी है—इसका निर्णय तो व्यक्ति स्वयं कर सकता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इसलिए राज्य का काम व्यक्ति तथा समाज के काम में हस्त-क्षेप करना नहीं है। राज्य का काम तो व्यक्ति को खुला छोड़ देना है, उसके बाद व्यक्ति खुद-ब-खुद ऐसा मार्ग निकाल लेगा जो उसके लिए उपयोगी होगा, उसे सुख देने वाला होगा। अगर राज्य समाज के पुनर्निर्माण का काम अपने हाथ में लेगा, तो वह काम व्यक्ति तथा समाज के मार्ग में दखल दिये बग़ैर हो नहीं सकता, और 'उपयोगितावाद' की दृष्टि से व्यक्ति ही इस बात को तय कर सकता है कि उसके लिए क्या उपयोगी है, क्या उपयोगी नहीं है। इस दृष्टि से उपयोगितावादी भी सामाजिक-पुनर्निर्माण का विरोध करते रहे हैं क्योंकि इसमें राज्य व्यक्ति तथा समाज के मार्ग में दखल देता है।

आलोचना—परन्तु उपयोगितावादी यह भूल जाते हैं कि व्यक्ति जब किसी बात की उपयोगिता का निर्णय करता है, तो वह निरे स्वार्थ के दृष्टिकोण से करता है। इस प्रकार का दृष्टिकोण समाज की नींव में स्वार्थ को भर देता है जिसके कारण समाज में भिन्न-भिन्न स्वार्थ उठ खड़े होते हैं। इन स्वार्थों से स्वस्थ समाज नहीं बन सकता, अस्वस्थ समाज बनता है।

(ग) अर्थशास्त्र का न्यूनतम हस्तक्षेप का सिद्धान्त (Economic theory of laissez-faire)—अर्थशास्त्रियों का कहना था कि हमें अर्थशास्त्र पर विचार करते हुए दो तत्त्वों को मान कर चलना पड़ता है। एक तत्त्व है—'प्राकृतिक आर्थिक-मनुष्य' (Natural economic man)। यह तत्त्व क्या है? मनुष्य सदा हर वस्तु को सस्ते-से-सस्ता खरीदना और महंगे-से-महंगा बेचना चाहता है। यह भावना जिस व्यक्ति में है वह 'प्राकृतिक आर्थिक-मनुष्य' (Natural economic man) है। 'प्राकृतिक' इसलिए क्योंकि सस्ते-से-सस्ता खरीदना और महंगे-से-महंगा बेचना—यह एक प्राकृतिक भावना है, हर मनुष्य में स्वभाव से मौजूद है। 'आर्थिक' इसलिए क्योंकि मनुष्य की गति-विधि रुपये-पैसे के गिर्द घूमती है। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र को 'प्राकृतिक आर्थिक-मनुष्य' (Natural economic man) से वास्ता पड़ता है। अर्थशास्त्र का दूसरा तत्त्व जिसे मान कर अर्थ-शास्त्र चलता है—'प्राकृतिक आर्थिक-व्यवस्था' (Natural economic order) है। इस आर्थिक-व्यवस्था में आर्थिक-नियम इसी प्रकार चल रहे हैं, जैसे प्रकृति में भौतिक-नियम चल रहे हैं। 'प्राकृतिक आर्थिक-व्यवस्था' क्या है? माल ज्यादा पैदा होगा और माँग कम होगी तो दाम गिर जायगा—यह 'प्राकृतिक आर्थिक-व्यवस्था' है, भौतिक-नियमों जैसी व्यवस्था है, क्योंकि जैसे भौतिक-नियमों को टाला नहीं जा सकता, इसी प्रकार इन आर्थिक-नियमों को भी टाला नहीं जा सकता। यह नहीं हो सकता कि माल कम पैदा हो, माँग अधिक हो, और फिर भी दाम बढ़ने के बजाय गिरता चला जाय।

अर्थशास्त्रियों का कहना था कि 'प्राकृतिक आर्थिक-मनुष्य' (Natural economic man) 'प्राकृतिक आर्थिक-व्यवस्था' (Natural economic

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

order) से बंधा हुआ है, इस व्यवस्था को वह तोड़ नहीं सकता। संसार की आर्थिक-व्यवस्था किन्हीं खास-खास 'आर्थिक-नियमों' (Economic laws) से बंधी हुई है। क्योंकि मनुष्य एक 'आर्थिक-प्राणी' है, और क्योंकि समाज की व्यवस्था 'आर्थिक-नियमों' से बंधी हुई है, इसलिए राज्य का इन नियमों से टक्कर लेना बेकार है। 'माँग तथा पूर्ति' एवं 'संघर्ष' आदि के 'आर्थिक-नियम' मनुष्य को बाँधे हुए हैं, और क्योंकि मनुष्य एक 'आर्थिक-प्राणी' (Economic man) है, और वह 'आर्थिक-व्यवस्था' (Economic order) से घिरा हुआ है, इसलिए न व्यक्ति इन नियमों का उल्लंघन कर सकता है, न राज्य इन आर्थिक-नियमों का उल्लंघन कर सकता है। अगर इन आर्थिक-नियमों का उल्लंघन नहीं किया जा सकता तब तो यह स्पष्ट है कि राज्य के लिए किसी आर्थिक पुनर्निर्माण में हाथ डालना ही बेकार है। इसी को अर्थशास्त्र की परिभाषा में 'न्यूनतम हस्त-क्षेप' (Laissez-faire) का नियम कहा जाता है। **एडम स्मिथ** जैसे अर्थशास्त्री इस विचार-धारा के आधार पर किसी प्रकार के हस्त-क्षेप के विरुद्ध हैं। उनका कहना है कि व्यापार को बेरोक-टोक चलने देना चाहिए जिससे आर्थिक-नियम अपने-आप ठीक-ठीक आर्थिक-व्यवस्था को उत्पन्न कर दें।

आलोचना—परन्तु इस विचार के पृष्ठ-पोषक यह भूल जाते हैं कि जब समाज को आर्थिक-नियमों के सामने खुला छोड़ दिया जाता है, तब समाज में दो श्रेणियाँ उत्पन्न हो जाती हैं—धनी तथा निर्धन, मालिक तथा मज़दूर, और धीरे-धीरे जब ये श्रेणियाँ उग्र रूप धारण कर लेती हैं, तब इन श्रेणियों का परस्पर युद्ध छिड़ जाता है और समाज में हा-हा-कार मच जाता है। अगर राज्य समाज के पुनर्निर्माण का कार्य अपने हाथ में न ले, तो धनी-वर्ग निर्धन-वर्ग की वह दुर्दशा कर दे जो युरोप के मध्य-युग में ग़ुलामों की भी न थी।

(घ) 'सामाजिक अवयवी-वाद' (Organismic theory of society)—कई लोगों का कहना है कि जैसे मनुष्य-शरीर के आँख-नाक-कान अंग हैं और इन अंगों से मिलकर मनुष्य का शरीर बनता है—अंग 'अवयव' हैं, शरीर 'अवयवी' है—वैसे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के मिलने से समाज बनता है—व्यक्ति 'अवयव' है, समाज 'अवयवी' है। शरीर अपने-आप अपने नियमों से बढ़ता है; समाज भी अपने-आप अपने नियमों से बढ़ता है। शरीर को पकड़ कर कुछ-का-कुछ नहीं बनाया जा सकता; समाज का भी राज्य के हस्त-क्षेप द्वारा पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। शरीर को व्यायाम आदि द्वारा थोड़ा-बहुत ही बदला जा सकता है, बिल्कुल नहीं बदला जा सकता; समाज को भी थोड़ा-बहुत ही बदला जा सकता है, आमूल-चूल नहीं बदला जा सकता।

इस सिद्धान्त को मानने वाले 'अपरिवर्तनवादी' (Conservatives) कहाते हैं। वे इतिहास की तरफ़ अंगुली उठा कर कहते हैं कि आज समाज जो-कुछ बना है, वह सैकड़ों-हज़ारों सालों के क्रमिक विकास का परिणाम है। हमारे पुरुखाओं ने बड़ी-बड़ी मुसीबतों में पड़कर जो अनुभव प्राप्त किये, हमारा समाज

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका एक प्रतिबिम्ब है। उनको एक-ही झटके में कैसे बदल दिया जाय? इंगलैण्ड के बर्क महोदय (१७२९–१७९७) का कथन था कि विरासत से चला आ रहा बादशाह का विचार, मतदान का विचार, हाउस ऑफ़ लार्ड्स का विचार —ये सब हमारे पुरखाओं की सैकड़ों सालों की जद्दोजहद का नतीजा हैं, हमारे सम्पूर्ण इतिहास का निचोड़ हैं। इन्हें हम यों ही कैसे बदल डालें?

इसी सिद्धान्त को 'विकासवाद' (Evolution) तथा 'प्राणि-शास्त्रीय' (Biological) दृष्टि से हर्बर्ट स्पेंसर (१८२०–१९०३) ने अपने शब्दों में यों कहा कि प्राणी धीरे-धीरे परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करता रहता है। प्रकृति में झटकों से परिवर्तन नहीं होते, क्रमिक परिवर्तन होते हैं, धीरे-धीरे परिवर्तन होते हैं। बन्दर से मनुष्य बना परन्तु क्या एक दिन में या सौ-पचास साल में यह परिवर्तन हो गया। इस परिवर्तन में लाखों-करोड़ों साल लगे। समाज का विकास भी धीरे-धीरे होता है और उसमें राज्य द्वारा हस्त-क्षेप करके एकदम सब-कुछ बदल देने का प्रयास अनुचित है।

आलोचना—परन्तु इस विचार के मानने वाले यह भूल जाते हैं कि प्रकृति में भी आकस्मिक परिवर्तन होते हैं। जहाँ 'विकास' (Evolution) प्रकृति का नियम है, वहाँ 'क्रांति' (Revolution) भी प्रकृति का ही नियम है। परिस्थितियाँ बदल जाने पर जब व्यक्तियों के स्वार्थ समाज को बदलने नहीं देते, जब समाज की गाड़ी में जंग लग जाता है और वह आगे नहीं बढ़ पाती, जब समाज की प्रगति में विकास की प्रक्रिया कुंठित हो जाती है तब 'विकास' का काम 'क्रांति' ले लेती है और एक झटके में समाज में पुनर्निर्माण हो जाता है।

२. सामाजिक-पुनर्निर्माण के समर्थक विचार तथा क्रियात्मक परीक्षण

ऊपर हमने जिन वादों का ज़िक्र किया वे १८वीं तथा १९वीं शताब्दी के युरोप के विचार थे। इन सब का आधार-भूत विचार 'व्यक्तिवाद' (Individulism) का विचार था जिसका वर्णन हम ४थे अध्याय में कर आये हैं। 'व्यक्तिवाद' तथा 'पूँजीवाद' की विचार-धारा से लोग इतने तंग आ गए थे कि इन दोनों विचारों के साथ-साथ इनकी प्रतिक्रिया के रूप में 'समाजवाद' (Socialism) की एक समानान्तर विचार-धारा भी वह निकली थी। समाजवादी विचारों ने भिन्न-भिन्न रूप लिया जिनका विवेचन हमने ५वें अध्याय में किया। इन सब ने समाज का ढाँचा बदलने, सामाजिक-पुनर्निर्माण करने के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। इनमें से कुछ क्रियाशील व्यक्ति ऐसे भी थे जिन्होंने अपने को सिर्फ़ सिद्धान्तों तक ही सीमित नहीं रखा, उन्होंने सामाजिक-पुनर्निर्माण के कुछ क्रियात्मक परीक्षण भी किये। ये परीक्षण भिन्न-भिन्न देशों में हुए। फ्रांस, इंगलैण्ड, अमरीका, भारत में ये जो क्रियात्मक परीक्षण हुए या हो रहे हैं, जिन परीक्षणों से समाज का पुनर्निर्माण करने का प्रयत्न किया गया या किया जा रहा है, उनका जानना हमारे लिये आवश्यक है। उन्हीं सब का हम इस अध्याय में वर्णन करेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. फ्रांसीसी विचारकों के पुनर्निर्माण के विचार तथा परीक्षण

(क) नोयल बावेफ़ के विचार—१८वीं शताब्दी में फ्रांस में नोयल बावेफ़ नाम का एक लेखक हुआ जिसे फ्रांस के समाजवाद का पिता कहा जा सकता है। उसने १७९४ में लिखा था कि जब मैं यह देखता हूँ कि जो जुलाहे कपड़े बुनते हैं, उनके तन पर कपड़े नहीं हैं, जो मोची जूता बनाते हैं, उनके अपने पैर नंगे हैं, और इसके साथ-साथ जब मैं उन लोगों को देखता हूँ जो हाथ-पैर तक नहीं हिलाते, परन्तु उनके पास किसी चीज़ की कमी नहीं है और इस सारी व्यवस्था को राज्य का आश्रय है, तब मेरा यह विश्वास दृढ़ हो जाता है कि राज्य सिर्फ़ साधारण जनता के विरुद्ध एक षड्यन्त्र का दूसरा नाम है। उसका यह विचार था कि देश की सब सम्पत्ति पर राष्ट्र का अधिकार होना चाहिए और इसका एकमात्र यही उपाय है कि व्यक्ति की मृत्यु के बाद उसकी सब सम्पत्ति पर राष्ट्र का स्वामित्व हो जाय। ये विचार ऐसे समय नहीं प्रकट किये गए थे जब फ्रांस में निरंकुश राजाओं का शासन था। ये विचार तब प्रकट किये गए थे जब फ्रांस में लोकतन्त्र-शासन स्थापित हो चुका था। निरंकुश राजा इन विचारों को न सहन कर सकते तो दूसरी बात थी, परन्तु फ्रांस की लोकतन्त्र-सरकार भी इन विचारों को न सहन कर सकी, और १७९६ में बावेफ़ को गिरफ्तार करके मृत्युदंड दे दिया गया।

(ख) चार्ल्स फ़ूरियर के विचार—**चार्ल्स फ़ूरियर** (१७७२–१८३७) नामक एक दूसरे फ्रांसीसी विद्वान् ने इन्हीं समाजवादी विचारों को क्रिया में परिणत करना चाहा। उसने 'सामाजिक-पुनर्निर्माण' (Social reconstruction) की एक योजना बनाई। उसका कहना था कि हमें छोटे-छोटे समाजों का निर्माण करना चाहिए जिनमें १८०० के लगभग सदस्य हों। ये सब सदस्य मिलकर खेती-बाड़ी करें, आर्थिक-उत्पादन में सब का साझा श्रम हो और जो-कुछ पैदा हो उसके उपयोग में भी सब की हिस्सेदारी हो। सब को अपनी-अपनी आवश्यकता के अनुसार पैसा प्रतिमास दे दिया जाय। इस प्रकार देने के बाद जो-कुछ बचे उसका एक-तिहाई तो उनको दिया जाय जिन्होंने पूँजी लगाई है, और बाकी दो-तिहाई मज़दूरों तथा विशेष योग्यता प्रदर्शित करने वालों में बाँट दिया जाय। वर्साय के निकट इस स्कीम को क्रियात्मक रूप देने के लिए १८३२ में एक समाज भी स्थापित किया गया परन्तु इसमें सफलता नहीं मिली। फ़ूरियर की मृत्यु के बाद फ्रांस, अमरीका आदि में इस प्रकार की योजना को क्रियात्मक रूप देने के प्रयत्न किये गए, परन्तु वे चल न सके। फ़ूरियर को लोग 'कल्पना समाजवादी' (Utopian socialist) कहते हैं।

(ग) लूई ब्लां के विचार—**लूई ब्लां** (१८११–१८८२) भी एक फ्रांसीसी समाजवादी था। हम पहले देख आये हैं कि 'औद्योगिक-क्रांति' के समय पूँजीपति तथा मज़दूर के अलावा 'मध्य-श्रेणी' (Bourgeois) नाम की एक तीसरी श्रेणी उत्पन्न हो गई थी जो हमारे यहाँ की बाबू श्रेणी कही जा सकती है। पूँजीपति के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारोबार को देखना, उसका इन्तज़ाम करना, हिसाब-किताब रखना, मुकदमे-बाज़ी में मदद करना आदि काम इस 'मध्य-श्रेणी' के पास ही थे, और इसलिए वास्तविक राजनीतिक सत्ता पूँजीपतियों के हाथ में न रहकर इस 'मध्य-श्रेणी' के हाथ में चली गई थी। इस समय जो समाजवादी विचार-धारा युरोप में चल रही थी, उसका कहना यह था कि राजनीतिक-सत्ता जैसे पूँजीपतियों के हाथ में न रहकर इस मध्य-श्रेणी के हाथ में आयी, वैसे अब इस 'मध्य-श्रेणी' के हाथ से छीन कर यह सत्ता मज़दूर-वर्ग के हाथ में आ जानी चाहिए। इसी को वे जनता का राज्य कहते थे। फ्रांस में इन्हीं विचारों को लूई ब्लां ने प्रेरणा दी। उसका कथन था कि वोट का अधिकार प्रत्येक व्यक्ति को मिलना चाहिए, क्योंकि इसी अधिकार से कुछ क्रियात्मक परिवर्तन किया जा सकता है। लूई ब्लाँ का कहना था कि राजनीतिक-सत्ता को अपने हाथ में लेकर ही सामाजिक-संगठन को बदला जा सकता है, नये समाज का निर्माण किया जा सकता है। इसलिए मज़दूरों को चाहिए कि न्यायालय, सरकार, सेना आदि सब विभागों को अपने हाथ में कर लें और सम्पूर्ण सामाजिक-संगठन को बदल डालें। कारखानों पर से व्यक्तियों का अधिकार समाप्त कर दें और उन पर राष्ट्र का स्वामित्व स्थापित कर दें। शुरू-शुरू में व्यक्ति भले ही अपनी पूँजी लगाकर व्यवसाय करें, परन्तु धीरे-धीरे जब राज्य के पास काफ़ी पूँजी हो जाय, तब हर व्यवसाय पर राज्य का प्रभुत्व हो क्योंकि व्यक्ति मुनाफ़े के लिए काम करता है, राज्य मुनाफ़े के लिए काम नहीं करता। हमारी असली जद्दोजहद केवल 'लोक-तंत्र' स्थापित करने के लिए नहीं है, असली जद्दोजहद 'आर्थिक-लोकतंत्र-शासन' स्थापित करने के लिए है, ऐसा शासन जिसमें आर्थिक दृष्टि से किसी को किसी का मोहताज न होना पड़े। यह तभी हो सकता है जब हर व्यवसाय पर व्यक्ति का नहीं, राज्य का अधिकार हो। इस समय यह भी आवाज़ उठ खड़ी हुई कि वैयक्तिक-सम्पत्ति महापाप है, सब सम्पत्ति राज्य की होनी चाहिए क्योंकि राज्य ही उसे भले कामों में लगा सकता है, व्यक्ति नहीं।

लूई ब्लाँ की बातें 'मध्य-श्रेणी' की समझ में नहीं आयीं। परिणाम यह हुआ कि उसकी कोई योजना क्रिया में परिणत न हो सकी। लुई ब्लाँ के नेतृत्व में मज़दूरों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह को कुचल दिया गया और लुई ब्लाँ को विलायत भाग जाना पड़ा।

४. अंग्रेज़ विचारकों के पुनर्निर्माण के विचार

(क) राबर्ट ओवन के विचार—इंगलैण्ड में राबर्ट ओवन (१७७१–१८५९) ने समाजवादी विचार-धारा को जन्म दिया। वह रुपए-पैसे वाला था, उसकी अपनी मिलें थीं। मज़दूरों की बुरी हालत देख कर उसमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हुई। उसने यह तय किया कि अपनी मिलों के मुनाफ़े में से पाँच फ़ी सदी से ज्यादा मुनाफ़ा नहीं लिया जायगा और इतने मुनाफ़े के बाद जो कुछ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बचेगा वह मज़दूरों के लिए पाठशालाएँ खोलने, तथा उन्हें अन्यसु विधाएँ देने पर व्यय कर दिया जायगा। न्यू लनर्क में **राबर्ट ओवन** की कुछ मिलें थीं, उनमें ये सुधार किये गए और वह स्थान एक आदर्श स्थान बन गया। रावर्ट ओवन की इच्छा थी कि जैसा समाज-निर्माण का कार्य उसने न्यू लनर्क में किया है वैसा हर जगह हो जाय, और इस इच्छा से उसने अमरीका आदि देशों का भ्रमण किया परन्तु उसे अन्य देशों में सफलता नहीं मिली।

(ख) मूल-परिवर्तनवादियों के विचार—इंगलैण्ड में 'मूल-परिवर्तन-वादियों' (Radicals) ने भी 'सामाजिक-पुनर्निर्माण' के विचारों को आगे बढ़ाने में अपना हाथ बँटाया। इन 'मूल-परिवर्तनवादियों' ने प्राचीन-परंपरा से चले आ रहे रूढ़िवाद पर प्रहार किया और जनता को इस बात के लिए जागृत किया कि वह पुरानी लकीर ही न पीटती रहे, सामाजिक-निर्माण का नया रास्ता खोज निकाले। समाज में अबतक जो विषमताएँ थीं, उन्हें दूर करने के लिए इन्होंने अनेक नए कानूनों का निर्माण कराया, मतदान जो अभी तक सीमित-क्षेत्र में था, सम्पत्ति वालों को ही मत देने का अधिकार था, दूसरों को नहीं—यह सब-कुछ दूर किया। यद्यपि 'मूल-परिवर्तनवादियों' (Radicals) ने अनेक सामाजिक-सुधारों को जन्म दिया, तो भी इनका आधार-भूत सिद्धान्त 'व्यक्तिवाद' (Indivi-dualism) ही रहा। इनका कहना था कि ऐसे कई पुराने विधि-विधान, नियम और कानून हैं जिनमें परिवर्तन की आवश्यकता है, और राज्य के हस्त-क्षेप का उद्देश्य उन पुराने विधि-विधानों पर आक्रमण करके व्यक्ति को पुरानी रूढ़ियों से, पुरानी परंपराओं से, पुराने कायदे-कानूनों से मुक्त कराना है। इस दृष्टि से 'व्यक्तिवाद' (Individualism) को अखंड रखते हुए 'मूल-परिवर्तनवादियों' (Radicals) ने नए कानूनों और नए सुधारों द्वारा पुरानी सामाजिक-व्यवस्था को बदलने और समाज के नव-निर्माण पर ज़ोर दिया। वैसे तो 'व्यक्तिवाद' कभी 'पुनर्निर्माण' के पक्ष में नहीं रहा, परन्तु 'मूल-परिवर्तनवादियों' (Radicals) का 'व्यक्तिवाद' समाज के पुनर्निर्माण के पक्ष में था। उनका कहना था कि 'व्यक्ति-वाद' का उद्देश्य व्यक्ति को स्वतंत्र करना है। आज की रूढ़ियाँ और प्रथाएँ व्यक्ति को जकड़े हुए हैं। राज्य का काम इन बन्धनों को काट कर व्यक्ति को स्वतंत्र कर देना है। राज्य का इस प्रकार का हस्त-क्षेप व्यक्ति की स्वतंत्रता के पुनर्निर्माण के लिए ज़रूरी है। कहाँ तो 'व्यक्तिवाद' का कहना था कि व्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए राज्य को हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए, कहाँ मूल-परिवर्तनवादियों का कहना था कि 'व्यक्तिवाद' की रक्षा के लिए ही राज्य को हस्त-क्षेप करना चाहिए। मूल-परिवर्तनवादियों का कहना था कि बिरादरी के डर तथा रूढ़िवादी स्वभाव के कारण व्यक्ति पुरानी रूढ़ियों की कैद से तबतक मुक्त नहीं हो सकता जबतक राज्य बीच में दखल देकर उसे रूढ़ियों से मुक्त नहीं कराता।

(ग) सैडलर, ओसलर, कारलाइल आदि के विचार—इन सुधारकों के अतिरिक्त अन्य जो समाज-सुधारक हुए, उन्होंने तो 'व्यक्तिवाद' (Indivi-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

dualism) पर सीधी चोट की। उनका कहना था कि जितनी भी सामाजिक बुराइयाँ हैं वे मनुष्य द्वारा पैदा की जाती हैं और अगर दृढ़ता से काम लिया जाय, तो उन सब को उखाड़ फेंका जा सकता है। यद्यपि इन लोगों ने किसी निश्चित वैज्ञानिक विचार-धारा को जन्म नहीं दिया तथापि इन्होंने यह कहना प्रारंभ कर दिया कि वर्तमान सामाजिक-संगठन ठीक नहीं है, इसे बदलना होगा, 'व्यक्तिवाद' को समाप्त करना होगा। इन लोगों को 'न्यूनतम-हस्त-क्षेप' (Laissez-faire) के सिद्धान्त से चिड़ होने लगी। 'औद्योगिक-क्रांति' ने मज़दूरों, स्त्रियों और बच्चों की ऐसी बुरी हालत कर दी थी, मिलों के इर्द-गिर्द ऐसी गन्दी-गन्दी मज़दूरों की बस्तियाँ बस गई थीं कि समाज-सुधारकों ने राज्य द्वारा हस्त-क्षेप किये जाने की आवाज़ उठाई और यह माँग शुरू की कि इस प्रकार की अवस्था को देर तक बर्दाश्त नहीं किया जा सकता। इस समय के मुख्य आन्दोलनकारी थे **माइकल सैडलर, रिचर्ड ओसलर, विलियम कोबेट** तथा **जॉन फ़ील्डर**। लेखकों में से **टामस आरनॉल्ड** तथा **कारलाइल** ने इस विचार-धारा को वेग दिया। कारलाइल का कहना था कि आर्थिक-क्षेत्र में जो-कुछ हो रहा है उसे वैसे ही होते देना मनुष्य की सहन-शक्ति से बाहर की बात है, कोई सुधारक ऐसी हालत को बर्दाश्त नहीं कर सकता। कारलाइल ने कहा कि इस अवस्था को वह हर मंच से झूठा कहेगा, अनुचित कहेगा।

(घ) कल्पना समाजवादियों के विचार—सुधार की यह विचार-धारा ईसाइयों में बड़े वेग से उठी। वे एक ऐसे समाज की कल्पना करने लगे जिसमें सब बराबर के होंगे, जिसमें कोई भूखा-नंगा न होगा। इन्हें 'कल्पना समाजवादी' (Utopian Socialists) कहा जाता है। फ्रांस के **चार्ल्स फ़ूरियर** का वर्णन हम कर आये हैं। इंगलैण्ड में **राबर्ट ओवन**, जिसका हमने अंग्रेज़ विचारकों में उल्लेख किया, उसे भी 'कल्पना समाजवादी' (Utopian socialist) कहा जाता है। इन लोगों का कहना था कि गरीबी समाज की सब बुराइयों की जड़ है, और वैयक्तिक-सम्पत्ति गरीबी का मुख्य कारण है। ये लोग राज्य के हस्त-क्षेप द्वारा सामाजिक तथा आर्थिक सुधारों को नहीं करना चाहते थे, मानव-समाज की न्याय के प्रति भावना तथा उदारता के आधार पर समाज का नव-निर्माण करना चाहते थे। वे छोटी-छोटी सोसाइटियाँ बनाकर उनमें अपने विचारों को क्रियात्मक रूप देने के पक्ष में थे, और जैसा हम पहले देख चुके हैं, राबर्ट ओवन की तरह के उन्होंने कुछ सामाजिक-संगठनों का निर्माण भी किया था। **महात्मा गांधी** ने लगभग इसी प्रकार का एक आश्रम दक्षिण अफ्रीका में 'स्फिक्स' नाम से चलाया था। साबरमती का आश्रम भी इन्हीं विचारों को लेकर बनाया गया था। दुःख यही है कि ये सब उद्योग पूर्ण रूप से कामयाब न हो सके।

(ङ) क्रिश्चियन समाजवादी—'कल्पना समाजवादियों' (Utopian socialists) की तरह ईसाइयत को आधार बनाकर समाज-सुधारकों का एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सम्प्रदाय इंगलैण्ड में उत्पन्न हुआ जिसे 'क्रिश्चियन समाजवादी' (Christian socialists) कहा जाता है। इन लोगों का कहना था कि औद्योगिक-युग के निर्बाध-संघर्ष का परिणाम यह हो रहा है कि जो व्यक्ति सच-झूठ, ईमानदारी-बेईमानी से आर्थिक-क्षेत्र में आगे निकल जाता है उसकी समाज में प्रतिष्ठा होने लगती है, परन्तु यह बात ईसाई-धर्म के विरुद्ध है। ईसाइयत का उद्देश्य तो मनुष्य को मनुष्य के साथ भ्रातृ-भाव में बाँधना है और वर्तमान आर्थिक-व्यवस्था मनुष्य को मनुष्य का प्रतिस्पर्धी बनाती है। इन ईसाई सुधारकों का कहना था कि राज्य के कानूनों में भ्रातृ-भाव तथा समाज-कल्याण के भाव प्रतिबिम्बित होने चाहियें, औद्योगिक-युग के एक-दूसरे का गला घोटने के भाव प्रतिबिम्बित नहीं होने चाहियें।

[लार्ड बेवरिज की योजना]*

इंगलैण्ड में सामाजिक पुनर्निर्माण का जो कार्य हुआ उसमें सबसे अधिक महत्त्व **लार्ड बेवरिज** की योजना का है। द्वितीय विश्व-युद्ध (१९३९–४५) जब हो रहा था तब अमीरों-गरीबों को एक-साथ खून बहाना पड़ा, बंबबारी से बचने के लिए भूमिगत शरणगृहों में एक-साथ रहना पड़ा। उस समय सामाजिक-विषमताओं की समस्या एकदम आँखों के सामने नाचने लगी और इसे दूर करने की माँग भी प्रबल हो उठी। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री लार्ड बेवरिज की अध्यक्षता में १९४२ में एक कमेटी बनी जिसने १९४४ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट से समाज-कल्याण तथा सामाजिक-पुनर्निर्माण की दिनों-दिन बढ़ती विचार-धारा को वेग मिला। अबतक समाज-कल्याण तथा सामाजिक-पुनर्निर्माण का अर्थ यह समझा जाता था कि जो अशक्त हैं, निर्बल हैं, रोगी हैं, अपंग हैं, उनकी रक्षा के साधन जुटाना ही समाज-कल्याण है, इन्हीं को सम्मुख रखकर सामाजिक-पुनर्निर्माण का कार्य होना चाहिए, परन्तु इस रिपोर्ट में एक नवीन विचार-धारा को जन्म दिया गया। इसमें कहा गया कि अशक्त व्यक्तियों तथा संकटकाल में फँस गये व्यक्तियों की रक्षा करना तो राज्य का कार्य है ही, परन्तु इसके अतिरिक्त राज्य का कार्य है कि वह समाज का इस प्रकार का पुनर्निर्माण करे जिससे समाज के हर व्यक्ति को हर समय समाज की हर प्रकार की सेवा तथा सहायता का लाभ प्राप्त हो सके। इस कमेटी का कहना था कि राज्य के हर व्यक्ति की जीवन-निर्वाह की आधार-भूत न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति तो होनी ही चाहिए, इसका उत्तरदायित्व राज्य को लेना चाहिए। यह कहना कि ऐसा करने से व्यक्ति आलसी तथा पुरुषार्थहीन हो जायगा, स्वयं कुछ न करके राज्य पर निर्भर रहने लगेगा, गलत धारणा है, क्योंकि जब व्यक्ति को खाने-पीने-रहने की चिन्ता न रहेगी तब वह स्वस्थ रहेगा, निश्चिन्त रहेगा,

---

***Write an essay on 'Five Giants' which hinder the progress of a country. (Agra 1953; Rajasthan 1955, 1961)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और हर काम को उत्साह तथा स्फूर्ति से करेगा। इसके साथ ही कमेटी का कहना था कि जो लोग यह कहते हैं कि सम्पूर्ण राज्य के उत्तरदायित्व को लेने से राज्य पर इतना आर्थिक बोझ आ पड़ेगा कि उसकी पीठ ही टूट जायगी—यह भी गलत धारणा है क्योंकि जब राजकीय सहायता से प्रत्येक व्यक्ति का जीवन का मान-दंड बढ़ जायगा तब प्रत्येक व्यक्ति की क्रय-शक्ति अपने-आप बढ़ जायगी, और क्रय-शक्ति के बढ़ने से वस्तुओं की खपत बढ़ने लगेगी, बेकारी घटने लगेगी, और राज्य पर आर्थिक बोझ बढ़ने के स्थान में कम होने लगेगा।

लार्ड बेवरिज की रिपोर्ट में कहा गया कि देश को पाँच शत्रुओं से अपनी रक्षा करनी है। ये पाँच शत्रु हैं—अशिक्षा, गरीबी, बेकारी, बीमारी तथा गन्दगी। इनको दूर करने के लिए इस रिपोर्ट में जो सुझाव दिये गये थे, उन्हें १९४४ से १९४६ में भिन्न-भिन्न कानून बनाकर उस समय के मंत्रिमंडल ने क्रिया रूप में परिणत कर दिया। वे कानून क्या थे ?

(i) **१९४४ का शिक्षा-कानून (अशिक्षा का दानव)**—१९४४ से पहले इंगलैण्ड में प्राथमिक-शिक्षा तो निःशुल्क थी, परन्तु माध्यमिक-शिक्षा निःशुल्क नहीं थी। विश्वविद्यालय की शिक्षा तथा अन्य प्राविधिक-शिक्षा के लिए माध्यमिक-शिक्षा का होना अनिवार्य है, इसलिए इन क्षेत्रों में वे ही युवक आ सकते थे जो माध्यमिक-शिक्षा प्राप्त कर चुके होते थे। माध्यमिक-शिक्षा के लिये क्योंकि बड़ी-बड़ी फ़ीसें देनी पड़ती थीं, इसलिए हर किसी के लिए विश्व-विद्यालय की शिक्षा तथा ऊँची नौकरियों के द्वार खुले हुए नहीं थे। इस सब का परिणाम यह था कि धनी परिवारों का और उनमें से भी कुछ ही इने-गिने परिवारों का देश के हर क्षेत्र में प्रभुत्व था। जन-तांत्रिक देश में सत्ता तथा नेतृत्व का इस प्रकार कुछ लोगों तक सीमित रह जाना अखरने वाली बात थी, इसलिए बेवरिज-रिपोर्ट की सिफ़ारिशों का पहला परिणाम यह हुआ कि १९४४ में इंगलैण्ड में १६ वर्ष की आयु तक के प्रत्येक व्यक्ति के लिए माध्यमिक-शिक्षा को भी निःशुल्क बना दिया गया। इतना ही नहीं, विश्वविद्यालयों में छात्रवृत्तियाँ इतनी बढ़ा दी गईं जिससे आधे के लगभग विद्यार्थी निःशुल्क पढ़ सकते हैं। पब्लिक स्कूलों में प्राथमिक पाठशालाओं से आने वाले निर्धन विद्यार्थियों के लिए चौथाई स्थान सुरक्षित रखे जाने लगे। अबतक पब्लिक स्कूलों में धनी बालक ही प्रविष्ट हो सकते थे, अब निर्धन बालकों को भी इस शिक्षा का लाभ दिया जाने लगा। भारत में भी अब इसी प्रकार की व्यवस्था का श्रीगणेश हो गया है। शिक्षा के संबंध में १९४४ के कानून के अनुसार इंग्लैण्ड का खर्च पहले से ४० प्रतिशत बढ़ गया और यहाँ तक बढ़ा कि सारे देश की सम्पूर्ण आय का ६ प्रतिशत हो गया।

(ii) **१९४५ का पारिवारिक-भत्ता कानून (ग़रीबी का दानव)**—बेवरिज-योजना की सिफ़ारिश के अनुसार १९४५ में इंगलैण्ड में पारिवारिक-भत्ता कानून पास हुआ। इस कानून के अनुसार १० अगस्त १९४६ से १६ वर्ष की आयु पूरी होने तक प्रति बच्चे के लिए माता को ५ शिलिंग प्रति सप्ताह दिया जाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगा। इस गणना में पहले बच्चे को नहीं गिना जाता। यह तो हम पहले ही लिख आये हैं कि बेवरिज-योजना के अनुसार बच्चों की माध्यमिक-शिक्षा भी निःशुल्क है, प्राथमिक-शिक्षा तो पहले से ही निःशुल्क थी। इन बच्चों को पाठशाला में दूध भी दिया जाता है।

पारिवारिक-भत्ता देने की आवश्यकता क्यों अनुभव की जाने लगी? पहले तो जो चाहता जितनी सन्तान उत्पन्न करता था। अधिक सन्तान होने से लोग भूखों भी मरते थे, परन्तु इन्हें राज्य की तरफ़ से किसी प्रकार की सहायता देना 'चर्च' की दृष्टि से अनुचित समझा जाता था। पादरी लोग कहते थे कि लोग संयमहीन जीवन व्यतीत करते हैं, इसलिए उनके सन्तानें भी अधिक होती हैं, इन सन्तानों का भूखों मरना उचित ही है, भूखों मरना संयमहीनता का परमात्मा की तरफ़ से दण्ड है। इसके बाद जब उद्योगीकरण का युग आया, धीरे-धीरे ऐसे कानून बने जिनके अनुसार बच्चों से कारखानों में काम कराना दण्डनीय समझा जाने लगा, तब बच्चे माता-पिता को बोझ प्रतीत होने लगे, सन्तानोत्पादन में कमी आने लगी, जन-संख्या घटने लगी। इस अवस्था को देख कर बेवरिज-कमेटी ने सिफ़ारिश की कि माता को प्रत्येक सन्तान पर उसके पालन का कुछ व्यय मिलना चाहिए ताकि इंगलैण्ड की जन-संख्या का इतना ह्रास न हो जाय कि यही बात एक समस्या बन जाय।

(iii) **१९४५–४६ का राष्ट्रीय बीमा कानून (बेकारी का दानव)**—जिस प्रकार व्यक्ति जीवन का बीमा कराता है, उसी प्रकार जीवन के सभी संकटों के लिए बीमे की व्यवस्था इस कानून द्वारा की गई। बीमा कराने के लिए जैसे व्यक्ति को कुछ नियत काल तक एक निश्चित धन-राशि देनी पड़ती है, इसी प्रकार प्रत्येक प्रकार के संकट के लिए राष्ट्र की तरफ़ से हर व्यक्ति से बीमे का कुछ रुपया लिया जाता है। इससे बीमारी, बेकारी, स्त्रियों के लिए ६० और पुरुषों के लिए ६५ वर्ष के बाद वृद्धावस्था के समय की देख-भाल, विधवाओं तथा अनाथों के लिए सुरक्षा आदि का प्रबन्ध किया जाता है।

(iv) **१९४६ का राष्ट्रीय स्वास्थ्य कानून (बीमारी का दानव)**—गत विश्व-युद्ध में अनुभव किया गया कि व्यक्ति का स्वास्थ्य ठीक न होने से राष्ट्र को दो प्रकार की हानि उठानी पड़ती है। अगर रुग्ण व्यक्ति बाकायदा सैनिक है तो एक योद्धा की कमी हो जाती है, अगर वह किसी उत्पादक कार्य में लगा हुआ है, तो उस उत्पादक कार्य में बाधा आ पड़ती है। इस सब को अनुभव कर के उक्त कानून बनाया गया जिसका अभिप्राय यह था कि राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति अपने स्वास्थ्य की मुफ्त जाँच तथा चिकित्सा करा सकता है। इस प्रकार के कानून के दो दुष्परिणाम भी हो सकते थे। एक तो मुफ्त दवा मिलने से जनता दवा की पर्वाह नहीं करती, दूसरे डाक्टरों की भी मुफ्त इलाज करने में दिलचस्पी नहीं रहती। परन्तु यह बात कुछ हद्द तक ठीक होने पर भी दूसरा कोई चारा नहीं दीखता क्योंकि अगर मुफ्त दवा न दी जाय तो लोग डाक्टर के पास या अस्पताल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तब पहुँचते हैं जब रोग बहुत बढ़ चुका होता है और दवा-दारू करने का कुछ लाभ ही नहीं रहता। इस कानून का यह परिणाम हुआ कि १९५० तक ९० प्रतिशत डाक्टर इस कानून के अन्तर्गत ९५ प्रतिशत जनता की निःशुल्क चिकित्सा कर रहे थे।

(v) १९४६ का गन्दी बस्तियों का कानून (गन्दगी का दानव)— बेवरिज-योजना की सिफ़ारिशों के अनुसार १९४६ में गन्दी बस्तियाँ हटा कर वहाँ बसने वालों के लिए खुले हवादार मकान बनाने का कानून बनाया गया जिसे 'दि टाउन एण्ड कौन्टी एक्ट' कहते हैं। इस से गन्दी बस्तियों की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया।

बेवरिज-योजना के अन्तर्गत पुनर्निर्माण के उक्त सारे कार्य का खर्च दो तरह से वहन किया जाता है। इस खर्च का लगभग आधा भाग तो बीमे की किश्तों में वसूल हो जाता है, बाकी आधा सम्पत्तिशाली लोगों पर कर लगा कर वसूल किया जाता है। इस समय स्थिति यह है कि इंगलैण्ड में एक खास सीमा के आगे ९७.५० प्रतिशत कर लग जाता है और कर देने के बाद साल में किसी के पास ६००० पौंड से ज्यादा आय नहीं बच रहती। १९३९ से पहले ६००० पौण्ड की सालाना आमदनी के वहाँ ६५०० व्यक्ति थे, १९४९ में पुनर्निर्माण के लिए कर लगाने के बाद इस प्रकार की आय के वहाँ सिर्फ़ ८६ व्यक्ति रह गये। इस प्रकार आय तथा सम्पत्ति पर भारी कर लगाकर इंगलैण्ड में समाज की विषम आर्थिक स्थिति को हल करके समाज का पुनर्निर्माण किया जा रहा है। वहाँ वालों का कहना है कि साम्यवादी (कम्यूनिस्ट) देशों में व्यक्ति की स्वतंत्रता अपहरण करके आर्थिक-विषमता को दूर किया जा रहा है, इंगलैण्ड में व्यक्ति की स्वतंत्रता को बनाये रखते हुए बीमे तथा कर की योजना द्वारा आर्थिक-विषमता को दूर किया जा रहा है।

५. अमरीका में पुनर्निर्माण के विचार

अमरीका में सामाजिक सुरक्षा तथा पुनर्निर्माण के विचार का श्रीगणेश १९३५ मे हुआ। इससे पूर्व इस विचार का इस देश में कोई स्थान नहीं था। कारण यह था कि यह देश एक तरोताज़ा, युवा देश था। भूमि का कोई अन्त नहीं था। १९वीं शताब्दी के अन्त तक जितनी चाहो भूमि अत्यन्त सस्ते दामों में मिल जाती थी। भूमि की प्रचुरता के कारण इस देश की अर्थ-व्यवस्था का प्रारंभ कृषि-व्यवसाय से हुआ। सब को भूमि से सब-कुछ मिल जाता था, फिर सुरक्षा और पुनर्निर्माण की क्या आवश्यकता रहती? ये विचार आदिकालीन अर्थ-व्यवस्था में नहीं पैदा होते, इसलिए नहीं पैदा होते क्योंकि उस समय जीवन का संघर्ष प्रचंड रूप नहीं धारण करता। ज्यों-ज्यों उद्योगीकरण तथा शहरीकरण की प्रक्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों बेकारी, भुखमरी की समस्या भी प्रचंड होती जाती है, और तभी समाज के पुनर्निर्माण का प्रश्न भी उठ खड़ा होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अमरीका में ऐसा ही हुआ। सुरक्षा तथा पुनर्निर्माण आदि के विचार अन्य देशों में जहाँ कल-कारख़ाने आदि खुल गये थे, बहुत पहले शुरू हो गये। जर्मनी में १८८९ में ही वृद्धावस्था की पेंशन की प्रथा शुरू हो गयी थी, ब्रिटेन में १९११ में बेकारी के समय के लिए बीमे की प्रथा चल पड़ी थी, परन्तु अमरीका में सामाजिक सुरक्षा तथा पुनर्निर्माण की तरफ़ १९३५ के बाद ध्यान गया। इससे पहले गरीबों तथा वृद्धों के लिए 'दान-गृह' (Alms-houses) तथा 'दरिद्र-गृह' (Poor-houses) खुले हुए थे जिनमें उन्हें दान तथा करुणा का पात्र समझ कर आश्रय दिया जाता था, परन्तु तबतक यह नहीं समझा जाता था कि इनकी सुरक्षा की ज़िम्मेदारी राष्ट्र की है।

१९२९ में अमरीका में महामन्दी का काल आया जिसके परिणामस्वरूप जगह-जगह बेकारी दीखने लगी। उस समय इस बात को अनुभव किया जाने लगा कि इस समस्या का हल राष्ट्र की केन्द्रीय सरकार (फ़ेडरल गवर्नमेंट) को करना होगा। उस समय बेकारी को दूर करने के लिए निर्माण के कुछ सार्वजनिक कार्य जारी किये गये, बेकारी का भत्ता भी दिया गया, परन्तु ये योजनाएँ स्वल्पकालीन योजनाएँ थीं, इनसे असुरक्षा का प्रश्न पूर्णतया हल नहीं हो सकता था। असुरक्षा के प्रश्न को राष्ट्रीय-स्तर पर हल करने के लिए १९३४ में राष्ट्रपति रूज़वेल्ट ने अमरीकन कांग्रेस को आदेश जारी किया और १९३५ में 'सामाजिक-सुरक्षा-कानून' (Social Security Law) बन कर तैयार हो गया। १९३५ के कानून में वृद्धावस्था, मृत व्यक्ति के आश्रितों तथा अंगहीनों के लिए बीमे की व्यवस्था की गई, बेकारी के समय के बीमे की, काम करते हुए चोट आदि द्वारा आहत होने पर मुआविज़े की, रुग्णावस्था के समय सहायता, बच्चों की परवरिश, स्वास्थ्य आदि सब बातों का इस कानून में ध्यान रखा गया, और समय-समय पर जिस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई, उसके अनुसार इस कानून में सुधार भी किया जाता रहा। सरकार की तरफ़ से इस प्रकार के कार्यों के अलावा जनता की चेतना भी जागी और निजी तौर पर भी जन-हित के कार्य किये जाने लगे। इस कानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

[सरकार की तरफ़ से जन-हित के कार्य]

(i) **वृद्धावस्था**—१९३५ में अमरीका की फ़ेडरल गवर्नमेंट ने उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र में वृद्धावस्था की पेंशन का कानून जारी किया जिसके अनुसार काम करने तथा काम कराने वाले दोनों को कुछ हिस्सा जमा कराना पड़ता था। १९३९ में इस कानून में ऐसा संशोधन कर दिया गया जिससे अगर किसी व्यक्ति की कार्य-निवृत्ति की आयु से पहले या पेंशन मिलना शुरू होने पर ही मृत्यु हो जाय, तो उसकी स्त्री, बच्चों तथा अन्य आश्रितों को उसकी पेंशन का धन मिलता रहे। १९५० में इस कानून को उद्योग तथा व्यापार के क्षेत्र के बाहर भी लगा दिया गया। उदाहरणार्थ, खेतों में नियमपूर्वक काम करने वाले मज़दूरों, घरेलू काम करने वाले नौकरों को इस कानून के अन्तर्गत ले लिया गया। १९५४ और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९५६ में इस कानून का इतना विस्तार कर दिया गया कि अब संयुक्त राज्य अमरीका की संपूर्ण जनता इस कानून के अन्तर्गत आ जाती है। इस कानून के अनुसार काम करने तथा कराने वाले अपनी आय का २ प्रतिशत, और जो अपना स्वतंत्र धंधा करते हैं वे ३ प्रतिशत वृद्धावस्था के बीमे में लाज़मी तौर से जमा कराते हैं। यह राशि धीरे-धीरे बढ़ाई जाती रहेगी, यहाँ तक कि १९७५ तक २ प्रतिशत देने वाले ४ प्रतिशत और ३ प्रतिशत देने वाले ६ प्रतिशत अपने वृद्धावस्था के बीमे के लिए देने लगेंगे। १९५६ के अन्त में इस बीमे के धन से ९ लाख व्यक्तियों को वृद्धावस्था की पेंशन मिल रही थी जिसमें प्रतिमास ४८ करोड़ ५० लाख डालर व्यय हो रहा था। कानून में १ नवम्बर १९५६ के संशोधन के अनुसार पुरुष ६५ तथा स्त्री ६२ वर्ष की आयु में पेंशन ले सकती है। पेंशन इस आयु में पहुँचने मात्र से नहीं मिलने लगती, यह तभी मिलती है जब व्यक्ति इस आयु में पहुँच कर कमाई करने से उपराम हो जाता है। अमरीका में काम-धंधे के योग्य रहते हुए स्वस्थ व्यक्तियों में से कुल ५ प्रतिशत कार्य-निवृत्त होते हैं। बहुधा वे लोग ६८–६९ वर्ष तक काम किये जाते हैं। कम-से-कम पेंशन एक व्यक्ति को १०८.५० डालर मासिक मिलती है, विवाहित दम्पति को १६२.८० डालर। बीमा-शुदा मृत व्यक्ति की विधवा तथा एक बच्चे को १६२.८० डालर प्रतिमास, विधवा तथा दो बच्चों को २०० डालर प्रतिमास पेंशन दिये जाने की व्यवस्था है। बच्चों के लिए १८ वर्ष की आयु तक पेंशन दी जाती है, बाद को नहीं, अगर बच्चा बिल्कुल अपंग हो, तो इस आयु के बाद भी उसके लिए पेंशन जारी रहती है।

(ii) **कार्य करते हुए कार्य के लिए अयोग्य हो जाना**—किसी भयंकर शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट के आ पड़ने पर कई व्यक्ति अच्छा-भला कार्य करते हुए कार्य के अयोग्य हो जाते हैं। जुलाई १९५७ में १९३५ के 'सामाजिक-सुरक्षा-कानून' में ऐसा परिवर्तन कर दिया गया जिससे ५० तथा ६५ वर्ष की आयु के बीच में ऐसी कोई आपत्ति आ पड़े तो वृद्धावस्था की पेंशन के नियमों के अनुसार ही ऐसे व्यक्ति को पेंशन देने की व्यवस्था कर दी गई। भेद इतना रखा गया कि इसमें आपद्ग्रस्त व्यक्ति के आश्रितों को किसी प्रकार का धन देने की व्यवस्था नहीं की गई। कानून में इस बात की व्यवस्था भी रखी गई जिससे इस प्रकार के अयोग्य व्यक्ति को ठीक होकर काम में लग जाने का प्रोत्साहन मिले।

(iii) **१९३५ के पहले के व्यक्तियों को सहायता**—१९३५ में जब 'सामाजिक-सुरक्षा-कानून' पास हुआ तब सहायता के योग्य जो व्यक्ति इस कानून के अन्तर्गत नहीं आते थे उन्हें भी इसमें शामिल करने की व्यवस्था कर ली गई। उदाहरणार्थ, जो व्यक्ति १९३५ से पहले अवकाश ग्रहण कर चुके थे परन्तु सहायता के योग्य थे, जो बच्चे माता-पिता की मृत्यु के कारण निस्सहाय हो चुके थे, या अंगहीन थे, या अन्धे थे—इन सब को इस कानून में शामिल कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिया गया। १९५६ के अन्त में इस प्रकार के १९३५ से पहले के ५० लाख व्यक्तियों को सहायता मिल रही थी।

(iv) **बेकारी के समय का बीमा**—१९२९ में अमरीका में जो महामन्दी का काल आया, उस समय लाखों युवक बेकार हो गये। उस समय देश के नेताओं का ध्यान इस समस्या की तरफ़ विशेष रूप से आकर्षित हुआ। बेकारी दो तरह की हो सकती है—अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन। दीर्घकालीन बेकारी का हल करना तो कठिन है, अल्पकालीन बेकारी का ही राष्ट्र कोई हल निकाल सकता है। १९४५ के कानून के अनुसार प्रत्येक उद्योगपति तथा वाणिज्य-व्यवसायपति को जिसके पास चार या इससे अधिक व्यक्ति काम कर रहे हों, बेकारी के बीमे के लिए कुछ राशि देनी पड़ती है। इस समय अमरीका में दो-तिहाई कर्मचारियों का बेकारी का बीमा हो चुका है। बेकारी के समय काम करते समय की मज़दूरी का आधा धन मिलता है और इसकी अवधि ६ से ३० सप्ताह तक हो सकती है। बेकारी के समय सुरक्षा देने का यह अभिप्राय है कि व्यक्ति देख-भाल कर अपने अनुकूल कार्य को ढूंढ सके, यूँ ही जो काम हाथ आ जाय उसमें पड़ कर अपनी योग्यता को कुंठित न करे।

(v) **श्रमी को मुआविज़ा**—समाज-कल्याण तथा सुरक्षा के लिए जैसे १९३५ का कानून पास हुआ, वैसे श्रमियों को काम करते हुए चोट आदि लग जाने के कारण जो क्षति पहुँचती है, उसकी पूर्ति के लिए मुआविज़े के अनेक कानून बनाये गये जिनके अनुसार घातक चोट लगने से मृत्यु हो जाने पर निकटतम सम्बन्धियों को तत्काल सहायता मिल जाती है। इस प्रकार के कानून १० राज्यों में १९११ में लागू हो गये थे, १९२० तक दो-तिहाई राज्यों में और १९४८ तक अमरीका के सब राज्यों में इस प्रकार के मुआविज़े के कानून पास कर दिये गये। इन कानूनों के बनने से पहले जिस श्रमी को चोट लगती थी, उसे मुआविज़ा लेने के लिए मालिक के ऊपर दावा दायर करना पड़ता था और मालिक यह साबित करने का प्रयत्न करता था कि जिस प्रकार की श्रमी को चोट पहुँची है, यह इस प्रकार के व्यवसाय में आम घटना है या जिसे चोट लगी है उसकी अपनी या उसके साथियों की असावधानी से चोट लगी है। मुआविज़े के कानूनों के पास हो जाने पर ऐसा कुछ नहीं करना पड़ता। यह समझा जाता है कि व्यवसाय को चलाने के लिए, वस्तु के उत्पादन के लिए जैसे अन्य खर्चे ज़रूरी हैं, वैसे आहत व्यक्तियों को मुआविज़ा देना भी उन्हीं ज़रूरी खर्चों के अन्तर्गत है। मुआविज़े का खर्च देने के लिए या तो मालिक को श्रमी का बीमा कराना पड़ता है, या यह साबित करना पड़ता है कि बिना इस प्रकार का बीमा कराये वह मौका पड़ने पर मुआविज़ा दे सकता है। पहले हम शारीरिक अथवा मानसिक कष्ट के कारण कार्य के अयोग्य हो जाने का वर्णन कर आये हैं। उसमें तथा घातक-चोट लगने से श्रमी की मृत्यु हो जाने में भेद है इसलिए उक्त दोनों प्रकार के कानून बनाये गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(vi) **रुग्णावस्था का बीमा**—स्वल्पकालीन बीमारी के पूर्ण काल तथा दीर्घकालीन बीमारी के प्रारंभ काल में कई राज्यों में २६ सप्ताह तक आधा वेतन दिये जाने के कानून बने हुए हैं।

(vii) **माताओं तथा बच्चों के लिए सहायता**—१९३५ के 'सामाजिक-सुरक्षा-कानून' में केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्य सरकारों को माताओं तथा बच्चों के स्वास्थ्य की सुरक्षा के लिए धन देने की व्यवस्था है। अंगहीन बालकों को सहायता देने तथा बालकों के अन्य कल्याणकारी साधनों को जुटाने के लिए भी इस कानून में कहा गया है। इस प्रकार की सहायता का अर्थ है माता के स्वास्थ्य की देख-रेख, पाठशालाओं में बच्चों के स्वास्थ्य का निरीक्षण तथा रोगों के प्रतिकार के उपाय आदि का प्रबन्ध। इस सब व्यवस्था से बच्चों तथा माताओं की मृत्यु-दर में बहुत कमी आ गई है। १९३५ से १९५५ के बीच बच्चों की मृत्यु-दर पहले से आधी रह गई है और माताओं की मृत्यु-दर पहले से दस में एक रह गई है। बच्चों की देख-रेख में 'समस्या-शिशुओं' को, जिन बच्चों की घर में देख-भाल नहीं होती, उन्हें तथा बालापराधियों को भी दृष्टि में रखा गया है। सामाजिक कार्यकर्ता ऐसे बच्चों का अध्ययन करते हैं, उन्हें समाज के योग्य बनाने का प्रयत्न करते हैं और कई बच्चों को भिन्न-भिन्न घरों में दत्तक-पुत्र की तरह रख कर उनकी देख-भाल कराने का प्रयत्न करते हैं। आजकल की विचारधारा यह है कि अनाथालयों में रखने के बजाय ऐसे बच्चों को पोषण-गृहों (Foster houses) में किन्हीं माता-पिता के सुपुर्द कर देना बच्चों के विकास के लिए अधिक उपयोगी रहता है, परन्तु ऐसे माता-पिता चुनना जो बच्चे के विकास को सामने रखते हुए उसकी देख-रेख करें, कठिन कार्य है।

(viii) **सार्वजनिक स्वास्थ्य**—सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को धन की सहायता देती है, परन्तु अपने-अपने राज्य में सार्वजनिक स्वास्थ्य की देख-भाल भिन्न-भिन्न राज्यों तथा स्थानिक निकायों (म्यूनिसिपैलिटी आदि) का कार्य है।

इनके अतिरिक्त सरकार की तरफ़ से युद्ध से लौटे हुए सैनिकों, सरकारी कर्मचारियों आदि के लिए विशेष तौर पर सुरक्षा के नियम बने हुए हैं।

[जनता की तरफ़ से जन-हित के कार्य]

अभी तक हमने सरकार की तरफ़ से किये जाने वाले सामाजिक-कल्याण के कार्यों का ज़िक्र किया। इस प्रकार के सरकार की तरफ़ से किये जाने वाले कार्यों के अलावा जनता की जो चेतना जागी, उसके द्वारा भी समाज-कल्याण के अनेक कार्य किये गये। वे कार्य क्या थे ?

(i) **वैयक्तिक योग्यता**—क्योंकि अमरीका की अर्थ-व्यवस्था समाजवादी न होकर व्यक्तिवादी है, इसलिए वहाँ समाज-कल्याण की दिशा भी व्यक्ति को अधिक-से-अधिक समर्थ बनाने की तरफ़ है ताकि व्यक्ति को अपने कष्ट के दिनों में किसी दूसरे का मुँह न ताकना पड़े। अमरीका में व्यक्ति को इस योग्य बनाने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयत्न किया जाता है जिससे अधिक-से-अधिक व्यक्ति सम्पत्ति के स्वामी बन सकें, उनके पास अपना मकान हो, आमदनी से बचाकर वे मौके-बे-मौके के लिए रुपया जमा कर रख सकें, अपना ज़िन्दगी का बीमा करायें। व्यापारी फ़र्में अपने निजी व्यापार में पेंशन की सुविधा देने लगी हैं। १९५६ में २३,००० फ़र्मों ने पेंशन की व्यवस्था की हुई थी जिसके अन्तर्गत १ करोड़ ४० लाख व्यक्ति आते थे। फ़र्मों को पेंशन की व्यवस्था करने के लिए सरकार की तरफ़ से भी प्रोत्साहन दिया जाता है, उनके टैक्स आदि में कुछ कमी कर दी जाती है।

(ii) **साल भर के निश्चित पारिश्रमिक की गारन्टी**—कई व्यवसायों में उथल-पुथल इतनी अधिक होती है कि श्रमी को अपने लगातार कार्य पर लगे रहने का भरोसा नहीं होता। इस समस्या को हल करने के लिए १९५५ में मालिकों तथा मोटर, लोहा, रबर एवं एलमूनियम में काम करने वाले श्रमियों के संघों में एग्रीमेंट हुआ कि व्यवसाय की कैसी ही हालत क्यों न हो, श्रमियों को साल भर का पारिश्रमिक अवश्य दिया जायगा। बेकारी के समय राज्य-सरकारों से जो बेकारी का भत्ता दिया जाता है, उसके साथ-साथ कम्पनियाँ भी अपने बेकार लोगों को अपने फंड से अपना हिस्सा देती हैं। उदाहरणार्थ, फ़ोर्ड मोटर कम्पनी अपने बेकारों को राज्य सरकार के बेकारी के भत्ते के अलावा ६ मास तक बेकारी का भत्ता अपने फंड में से देती है। इस प्रकार फ़ोर्ड कम्पनी के बेकारों को राज्य-सरकार तथा फ़ोर्ड कम्पनी का बेकारी का भत्ता मिला कर अपने पारिश्रमिक का ६० प्रतिशत मिल जाता है।

(iii) **ज़िन्दगी का बीमा**—अमरीका में ज़िन्दगी का बीमा ६० प्रतिशत व्यक्ति कराते हैं। १९५५ में १० करोड़ ३० लाख व्यक्तियों ने बीमा कराया हुआ था। एक-एक व्यक्ति का बीमा तो होता ही है, कई व्यक्तियों का इकट्ठा बीमा भी होता है, जो एक-एक व्यक्ति के बीमे से सस्ता पड़ता है। सरकार तथा प्राइवेट कम्पनियाँ अपने यहाँ काम करने वाले अनेक व्यक्तियों का सामूहिक बीमा करा लेती हैं, जिससे हर व्यक्ति को संकट के समय लाभ पहुँच जाता है। आकस्मिक मृत्यु हो जाने पर कई कम्पनियाँ बीमे का दुगुना धन देती हैं, कई चोट आदि का बीमा करती हैं। हाल में कई ऐसी कम्पनियाँ बनी हैं जो ऐसे व्यक्तियों का बीमा करती हैं, जिन्होंने कर्ज़ लेकर मकान बनाये हैं। अगर वे कर्ज़ को अदा नहीं कर सकते या अदा करने से पहले मर जाते हैं, तो कम्पनी सारा कर्ज़ अदा करती है।

(iv) **स्वास्थ्य का बीमा**—जो लोग बीमे की किश्तें स्वयं दे सकते हैं, या जिनके मालिक ये किश्तें दे सकते हैं, वे अपना अथवा अपने कर्मचारियों का स्वास्थ्य का बीमा करा लेते हैं। ये बीमे तीन प्रकार के लाभ के लिये होते हैं। एक लाभ तो यह है कि जबतक रोगी अस्पताल में रहता है, तबतक का कुछ निश्चित दिनों का अस्पताल का सारा ख़र्च बीमा कम्पनी देती है। दूसरा लाभ ऑपरेशन के समय का है। अगर बीमाशुदा व्यक्ति को ऑपरेशन कराना पड़ जाय, तो उसका सारा ख़र्च बीमा कम्पनी देती है। तीसरा लाभ चिकित्सा-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

व्यय का है। अगर कोई सख्त बीमार पड़ जाय या दुर्घटनाग्रस्त हो जाय तो उसका खर्च भी बीमा कम्पनी देती है। इन तीनों प्रकार का बीमा अलग-अलग कराना पड़ता है। १९५५ में अमरीका में १०७.७ मिलियन व्यक्तियों ने अस्पताल-बीमा, ९१.१ मिलियन ने ऑपरेशन बीमा तथा ५५.५ मिलियन ने चिकित्सा-व्यय बीमा कराया हुआ था।

(v) **दान तथा समाज-कल्याण**—अमरीका में सरकारी टैक्स द्वारा समाज-कल्याण के कार्यों को सहायता मिलने के अतिरिक्त करोड़ों रुपया दान द्वारा भी मिलता है। १९५५ में धार्मिक संस्थाओं, स्वास्थ्य तथा कल्याणकारी कार्यों, स्कूलों, अस्पतालों तथा विदेशों में संकटग्रस्त व्यक्तियों को सहायता के रूप में ६ अरब डालर दिया गया था जो संपूर्ण राष्ट्र की आय का २ प्रतिशत है। अमरीकन-कोरियन फौंडेशन तथा को-ऑपरेटिव फ़ौर अमेरिकन रिमिटैन्सेस टु ऐंब्रीवेयर (CARE) द्वारा कृषि-संबंधी अनेक वस्तुएँ एवं वस्त्र, औषध तथा आर्थिक-सहायता भिन्न-भिन्न देशों को वितरण की जाती है। १९५६ में ७० करोड़ पौंड खाद्य पदार्थ अन्य देशों में सहायता के रूप में भेजा गया जिसका मूल्य १८ करोड़ डालर था। इन्हीं साधनों द्वारा ३ करोड़ डालर की औषध, वस्त्र आदि तथा इतने ही करोड़ की आर्थिक-सहायता वितरित की गई। जन-सेवा करने वाली इसी प्रकार की एक संस्था रेड-क्रॉस है जिसे दान के रूप में १९५५ में ९ करोड़ ४५ लाख डालर प्राप्त हुए। इस धन को सार्वजनिक हित में लगाया गया। १९५६ में रेड-क्रॉस ने हंगरी के विस्थापितों की सहायता के लिए अपील जारी की जिसमें ५० लाख डालर दान प्राप्त हुआ।

इनके अतिरिक्त अमरीका में तपेदिक, बच्चों का लकवा, हृदय के रोग, कैंसर आदि की गवेषणा तथा इन रोगों के पीड़ितों के लिए अनेक सभा-सोसाइटियाँ बनी हुई हैं, जिन्हें करोड़ों डालरों का दान मिलता है और इससे वे अपना कार्य लगातार कर रही हैं।

अमरीका में ५००० फौंडेशन हैं जिनका काम दूसरों की सहायता करना है। इनके पास ७ अरब डालर की सम्पत्ति जमा है जिसके सूद से ये पात्रों की सहायता करते हैं। मोटर-व्यवसाय के हैनरी फ़ोर्ड ने फ़ोर्ड फौंडेशन की स्थापना की हुई है। इन्होंने २ अरब डालर की सम्पत्ति सिर्फ़ जन-कल्याण के लिए अलग कर रखी है। १९५५ में इस फौंडेशन की तरफ़ से ७ करोड़ डालर जन-कल्याण के लिए व्यय किया गया जिससे शिक्षा, विज्ञान के कार्यों को तथा युरोप, एशिया, अफ्रीका आदि देशों में आर्थिक-विकास को सहायता दी गई। इसी प्रकार रौकफ़ैलर फौंडेशन के पास ३० करोड़ डालर की पूँजी सिर्फ़ जन-कल्याण के कार्यों में सहायता देने के लिए जमा है। न्यूयार्क के कारनेगी कॉरपोरेशन ने २० करोड़ डालर की पूँजी जन-कल्याण के कार्यों के लिए अलग कर छोड़ी है। इस प्रकार अमरीका में अपने ढंग से समाज-कल्याण तथा पुनर्निर्माण का कार्य हो रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

१. राज्य द्वारा पुनर्निर्माण का विरोध करने वाले 'प्राकृतिक अधिकारवादी', 'उपयोगितावादी', 'अर्थशास्त्री' तथा 'सामाजिक अवयवी-वादी' क्या कहते हैं ?

२. सामाजिक-पुनर्निर्माण के संबंध में फ्रांस के नोयल बावेफ़, चार्ल्स फ़ूरियर, लूई ब्लां तथा इंगलैंड के रावर्ट ओवन के विचार लिखिए।

३. सामाजिक-पुनर्निर्माण के संबंध में इंगलैंड के 'मूलपरिवर्तनवादियों' (Radicals) के क्या विचार थे ? मूलपरिवर्तनवादी व्यक्तिवाद के पोषक होते हुए भी राज्य द्वारा हस्तक्षेप किये जाने के पक्ष में क्यों थे ?

४. बेवरिज योजना के संबंध में आप क्या जानते हैं ? (आगरा १९५३; राजस्थान १९५५, १९६१)

५. अमरीका में सामाजिक-पुनर्निर्माण के संबंध में सरकारी तथा ग़ैर-सरकारी तौर पर क्या किया जा रहा है ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७

भारत में सामाजिक-पुनर्निर्माण—पंचवर्षीय योजनाएँ

(SOCIAL RECONSTRUCTION IN INDIA— FIVE YEAR PLANS)

१. आयोजन का अर्थ

किसी निश्चित सामाजिक अथवा आर्थिक उद्देश्य को सम्मुख रखकर उपलब्ध साधनों को, किसी निश्चित काल में इस प्रकार संगठित करना जिससे अधिकतम लाभ प्राप्त हो सके 'आयोजन' (Planning) कहलाता है।

'आयोजन' की प्रक्रिया में चार बातें आ जाती हैं :—

(क) उद्देश्य निश्चित करना,

(ख) साधनों को जुटाना,

(ग) उद्देश्य पूर्ति का समय निश्चित करना,

(घ) उपलब्ध साधनों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना।

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Indicate the social implications of economic planning in India. (1957)

2. Describe briefly the progress made by our country as a result of the Five Year Plans. (1960)

3. Point out the main provisions incorporated in the Second Five Year Plan to deal with the health problem of the country. (1961)

4. Review the efforts being made by the Indian Government for promoting the welfare of the people. (1962)

5. "The Five Year Plans of India are primarily economic plans." Discuss the statement with particular reference to social aspects of planning. (1962)

6. Review the measures incorporated in the Third Five Year Plan for 'Social Welfare'. (1963)

7. Discuss the nature and feasibility of planning in a democratic society. How does economic planning differ from social planning? In what sense do they overlap? (*Rajasthan, 1954*)

8. What social changes are envisaged in the Second Five Year Plan? To what extent can it bring about a socialistic pattern of society? (*Rajasthan, 1957*)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) **उद्देश्य**—उदाहरणार्थ, हमने अपने देश का दो तरह का आयोजन करना है—सामाजिक-आयोजन तथा आर्थिक-आयोजन। ये हमारे उद्देश्य हैं। दहेज़-प्रथा को रोकना, बाल-विवाह पर प्रतिबन्ध लगाना, हरिजनों का कल्याण करना—ये सब सामाजिक-आयोजन हैं, और हमारे सामाजिक-आयोजन के उद्देश्य हैं। इसी प्रकार राष्ट्र की आय बढ़ाना, राष्ट्र के प्रति व्यक्ति की आय बढ़ाना, बेकारी दूर करना—ये सब आर्थिक-आयोजन हैं, और हमारे आर्थिक-आयोजन के उद्देश्य हैं।

(ख) **साधन**—उद्देश्य निश्चित कर लेने के बाद उस उद्देश्य को पूरा करने वाले 'साधनों' को जुटाना 'आयोजन' की प्रक्रिया का दूसरा अंग है। उदाहरणार्थ, दहेज़-प्रथा, बाल-विवाह को रोकने के लिए, हरिजनों को उनके मानवता के अधिकार दिलाने के लिए आन्दोलन करना, विधान-सभाओं में इन सब के लिए कानून बनवाना—ये सब सामाजिक-साधन हैं; राष्ट्र तथा व्यक्ति की आय बढ़ाने के लिए कृषि तथा उद्योगों को बढ़ावा देना—ये सब आर्थिक-साधन हैं।

(ग) **समय**—उद्देश्य भी निश्चित हो गया, साधन भी जुटा लिये, किन्तु अगर उद्देश्य-पूर्ति की अवधि निश्चित न की गई तब तो आयोजन पूरा नहीं कहला सकता। दहेज़-प्रथा को रोकना है, राष्ट्रीय-आय बढ़ानी है, परन्तु कब तक यह लक्ष्य पूरा होगा? एक महीने में, एक साल में, पाँच साल में, या जब भी पूरा हो जाय? रूस ने पहले-पहल १९२८ में पंचवर्षीय योजनाओं को चलाना शुरू किया, और क्योंकि योजनाओं के लिए समय निश्चित कर दिया गया था इसलिए १० वर्षों में ही उस देश ने आश्चर्यजनक उन्नति कर ली। हम भी पंचवर्षीय योजनाएँ बना रहे हैं। ऐसा क्यों? ऐसा इसलिए ताकि हमारी योजनाएँ सिर्फ़ काग़ज़ी योजनाएँ न रहें, यथार्थ में आ जायें। 'आयोजन' की प्रक्रिया में समय का निश्चित कर देना आवश्यक तत्व है।

(घ) **साधनों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना**—'आयोजन' में चौथी बात है साधनों से अधिक-से-अधिक लाभ उठाना। साधन मौजूद हों परन्तु योजनानुसार हम न चल रहे हों, वे होते हुए भी बेकार होते चले जायें, तो हमारा काम खर्चीला हो जायगा, योजना-हीन हो जायगा। हमें प्रयत्न करना होगा कि कम-से-कम खर्चे में अधिक-से-अधिक काम हो जाय।

इस प्रकार जब किसी कार्य में उद्देश्य, साधन, समय, लाभ—इन चार बातों पर ध्यान देकर उसे पूरा करने का प्रयत्न होता है, तब हम इस कार्य करने की पद्धति को 'आयोजन' (Planning) कहते हैं। 'आयोजन' से ही सामाजिक तथा आर्थिक 'पुनर्निर्माण' (Reconstruction) हो सकता है। इसी दिशा में भारत में पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा प्रयत्न हो रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. राज्य द्वारा आयोजन की आवश्यकता—इसका महत्व

किसी काम को करने के दो तरीके हैं। एक तो जैसे-तैसे अंट-संट उसे करते जाना। जो चीज़ सामने आई उसे करने लगना, करते-करते दूसरी सामने आ गई, तो पहली को छोड़कर दूसरी पर जुट जाना। यह रास्ता काम को वेतर-तीबी से करने का है। इसमें सब काम अधूरे रह जाते हैं, जो पूरे भी होते हैं, वे साल की जगह पाँच साल ले जाते हैं। दूसरा तरीका हर काम को तरतीब से करने का है। जो काम करने हैं उनमें से सब से ज्यादा ज़रूरी कौन-सा है, उसे कितने समय में पूरा करना है, क्या-क्या साधन जुटाने हैं—जब इन सब पर विचार करके किसी तरतीब से, किसी योजना से काम किया जाता है, तब काम ढंग से पूरे हो जाते हैं, थोड़े समय में पूरे हो जाते हैं।

जिस युग में से हम अभी निकले हैं उसमें लोगों का आयोजन की तरफ़ ध्यान तो था, परन्तु आयोजन होना-न-होना बराबर था। इसका कारण यह था कि योजना बनाना तथा उसे चलाना समाज के हाथ में न होकर व्यक्ति के हाथ में था। यह पूँजीवाद का युग था, इसमें पूँजीपति ही निश्चय करता था कि क्या काम होना चाहिए, क्या नहीं होना चाहिए, पूँजीपति के हाथ में ही सारी शक्ति केन्द्रित थी। क्योंकि जो काम होना था, पूँजी के बिना तो वह हो नहीं सकता था, इसलिए जिस काम में पूँजीपति को अपनी पूँजी बढ़ती दीखती थी वह उसी में हाथ लगाता था, जिसमें पूँजी बढ़ती नहीं दीखती थी, उसमें समाज का कितना भी भला क्यों न हो, पूँजीपति उधर देखता भी न था। पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद साथ-साथ रहनेवाले भाई-बहन हैं, इसलिए पूँजी का विनियोग समाज के भले के लिए न होकर व्यक्ति के भले के लिए होता था। व्यक्ति—अर्थात् पूँजीपति ऐसे कामों में भी पूँजी लगाता था जिसमें समाज का कल्याण तो क्या, समाज का सरासर नुक्सान होता था। अफ़ीम का व्यापार करने के लिए, शराब के कारख़ाने खोलने के लिए, व्यभिचार के अड्डे बनाने के लिए लाखों, करोड़ों रुपये का व्यय पूँजीवाद तथा व्यक्तिवाद के युग में ही संभव था।

आज युग ने पलटा खाया है। आज यह समझा जाने लगा है कि योजना तथा सामाजिक-पुनर्निर्माण का कार्य व्यक्ति के हाथ में न होकर समाज के हाथ में होना चाहिए, पूँजीपति के हाथ में न होकर राष्ट्र के हाथ में होना चाहिए। व्यक्ति व्यक्ति के कल्याण की योजना तो बना सकता है, अपने भले की बात सोच सकता है, समाज के भले की बात नहीं सोच सकता। समाज तथा राष्ट्र ही ऐसी योजनाएँ बना सकते हैं, जिनमें बेशक पैसे का नुक्सान हो, परन्तु समाज का कल्याण हो। समाज की शिक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा, उत्तम-भोजन, गृह-व्यवस्था आदि पर पूँजीपति तो तभी तक पैसा खर्च करेगा जहाँ तक उसे इनमें अपना निजी लाभ दिखलाई देगा, उससे आगे एक कौड़ी भी खर्च नहीं करेगा, परन्तु समाज तथा राष्ट्र तो इन मदों पर खर्च-ही-खर्च क्यों न होता हो, क्योंकि इन पर खर्च करने से समाज का भला होता है, इसलिए वे इन दिशाओं में जी खोलकर खर्च करते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यही कारण है कि आज जो युग आ रहा है, उसमें योजना का कार्य व्यक्ति अर्थात् पूँजीपति के हाथ से समाज अर्थात् राष्ट्र के हाथ में आता जा रहा है।

३. सामाजिक तथा आर्थिक नियोजन का एक-दूसरे से संबंध*

(क) **सामाजिक तथा आर्थिक नियोजन का भेद**—नियोजन के दो पहलू हैं, सामाजिक तथा आर्थिक। इन दोनों पहलुओं पर ध्यान देने से ही देश का पुनर्निर्माण हो सकता है। सामाजिक तथा आर्थिक पहलुओं में क्या-क्या बातें आ जाती हैं?

(i) **सामाजिक-नियोजन**—सामाजिक-नियोजन में अपने देश में समाज के पुनर्निर्माण की वे सब बातें आ जाती हैं जिनसे समाज को आमूलचूल बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ, सामाजिक-नियोजन में भारत में निम्न बातें आ जाती हैं :—

(a) **समाज-सुधार**—बाल-विवाह निषेध, दहेज़ प्रथा पर प्रतिबन्ध, विधवा-विवाह को प्रोत्साहन, हरिजनोद्धार आदि समाज-सुधार में आ जाते हैं।

(b) **स्त्री-शिक्षा**—१९५६–५७ में शिक्षा पा रहे लड़कों की संख्या २.४४ करोड़ थी, परन्तु शिक्षा पा रही लड़कियों की संख्या कुल ८८ लाख थी। जिसका अर्थ यह हुआ कि स्त्री-शिक्षा तथा पुरुषों की शिक्षा में अपने देश में भारी अन्तर है।

(c) **परिवार-नियोजन**—भारत में प्रतिवर्ष ७० लाख नये प्राणी जन्म लेते हैं। इससे बेकारी बढ़ती है। इतनी बढ़ती जन-संख्या का पेट भरना कठिन हो रहा है। परिवार-नियोजन द्वारा जन-संख्या पर नियन्त्रण रखना सामाजिक-नियोजन है।

(d) **पिछड़े वर्गों की उन्नति**—पिछड़े वर्गों में 'अनुसूचित जातियाँ' (Scheduled tribes) तथा 'विमुक्त जातियाँ' (Denotified tribes) आ जाती हैं। इनके कल्याण के कार्य करना सामाजिक-नियोजन है।

उक्त कार्यों के अतिरिक्त श्रमिकों का कल्याण, आवास, बाल-कल्याण, जल-प्रबन्ध आदि समस्याएँ सामाजिक समस्याएँ हैं, और इनको सामाजिक-नियोजन द्वारा ही हल किया जा सकता है।

(ii) **आर्थिक-नियोजन**—आर्थिक-नियोजन में अपने देश में आर्थिक-क्षेत्र के पुनर्निर्माण की वे सब बातें आ जाती हैं जिन से समाज के आर्थिक ढांचे को आमूल-चूल बदला जा सकता है। उदाहरणार्थ, आर्थिक-नियोजन में निम्न बातें आती हैं :

*** 1. How does economic planning differ from social planning? In what sense do they overlap? (Rajasthan, 1954)**

2. Indicate the social implications of economic planning in India. (Agra, 1957)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(a) **कृषि-सुधार**—भारत की ७० प्रतिशत जनता कृषि पर अवलंबित है। देश की राष्ट्रीय-आय का आधा हिस्सा कृषि की पैदावार से आता है। कपड़े, पटसन, खांड की मिलों को कच्चा माल कृषक लोग ही देते हैं। इसलिए देश के आर्थिक-पुनर्निर्माण के लिए कृषि के आधुनिक उपकरणों का प्रयोग, उत्तम बीज तथा खाद का उत्पादन तथा इन दिशाओं में सुधार अत्यन्त आवश्यक है।

(b) **छोटे तथा बड़े उद्योग**—देश के आर्थिक विकास के लिए छोटे तथा बड़े—दोनों प्रकार के उद्योग-धंधों को बढ़ाना होगा। ग्राम-प्रधान देश में ऐसे कुटीरोद्योगों को बढ़ावा देना जो आसानी से, बिना अधिक व्यय के घर बैठे चलाये जा सकें, आवश्यक है। किसान साल भर खेती में व्यस्त नहीं रहता। जो फसल के दिन होते हैं उन्हें छोड़ कर अन्य दिनों के लिए उसे कुटीरोद्योगों द्वारा ही काम दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त बड़े उद्योग तो आवश्यक हैं ही।

(c) **बेकारी दूर करना**—श्रम और नियोजन मंत्रालय की १९६३–६४ की रिपोर्ट के अनुसार दिसम्बर १९६३ तक रोजगार-कार्यालयों में नाम दर्ज कराने वालों की संख्या ३२,०२,३९९ थी। इनमें शिक्षित बेकारों की संख्या दिसम्बर १९६२ में ७,०८,३५६ थी, जो दिसम्बर १९६३ में ७,३९,०६६ हो गई। कृषि-सुधार द्वारा, छोटे-बड़े कारखानों तथा आर्थिक-नियोजन के अन्य साधनों द्वारा इस बेकारी को दूर करना आवश्यक है।

(ख) **सामाजिक तथा आर्थिक नियोजन एक-दूसरे पर आश्रित हैं**—हम अभी लिख आये हैं कि नियोजन के दो पहलू हैं, सामाजिक तथा आर्थिक। सामाजिक पहलू में समाज-सुधार, स्त्री-शिक्षा, परिवार-नियोजन, पिछड़े वर्गों की उन्नति आ जाता है; आर्थिक पहलू में कृषि, छोटे तथा बड़े उद्योग, बेकारी दूर करना आदि आ जाता है। इन दोनों का कार्य-क्षेत्र भिन्न-भिन्न होते हुए भी यह समझना कि ये सर्वथा भिन्न हैं ग़लत धारणा है। सामाजिक का आर्थिक पर और आर्थिक का सामाजिक पर प्रभाव पड़ता है। स्त्री-शिक्षा के अभाव में ग़रीबी हो सकती है, ग़रीबी का परिणाम स्त्री-शिक्षा का अभाव हो सकता है; हरिजनों को समाज में निम्न स्तर का मानने से उनमें दरिद्रता बढ़ सकती है, हरिजनों के दरिद्र होने के कारण उन्हें समाज में ऊँचा स्तर दिये जाने का विरोध हो सकता है। किसी भी राष्ट्र के सामाजिक तथा आर्थिक पहलू एक-दूसरे से इतने सटे रहते हैं कि अगर वह राष्ट्र चौमुखी उन्नति करना चाहता है, तो उसे इन दोनों पक्षों की तरफ़ ध्यान देना होगा। यह नहीं हो सकता कि कोई राष्ट्र आर्थिक-दृष्टि से उन्नति करता जाय, और सामाजिक-दृष्टि से पछड़ा रहे, न यही हो सकता है कि सामाजिक-दृष्टि से वह आगे बढ़ता जाय और आर्थिक-दृष्टि से पछड़ा रहे। एक के क्षेत्र में दूसरे का क्षेत्र स्वयं आ जाता है। यही कारण है कि भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में आर्थिक-नियोजन के साथ-साथ सामाजिक-नियोजन को जोड़ दिया गया है और जहाँ कृषि, उद्योग-धंधों पर करोड़ों रुपया व्यय किया गया है वहाँ सामाजिक समस्याओं को हल करने के लिए भी करोड़ों ही रुपया व्यय के लिए रखा गया है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. भारत में आयोजन द्वारा पुनर्निर्माण*

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतंत्र हुआ। स्वतंत्र होते ही राष्ट्रीय सरकार ने देश के सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण का विचार शुरू किया। इस उद्देश्य से १९५० में 'योजना-आयोग' (Planning Commission) की स्थापना की गई। इसके अध्यक्ष पं० जवाहरलाल नेहरू हुए। इस आयोग की सिफ़ारिशों पर केन्द्र तथा प्रान्त की सरकारें विचार कर सकें—इस उद्देश्य से अगस्त १९५२ में 'राष्ट्रीय-विकास-परिषद्' (National Development Council) की स्थापना हुई। 'योजना-आयोग' के कार्य-क्रम पर यही 'राष्ट्रीय-विकास-परिषद्' विचार करती है। इस परिषद् में भारत के प्रधान-मंत्री तथा राज्य-सरकारों के सभी मुख्य मंत्री सदस्य हैं।

'योजना-आयोग' ने पहले प्रथम, फिर द्वितीय, फिर तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं का निर्माण किया। इन योजनाओं द्वारा देश का सामाजिक तथा आर्थिक पुनर्निर्माण हो रहा है इसलिए इन तीनों योजनाओं का यहाँ संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है।

हम इन योजनाओं का वर्णन करते हुए योजना के उद्देश्य, उसे पूर्ण करने के साधन तथा उसके मूल्यांकन का उल्लेख करेंगे। तृतीय-योजना अभी शुरू हुई है इसलिए उसका मूल्यांकन तो हो नहीं सकता। उसके संबंध में सिर्फ़ उद्देश्य तथा साधन का ही उल्लेख होगा।

५. प्रथम पंचवर्षीय योजना
(१९५१–१९५६†)

[उद्देश्य—कल्याण-राज्य की स्थापना]

प्रथम पंचवर्षीय योजना का, जो १९५१ से १९५६ तक चली, उद्देश्य 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) की स्थापना करना था। अबतक देश में विदेशी शासन चला आ रहा था इसलिए उनकी इस दिशा में कोई विशेष नीति नहीं थी। स्वराज्य प्राप्ति का पहला परिणाम यह स्वाभाविक था कि राज्य को कल्याण-राज्य का रूप दिया जाय। कल्याण-राज्य के लिए यह आवश्यक था कि देश की आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं की तरफ़ एकदम ध्यान दिया जाय। इस उद्देश्य से जो पहली पंचवर्षीय योजना बनाई गई उसमें आर्थिक तथा सामाजिक मदों में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों द्वारा २,३५६ करोड़

---

* Review the efforts being made by the Indian Government for promoting the welfare of the people. (1962)

† सरकारी हिसाब के अनुसार अप्रैल से वित्तीय-वर्ष प्रारंभ होता है, इसलिए १९५१ का अर्थ है १९५१ का अप्रैल और १९५६ का अर्थ है १९५६ का मार्च। इस प्रकार पाँच वर्ष बनते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रुपया व्यय करने का निश्चय किया गया किन्तु प्रथम-योजना के अन्त में १,९६० करोड़ रुपया व्यय हुआ। प्रस्तावित व्यय तथा वास्तविक व्यय का ब्यौरा निम्न है :

प्रथम योजना का प्रस्तावित तथा वास्तविक व्यय*

योजना की मदें	प्रस्तावित व्यय (करोड़ों में)	कुल व्यय का प्रतिशत	वास्तविक व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
(१) कृषि और सामुदायिक विकास	३५७	१५.१	२९१	१५.००
(२) सिंचाई, बिजली और बाढ़ों का नियन्त्रण	६६१	२८.१	५७०	२९.००
(३) उद्योग और खनिज	१७९	७.६	११७	६.००
(४) परिवहन और संचार	५५७	२३.६	५२३	२७.००
(५) समाज-सेवा, मकान, पुनर्वास	५३३	२२.६	४५९	२३.००
(६) विविध	६९	३.००	—	—
	२,३५६	१००.००	१,९६०	१००.००

प्रथम पंचवर्षीय योजना में देश के आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण पर जो व्यय हुआ वह निम्न था :†

(क) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा राजकीय-क्षेत्र में व्यय (आॅउटले) १,९६० करोड़

(ख) राजकीय-क्षेत्र में पूँजी का 'निवेश' या 'विनियोग' (इनवेस्टमेंट) १,५६० करोड़

(ग) निजी-क्षेत्र में पूँजी का 'निवेश' या 'विनियोग' (इनवेस्टमेंट) १,८०० करोड़

[साधन—आर्थिक तथा सामाजिक साधन]

कल्याण-राज्य को स्थापित करने के लिए जिन साधनों का सहारा लिया गया उन्हें दो भागों में बाँटा जा सकता है—आर्थिक तथा सामाजिक। ये दोनों साधन क्या हैं ?

(क) आर्थिक साधन (कृषि) —१९६१ की जन-गणना के अनुसार अपने देश की ४३ करोड़ ९० लाख जनता में से, जिसमें गोआ, दमन, दीव, दादरा, नागर हवेली तथा नेफ़ा की ३० लाख जन-संख्या शामिल नहीं है, ३५.८५ करोड़

* देखो Third Five Year Plan—पृ० ३३।

† INDIA—1962—पृ० १७६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जनता गाँवों में बसती है। ये ३५.८५ करोड़ देश की सारी जन-संख्या का ८२.२ प्रतिशत हैं, बाकी ८.०५ करोड़ जो सारी जन-संख्या का १७.८ प्रतिशत है, शहरों में बसती है। ये ८२.२ प्रतिशत ५ लाख गाँवों में रहते हैं जिनका मुख्य व्यवसाय कृषि है। इसलिए भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण का अर्थ है कृषि का सुधार। यही कारण है कि प्रथम योजना में कृषि पर सारी योजना का १५ प्रतिशत व्यय किया गया।

कृषि के विकास को योजना में बाँधने के लिए १९५२ में 'सामुदायिक विकास प्रायोजना' (Community Development Project) को शुरू किया गया। इस योजना के अनुसार ६०–७० हज़ार की आबादी के क्षेत्र में जिसमें लगभग १०० गाँव हों, १५० से १७० वर्गमील भूमि हो, एक 'विकास-क्षेत्र' (Development block) माना गया, और यह योजना बनाई गई कि सारे देश को इस प्रकार के 'विकास-क्षेत्रों' में बाँट दिया जाय और प्रत्येक क्षेत्र में कृषि, परिवहन, सड़कें बनाई जायें ताकि प्रत्येक 'विकास-क्षेत्र' की आर्थिक स्थिति सुधरने के साथ सारे देश का आर्थिक पुनर्निर्माण हो सके।

(ख) सामाजिक साधन (केन्द्रीय तथा प्रान्तीय समाज-कल्याण बोर्ड)—देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए जैसे कृषि पर २९१ करोड़ रुपया व्यय किया गया वैसे सामाजिक पुनर्निर्माण पर, समाज-सेवा, मकानों की व्यवस्था तथा विस्थापितों के पुनर्वास पर ४५९ करोड़ रुपया व्यय किया गया। इनमें समाज-सेवा के लिए एक अलग विभाग खोला गया। १२ अगस्त १९५३ को सरकार ने एक 'केन्द्रीय-समाज-कल्याण-बोर्ड' (Central Social Welfare Board) स्थापित किया जिसका काम ग्रामों में शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज-कल्याण आदि के कार्य करना था। इसका कार्य-क्षेत्र अधिकतर स्त्रियों, बच्चों, अपंगों, अनाथों, विधवाओं आदि की समस्या को हल करना है।

[प्रथम-योजना का मूल्यांकन]*

(क) आर्थिक-क्षेत्र में मूल्यांकन—प्रथम योजना को आर्थिक-क्षेत्र में असाधारण सफलता प्राप्त हुई। उदाहरणार्थ,

(i) **राष्ट्रीय आय १८ प्रतिशत बढ़ी**—योजना प्रारंभ करते समय १९५०–५१ में राष्ट्रीय-आय ९,११० करोड़ थी, योजना समाप्ति के समय १९५५–५६ में यह १०,८०० करोड़ हो गई। योजना प्रारंभ करते हुए आशा की गई थी कि राष्ट्रीय-आय में योजना-समाप्ति पर १२ प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी, परन्तु कृषि के क्षेत्र में असाधारण उन्नति के कारण राष्ट्रीय-आय १२ के स्थान में १८ प्रतिशत बढ़ गई।

(ii) **प्रति व्यक्ति आय ११ प्रतिशत बढ़ी**—यह हो सकता था कि कुछ इने-गिने व्यक्तियों की आय असाधारण बढ़ जाने से राष्ट्रीय-आय तो बढ़ जाय, परन्तु

*** Describe briefly the progress made by our country as a result of the Five Year Plans. (1960)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रति व्यक्ति आय फिर भी न बढ़े। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। जहाँ राष्ट्रीय-आय बढ़ी वहाँ प्रति व्यक्ति आय भी ११ प्रतिशत बढ़ी।

(iii) **कृषि, बिजली, सिंचाई आदि में वृद्धि**—इस योजना-काल में कृषि के क्षेत्र में उत्पादन ५४० लाख टन से ६४९ लाख टन हो गया; बिजली का उत्पादन २३ लाख किलोवाट से ३४ लाख किलोवाट हो गया; सिंचाई ५१० लाख एकड़ से ६५० लाख एकड़ हो गई। इसी प्रकार इस काल में औद्योगिक उत्पादन बढ़ा, हर दिशा में विकास-ही-विकास हुआ।

(ख) **सामाजिक-क्षेत्र में मूल्यांकन**—प्रथम-योजना काल में सामाजिक क्षेत्र में जो कार्य हुआ उसका कुछ परिचय नीचे दिया जा रहा है :

(i) **नशा-निरोध** (Prohibition)—दिसम्बर १९५४ में 'नशा-निरोध जाँच समिति' (Prohibition Enquiry Committee) नियुक्त की गई जिसकी सिफ़ारिशों को ३१ मार्च १९५६ में पार्लियामेंट ने स्वीकार किया और देश भर में नशा-निरोध के कार्य-क्रम जारी करने का उपक्रम हुआ।

(ii) **स्त्रियों का अनैतिक व्यापार** (Immoral Traffic in Women and Girls)—१९५६ में व्यभिचार पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए एक विधेयक स्वीकार किया गया जिसके अनुसार १८ वर्ष से कम आयु की लड़कियों को व्यभिचार के लिए ख़रीदना-बेचना ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। व्यभिचार के अड्डों से बचा कर ऐसी कन्याओं को स्वस्थ जीवन बिताने की शिक्षा देने के लिए स्त्री-सदन खोले गये।

(iii) **केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड** (Central Social Welfare Board)—स्त्रियों, बच्चों, अनाथों, अपंगों की समस्याओं को हल करने के लिए अगस्त में शिक्षा-मंत्रालय के अधीन एक केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड स्थापित किया गया जिसने भिन्न-भिन्न राज्यों में समाज-कल्याण का कार्य करने के लिए 'राज्य-समाज-कल्याण सलाहकार बोर्ड' (State Social Welfare Advisory Boards) स्थापित किये। केन्द्रीय तथा राज्य के इन बोर्डों ने समाज-कल्याण के कार्य का देश भर में ताना-बाना बिछा दिया।

(ग) **सफलता में कमी**—प्रथम-योजना के संबंध में हमने ऊपर जो मूल्यांकन दिया है उसका यह अर्थ नहीं कि देश की सब समस्याएँ हल हो गईं। योजना-आयोग के कथनानुसार अब भी हमारे देश का जीवन-स्तर संसार के अन्य सब देशों से नीचा है। अपने देश में प्रथम-योजना प्रारंभ होने के समय १९५०-५१ में ३७.१८० लाख गज़ कपड़ा पैदा होता था, प्रथम-योजना समाप्ति पर १९५५-५६ में यह ५१,०२० लाख गज़ हो गया जो प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष सिर्फ़ १६ गज़ पड़ता था। इतने से कौन तन-बदन ढक सकता है? इसका यह अभिप्राय नहीं कि सब को इतना ही कपड़ा मिलता है। करोड़ों अमीर ज़रूरत से ज़्यादा कपड़ा ख़रीदते हैं तो करोड़ों को यह १६ गज़ भी नसीब नहीं होता। इसी प्रकार भोजन में जितनी कैलोरी चाहिएँ वे अपने यहाँ विरलों को मिलती हैं। शिक्षा के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

क्षेत्र में ६ से ११ वर्ष की आयु के ५० प्रतिशत बच्चे ही शिक्षा पा रहे हैं, बाकी घर बैठे रहते हैं, ११ से १४ वर्ष की आयु के २० प्रतिशत बच्चे ही शिक्षा पा रहे हैं, बाकी ८० प्रतिशत घर बैठते हैं। इस सब से स्पष्ट है कि यद्यपि हमने प्रथम पंचवर्षीय-योजना-काल में पर्याप्त उन्नति की, तो भी बहुत-कुछ करने को बाकी रह गया।

६. द्वितीय पंचवर्षीय योजना
(१९५६---१९६१)

हमने देखा कि प्रथम-योजना कुछ उद्देश्यों को लेकर चली थी, उन उद्देश्यों को पूरा करने के लिए कुछ साधन इस्तेमाल किये गये। इसमें कुछ सफलता मिली, कुछ नहीं मिली। चालू की हुई योजना को जारी रखने के लिए तथा जो कमी रह गई उसे पूरा करने के लिए १९५६--६१ की द्वितीय पंचवर्षीय-योजना का उपक्रम हुआ। इस योजना के संबंध में भी हम उद्देश्य, साधन तथा मूल्यांकन---इन तीन शीर्षकों के नीचे विचार करेंगे।

[उद्देश्य---समाजवादी-समाज की स्थापना*]

प्रथम पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य 'कल्याण-राज्य' (Welfare State) स्थापित करना था, द्वितीय पंचवर्षीय योजना का उद्देश्य 'कल्याण-राज्य' को दृढ़ करने के लिए 'समाजवादी-समाज' (Socialistic Society) को स्थापित करना था। 'समाजवादी-समाज' की नींव क्या हो सकती है? इसकी नींव है धन का अधिक-से-अधिक उत्पादन तथा उसका प्रजा में समान-वितरण। धन के अधिक-से-अधिक उत्पादन के लिए गाँवों में कृषि तथा शहरों में भारी एवं लघु उद्योगों को स्थापित करना तथा उत्पन्न पदार्थों को यातायात के साधनों द्वारा सब जगह पहुँचाना---यही साधन हो सकते हैं। इस उद्देश्य से प्रथम-योजना में जहाँ कृषि पर बल दिया गया था वहाँ द्वितीय-योजना में उद्योगों पर बल दिया गया। यही कारण है कि प्रथम-योजना में जहाँ कृषि तथा सिंचाई पर कुल योजना का ३१ प्रतिशत (१६+१५) व्यय किया गया, वहाँ द्वितीय-योजना में कृषि तथा सिंचाई पर कुल योजना का २० प्रतिशत (११+९) ही व्यय किया गया। इसके विपरीत प्रथम-योजना में जहाँ उद्योगों पर कुल योजना का ४ प्रतिशत ही व्यय किया गया था वहाँ द्वितीय-योजना में कुल योजना का २० प्रतिशत व्यय किया गया।† इस प्रकार उद्योगों पर बल देकर राष्ट्रीय-आय को और उसके साथ-साथ प्रतिव्यक्ति आय को बढ़ाने का प्रयत्न किया गया। परन्तु जैसा हम पहले कह आये हैं, सिर्फ़ राष्ट्रीय-आय बढ़ जाने से ही 'समाजवादी-समाज' (Socialistic Society) नहीं बन जाता। 'समाजवादी-समाज' बनाने के

---

* What social changes are envisaged in the Second Five Year Plan? To what extent can it bring about a socialistic pattern of society. (Rajasthan, 1957)

† देखो, Third Five Year Plan---पृ० ३३।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए धन के असमान-वितरण को रोकना आवश्यक है। कुछ व्यक्तियों के करोड़-पति हो जाने पर भी देश में भूखे-नंगों की संख्या बढ़ सकती है। इस अवस्था को रोकने के लिए इस काल में आय-कर, सम्पत्ति-कर, मृत्यु-कर—इस प्रकार के भिन्न-भिन्न कर लगाये गये ताकि धनी-निर्धन में भेद कम हो जाये। द्वितीय-योजना का लक्ष्य रखा गया था कि राष्ट्रीय-आय में जहाँ प्रथम-योजना में १८ प्रतिशत की वृद्धि हुई थी, वहाँ द्वितीय-योजना में २५ प्रतिशत की वृद्धि हो।*

प्रथम तथा द्वितीय योजना का तुलनात्मक वास्तविक व्यय†

योजना की मदें	प्रथम योजना (करोड़ रु० में)	प्रतिशत	द्वितीय योजना (करोड़ रु० में)	प्रतिशत
(१) कृषि तथा सामुदायिक विकास	२९१	१५	५३०	११
(२) प्रधान तथा गौण सिंचाई-योजनाएँ	३१०	१६	४२०	९
(३) बिजली	२६०	१३	४४५	१०
(४) ग्रामोद्योग तथा लघु उद्योग	४३	२	१७५	४
(५) उद्योग तथा खनिज	७४	४	९००	२०
(६) परिवहन तथा संचार	५२३	२७	१३००	२८
(७) सामाजिक सेवाएँ तथा विविध	४५९	२३	८३०	१८
योग :	१,९६०	१००	४,६००	१००

द्वितीय पंचवर्षीय योजना में देश के आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण पर जो व्यय हुआ, वह निम्न था :$

*** Describe briefly the progress made by our country as a result of the Five Year Plans. (1960)**

† देखो, Third Five Year Plan—पृ० ३३। (इन आँकड़ों के संबंध में यह बात ध्यान देने की है कि किन्हीं पुस्तकों में योजना के प्रारंभ के प्रस्तावित आँकड़े दिये जाते हैं, कुछ में योजना के मध्यकाल के, कुछ में योजना समाप्त होने पर उसके अन्तकाल के दिये जाते हैं। इसलिए इन आँकड़ों में प्रायः भेद दिखलाई देता है। हमने यहाँ जो आँकड़े दिये हैं वे प्लैनिंग कमीशन द्वारा प्रकाशित 'Third Five Year Plan' से आँकड़े दिये हैं, जो प्रथम तथा द्वितीय योजना के संबंध में वास्तविक आँकड़े कहे जा सकते हैं।)

$ देखो, INDIA—1962—पृ० १७६।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा राजकीय-क्षेत्र में व्यय (आउटले) ४,६०० करोड़

(ख) राजकीय-क्षेत्र में पूँजी का 'निवेश' या 'विनियोग' (इनवेस्टमेंट) ३,६५० करोड़

(ग) निजी-क्षेत्र में पूँजी का 'निवेश' (इनवेस्टमेंट) ३,१०० करोड़

[साधन—उद्योग तथा सामुदायिक-विकास-योजनाएँ]

(क) **उद्योग**—हम ऊपर कह आये हैं कि 'समाजवादी समाज' की स्थापना के लिए उद्योगों का होना आवश्यक है। ये उद्योग अगर व्यक्तियों के हाथ में हैं तो धनी-निर्धन का भेद बढ़ जाता है। इसलिए द्वितीय योजना-काल में समाजवादी-समाज के निर्माण के लिए निश्चित किया गया कि धीरे-धीरे उद्योगों का विकास व्यक्तियों द्वारा होने के स्थान में राष्ट्र द्वारा हो क्योंकि राष्ट्र तो अपनी सम्पत्ति को अपने पास रखने के स्थान में प्रजा पर व्यय कर देता है, व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को अपने पास रखता है जिससे समाजवादी-समाज के स्थापित होने में बाधा आती है। यह सोच कर उद्योगों को दो क्षेत्रों में बाँट दिया गया। ये क्षेत्र थे—'सार्वजनिक या राजकीय क्षेत्र' (Public Sector) तथा 'निजी क्षेत्र' (Private Sector)। 'सार्वजनिक-क्षेत्र' का अर्थ है—राजकीय-क्षेत्र, 'निजी-क्षेत्र का अर्थ है—ग़ैर-राजकीय क्षेत्र। उद्योगों की तीन श्रेणियाँ बनाई गईं। पहली श्रेणी में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा प्रतिरक्षा की अन्य सामग्री, अणु-शक्ति, लोहा, बिजली के भारी यंत्र, पैट्रोल आदि खनिज तेल, हवाई जहाज़, रेल, जहाज़, टैलीफ़ोन, टैलीग्राफ़ आदि १७ उद्योग हैं। इन पर राज्य का ही अधिकार होगा; ये 'सार्वजनिक-क्षेत्र' में आ जाते हैं; दूसरी श्रेणी में कोयला आदि सब खनिज पदार्थ, मशीनों के औज़ार, रासायनिक खाद, रबर आदि १२ उद्योग हैं जिन पर धीरे-धीरे राज्य का अधिकार होता जायगा और धीरे-धीरे ये भी 'सार्वजनिक-क्षेत्र' में आ जायेंगे; तीसरी श्रेणी में ऊपर कहे गये उद्योगों के अतिरिक्त अन्य सब उद्योग आ जाते हैं जो 'निजी-क्षेत्र' में रहेंगे, परन्तु समाजवादी सामाजिक-व्यवस्था में समय आने पर इन उद्योगों पर भी राज्य का अधिकार हो जायगा। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि द्वितीय-योजना में सब उद्योगों के राज्य के अधिकार में आ जाने, उनके राष्ट्रीयकरण से हम समाजवादी-समाज की स्थापना की तरफ़ बढ़ने लगे।

(ख) **सामुदायिक विकास-योजनाएँ**—समाजवादी समाज की स्थापना में जहाँ पहला कदम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण था, वहाँ दूसरा कदम सारे देश में 'सामुदायिक विकास-योजनाओं' का ताँता बिछा देना था। देश में उद्योगों के विकास का मुख्य उद्देश्य राष्ट्र की सम्पत्ति को बढ़ाना है, तो सामुदायिक विकास-योजनाओं का मुख्य उद्देश्य प्रतिव्यक्ति आय को बढ़ाना है। इन योजनाओं द्वारा किसान को अच्छे बीज दिये जाते हैं, कृषि के नवीनतम साधन, सहकारी खेती का ज्ञान कराया जाता है जिससे प्रत्येक किसान की आय बढ़ जाती है। जब हर-एक की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आय बढ़ेगी तब धनी-निर्धन का भेद अपने आप दूर होगा और समाजवादी-समाज का निर्माण होगा।

[द्वितीय-योजना का मूल्यांकन]

द्वितीय-योजना की सफलता का मूल्यांकन करते हुए दो बातों पर विचार करना होगा—राष्ट्रीय आय कहाँ तक बढ़ी, समाजवादी-समाज के हम कहाँ तक निकट पहुँचे।

(क) **राष्ट्रीय आय २० प्रतिशत बढ़ी**—द्वितीय-योजना में सोचा गया था कि १९५६–६१ में राष्ट्रीय-आय में २५ प्रतिशत की वृद्धि हो जायगी। यह नहीं हो सका। राष्ट्रीय-आय २५ प्रतिशत की जगह २० प्रतिशत ही बढ़ी। परन्तु २० प्रतिशत ही बढ़ने का यह अर्थ नहीं है कि योजना को सफलता नहीं मिली। २० प्रतिशत वृद्धि भी पर्याप्त वृद्धि है और इसे सफलता ही कहा जा सकता है।

(ख) **समाजवादी-समाज की स्थापना**—दूसरा प्रश्न यह है कि क्या समाजवादी-समाज की हम स्थापना कर सके, क्या धनी-निर्धन की खाई को हम पाट सके? इस संबंध में निम्न विचार हैं:

(i) **धनी-निर्धन का भेद नहीं दूर हुआ**—धनी-निर्धन के भेद को दूर करने में हमें उतनी सफलता नहीं मिली जितनी आशा थी। अभी तक धनी-निर्धन में खाई उतनी ही बनी हुई है जितनी द्वितीय-योजना के शुरू में थी। इसका यह कारण नहीं है कि धनियों पर कर नहीं बढ़े या मृत्यु-कर में कोई ढील हुई या श्रमिकों के वेतन में वृद्धि नहीं हुई। इसका कारण यह है कि जहाँ सब-कुछ हुआ, श्रमिकों के वेतन में भी वृद्धि हुई, वहाँ वस्तुओं के भावों में असाधारण वृद्धि हुई। वेतन-वृद्धि तथा वस्तुओं के भावों की वृद्धि साथ-साथ नहीं चल सके।

(ii) **पूँजीवाद पर प्रहार नहीं हुआ**—उग्र समाजवादियों का कहना है कि हम समाजवादी-समाज के निर्माण में भी सफल नहीं हो रहे क्योंकि अभीतक हमारा सारा ढाँचा पूँजीवादी है, समाजवादी नहीं है। समाजवादी व्यवस्था में पूँजीवाद को कोई स्थान नहीं है। अगर हम राष्ट्रीयकरण के रास्ते पर चले हैं तो इस तरह काम नहीं चलेगा कि कुछ व्यवस्था पूँजीवादी रहे, कुछ समाजवादी रहे। सारी व्यवस्था में क्योंकि समाजवादी दृष्टिकोण से परिवर्तन नहीं हुआ इसलिए हम समाजवादी-समाज का नाम भर ले रहे हैं, समाजवादी-समाज का निर्माण करने में सफल नहीं हुए।

७. तृतीय पंचवर्षीय योजना*
(१९६१–१९६६)

तृतीय पंचवर्षीय योजना का काल १ अप्रैल १९६१ से लेकर ३१ मार्च १९६६ का है। इस योजना-काल में 'सार्वजनिक या राजकीय क्षेत्र' (Public

* **Review the measures incorporated in the Third Five Year Plan for social welfare. (1963)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

sector) में ७,५०० करोड़ (६,३००+१,२००) एवं 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) में ४,१०० करोड़ व्यय करने की योजना है। यह कुल व्यय ११,६०० करोड़ बनता है जो तृतीय-योजना-काल में व्यय होना था। इस बीच २० अक्तूबर १९६२ को चीन ने भारत की उत्तर-पूर्वी सीमा (नेफ़ा) तथा लद्दाख पर जो आक्रमण करके भारत की सीमा में प्रवेश किया उससे देश में संकटकालीन स्थिति उत्पन्न हो गई और यद्यपि ४ नवम्बर १९६२ को हुई 'राष्ट्रीय विकास-परिषद्' (National Development Council) में योजना में परिवर्तन न करने के विचार प्रकट किये गये, तो भी संकट-काल में योजना पर उतना व्यय किया जाना संभव नहीं रहा जितने के लिए योजना तैयार की गई थी। फिर भी तृतीय-योजना की जो रूप-रेखा है उसका दिग्दर्शन यहाँ करा देना अप्रासंगिक न होगा।

[उद्देश्य--प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं के उद्देश्यों को आगे बढ़ाना]

भारत की प्रथम-योजना का उद्देश्य 'कल्याणकारी-राज्य' (Welfare state) की स्थापना करना था, द्वितीय का उद्देश्य कल्याणकारी राज्य की नींव पक्की करने के लिए 'समाजवादी-समाज' (Socialistic society) की स्थापना करना था। तृतीय-योजना का क्या उद्देश्य है ? तृतीय-योजना का उद्देश्य प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं के उद्देश्यों को और आगे बढ़ाना है, इन उद्देश्यों को पूर्ण करने में जो कमी रह गई है उसे दूर करना है।

तृतीय-योजना के संबंध में 'योजना-आयोग' ने लिखा है: "आयोजन एक धारावाही प्रक्रिया है और इसे थोड़े-थोड़े समयों में बाँध कर नहीं रखा जा सकता। तृतीय-योजना प्रथम तथा द्वितीय योजना का ही विस्तार है, और जहाँ यह हमें ले जाकर खड़ा करेगी, उस बिन्दु से चतुर्थ योजना का प्रारंभ होगा।" इस दृष्टि से 'कल्याण-राज्य' तथा 'समाजवादी-समाज' के जिन उद्देश्यों को लेकर प्रथम तथा द्वितीय योजनाएँ चली थीं, उन्हीं उद्देश्यों को विस्तार से और गहराई से पूरा करना तृतीय-योजना का उद्देश्य है।

हम पहले देख आये हैं कि प्रथम तथा द्वितीय योजना में देश की आर्थिक तथा सामाजिक विषमता को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। तृतीय-योजना में इसी दिशा में आगे कदम बढ़ाना मुख्य उद्देश्य रखा गया है। ये आर्थिक तथा सामाजिक लक्ष्य, उद्देश्य क्या हैं ?

(क) आर्थिक उद्देश्य--तृतीय-योजना में जो आर्थिक-लक्ष्य रखे गये हैं वे निम्न हैं :

(i) राष्ट्रीय आय २५ से ३० प्रतिशत बढ़ाना--इस योजना का लक्ष्य यह है कि राष्ट्रीय-आय योजना-काल में प्रतिवर्ष ५ प्रतिशत से अधिक बढ़ती जाय जिससे इस योजना के पूरे होने तक राष्ट्रीय-आय में वृद्धि ३० प्रतिशत के आस-पास पहुँच जाय। द्वितीय योजना के अन्त में राष्ट्रीय-आय १४,५०० करोड़ थी, तृतीय-योजना के अन्त में यह १९,००० करोड़ हो जानी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) **प्रति व्यक्ति आय १७ प्रतिशत बढ़ाना**—राष्ट्रीय-आय की बढ़ती के साथ-साथ इस योजना-काल में प्रति व्यक्ति आय १७ प्रतिशत बढ़ जानी चाहिए। द्वितीय-योजना के अन्त में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष आय ३३० रुपया थी, यह तृतीय-योजना के अन्त में ३८५ रुपया हो जानी चाहिए।

(iii) **कृषि में स्वात्म-निर्भरता**—इस योजना-काल में देश को इतना अनाज उत्पन्न करना चाहिए कि हम आत्म-निर्भर हो जायें, हमें दूसरे देशों पर निर्भर न होना पड़े, अगर आवश्यकाता पड़े तो अपने उद्योगों के विकास के लिए हम अनाज का निर्यात भी कर सकें ताकि उस पैसे से उद्योगों का विकास हो सके।

(iv) **आधारभूत उद्योगों का विस्तार**—इस्पात, रासायनिक पदार्थ, बिजली आदि का विस्तार किया जाय, देश में मशीनें तैयार की जायें, और ऐसा उपक्रम किया जाय जिससे १० साल के भीतर हमें देश के उद्योगीकरण का सामान अपने देश के भीतर से ही मिल जाय, बाहर से न मँगवाना पड़े।

(v) **रोजगार बढ़ाना**—देश की जन-शक्ति का अधिक-से-अधिक उपयोग करना जिससे प्रत्येक व्यक्ति को किसी-न-किसी धंधे में खपने का अवसर मिल सके।

(vi) **आय तथा सम्पत्ति के भेद को कम करना**—तृतीय-योजना का अन्तिम लक्ष्य यह है कि देश के हर व्यक्ति को उन्नति करने के समान अवसर देना तथा व्यक्तियों की आय और सम्पत्ति में जो भेद दिखाई देता है, किसी की आय बहुत अधिक, किसी की बहुत कम; किसी की सम्पत्ति बहुत अधिक, किसी के पास कौड़ी नहीं—इस भेद को कम करना।

(ख) **सामाजिक उद्देश्य**—सामाजिक-उद्देश्य से यहाँ हमारा अर्थ शिक्षा, स्वास्थ्य तथा परिवार-नियोजन, पिछड़े हुए वर्ग की उन्नति, समाज-कल्याण आदि से है। सामाजिक उद्देश्यों को पूर्ण करने के लिए तृतीय-योजना में निम्न लक्ष्य रखे गये हैं :

(i) **शिक्षा***—प्रथम दो योजनाओं के १० वर्ष के भीतर (१९५१ से १९६१ तक) विद्यार्थियों की संख्या २३५ लाख से ४३५ लाख हो गई। तृतीय-योजना (१९६१–६६) का लक्ष्य यह है कि विद्यार्थियों की संख्या ४३५ लाख से ६३९.५ लाख हो जाय।

प्रथम दो योजनाओं के अन्त में ६ से ११ वर्ष की 'आयु-समूह' के बालक जो प्राइमरी-स्कूलों में पढ़ रहे थे, तृतीय-योजना में उनकी संख्या में १५३ लाख की और वृद्धि का लक्ष्य है।

---

* ये आँकड़े Third Five Year Plan के EDUCATION अध्याय से लिये गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रथम दो योजनाओं के अन्त में ११ से १४ वर्ष की 'आयु-समूह' के बालक जो मिडल स्कूलों में पढ़ रहे थे, तृतीय-योजना में उनकी संख्या में ३५ लाख की और वृद्धि का लक्ष्य है।

प्रथम दो योजनाओं के अन्त में १४ से १७ वर्ष की 'आयु-समूह' के बालक जो सेकण्डरी स्कूलों में पढ़ रहे थे, तृतीय-योजना में उनकी संख्या में १६ लाख की और वृद्धि का लक्ष्य है।

इसमें सन्देह नहीं कि जब विद्यार्थी बढ़ेंगे, तब स्कूल भी बढ़ेंगे, अध्यापक भी बढ़ेंगे। तृतीय-योजना काल में स्कूलों की संख्या २४ प्रतिशत बढ़ जायगी, ट्रेंड अध्यापकों की संख्या ७५ प्रतिशत बढ़ जायगी।

(ii) **स्वास्थ्य तथा परिवार-नियोजन**—प्रथम दो योजनाओं के १० वर्ष के काल (१९५१ से १९६१ तक) के भीतर स्वास्थ्य तथा परिवार-नियोजन पर ३६५ करोड़ व्यय हुआ था। तृतीय-योजना (१९६१–१९६६) में सिर्फ़ ५ साल में ३४२ करोड़ व्यय किये जाने का लक्ष्य है। स्वास्थ्य में गाँवों तथा शहरों में जल का प्रबन्ध, सफ़ाई, अस्पताल, दवाख़ाने, देसी तथा होम्योपैथिक दवा, संक्रामक रोगों का निवारण, स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा आदि सब-कुछ आ जाता है। परिवार-नियोजन यद्यपि स्वास्थ्य का ही एक अंग है, तो भी क्योंकि यह एक नवीन प्रगति है इसलिए इसका अलग-से उल्लेख कर दिया गया है।

(iii) **पिछड़े वर्गों की उन्नति**—पिछड़े वर्गों में चार वर्ग के लोग आ जाते हैं। वे चार हैं—'अनुसूचित जन-जातियाँ' (Scheduled tribes), 'अनुसूचित जातियाँ' (Scheduled castes), 'विमुक्त जातियाँ' (Denotified tribes) तथा 'पिछड़े वर्ग' (Backward classes)। प्रथम दो योजनाओं के १० वर्ष के काल (१९५१–६१ तक) के भीतर इनकी उन्नति पर १०९.४१ करोड़ व्यय हुआ था। तृतीय-योजना (१९६१–६६) में इस मद में ११४ करोड़ व्यय किये जाने का लक्ष्य है।

(iv) **श्रम-कल्याण**—ज्यों-ज्यों देश का उद्योगीकरण हो रहा है त्यों-त्यों श्रमिकों की समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जा रही हैं। आये दिन श्रमिकों तथा मालिकों के झगड़े बढ़ते जाते हैं। प्रायः देखा जाता है कि बाहर के नेता आकर श्रमिकों को भड़काते हैं और उन्हें अपने स्वार्थ-साधन का उल्लू बनाते हैं। अबतक यही समझा जाता था कि श्रमिकों तथा मालिकों का संबंध एक कानूनी संबंध है, और उनके झगड़े प्रायः अदालतों में जाते रहते थे। इन सब बातों को देख कर द्वितीय-योजना-काल में एक नई 'श्रम-नीति' (Labour policy) अपनायी गई जिसके अनुसार श्रमिकों तथा मालिकों का पारस्परिक संबंध 'कानूनी'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Legal) के स्थान में 'नैतिक' (Moral) बनाने का प्रयत्न किया गया। १९५८ के मध्य में श्रमियों, मालिकों तथा सरकार के प्रतिनिधियों ने मिल कर एक 'आचार-संहिता' (Code of Discipline) का निर्माण किया जिसके अनुसार श्रमियों को उद्योग के प्रबन्ध में विशेष अधिकार दिये गये और उनसे आशा की गई कि वे झगड़ों को अदालतों में न ले जाकर पारस्परिक विचार-विनिमय से निपटायेंगे। इस सब का परिणाम यह हुआ कि अदालती कार्यवाहियाँ, तालेबन्दी आदि कम हो गईं। 'आचार-संहिता' के अनुसार परीक्षण के तौर पर 'संयुक्त प्रबन्धक परिषदों' (Joint Management Councils) का निर्माण हुआ। इन परिषदों में श्रमियों तथा मालिकों के प्रतिनिधि रहते हैं। इन्हें प्रबन्ध की देख-रेख का अधिकार दिया जाता है। द्वितीय-योजना-काल में इस प्रकार की २३ परिषदें बन चुकी थीं। तृतीय-योजना का श्रम-कल्याण सम्बंधी लक्ष्य यह है कि 'श्रम-नीति' (Labour policy) के इस परीक्षण को आगे बढ़ाया जाये और उन सब क्षेत्रों में जहाँ श्रमी काम करते हैं 'आचार-संहिता' की 'संयुक्त-प्रबन्धक परिषदों' की इस 'श्रम-नीति' को सफल बनाने का प्रयत्न किया जाय, क्योंकि समाजवादी-समाज के निर्माण में यही नीति सहायक हो सकती है।

(v) **समाज-कल्याण**—समाज-कल्याण में स्त्रियों की शिक्षा, समाज-कल्याण संस्थाओं को सहायता, विधवाओं, अनाथों, अपंगों की सहायता, बच्चों-बूढ़ों की समस्या आदि आ जाते हैं। इसी कार्य के लिए 'केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड' तथा 'राज्यों के समाज-कल्याण सलाहकार बोर्ड' बने हुए हैं। तृतीय-योजना में बच्चों की समस्याओं को मुख्यता दी गई है।

[साधन—आर्थिक तथा सामाजिक योजनाओं पर धन-निवेश]

हमने तृतीय योजना के आर्थिक तथा सामाजिक लक्ष्यों की तरफ़ संकेत किया। अब यह देखना है कि इस योजना में आर्थिक-विकास के लिए कितना रुपया खर्च होगा, सामाजिक-विकास के लिए कितना रुपया खर्च होगा। हम नीचे भिन्न-भिन्न तालिकाएँ दे रहे हैं जिनसे तृतीय-योजना काल में भिन्न-भिन्न दिशाओं में जो रुपया व्यय होगा उस पर प्रकाश पड़े।

८. आर्थिक-योजनाओं पर धन-निवेश या विनियोग

प्रथम तथा द्वितीय-योजना में भिन्न-भिन्न मदों पर 'पब्लिक या राजकीय-क्षेत्र' (Public Sector) में जो व्यय किया गया उसकी तुलना में तृतीय-योजना में निम्न प्रकार से राजकीय-क्षेत्र में व्यय किया जायगा। 'निजी-क्षेत्र' (Private Sector) का व्यय इससे अलग है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विकास कार्य की मदें	प्रथम-योजना		द्वितीय-योजना		तृतीय-योजना	
	करोड़ों में व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत	करोड़ों में व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत	करोड़ों में व्यय	कुल व्यय का प्रतिशत
(१) कृषि तथा सामुदायिक विकास	२९१	१५	५३०	११	१,०६८	१४
(२) सिंचाई की योजनाएँ	३१०	१६	४२०	९	६५०	९
(३) बिजली	२६०	१३	४४५	१०	१,०१२	१३
(४) ग्रामोद्योग तथा लघु उद्योग	४३	२	१७५	४	२६४	४
(५) उद्योग तथा खनिज	७४	४	९००	२०	१,५२०	२०
(६) परिवहन तथा संचार	५२३	२७	१,३००	२८	१,४८६	२०
(७) सामाजिक सेवाएँ तथा विविध	४५९	२३	८३०	१४	१,३००	१७
(८) इनवेन्टरीज़*	—	—	—	—	२००	३
योग :	१,९६०	१००	४,६००	—	७,५००	१००

तृतीय-योजना में देश के आर्थिक तथा सामाजिक पुनर्निर्माण पर जो व्यय किया जाना प्रस्तावित है वह निम्न है :

(क) केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा राजकीय-क्षेत्र (पब्लिक सेक्टर) में व्यय (आउटले) १,२०० करोड़

(ख) राजकीय-क्षेत्र में पूँजी का निवेश† या विनियोग (इनवेस्टमेंट) ६,३०० करोड़

(ख) निजी-क्षेत्र में पूँजी का निवेश (इनवेस्टमेंट) ४,१०० करोड़

यहाँ एक बात ध्यान देने की है। ७,५०० करोड़ में से ६,३०० करोड़ राजकीय-क्षेत्र में पूँजी का निवेश (इनवेस्टमेंट) है, और १,२०० करोड़ चालू खर्च (आउटले) है। अगर इस चालू १,२०० करोड़ के खर्च को निकाल कर देखा जाय तो तृतीय योजना में राजकीय तथा निजी क्षेत्र द्वारा कुल ६,३००+४,१००=१०.४०० करोड़ रुपये का 'निवेश' (इनवेस्टमेंट) होगा।

---

* 'इनवेन्टरीज़' (वस्तु-सूची) का अर्थ है ऐसे आवश्यक सामानों का संग्रह जिनका अभी तो ठीक-ठीक पता नहीं परन्तु जिनका काम करना शुरू करने के लिए बाद को आवश्यकता होती है।

† 'इनवेस्टमेंट के लिए केन्द्रीय मंत्रालय द्वारा प्रकाशित 'पारिभाषिक शब्द-संग्रह' में 'निवेश'-शब्द प्रयोग किया गया है, परन्तु 'विनियोग' बहुत अधिक प्रचलित है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसीलिए 'निवेश' (इनवेस्टमेंट) की दृष्टि से इस योजना को ११,६०० करोड़ की योजना के स्थान में १०,४०० करोड़ की योजना कहा जाता है क्योंकि खर्च तो ११,६०० करोड़ ही होगा परन्तु सरकारी तथा निजी क्षेत्रों में पूँजी का विनियोग ६,३००+४,१००=१०,४०० करोड़ ही होगा।

तृतीय-योजना में जो व्यय किया जायगा उसके आधार पर 'योजना-आयोग' का कथन है कि द्वितीय-योजना की अपेक्षा तृतीय-योजना में अनाज ३२ प्रतिशत, खाद का उत्पादन ३३५ प्रतिशत, सिंचाई २९ प्रतिशत, सहकारी समितियों द्वारा किसानों को सहायता १६५ प्रतिशत, उद्योग ७० प्रतिशत, इस्पात का उत्पादन १६३ प्रतिशत, एल्यूमिनियम का उत्पादन ३३२ प्रतिशत, मैशीन के पुर्जों का निर्माण ४४५ प्रतिशत, कपड़ा १३ प्रतिशत, खादी ४९ प्रतिशत, रोगी-शय्या २९ प्रतिशत बढ़ जायगा।*

९. सामाजिक योजनाओं पर धन-निवेश या विनियोग

तृतीय-योजना की सामाजिक-योजनाओं के संबंध में हम इसी अध्याय में पीछे लिख आये हैं। सामाजिक-योजनाओं में शिक्षा, स्वास्थ्य तथा परिवार-नियोजन, पिछड़े हुए वर्गों की उन्नति, समाज-कल्याण आदि आते हैं। इन सब पर तृतीय-योजना में जो व्यय होगा वह इस प्रकार है :

[शिक्षा पर व्यय†]

मदें	प्रथम-योजना में वास्तविक-व्यय (करोड़ों में)	द्वितीय-योजना में वास्तविक-व्यय (करोड़ों में)	तृतीय-योजना में प्रस्तावित व्यय (करोड़ों में)
(क) प्राथमिक-शिक्षा	८५	८७	२०९
(ख) माध्यमिक-शिक्षा	२०	४८	८८
(ग) विश्वविद्यालय-शिक्षा	१४	४५	८२
(घ) शिक्षा की अन्य योजनाएँ	१४	२४	२९
योग :	१३३	२०४	४०८

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि द्वितीय-योजना में शिक्षा पर जितना व्यय किया गया, तृतीय-योजना में उससे दुगुना व्यय होगा जिससे स्कूलों, अध्यापकों आदि की संख्या भी बढ़ेगी।

* Third Five Year Plan—पृ० ५५-५६।
† INDIA—1962—पृ० ७७।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[स्वास्थ्य तथा परिवार-नियोजन पर व्यय]*

कार्यक्रम	प्रथम-योजना (करोड़ों में)	द्वितीय-योजना (करोड़ों में)	तृतीय-योजना (करोड़ों में)
(क) जल-व्यवस्था तथा सफ़ाई (ग्रामीण तथा शहरी)	४९.०	७६.०	१०५.३
(ख) हैल्थ-यूनिट, अस्पताल, डिस्पेन्सरी	२५.०	३६.०	६१.७
(ग) संक्रामक रोगों की रोक-थाम	२३.१	६४.०	७०.५
(घ) स्वास्थ्य संबंधी शिक्षा, प्रशिक्षण तथा रिसर्च	२१.६	३६.०	५६.३
(ङ) देशी दवा, होम्योपैथी, प्राकृतिक चिकित्सा	०.४	४.०	९.८
(च) अन्य चिकित्सा-योजनाएँ	२०.२	६.०	११.२
(छ) परिवार-नियोजन	०.७	३.०	२७.०
योग :	१४०.०	२२५.०	३४१.८

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि जहाँ तृतीय-योजना में अन्य बातों की तरफ़ ध्यान दिया गया है वहाँ परिवार-नियोजन पर विशेष ध्यान दिया गया है। इस मद में जहाँ द्वितीय-योजना में ३ करोड़ व्यय हुआ था वहाँ तृतीय में ९ गुणा व्यय होगा। इसका कारण यह है कि १९५१ में देश की जन-संख्या ३६ करोड़ थी जो १९६१ में ४३ करोड़ ९० लाख हो गई। अगर जन-संख्या की बढ़ती पर रोक न लगाई गई तो उत्पादन तथा उद्योगों के बढ़ जाने पर भी लोग भूखे मरते रहेंगे और बेकार रहेंगे। उत्पादन तथा उद्योग के बढ़ने के साथ-साथ जन-संख्या की रफ्तार कम करनी होगी, तभी भुखमरी तथा बेकारी दूर होगी।

प्रथम तथा द्वितीय योजना की तुलना में तृतीय-योजना काल में स्वास्थ्य के संबंध में जो प्रगति होगी उसकी कुछ झलक निम्न तालिका से मिल सकती है :

* Third Five Year Plan—पृ० ६५१।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वास्थ्य-योजनाएँ*	१९५०–५१	१९५५–५६	१९६०–६१	१९६५–६६
अस्पताल	८,६००	१०,०००	१२,६००	१४,६००
रोगी-शय्या	१,१३,०००	१,२५,०००	१,८५,६००	२,४०,१००
प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र	—	७२५	२,८००	५,०००
मैडिकल कालेज	३०	४२	५७	७५
दाँत के कालेज	४	७	१०	१४
डाक्टर	५६,०००	६५,०००	७०,०००	८१,०००
नर्सें	१५,०००	१८,५००	२७,०००	४५,०००
मिडवाइफ़	८,०००	१२,७८०	१९,९००	४८,५००
स्वास्थ्य-निरीक्षक	५२१	८००	१,५००	३,५००
दाइयाँ	१,८००	६,४००	११,५००	४०,०००
सैनीटरी इंस्पेक्टर	३,५००	४,०००	६,०००	१९,२००
मलेरिया-उन्मूलन-केन्द्र	—	१३३	३९०	३९०
टी० बी० क्लिनिक	११०	१६०	२२०	४२०
कुष्ठ-केन्द्र	—	३३	१३५	२३५
गुप्त-रोग केन्द्र	—	—	८३	१८९
मातृत्व तथा बाल-स्वास्थ्य-केन्द्र	१,६५१	१,८५६	४,५००	१०,०००

उक्त तालिका में १९५०–५१ प्रथम-योजना के प्रारंभ का काल है, ५५–५६ प्रथम योजना के अन्त का काल है। इन दोनों कालों के आँकड़ों को देखने से पता चल जाता है कि प्रथम-योजना में हमने क्या उन्नति की। इसी प्रकार १९५५–५६ से १९६०–६१ का काल द्वितीय-योजना का काल है। ५६ से ६१ के आँकड़ों को देख कर पता चल जाता है कि द्वितीय-योजना में हमने क्या उन्नति की। १९६१ के आँकड़ों को सामने रख कर जब हम १९६५–६६ के आँकड़ों की तुलना करते हैं, तब स्पष्ट हो जाता है कि तृतीय-योजना काल में हम स्वास्थ्य के क्षेत्र में क्या उन्नति करेंगे।

* Third Five Year Plan—पृ० ६५३।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[पिछड़े हुए वर्गों पर व्यय]*

पिछड़े वर्ग	प्रथम-योजना (करोड़ों में)	द्वितीय-योजना (करोड़ों में)	तृतीय-योजना (करोड़ों में)
(क) अनुसूचित जन-जातियाँ (Scheduled tribes)	१९.८३	४३.००	६०.४३
(ख) अनुसूचित-जातियाँ (Scheduled castes)	७.०८	२७.६६	४०.४०
(ग) विमुक्त-जातियाँ (Denotified tribes)	१.१०	२.८९	४.००
(घ) अन्य पिछड़े वर्ग (Other Backward classes)	२.०३	५.८६	९.०४
योग	३०.०४	७९.४१	११३.८७

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि पिछड़े वर्गों को उन्नति के अवसर देने के लिए जहाँ प्रथम-योजना में ३०.०४ करोड़ व्यय हुआ, वहाँ द्वितीय-योजना में ७९.४१ करोड़ हुआ, और तृतीय-योजना में ११३.८७ करोड़ रु० व्यय किया जायगा। इससे पिछड़े वर्गों के जीवन में आशातीत उन्नति होने की संभावना है।

[समाज-कल्याण पर व्यय†]

(क) **स्त्री-शिक्षा**—पिछली दो योजनाओं के १० वर्षों में स्कूलों में १३२ लाख लड़के पहले की अपेक्षा अधिक भर्ती हुए, परन्तु पहले की अपेक्षा स्कूलों में अधिक भर्ती होने वाली लड़कियों की संख्या ६८ लाख ही थी। १९६१ की जन-गणना के अनुसार पुरुष ३४ प्रतिशत शिक्षित हैं, तो स्त्रियों में शिक्षा १३ प्रतिशत ही है। इन सब बातों को ध्यान में रखते हुए तृतीय-योजना में स्त्री-शिक्षा पर विशेष ध्यान देना आवश्यक हो गया है। तृतीय-योजना के अनुसार ६ से १४ वर्ष की 'आयु-समूह' की शिक्षा प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या पहले की अपेक्षा कम-से-कम ४६ प्रतिशत बढ़ जानी चाहिए, इस योजना-काल में अगर २०४ लाख बच्चे पहले से अधिक शिक्षा प्राप्त करें, तो उनमें लड़कियों की संख्या कम-से-कम १०३ लाख होनी चाहिए।

इस सब को ध्यान में रख कर तृतीय-योजना में १७५ करोड़ स्त्री-शिक्षा पर व्यय करने का निश्चय किया गया है जिसमें से ११४ करोड़ प्राथमिक तथा माध्यमिक शिक्षा पर व्यय होगा।

(ख) **समाज-कल्याण संस्थाओं को सहायता**—द्वितीय-योजना काल में समाज-कल्याण के लिए १५ करोड़ रुपया व्यय हुआ था जिसमें से समाज-कल्याण

* Third Five Year Plan—पृ० ७०१।
† Third Five Year Plan—पृ० ५९२।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का कार्य करने वाली, अनाथालय, विधवाश्रम, अपंग-गृह आदि का स्वेच्छापूर्वक कार्य करनेवाली संस्थाओं को केन्द्रीय समाज-कल्याण-बोर्ड के द्वारा १० करोड़ की सहायता दी गई थी, और ५ करोड़ अन्य समाज-कल्याण योजनाओं पर व्यय हुआ था। तृतीय-योजना काल में समाज-कल्याण के लिए २८ करोड़ रुपया रखा गया है। इस योजना-काल में समाज-कल्याण बोर्ड निम्न कार्य करेगा :

(i) समाज-कल्याण का कार्य करनेवाली लगभग ६,००० संस्थाओं को सहायता देना,

(ii) लगभग १,७०० महिला-मंडलों को सहायता देना,

(iii) सामुदायिक-विकास योजनाओं के साथ-साथ जो समाज-कल्याण विस्तार प्रायोजनाएँ (Welfare extension projects) चल रही हैं, उन्हें सहायता देना,

(iv) स्त्रियों के लिए सामाजिक तथा आर्थिक योजनाएँ बनाकर उन्हें चलाना,

(v) स्त्रियों को प्रशिक्षित कर किसी अर्थोपार्जन के कार्य के योग्य बनाना,

(vi) शहरों में समाज-कल्याण की योजनाओं का संचालन,

(vii) रात्रि में सड़क पर रहने वालों के लिए रात्रि विश्रामालय बनाना,

(viii) बच्चों के लिए अवकाश का समय बिताने के लिए अवकाश-गृह बनाना,

(ix) सहायता पाने वाली संस्थाओं को समाज-कल्याण का निर्देशन देना।

प्रश्न

१. भारत में आर्थिक नियोजन के 'सामाजिक अभिप्रेत-अर्थ' (Social implications) बतलाइये। (१९५७)

२. पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा हमारे देश में जो उन्नति हुई है उसका संक्षेप में वर्णन कीजिये। (१९६०)

३. भारतवर्ष में स्वास्थ्य-संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए द्वितीय पंचवर्षीय योजना में दिये गए उपाय बतलाइये। (१९६१)

४. भारत सरकार द्वारा जनता के कल्याण के लिए किये गये प्रयत्नों का विवरण दीजिये। (१९६२)

५. "भारत की पंचवर्षीय योजनाएँ मुख्य तौर पर आर्थिक-योजनाएँ हैं"—इस कथन पर योजना के सामाजिक-पक्ष को ध्यान में रखते हुए अपने विचार लिखिये। (१९६२)

६. तृतीय पंचवर्षीय योजना में 'समाज-कल्याण' के संबंध में क्या उद्योग किया जा रहा है? (१९६३)

७. जनतंत्रात्मक समाज में आयोजन की प्रकृति और संभावनाओं की विवेचना कीजिये। आर्थिक-आयोजन और सामाजिक-आयोजन में क्या अन्तर है? किन बातों में वे समान हैं?—(राजस्थान, १९५४)।

८. द्वितीय पंचवर्षीय योजना में किन सामाजिक परिवर्तनों को प्रस्तुत किया गया है? इसके द्वारा कहां तक समाजवादी ढंग की समाज-व्यवस्था संभव हो सकती है?—(राजस्थान, १९५७)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८

भारत में सामाजिक-विधान
(SOCIAL LEGISLATION IN INDIA)

१. सामाजिक-विधान का अर्थ

(क) सामाजिक-सुधार तथा सामाजिक-विधान में भेद—प्राचीन काल में जब राज्य का उदय नहीं हुआ था, समाज का शासन 'प्रथाओं' द्वारा होता था। समाज को जो व्यवस्था उचित प्रतीत हुई वह चल पड़ी, जो व्यवस्था देर तक चलती रही, वह 'प्रथा' हो गई। अब 'प्रथा' को तोड़ना कठिन हो गया। जो इस 'प्रथा' को तोड़ता उसका बहिष्कार हो जाता। 'प्रथा' की उत्पत्ति तो परिस्थितियों के अनुसार जिस बात की समाज को आवश्यकता अनुभव हुई उसके कारण हुई थी, परन्तु कभी-कभी ऐसा हुआ कि परिस्थितियाँ बदल गईं परन्तु 'प्रथा' वैसी-की-वैसी बनी रही। उस समय 'प्रथा' समाज के लिए हानिकर होकर 'कुप्रथा'-'कुरीति' बन जाती है। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब दो बातों में से कोई एक बात होती है। या तो समझदार लोग उस 'प्रथा' को बदलने का आन्दोलन करते हैं, या राज्य के हस्त-क्षेप से 'प्रथा' को 'कानून' द्वारा बदल कर नवीन

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Discuss the importance of social legislation in India. How far will the codification of Hindu Law help to improve the life of Indian women. (1951)

2. Is the State justified in undertaking social legislation? Give reasons for your answer. (1955)

3. How far is social legislation effective in dealing with social problems in India? (1958)

4. What importance does social legislation have in a country like India? Is the state justified in undertaking social legislation? (1959)

5. Give the main provisions of any one piece of legislation in the field of marriage passed in our country during the last decade. (1961)

6. Discuss the role of legislation in bringing about social change. Give examples from the Indian setting. (1962)

7. Discuss the impact of recent legislation on the pattern of family and marriage in India. (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थितियों के अनुकूल 'कानून' बना दिया जाता है। जब समझदार लोग आन्दोलन द्वारा 'प्रथा' को स्वयं बदलने का प्रयत्न करते हैं तब इसे 'सुधार' (Reform) कहा जाता है, जब राज्य के हस्त-क्षेप से यह कार्य होता है तब इसे 'कानून' (Law) या 'विधान' (Legislation) कहते हैं। 'सुधार के आन्दोलन' द्वारा जो कार्य होता है वह जनता की इच्छा से होता है, इसलिए उसमें बाधितपन नहीं रहता, कानून द्वारा, सामाजिक-विधान द्वारा जो सुधार होता है, वह जनता की इच्छा द्वारा नहीं होता, इसलिए उसमें बाधितपन रहता है, राज्य के दंड के भय से लोग उस कानून को स्वीकार करते हैं।

(ख) सामाजिक-विधान की परिभाषा—ऊपर जो-कुछ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि 'सामाजिक-विधान' राज्य के बनाये हुए वे कानून हैं जो समाज की परिस्थितियों के बदल जाने पर जब 'प्रथा' नहीं बदलती, कुरीति का रूप धारण कर लेती है, तब राज्य के हस्त-क्षेप से उस 'कुप्रथा' या 'कुरीति' को बदल दिया जाता है। सामाजिक-विधान का उद्देश्य समाज का लक्ष्य निश्चित करके सब को उसके अनुकूल चलने के लिए बाधित करना है। इससे दो कार्य पूरे होते हैं—एक तो सब को समाज-कल्याण के कार्य करने के लिए प्रेरणा मिलती है, दूसरे समाज के विगठन के कार्यों से लोगों को भय होने लगता है।

२. भारत में सामाजिक-विधान द्वारा राज्य के हस्तक्षेप का महत्व*

'सामाजिक-विधान' का अर्थ ही यह है कि राज्य समाज की कुरीतियों को दूर करने के लिए कानून बना कर सामाजिक-व्यवस्था में हस्त-क्षेप करे। प्रश्न यह है कि भारत में क्या राज्य के लिए यह उचित है कि वह सामाजिक-क्षेत्र में हस्त-क्षेप करके ऐसे कानून बनाये जो 'प्रथा' के ऊपर सीधी चोट करें?

(क) भारत की सामाजिक-समस्याएँ—भारत की सामाजिक-समस्याएँ एक नहीं, अनेक हैं। इस देश में छोटे-छोटे बच्चे-बच्चियों का विवाह होता रहा है। कच्ची आयु के माता-पिता की सन्तान दुर्बल होती है, अल्पायु होती है, रोगी होती है। बहुत जल्दी सन्तान उत्पन्न शुरू कर देने के कारण जन-संख्या सीमातीत बढ़ती है। बाल-विवाह का परिणाम विधवाओं की संख्या बढ़ जाना है। विधवा-विवाह पर इस देश में प्रथा द्वारा प्रतिबन्ध रहा है, जिससे गुप्त व्यभिचार बढ़ता है, विधवाओं की दुर्दशा होती है। विवाह के संबंध में अनेक समस्याएँ हैं। अपनी जाति में ही विवाह होता है, जाति में अच्छे वर न मिलने से दहेज़ प्रथा चल पड़ी है, कन्या का विक्रय होने लगा है। माता-पिता को दहेज़ न दे सकने के कारण जो परेशानी होती है उसे देख कन्याएँ आत्मघात कर लेती हैं, या माता-पिता कर्ज़ के बोझ से इतने दब जाते हैं कि उनका जीवन ही मृत्यु-समान हो जाता है। हरिजनों की समस्या किसी समस्या से कम नहीं है। समाज में ऐसा वर्ग हो जिसे

---

* **Discuss the importance of social legislation in India. (1951, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हम छू नहीं सकते, जिसकी छाया से हम भ्रष्ट हो जाते हैं, जिसे मनुष्यता के अधिकार नहीं। ये समस्याएँ हैं इस देश की जो 'प्रथा' के सहारे चल रही हैं, जिनके प्रति किसी की आस्था नहीं, जिनसे सब परेशान हैं, परन्तु जिन पर चोट करते सब डरते हैं।

(ख) इन समस्याओं का हल राज्य का कानून द्वारा हस्त-क्षेप नहीं तो क्या है ?*—हमने देखा कि इस देश की समस्याएँ क्या हैं ? ये सब कुरीतियाँ, ये सब कुप्रथाएँ अपने देश के नर-नारी को इस तरह जकड़े हैं जैसे इन्द्र-जाल में बंधा शिकार इधर-से-उधर न हो सके। कुछ लोग तो कुप्रथाओं और कुरीतियों के ऐसे दास हैं कि जो-कुछ चला आ रहा है उसे वेद-वाक्यवत् समझते हैं, जो इन कुरीतियों की बुराई को समझते भी हैं उनमें इतनी हिम्मत नहीं कि वे इन्हें झटका देकर परे फेंक सकें। तो फिर इन समस्याओं का क्या हल है, इनका क्या इलाज है ? इनका इलाज सिर्फ़ यह है कि राज्य सामाजिक-विधान द्वारा हस्त-क्षेप करे, और कानून के ज़ोर से समाज को छिन्न-भिन्न होने, विगठित होने से उसकी रक्षा करे।

भारत में राज्य के लिए सामाजिक-विधान बना कर सामाजिक-व्यवस्था में हस्तक्षेप करना उचित है—इसके निम्न कारण हैं :

(i) समस्याओं की जटिलता—अपने आदि-समाज में छोटे-छोटे गाँव होते थे, थोड़ी-सी बस्ती होती थी, सब एक-दूसरे को जानते थे, जो भी समस्या खड़ी होती थी, झट-से मुखिया या पंचायत के बीच में पड़ने से सुलझ जाती थी। आज के समाज का अत्यन्त विस्तार हो गया है, गाँव बढ़ कर शहर बन गये हैं, मुखिया या पंचायत की बात को कोई मानता नहीं, समस्याएँ दिनोंदिन बढ़ गईं और जटिल हो गई हैं, किसी व्यक्ति के सुलझाये ये सुलझ नहीं सकतीं, इसलिए सामाजिक-व्यवस्था में राज्य का हस्त-क्षेप आवश्यक हो गया है, वही इन्हें सुलझा सकता है।

(ii) औद्योगिक-क्रान्ति—संसार के अन्य देशों की तरह भारत में भी औद्योगिक क्रांति के चिह्न दिखाई दे रहे हैं। पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा जगह-जगह उद्योग खड़े हो रहे हैं। देश का ढाँचा ही बदलता जा रहा है। इस सब का परिणाम यह है कि समाज बड़ी तेज़ी से परिवर्तित हो रहा है। पहले समाज में परिवर्तन नहीं हो रहा था, समाज स्थिर रूप से जैसा था वैसा चल रहा था। उस स्थिर-समाज में प्रथा, परंपरा, धर्म का समाज पर शासन था, इनसे समाज में व्यवस्था कायम रहती थी। उद्योगीकरण द्वारा इस दिनोंदिन बदलते हुए समाज में जहाँ उद्योगों में खपने के कारण लोग घर-बार, समाज को छोड़कर नई दुनिया में जा बसते हैं, कोई कहीं का, कोई कहीं का, एक-दूसरे को वे न जानते हैं,

---

* **Is the State justified in undertaking social legislation ? Give reasons for your answer. (1957, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न पहचानते हैं, वहाँ प्रथा, परंपरा, धर्म का बंधन शिथिल हो जाता है। ऐसे समाज को व्यवस्थित रखने का काम राज्य के कानून नहीं करेंगे तो कैसे काम चलेगा ?

(iii) **परिस्थितियों का प्रभाव**—आज दिनोंदिन यह समझा जा रहा है कि मनुष्य के निर्माण में परिस्थिति का सबसे अधिक हाथ है। चोर जन्म से चोर नहीं होता, परिस्थिति उसे चरित्र-हीन बना देती है। आज हमारे शहरों में जो परिस्थितियाँ हैं उनमें हमारे बच्चे माँ-बाप के बिना जाने सब प्रकार के कुकृत्य सीख जाते हैं। बड़े होकर भी जिस समाज में वे जीवन व्यतीत करते हैं उसमें चारों तरफ़ प्रलोभन-ही-प्रलोभन दीख पड़ते हैं। इन परिस्थितियों को क्या व्यक्ति बदल सकता है ? इन परिस्थितियों को बदलना तो राज्य के ही हाथ में है, इसलिए राज्य के लिए सामाजिक-विधान द्वारा सामाजिक-व्यवस्था बनाये रखना आवश्यक है।

(iv) **राज्य का उत्तरदायित्व**—आज हम समाज का पुनर्निर्माण करने जा रहे हैं। क्यों हम समाज का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं ? क्यों समाज को वैसा ही नहीं चलने देना चाहते जैसा यह सदियों से चला आ रहा है ? क्यों विवाह, दहेज़ आदि हर बात में परिवर्तन चाहते हैं ? इसलिए क्योंकि आज के समाज में कोई बात वैयक्तिक नहीं रही, हर बात सामाजिक हो गई है ? 'हर बात सामाजिक हो गई है' का क्या अर्थ है ? इसका यह अर्थ है कि हर बात का सिर्फ़ अपने पर ही नहीं, दूसरों पर भी प्रभाव पड़ता दीखता है। दहेज़ प्रथा सिर्फ़ व्यक्ति तक ही सीमित नहीं, एक आदमी दहेज़ देता है तो दूसरा भी देखादेखी देता है, नहीं देता तो समाज में उसकी अप्रतिष्ठा होने लगती है। हर कुरीति, कुप्रथा का प्रभाव वैयक्तिक न होकर सामाजिक हो गया है। इसका परिणाम यह है कि कुरीतियों, कुप्रथाओं की चोट व्यक्ति तक सीमित न रहकर सारे समाज पर पड़ने लगी है। इसका किस के पास इलाज है और क्या इलाज है ? इस चोट को दूर करने का कौन उत्तरदायित्व ले सकता है ? अगर हमने समाज का पुनर्निर्माण करना है, ऐसी अवस्था उत्पन्न करनी है जिसमें हर व्यक्ति का कल्याण हो, अकल्याणकारी हर बात मिट जाय, तो इस उत्तरदायित्व को राज्य के सिवा कौन उठा सकता है ?

(ग) **क्या सामाजिक-विधान समस्याओं का हल करने में सफल होगा***—प्रश्न यह रह जाता है कि क्या कानून बना देने से, सामाजिक-समस्याओं के बीच राज्य के हस्त-क्षेप करने से समस्याएँ हल हो जायँगी ?

यह ठीक है कि बाल-विवाह निषेधक कानून बनाने पर भी बाल-विवाह होते हैं, विधवा-विवाह पर से प्रतिबन्ध हटा लेने पर भी विधवा-विवाह नहीं होते, अन्तर्जातीय-विवाहों का सामाजिक-विधान बन जाने पर भी अन्तर्जातीय-विवाह

---

* **How far is social legislation effective in dealing with social problems in India? (1958)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम होते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राज्य के हस्तक्षेप करने और पुरानी प्रथाओं, रूढ़ियों का समाप्त करने वाले क़ानून बना देने पर सामाजिक-समस्याएँ जैसी-की तैसी बनी रहती हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मनुष्य 'प्रथा' को 'कानून' से भी ज़्यादा महत्व देता है। 'प्रथा' को वह अपनी इच्छा से पालता है, कानून को दंड के भय से पालता है। सामाजिक-विधान का उद्देश्य उस 'प्रथा' को काट डालना है जो परिस्थितियाँ बदल जाने पर भी वैसी-की-वैसी बनी हुई हैं। परन्तु 'प्रथा' कैसी भी सड़-गल क्यों न गई हो मनुष्य उसे छोड़ना नहीं चाहता। राज्य को चाहिए कि जिस सामाजिक-प्रथा में कानून द्वारा परिवर्तन लाना चाहे, पहले उसके लिए जन-मत तैयार कर ले। जब जनता के आन्दोलन द्वारा किसी रूढ़ि की, प्रथा की जान निकल जायगी तब, बोदी दीवार को जैसे एक धक्के से गिरा दिया जाता है वैसे, थोथी प्रथा को कानून के हल्के-से धक्के से ख़त्म कर दिया जा सकता है। बिना जनमत तैयार किये कभी-कभी राज्य के हस्त-क्षेप से लेने के देने पड़ जाते हैं। कभी-कभी जब कोई प्रथा समाज को सीधा नुकसान पहुँचा रही हो, तब राज्य को इंतिज़ार किये बिना हस्त-क्षेप करने की ज़रूरत पड़ जाती है। उदाहरणार्थ, जब सती-प्रथा इस देश में प्रचलित थी तब लार्ड बेंटिक ने ज़बर्दस्ती इस प्रथा को रोकने का कानून बनवाया। लोग कहते थे, यदि ऐसा कानून बना तो उपद्रव हो जायगा। परन्तु जीते-जी एक स्त्री को आग की लपटों की भेंट कर देना —इससे क्रूर कार्य क्या हो सकता था। ऐसे मामलों में तो राज्य को किसी बात की पर्वाह नहीं करनी चाहिए। ऐसी हालतों में पहले-पहल कुछ हलचल होती है, पीछे जनता स्वयं उसी प्रकार सोचने लगती है, जनता का विचार-स्तर ऊँचा उठ जाता है। परन्तु अच्छा यही है कि राज्य उन्हीं बातों में हस्त-क्षेप करे जिनसे समाज को सीधा नुकसान पहुँच रहा हो, अन्यथा जन-मत जागृत हो जाने पर हस्त-क्षेप करे। वहाँ भी ऐसे कानून बनाये जो 'अनुज्ञात्मक-विधान (Permissive legislation) हों। उदाहरणार्थ, जात-पात तोड़ कर शादी होनी चाहिए या नहीं—यह एक ऐसा प्रश्न है जिस पर ज़बर्दस्ती किसी को जात-पात तोड़ने के लिए बाधित नहीं किया जा सकता, परन्तु अगर कोई तोड़ना चाहे तो उसे तोड़ने की भी आज़ादी न हो यह भी ठीक नहीं प्रतीत होता। ऐसी हालत में, जो तोड़ना चाहें, उन्हें जात-पात तोड़कर शादी करने की इच्छा को पूर्ण करने की अनुज्ञा देने के कानून बनाने में क्या हर्ज है? और ऐसे सामाजिक-विधान बना देने से सामाजिक-समस्याओं का हल क्यों नहीं होगा?

अब हम आगे इस अध्याय में उन मुख्य-मुख्य सामाजिक-विधानों (Social legislations) का वर्णन करेंगे जिनके द्वारा अपने देश में राज्य ने सामाजिक-व्यवस्था में हस्त-क्षेप करके सामाजिक-पुनर्निर्माण के कार्य का सूत्रपात किया :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. सती प्रथा के अन्त का विनियम—१८२९
(Regulation no. xvii, 1829)

१८२९ से पहले भारत में विधवा के अपने पति की चिता पर सती हो जाने की प्रथा थी। इस प्रथा का नाम लेकर भारतीय-स्त्री के चरित्र की कितनी ही सराहना क्यों न की जाय, यह कहे बिना नहीं रहा जाता कि जिस समाज में ऐसी प्रथा चल रही थी वह समाज अत्यन्त गिरी हुई हालत में था। **लार्ड बेंटिक** का, जो उस समय भारत का शासक था, कहना था कि सिर्फ़ उसके शासनकाल में केवल बंगाल में ८०० सती हुईं। उस समय के समाज-सुधारक **राजा राममोहन राय** (१७७२–१८३३) ने इस विषय में बड़ा आन्दोलन किया। इस प्रथा के अनुसार विधवा को अफ़ीम खिला कर बेहोश कर दिया जाता था और ज़बर्दस्ती उसे चिता पर रख दिया जाता था। आग की लपटों से वह बच कर भागने की कोशिश करती थी, तो बड़े-बड़े बाँसों से उसे धकेल-धकेल कर वहीं भस्म कर देते थे। जिस समय यह कानून बन रहा था उस समय कई लोगों को यह डर था कि कहीं इस कानून के बनने से देश में विद्रोह न उत्पन्न हो जाय, परन्तु ऐसा-कुछ नहीं हुआ और ४ दिसम्बर १८२९ को रैगूलेशन नं० २७ स्वीकृत हुआ जिस के अनुसार जीवित-विधवा को सती करना कानून द्वारा दण्डनीय घोषित कर दिया गया।

४. हिन्दू विधवा-विवाह अधिनियम—१८५६
(Hindu Widows Remarriage Act xv, 1856)

सती-प्रथा का अन्त होने के बाद भी विधवा की स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। पहले वह आग में जला दी जाती थी, अब वह समाज में जीती हुई भी मरी से बदतर थी। उसका जीवन एक दासता का जीवन था। वह विवाह नहीं कर सकती थी, घर में अपशकुन की तरह ज़िन्दा थी। इस अवस्था के विरुद्ध जनता में आन्दोलन करने का श्रेय **पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागर** (१८०२–१८९१) को है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कई आवेदन-पत्रों पर हस्ताक्षर करवा कर उन्हें सरकार के पास भिजवाया। पक्ष में २५ आवेदन-पत्र आये जिन पर ५,००० हस्ताक्षर थे, जिनमें विधवा-विवाह को कानून का रूप देने की माँग थी; विपक्ष में ४० आवेदन-पत्र आये जिनमें ५०–६० हज़ार हस्ताक्षर थे। फिर भी **सर जे० पी० ग्रान्ट** के उद्योग से विधवा-विवाह का कानून १८५६ में बन गया जिससे विधवा को विवाह करने की आज्ञा दे दी गई। कानून बन जाने पर भी अभी तक हिन्दू-समाज में अब भी २ लाख विधवाएँ हैं।

हिन्दू विधवा-विवाह कानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

(क) अगर किसी स्त्री का पति मर चुका हो तो उसका दूसरा विवाह वैध है,

(ख) विधवा के विवाह से उत्पन्न संतान वैध है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) अगर विधवा नाबालिग़ है और पूर्व-पति से उसका यौन-संबंध नहीं हुआ तो विवाह करने के लिये उसे पिता, दादा, बड़े भाई या किसी निकट के संबंधी से स्वीकृति लेनी होगी,

(घ) अगर विधवा बालिग है और पूर्व-पति से उसका यौन-संबंध हो चुका है तो विवाह करने के लिए उसे किसी की स्वीकृति लेने की आवश्यकता नहीं,

(ङ) विवाह करने वाली विधवा का मृत-पति की सम्पत्ति में अधिकार नहीं होगा,

(च) अगर पति ने मरने से पूर्व वसीयतनामा करके अपनी विधवा को पुनर्विवाह का अधिकार देकर सम्पत्ति पर भी अधिकार दे दिया हो या परिवार के सदस्यों ने समझौता कर उसे यह अधिकार दे दिया हो, तो उसे मृत-पति की सम्पत्ति पर पूरा अधिकार होगा।

५. हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार कानून—१९३७ (Hindu Women's Right to Property Act, 1937)

मृत-पति की सम्पत्ति में हिन्दू-स्त्री को कोई अधिकार नहीं था—यह हमने देखा। इससे विधवा अत्यन्त विवशता का जीवन व्यतीत करती थी। इस विवशता को दूर करने के लिए १९३७ में एक कानून पास हुआ जिसे 'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति पर अधिकार कानून' कहा जाता है। इस कानून के मुख्य-मुख्य अंश निम्न थे :

(क) दायभाग प्रणाली में 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' जायदाद में कोई भेद नहीं किया जाता, दोनों पर एक ही प्रकार के नियम लागू होते हैं। यह प्रणाली बंगाल तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में चलती है। जिस परिवार पर दायभाग प्रणाली के नियम लागू होते हैं उनमें यदि व्यक्ति बिना वसीयत किए मर जाय, तो विधवा स्त्री को अपने मृत-पति की 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' जायदाद में लड़के के बराबर हिस्सा मिलेगा।

(ख) मिताक्षरा प्रणाली में 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' सम्पत्ति में भेद किया जाता है। व्यक्ति 'स्वार्जित' सम्पत्ति को जैसे चाहे दे सकता है, 'पुश्तैनी' को नहीं। यह प्रणाली देश के दो-तिहाई भाग में चलती है। जिस परिवार पर मिताक्षरा प्रणाली के नियम लागू होते हैं उसमें यदि व्यक्ति 'स्वार्जित-सम्पत्ति' के संबंध में बिना वसीयत किये मर जाय तो उसकी 'स्वार्जित-सम्पत्ति' में विधवा को अपने जीवित लड़कों के बराबर का हिस्सा मिलेगा।

(ग) अगर एक हिन्दू जो संयुक्त-परिवार का अंग है, मर जाता है, तो इस कानून के अनुसार संयुक्त-परिवार का उसका हिस्सा उसकी विधवा पत्नी को मिलेगा, परन्तु शर्त यह है कि वह विधवा अपने जीवन-काल में ही इस अधिकार का उपभोग कर सकती है, वह इसे न बेच सकती है, न किसी को दे सकती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। हाँ, अगर किसी धार्मिक कर्तव्य के लिए इस सम्पत्ति को बेचना या देना पड़े तो यह प्रतिबन्ध नहीं है।

६. विशेष-विवाह अधिनियम—१८७२, १९२३, १९५४ (Special Marriage Act, 1872, 1923, 1954)

१८७२ के कानून के अनुसार उन सब लोगों को आपस में विवाह करने का अधिकार दे दिया गया जो किसी धर्म को नहीं मानते। अगर कोई कहे कि वह ईसाई भी नहीं है, मुसलमान भी नहीं है, हिन्दू भी नहीं है, वह किस कानून के अन्तर्गत शादी करे? विवाह तो अबतक धर्म का एक अंग समझा जाता रहा है, जो किसी धर्म को नहीं मानता उसे भी तो विवाह का अधिकार है। १८७२ के कानून के अनुसार ऐसे व्यक्तियों को यह अधिकार दे दिया गया।

१८७२ के 'विशेष-विवाह-कानून' के अनुसार यह आवश्यक है कि जो स्त्री-पुरुष विवाह करने लगे हैं, उनमें से कोई विवाहित न हो, अर्थात् एक-पत्नी तथा एक-पति व्रत इस विवाह का आवश्यक अंग है। इसमें तलाक की भी छूट है। इस विवाह की सन्तान पर उत्तराधिकार के वे नियम लागू होंगे जो पिता पर लागू होते थे।

१९२३ में इस कानून में परिवर्तन हुआ। वह परिवर्तन क्या था? वह परिवर्तन यह था कि १८७२ के कानून के अनुसार भिन्न-भिन्न धर्म के लोग आपस में विवाह कर सकते थे, परन्तु जहाँ तक उनका वैयक्तिक तौर पर सम्बन्ध था उन पर तथा उत्तराधिकार के लिए उनकी सन्तान पर उनके अपने धर्म का ही 'वैयक्तिक-कानून' (Personal law) लागू होता था। १९२३ के परिवर्तन के अनुसार अगर कोई हिन्दू 'विशेष-विवाह-कानून' के अनुसार शादी करेगा तो उस पर तथा उसकी सन्तान पर उसका 'वैयक्तिक-कानून' लागू नहीं होगा, हिन्दू-लॉ के मुताबिक वह किसी अधिकार का उपभोग नहीं कर सकेगा। १९२३ के संशोधन के अनुसार विवाहित स्त्री-पुरुष किसी बच्चे को गोद नहीं ले सकेंगे, और ऐसा विवाह करने वाला अगर कोई स्वयं गोद की सन्तान होगा, तो उसे गोद लिए जाने से जो अधिकार प्राप्त होते वे सब छोड़ने होंगे। ऐसे विवाह में व्यक्ति 'संयुक्त-परिवार' से अलग समझा जाता है, और उसे 'संयुक्त-परिवार' के कोई अधिकार प्राप्त नहीं होते। इस संशोधित कानून से स्थिति यह उत्पन्न हो गई थी कि अन्य धर्मों के लोग तो आपस में विवाह कर सकते थे, और उन पर अपने ही 'वैयक्तिक-कानून' लागू होते थे, परन्तु अगर कोई हिन्दू इस कानून के अन्तर्गत विवाह करता, तो उसे अपने सब अधिकार त्यागने पड़ते थे।

१९५४ में १८७२ का कानून रद्द कर दिया गया जिसका मतलब यह है कि १९२३ का संशोधित कानून अपने-आप रद्द हो गया क्योंकि वह तो १८७२ का ही संशोधित रूप था। १९५४ के इस कानून के अनुसार बातें तो प्रायः सब वही रहेंगी जो १८७२ के कानून में थीं, परन्तु अब हर कोई किसी धर्म या जात में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विवाह कर सकेगा और जैसे पहले कहना पड़ता था मैं किसी धर्म को नहीं मानता—ऐसा अब नहीं कहना पड़ेगा। एक-विवाह आवश्यक होगा, तलाक का भी दोनों को अधिकार होगा। २१ वर्ष की आयु हो, तो माता-पिता की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं, १८ वर्ष से २१ वर्ष के बीच की आयु हो, तो माता-पिता की आज्ञा लेने की आवश्यकता होगी। विवाह रजिस्टर्ड कराना होगा। अगर रजिस्ट्री के समय दोनों में कोई पागल हो या मूढ़ हो, तो ऐसे विवाह पर एतराज़ किया जा सकता है। इस कानून के अन्तर्गत जो शादी होगी उसमें हिन्दू, बौद्ध, सिक्ख या जैन जो-कोई भी शादी करेगा यह माना जायगा कि उसका अपने परिवार से संबंध विच्छेद हो गया।

७. बाल-विवाह-निषेध-अधिनियम (शारदा एक्ट)—१९३०
(Child-marriage Restraint Act, 1930)

१९२७ में डा० हरिसिंह गौड़ के बिल के अनुसार एक कमेटी बनाई गई जिसका नाम 'एज ऑफ़ कन्सेंट कमेटी' (Age of Consent Committee) था। इसने इस बात का पता लगाया कि किस आयु में विवाह हानिप्रद नहीं है। इस कमेटी के परिणामस्वरूप १९३० में 'शारदा-एक्ट' स्वीकृत हुआ जिसमें विवाह-योग्य आयु लड़के के लिए १८ और लड़की के लिए १४ निश्चित की गयी। इससे कम आयु का विवाह दण्डनीय घोषित कर दिया गया। उसके बाद १९३८ तथा १९४९ में इस कानून में कुछ सुधार हुए जिनके अनुसार विवाह-योग्य आयु लड़के की तो १८ रही, परन्तु लड़की की १५ कर दी गई।

बाल-विवाह निषेध कानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

(क) लड़के की आयु १८ तथा लड़की की १४ वर्ष से कम न हो।

(ख) अगर कोई लड़का जिसकी आयु १८ और २१ वर्ष के बीच है, १४ वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करेगा तो उसे १५ दिन की साधारण कैद या १,००० रुपया जुर्माना या दोनों दंड एक-साथ दिये जा सकते हैं।

(ग) अगर कोई लड़का जिसकी आयु २१ वर्ष से ऊँची होगी, १४ वर्ष से कम आयु की लड़की से विवाह करेगा तो उक्त दंड के अतिरिक्त उसे ३ मास की सज़ा भी दी जा सकती है।

(घ) जो व्यक्ति बाल विवाह करने में सहायक होगा उसे ३ मास की सज़ा तथा जुर्माना हो सकता है।

(ङ) बाल-विवाह में सहायक माता-पिता को भी ३ मास तक की सज़ा तथा जुर्माना हो सकता है।

(च) इस कानून के अन्तर्गत किसी स्त्री को दंड नहीं दिया जायगा।

(छ) शिकायत की जाँच प्रथम श्रेणी का मजिस्ट्रेट ही कर सकेगा।

(ज) विवाह हो जाने के एक वर्ष बाद शिकायत नहीं सुनी जायगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. आर्य विवाह अधिनियम–१९३७
(Aryan Marriage Validating Act, 1937)

आर्यसमाजी जात-पात को सिद्धान्तानुसार नहीं मानते। वैसे तो थोड़े ही आर्यसमाजी ऐसे हैं, जो व्यावहारिक रूप में जात-पात को न मानते हों, लैक्चर बहुत देते हैं, परन्तु फिर भी कई दिल से आर्यसमाजी होते हैं, वे जात-पात तोड़कर शादी करते हैं। हिन्दू-विवाह तो अपनी जाति में ही हो सकता है, और 'स्पेशल मैरेज एक्ट' में यह कहना पड़ता था कि वह हिन्दू भी नहीं है। ऐसे आर्यसमाजियों के लिए जो हिन्दू भी कहलाना चाहें और जात भी तोड़ना चाहें श्रीयुत घनश्याम सिंह के उद्योग से यह बिल बना।

९. 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम'–१९५५*
(Hindu Marriage and Divorce Act, 1955)

हमारे सामाजिक-विधान में पिछले एक-डेढ़ हजार साल से कोई परिवर्तन नहीं हुआ। आज की और हज़ार साल पहिले की दुनिया में ज़मीन-आस्मान का अन्तर होगा, फिर भी वही पुरानी सामाजिक-व्यवस्था जो अब से हज़ार साल पहिले थी, आज भी प्रचलित है। परिस्थितियाँ बदल गईं किन्तु कानून नहीं बदला। यही कारण है कि वर्तमान कानून हमारे समाज की ज्वलन्त-समस्याओं को हल करने में असमर्थ सिद्ध हो रहा है। उदाहरणार्थ, उस स्त्री के सम्मुख, जिसका पति उसके जीते-जी दूसरा विवाह कर लेता है, परित्यक्ता के रूप में दुःखी तथा अपमानपूर्ण जीवन बिताने के अतिरिक्त दूसरा कोई उपाय नहीं। वह स्त्री जिसका पल्ला एक बार किसी व्यक्ति से बँध गया, चाहे वह पागल या हद्द दर्जे का मूर्ख क्यों न हो, इससे आजन्म छूट नहीं सकता। एक लखपति की कन्या यदि विधि के विधान से किसी ग़रीब घर में ब्याह कर चली गई तो अपने पिता की सम्पत्ति से उसे कोई हिस्सा नहीं मिल सकता, क्योंकि कानून के अनुसार केवल पुत्र ही सम्पत्ति का मालिक हो सकता है, पुत्री नहीं। एक विधवा पत्नी को अपने पति की कमाई पर भी पूरा अधिकार नहीं मिलता। इस प्रकार हमारी वर्तमान कानून-व्यवस्था ने हमारे समाज की समस्याओं को हल करने के स्थान में नई समस्यायें खड़ी कर दी हैं। ये समस्यायें पिछले सौ-डेढ़-सौ सालों से तो इतनी उग्र हो चुकी हैं कि लगभग सभी समाज-शास्त्रियों का ध्यान अपने-अपने समय में इनकी ओर जाता रहा है। पिछले तीस सालों में तो हमारे विधान-निर्माताओं ने नई परिस्थितियों के अनुकूल एक नया हिन्दू कोड बनाने के अनेक संगठित प्रयत्न किये। 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम है। यह अधिनियम समाज की अधिकांश ज्वलन्त समस्याओं का, जिनमें से कुछ की ओर ऊपर

---

* How far will the codification of Hindu law help to improve the life of Indian women. (1951)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संकेत किया गया है, हल करने का प्रयत्न करता है। इसके द्वारा हमारे सामाजिक प्रश्नों को किस प्रकार सुलझाया गया है, तथा हमारे सामाजिक जीवन पर इसका व्यावहारिक रूप में क्या प्रभाव पड़ेगा, इस सम्बन्ध में विचार करना अवश्यक है।

हिन्दू-कोड को छः भागों में बाँटा गया है, जो इस प्रकार हैं :—(१) विवाह तथा तलाक, (२) उत्तराधिकार, (३) अभिभावकता, (४) गोद लेना, (५) निर्वाह, (६) संयुक्त परिवार। इनमें से पहिले दो पर कानून बन चुके हैं, और वास्तव में 'विवाह' तथा 'उत्तराधिकार' ही हिन्दू-कोड के महत्वपूर्ण भाग हैं। इनका हमारे क्रियात्मक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ने वाला है, अतः इनकी समाज पर व्यावहारिक रूप में प्रतिक्रिया की दृष्टि से हम उपरोक्त दोनों कानूनों पर यहाँ कुछ विस्तार से विचार करेंगे।

[विवाह]

विवाह सामाजिक-जीवन का आधार है। विवाह ही पारिवारिक जीवन की सुख तथा शान्ति का वास्तविक स्रोत है। प्राचीनकाल में हमारे यहाँ विवाह की एक आदर्श प्रथा का जन्म हुआ था जिसके अनुसार स्त्री और पुरुष को विवाह की समान सुविधायें प्राप्त थीं। दोनों के लिए समान नियम, समान कर्त्तव्य तथा समान अधिकार थे, इसलिए उस समय का समाज अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। कालान्तर में हमारी विवाह की प्रथा विकृत तथा दूषित हो गई। स्त्री तथा पुरुष दोनों के लिए भिन्न-भिन्न नियम बनाये गए, दोनों को एक ही माप-दण्ड से मापने के स्थान में भिन्न-भिन्न पैमानों से मापा जाने लगा। स्त्री-पुरुष सम्बन्ध में प्रचलित इस दोहरे माप-दण्ड ने समाज में अनेकों गम्भीर बुराइयाँ उत्पन्न कर दीं जिनका निराकरण इस विवाह-अधिनियम का उद्देश्य है।

(क) एक-विवाह—सबसे बड़ी बुराई जो पैदा हुई वह थी पुरुष के लिए बहु-विवाह की छूट। अब तक इस अधिनियम के बनने से पूर्व यह अवस्था थी कि पुरुष एक स्त्री के जीते-जी दूसरी शादी कर सकता था। पुरुष चाहता तो अनेकों विवाह करता चला जा सकता था और अनेकों स्त्रियों को अकारण घोर नारकीय-जीवन बिताने के लिए बाध्य कर सकता था। कौन नहीं जानता कि किसी भी स्त्री के लिए अपनी आँखों के सामने अपने पति को दूसरा विवाह करते देखना विष पी लेने से भी अधिक दुःखदायी है। सह-पत्नी के घर में आते ही पहिली पत्नी को घोर अपमान-जनक जीवन बिताना पड़ता है। पुरुष के दूसरे विवाह का प्रभाव पहिली पत्नी के बच्चों पर भी इतना बुरा पड़ता है कि उनका सारा जीवन ही विशृंखलित और कुंठित हो जाता है। समस्त पारिवारिक जीवन को अव्यवस्थित तथा कड़वा बना देनेवाली बहु-विवाह की यह प्रथा १९५५ में 'हिन्दू-विवाह तथा तलाक'-कानून (Hindu Marriage and Divorce Act, 1955) के स्वीकृत हो जाने के साथ समाप्त हो गई। इसके अनुसार पुरुष के ऊपर भी वही प्रतिबन्ध लग गया जो स्त्री पर था। जिस प्रकार स्त्री के लिए पति के जीवित रहते दूसरा विवाह त्याज्य माना जाता था, उसी प्रकार पुरुष के लिए भी पहिली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पत्नी के जीवित रहते दूसरा विवाह करना त्याज्य हो गया। अब एक पत्नी के रहते यदि कोई पति दूसरी शादी करेगा, तो वह कानून की दृष्टि में अपराधी और दण्डनीय माना जायेगा। इस प्रकार यह कानून स्त्री और पुरुष दोनों के लिए 'एक-विवाह' की अनिवार्यता को राजकीय नियम का रूप दे देता है। बहु-विवाह की प्रथा समाप्त होने से समाज में स्त्री और पुरुष के बीच जो विषमता थी, और उस विषमता के कारण स्त्री को जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, उन सब का अब अन्त होगा। स्त्री के वैवाहिक-जीवन में एक सुरक्षा की भावना पैदा होगी, और उसका जीवन पहिले से अधिक सम्मानपूर्ण और सुखी बनेगा। इस नियम का परिणाम यह भी होगा कि हमारे समाज में अब तक जो अनमेल विवाह होते थे, वे बहुत हद तक रुक जायेंगे। पुरुष को क्योंकि अनेकों शादियाँ करने का अधिकार था, उसे छोटी आयु की कुमारी कन्याओं से शादी कर लेने की छूट थी, जो अब भी है, इसलिए अक्सर साठ वर्ष के बुड्ढे अठारह-बीस वर्ष की कुमारी लड़कियों से विवाह करते पाये जाते थे। इन अनमेल विवाहों से भी समाज के अन्दर भीषण बुराइयाँ पैदा होती थीं। अब इस 'एक-विवाह' सम्बन्धी कानून का परिणाम यह होगा कि समाज बहुत-से दोषों से मुक्त होकर उन्नति के मार्ग पर तीव्र गति से बढ़ सकेगा।

(ख) अन्तर्जातीय विवाह—'हिन्दू-विवाह तथा तलाक अधिनियम' के द्वारा अन्य जो सुधार हुए उनमें से एक यह है कि अब हिन्दुओं के अन्तर्गत एक जाति के लोगों को दूसरी जाति में विवाह करना अधिक सुविधापूर्ण हो जायेगा। अभी तक कानून 'अनुलोम' विवाहों को तो मान्यता देता था, 'प्रतिलोम' विवाहों को नहीं। ब्राह्मण का लड़का यदि क्षत्रिय की लड़की से शादी कर लेता, तो वह वैधानिक तथा शास्त्र-सम्मत माना जाता था, किन्तु यदि ब्राह्मण की लड़की क्षत्रिय या वैश्य के लड़के से विवाह कर लेती तो कानून उसे अवैध मानता था। इस प्रकार 'प्रतिलोम' विवाह जब होते थे, तो उन्हें वैधानिक रूप देने के लिए 'स्पेशल मैरेज-एक्ट' की शरण लेनी पड़ती थी और अदालत के सामने कहना पड़ता था कि हम किसी धर्म को नहीं मानते क्योंकि 'स्पेशल मैरेज एक्ट' के अनुसार वही लोग शादी कर सकते थे जो यह घोषणा करें कि वे किसी धर्म के अनुयायी नहीं हैं। अब जो परिवर्तन हुआ है उससे 'प्रतिलोम' विवाह भी वैधानिक माने जायेंगे, अर्थात् यदि ब्राह्मण जाति की लड़की का विवाह क्षत्रिय के साथ या क्षत्रिय-कन्या का विवाह वैश्य लड़के के साथ हो जाये, तो हिन्दू रहते हुए भी ऐसे विवाह की सन्तान को सम्पत्ति-सम्बन्धी सभी अधिकार प्राप्त होंगे। इससे अन्तर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहन मिलेगा और जाति-प्रथा के, जो राष्ट्र की एकता में आज सब से अधिक बाधक है, उन्मूलन का मार्ग खुल जायेगा।

(ग) बाल-विवाह पर रोक—१८६० में 'भारतीय दंड-संहिता' (Indian Penal Code) बना। उस समय १० वर्ष से कम आयु की कन्या का विवाह दण्डनीय माना गया। १८९१ में यह आयु १० से बढ़ा कर १२ वर्ष कर दी गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब आयु १० से १२ वर्ष की जा रही थी, तब इसका हिन्दू पंडितों की तरफ़ से बहुत विरोध हुआ। सर एण्ड्रू स्कोबल जो इस सुधार के कर्ता थे, उन्होंने कहा कि राज्य को अपनी प्रजा के उस वर्ग के हितों की रक्षा करने का अधिकार है जो वर्ग अपनी रक्षा अपने-आप नहीं कर सकता। १६२५ में यह आयु बढ़ा कर १३ कर दी गई। उसके बाद 'बाल-विवाह-निरोधक-अधिनियम' (Child Marriage Restraint Act) के अनुसार, जिसे 'शारदा-कानून' (Sharda Act) भी कहा जाता है, १६३० में यह आयु लड़के के लिए १८ और लड़की के लिए १४ कर दी गई। इसके बाद १६३८ तथा १६४६ में इसमें फिर परिवर्तन किया गया जिसके अनुसार लड़की १५ तथा लड़का १८ वर्ष से कम की आयु में विवाह नहीं कर सकते। अभी १६५५ में जो 'हिन्दू विवाह तथा तलाक कानून' (Hindu Marriage and Divorce Act, 1955) स्वीकृत हुआ है उसमें भी विवाह की आयु लड़के तथा लड़की के लिए क्रमशः १८ तथा १५ रखी गई है, जिससे बाल-विवाह पर रोक लग जाती है।

हमारी दृष्टि से तो आयु की यह सीमा भी कम ही रक्खी गई है। विवाह की न्यूनतम आयु लड़की की १८ वर्ष से और लड़के की २५ वर्ष से कम नहीं होनी चाहिए। विवाह की आयु जितनी ऊँची होगी, शारीरिक तथा मानसिक दृष्टि से हमारी भावी सन्तति उतनी ही स्वस्थ तथा विकसित होगी। इसके अतिरिक्त आजकल की दिनोंदिन बढ़ती जनसंख्या पर भी वह प्रतिबन्ध का काम करेगी। हमें आशा है, हमारे विधान-निर्माता इस 'अधिनियम' द्वारा निर्धारित विवाह की उपरोक्त न्यूनतम-आयु से ही सन्तुष्ट न हो जायेंगे, अपितु शीघ्र ही इसमें उचित परिवर्तन करने के लिए उपयुक्त संशोधन लायेंगे।

इस प्रकार वर्तमान 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम' विवाह के क्षेत्र में उठती हुई अनमेल तथा बाल-विवाह जैसी अनेक ज्वलन्त समस्याओं का समाधान कर सकेगा। किन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इस क्षेत्र में जिन सुधारों की आवश्यकता थी, वे सभी इस कानून से पूरे हो जायेंगे। इसके उपरान्त भी हमारी दृष्टि से अभी सुधार की काफ़ी गुंजायश है। उदाहरणार्थ, विधुर के कुमारी कन्या से विवाह की प्रथा जो इस समय शिक्षित समाज तक में प्रचलित है, समाज के अन्दर कई जटिलतायें उत्पन्न कर देती है। इस समय ४०–५० वर्ष का विधुर यदि चाहे तो १८–२० वर्ष की कुमारी कन्या से विवाह कर सकता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इसका परिणाम न तो कुमारी कन्या पर ही अच्छा पड़ता है, और न ही विधुर के बच्चों पर। इसके अतिरिक्त समाज में जो विधवायें हैं, उनके लिए पुनर्विवाह करना एक विषम समस्या बन जाती है, क्योंकि विधुर को जब कुमारी कन्या सरलता से मिल जाती है, तो वे विधवा से विवाह करना नहीं चाहते। इन सब विषम परिणामों का निराकरण करने का यही उपाय था कि कानून द्वारा विधुर के कुमारी कन्या से विवाह पर कोई प्रतिबन्ध लगा दिया जाता। जिस समय विवाह-विधेयक पर संसद् में विचार हो रहा था, तब श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने इस आशय का एक संशोधन प्रस्तुत भी किया था जिसका अभिप्राय यह था कि विधुर केवल विधवा से और विधवा केवल विधुर से ही विवाह कर सके—ऐसी एक शर्त और विवाह की शर्तों में जोड़ दी जाय। किन्तु इस प्रकार की शर्त व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर कड़ा प्रतिवन्ध होगा—ऐसा कहकर सदन में यह संशोधन गिरा दिया गया। यदि उपरोक्त संशोधन मान लिया जाता, तो इस अधिनियम में जो अधूरापन रह जाता है वह न रहता। हमें विश्वास है कि निकट-भविष्य में ही वह समय आयेगा जब कि विवाह-कानून के इस दोष को निकाल दिया जायेगा।

[सम्बन्ध-विच्छेद—तलाक]

विवाह एक अटूट और धार्मिक सम्बन्ध है—यह विचार-परम्परा हमारे समाज में बहुत देर से चली आ रही है। इसमें सन्देह नहीं कि यह एक सुन्दर और ऊँची कल्पना है, किन्तु अपने समाज में इस सिद्धान्त का पालन गत कई शताब्दियों से एक पक्ष की ओर से ही हुआ, दूसरा पक्ष तो निरन्तर इसका उल्लंघन ही करता रहा। जहाँ तक स्त्री का सम्बन्ध रहा, वहाँ तक तो विवाह एक पवित्र सम्बन्ध माना जाता रहा, किन्तु पुरुष ने चाहा तो एक के बाद एक विवाह करता रहा, और एक नहीं अनेक बार विवाह के 'अटूट' कहे जाने वाले सम्बन्ध को तोड़ता रहा। इसके विपरीत स्त्री को किसी भी भयंकर-से-भयंकर परिस्थिति में हमारा कानून पुनर्विवाह की आज्ञा नहीं देता रहा। इस एक-पक्षीय आदर्शवादिता का परिणाम समाज के लिए अत्यन्त हानिकर हुआ। एक ओर पुरुष की इस स्वेच्छाचारिता से तथा दूसरी ओर स्त्री पर कठोर प्रतिवन्धों के लगाने से समाज का शान्त वातावरण विक्षुब्ध तथा दूषित हो उठा। इस सारी परिस्थिति में विवाह-सम्बन्ध की पवित्रता की रक्षा के हेतु ही यह आवश्यक हो गया कि विवाह के कानून में समयानुकूल परिवर्तन और संशोधन किये जायें। यह वह पृष्ठभूमि है जिसमें 'विवाह-अधिनियम' सम्बन्ध-विच्छेद या तलाक की व्यवस्था करता है।

तलाक-सम्बन्धी धारा इस अधिनियम की सबसे अधिक विवादास्पद धारा है, किन्तु जितना भी विवाद है वह भ्रम के कारण है। यह समझा जाता है कि तलाक की छूट मिलते ही हर-कोई अपने जीवन-साथी को तलाक देने चल पड़ेगा। ऐसी स्थिति में विवाह की संस्था का नाश हो जायेगा, समाज में अव्यवस्था छा जायेगी, धर्म का लोप हो जायेगा। किन्तु यह सब भ्रम है क्योंकि इस अधिनियम के अनुसार किन्हीं विशेष ही परिस्थितियों में और कठोर प्रतिवन्धों के अन्दर तलाक का अधिकार दिया गया है। जिन अवस्थाओं तथा परिस्थितियों में इस कानून के अनुसार सम्बन्ध-विच्छेद की व्यवस्था की गई है, वे निम्न हैं :—

(क) यदि पति-पत्नी दोनों में से कोई-एक व्यभिचारपूर्ण जीवन बिता रहा हो, तो दूसरा उसे तलाक दे सकता है।

(ख) दोनों में से एक यदि हिन्दू-धर्म छोड़ कर अन्य धर्मावलम्बी हो जाय, तो दूसरे को उससे सम्बन्ध-विच्छेद करने का अधिकार होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) यदि पति या पत्नी दोनों में से कोई एक तलाक की अर्ज़ी देने के समय पिछले तीन साल से असाध्य रूप से पागल रहा हो, तब भी दूसरे पक्ष को तलाक की आज्ञा मिल सकती है।

(घ) यदि पति या पत्नी में से कोई भयंकर और असाध्य कुष्ठ रोग से अथवा संक्रामक यौन-रोग से पीड़ित हो, और लगातार तीन वर्ष तक इलाज कराने पर भी ठीक न हुआ हो, तो दूसरे पक्ष को तलाक का अधिकार होगा।

(ङ) यदि दोनों पक्षों में से कोई एक सांसारिक-जीवन छोड़ कर वैरागी हो गया हो, तो दूसरे पक्ष को तलाक माँगने का अधिकार होगा।

(च) दोनों पक्षों में से यदि कोई एक सात साल तक लापता रहे, तो दूसरा पक्ष तलाक का प्रस्ताव कर सकेगा।

(छ) इस अधिनियम के लागू होने से पूर्व यदि किसी पुरुष ने दूसरी शादी कर ली है, और उसकी पहिली स्त्री जीवित है, तो पहिली स्त्री को अधिकार होगा कि वह अपने पति को तलाक देकर अपने दुःखी जीवन से मुक्त हो जाये।

(ज) विवाह हो चुकने के तीन साल बाद ही तलाक के लिए आवेदन-पत्र दिया जायेगा, इससे पूर्व नहीं। तलाक मिल जाने के भी एक साल बाद तक कोई पुनर्विवाह न कर सकेगा।

उक्त अवस्थाओं को देखते हुए यह निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि तलाक की जो शर्तें रखी गई हैं वे काफ़ी कठोर हैं और इनके रहते सम्बन्ध-विच्छेद करना कोई हंसी-खेल न होगा। स्त्री-पुरुष बहुत विवशता की हालत में ही इस अधिकार का प्रयोग करेंगे, क्योंकि जो लोग विवाह करते हैं वे एक-साथ रहकर सुखमय जीवन बिताने के विचार से ही इस बन्धन में बंधते हैं। विवाह की संस्था को तलाक से किसी प्रकार का ख़तरा नहीं है क्योंकि विवाह मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति पर आधारित है, और इसलिए वह किन्हीं बाह्य-साधनों से नष्ट नहीं हो सकता।

तलाक की प्रथा अपने देश के लिए बिल्कुल नई चीज़ भी नहीं है। इस समय भी ७५ प्रतिशत जनता में यह प्रचलित है। यह बात दूसरी है कि इस समय यह अधिकतर निम्न या वर्ण-रहित जातियों तक ही सीमित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, तथा वैश्यों में इस प्रथा का समावेश प्रथम बार इस अधिनियम द्वारा ही होगा। इस समय निम्न-जातियों के अन्दर तलाक भिन्न-भिन्न रूपों में प्रचलित है—कहीं 'छूट' की शकल में, और कहीं दूसरे किसी रूप में। वर्तमान कानून तलाक के विभिन्न रूपों में एकरूपता लायेगा, उन्हें एक दृढ़ सुव्यवस्था में बाँध देगा और जहाँ अब छोटी जातियों में मामूली-सी बातों पर तलाक हो जाता है वैसा न होकर ऊपर वर्णित की हुई कठोर अवस्थाओं में ही छोटी तथा बड़ी जातियों में तलाक हो सकेगा।

सम्बन्ध-विच्छेद को कानूनी स्वीकृति मिल जाने का प्रभाव हमारे सामाजिक जीवन पर स्वास्थ्यकर पड़ेगा। अब स्त्री को व्यभिचारी, पागल, घृणित रोगों से पीड़ित पति के साथ इच्छा के विरुद्ध रहने को मजबूर न होना पड़ेगा। आत्म-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्णय का मानवोचित अधिकार स्त्री को प्राप्त हो जाने पर उसके अन्दर मानवीय गुणों का विकास हो सकेगा। स्त्री और पुरुष के बीच विषमता की खाई को पाटने में भी यह अधिक सहायक सिद्ध होगा। अभी तक तराजू का एक पलड़ा ऊँचा और एक नीचा था, अब ये दोनों पलड़े बराबर के स्तर पर आ जायेंगे, समाज में विषमता का लोप होने से सुख तथा शान्ति का उदय होगा।

१०. उत्तराधिकार अधिनियम–१९५६*
(Hindu Succession Act, 1956)

'हिन्दुओं का उत्तराधिकार का कानून' (Hindu Succession Act, 1956) विवाह कानून से भी अधिक महत्वपूर्ण है। स्त्री 'विवाह-अधिनियम' द्वारा प्रदान की गई सुविधाओं का लाभ आर्थिक-अधिकारों को प्राप्त करके ही उठा सकती है। 'उत्तराधिकार-अधिनियम' स्त्री को सम्पत्ति-सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण अधिकार देता है। अभी तक स्त्री को सम्पत्ति में किसी प्रकार का अधिकार प्राप्त नहीं था। वह आर्थिक दृष्टि से पूर्णतया पराधीन थी। जीवन के हर क्षेत्र में उसे अपने भरण-पोषण के लिए पुरुष का आश्रय लेना पड़ता था। "पिता रक्षति कौमारे भर्त्ता रक्षति यौवने। पुत्रा रक्षन्ति वार्धक्ये न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति।"—अर्थात्, स्त्री को स्वतन्त्र नहीं रहना है, उसे सदा पिता, पति तथा पुत्र के अधीन ही रहना उचित है। इस शास्त्र-वाक्य पर ही हमारा अब तक का उत्तराधिकार कानून आधारित था। इस पराधीनता से स्त्री की परिवार तथा समाज में स्थिति बहुत नीचे गिर गई। उसका सामाजिक ही नहीं, नैतिक अधःपतन भी हुआ। अधःपतन के इस गर्त से स्त्री को निकालने का एक ही मुख्य उपाय था। वह उपाय यही था कि स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता मिले। यह 'उत्तराधिकार-कानून' सम्पत्ति-सम्बन्धी इस आवश्यक अधिकार को स्त्री को प्रदान करके उसकी चहुँमुखी उन्नति का मार्ग प्रशस्त करता है। इसके अनुसार स्त्री को पुत्री, पत्नी तथा माता के रूप में सम्पत्ति-विषयक जो अधिकार मिले हैं, वे निम्न हैं :—

(क) पत्नी के रूप में—स्त्री को उसके पति की सम्पत्ति में अधिकार देने का पहिला कानून १९३७ में बना जिसके अनुसार पति की मृत्यु के पश्चात् उसके पुत्र और पुत्रियों के साथ उसकी विधवा स्त्री को भी बराबर का हिस्सा मिलता था। किन्तु इस कानून के अनुसार विधवा का अपने हिस्से पर पूर्ण स्वत्व नहीं था। वह इस प्रकार प्राप्त की हुई अपनी जायदाद को अपनी इच्छानुसार नहीं बर्त सकती थी। दान में या उपहार में उसे नहीं दे सकती थी, इस सम्पत्ति को बेचने का भी उसे अधिकार न था। अब यह 'उत्तराधिकार-कानून' विधवा

---

* **How far will the codification of Hindu Law help to improve the life of Indian women ? (1951)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्त्री को अपनी जायदाद पर सीमित नहीं पूर्ण अधिकार प्रदान करता है। अब वह जिस प्रकार चाहेगी अपने हिस्से की जायदाद का उपयोग कर सकेगी। सन्तान न होने की दशा में वह पूर्ण जायदाद की मालिक होगी। अगर वह पुनर्विवाह कर लेगी, तो वह सम्पत्ति उसकी न रहकर यदि सम्पत्ति पति से मिली थी तो पति के परिवार को, और अगर पिता से मिली थी तो पिता के परिवार को लौट जायेगी।

(ख) **माता के रूप में**—भारत के दक्षिण-पश्चिम भाग में प्रचलित 'मरुम-कटय्यम'-कानून को छोड़कर भारत की अन्य किसी भी दाय-प्रणाली के अनुसार माता का पुत्र की सम्पत्ति में अब तक कोई भाग नहीं था। पुत्र की मृत्यु के बाद माता को अपनी पुत्र-वधू की दया पर आश्रित रहना पड़ता था। सास-बहू के सम्बन्ध थोड़े ही परिवारों में स्नेहपूर्ण होते हैं। ऐसी परिस्थिति में उसका जीवन बहुधा दुःखमय बन जाता है। माता को पुत्र-वधू और पौत्र-पौत्रियों की दृष्टि में एक प्रतिष्ठित स्थान प्रदान करने की दृष्टि से माता को भी पुत्र की सम्पत्ति में उसके पुत्र-पौत्रियों तथा पत्नी के समान एक भाग यह अधिनियम देता है।

(ग) **पुत्री के रूप में**—इस समय भारत में मुख्यतया दो दाय-प्रणाली प्रचलित हैं। 'दाय-भाग' बंगाल में तथा पंजाब के कुछ हिस्सों में चलता है, और भारत के शेष लगभग दो-तिहाई भाग में 'मिताक्षरा' प्रणाली प्रचलित है। किन्तु इन दोनों में से किसी में भी पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार नहीं माना जाता। हाँ, भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट पर ट्रावनकोर-कोचीन आदि में जहाँ 'मरुमकटय्यम'-प्रणाली का कानून प्रचलित है, वहाँ पुत्री को पिता की सम्पत्ति में पुत्र के बराबर ही हिस्सा मिलता है। देश के शेष भागों में जहाँ 'दाय-भाग' तथा 'मिताक्षरा' प्रणाली प्रचलित हैं अभी तक पिता की सम्पत्ति में पुत्री का अधिकार कानून नहीं मानता। अब यह अधिनियम 'मिताक्षरा' तथा 'दाय-भाग' प्रणाली के क्षेत्रों में भी पुत्री को पिता की 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' दोनों प्रकार की सम्पत्ति में हिस्सा देता है। पिता की 'स्वार्जित-सम्पत्ति' में तो लड़की को लड़के के बराबर हिस्सा मिलेगा, लेकिन 'पुश्तैनी-जायदाद' में लड़की को अपने पिता के हिस्से में से ही एक हिस्सा मिलेगा, कुल जायदाद में से नहीं। यह हिस्सा जो उसे पुश्तैनी जायदाद में अपने पिता के भाग में से मिलेगा, लड़के के बराबर ही होगा। फिर भी 'मिताक्षरा' प्रणाली के अनुसार कुल मिलाकर 'पैतृक-सम्पत्ति' में लड़की को लड़के की अपेक्षा बहुत कम मिलेगा। हाँ, 'दायभाग' प्रणाली में जहाँ 'पुश्तैनी' तथा 'स्वार्जित' जायदाद का कोई भेद नहीं किया जाता, लड़की को लड़के के बराबर ही हिस्सा मिलेगा। परन्तु ध्यान रखने की बात यह है कि 'दाय-भाग' की प्रणाली मुश्किल से देश के एक-चौथाई हिस्से में प्रचलित है।

वर्तमान उत्तराधिकार अधिनियम के अनुसार 'मिताक्षरा' तथा 'दाय-भाग' प्रणाली के अन्तर्गत लड़की, लड़के, विधवा-पत्नी तथा माता को किस प्रकार हिस्सा मिलेगा यह नीचे के उदाहरण से स्पष्ट हो जायेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) मिताक्षरा के रूप में—मान लीजिए 'क' कुल २०,००० रु० की सम्पत्ति छोड़ कर मरता है। इसमें १५,००० रु० की 'पैतृक'—पुश्तैनी—सम्पत्ति है, और ५,००० रु० उसकी अपनी कमाई या 'स्वार्जित' सम्पत्ति है। उसके दो पुत्र 'ख' और 'ग' हैं, एक पुत्री 'च' है, जीवित विधवा पत्नी 'प' है, और जीवित माता 'म' है। अब मृत व्यक्ति 'क' की जो अपनी कमाई हुई 'स्वार्जित'-सम्पत्ति ५,००० रु० है, वह तो 'ख', 'ग', 'च', 'प' और 'म' पाँचों में बराबर बँट जायेगी, और दोनों लड़कों, लड़की, विधवा-पत्नी तथा माता इन सब में प्रत्येक को १,००० रु० मिल जायगा, लेकिन मृत व्यक्ति 'क' की 'पैतृक'—पुश्तैनी—जायदाद में ऐसा नहीं होगा। १५,००० रु० की जो 'पुश्तैनी'-जायदाद है वह पहिले केवल लड़कों और पिता में बंटेगी। अर्थात् उसके तीन हिस्से होंगे क्योंकि अपने अलावा उसके दो पुत्र हैं। इस प्रकार 'क', 'ख', 'ग' में हर-एक को ५,००० रु० मिलेंगे। अब, मृत पिता 'क' के हिस्से में जो ५,००० रु० पड़ा, उसमें से लड़की, उसकी विधवा-पत्नी और उसकी माता को हिस्सा मिलेगा, परन्तु स्मरण रखने की बात यह है कि उसके दोनों लड़कों को, यदि वे पिता से अलग नहीं हो चुके हैं; तो पिता के इस ५,००० रु० में से दूसरों के बराबर का हिस्सा और मिलेगा। इस प्रकार इस 'पुश्तैनी' १५,००० रु० में से दोनों पुत्रों 'ख' और 'ग' को ६,००० रु०, पुत्री 'च' को १,००० रु०, जीवित विधवा-पत्नी 'प' को १,००० रु० तथा जीवित-माता 'म' को १,००० रु० मिलेगा। यह भी ध्यान रखने की बात है कि यदि 'ख' या 'ग' में कोई एक या दोनों पिता से अलग हो चुके हैं, तो विभक्त हुए 'ख' या 'ग' को मृतक-पिता 'क' के हिस्से में से दुबारा कोई भाग न मिलेगा।

(ख) दायभाग के अनुसार—दायभाग में जहाँ 'पैतृक' और 'स्वार्जित' सम्पत्ति दोनों में एक ही नियम लगता है, मृतक-पिता 'क' की १५,००० रु० 'पुश्तैनी' तथा ५,००० रु० 'स्वार्जित' जायदाद को एक साथ मिलाकर 'ख', 'ग', 'च', 'प' तथा 'म' में बराबर-बराबर बाँट दिया जायेगा, अर्थात् दायभाग में दोनों लड़के, लड़की, विधवा और माँ सबको बराबर-बराबर ४,००० रु० मिल जायेगा।

उपरोक्त उदाहरण से ज्ञात होगा कि मिताक्षरा के अन्तर्गत पुश्तैनी जायदाद में लड़की को लड़के से काफ़ी कम हिस्सा मिलता है। इसके अतिरिक्त मिताक्षरा में लड़की के हिस्से पर कुछ और भी प्रतिबन्ध लगाये जाते हैं। जिनका आशय यह है कि पुश्तैनी जायदाद का अनावश्यक विभाजन न हो पाये। उदाहरणार्थ, लड़की अपनी ओर से जायदाद के अपने हिस्से का प्रश्न नहीं उठा सकती, लड़के जायदाद का बँटवारा करेंगे तभी उसको अपना हिस्सा अलग मिल सकेगा। वह अपना हिस्सा किराये पर नहीं उठा सकेगी, उसे बेच नहीं सकेगी, सिर्फ़ उसमें स्वयं रह भर सकेगी। यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि पुत्री को पैतृक-सम्पत्ति में जो अधिकार मिला है, वह केवल उस सम्पत्ति में मिला है जिसको उसका पिता बिना वसीयत किये छोड़ जायगा। पिता वसीयत द्वारा पुत्री को कुछ भी हिस्सा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

न दे—यह भी उसे अधिकार है। पिता की सम्पत्ति में पुत्री के अधिकार पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए हैं, उनका मुख्य अभिप्राय संयुक्त-परिवार-प्रथा की रक्षा करना है। परन्तु मिताक्षरा-परिवार रूपी भवन में आज जगह-जगह तरेड़ आ चुकी है। उसे अब बचाया नहीं जा सकता। आज से सौ साल पहिले जो आर्थिक और सामाजिक अवस्थायें थीं, वे आज बदल चुकी हैं। १०० साल पहिले 'परिवार' समाज की इकाई था, आज 'परिवार' नहीं, 'व्यक्ति' समाज की इकाई है। आज यदि कोई भी प्रथा 'व्यक्ति' के विकास को रोकती है, तो उस प्रथा को 'व्यक्ति' के हित की रक्षा के लिए खतम कर देना होगा। आज की हमारी परिस्थितियों में मिताक्षरा-प्रणाली, जो स्त्री-पुरुष के भेद पर खड़ी है, मेल नहीं खाती। इसी कारण अधिकांश विधान-निर्माताओं के विचार से दाय-भाग-प्रणाली ही अपने देश के लिए अधिक उपयुक्त है। इसीलिए हिन्दू-कोड-बिल जब प्रथम बार संविधान-सभा में पेश हुआ था, तो उसमें मिताक्षरा को समाप्त ही कर दिया गया था, और समस्त देश में दाय-भाग-प्रणाली प्रचलित कर देने की सिफ़ारिश की गई थी। दुर्भाग्य से यह बात स्वीकृत न हो सकी। हमें आशा है कि शीघ्र ही हमारे विधान-निर्माता इस अधिनियम में या दूसरा कोई विधेयक लाकर 'मिताक्षरा'-प्रणाली को समाप्त कर देंगे और स्त्री तथा पुरुष के उत्तराधिकार सम्बन्धी इस भेद को मिटाने का प्रयत्न करेंगे।

'हिन्दू-कोड' का मुख्य उद्देश्य स्त्री को सामाजिक तथा आर्थिक अधिकार देकर उसकी सम्पूर्ण अवस्था को समुन्नत करना है। यद्यपि इस समय स्त्री को राजनीतिक-क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त हो चुके हैं, तथापि जबतक उसे सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में भी पुरुष के समान अधिकार नहीं मिल जाते तब तक वह पूर्ण रूप से विकास तथा उन्नति के मार्ग पर अग्रसर नहीं हो सकती। और, जब तक स्त्रियों के रूप में देश की आधी जनता पिछड़ी और पराधीन रहती है तब तक हमारे नेताओं का समाजवादी-समाज को स्थापित करने का स्वप्न मूर्तरूप नहीं ले सकता। इसी भूमिका में 'विवाह' तथा 'उत्तराधिकार' अधिनियमों का असली महत्व है, क्योंकि ये इस समय तक पिछड़ी हुई, अत्याचारों से पीड़ित तथा अधिकार-शून्य स्त्री को शक्ति-सम्पन्न बनाने की दिशा में एक बड़ा ठोस कदम उठाते हैं। विवाह-कानून से स्त्रियों के पारिवारिक जीवन में एक सुरक्षितता की भावना आयेगी, और साथ ही स्त्रियों को भी विशेष अवस्थाओं में सम्बन्ध-विच्छेद की सुविधा मिल जाने से वे पुरुषों के साथ समान स्तर पर आ खड़ी होंगी। वैवाहिक जीवन की सफलता जीवन-क्षेत्र में दोनों के समकक्ष होकर प्रवेश करने में है। विवाह-कानून स्त्री को जो स्वतन्त्रता सामाजिक-क्षेत्र में प्रदान करता है, वही स्वतन्त्रता उत्तराधिकार-कानून स्त्री को आर्थिक-क्षेत्र में देता है। आज हज़ारों सालों के बाद इस कानून के द्वारा प्रथम बार स्त्री के सम्पत्ति-संबंधी अधिकारों को मान्यता मिली है। इन अधिकारों को प्राप्त करने के साथ भारत की नारी इतिहास के एक सुनहरे युग में प्रवेश करती है। इन अधिकारों के सीमित रहते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुए भी इन्हें "स्त्री के अधिकारों का घोषणा-पत्र" (Charter of the Rights of Women) कहा जा सकता है।

इस कानून में कमी यही है कि यह केवल हिन्दुओं के लिए बनाया गया है। कानून सारे देश के लिए एक-सा बनाना चाहिए था। मुसलमान तथा ईसाई इस कानून के लाभों से क्यों वंचित रखे जायँ। 'हिन्दू-कोड' के स्थान पर 'इंडियन-कोड' बनता, तो अधिक युक्तियुक्त रहता।

११. अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम–१९५५
(The Untouchability [Offences] Act, 1955)

१९५५ में पार्लियामेंट ने कानून द्वारा किसी को अस्पृश्य मानना अपराध घोषित कर दिया। उक्त अधिनियम में कहा गया है कि अगर कोई किसी को सार्वजनिक धार्मिक-स्थान में, जहाँ उस धर्म को मानने वाले दूसरे लोग बेरोक-टोक जा सकते हैं, जाने से रोकेगा, या जहाँ उस धर्म को मानने वाले दूसरे लोग स्नान कर सकते हैं, वहाँ स्नान करने से रोकेगा, उसे छः महीने की सज़ा और ५०० रुपए तक का दंड दिया जा सकता है। इसी प्रकार इस कानून में यह भी कहा गया है कि जो-कोई 'अस्पृश्यता' को आधार बनाकर किसी को दुकान या होटल में आने से रोकेगा या धर्मशाला, सराय, मुसाफ़िरख़ाने में उन पात्रों का उपयोग करने से रोकेगा जिनका उस धर्म को मानने वाले अन्य व्यक्ति बेरोक-टोक इस्तेमाल कर सकते हैं, उसे छः महीने की सज़ा और ५०० रुपए तक का दंड मिल सकता है। इसी प्रकार नदी, नल, कुएँ पर न आने देना या धर्मशाला आदि में भेदभाव करना सब दण्डनीय ठहरा दिया गया है। अस्पताल, शिक्षणालय आदि में कोई किसी के साथ अस्पृश्यता का व्यवहार नहीं कर सकता।

१२. स्त्रियों तथा कन्याओं का अनैतिक-व्यापार निरोधक अधिनियम–१९५६
(Suppression of Immoral Traffic in Women and Girls Act, 1956)

एक ऐसी स्त्री के साथ जो अपनी पत्नी न हो, रुपए-पैसे या किसी अन्य वस्तु के बदले यौन-संबंध को वेश्यावृत्ति कहा जाता है। अपने देश में लड़कियों को आर्थिक दृष्टि से बोझ समझा जाता रहा है, अवैध कन्या को माता-पिता कलंक और विधवा को कुल का पाप समझते हैं। इस मनोवृत्ति का लाभ उठा कर पैसे के लोभी इन लड़कियों को ख़रीद कर, भगा कर वेश्यालयों में ले जाते रहे हैं और पुरुष की स्वाभाविक काम-वासना के परिणाम-स्वरूप यह कार्य एक फलने-फूलने वाले व्यापार के रूप में चलता रहा है। इन सामाजिक कारणों के अतिरिक्त वेश्यावृत्ति के अन्य भी कारण रहे हैं। उदाहरणार्थ, समाज में स्त्री-पुरुष के अनुपात का ठीक न होना, औद्योगिक-क्षेत्रों में गाँववालों का घर-बार छोड़ कर रुपया-पैसा कमाने के लिए चला आना और अपने परिवार से देर तक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अलग रहना—आदि। महाराष्ट्र, मैसूर तथा हैदराबाद में मन्दिरों में देवदासियों की धार्मिक-प्रथा भी वेश्यावृत्ति का कारण है। ये देवदासियाँ बचपन में ही मन्दिर की भेंट कर दी जाती हैं और इनका काम नाचना-गाना रह जाता है, ये विवाह नहीं कर सकतीं। वेश्यावृत्ति के परिणामस्वरूप जो घृणित यौन-बीमारियाँ फैलती हैं, समाज में अनाचार होता है, उसे देख कर वेश्यावृत्ति को दूर करने के लिए समय-समय पर अपने देश में भिन्न-भिन्न उद्योग होते रहे हैं, कानून बनते रहे हैं।

भारत में स्त्रियों तथा कन्याओं के अनैतिक-व्यापार को रोकने के लिए अबतक जो कानून बनते रहे हैं, वे निम्न हैं :

१. बंगाल : १९३३ का 'बंगाल का अनैतिक-व्यापार विरोधी कानून' (The Bengal Suppression of Immoral Traffic Act—1933)। इसमें जुलाई १९४० तक संशोधन होते रहे।

२. बिहार : १९४८ का 'बिहार का अनैतिक-व्यापार विरोधी कानून' (The Bihar Suppression of Immoral Traffic Act—1948)

३. बम्बई : १९२३ का 'बम्बई का वेश्यावृत्ति निरोधक कानून' (The Bombay Prevention of Prostitution Act—1923)। इसमें १९४८ तक संशोधन होते रहे।

४. मद्रास : १९३० का 'मद्रास का अनैतिक-व्यापार विरोधी कानून' (The Madras Suppression of Immoral Traffic Act—1930)। इसमें १९४० तक संशोधन होते रहे।

५. मैसूर : १९३६ का 'मैसूर का वेश्यालयों तथा अनैतिक-व्यापार विरोध के नियन्त्रण का कानून' (Regulation for the Suppression of Brothels and Immoral Traffic in Mysore State—1936)

६. पंजाब : १९३५ का 'पंजाब का अनैतिक-व्यापार विरोधी कानून' The Punjab Suppression of Immoral Traffic Act—1935)

७. उत्तर प्रदेश : १९३३ का 'युनाइटेड प्रोविन्सेज़ का अनैतिक-व्यापार विरोधी कानून' (The United Provinces Suppression of Immoral Traffic Act—1933)

इसी प्रकार के कानून १९५२ में ट्रावन्कोर-कोचीन तथा सौराष्ट्र में एवं १९५३ में हैदराबाद रियासत में बनाये गये। इन कानूनों के अनुसार वेश्याओं से धंधा कराकर उनकी आय पर निर्वाह करना, किसी को वेश्यागामिता के लिए प्रेरित करना, व्यभिचार के लिए किसी को वेश्या लाकर देना, वेश्यालय के लिए अपना स्थान किराये पर देना—ये सब बातें अपराध घोषित की गई थीं, परन्तु

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कानून में इतनी लचक थी, वेश्या तथा वेश्यालय की परिभाषाओं में इतनी अनिश्चितता थी कि इन सब के बावजूद वेश्यालय वैसे-के-वैसे चलते रहे, उनमें कोई कमी न आयी।

केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड ने २४ दिसम्बर १९५४ को 'सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य-रक्षा सलाहकार समिति' (Social and Moral Hygiene Committee) बनाई थी जिसका काम स्त्रियों तथा बच्चों के अनैतिक व्यापार के संबंध में जाँच करके अपनी रिपोर्ट उपस्थित करना था। इसकी प्रधाना श्रीमती धनवन्ती राम राव थीं। इस कमेटी ने भारत भर में भ्रमण करके और वेश्यावृत्ति के निरोधक कानूनों का देश के भिन्न-भिन्न भागों में प्रत्यक्ष दर्शन करके अपनी रिपोर्ट में लिखा है :

"इन कानूनों में सार्वजनिक मार्ग तथा जगह पर खड़े होकर व्यभिचार के लिए किसी को प्रेरित करना तभी अपराध है अगर यह बेहूदगी के दर्जे तक पहुँच जाय, या इससे सार्वजनिक शालीनता को ठेस पहुँचे या वहाँ के रहने वालों और राह-चलतों को इससे परेशानी हो। पुलिस का अधिकारी अगर किसी स्त्री को अपनी आँखों से गली-कूचों या सार्वजनिक स्थानों में पुरुषों को अपनी भाव-भंगी से बुलाता देखे या अगर कोई उसकी इन बातों के लिए शिकायत करे, तो वह उसे गिरफ्तार कर सकता है, परन्तु हमने स्त्रियों को जिन्हें सब जानते हैं कि ये वेश्याएँ हैं, संध्या से लेकर मध्य-रात्रि तक घंटों दरवाज़े पर खड़े देखा है, वे अपनी ज़बान से कुछ नहीं बोलतीं, वे इधर-उधर फिरती भी नहीं, क्योंकि वे जानती हैं कि कानून में इस प्रकार किसी को बुलाना या इधर-उधर फिरना अपराध है, वे सब-कुछ करती हैं परन्तु कानून उन्हें हाथ नहीं लगा सकता। हमने स्त्रियों के झुण्ड-के-झुण्ड रात्रि के तीव्र प्रकाश में इस प्रकार सजे-सजाये बैठे देखे हैं जैसे दुकानों में सामान सजाया जाता है, परन्तु कानून में यह भी कोई अपराध नहीं है। अगर किसी पुरुष को व्यभिचार के लिए प्रेरणा देने के कारण किसी वेश्या पर कानूनी कार्यवाही होती भी है, तो वे झट अपना अपराध स्वीकार कर लेती हैं, जुर्माना जमा कर देती हैं, और फिर अपने जघन्य काम में वैसी-की-वैसी जा जुटती हैं।"

वेश्यावृत्ति के संबंध में दो विचार-धाराएँ हैं। एक विचार-धारा के अनुसार इस धंधे का 'उन्मूलन' (Abolition) कर देना चाहिए, दूसरी विचार-धारा के अनुसार इसका 'विनियमन' (Regulation) कर देना चाहिए। 'विनियमन' का अर्थ है—धंधा तो बना रहे, परन्तु (१) जो स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति करना चाहें, उन्हें अपने को रजिस्टर कराना पड़े, (२) वेश्या-लयों को लाइसेंस लेना पड़े तथा उन्हें समाज में किसी दूर स्थान पर रखा जाय, और (३) वेश्याओं तथा वेश्यालयों का आवश्यक तौर पर स्वास्थ्य-निरीक्षण किया जाय। आज के युग में प्रगतिशील देश इस विचार-धारा को छोड़ते चले जा रहे हैं, क्योंकि इसका अर्थ यह होगा कि किसी-न-किसी रूप में हम वेश्या-वृत्ति को समाज में स्थान देते हैं। फ्रांस कभी 'विनियमन' के पक्ष में था, परन्तु वह भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३ अक्टूबर १९४३ से 'उन्मूलन' के पक्ष में हो गया है। 'संयुक्त राष्ट्र-संघ' (U. N. O.) ने 'अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक-विधान' (International Convention) के अनुसार वेश्यावृत्ति के सम्बन्ध में 'उन्मूलन' की नीति का अवलम्बन किया और अपने देश ने भी तभी से इसी नीति को स्वीकार कर उसके अनुसार चलने की अनुमति दी। मार्च १९५० में संयुक्त राष्ट्र-संघ के २१ राष्ट्रों ने स्त्रियों तथा कन्याओं के अनैतिक-व्यापार के निरोध की घोषणा की और ९ मई, १९५० में भारत ने भी इस घोषणा का अनुमोदन किया।

अभी ऊपर हमने जिस 'सामाजिक तथा नैतिक स्वास्थ्य-रक्षा सलाहकार समिति' का उल्लेख किया, उसकी रिपोर्ट ३०-९-१९५५ को प्रकाशित हुई। इसके परिणामस्वरूप भारत सरकार ने १९५६ में पार्लियामेंट में 'स्त्रियों तथा कन्याओं का अनैतिक व्यापार निरोधक अधिनियम' स्वीकृत कराया और १ मई, १९५८ को इस नियम को सारे देश में लागू कर दिया। अब १ मई, १९५८ से वेश्यावृत्ति को कानूनी तौर पर अपराध घोषित कर दिया गया है और सब शहरों से वेश्याएँ अपना धंधा छोड़ कर या तो अपने-अपने घरों को चली गई हैं, या राज्य-सरकारों के समाज-कल्याण बोर्डों द्वारा संचालित संरक्षा-गृहों में वे भर्ती हो गई हैं जहाँ उन्हें छोटे-छोटे उद्योग सिखा कर जीविकोपार्जन के लिए समर्थ बनाने का प्रयत्न हो रहा है।

१ मई, १९५८ को स्त्रियों तथा कन्याओं के अनैतिक व्यापार को रोकने के लिए जो कानून लागू हुआ, उसकी मुख्य-मुख्य बातें क्या हैं?

(१) अबतक के बने कानून भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लिए होते थे, यह कानून एकदम सारे देश पर लागू कर दिया गया, जिससे कानून के भीतर विविधता न होकर एकता रहे।

(२) 'वेश्यालय' की परिभाषा में कहा गया है कि कोई भी मकान, कमरा, स्थान या इनका कोई भी हिस्सा जिसे दो या दो से अधिक वेश्याएँ अपने लाभ या किसी दूसरे के लाभ के लिए इस्तेमाल करें या जिसे वेश्यावृत्ति के काम में किसी के लाभ के लिए प्रयोग में लाया जाय 'वेश्यालय' कहायेगा और 'वेश्यालय' रखने वाले को प्रथम अपराध पर १ से ३ और द्वितीय अपराध पर २ से ५ साल तक का कारावास तथा २ हज़ार रुपये तक का जुर्माना किया जा सकेगा।

(३) 'वेश्या' की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि कोई भी स्त्री जो धन या वस्तु के बदले में अवैध यौन-संबंध के लिए अपने शरीर को अर्पण करती है, वह 'वेश्या' है और अपने शरीर को इस प्रकार यौन-संबंध के लिए अर्पण करना 'वेश्यावृत्ति' है।

(४) 'लड़की' की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि कोई भी स्त्री जो २१ वर्ष से कम आयु की है वह 'लड़की' है। इस परिभाषा के अनुसार १ मई १९५८ के बाद वेश्यालयों की तलाशियाँ ली गईं और अनेक लड़कियाँ जो २१ वर्ष से कम आयु की थीं, पकड़ कर 'सुरक्षा-गृहों' में भेज दी गईं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) इस कानून में यह भी कहा गया है कि इसके बनने से पहले अगर किन्हीं मकानों के एग्रीमेंट वेश्यालयों के लिए हो चुके थे, तो वे एकदम रद्द समझे जायेंगे और उन एग्रीमेंटों के अनुसार मकान को किराये पर रखने के संबंध में कोई कानूनी कार्यवाही न हो सकेगी। इसका यह परिणाम हुआ कि १ मई १९५८ को वेश्यालय एकदम खाली हो गये।

(६) इस कानून में यह भी कहा गया कि किसी वेश्या के अपने लड़के या लड़की को छोड़ कर अगर कोई १८ वर्ष से अधिक आयु का व्यक्ति पूर्णतः या अंशतः उसकी आय पर निर्भर करता है तो उसे २ वर्ष की सज़ा या १ हज़ार रु० तक जुर्माना किया जा सकता है। अगर यह सिद्ध हो जाय कि कोई व्यक्ति निरन्तर किसी वेश्या के साथ रहता है, उस पर नियन्त्रण रखता है, उसकी गति-विधि का इस प्रकार नियमन करता है जिससे प्रतीत हो कि वह वेश्यावृत्ति में सहायक हो रहा है या उस स्त्री को इस कार्य के लिए बाधित कर रहा है या उस वेश्या के लिए ग्राहकों को जुटाने का काम करता है, तो जब तक वह सिद्ध न कर दे कि उसका वेश्यावृत्ति से कोई सरोकार नहीं है, यही समझा जायेगा कि वह इस घृणित कार्य में सहायक है और उसे २ वर्ष की सज़ा और १ हज़ार रु० तक जुर्माना किया जा सकेगा।

(७) इस कानून में यह भी कहा गया है कि अगर कोई व्यक्ति किसी स्त्री या लड़की को उसकी इच्छा या अनिच्छा से वेश्यावृत्ति के लिए लाता या लाने का यत्न करता है, उसे किसी एक स्थान से दूसरे स्थान में वेश्यावृत्ति के लिए जाने को प्रेरित करता है, या ले जाता है, उससे वेश्यावृत्ति करवाता या इसके लिए प्रेरित करता है, उसे प्रथम अपराध पर १ से २ साल की सज़ा और २ हज़ार रु० तक जुर्माना तथा द्वितीय अपराध पर २ से ५ साल तक कठोर कारावास तथा २ हज़ार रु० तक जुर्माना हो सकता है।

(८) इस कानून में यह भी कहा गया है कि जो-कोई व्यक्ति किसी सार्वजनिक स्थान पर या ऐसे स्थान पर जहाँ से सार्वजनिक तौर पर देखा जा सके या किसी मकान के भीतर से या बाहर से या खिड़की में बैठ कर या मकान के किसी हिस्से से शब्दों द्वारा, इंगितों द्वारा या अपने किसी अंग के प्रदर्शन से लोगों का ध्यान अपनी तरफ़ वेश्यावृत्ति के लिए आकर्षित करता है, या सार्वजनिक स्थान में वेश्यावृत्ति के लिए इस प्रकार घूमता-फिरता है, जिससे अश्लीलता तथा बेहूदगी प्रकट हो, तो उसे प्रथम अपराध पर ६ मास तक की सज़ा या ५०० रु० तक जुर्माना या दोनों और द्वितीय तथा तदनन्तर अपराधों पर १ साल की सज़ा और ५०० रु० तक का जुर्माना किया जा सकता है।

वैसे तो इस कानून की अनेक धाराएँ हैं; परन्तु इन सब का परिणाम वेश्यावृत्ति के निरोध पर बहुत अच्छा हुआ है, और अब प्रकट रूप की वेश्यावृत्ति के लुप्तप्राय होने की पूर्ण आशा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३. दहेज-निरोधक अधिनियम—१९६०
(Dowry Prohibition Act—1960)

२४ अप्रैल १९५९ को लोक-सभा में 'दहेज'-निरोधक विधेयक' प्रस्तुत हुआ जो १९६० में अधिनियम बन गया। इस अधिनियम की मुख्य-मुख्य धाराएँ निम्न हैं :—

(क) दहेज का अर्थ उस सम्पत्ति या मूल्यवान् वस्तुओं से है जो सीधे या हेर-फेर के तरीके से विवाह में एक पक्ष या उस पक्ष के किसी व्यक्ति द्वारा दूसरे पक्ष या दूसरे पक्ष के किसी व्यक्ति को दी जाती हैं या जिनके दिये जाने की एक-दूसरे के साथ रजामन्दी होती है।

(ख) दहेज लेने या देने के लिये छः मास की कैद और ५,००० रुपये तक का जुर्माना किया जा सकता है। दहेज माँगने के लिये भी यही दंड दिया जा सकता है।

(ग) उक्त कानून के बावजूद अगर यह पता चल जाय कि विवाह में दहेज दिया गया है तो लेने-देने वालों को दण्ड तो हो ही सकेगा परन्तु जो दहेज दिया गया होगा वह लड़की की निजी सम्पत्ति समझा जायगा।

(घ) दहेज का अपराध अहस्तक्षेप्य (Non-cognizable) अपराध समझा जायगा। अर्थात्, जब तक कोई इसकी पुलिस को इत्तिला नहीं देगा तब तक पुलिस इस पर कोई कार्यवाही नहीं कर सकेगी। दहेज देने के एक साल बाद इसकी कोई शिकायत भी नहीं कर सकता।

प्रश्न

१. भारत में सामाजिक-विधान की महत्ता का वर्णन कीजिये। हिन्दू कोड बिल भारतीय स्त्रियों की दशा सुधारने में कहाँ तक सहायक सिद्ध होगा ? (१९५१)

२. क्या राज्य के लिये सामाजिक-विधान बनाना उचित है ? अपने उत्तर के लिए कारण दीजिए। (१९५५)

३. भारत में कहाँ तक सामाजिक-विधान सामाजिक-समस्याओं के समाधान में सफल हुआ है ? (१९५८)

४. भारत जैसे देश में सामाजिक-विधान का क्या महत्व है ? क्या राज्य के लिए सामाजिक-विधान को अपने हाथ में लेना उपयुक्त है ? (१९५९)

५. गत दस वर्षों में अपने देश में विवाह के क्षेत्र में जो-कोई भी कानून पास हुआ हो उसकी धाराओं की मुख्य-मुख्य बातें लिखिये। (१९६१)

६. सामाजिक-परिवर्तन लाने में विधान का क्या स्थान है—इसका विवेचन कीजिये। भारतीय परिस्थितियों के उदाहरण दीजिए। (१९६२)

७. भारत में परिवार तथा विवाह की संस्थाओं पर नये पास हुए कानूनों का क्या प्रभाव पड़ा है ? विवेचना कीजिये। (१९६३)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

८. पिछले वर्षों में भारत में नारी तथा शिशु-कल्याण के संवर्धन के लिए स्वीकृत सामाजिक-संविधानों की विवेचना कीजिये। (१९६४)

९. निम्न सामाजिक-अधिनियमों के विषय में आप क्या जानते हैं——

(क) सती-प्रथा कानून, (ख) विधवा-विवाह कानून, (ग) विशेष-विवाह-कानून——१९५४, (घ) शारदा-कानून, (ङ) आर्य-विवाह कानून।

१०. 'हिन्दू विवाह तथा तलाक अधिनियम——१९५५' के विषय में आप क्या जानते हैं? इस कानून के अनुसार किन-किन अवस्थाओं में तलाक दिया जा सकता है?

११. 'उत्तराधिकार अधिनियम——१९५६' के अनुसार माता, पत्नी तथा लड़की की स्थिति में क्या परिवर्तन किया गया है? इस परिवर्तन का सामाजिक तथा आर्थिक प्रभाव क्या पड़ेगा?

१२. 'अस्पृश्यता (अपराध) अधिनियम' क्या है और कब बना?

१३. वेश्यावृत्ति निरोधक कानून के विषय में क्या जानते हो?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६

भारत में सामाजिक-सुधार
(SOCIAL REFORM IN INDIA)

पिछले अध्याय में हम लिख आये हैं कि सामाजिक-परिवर्तन दो तरह से हो सकता है—'राज्य' द्वारा और 'व्यक्ति' द्वारा। जब राज्य द्वारा सामाजिक-चलन में परिवर्तन किया जाता है तब उसे 'सामाजिक-विधान' या 'कानून' (Social legislation or law) कहते हैं, जब व्यक्तियों द्वारा स्वयं सामाजिक-चलन में परिवर्तन करने का प्रयत्न होता है, तब उसे 'सामाजिक-सुधार' (Social reform) कहते हैं। 'सामाजिक-विधान' (Social legislation) पर हम लिख आये हैं, इस अध्याय में हम 'सामाजिक-सुधार' (Social reform) पर लिखेंगे।

१. युरोप में सामाजिक-सुधार का युग

युरोप में १५वीं तथा १६वीं शताब्दी में 'पुनर्जागरण' तथा 'सुधार'-युग आया। इन दोनों युगों के बाद युरोप में राजनीतिक 'क्रान्तियाँ' आयीं। इन तीनों को 'जागरण', 'सुधार', 'क्रान्ति' (Renaissance, Reformation, Revolution) का नाम दिया जाता है। युरोप का अनुभव हमें बतलाता है कि 'जागरण' तथा 'सुधार' के बाद 'क्रांति' आती है। 'सुधार' का युग 'क्रांति' का अग्रदूत है। युरोप में भी ऐसा हुआ, भारत में भी ऐसा हुआ। युरोप में क्या हुआ? युरोप की काया पलटने में सबसे बड़ी घटना तब हुई जब **कॉपर्निकस** (१४७६–१५४३) ने सूर्य को विश्व का केन्द्र कहा, **गैलिलियो** (१५६४–१६४२) ने दूरवीक्षण यन्त्र का आविष्कार किया। इन लोगों ने 'पुनर्जागरण' (Renaissance) के युग की नींव रखी। इसी समय १४८३ में **लूथर** का जन्म हुआ। अबतक धर्म के क्षेत्र में पोप ही सब-कुछ था। ईश्वर का स्थान पोप ने लिया हुआ था। वह पाप माफ़

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Give a brief history of social reform movement in India with special reference to the role of Mahatma Gandhi. (1962)
(अध्याय ५ देखिये)

2. Show the relationship between social welfare and social reform. What social reforms would you advocate for India and why ? (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर सकता था। इस विचार-परंपरा के विरुद्ध लूथर ने आवाज़ उठाई। उसने कहा कि व्यक्ति तथा परमात्मा के बीच दूसरा कोई नहीं आ सकता। व्यक्ति तथा परमात्मा का सीधा संबंध है। उसने युरोप की विचार-धारा में से पोप को अलग करके रख दिया। लूथर के अनुयायी प्रोटस्टेंट कहलाये, पोप के मानने वाले कैथोलिक कहलाये। अबतक राजा लोग पोप का शासन मानते थे, उनके लिए लूथर के विचार मानो आसमान से वरदान के रूप में फट पड़े। सारा युरोप दो भागों में बँट गया। कुछ राजा लूथर का साथ देने लगे, कुछ पोप का। इस प्रकार लूथर ने जिस नवीन-युग को जन्म दिया उसे 'सुधार-युग' (Reformation) कहा जाता है। युरोप में 'पुनर्जागरण' तथा 'सुधार'—इन दोनों युगों ने वहाँ की काया पलटने का, एक प्रकार की 'क्रांति' का काम किया।

२. भारत में सामाजिक-सुधार के युग का इतिहास*

भारत में भी सामाजिक-सुधार पहले आया, राजनीतिक-सुधार पीछे आया। भारत में १९वीं शताब्दी से सामाजिक-सुधार का प्रारंभ हुआ। इस शताब्दी में ऐसी समाज-सुधारक संस्थाएँ बनीं जिनका मुख्य उद्देश्य इस देश की कुरीतियों, यहाँ की रूढ़ियों, यहाँ की अनैतिक परंपराओं को जनता में आन्दोलन करके बदलना और सब संभव उपायों से राज्य का ध्यान समाज के लिए हानि करने वाली प्रथाओं की तरफ़ खींचना था ताकि राज्य भी उन प्रथाओं के विरुद्ध कानून बना सके। हम पहले उन 'संस्थाओं' का ज़िक्र करेंगे जिन संस्थाओं ने समाज-सुधार का कार्य प्रारंभ किया, फिर उन 'प्रथाओं' का ज़िक्र करेंगे जिनका सुधार किया गया।

३. समाज-सुधारक संस्थाएँ

भारत में लार्ड मैकाले के उद्योग से १८३५ के बाद अंग्रेज़ी शिक्षा का अक्षुण्ण अधिकार हो गया। अंग्रेज़ी शिक्षा का यह परिणाम हुआ कि युरोप में १९वीं शताब्दी में जो विचार चल रहे थे, जो उन्नति हो रही थी, वह शिक्षित भारतीयों के मस्तिष्क को चकराने लगी। ये एक तरफ़ अपने देश के रूढ़िवाद को देखते थे, दूसरी तरफ़ युरोप की उन्नति को देखते थे। इस सब का परिणाम भारत में प्रतिक्रिया का होना अवश्यंभावी था। इस प्रतिक्रिया ने तीन रूप धारण किये। एक रूप तो यह था कि पढ़े-लिखे लोग अपनी हर-एक बात से घृणा करने लगे। प्रचलित आंग्ल-शिक्षा के प्रचार आदि का परिणाम इनके मस्तिष्क पर यह हुआ कि हमारा सामाजिक-ढाँचा बेकार है, इसे आमूल-चूल बदलना होगा। इस प्रकार के विचारकों ने ब्राह्मो-समाज, प्रार्थना-समाज आदि की स्थापना की। इसके विरुद्ध दूसरी प्रतिक्रिया उन लोगों की थी जो कहने लगे कि हमारी पुरानी हर बात

---

* Give a brief history of the social reform movement in India. (1962)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ठीक थी, कोई रीति, रिवाज, प्रथा हानिकारक नहीं थी, हमारे पुरुखाओं ने सब-कुछ वैज्ञानिक आधार पर खड़ा किया था। इस प्रकार के विचारकों ने रामकृष्ण मिशन, थियोसोफ़ी आदि की स्थापना की। इसके विरुद्ध तीसरी प्रतिक्रिया उन लोगों की थी जो अपनी हर-एक बात को न तो ठीक ही मानते थे, न ग़लत मानते थे। वे बीच के विचारक थे, और ऐसे विचारकों ने आर्यसमाज जैसी संस्थाओं को जन्म दिया।

(क) **ब्राह्मो-समाज**—इस समाज की स्थापना **राजा राममोहन राय** (१७७२–१८३३) ने १८२८ में कलकत्ते में की। राजा राममोहन राय फ़ारसी, संस्कृत तथा अंग्रेजी के विद्वान् थे। पहले तो ये सरकारी नौकरी करते रहे, बाद में सब-कुछ छोड़कर सुधार के आन्दोलन में जुट गए। ये अंग्रेज़ी शिक्षा से काफ़ी प्रभावित थे। इनकी मृत्यु के बाद **श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर** के पिता **श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर** १८४३ में इस समाज में सम्मिलित हुए और उनकी देख-रेख में ब्राह्मो-समाज का संगठन एक विशेष समाज का रूप धारण कर गया। इस समाज में बाकायदा दीक्षा दी जाने लगी और यह अनुभव किया जाने लगा कि ब्राह्मो-समाजी हिन्दू नहीं हैं, अपितु हिन्दुओं से पृथक् एक सम्प्रदाय के मानने वाले हैं। अभी तक ये वेदों तथा उपनिषदों, इन दोनों में विश्वास रखते थे और हिन्दुओं से पृथक् होते हुए भी हिन्दू-भावना को बिल्कुल छोड़े हुए नहीं थे।

इस बीच ब्राह्मो-समाज में १८५७ में **केशवचन्द्र सेन** सम्मिलित हुए। श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर तो वेद-उपनिषद् इन दोनों को मानते थे, श्री केशवचन्द्र सेन ने वेदों के ईश्वर द्वारा प्रकट होने में अविश्वास प्रकट किया। यद्यपि दोनों पाश्चात्य-शिक्षा से प्रभावित थे और हिन्दू-धर्म में सुधार करना चाहते थे, तो भी देवेन्द्रनाथ तर्क की अपेक्षा श्रद्धा पर और केशवचन्द्र श्रद्धा की अपेक्षा तर्क पर अधिक बल देते थे। धीरे-धीरे इन दोनों का मत-भेद बढ़ता गया और ब्राह्मो-समाज में दो दल बन गए—एक देवेन्द्रनाथ के साथ वालों का, दूसरा केशवचन्द्र के साथ वालों का। केशवचन्द्र बहुत आगे बढ़ गए। वे जात-पात तोड़ कर विवाह करने तथा विधवा-विवाह का समर्थन करने लगे, और १८६० में उन्होंने यज्ञोपवीत को भी उतार फेंका। केशवचन्द्र के प्रयत्न से ही 'विशेष-विवाह-कानून' (स्पेशल मैरेज एक्ट—१८७२) जिसका वर्णन हम पिछले अध्याय में कर आये हैं, स्वीकार हुआ। इन्हीं के उद्योग से १८६७ में बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' की स्थापना हुई, जिसमें जस्टिस **महादेव गोविन्द रानाडे** भी सम्मिलित हुए। बंगाल का 'ब्राह्मो-समाज' तथा बम्बई का 'प्रार्थना-समाज' दोनों अन्तर्जातीय-विवाहों पर बल देते थे, जात-पात का खंडन करते थे, विधवा-विवाह का समर्थन करते थे, स्त्री-शिक्षा का प्रचार तथा बाल-विवाह का निषेध करते थे।

(ख) **प्रार्थना-समाज**—हमने अभी कहा कि बंगाल में ब्राह्मो-समाज (१८२८) तथा बम्बई में 'प्रार्थना-समाज' (१८६७) लगभग एक ही उद्देश्य से स्थापित हुए। फिर भी उनमें एक आधार-भूत भेद था। ब्राह्मो-समाज के बंगाली

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नेता केशवचन्द्र सेन पुरानी परंपरा को बिल्कुल तिलांजलि दे रहे थे, प्रार्थना-समाज के महाराष्ट्री नेता रानाडे हिन्दू-धर्म में सुधार तो चाहते थे, परन्तु पुरानी परंपरा को भी एकदम तोड़ देना नहीं चाहते थे। रानाडे का कहना था कि सुधार अच्छी चीज़ है, परन्तु सुधार के जोश में हमारे पुरुखाओं के सदियों पुराने अनुभवों को भी ताक में नहीं रखा जा सकता। सुधार के जोश-रूपी घोड़े पर लगाम रखना ज़रूरी है। वर्तमान को भूत की पृष्ठ-भूमि में ही बदलना ठीक है। इस दृष्टि से प्रार्थना-समाज के प्रवर्तकों ने हिन्दू रहते हुए भी अनेक संस्थाओं की स्थापना की जिनमें अनाथालय, विधवाश्रम, कन्या-पाठशालाएँ थीं। इन्होंने एक दलितोद्धार मिशन भी खोला। रानाडे के उद्योग से १८८४ में 'डेक्कन एज्यूकेशन सोसाइटी' की भी स्थापना की गई जिसके सदस्य **गोखले** और **तिलक** बने। इस सोसाइटी ने पूना में फ़र्ग्यूसन कालेज खोला जिसमें अध्यापक लोग समाज-सेवा की दृष्टि से वेतन लेते थे। 'डेक्कन एज्यूकेशन सोसाइटी' के सदस्य गोखले ने ही 'सर्वेण्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी' की १९०५ में पूना में स्थापना की। इस सोसाइटी के अनेक प्रमुख सदस्य हुए जिन्होंने सुधार के क्षेत्र में बड़े-बड़े काम किये। स्वर्गवासी श्री **एन० एम० जोशी** जो मज़दूरों के आन्दोलन के नेता थे, इसी सोसाइटी के सदस्य थे। जोशी महोदय ने बम्बई में 'सोश्यल सर्विस लीग' तथा 'ऑल इण्डिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस' की स्थापना की। 'सर्वेण्ट्स ऑफ़ इण्डिया सोसाइटी' के सदस्य और इस समय प्रधान **श्री हृदयनाथ कुंजरू** ने इलाहाबाद में 'सेवा-समिति' का संगठन किया। इस सोसायटी के सदस्य **श्रीराम बाजपेयी** ने 'स्काउट एसोसियेशन' तथा स्वर्गीय **श्री ठक्कर बापा** ने हरिजनोद्धार के लिए 'सेवा-मण्डल' खोला। यद्यपि इन सब लोगों को प्रार्थना-समाज का सदस्य नहीं कहा जा सकता, तथापि इनका रानाडे तथा गोखले से, जिन्होंने प्रार्थना-समाज की प्रेरणा से सुधार-कार्य शुरू किया था, संबंध था।

(ग) **रामकृष्ण-मिशन—परमहंस रामकृष्ण** (१८३४–१८८६) एक उच्च कोटि के साधक थे। इनकी मृत्यु के बाद इनके शिष्य **स्वामी विवेकानन्द** ने, जिनका पूर्व-नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था, रामकृष्ण-मिशन की स्थापना की। ये शिकागो के १८९३ के विश्व-धर्म-सम्मेलन में सम्मिलित हुए और वहाँ भारतीय अध्यात्मवाद की व्याख्या करने के बाद जब देश में लौटे तो इन्होंने यहाँ रामकृष्ण-मिशन की नींव रखी। मिशन के कार्यकर्ता घर-बार छोड़ कर, संन्यासी बनकर दवा-दारू से समाज की सेवा करते हैं। जगह-जगह इनके अस्पताल खुले हुए हैं। भारतीय अध्यात्मवाद की इनकी व्याख्या अद्वैतपरक है और इस दृष्टि से पुराने विचारों का ये समर्थन करते हैं। स्वामी विवेकानन्द का कहना था कि पुरानी रूढ़ियाँ सब ठीक नहीं हैं, परन्तु फिर भी सब गलत भी नहीं हैं। पुरानी हर बात को हेय समझने की सुधारवादियों की प्रवृत्ति की वे भर्त्सना करते थे। अस्पतालों द्वारा समाज-सेवा, भारतीय अध्यात्मवाद की पाश्चात्य ढंग की व्याख्या तथा आडम्बर-प्रधान हिन्दू धर्म की आलोचना करते हुए सुधारवादियों की भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साथ-साथ आलोचना—ये तीन बातें स्वामी विवेकानन्द की प्रधान कही जा सकती हैं।

(घ) **थियोसोफ़ी**—मैडम ब्लैवट्स्की तथा कर्नल ऑलकॉट ने १८७५ में थियोसोफ़ी की स्थापना अमरीका में की। इन्हें कहीं से पता चला कि भारत में स्वामी दयानन्द नाम के एक सुधारक हैं जो हिन्दू-धर्म की रक्षा के लिए आन्दोलन कर रहे हैं, साथ-साथ सुधारवादी हैं। इन्होंने स्वामीजी को पत्र लिखा और आर्य-समाज के अन्तर्गत कार्य करने की इच्छा प्रगट की। स्वामी दयानन्द ने इन्हें भारत आने का निमन्त्रण दे दिया। १८७९ में ये भारत आये और थियोसोफ़िकल सोसाइटी को आर्यसमाज की शाखा बनाकर कार्य करना शुरू किया। ये हिन्दू-धर्म की हर रूढ़ि की वैज्ञानिक व्याख्या करने लगे, देवी-देवताओं की, भूत-प्रेत की चर्चा करने लगे। स्वामी दयानन्द तो रूढ़ियों को तोड़ रहे थे, ये रूढ़ियों को, देवी-देवताओं को, भूत-प्रेत को ठीक कहने लगे। दोनों में मत-भेद उत्पन्न हो गया और दोनों का सम्बन्ध टूट गया। मद्रास के अदयार में इन्होंने अपना केन्द्र खोला। मैडम ब्लैवट्स्की और कर्नल ऑलकॉट के बाद श्रीमती ऐनी बीसेंट थियोसोफ़ी की संचालिका हुईं। इन सब का कहना यह था कि भारत की रूढ़ियाँ, यहाँ की परंपराएँ हेय नहीं हैं, उनका आधार वैज्ञानिक है। चोटी केवल बालों का गुच्छा नहीं है, इससे विद्युत् की धारा शरीर में प्रवेश करती है। इसी प्रकार श्राद्ध, देवी-देवता, भूत-प्रेत—हर हिन्दू विचार को इन्होंने पुष्ट करना शुरू किया और पाश्चात्य शिक्षा पाये हुए लोग जो अबतक हिन्दू-धर्म के नाम से लजाते थे, वे हिन्दू-धर्म की हर दकियानूसी बात की वैज्ञानिक व्याख्या करने लगे।

(ङ) **आर्यसमाज**—बंगाल में ब्राह्मो-समाज, महाराष्ट्र में प्रार्थना-समाज और उत्तर-भारत में आर्य-समाज—इन सब ने लगभग एक ही समय में समाज-सुधार का बीड़ा उठाया। इनमें से आर्यसमाज को सबसे अधिक सफलता मिली, इसमें कोई सन्देह नहीं। आर्यसमाज की स्थापना सर्वप्रथम बम्बई में १८७५ में ऋषि दयानन्द (१८२४–१८८३) ने की। ऋषि दयानन्द मूर्तिपूजा के विरोधी थे। वे एक ईश्वर को मानने वाले थे। उस समय ईसाई तथा मुसलमान एवं शिक्षित-वर्ग हिन्दू-धर्म की खिल्ली उड़ाता था। जिन बातों की ये सब लोग खिल्ली उड़ाते थे, उन सब के विषय में ऋषि दयानन्द का कहना था कि ये सब बातें अवैदिक हैं। असली हिन्दू-धर्म वैदिक-धर्म है, और वेदों में न मूर्तिपूजा का विधान है, न देवी-देवताओं का, न बाल-विवाह का, न जन्म की जात-पात का, न श्राद्ध का। वेदों में स्त्री तथा पुरुष में कोई मौलिक भेद नहीं माना गया। वेदों के अनुसार स्त्री या पुरुष के बराबर अधिकार हैं। आर्य-समाज ने हर क्षेत्र में सुधार करना शुरू कर दिया। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली को मैकाले की दूषित शिक्षा-प्रणाली कहकर उसके स्थान में गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली को प्रचलित किया जिसमें बालकों के लिए ब्रह्मचर्यपूर्वक जीवन बिताना आवश्यक किया गया, शिक्षा में संस्कृत को मुख्य स्थान दिया गया, पढ़ाई का माध्यम हिन्दी को बनाया गया, अछूत कहे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वालों को 'अछूत' कहने के स्थान में 'दलित' कहा गया जिसका अभिप्राय यह था कि वे 'अछूत' नहीं हैं, अपितु हमारे द्वारा 'दलित' किये गए हैं, हमने उनके अधिकार छीने हैं। आर्यसमाज ने अनाथालय खोले, विधवाश्रम खोले, पुत्री-पाठशालाएँ खोलीं। इतना ही नहीं, अब तक हिन्दू तो ईसाई या मुसलमान हो सकते थे, ईसाई तथा मुसलमान हिन्दू नहीं हो सकते थे। आर्यसमाज ने इस दिशा में भी सुधार किया और शुद्धि-आन्दोलन को चलाया। शुद्धि के आन्दोलन से ईसाई तथा मुसलमान हिन्दू होने लगे और जो एक बार ग़लती से धर्म-परिवर्तन कर चुके थे, अब उनको हिन्दू-धर्म में वापस लाने का आन्दोलन जारी हुआ। जगह-जगह शुद्धि-सभाएँ खुल गईं और ईसाइयों तथा मुसलमानों से शास्त्रार्थ होने लगे। आज जिनने राष्ट्रीय आन्दोलन कहे जाते हैं, सब का सूत्र-पात आर्य-समाज ने १९वीं शताब्दी में कर दिया था।

(च) वहाबी सम्प्रदाय—जैसे १९वीं शताब्दी में हिन्दुओं में समाज-सुधारक संस्थाए उत्पन्न हुईं, वैसे इस्लाम के अनुयायियों में भी अनेक समाज-सुधारक संस्थाओं ने जन्म लिया। इनमें से एक का नाम वहाबी-सम्प्रदाय था। इस सम्प्रदाय का जन्म तो अरब में हुआ था जहाँ मुहम्मद अब्दुल वहाब नामक एक सुधारक ने १८वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में 'वहाबी आन्दोलन' प्रारंभ किया, परन्तु १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में भारत के मुसलमानों में भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी बनने लगे। इस देश में सय्यद अहमद बरेलवी और शेख करामत अली इस सम्प्रदाय के मुख्य नेता थे। इनका उद्देश्य इस्लाम की कुरीतियों को दूर करना था। पीरों और मकबरों की पूजा के ये लोग विरोधी थे।

(छ) अहमदिया या कादियानी सम्प्रदाय—पंजाब के गुरदासपुर ज़िले में कादियान एक स्थान है जहाँ मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद (१८३८–१९०८) ने अपने सुधार-आन्दोलन को प्रारंभ किया। अहमद का चलाया होने के कारण इसे 'अहमदिया' और कादियान में इसका केन्द्र होने के कारण इस सम्प्रदाय को 'कादियानी' कहते हैं। इनका कहना यह है कि पैग़म्बरों का सिलसिला हज़रत मुहम्मद तक समाप्त नहीं हो गया। यह सिलसिला आगे तक जारी है, और उसी शृंखला में मिर्ज़ा ग़ुलाम अहमद को भी ये पैग़म्बर मानते हैं। अन्य धर्मों के पैग़म्बरों को भी ये आदर की भावना से देखते हैं।

(ज) अलीगढ़ का आन्दोलन—सर सय्यद अहमद खाँ (१८१७–१८९८) का विचार था कि अंग्रेज़ी-शिक्षा के प्रचार द्वारा मुसलमानों में जागृति उत्पन्न करनी चाहिए। मुसलमान क्योंकि अंग्रेज़ों के आने से पहले स्वयं इस देश का शासन चला रहे थे, इसलिए वे अंग्रेज़ी शिक्षा को अपनाने से कतराते थे। सर सय्यद का कहना था कि हिन्दू-लोग अंग्रेज़ी शिक्षा से उन्नति कर रहे हैं, सरकारी नौकरियों को अपने हाथ में ले रहे हैं, मुसलमानों को हिन्दुओं से इस बात में पीछे नहीं रहना चाहिए। इसी उद्देश्य से अलीगढ़ में पहले एक कालेज खोला गया जो पीछे १९२० में अलीगढ़ युनिवर्सिटी का रूप धारण कर गया। अलीगढ़ मुसल-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मानों का शिक्षा का ही केन्द्र नहीं था, यह उनके राजनीतिक आन्दोलनों का भी केन्द्र बन गया। अलीगढ़ ने हिन्दू-विरोधी मनोवृत्ति को पनपाने में बहुत साथ दिया। अंग्रेज़ों को यही अभिप्रेत था। हिन्दुओं के विरुद्ध जो आन्दोलन खड़े होते थे, उनका सूत्रपात यहीं होता था। मुसलमानों को पृथक् मत का अधिकार मिलना चाहिए—यह भावना अंग्रेज़ों की प्रेरणा से यहीं शुरू हुई जिसके कारण यह भावना बद्ध-मूल हो गई कि हिन्दुओं का और मुसलमानों का राजनीतिक हित अलग-अलग है। इस भावना का प्रचण्ड रूप भारत के हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान —ये दो टुकड़े हो जाने के रूप में हुआ।

(झ) **पारसियों में सुधार-आन्दोलन**—१८५१ में पारसियों ने 'रहनुमाई मज्दयासना'—नामक संस्था की स्थापना की जिसका उद्देश्य पारसियों में समाज-सुधार करना था। इसके नेता श्री दादाभाई नौरोजी तथा श्री जे० बी० कामा थे।

(ञ) **सिक्खों में सुधार-आन्दोलन**—बीसवीं सदी में सिक्खों में भी सुधार-आन्दोलन शुरू हुआ। अबतक उनके गुरुद्वारों पर महन्तों का आधिपत्य था। अब उनमें यह आवाज़ उठी कि ये गुरुद्वारे किसी व्यक्ति-विशेष के नहीं हैं, ये सब की साझी सम्पत्ति हैं। इस आन्दोलन के फलस्वरूप 'खालसा-दीवान' तथा 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी' का जन्म हुआ। बड़े-बड़े गुरुद्वारे अब इन कमेटियों के हाथ में हैं, जिनका बाकायदा चुनाव होता है।

जिस प्रकार का सुधार गुरुद्वारों का हुआ है, वैसा ही सुधार हिन्दुओं के मन्दिरों का होना भी आवश्यक है। इस समय ये मन्दिर महन्तों की निजी जायदाद और सम्पत्ति बने हुए हैं, ये लोग जनता से आये हुए धन का ऐयाशी में उपयोग करते हैं, उसे स्वार्थ में उड़ाते हैं। इन पर सार्वजनिक प्रबन्धक समितियों के अधिकार हो जाने से इस धन का सार्वजनिक कार्यों में उपयोग हो सकेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि १९वीं शताब्दी के अन्तिम-चरण में भारत में युरोप की तरह एक चतुर्दिक् 'पुनर्जागरण' तथा 'सुधार'-आन्दोलन हुआ जिसने आगे आने वाली राजनीतिक क्रांति का काम आसान कर दिया।

४. वे प्रथाएँ जिनका सामाजिक-सुधार किया गया*

हमने अभी जिन संस्थाओं और आन्दोलनों का ज़िक्र किया उनका उद्देश्य भारत में प्रचलित उन रूढ़ियों, रीति-रिवाज़ों और प्रथाओं का सुधार करना था जो देश को उन्नति के मार्ग में आगे नहीं बढ़ने दे रही थीं। अब हम उन प्रथाओं का संक्षिप्त वर्णन करेंगे जिनका उक्त संस्थाओं तथा आन्दोलनों ने उन्मूलन किया।

(क) **विधवा-वध या सती-प्रथा**—युरोप के इतिहास की तरह भारत का इतिहास भी आदि-काल, मध्य-काल, पुनर्जागरण अथवा सुधार-काल और

---

* **What social reforms would you advocate in India and why ? (1963)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वर्तमान-काल—इन चार भागों में बाँटा जा सकता है। भेद यह है कि युरोप के आदि-काल तथा भारत के आदि-काल में बहुत भेद है। युरोप का आदि-काल तो असभ्यता का काल है, भारत का आदि-काल सभ्यता का काल है। भारत के आदि-काल में वे बातें नहीं थीं जो मध्य-काल में चल पड़ीं। भारत के वैदिक-युग में स्त्रियों की बहुत ऊँची स्थिति थी। उस सब विवाद में न जाकर यहाँ इतना कह देना काफ़ी है कि मध्य-युग में स्त्री के सती होने की प्रथा चल पड़ी। स्मृतिकारों ने लिखा कि अगर स्त्री पति के साथ मर जाती है, तो वह स्वर्ग में जायगी और अपने पति तथा पितृकुल की तीन पीढ़ियों को भी तरा देगी। कुछ इस विचार से और कुछ विधवा की सम्पत्ति को हड़प कर जाने के विचार से सगे-सम्बन्धी सती की प्रथा का समर्थन करते थे। स्त्रियों में स्वभाव से त्याग की भावना प्रबल होती है, अतः बहुत बार तो वे स्वयं सती हो जाती थीं, बहुत बार उन्हें ज़बर्दस्ती भी सती किया जाता था। अफ़ीम खिला कर विधवा को बेसुध कर दिया जाता था, पति के शव के साथ उसे रस्सी से बाँध दिया जाता था, और चिता में आग दे देने के बाद अगर वह लपटों से बचकर भाग निकलना चाहती थी, तो लम्बे-लम्बे बाँसों से उसे चिता में धकेला जाता था। मुसलमान राजाओं ने, विशेष कर मुहम्मद तुग़लक और अकबर ने इस प्रथा को बन्द करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली। अंग्रेज़ों के राज में यह प्रश्न बड़े ज़ोर से उठा। लार्ड बैंटिक ने ८ नवम्बर १८२९ के अपने एक नोट में लिखा—"हर साल सेकड़ों निरपराध अबलाओं को आग की लपटों के भेंट होते देखना, और ऐसा तब होना, जब हम इस प्रथा को कानून से बन्द कर सकते हैं, मेरी अन्तरात्मा को दारुण व्यथा पहुँचाता है; परन्तु यहाँ के लोग कहते हैं कि अगर इस प्रथा को बन्द करने में राज्य ने हस्तक्षेप किया तो विद्रोह हो जायगा, ब्रिटिश-शासन की जड़ें ही हिल जायँगी। यह सोचकर इस प्रथा को कानून द्वारा बन्द कर देने की भी हिम्मत नहीं होती।" जो-कुछ भी हो, अन्त में ४ दिसम्बर १८२९ को रैग्यूलेशन नं० १७ से लार्ड बैंटिक ने इस प्रथा को कानूनन बन्द कर दिया। इस सम्बन्ध में राजा राममोहन राय ने बड़ा आन्दोलन किया। १८११ में उनकी भाभी को ज़बर्दस्ती सती किया गया था। इसका दारुण दृश्य हर समय उनकी आँखों के सामने नाचा करता था। अन्त में उन्होंने प्रण कर लिया कि वे इस प्रथा का अन्त कराकर छोड़ेंगे। सती-प्रथा को बन्द न करने के लिए कट्टर-पन्थियों ने बहुत-से हस्ताक्षर कराकर एक आवेदन-पत्र भेजा था, राजा राममोहन राय ने इन कट्टर-पन्थियों का ज़बर्दस्त उत्तर लिखा और सिद्ध किया कि शास्त्रों के अनुसार सती-प्रथा कोई धार्मिक-प्रथा न होकर नर-हत्या का अपराध है।

(ख) **विधवा-विवाह**—सती-प्रथा तो बन्द हो गई, परन्तु विधवा के लिए हिन्दू-समाज ने जीवन दूभर बना दिया। उसका सामाजिक-जीवन से लगभग बहिष्कार कर दिया गया। किसी उत्सव में वह सम्मिलित नहीं हो सकती थी। सिर मुँडाकर घोर तपस्या का जीवन उसके लिए एकमात्र उपाय रह गया। इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दशा को सुधारने के लिए समाज-सुधारकों ने बड़े प्रयत्न किये। बंगाल में ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह संबंधी आन्दोलन किया। १८८७ में शशिपद बैनर्जी ने कलकत्ते के निकट बरहानगर में एक विधवाश्रम खोला। १८८९ में पण्डिता रमाबाई ने बम्बई में विधवा-स्त्रियों के लिए शारदा-सदन खोला। पंडिता रमाबाई ईसाई थीं और अपने आश्रम की स्त्रियों को ईसाई बना लेती थीं, इसलिए १८९६ में श्री कर्वे ने हिन्दू-विधवाश्रम खोला। उत्तर-भारत में आर्य-समाज ने अनेक अनाथालय तथा विधवाश्रम स्थापित किये। १९१४ में आर्य-समाज के दानवीर नेता सर गंगाराम ने 'विधवा-सहायक-सभा' की स्थापना की जिसके लिए उन्होंने अपनी लाखों रुपए की सम्पत्ति का दान कर दिया। यद्यपि १८५६ में विधवा-विवाह कानून स्वीकृत हो चुका था, तो भी जन-मत इसके विरुद्ध होने के कारण विधवा-विवाह नहीं होते थे, अब भी कम ही होते हैं। इस दिशा में सुधारक-संस्थाओं ने बहुत काम किया है और कर रही हैं।

(ग) **बाल-वध**—बच्चों का वध तब किया जाता था जब कोई स्त्री किसी देवता के सामने मनौती कर आती थी—यह बात हो गई तो मैं अपनी पहली सन्तान देवी की या गंगा की भेंट चढ़ाऊँगी। यह प्रथा ज़्यादातर बंगाल में प्रचलित थी और १७९५ में इसे कानूनन नर-हत्या घोषित कर दिया गया। या यह प्रथा लड़की के वध के रूप में वहाँ प्रचलित थी जहाँ कन्या के बड़ा होने पर उसके विवाह की कठिनाई लोगों को इतना परेशान कर देती थी कि वे कन्या का जन्म ही एक भारी दुःख का कारण समझते थे और इसलिए उसे पैदा होते ही अफ़ीम देकर मार देते थे। यह प्रथा राजपूतों और जाटों में अधिक प्रचलित थी। १८०२ में इसे भी ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

(घ) **बाल-विवाह**—१८९० में एक बंगाली लड़की फूलमणि दास का ११ वर्ष की अवस्था में पति के साथ सहवास से देहान्त हो गया। उस पर हत्या का अभियोग चला। उसने अपनी सफ़ाई में 'भारतीय-दण्ड-विधान' की वह धारा पेश की जिसके अनुसार विवाह में लड़की की न्यूनतम आयु १० वर्ष मानी गई थी। इससे समाज-सुधारकों का ध्यान बाल-विवाह तथा सहवास के ऐसे कानून को बदलने की तरफ़ गया। इसके बाद अनेक कानूनी सुधार हुए। इन सुधारों में ब्रिटिश-भारत की अपेक्षा रजवाड़ों ने अधिक सुधार-प्रियता दिखाई। इन सुधारों को कानूनन तो किया ही गया, परन्तु आर्य-समाज तथा ब्राह्मो-समाज ने इस दिशा में बड़ा काम किया। हरविलास शारदा, जिनका बाल-विवाह-निषेधक कानून १९३० में लागू हुआ, कट्टर आर्यसमाजी थे। आर्यसमाज ने बाल-विवाह को रोकने के लिए प्रबल आन्दोलन किया। इस समय तो सामाजिक तथा आर्थिक अवस्थाएँ ही ऐसी उत्पन्न हो गई हैं जिनमें कम-से-कम शहरों में तो बाल-विवाह होता ही नहीं। हाँ, गाँवों में अभी बाल-विवाह की प्रथा है, परन्तु वह भी धीरे-धीरे कम हो रही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ङ) **स्त्रियों की समस्याएँ**—मध्य-युग में स्त्रियों के साथ पुरुष समाज का व्यवहार अत्यन्त तिरस्कार-पूर्ण रहा। 'स्त्री-शूद्रौ नाधीयाताम्' का नारा यहाँ का मुख्य नारा था। इस दिशा में आर्य-समाज, ब्राह्मो-समाज, तथा थियोसोफ़ी ने बहुत कार्य किया और इन्होंने कन्याओं को शिक्षा देने के लिए अनेक शिक्षणालयों की स्थापना की। १८५३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के बोर्ड ऑफ़ कण्ट्रोल के मुखिया सर चार्ल्स वुड थे। उन्होंने १८५४ में 'वुड-डिसपैच' लिखा जो भारतीय-शिक्षा का 'अधिकार-पत्र (मैग्ना कार्टा) कहलाता है। उसमें इन्होंने जहाँ अन्य सुधारों की तरफ़ निर्देश किया वहाँ स्त्री-शिक्षा को भी अंग्रेज़ी-शासन का एक आवश्यक अंग माना। यह सब-कुछ होते हुए भी सरकार का ध्यान स्त्री-शिक्षा की तरफ़ ज्यादा नहीं गया। १९०१ में लार्ड कर्ज़न ने वायसराय की हैसियत से 'शिक्षा-परिषद्' की स्थापना की और १९०४ में भारत-सरकार की शिक्षा-संबंधी नीति की घोषणा की। इस नीति के अनुसार जहाँ अन्य बातों पर प्रकाश डाला गया था वहाँ यह भी घोषित किया गया कि स्त्री-शिक्षा को सुव्यवस्थित करने के लिए लड़कियों के प्राथमिक-स्कूल खोले जाँय, उन्हें प्रशिक्षित किया जाय और स्त्री-निरीक्षिकाएँ नियुक्त की जाँय।

स्त्री-शिक्षा के साथ-साथ स्त्रियों में राजनीतिक अधिकारों की माँग भी उठ खड़ी हुई। स्त्रियों ने मताधिकार माँगा। १९१९ में जब मौन्टेग्यू-चेम्सफ़ोर्ड सुधार लागू हुए तब स्त्रियों को परिमित क्षेत्र में मत देने और विधान-सभाओं तथा म्यूनिसिपैलिटियों में चुने जाने का अधिकार मिला। १९३५ में जब 'गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट' स्वीकृत हुआ तब ६० लाख के लगभग स्त्रियों को वोट देने का अधिकार मिला और प्रान्तीय तथा केन्द्रीय विधान-सभाओं में उनके लिए कुछ स्थान सुरक्षित भी कर दिये गए। १९४९ में जब भारत का नया संविधान स्वीकृत हुआ तब तो प्रत्येक बालिग को, पुरुष हो, स्त्री हो, मत देने का अधिकार मिल गया। इस प्रकार युरोप में मत-दान के जिस अधिकार के लिए वहाँ की नारी को घोर संघर्ष करना पड़ा, वह अधिकार भारतीय-नारी को आसानी से मिल गया। इसका मुख्य कारण यह था कि यहाँ के स्वतंत्रता-आन्दोलन में भारतीय नारी ने बहुत अधिक काम किया था।

स्त्रियों के अधिकारों की सुरक्षा के लिए अपने देश में अनेक संगठन बने। १९१७ में 'इण्डियन विमेन्स एसोसियेशन' बनी। १९२६ में 'ऑल इण्डिया विमेन्स कान्फ़रेन्स' की स्थापना हुई। ये संस्थाएँ स्त्रियों संबंधी समस्याओं को हर समय ताज़ा रखती हैं। इनमें 'ऑल इण्डिया विमेन्स कान्फ़रेन्स' का संगठन देश-व्यापी है और जगह-जगह इसकी शाखाएँ हैं।

(च) **दहेज-प्रथा**—दहेज-निरोधक अधिनियम का हम पिछले अध्याय में उल्लेख कर आये हैं। दहेज एक प्रकार का लड़के को खरीदना है। हिन्दू-समाज का इस प्रथा से बहुत अपकार हुआ है। कई कन्याओं ने माता-पिता को दहेज न दे सकने के कारण चिंतित देखकर प्राणों की आहुति दे दी। इस कुप्रथा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को दूर करना आवश्यक था, इसीलिए अब इस पर कानून द्वारा प्रतिबन्ध लगा दिया गया है। परन्तु केवल कानून बनाने से कुप्रथा दूर नहीं हो जाती। इसके लिए जनता की चेतना का जागना आवश्यक है।

(छ) **जात-पात की समस्या**—भारत में जात-पात एक आधार-भूत सामाजिक-संगठन है। हमारी जातियाँ-उपजातियाँ तीन हज़ार के लगभग हैं। जात-पात मनुष्य को मनुष्य से जुदा करती है। जात-पात के कारण हम लोग अपनी जाति के बाहर विवाह नहीं कर सकते थे, अपनी जाति के बाहर खाना नहीं खा सकते थे, विदेश-यात्रा के समय अपनी जाति में भोजन की व्यवस्था नहीं हो सकती थी, इसलिए विदेश-यात्रा नहीं कर सकते थे। अपनी जाति के बाहर विवाह न कर सकने के कारण विवाह का क्षेत्र सीमित हो गया था। अपनी ही जाति में शादी करनी पड़ती थी, इसलिए दहेज़ की प्रथा चली, अनमेल विवाह चले, बहुविवाह चले। जाति के अन्दर ही खाना खा सकते हैं, इसलिए जो विदेश-यात्रा करके आता था उसका जाति-बहिष्कार हो जाता था, उसे प्रायश्चित्त करना पड़ता था। राजा राममोहन राय को इंगलैण्ड जाते हुए अपना रसोइया साथ ले जाना पड़ा था।

इन सब बातों के विरुद्ध आर्यसमाज ने ज़बर्दस्त आवाज़ उठाई। आर्य-समाज का कहना था कि जन्म की जात-पात बेमाइना है। असली वैदिक-सिद्धान्त वर्ण-व्यवस्था का है, वर्ण कर्म से होता है, जन्म से नहीं। आर्य-समाज ने अन्तर्जातीय भोज चलाये जिनमें सब जाति के लोग साथ बैठकर खाना खाते थे। अन्तर्जातीय विवाहों को भी आर्यसमाज ने प्रोत्साहित किया। १९२२ में श्री सन्तराम और पं० भूमानन्द के उद्योग से 'जात-पात-तोड़क-मंडल' की स्थापना हुई जिसने जात-पात तोड़ने का आन्दोलन प्रबल वेग से उठाया। १९३७ में 'आर्य-विवाह-कानून' पास हुआ जिसके अनुसार जात-पात तोड़ कर आर्यसमाजियों द्वारा किये गए विवाहों को कानून द्वारा मान्यता मिली।

(ज) **अछूतों की समस्या**—हिन्दू-धर्म में जहाँ एक तरफ़ जात-पात का कीड़ा लगा हुआ था, वहाँ दूसरी तरफ़ अछूतपन का घुन लगा हुआ था। नीच कही जाने वाली जातियों के स्पर्शमात्र से अपने को उच्च जाति का कहने वाले भ्रष्ट हो जाते थे। कोचीन में नायर जाति के स्पर्श से ब्राह्मण दूषित हो जाते थे, राज, बढ़ई, लुहार तो अगर ब्राह्मण के २४ फ़ीट दूर से भी निकल जाता था तो ब्राह्मण दूषित हो जाता था। इन अछूतों को शहर के बाहर की बस्तियों में रहना होता था, मन्दिरों में वे नहीं जा सकते थे, उनके दर्शन-स्पर्शन से सब को पवित्र करने वाले देवता स्वयं अपवित्र हो जाते थे। ये लोग सजातीयों के कुओं से पानी नहीं भर सकते थे, पाठशालाओं में दूसरे बालकों के साथ बैठ कर पढ़ नहीं सकते थे।

इस सारी अवस्था को देख कर बंगाल-महाराष्ट्र में ब्राह्मो-समाज तथा प्रार्थना-समाज ने एवं उत्तरी-भारत में आर्य-समाज ने प्रतिक्रिया की; आर्य-समाज ने 'अछूत'-शब्द को बदल कर 'दलित'-शब्द का प्रयोग किया। 'अछूत' का अर्थ है, जो छूने योग्य न हो, 'दलित' का अर्थ है, जिसे हमने नीच बना रखा हो।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दोनों शब्द एक ही सामाजिक-अवस्था को सूचित करते हैं, परन्तु दोनों में कितना आधार-भूत भेद है। 'दलित'-शब्द में यह भावना निहित है कि कसूर हमारा है।

समाज-सुधारकों के प्रयत्न का यह फल हुआ कि १९२० में महात्मा गांधी के प्रयत्न से अस्पृश्यता-निवारण को कांग्रेस ने रचनात्मक कार्य-क्रम का अंग बना लिया। महात्मा गांधी ने 'अछूत' या 'दलित' की जगह 'हरिजन'-शब्द का प्रयोग किया। उन्होंने 'हरिजन-सेवक-संघ' की स्थापना की और अपने पत्र का नाम 'हरिजन' रखा। आर्यसमाज तथा महात्मा गांधी के दृष्टि-कोण में यह भेद है कि आर्यसमाज के 'दलित'-शब्द के प्रयोग से कोई 'दलित' न रहे यह व्यक्त होता है, महात्मा गांधी के 'हरिजन'-शब्द के प्रयोग से कोई 'हरिजन' न रहे यह व्यक्त नहीं होता। १९३२ में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री रैम्ज़े मैक्डानल्ड ने 'दलित'-वर्ग को हिन्दुओं से पृथक् प्रतिनिधित्व देने की घोषणा की। उसका परिणाम यह होता कि जैसे हिन्दू और मुसलमान पृथक् प्रतिनिधित्व से सदा के लिए जुदा हो गए, वैसे 'दलित'-वर्ग भी हिन्दुओं से सदा के लिए पृथक् हो जाता। इस बात को लेकर महात्मा गांधी ने आमरण-अनशन की घोषणा कर दी जिसके कारण हिन्दू तथा दलित-वर्ग के नेताओं का समझौता हुआ, दलित-वर्ग के लिए विधान-सभाओं में ज़्यादा पद सुरक्षित करने की बात पक्की हो गई और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को अपना निर्णय वापस लेना पड़ा।

अब भारत के नव-विधान के अनुसार कोई किसी के साथ अछूत का-सा बर्ताव नहीं कर सकता, मन्दिर में प्रवेश से नहीं रोक सकता, सार्वजनिक स्थानों के उपयोग से कोई किसी को वंचित नहीं कर सकता।

इस प्रकार हमने देखा कि किस प्रकार सुधार-संस्थाएँ और सुधार के आन्दोलन देश में सामाजिक-सुधार का कार्य कर रहे हैं।

प्रश्न

१. भारत में सामाजिक-सुधार के आन्दोलन का संक्षिप्त इतिहास देते हुए यह लिखिये कि उसमें महात्मा गांधी का क्या योगदान रहा? (१९६२)

२. समाज-कल्याण तथा समाज-सुधार का पारस्परिक संबंध दर्शाइये। आप भारत में किन सामाजिक-सुधारों को आवश्यक समझते हैं और क्यों? (१९६३)

३. युरोप में सामाजिक-क्रांति के विषय में आप क्या जानते हैं?

४. १९वीं शताब्दी में भारत में जो सामाजिक क्रांति हुई, उस पर एक निबन्ध लिखिये।

५. भारत की उन सामाजिक कुप्रथाओं का वर्णन कीजिये जिनका १९वीं शताब्दी के समाज-सुधारकों ने उन्मूलन किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०

भारत में शिक्षा-संबंधी-सुधार—बेसिक तथा सामाजिक शिक्षा

(EDUCATIONAL REFORMS IN INDIA—BASIC AND SOCIAL EDUCATION)

अपने देश में हर दिशा में सुधार हो रहा है, फिर 'शिक्षा' का क्षेत्र सुधार की प्रगति से अछूता कैसे रह जाता। परन्तु 'शिक्षा' में सुधार का क्या अर्थ है? 'शिक्षा' के कुछ मौलिक सिद्धान्त हैं, इसका कुछ मौलिक अर्थ है। 'शिक्षा' में सुधार का अभिप्राय है कि हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो शिक्षा के मौलिक अर्थों, उसके मौलिक सिद्धान्तों के अनुकूल हो। इसी प्रकार 'शिक्षा' के कुछ उद्देश्य

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Examine critically the defects in the present educational system. Discuss briefly the latest scheme of Uttar Pradesh Government for reforming the higher secondary education. (1951)

2. Give your views on rural education as it exists in your province at present. Do you consider the present practice of entrusting rural education to District Boards satisfactory? Give reasons. (1953)

3. What do you understand by 'Basic Education'? What are the suggestions of the Planning Commission for solving the difficulties of basic schools with regard to land? (1956)

4. Discuss the statement: "Education is a necessity of social life". (1957)

5. "Lack of education is the main cause of all rural problems in India." Discuss and suggest the pattern of education which you consider suitable for a rural population. (1958)

6. Write a short essay on "Basic Education." (1959)

7. Review critically our present system of education and suggest reforms. (1961)

8. Write short note on "Basic Education". (1961)

9. What is 'Social education'? Review the steps being taken by the State Government for its promotion. (1962)

10. Give the concept of basic education and show its progress in India. (1963)

11. Write short note on Basic Education. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, प्रयोजन हैं। 'शिक्षा' में सुधार का यह भी अभिप्राय है कि हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जो उसके उद्देश्य को, उसके प्रयोजन को सिद्ध करती हो। तो फिर प्रश्न है कि शिक्षा का मौलिक सिद्धान्त क्या है और शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं?

१. शिक्षा का अर्थ तथा उसका मौलिक सिद्धान्त

(क) पैस्टेलोज़ी—स्विटज़रलैंड के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पैस्टेलोज़ी का कथन है कि 'शिक्षा' मनुष्य की आन्तरिक शक्तियों के 'स्वाभाविक' (Natural), 'सामंजस्यपूर्ण' (Harmonious) तथा 'प्रगतिशील' (Progressive) विकास का नाम है।

इस कथन में चार बातें ध्यान में रखने की हैं। पहली बात यह है कि शिक्षा का आधार बालक की 'आन्तरिक-शक्तियाँ' हैं। बालक के भीतर कुछ बीज होना चाहिए जो विकसित होता है। शिक्षा-शास्त्री बालक की इस आभ्यन्तर-शक्ति को 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) कहते हैं। दूसरी बात है, इस शक्ति का 'स्वाभाविक'-विकास। 'शिक्षा' का मूल सिद्धान्त यह है कि बालक को पौधे की तरह स्वाभाविक तौर पर विकसित होने दिया जाय। पौधे को खींच कर बड़ा नहीं किया जा सकता, उसे अच्छी खाद दी जाय, रोशनी में वह रहे, तभी वह बढ़ता है। बच्चा भी उत्तम परिस्थिति पाकर अपने-आप विकसित होता है। तीसरी बात है, सामंजस्य। बच्चे का विकास इकतरफ़ा नहीं होना चाहिए, उसका शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक सब प्रकार का विकास होना चाहिए। इसी को पैस्टेलोज़ी ने सामंजस्यपूर्ण कहा है। चौथी बात है, प्रगतिशीलता। शिक्षा के द्वारा व्यक्ति प्रगतिशील हो जाता है; विचारों में रूढ़िपना, दकियानूसीपना शिक्षा के अभाव का नाम है।

(ख) रेमंट—प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री श्री टी० रेमंट का कथन है कि शिक्षा व्यक्ति के विकास की उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसके द्वारा वह बाल्यावस्था से प्रौढ़ावस्था में धीरे-धीरे भिन्न-भिन्न तरीकों से अपने को भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक पर्यावरण के अनुकूल बना लेता है।

इस कथन में ध्यान देने की सब से बड़ी बात यह है कि बालक का अपने को भिन्न-भिन्न प्रकार की परिस्थिति के अनुकूल बना लेना ही शिक्षा का मौलिक सिद्धान्त है। अगर बालक ने पुस्तकें रट लीं, परन्तु जीवन में वह कामयाब न रहा, तो उसकी शिक्षा अधूरी है। शिक्षित व्यक्ति की सब से बड़ी योग्यता विषम परिस्थिति में भी न घबड़ाना है, अपने को परिस्थिति के अनुकूल बना लेना है।

मनुष्य को भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक परिस्थिति में अपना जीवन बिताना होता है। भौतिक परिस्थिति अनुकूल भी हो सकती है, प्रतिकूल भी हो सकती है। अनुकूल परिस्थिति में तो सब-कोई मज़े में रहते हैं, भौतिक परिस्थिति प्रतिकूल हो तब भी मज़े में रहना—यह शिक्षा से ही सीखा जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामाजिक तथा आध्यात्मिक परिस्थिति भी अनुकूल-प्रतिकूल दोनों प्रकार की हो सकती है। परिस्थिति कैसी भी क्यों न हो, व्यक्ति परिस्थिति का शिकार न बने, परिस्थिति पर काबू पा ले—रेमंट के शब्दों में यह शिक्षा का मूल सिद्धान्त है।

भौतिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक परिस्थिति में भी शिक्षा का सबसे महत्वपूर्ण अंग अपने को सामाजिक परिस्थितियों में कामयाब बनाना है। प्रायः देखा जाता है कि हमारे युवक पढ़-लिख जाते हैं, डिग्री हासिल कर लेते हैं, परन्तु जब वे सामाजिक जीवन में पदार्पण करते हैं तब नदी में बहते तिनके की तरह अपने को न इस छोर का पाते हैं न उस छोर का। सफल शिक्षा वही है जिसमें व्यक्ति सामाजिक जीवन में अपने को उखड़ा-उखड़ा न अनुभव करे क्योंकि जीवन का अधिकतम भाग हम समाज में ही बिताते हैं। समाज में आकर जो व्यक्ति अपने को सामाजिक परिस्थितियों के साथ ताल-मेल में नहीं ला सकता वह शिक्षित होता हुआ भी अशिक्षित है।

शिक्षा तथा सामाजिक जीवन का संबंध एक और दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। इतना ही ठीक नहीं है कि व्यक्ति का जीवन समाज के ऊपर निर्भर है, व्यक्ति जिस अंश तक अपने को समाज के अनुकूल ढालता है उतने अंश तक ही वह सफल होता है, साथ ही यह भी ठीक है कि 'व्यक्ति' के अलावा 'समाज' की सत्ता भी शिक्षा पर ही टिकी हुई है। हमारा समाज क्या है? पीढ़ी-दर-पीढ़ी से जो प्रथाएँ-परंपराएँ ज़बानी या लिखित तौर पर हम तक पहुँची हैं उन्हीं से तो समाज टिका हुआ है। हमारी 'सामाजिक-विरासत' (Social heritage) से ही समाज बना है, वंश-परंपरा से आ रही इस 'सामाजिक-विरासत' को हम अलग रख दें तो समाज क्या रह जाता है? 'शिक्षा' के संबंध में श्रीयुत् रेमंट की परिभाषा को अगर हम ठीक-ठीक समझें तो यह कहना असंगत न होगा कि 'व्यक्ति' के जीवन की दृष्टि से जहाँ शिक्षा आवश्यक है वहाँ 'सामाजिक-जीवन' की दृष्टि से भी शिक्षा आवश्यक है।

२. शिक्षा के उद्देश्य

शिक्षा-संबंधी सुधारों पर विचार करते हुए जहाँ शिक्षा के मौलिक 'सिद्धान्तों' को सामने रखना होगा वहाँ शिक्षा के 'उद्देश्यों' को भी सामने रखना होगा। शिक्षा में हम जो सुधार करें वे ऐसे होने चाहियें जिनसे शिक्षा के उद्देश्य पूर्ण हों। शिक्षा के उद्देश्य क्या हैं? शिक्षा के निम्न पाँच उद्देश्य कहे जाते हैं:

(क) मानसिक-विकास या विद्या के लिए विद्या शिक्षा का उद्देश्य है,
(ख) आजीविकोपार्जन शिक्षा का उद्देश्य है,
(ग) चरित्र-निर्माण शिक्षा का उद्देश्य है,
(घ) सर्वाङ्ग-विकास शिक्षा का उद्देश्य है,
(ङ) सामाजिक जीवन में सफलता शिक्षा का उद्देश्य है।

(क) मानसिक-विकास या विद्या के लिए विद्या (Intellectual development or knowledge for the sake of knowledge)—प्राचीन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काल से शिक्षा का उद्देश्य यह समझा जाता रहा है कि इससे मनुष्य का मानसिक-विकास होता है, विद्या विद्या के लिए प्राप्त की जाती है, विद्या प्राप्त करना अपने में ही एक उद्देश्य है। विद्या प्राप्त करने से ही मनुष्य की शोभा है, 'विद्याविहीनः पशुभिः समानः'—विद्या के बिना मनुष्य पशु है। ग्रीक विचारक भी यही मानते रहे, भारतीय विचारक भी यही मानते रहे कि विद्या से मनुष्य का मानसिक-स्तर ऊँचा उठता है, यही विद्या का सबसे बड़ा लक्ष्य है।

समालोचना—जो लोग विद्या के इस लक्ष्य पर विश्वास करते हैं वे बालक को पुस्तकों से लाद देते हैं, बालक की रुचि का ध्यान रखने के स्थान में उसे हर विषय का पंडित बनाना चाहते हैं, विषय उपयोगी हो, न हो, उसे सब-कुछ रटा देना चाहते हैं। इसका परिणाम वही होता है जो एकदम बहुत-सा भोजन पेट में भर लेने से होता है। शिक्षा का उद्देश्य बहुत-सी बातों का मन में संग्रह कर लेना नहीं, अपितु संग्रह की हुई विद्या को जीवन में उपयोगी बनाना है। शिक्षा-संबंधी जो भी सुधार हो उसमें इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है कि विद्या स्वयं उद्देश्य नहीं, किसी उद्देश्य का साधन है, स्वयं लक्ष्य नहीं, लक्ष्य की तरफ़ ले जाने वाला मार्ग है।

(ख) आजीविकोपार्जन या व्यावसायिक उद्देश्य (Vocational aim)—शिक्षा मनुष्य को अलंकृत करनेवाला केवल शृंगार नहीं, उसके रोटी के सवाल को हल करने का साधन है—यह आवाज़ आज बड़ी तेज़ी से उठ रही है। चारों तरफ़ से आवाज़ें आ रही हैं कि जो शिक्षा सिर्फ़ किताबें रटना सिखा देती है, रोटी के सवाल को हल नहीं करती, वह बेकार है। शिक्षा का काम मनुष्य को एक ऐसा पेशा दे देना है जिससे वह भावी-जीवन को सफल बना सके। जब शिक्षा द्वारा हम किसी व्यवसाय को सीखने लगते हैं तब हमारे सामने एक उद्देश्य खड़ा हो जाता है, तब शिक्षा निरुद्देश्य नहीं रहती। उद्देश्य ही तो मनुष्य को क्रियाशील बनाता है। बालक जब यह समझ कर पढ़ता है कि वह जो-कुछ पढ़ रहा है उसे जीवन-भर उसका साथ देना है तब वह पढ़ता भी लगन से है।

समालोचना—परन्तु क्या यही एकमात्र शिक्षा का उद्देश्य है? आजीविका के लिए शिक्षा प्राप्त करने से एक व्यक्ति अच्छा डाक्टर बन सकता है, अच्छा वकील बन सकता है, इंजीनीयर बन सकता है परन्तु यह आवश्यक नहीं कि इससे वह अच्छा मनुष्य भी बन जाय। शिक्षा-संबंधी जो सुधार हो उसमें इस बात पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है कि विद्या का काम सिर्फ़ आजीविका के प्रश्न को हल करना ही नहीं, मनुष्य को मनुष्य बनाना, सच्चरित्र बनाना भी है।

(ग) सच्चरित्रता या नैतिकता (Moral aim)—कई लोगों का कथन है कि शिक्षा का उद्देश्य सिर्फ़ किताबें रटवा देना या रोटी के सवाल को हल कर देना ही नहीं, शिक्षा का उद्देश्य मनुष्य को मनुष्य बना देना, उसे सदाचारी बना देना है। बालक तो पशु की तरह भिन्न-भिन्न 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) को लेकर पैदा होता है। ये 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' मनुष्य को पशु के स्तर पर ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रखती हैं। प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री हर्बार्ट का कथन है कि मनुष्य को 'नैसर्गिक-शक्तियों' के स्तर से ऊपर उठाकर—लड़ने-झगड़ने, मार-काट, लोभ-लालच के भँवर से निकाल कर दया, सहानुभूति, त्याग, सहयोग, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह के मार्ग पर चलाना, उसे चरित्रवान् बना देना ही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य है।

समालोचना—इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा का यह एक बड़ा भारी उद्देश्य है। सभी शिक्षा-शास्त्री शिक्षा के इस उद्देश्य पर बल देते हैं, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जब हम शिक्षा-संबंधी सुधारों पर विचार कर रहे हों तब शिक्षा के नैतिक-पहलू के साथ-साथ विद्या के उपार्जन तथा आजीविका की समस्या के हल करने के पहलू को भुलाया नहीं जा सकता।

(घ) **व्यक्तित्व-विकास** (Personality development)—कई लोगों का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताएँ होती हैं। अगर अनुकूल परिस्थितियाँ मिल जायें, तो व्यक्ति उन विशेषताओं को, उन गुणों को अन्यों की अपेक्षा अधिक विकसित कर सकता है। शिक्षा का काम बालक के सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देना है जिससे वह अपने विशेष गुणों का स्वतंत्रतापूर्वक विकास कर सके।

समालोचना—यह ठीक है कि व्यक्ति में अपने विशेष गुण होते हैं, और शिक्षा का काम व्यक्ति के सम्मुख ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है जिनमें रह कर वह उन गुणों का विशेष विकास कर सके, परन्तु जब हम शिक्षा-संबंधी सुधारों पर विचार कर रहे हों तब इस बात पर भी ध्यान देना होगा कि कहीं व्यक्ति पर अधिक बल देने से समाज की तरफ़ से हमारा ध्यान तो नहीं हट रहा। शिक्षा का उद्देश्य जहाँ व्यक्ति का भला देखना है वहाँ इसका उद्देश्य समाज का भला देखना भी है।

(ङ) **सामाजिक उद्देश्य** (Social aim)*—उक्त सब उद्देश्यों के अतिरिक्त समाजशास्त्रियों का कथन है कि शिक्षा सामाजिक-जीवन का एक आवश्यक साधन है। शिक्षा सामाजिक-जीवन की एक आवश्यकता क्यों है?

(i) **सामाजिक तथा सांस्कृतिक विरासत** (Social and Cultural heritage)—सामाजिक-जीवन क्या है? हमारा समाज प्रथाओं, परंपराओं, सभ्यता, संस्कृति द्वारा चलता है। पिछली पीढ़ी ने जो-कुछ सोचा-समझा, जो अनुभव प्राप्त किये, जिस संस्कृति का निर्माण किया, उन सब को प्रथाओं, परंपराओं का रूप देकर अगली पीढ़ी को दे दिया। अगर हर-एक पीढ़ी को हर बात का नये सिरे से ज्ञान प्राप्त करना होता तो हम एक कदम भी आगे न बढ़ पाते,

---

* **Discuss the statement : "Education is a necessity of social life." (1957)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वहीं-के-वहीं खड़े रहते। शिक्षा का काम प्रथाओं, परंपराओं तथा संस्कृति की इस सामाजिक-विरासत को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को दे देना है जिससे समाज आगे-आगे बढ़ता चला जाय।

(ii) **सामाजिक-नियंत्रण** (Social control)—नियंत्रण ऐसा साधन है जिससे समाज संगठित बना रहता है। बिना नियंत्रण के समाज में आपाधापी मच जाती है। कोई किसी को मारे, किसी को लूटे, किसी के साथ बुरा व्यवहार करे—यह सब-कुछ सामाजिक-जीवन को अस्त-व्यस्त कर देता है। सामाजिक-नियंत्रण का एक साधन कानून है। कानून के भय से लोग समाज में नियंत्रण रखते हैं, परन्तु भय हटते ही कानून को तोड़ने का प्रयत्न करते हैं। सामाजिक-नियंत्रण का दूसरा साधन शिक्षा है। शिक्षित व्यक्ति कानून के भय से नहीं, अपितु अपनी शिक्षा के कारण सामाजिक-नियंत्रण में रहता है।

(iii) **सामाजिक-कुशलता** (Social efficiency)—शिक्षा का काम मनुष्य को समाज के हर कार्य में कुशल बना देना है। उदाहरणार्थ, प्रजातंत्र के इस युग में समाज तबतक एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता जबतक प्रत्येक नागरिक अपने अधिकारों के साथ अपने कर्त्तव्यों को भी नहीं समझता। शिक्षा का काम व्यक्ति को अधिकारों के साथ कर्त्तव्यों की शिक्षा देना भी है। जब व्यक्ति सिर्फ़ अधिकारों की पुकार ही नहीं करता, कर्त्तव्यों की तरफ़ भी देखने लगता है तब समाज की समस्याएँ अपने-आप हल हो जाती हैं। यह तो अपने समाज के अन्दर की समस्याओं की बात हुई, अपने समाज के बाहर, अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ भी शिक्षा द्वारा हल हो जाती हैं। ये सब समस्याएँ मनुष्य की संकीर्णता के कारण पैदा होती हैं। शिक्षा का काम संकीर्णता को दूर कर देना है। मनुष्य के दृष्टि-कोण में शिक्षा द्वारा जब व्यापक दृष्टिकोण पैदा हो जाता है, वह अपना भला ही नहीं, सब का भला सोचने लगता है, संसार का कल्याण उसका लक्ष्य हो जाता है, तब अन्तर्राष्ट्रीय समस्याएँ भी हल हो जाती हैं। इसीलिए हमने कहा कि शिक्षा सामाजिक-कुशलता का भी साधन है।

समालोचना—इसमें सन्देह नहीं कि शिक्षा का काम व्यक्ति तथा समाज में समन्वय स्थापित करना भी है, परन्तु जैसा हम पहले कहते चले आये हैं, शिक्षा-संबंधी सुधारों पर विचार करते हुए हमें शिक्षा के सिर्फ़ एक पहलू को नहीं देखना होगा, शिक्षा के हर पहलू को देखना होगा, जो भी सुधार करने हों वे ऐसे होने चाहियें जिनमें शिक्षा के सब दृष्टिकोणों का समावेश हो, सिर्फ़ एक ही दृष्टि-कोण का समावेश न हो।

(च) **समन्वयात्मक-दृष्टिकोण**—हमने देखा कि कोई मानसिक-विकास को, विद्या के लिए विद्या प्राप्त करने को शिक्षा का उद्देश्य मानता है, कोई आजीविका के लिए तैयारी को। कोई सच्चरित्रता को, कोई व्यक्तित्व-निर्माण को, तो कोई सामाजिक-विरासत को बनाये रखने, सामाजिक-नियंत्रण में सहायक होने तथा सामाजिक-कुशलता उत्पन्न करने को शिक्षा का उद्देश्य कहता है। असल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ये सब शिक्षा के किसी एक पहलू पर प्रकाश डालते हैं। जब हम शिक्षा के सुधार के संबंध में विचार कर रहे हों तब यह ध्यान रखना होगा कि हमारी शिक्षा ऐसी हो जो एकांगी न हो, जिसमें उक्त सब बातों का समन्वय हो। हमें भारत का पुनर्निर्माण करना है। हर क्षेत्र में नया भारत बनाना है। उस नवीन युग को लाने के लिए हमें शिक्षा के क्षेत्र में भी ऐसी शिक्षा का निर्माण करना होगा जिसमें शिक्षा के सब उद्देश्य समा जायें।

३. भारत में शिक्षा-संबंधी सुधार

भारत में शिक्षा का इतिहास बहुत पुराना है। इस संपूर्ण इतिहास में शिक्षा के संबंध में अपने-अपने युग में सुधार होते रहे हैं। इन सुधारों को ठीक से समझने के लिए हम इस देश के शिक्षा के इतिहास को ५ भागों में बाँट सकते हैं :—

(क) वैदिक-काल में शिक्षा,
(ख) बौद्ध-काल में शिक्षा,
(ग) मुस्लिम-काल में शिक्षा,
(घ) ब्रिटिश-काल में शिक्षा,
(ङ) स्वतंत्रता के काल में शिक्षा।

वैदिक, बौद्ध तथा मुस्लिम काल का क्रम-बद्ध इतिहास नहीं मिलता, वे इतने पुराने भी हो चुके हैं कि उन पर 'शिक्षा' के ग्रन्थ पर ही विचार करना संगत होगा, यहाँ हम ब्रिटिश-काल तथा स्वतंत्रता-काल के 'शिक्षा' के इतिहास पर ही विचार करेंगे क्योंकि उसी का वर्तमान सुधारों से संबंध है।

४. ब्रिटिश-काल में शिक्षा

ब्रिटिश-काल में शिक्षा को मुख्यतः चार कालों में बाँटा जा सकता है, जो चार काल निम्न हैं :

(क) प्रथम-काल १७८० ई० से १८१३ ई० तक (कलकत्ता मदरसा और बनारस संस्कृत कालेज की स्थापना का काल),
(ख) द्वितीय-काल १८१३ से १८५४ तक (मैकाले की प्रेरणा से ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा भारत में अंग्रेजी शिक्षा देने का निर्णय कर देना),
(ग) तृतीय-काल १८५४ से १९०० तक (वुड डिसपैच तथा हंटर कमीशन का काल),
(घ) चतुर्थ-काल १९०१ से १९४७ तक (लार्ड कर्जन का भारतीय-शिक्षा की नीति का प्रस्ताव तथा अनेक रिपोर्टों तथा कमीशनों का काल)।

[प्रथम-काल—संस्कृत तथा अरबी को प्रोत्साहन]

भारत में अंग्रेजी राज्य की नींव 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' ने डाली। १७८० में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने यह निश्चय किया कि भारत में अंग्रेजी कानून न जारी करके भारतीय कानून जारी किया जाय। भारतीय-कानून केवल संस्कृत जानने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वाले पंडित तथा अरबी-फ़ारसी जानने वाले मौलवी ही जानते थे इसलिए आवश्यक हो गया कि संस्कृत जानने वाले पंडित और अरबी-फ़ारसी जानने वाले मौलवी तैयार किये जायें। इसी उद्देश्य से १७८१ में वारन हेस्टिंग्स ने मौलवी तैयार करने के लिए 'कलकत्ता-मदरसा', और १७९१ में बनारस के रेज़ीडेंट जोनाथन डंकन ने पंडित तैयार करने के लिए 'बनारस संस्कृत कॉलेज' की स्थापना की।

एक प्रकार से कहा जा सकता है कि इस काल में शिक्षा में कोई सुधार नहीं हुआ, सिर्फ़ पहले से चली आ रही संस्कृत तथा अरबी-फ़ारसी शिक्षा को ही राज्य की तरफ़ से सहायता दी गई।

[द्वितीय-काल—लार्ड मैकाले की शिक्षा-नीति]

१८१३ में 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' का भारत में व्यापार करने का 'चार्टर' (आज्ञा-पत्र) ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। सर चार्ल्स ग्रान्ट उस समय कम्पनी के डायरेक्टरों में से एक थे। उनके विशेष प्रयत्न से आज्ञा-पत्र बदलते समय यह धारा भी बढ़ा दी गई कि १ लाख रुपया प्रतिवर्ष भारतीय साहित्य के पुनरुद्धार, भारतीय विद्वानों के प्रोत्साहन तथा विज्ञानों की उन्नति के लिए लगाए जायें। दस वर्ष तक इस रुपये का कोई उपयोग नहीं हुआ।

(क) कमेटी का निर्माण—१८२३ में एक कमेटी बना दी गई जिसका काम शिक्षा-संबंधी योजनाएँ बनाना था। इस कमेटी के सदस्यों में दो बातों पर झगड़ा खड़ा हो गया। वे दो बातें निम्न थीं :

(i) **संस्कृत तथा अरबी की पुस्तकें छपवाई जायें या नहीं**—पहला विवाद का विषय यह था कि संस्कृत तथा अरबी की पुस्तकों के छपवाने से क्या लाभ है? यह धन का दुरुपयोग तो नहीं? हम देख चुके हैं कि प्रथम-काल में संस्कृत तथा अरबी को प्रोत्साहन दिया जा रहा था।

(ii) **प्राइमरी शिक्षा का काम शुरू किया जाय या नहीं**—दूसरा विवाद का विषय यह था कि पहले उच्च-शिक्षा प्रारंभ की जाय, या प्राइमरी-शिक्षा प्रारंभ की जाय।

प्राइमरी-शिक्षा के विषय में तो कमेटी ने तय किया कि अभी इस काम में हाथ डालने की आवश्यकता नहीं। ज्यों-ज्यों उच्च-शिक्षा का प्रचार होता जायगा, त्यों-त्यों उच्च-शिक्षा प्राप्त किये हुए व्यक्ति अन्यों को शिक्षा देने का कार्य स्वयं करने लगेंगे, उनसे यह नीचे को मानो छनती रहेगी। इसे 'शिक्षा के छनने का सिद्धान्त' (Filteration theory) कहा जाने लगा। अन्य देशों में तो प्राइमरी-शिक्षा पहले दी जाती है, इस देश में उल्टी गंगा बहाई गई, उच्च-शिक्षा का प्रबन्ध किया गया, प्राइमरी-शिक्षा को हाथ नहीं लगाया गया।

संस्कृत तथा अरबी में पुस्तकें छपवाई जायें या नहीं—इस संबंध में कमेटी कुछ निर्णय नहीं कर सकी। कमेटी में दो दल बने रहे, एक दल 'संस्कृत' तथा 'अरबी' का पक्षपाती था, दूसरा अंग्रेज़ी शिक्षा देने का पक्षपाती था।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) मैकाले का आगमन तथा उसकी शिक्षा-नीति—'संस्कृत' तथा 'अरबी' का झगड़ा चल ही रहा था कि १८३४ में लार्ड मैकाले गवर्नर-जनरल लार्ड वैंटिक की कार्यकारिणी-समिति के सदस्य बनकर आये, और २ फरवरी १८३५ को उन्होंने अपनी रिपोर्ट लिख कर इस झगड़े का निपटारा कर दिया। उन्होंने लिखा कि हमें ऐसे व्यक्ति उत्पन्न करने हैं जो शरीर से भारतीय हों, परन्तु रहन-सहन, वेष-भूषा, बोल-चाल, विचार आदि में अंग्रेज़ हों, तभी हमारा राज्य चल सकता है।* उन्होंने यह भी लिखा कि यदि भारतीय साहित्य का संपूर्ण भंडार एक तरफ़ रख दिया जाय, तो भी उनका पाश्चात्य-ग्रन्थों की एक अलमारी में पड़ी पुस्तकों के समान भी मूल्य नहीं।† इस प्रकार मैकाले की शिक्षा-नीति द्वारा अंग्रेज़ी की नींव इतनी गहरी डाल दी गई जो आज भी शिक्षा-संबंधी सुधारों के लिए समस्या बनी हुई है।

[तृतीय-काल—वुड डिसपैच तथा हंटर कमीशन]

१८५३ में फिर ईस्ट इंडिया कम्पनी का 'चार्टर' (आज्ञा-पत्र) ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा बदला गया। इस समय कम्पनी के 'बोर्ड ऑफ़ कन्ट्रोल' के मुखिया सर चार्ल्स वुड थे। उन्होंने 'वुड-डिसपैच' (Wood Dispatch) लिखा जो भारतीय-शिक्षा का 'महाधिकार-पत्र' (मैग्ना कार्टा) कहलाता है। यह महाधिकार-पत्र क्या था?

(क) वुड डिस्पैच (Wood Dispatch)—वुड डिसपैच के अनुसार शिक्षा-संबंधी अनेक सुधार किये गये, जो निम्न थे :

(i) प्रत्येक प्रान्त में 'डिपार्टमेंट ऑफ़ पब्लिक इन्स्ट्रक्शन' स्थापित हो,

(ii) कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास में यूनीवर्सिटियां स्थापित हों,

(iii) प्राथमिक-शिक्षा के लिए सरकारी-अनुदान दिया जाय।

'वुड-डिसपैच का काल १८५३–५४ है। १८५७ में ग़दर हो गया इसलिए यद्यपि इस डिसपैच का शिक्षा-सुधार के संबंध में बहुत महत्व था तो भी इस पर कार्य रूप में कुछ न हो सका। वुड-डिसपैच के बाद १८८२ में भारत के वायसराय लार्ड रिपन ने एक शिक्षा-कमीशन की नियुक्ति की जिसका प्रधान

---

* "We must at present do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions whom we govern—a class of persons Indian in blood and colour, but English in tastes, in opinions, in morals and in intellect."—Macaulay's Minutes, 1835. *A Source Book of Modern Indian Education.*

† "I have never found one among them who could deny that a single shelf of a good European library was worth the whole native literature of India and Arabia." — *Macaulay's Minutes.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सर विलियम हन्टर को बनाया। इस कमीशन ने शिक्षा के क्षेत्र में जिन सुधारों की सिफ़ारिश की, वे निम्न थे :

(ख) **हन्टर कमीशन** (Hunter Commission)—हंटर कमीशन की सिफ़ारिशों में वुड-डिसपैच की सिफ़ारिशों को ही एक प्रकार से दोहराया गया क्योंकि भारत में राजनीतिक अस्त-व्यस्तता हो जाने के कारण उस डिसपैच पर विशेष कार्य नहीं हो सका था। फिर भी इस कमीशन की सिफ़ारिशों में कुछ विशेषता थी। सिफ़ारिशें निम्न थीं :

(i) अबतक प्राथमिक-शिक्षा की तरफ़ सरकार का विशेष ध्यान नहीं था। इस रिपोर्ट में सरकार को प्राथमिक-शिक्षा के विस्तार की तरफ़ विशेष ध्यान देने को कहा गया,

(ii) प्राथमिक-शिक्षा मातृभाषा में देने की सिफ़ारिश की गई,

(iii) म्यूनिसिपैलिटियों तथा ज़िला बोर्डों को प्राथमिक पाठशालाएँ खोलने को कहा गया,

(iv) शिक्षकों के प्रशिक्षण के लिए नार्मल स्कूल खोलने की सिफ़ारिश की गई,

(v) माध्यमिक-शिक्षा के संचालन का काम अधिकतर जनता के सहयोग से स्थानिक-समितियाँ करें, इनका सारा बोझ सरकार न ले,

(vi) हाई-स्कूल की शिक्षा दो भागों में बाँटी जाय—'अ' वर्ग तथा 'ब' वर्ग। 'अ' वर्ग में वे छात्र भर्ती हों जो विश्वविद्यालय में प्रवेश करना चाहें, 'ब' वर्ग में वे छात्र हों जो व्यावहारिक शिक्षा लेकर आगे न चलना चाहें। अर्थात्, किताबी शिक्षा के साथ-साथ व्यापारी शिक्षा का भी प्रबन्ध हो।

[चतुर्थ-काल—कर्ज़न की शिक्षा-नीति, गोखले का बिल तथा सार्जेन्ट रिपोर्ट]

चतुर्थ-काल का प्रारंभ १९वीं सदी की समाप्ति तथा २०वीं सदी के शुरू से होता है। इस काल में किये गये शिक्षा सुधारों में तीन सुधार विशेष महत्व के हैं जिनका हम यहाँ उल्लेख करेंगे। वे तीन सुधार हैं :

(क) लार्ड कर्ज़न के समय भारत-सरकार का 'शिक्षा-संबंधी नीति' का प्रस्ताव,

(ख) श्रीयुत् गोखले का प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य बनाने का प्रस्ताव,

(ग) सार्जेन्ट रिपोर्ट।

(क) लार्ड कर्ज़न के समय सरकार की शिक्षा-संबंधी नीति

१९०१ में लार्ड कर्ज़न ने शिमला में वायसराय की हैसियत से 'शिक्षा-परिषद्' की अध्यक्षता की और १९०४ में 'भारत-सरकार की शिक्षा-संबंधी नीति का प्रस्ताव' (Resolution on Indian Education Policy) घोषित किया। इस नीति में यह घोषित किया गया :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) प्राथमिक-शिक्षा पर पहले से अधिक व्यय किया जाय,

(ii) डिस्ट्रिक्ट बोर्ड प्राथमिक-शिक्षा पर जो व्यय करें वह प्रान्त की आमदनी में से सब से पहले दिया जाय,

(iii) माध्यमिक-शिक्षणालयों में मातृभाषा माध्यम हो,

(iv) स्त्री-शिक्षा के लिए प्राथमिक-स्कूल खोले जायें,

(v) ट्रेंड स्त्री-शिक्षिकाएँ तैयार की जायें,

(vi) स्त्री-शिक्षिकाएँ नियत की जायें,

(vii) जनता को प्राथमिक, माध्यमिक तथा कालेज खोलने के लिए प्रोत्साहित किया जाय, सरकार राजकीय तौर पर कुछ नमूने के शिक्षणालय खोले और जनता द्वारा संचालित शिक्षणालयों पर निरीक्षण रखे।

(ख) गोखले का बिल तथा जार्ज पंचम की घोषणा

(i) **गोखले का बिल**—१९ मार्च १९१० में गोपाल कृष्ण गोखले ने शासिका-सभा में प्राथमिक-शिक्षा को 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' बनाने के लिए प्रस्ताव पेश किया जो १४ पक्ष तथा २८ विपक्ष में होने के कारण गिर गया। इसके एक साल बाद जार्ज पंचम भारत आये और उन्होंने प्रतिवर्ष शिक्षा पर ५० लाख रुपये की सरकारी सहायता की घोषणा की।

(ii) **जार्ज पंचम की ५० लाख की घोषणा**—गोखले का प्रस्ताव तो गिर गया परन्तु उनके आन्दोलन का यह प्रभाव अवश्य हुआ कि सरकार का ध्यान शिक्षा-संबंधी सुधारों की तरफ़ बरबस गया। इधर जार्ज पंचम की ५० लाख रु०की घोषणा से शिक्षा के प्रश्न ने विशेष महत्व प्राप्त कर लिया। परिणामस्वरूप १९१३ को भारत सरकार ने एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसकी मुख्य बातें निम्न थीं :

(अ) प्राथमिक-शिक्षा के विस्तार के लिए प्राइवेट प्रयत्न पर निर्भर न रहकर डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को यह काम अपने हाथ में लेना चाहिए,

(आ) स्त्री-शिक्षा का बिल्कुल प्रचार नहीं हो रहा, लड़कियों के लिए लड़कों की-सी पाठविधि बना देना बेकार है, उनकी अलग पाठविधि होनी चाहिए,

(इ) माध्यमिक-शिक्षा का काम बिल्कुल जनता के निजी प्रयत्न पर छोड़ दिया गया है, इस दिशा में सरकार को अपनी ज़िम्मेदारी पूरी करनी चाहिए,

(ई) यूनीवर्सिटियों की संख्या कुल ५ है, इसे बढ़ाना चाहिए।

(ग) सार्जेन्ट रिपोर्ट

शिक्षा-संबंधी सुधारों में सब से महत्वपूर्ण रिपोर्ट सार्जेन्ट रिपोर्ट कही जा सकती है। इस रिपोर्ट में शिक्षा के हर पहलू पर सुधार की दृष्टि से विचार किया गया है। यह रिपोर्ट १९४४ में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट के मुख्य-मुख्य शिक्षा-संबंधी सुधार निम्न थे :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) **नर्सरी स्कूल**—३ से ६ वर्ष तक के बच्चों के लिए पूर्व-प्राथमिक शिक्षा की व्यवस्था हो जो निःशुल्क हो।

(ii) **प्राथमिक-शिक्षा**—प्राथमिक-शिक्षा का रूप बेसिक शिक्षा प्रणाली हो। ६ वर्ष से १४ वर्ष तक निःशुल्क तथा अनिवार्य प्राथमिक-शिक्षा हो जिसमें ६ से ११ वर्ष तक की शिक्षा जूनियर बेसिक तथा ११ से १४ वर्ष की शिक्षा सीनियर बेसिक हो। जूनियर बेसिक सब के लिए अनिवार्य हो, सीनियर बेसिक उन बालकों के लिए हो जो हाईस्कूल में नहीं जाना चाहते, प्राथमिक-शिक्षा तक ही शिक्षा समाप्त कर देना चाहते हैं।

(iii) **हाई स्कूल**—जो बालक प्राथमिक-शिक्षा से आगे जाना चाहते हैं उनके लिए हाई स्कूल की शिक्षा हो, परन्तु इन स्कूलों में दाखिला उन्हीं बालकों को दिया जाय जिनमें हाई स्कूल के विषयों के लिए विशेष रुचि हो। ऐसे बालकों की छँटनी होनी चाहिए, यों ही सब किसी को भर्ती नहीं कर लेना चाहिए। योग्यता के आधार पर छँटनी करने से २० प्रतिशत ही बालक ऐसे रह जायेंगे जो हाई स्कूल की शिक्षा के योग्य होंगे।

हाई स्कूल के भी दो विभाग किये जायें—(क) साहित्यिक तथा (ख) व्यावसायिक। इतिहास, भूगोल, विज्ञान, गणित, अंग्रेजी आदि विषय साहित्यिक हाई स्कूलों में पढ़ाये जायें; बुक कीपिंग, शॉर्ट हैंड, हाथ के काम आदि व्यावसायिक हाई स्कूलों में पढ़ाये जायें। पाठ्य-क्रमों में बालकों की रुचि के आधार पर विविधता हो।

(iv) **कालेज में तीन साल का डिग्री-कोर्स**—जैसे हाई-स्कूल में छंटनी के आधार पर भर्ती होनी चाहिए वैसे विश्वविद्यालय की शिक्षा के लिए भी सब-कोई भर्ती न हो सकें, जो योग्य हों, रुचि रखते हों वे ही भर्ती हों—ऐसी व्यवस्था होनी चाहिए। सार्जेन्ट कमीशन की राय में ऐसा करने से हाई स्कूल शिक्षा प्राप्त १५ बालकों में से केवल १ बालक कालेज-शिक्षा के योग्य पाया जायगा। इस प्रकार कालेजों में विद्यार्थियों का भीड़-भड़क्का भी नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त कमीशन की यह भी सिफ़ारिश थी कि इन्टर कक्षाओं को समाप्त कर दिया जाय, इन्टर का एक साल हाई स्कूल में जोड़ कर दूसरा साल डिग्री कालेज में जोड़ दिया जाय, और डिग्री कोर्स को तीन साल का कर दिया जाय। इस दिशा में अब कार्य होने लगा है।

(v) **विश्वविद्यालय अनुदान आयोग**—कमीशन की राय में इंग्लैंड की तरह यहाँ भी 'युनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन' की स्थापना होनी चाहिए जो भारत के सब विश्वविद्यालयों की गति-विधि की देख-रेख करता हुआ उनके विस्तार में उन्हें सहायता देता रहे। अब इसकी स्थापना हो चुकी है।

(vi) **प्रौढ़ शिक्षा**—२० से ४० वर्ष तक के लड़कों तथा बड़े-बूढ़ों के लिए ऐसा प्रोग्राम बनाया जाय जिससे २० वर्ष के अन्दर-अन्दर प्रत्येक प्रौढ़ व्यक्ति साक्षर हो जाय, कोई निरक्षर न रहे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(vii) बाधितों की शिक्षा—अन्धे, बहरे, गूंगों की शिक्षा की भी व्यवस्था की जाय। मानसिक-हीनता के बालकों की शिक्षा पर विशेष ध्यान दिया जाय।

५. स्वतंत्रता-काल में प्राथमिक-शिक्षा (बेसिक-शिक्षा या वर्धा-योजना)*

चिरकाल से महात्मा गांधी (१८६९–१९४८) का यह विचार था कि बच्चों की शिक्षा अपनी स्वाभाविक परिस्थिति से कटकर नहीं होनी चाहिए। भारत में अधिक संख्या किसानों की है, परन्तु स्कूल में वे अपनी परिस्थिति से बिल्कुल भिन्न वातावरण में शिक्षा ग्रहण करते हैं। प्राथमिक-शिक्षा इस प्रकार बालक की परिस्थिति से कटकर न हो, इस संबंध में महात्मा गांधी ने वर्धा में परीक्षण शुरू किया। इस परीक्षण में उन्होंने सिर्फ़ इस बात को ही आधार नहीं बनाया कि बालक की शिक्षा अपनी स्वाभाविक परिस्थिति से कटी हुई न होनी चाहिए, परन्तु इस बात को भी आधार में रखा कि कुछ-न-कुछ काम करते हुए बालक को शिक्षा दे सकना अधिक आसान है। उन्होंने वर्धा के आश्रम में दस्तकारी, कताई, बुनाई तथा कृषि को शिक्षा का केन्द्र बनाया। उनका कहना था कि इन कार्यों को करते-करते बालक जहाँ उपयोगी व्यवसायों को सीख जाता है, वहाँ इन्हीं को केन्द्र बनाकर भिन्न-भिन्न विषयों को भी आसानी से सीख जाता है। शिक्षा के लिए बुनियादी बात 'करके सीखना' (Learning by doing) है। महात्मा गांधी के इस विचार को आधार बनाकर १९२० में श्री ज़ाकिर हुसैन ने 'जामिया मिलिया इस्लामिया' की दिल्ली में स्थापना की जिसका उद्देश्य वर्धा-योजना के आधार पर शिक्षा देना था। इस संस्था ने दिल्ली, उत्तर-प्रदेश, बम्बई, आसाम, हैदराबाद, जयपुर आदि के लिए अनेक बुनियादी शिक्षा देने वाले शिक्षक तैयार किए। १९३७ में महात्मा गांधी ने वर्धा में एक शिक्षा-सम्मेलन बुलाया जिसमें वर्धा-योजना के आधार पर कुछ प्रस्ताव स्वीकृत हुए। १९४८ में भारतीय सरकार के 'सैण्ट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' की तरफ़ से बम्बई के तत्कालीन मुख्य-मंत्री श्री बी० जी० खेर की अध्यक्षता में एक कमेटी इस आशय से बनाई गई कि वह बुनियादी-तालीम को देश में सर्वप्रिय बनाने के उपायों पर विचार करे। इस कमेटी ने सिफ़ारिश की कि अगले सोलह वर्षों में बुनियादी-तालीम को सारे देश पर क्रमशः लागू कर दिया जाय और इस उद्देश्य से प्रान्तीय सरकारें व्यय का ७० प्रतिशत दें और ३० प्रतिशत सहायता केन्द्रीय सरकार दे। उक्त कमेटी की सिफ़ारिशों को केन्द्रीय सरकार ने स्वीकार किया और अब हमारी सरकार का रुख बुनियादी-तालीम को १० साल के भीतर सार्वत्रिक बनाने की ओर है।

---

* **Write a short essay on "Basic Education."**
(1959, 1961, 1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत का सबसे बड़ा प्रश्न प्राथमिक-शिक्षा का प्रश्न है। अंग्रेज़ों को सब भारतीयों को शिक्षित करने की आवश्यकता न थी, उन्हें अपना काम चलाने के लिए इने-गिने पढ़े-लिखे चाहियें थे, इसलिए अन्य उन्नत देशों के विपरीत यहाँ उच्च-शिक्षा देने वाले विश्व-विद्यालयों का निर्माण पहले हुआ, प्राथमिक-शिक्षा की तरफ़ ध्यान पीछे गया। जब देश में हलचल हुई, राष्ट्रीयता की भावना जागृत हुई, तब सब बच्चों की शिक्षा का प्रश्न उग्र हो उठा। महात्मा गांधी ने इस दिशा की तरफ़ विशेष ध्यान दिया और जब अंग्रेज़ों के रहते पहली बार कांग्रेस मन्त्री-मण्डल बने, तब मुख्यतया प्राथमिक-शिक्षा के प्रश्न को हल करने के लिए वर्धा-योजना अथवा बुनियादी-तालीम के विचार को जन्म दिया। १९३७ में महात्मा गांधी के सभापतित्व में वर्धा में एक शिक्षा-सम्मेलन हुआ जिसमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए :—

(क) इस सम्मेलन की सम्मति में देश भर में प्रत्येक बालक को ७ वर्ष तक निःशुल्क तथा अनिवार्य शिक्षा देने का प्रबन्ध होना चाहिए।

(ख) शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होनी चाहिए।

(ग) यह सम्मेलन महात्मा गांधी के इस विचार की पुष्टि करता है कि प्राथमिक-शिक्षा के काल में किसी उत्पादक 'हस्त-कला' को केन्द्र बनाकर शिक्षा देनी चाहिए और अन्य जो भी शिक्षा दी जाय वह इस 'केन्द्रीय-हस्त-कला' (Central handicraft)के साथ 'सह-संबद्ध' अथवा 'समन्वित'(Correlated) करके दी जानी चाहिए। केन्द्रीय-हस्त-कला चुनते हुए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह बालक की परिस्थिति के अनुकूल हो।

(घ) यह सम्मेलन आशा करता है कि इस पद्धति से शिक्षा देने पर अध्यापकों के वेतन पर जो व्यय आयेगा वह विद्यार्थियों द्वारा बनाये हुए हस्त-कला के सामान की बिक्री से पूरा हो जायगा।

वर्धा-सम्मेलन के प्रस्तावों के आधार पर डा० ज़ाकिर हुसैन की अध्यक्षता में 'ज़ाकिर-हुसैन-कमेटी' बनायी गई, जिसने इन प्रस्तावों पर महात्मा गांधी के सम्मुख १९३७ के अन्त तथा १९३८ के बीच में दो रिपोर्टें पेश कीं। इन रिपोर्टों में जो विस्तृत पाठविधि बनाई गई, उसी का नाम वर्धा-योजना अथवा बुनियादी-तालीम है।

'बेसिक-शिक्षा' के मूल सिद्धान्त*

'वर्धा-सम्मेलन' तथा 'ज़ाकिर-हुसैन-कमेटी' की दोनों रिपोर्टों के आधार पर 'बुनियादी-तालीम' की जो योजना बनी, उसके अनुसार (१) प्रथम तथा मुख्य स्थान 'केन्द्रीय-हस्त-कला' को, (२) द्वितीय इस योजना के 'स्वावलम्बी' होने को, (३) तृतीय ७ वर्ष तक, 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' शिक्षा को

---

* 1. What do you understand by basic education ? (1956)
2. Write a short note on basic education. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(४) चतुर्थ 'मातृभाषा' द्वारा शिक्षा देने को प्राप्त है। अब हम इन चारों पर क्रमशः विचार करेंगे।

(१) 'केन्द्रीय-हस्त-कला'—'बुनियादी-तालीम' का सबसे मुख्य सिद्धान्त यह है कि किसी 'हस्त-कला' (Craft) को केन्द्र बनाकर शिक्षा दी जाय। कई लोग यह समझते हैं कि जिस स्कूल में मिट्टी, लकड़ी, चमड़े आदि का कोई काम सिखाया जाता है वहाँ बुनियादी-तालीम चल रही है। यह भ्रम है। पढ़ाई के अन्य विषयों के साथ-साथ हस्त-कला को चलाना बुनियादी-तालीम नहीं है। बुनियादी-तालीम में तो 'हस्त-कला' ही मुख्य विषय है। डा० ज़ाकिर हुसैन ने अपने सिलेबस में प्रस्ताव किया था कि अगर दिन में साढ़े पाँच घंटे शिक्षा दी जाय, तो उसमें तीन घंटे बीस मिनट 'हस्त-कला' की ही शिक्षा दी जानी चाहिए, क्योंकि वे शिक्षा को स्वावलम्बी बनाना चाहते थे और 'हस्त-कला' को इतना समय दिये बिना वह स्वावलम्बी नहीं हो सकती थी। भिन्न-भिन्न कान्फ़रेन्सों में विचार करने तथा क्रियात्मक प्रयोगों के अनुभव के आधार पर अब यह निश्चय किया गया है कि 'नीची कक्षाओं' (Junior Basic Classes) में यह समय दो घंटे तथा 'ऊँची-कक्षाओं' (Senior Basic Classes) में यह समय अढ़ाई घंटे रखा जाय ताकि अन्य विषयों के ज्ञान की योग्यता में किसी प्रकार की कमी न आने पाये।

बुनियादी स्कूल में बालक जो चीज़ें बनायेंगे, वे सिर्फ़ स्कूल के अजायब-घर में रखने की नहीं होंगी, वे उन पर इतनी मेहनत करेंगे कि बाज़ार में वे अन्य चीज़ों का मुकाबिला कर सकें। महात्मा गांधी का कहना था कि इस सामान का मुकाबिले में बाज़ार में टिकना कठिन हो सकता है इसलिए इसका ख़रीदना सरकार का कर्तव्य होना चाहिए। सरकार चाहे तो इसे अपने काम में लाये, या इसके लिए बाज़ार तैयार करे।

बालक जब हस्त-कला सीखेंगे तब पाँच बातों पर विशेष ध्यान दिया जायगा :—

(क) वह उसकी परिस्थिति के अनुकूल हो, अर्थात् जिस वस्तु को बनाया जाना है उसका कच्चा माल वहाँ मिलता है या नहीं, और माल बनने के बाद उसकी निकासी का वहाँ कोई समुचित प्रबन्ध हो सकता है या नहीं—यह देखना होगा। यह सब-कुछ तब हो सकेगा अगर किसी पाठशाला की 'कला' का निर्धारण करते हुए यह निश्चय कर लिया जाय कि जहाँ कोई 'कला' शिक्षा का आधार बनाई जा रही है वहाँ उस वस्तु की ऐसी ज़बर्दस्त माँग है या नहीं कि उसके बनते ही उसकी खपत हो सके। जिस चीज़ की जहाँ माँग पहले से ही हो उसी को वहाँ जारी करना चाहिए।

(ख) वह 'हस्त-कला' उत्पादक होनी चाहिए।

(ग) उससे बुद्धि को उत्तेजना मिलनी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) वह अनैतिक नहीं होनी चाहिए। उदाहरणार्थ, बीड़ी बनाना भी एक हस्त-कला है, इसमें आमदनी भी हो सकती है, परन्तु गांधी जी की दृष्टि से यह अनैतिक होने के कारण हस्त-कला के क्षेत्र में नहीं ली जा सकती।

(ङ) अन्य सब विषय उससे सह-संबद्ध या समन्वित किये जा सकने चाहिएँ।

परिस्थिति की अनुकूलता तथा उत्पादकता को दृष्टि में रखते हुए 'कृषि' (Agriculture), 'कताई-बुनाई' (Spinning and weaving), 'लकड़ी का काम' (Wood-work), 'बेंत या बाँस की चीज़ें बनाना' (Cane or basket work) तथा 'चमड़े का काम' (Leather work) आदि को 'केन्द्रीय-हस्त-कला' (Central handicraft) बनाया गया है।

किसी हस्त-कला को शिक्षा में केन्द्र बनाने के सिलसिले में उत्तर-प्रदेश* में कुछ साल हुए 'मल्टी-परपज़-स्कूल' (Multi-purpose Schools) खुले हैं। हर-एक स्कूल किसी-न-किसी धंधे को अपने यहाँ की परिस्थितियों के अनुकूल चुन ले, और उस धंधे को केन्द्र बनाकर शिक्षा दे—यह इन स्कूलों का लक्ष्य है। ६ से ८ कक्षा तक ये 'मल्टी-परपज़-स्कूल' हैं जिनमें कोई-न-कोई हुनर शिक्षा का केन्द्र है। फ़िलहाल कृषि के सम्बन्ध में उत्तर-प्रदेश की सरकार का ध्यान विशेष रूप से गया। १९५४ की जुलाई से उत्तर-प्रदेश की सरकार ने यह स्कीम चलाई जिसको 'शिक्षा-पुनर्निर्माण-योजना' (Re-orientation of Education) का नाम दिया गया। इसमें जहाँ संभव हो सका, गाँवों के जूनियर हाई स्कूलों को कृषि-विद्यालय का रूप दे दिया गया। इन्हें 'मल्टी-परपज़-स्कूल' भी कहते हैं। हर-एक 'मल्टी-परपज़ जूनियर हाईस्कूल' के साथ एक १० एकड़ का फ़ार्म है जिसमें विद्यार्थी तथा शिक्षक दो घंटे कृषि करते हैं। कृषि सिखाने का यह अभिप्राय नहीं कि माली से सीखा जाय, कताई-बुनाई सीखने का यह अभिप्राय नहीं कि जुलाहे से सीखा जाय, लकड़ी के काम सीखने का यह अभिप्राय नहीं कि बढ़ई से सीख लिया जाय। ये लोग यन्त्र चलाना सिखा सकते हैं, हस्त-कला द्वारा बुद्धि को उत्तेजित नहीं कर सकते। इन विषयों को पढ़ाने के लिए ऐसे विशेषज्ञ शिक्षक तैयार करने होंगे जो कृषि, कताई-बुनाई आदि के साथ बुद्धि को उत्तेजित कर सकें, महात्मा गांधी के शब्दों में, बढ़ई बालक को बढ़ई ही नहीं, इंजीनियर बना सके। इस समय उत्तर-प्रदेश के 'मल्टी-परपज़ जूनियर हाई स्कूलों' में एक अध्यापक इस कार्य के लिए रहता है जिसे 'विस्तार-शिक्षक' (Extension Teacher) कहते हैं। उसका काम इस सारी स्कीम की देख-रेख करना है, परन्तु क्योंकि उसे हेड-मास्टर के नीचे काम करना होता है, और हेड-मास्टर को इस स्कीम में कोई रुचि नहीं होती इसलिए यह स्कीम पूरी सफल नहीं हो रही।

---

* **Discuss briefly the latest scheme of the Uttar Pradesh Government for reforming the Higher Secondary Education. (1951)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-प्रदेश की 'शिक्षा-पुनर्निर्माण-योजना' (Re-orientation of Education) के अनुसार 'मल्टी-परपज़ जूनियर हाईस्कूलों' में कृषि को शिक्षा का आवश्यक अंग बनाया गया है क्योंकि अपने देश की ८० प्रतिशत जन-संख्या कृषि पर निर्भर करती है। इसके अतिरिक्त इस योजना का दूसरा उद्देश्य इन विद्यालयों को सामाजिक-कार्यों का केन्द्र बना देना है। कोई भी शिक्षा-संस्था बड़ी आसानी से गाँव के सामाजिक-कार्यों के लिए केन्द्र बन सकती है, ज़रूरत सिर्फ़ इस बात की है कि विद्यार्थी तथा शिक्षक अपने में गाँव के जीवन में कुछ दिलचस्पी पैदा करें, वहाँ के लोगों के साथ मिले-जुलें, उनके साथ संपर्क स्थापित करें। इस उद्देश्य से इन विद्यालयों में समय-समय पर लोक-गीत, लोक-नृत्य, अभिनय, व्यायाम आदि का आयोजन किया जाता है। इन आयोजनों के साथ सड़क बनाना, स्वच्छता आदि के सप्ताह मनाये जाते हैं, जिनमें पास-पड़ौस के १०—१५ ग्रामों के लोग सम्मिलित होते हैं और ये शिक्षा-संस्थाएँ इन ग्रामों की जागृति की केन्द्र बन सकती हैं।

इस योजना का तीसरा उद्देश्य विद्यार्थियों में नेतृत्व की भावना को प्रोत्साहित करना है। इस उद्देश्य से इन 'मल्टी-परपज़-स्कूलों' में छात्रों का एक युवक-दल होता है जिसका संचालन वे लोग स्वयं करते हैं। इस युवक-दल के प्रत्येक सदस्य के लिए हाथ का कोई-न-कोई काम करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, मधु-मक्खी का पालना, गाय-भैंस आदि किसी पशु की देख-भाल, कताई, बुनाई, टोकरी बनाना, गाँव की स्वच्छता, वहाँ की नाली-व्यवस्था, आदि कोई भी काम इस युवक-दल के लोग वैयक्तिक या सामूहिक रूप से करके जहाँ सामाजिक सेवा करते हैं, वहाँ छात्रों में नेतृत्व के निर्माण का अवसर भी उन्हें प्राप्त होता है।

'बेसिक-शिक्षा' के मूल-सिद्धान्तों में से 'केन्द्रीय-हस्त-कला' के सिद्धान्त को आधार बनाकर उत्तर-प्रदेश में 'शिक्षा-पुनर्निर्माण-योजना' (Re-orientation of Education) को, जिसका हमने अभी वर्णन किया, १९५४ में चालू किया गया। इसमें जनता ने भी काफ़ी सहयोग दिया। १९५४ से १९५६ तक २०९४ जूनियर हाई स्कूलों के लिए १९,८१९ एकड़ तथा ३५१ हायर सेकेण्डरी स्कूलों के लिए ५,१५० एकड़ भूमि प्राप्त हो गई। उत्तर प्रदेश के ३,४९६ जूनियर हाई स्कूलों में से २,००६ में कृषि को अनिवार्य विषय बना दिया गया, ९८ अन्य स्कूलों में कृषि से भिन्न किसी अन्य शिल्प को शिक्षा का केन्द्र बनाया गया। इस सब से आशा करनी चाहिए कि अगर स्कूलों के हैडमास्टर इस योजना को क्रियान्वित करने में उत्साह दिखायें तो यह योजना सफल होनी चाहिए।

(२) शिक्षा का 'स्वावलम्बी' होना—'बुनियादी-तालीम' का दूसरा सिद्धान्त स्वावलम्बी होना है। 'स्वावलम्बी' होने के दो अर्थ हैं :—

(क) विद्यार्थी का ऐसी 'हस्त-कला' को सीखना जो उसे आगामी-जीवन में अपने पैरों पर खड़ा होने योग्य बना दे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) स्कूल में जो सामान बने उसे बेचकर अध्यापक का वेतन निकल आये, ऐसा प्रबन्ध करना।

यह तो ठीक है कि आजकल हमारी शिक्षा विद्यार्थी का बहुत अधिक समय नष्ट कर देती है, उसमें व्यावहारिकता नहीं होती। इसी दृष्टि से 'प्रायोजना-पद्धति' (Project method) में इस बात पर अधिक बल दिया जाता है कि जो भी 'योजना' बने वह जीवन की किसी-न-किसी वास्तविक-समस्या को हल करने वाली होनी चाहिए, और इसी बात को 'बुनियादी-तालीम' ने ले लिया है। सबसे बड़ी समस्या तो शिक्षा प्राप्त करके आजीविका कमाना ही है, अतः 'बुनियादी-तालीम' में इस बात पर ज़ोर दिया जाता है कि बालक प्रारम्भ से ही ऐसी शिक्षा ग्रहण करे जिससे आगामी जीवन में वह स्वावलम्बी बन सके। हाँ, बालक के बनाये सामान की बिक्री से पाठशाला के अध्यापकों का वेतन भी चल सके यह अव्यावहारिक बात है। जिस समय महात्मा गांधी ने यह स्कीम रक्खी थी उस समय उन्होंने २५ रुपया मासिक प्राथमिक अध्यापकों का वेतन सोचा था, परन्तु यह बहुत कम था, और वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए तो यह बहुत ही कम है, और जितना वेतन अध्यापक की आवश्यकता को देखते हुए मिलना चाहिए, वह विद्यार्थियों के बनाये सामान से पैदा भी नहीं हो सकता। विचार-विनिमय के अनन्तर बुनियादी तालीम के कार्यकर्ताओं ने यह निश्चय किया है कि बालकों के बनाये सामान से सारा तो नहीं, परन्तु अध्यापक का ३० प्रतिशत वेतन बालकों के बनाये सामान से निकल आना चाहिए। यह रुपया सीधा शिक्षकों के पास आने के स्थान में खज़ाने में जमा होना चाहिए ताकि न तो रुपए का दुरुपयोग हो सके, और न उसका शिक्षक के निश्चित वेतन पर कोई असर पड़े, और न उसकी मान-प्रतिष्ठा को कोई धक्का लगे।

(३) **शिक्षा का 'निःशुल्क तथा अनिवार्य' होना**—'बुनियादी-तालीम' का तीसरा सिद्धान्त शिक्षा का निःशुल्क तथा अनिवार्य होना है। इसे बुनियादी कहते ही इसलिए हैं कि यह देश की बुनियाद को मज़बूत करती है। देश की बुनियाद देश के बच्चे हैं। जब एक-एक बच्चा शिक्षित हो जायगा तब देश की बुनियाद पक्की हो जायगी। आज तो हमारी बुनियाद में अशिक्षा है। अशिक्षितों से बुनियाद कैसे पक्की हो। इसीलिए बुनियादी-तालीम में शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य कर दिया गया है।

म्यूनिसिपल तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में भी शिक्षा 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' थी, परन्तु उसे 'बुनियादी-तालीम' नहीं कहा जा सकता था। 'बोर्डों' की तथा 'बुनियादी-तालीम' की शिक्षा दोनों अनिवार्य थीं, परन्तु फिर भी उनमें निम्न भेद था :—

(क) बोर्डों के अनुसार ५ से १० वर्ष की आयु का (अर्थात् कुल मिलाकर ५ वर्ष) परन्तु 'बुनियादी तालीम' के अनुसार ७ से १४ वर्ष की आयु का (अर्थात् कुल मिलाकर ७ वर्ष) बालक अवश्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कूल में होना चाहिए ऐसा कहा गया था। सार्जेन्ट रिपोर्ट के अनुसार यह समझा गया कि ७ वर्ष की आयु तक बिना स्कूल के रहना समय खराब करना है, अतः अनिवार्य-शिक्षा का समय ७ से १४ की जगह ६ से १४ (अर्थात् कुल मिला कर ८ वर्ष) कर दिया गया।

(ख) बोर्डों के अनुसार यह समझा जाता था कि बालक घर में कोई शिक्षा ग्रहण नहीं करता; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार यह समझा जाता है कि पहले उसने घर में 'प्रारम्भिक-शिक्षा' ग्रहण कर ली है, ६ वर्ष से १४ वर्ष तक उसकी शिक्षा का दूसरा कदम है।

(ग) बोर्डों के अनुसार ५ से १० वर्ष की आयु तक केवल प्राथमिक-शिक्षा दी जाती थी, इन ५ वर्षों में दी भी इतनी ही जा सकती थी; 'बुनियादी-तालीम' के अनुसार प्राथमिक तथा आंशिक तौर पर माध्यमिक दोनों शिक्षाएँ दी जाती हैं।

(ङ) बोर्डों की शिक्षा के अनुसार शिक्षा का व्यय कुछ नहीं लिया जाता था; 'बुनियादी तालीम' के अनुसार बालक सामान बनाते हैं, और उसकी बिक्री से अध्यापकों के वेतन का कुछ अंश प्राप्त किया जाता है।

ऊपर दिये गए विवेचन से स्पष्ट है कि 'बुनियादी-तालीम' में शिक्षा का स्तर बोर्डों में दी जाने वाली शिक्षा से ऊँचा कर दिया गया। केवल प्रारंभिक पाँच वर्ष ही शिक्षा देने से बालकों के फिर सब-कुछ भूल कर अपढ़ हो जाने की संभावना बनी रहती है, अतः बुनियादी-तालीम-योजना में शिक्षा-काल ५ वर्ष से बढ़ा कर ८ वर्ष कर दिया गया। ६ से १४ वर्ष की आयु ऐसी होती है जो मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से महत्वपूर्ण है, इस समय दी हुई शिक्षा जीवन पर छा जाती है। इसलिए बोर्डों के ५ से १० वर्ष के स्थान में अनिवार्य-शिक्षा का समय बुनियादी-तालीम में ६ से १४ वर्ष कर दिया गया। कांग्रेस-सरकारों ने बोर्डों की प्राथमिक-शिक्षा में 'बुनियादी-तालीम' को ही प्रायः सब प्रान्तों में जारी कर दिया है, अतः अब बोर्डों की तथा बुनियादी-तालीम में कोई भेद नहीं रहा है। प्राथमिक-शिक्षा के क्षेत्र में अब सर्वत्र बुनियादी-तालीम का 'निःशुल्क' तथा 'अनिवार्य' शिक्षा का सिद्धान्त जारी है।

उत्तर-प्रदेश* में ग्रामों की प्राथमिक-शिक्षा का जिस प्रकार नियन्त्रण हो रहा है, वह सन्तोषजनक नहीं है। क्योंकि भारत गाँव-प्रधान देश है इसलिए इस देश में प्राथमिक-शिक्षा का क्षेत्र भी ज्यादातर गाँव ही हैं। गाँवों का नियन्त्रण डिस्ट्रिक्ट बोर्डों द्वारा होता है इसलिए प्राथमिक-शिक्षा का नियन्त्रण भी

*** Give your views on rural education as it exists in your province at present. Do you consider the present practice of entrusting rural education to District Boards satisfactory? Give reasons. (1953)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ही करते हैं। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा प्राथमिक-शिक्षा के नियन्त्रण में दो आपत्तियाँ हैं :

(क) पहली आपत्ति तो यह है कि डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के सदस्य, जैसी स्थिति अभी तक है, उसे देखते हुए इतने शिक्षित नहीं होते कि वे शिक्षा के सिद्धान्तों को समझ कर इन संस्थाओं का संचालन कर सकें। यही कारण है कि इस बात का निश्चय हो जाने के बाद भी कि प्राथमिक-पाठशालाओं में बुनियादी-तालीम चलेगी अभी तक नाम-मात्र को बुनियादी-तालीम चल रही है, असल में, उसी पुरानी किताबी शिक्षा का बोलबाला है। बुनियादी-तालीम के सिद्धान्तों को जो समझेगा वही तो इसमें प्राण-प्रतिष्ठा कर सकेगा। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के संचालक अपने पुराने ख्यालात को लेकर चलते हैं, और शिक्षा में नवीनता लाने का प्रयत्न नहीं करते। इसी लिए पहले की तरह आज भी गाँवों के छात्र खेती-बाड़ी के प्रति रुचि रखने के स्थान में शहरी जीवन को आकर्षण का केन्द्र समझते हैं, और जब कि उनकी शिक्षा के संचालक शिक्षा-संबंधी नवीन विचारों को अपनाने के लिए तैयार नहीं होते, तब वे उन विचारों के अनुसार अपने को ढालने के लिए कैसे उद्यत हों? इस सब का परिणाम यह है कि बुनियादी-तालीम एक नारा तो बना हुआ है, परन्तु शिक्षा वही दकियानूसी चल रही है जो भारतीय ग्रामीण-जीवन के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है।

(ख) डिस्ट्रिक्ट बोर्डों द्वारा प्राथमिक-शिक्षा के नियन्त्रण में दूसरी आपत्ति यह है कि इनका नियन्त्रण दो भिन्न-भिन्न केन्द्रों से होने लगता है जिससे इन पाठशालाओं की व्यवस्था बिल्कुल छिन्न-भिन्न हो जाती है। प्राथमिक-पाठशालाओं का निरीक्षण तो ज़िले के शिक्षा-निरीक्षक महोदय करते हैं, परन्तु इन पाठशालाओं का संचालन, इनको आर्थिक सहायता, अध्यापकों की नियुक्ति आदि डिस्ट्रिक्ट बोर्ड द्वारा नियुक्त शिक्षा-समिति द्वारा होता है। शिक्षा-निरीक्षक के नीचे के सहायक शिक्षा-निरीक्षक महोदय भी शिक्षा-समिति के आधीन होते हैं। परिणाम यह होता है कि अध्यापक लोग डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की शिक्षा-समिति के सदस्यों की चापलूसी में लगे रहते हैं, और पढ़ाने-लिखाने का काम करने के स्थान में स्थानीय राजनीति के झमेले में सब उलझे रहते हैं।

१९३९ में आचार्य नरेन्द्रदेव कमेटी की रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की गई थी कि इस अव्यवस्था को बदलने से ही प्राथमिक-शिक्षा उन्नति कर सकती है। उनका कथन था कि प्राथमिक-शिक्षा को डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के हाथ से निकाल लेने में ही इन संस्थाओं का भला है।

(४) मातृ भाषा द्वारा शिक्षा—'बुनियादी-तालीम' का चौथा सिद्धान्त बच्चों को मातृभाषा द्वारा शिक्षा देना है। 'बुनियादी-तालीम' में मातृ-भाषा को वह स्थान दिया गया है, जो अब तक अंग्रेज़ी को मिलता रहा है। अंग्रेज़ों के समय इस देश में प्रत्येक विषय अंग्रेज़ी के माध्यम से पढ़ाया जाता रहा है। बुनियादी-तालीम में मातृ-भाषा के बाद हिन्दी को स्थान दिया गया है, यह एक प्रकार से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रत्येक प्रांत की द्वितीय-भाषा मानी गई है, इसमें अंग्रेज़ी को कोई विशेष महत्वपूर्ण स्थान नहीं है।

महात्मा गांधी की योजना में बुनियादी-तालीम में अंग्रेज़ी को कोई स्थान नहीं था और इसीलिए 'हिन्दुस्तानी तालीमी संघ' का कथन है कि बुनियादी-तालीम में अंग्रेज़ी को कोई स्थान नहीं मिलना चाहिए, परन्तु 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड' का कथन है कि 'सीनियर बेसिक स्कूलों' में यदि विद्यार्थी चाहें और संस्था उसका प्रबन्ध कर सके तो अंग्रेज़ी एक वैकल्पिक विषय रखा जाय।

'बेसिक-शिक्षा' और 'प्रायोजना-पद्धति'

बुनियादी-तालीम में 'प्रायोजना-पद्धति' (Project method) से बहुत-कुछ लिया गया है। हाथ से करके सीखना, योजना का जीवन के साथ वास्तविक संबंध होना तथा विषयों का एक-दूसरे के साथ सम्बन्ध होना 'प्रायोजना-पद्धति' से ही लिये हुए सिद्धान्त हैं। 'प्रायोजना-पद्धति' को भारतीय परिस्थिति के अनुकूल बनाकर ही बुनियादी-तालीम की रचना की गई है। फिर भी इन दोनों में भेद है। प्रायोजना-पद्धति में 'प्रायोजना' (Project) शिक्षा देने का साधन-मात्र होती है, उससे शिक्षा का काम चल गया तो उसे वहीं छोड़ बालक एक नई प्रायोजना में लग जाते हैं। बुनियादी-तालीम में तो हस्त-कला जीवन का अंग बन जाती है, वह शिक्षा का ही साधन नहीं, आगामी जीवन में जीविका का भी वह साधन है, और पढ़ने के समय अध्यापक की आजीविका का कुछ अंश भी उससे चलता है। जहाँ तक किसी हस्त-कला (Craft) को केन्द्र बनाने का विचार है, यह बहुत उत्तम है, परन्तु जब इससे बालक के आगामी-जीवन तथा अध्यापक की आजीविका की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जाता है, तब इसके अनेक समालोचक खड़े हो जाते हैं। कई लोग कहते हैं कि बालक छोटी आयु में जीवन भर के लिए किसी हस्त-कला को कैसे चुन सकता है? महात्मा गांधी का कथन यह नहीं था कि केन्द्रीय-कला को चुन कर बालक जीवन भर उसके साथ बँध जाय। उनका कहना तो इतना ही था कि शुरू से बालक में उद्योग-धन्धों की तरफ़ रुचि पैदा कर दी जाय। वह आगामी-जीवन में इस रुचि के आधार पर किसी भी 'कला' को चुन सकता है। हाँ, अगर उसे कोई भी धंधा न मिले, तो प्रारंभिक-जीवन में सीखा हुआ व्यवसाय उसे सर्वथा बेकार होने से बचाये रखेगा। कुछ लोगों की समालोचना यह है कि अध्यापक बालक के बनाये खिलौनों की बिक्री पर आजीविका यापन करता हुआ कुछ अच्छा अनुभव नहीं कर सकता। इसी आलोचना को ध्यान में रख कर महात्मा गांधी ने यह निश्चय किया था कि इस सामान की बिक्री से जो धन प्राप्त हो वह अध्यापक के पास न जाकर खजाने में जमा हो। यह दूसरी बात है कि इस बिक्री से इतनी आय भी हो सकती है या नहीं कि उसका ख़र्च चल सके? इसीलिए अध्यापक के सारे वेतन के स्थान में केवल ३० प्रतिशत को इस सामान की बिक्री से पूरा किये जाने का प्रस्ताव हुआ—ये सब ऐसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विचार ज़रूर हैं जिन पर जितना अधिक विचार होगा, उतना बुनियादी-योजना भी अपना सुधार करती चली जायगी।

बेसिक-शिक्षा की प्रगति पर १९५६ की सरकारी रिपोर्ट*

हम पहले कह आये हैं कि भारत के शिक्षा-मंत्रालय का एक 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' है। इस बोर्ड ने बेसिक-शिक्षा की देख-रेख के लिए एक 'बेसिक एज्यूकेशन स्टैंडिंग कमिटी' बनाई हुई है। इस कमेटी ने बेसिक-शिक्षा की वर्तमान स्थिति को आँकने के लिए एक 'बेसिक एज्यूकेशन असेसमेंट कमिटी' बनाई थी जिसके संयोजक थे श्री रामचन्द्रन तथा सदस्य थे श्री आर० एस० उपाध्याय, डा० सय्यद अन्सारी तथा डा० एम० डी० पॉल। इन्होंने ३ अगस्त १९५६ को अपनी रिपोर्ट 'बेसिक एज्यूकेशन स्टैंडिंग कमिटी' के सम्मुख प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में जो-कुछ कहा गया है, उसका सार निम्न है :

(क) बेसिक-शिक्षा अभी तक पूर्ण रूप से कहीं नहीं चल रही। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इसकी गति-विधि भिन्न-भिन्न है। प्रायः प्रान्तों में कुछ 'विशेष-क्षेत्र' (Compact areas) चुन लिये जाते हैं, जिनमें प्राथमिक-शिक्षा में बेसिक-शिक्षा को आधार बनाया जाता है, परन्तु इन चुने हुए क्षेत्रों को छोड़ कर अन्य सब जगह पुरानी पद्धति से ही पढ़ाया जाता है। कहीं-कहीं तो नाममात्र को सब प्राथमिक-पाठशालाओं का नाम बेसिक-स्कूल रख दिया गया है, वस्तुतः उनमें कुछ भी बेसिकपना नहीं है। उत्तर-प्रदेश में सब प्राथमिक-पाठशालाएँ बेसिक कहलाती हैं, परन्तु चलती वे पुराने ढर्रे से ही हैं। इस स्थिति को बदलना होगा। जब तक सब प्राथमिक-पाठशालाएँ बेसिक नहीं बन जातीं, तब तक जो बेसिक के ढंग से चल रही हैं, उन्हें शंका की दृष्टि से देखा जाता रहेगा। शिक्षा-संचालकों का इस पर दृढ़ विश्वास नहीं है। असल में केन्द्रीय-सरकार की किसी स्पष्ट घोषित नीति के अभाव में वे लोग ढिलमुल-यकीनी से काम कर रहे हैं। इस दिशा में केन्द्रीय-शिक्षा-मंत्रालय को अपनी नीति स्पष्ट घोषित कर देनी चाहिए जिससे किसी को सन्देह न रहे कि देश की भावी शिक्षा का आधार बुनियादी-तालीम होगा। इस दृष्टि से यह आवश्यक जान पड़ता है कि द्वितीय पंच-वर्षीय योजना-काल के अन्दर-अन्दर सब प्राथमिक-पाठशालाओं को बेसिक-पद्धति पर ढाल दिया जाय।

(ख) बेसिक-शिक्षा का आधार यह है कि शिक्षा देते हुए किसी दस्तकारी को केन्द्र बनाकर सब विषय पढ़ाये जाँय। इस प्रकार दस्तकारी को केन्द्र बनाने में दो मुख्य बातें हैं। एक बात तो यह है कि जिस दस्तकारी को आधार बनाया जाय, वह ऐसी होनी चाहिए जो 'उत्पादक' हो। इस 'उत्पादकता' (Pro-

---

* Give the concept of basic education and show its progress in India. (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ductivity) से कमाया जा सके। जो-कुछ कमाया जाय, उसमें कुछ पाठशाला के चलाने में काम आना चाहिए। दूसरी बात यह है कि जो दस्तकारी चुनी जाय उसके साथ अन्य विषयों में 'सह-सम्बन्ध' या 'समन्वय' (Correlation) हो सकना चाहिए। कमेटी का कहना है कि जहाँ-जहाँ भी वे गए, अधिकांश स्थानों पर यह कहा गया कि बेसिक-शिक्षा में वे 'उत्पादक-क्रिया' (Productive activity) के स्थान में 'विधेयक-क्रिया' (Creative activity) की तरफ़ अधिक ध्यान दे रहे थे। इसका अर्थ यह है कि वे बेसिक-शिक्षा के आधारभूत सिद्धान्तों को नहीं समझते। बेसिक-शिक्षा में 'उत्पादक-क्रिया' तो 'विधेयक-क्रिया' ही होती है, अतः यह समझना कि 'उत्पादक-क्रिया' से 'विधेयकता' नहीं आती है, ग़लत है। अक्सर कहा गया कि बच्चों को हम उत्पादन-कार्य में नहीं लगाना चाहते, परन्तु यह समझ नहीं आता कि अगर पाठशाला को कुछ भी आय हो जाय, तो किसी का क्या जाता है? इस दृष्टिकोण को बदलने की आवश्यकता है। 'समन्वय' के विषय में, कमेटी के सदस्यों से यह कहा गया कि सब विषयों का समन्वय नहीं हो पाता, और न इस दिशा में शिक्षा पाये हुए शिक्षक ही मिलते हैं। कमेटी का कहना है कि 'समन्वय' का अर्थ सिर्फ़ स्कूल में सिखायी जाने वाली दस्तकारी से समन्वय करने का ही नहीं है, इस दस्तकारी के अलावा चारों तरफ़ की 'प्राकृतिक-परिस्थिति' तथा 'सामाजिक-परिस्थिति' से भी समन्वय करके पढ़ाने की आवश्यकता है। अगर प्राकृतिक-परिस्थिति की खोज की जाय, तो कई विषय इस परिस्थिति से समन्वित करके पढ़ाये जा सकते हैं, इसी प्रकार अगर बालकों के चारों तरफ़ की सामाजिक-परिस्थिति की खोज की जाय, तो कई विषय सामाजिक-परिस्थिति से समन्वित करके पढ़ाये जा सकते हैं। इस प्रकार स्थानिक हस्त-कौशल या दस्तकारी, प्राकृतिक-परिस्थिति तथा सामाजिक-परिस्थिति—ये तीन चीज़ें हैं, जिनके साथ 'समन्वय' या 'सह-संबंध' स्थापित किया जा सकता है। इन सब कामों के लिए 'अनुसंधान-केन्द्र' तथा 'प्रशिक्षण-केन्द्र' खोलने की आवश्यकता है।

कमेटी ने जो सिफ़ारिशें कीं, उन पर विचार करने के लिए अगस्त १९५६ में सब प्रान्तों के शिक्षा-मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए :—

"सब प्रान्तों के शिक्षा-मन्त्रियों का यह सम्मेलन इस बात को पुनः स्वीकार करता है कि केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों की प्राथमिक-शिक्षा के संबंध में नीति बेसिक-शिक्षा पद्धति ही है। बेसिक-प्रणाली को क्रिया में परिणत करने के लिए प्रान्तों की सरकारें निम्न उपायों का अवलम्बन करें :—

(क) प्रत्येक प्रान्त में एक 'बेसिक एज्यूकेशन बोर्ड' स्थापित हो जिसमें शिक्षा-विभाग तथा जनता का सहयोग प्राप्त करने के लिए सरकारी तथा गैर-सरकारी सदस्य सम्मिलित किये जाँय। जहाँ तक संभव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो सके, मार्च १९५८ से पहले-पहल हर प्रान्त में ऐसे बोर्ड बन जाने चाहिएँ।

(ख) बेसिक-शिक्षा-पद्धति की मुख्य-मुख्य बातें हर प्राथमिक-शिक्षा की पाठशाला में लागू की जाँय। जहाँ तक हो सके इन पाठशालाओं को क्रियात्मक ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया जाय, और धीरे-धीरे हर प्राथमिक-पाठशाला को द्वितीय पंच-वर्षीय योजना के समाप्त होने से पहले-पहले बेसिक शिक्षणालय में परिवर्तित कर दिया जाय।

(ग) जिन पाठशालाओं में ५ साल की बेसिक-शिक्षा है उनको जूनियर बेसिक स्कूल तथा जिनमें ८ साल की बेसिक-शिक्षा है, उन्हें सीनियर बेसिक-स्कूल का रूप दिया जाय, और पाँच-साला स्कूल आठ-साला स्कूलों के लिए सहायक का काम करें, अर्थात् गाँव के पाँच-साला स्कूल में शिक्षा प्राप्त करने के बाद बालक किसी केन्द्रीय स्थान के आठ-साला स्कूल में अपने दर्जे में भर्ती हो सके।

(घ) इन ८-साला सीनियर बेसिक-स्कूलों में जो छात्र शिक्षा प्राप्त करें, उनके लिए या तो पोस्ट-बेसिक-स्कूल खोले जाँय, या ऐसी व्यवस्था की जाय कि वे सैकेंडरी-स्कूलों में भर्ती किये जा सकें।

(ङ) बी० ए० से नीचे की योग्यता के छात्राध्यापकों को प्रशिक्षण देने के जितने भी कालेज हैं, उन्हें द्वितीय-पंच-वर्षीय योजना-काल में बेसिक-प्रशिक्षण के लिए ढाल दिया जाय।

(च) इण्टरमीजियेट बोर्डों तथा विश्व-विद्यालयों से बातचीत की जाय ताकि बेसिक-स्कूलों के छात्र सैकेण्डरी स्कूलों में तथा पोस्ट-बेसिक स्कूलों के छात्र सीधा कालेजों में उच्च शिक्षा के लिए भर्ती हो सकें। यह काम शीघ्र-से-शीघ्र हो जाना चाहिए, द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना के पूरा होने से पहले-पहल तो हर हालत में हो जाना चाहिए।"

इस प्रकार हमने देखा कि बेसिक-शिक्षा क्या है, और अपने देश में किस प्रगति से चल रही है। बेसिक-शिक्षा तो प्राथमिक-शिक्षा ही है। प्राथमिक के बाद माध्यमिक, विश्व-विद्यालय की तथा शिक्षा के अन्य क्षेत्रों पर भी विचार करना आवश्यक है। हम यहाँ इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

६. बेसिक-शिक्षा तथा पंच-वर्षीय योजनाएँ

प्रथम पंच-वर्षीय योजना तथा बेसिक-शिक्षा—प्रथम पंच-वर्षीय योजना में कहा गया था कि इस समय कहीं प्राथमिक विद्यालय खोले जा रहे हैं, कहीं बेसिक विद्यालय खोले जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है। जब १९५२ में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ एज्यूकेशन' ने यह तय कर दिया कि हमें बेसिक-शिक्षा को ही चलाना है, तब यह आवश्यक प्रतीत होता है कि धीरे-धीरे सब प्राथमिक-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्यालयों को बेसिक में तब्दील कर दिया जाय। प्राथमिक-विद्यालयों को बेसिक में तब्दील न करने में जो सबसे बड़ी कठिनाई दीखती है, वह है भूमि की कमी। क्योंकि बेसिक-शिक्षणालयों में कृषि को प्रधानता दी जाती है, इसलिए विद्यालय की सफलता के लिए भूमि का होना अत्यावश्यक है। शिक्षा-मन्त्रालय के हिसाब के अनुसार ६ से १४ वर्ष के सब बच्चों को बुनियादी-तालीम देने के लिए ३१,४६,४६० एकड़ भूमि की आवश्यकता है, जो अपने देश की कृषि की जाने वाली भूमि का कुल ०.९९ प्रतिशत भाग है। इस भूमि को प्राप्त करने के लिए कमीशन के कथनानुसार निम्न उपाय बर्ते जा सकते हैं :*

(क) नये बेसिक-विद्यालय वहीं खोले जाँय और वर्तमान प्राथमिक-विद्यालय वहाँ बेसिक में तब्दील किये जाँय, जहाँ स्थानीय लोग कम-से-कम ५ एकड़ भूमि इस कार्य के लिए दान देने को और स्थानीय समाज या राज्य-सरकार प्रारम्भिक उपकरण तथा अन्य खर्चे बर्दाश्त करने को तैयार हों। बिहार में इस दिशा में सफलतापूर्वक कार्य हुआ है, वहाँ गाँव वालों ने बेसिक-विद्यालयों को भूमि दान में दी है, ऐसा ही दूसरी जगह भी हो सकता है।

(ख) जहाँ सरकारी ज़मीन मिल सके या जहाँ ज़मींदारी उन्मूलन के परिणामस्वरूप सरकार के हाथ में कोई भूमि आ जाय, तो उस भूमि पर बेसिक-विद्यालयों का प्रथम अधिकार समझा जाय।

(ग) सरकार की तरफ़ से कृषि के जो प्रदर्शन-खेत तैयार किये गये हैं, उन्हें बेसिक-संस्थाओं के स्टाफ़ के प्रशिक्षण के काम में लाया जा सके।

(घ) जहाँ कहीं चकबन्दी की जाती है, वहाँ गाँव की सर्व-साधारण आवश्यकताओं की पूर्ति का ध्यान भी रखा जाता है। इस ध्यान को रखते हुए बेसिक-विद्यालयों को भी गाँव की सर्व-साधारण आवश्यकताओं में से एक समझा जाय और इस कार्य के लिए भूमि अलग कर ली जाय।

(ङ) भूमि को विद्यालय के नाम किये जाने की कानूनी-प्रक्रिया को सरल बनाना सरकार का कर्त्तव्य होना चाहिए। जो भूमि विद्यालय को मिले उसे उपजाऊ बनाने में सरकारी कृषि-विभाग को पूरा सहयोग देना चाहिए।

(च) अगर किसी जगह किसी तरह भी भूमि न मिले तो उसे किराये पर लेने की व्यवस्था की जानी चाहिए।

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना तथा बेसिक-शिक्षा—द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में कहा गया था कि प्राथमिक-शिक्षा की समस्या के दो हिस्से हैं। पहला हिस्सा तो यह है कि प्राथमिक-शिक्षा का हमें विस्तार करना है; दूसरा हिस्सा यह है कि प्राथमिक-शिक्षा को हमें बेसिक-शिक्षा में ढाल देना है।

*** What are the suggestions of the Planning Commission for solving the difficulties of basic schools with regard to land ? (1956)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्राथमिक-शिक्षा के विस्तार की समस्या बड़ी जटिल है। प्राथमिक-शिक्षा ६ से १४ वर्ष की आयु तक दी जाती है। ६ से १४ वर्ष की शिक्षा के भी दो भाग हैं। ६ से ११ वर्ष की आयु का एक भाग तथा १२ से १४ वर्ष की आयु का दूसरा भाग। ये दोनों 'एलीमेंटरी' कहलाते हैं, परन्तु इनमें से पहला 'प्राइमरी' और दूसरा 'मिडल' कहलाता है। 'प्राइमरी' कक्षाओं (६–११ वर्ष) में प्रथम योजना-काल में संख्या पर्याप्त बढ़ी है, परन्तु 'मिडल' कक्षाओं (१२–१४ वर्ष) में संख्या पर्याप्त नहीं बढ़ी। 'प्राइमरी' में भी जितने बालक-बालिका पहली श्रेणी में दाखिल होते हैं, चार साल बाद उससे आधे रह जाते हैं, इससे स्पष्ट है कि 'प्राइमरी' में हमारी शक्ति का ५० प्रतिशत अपव्यय हो रहा है। 'अपव्यय' (Wastage) के अतिरिक्त एलीमेंटरी-शिक्षा के स्तर पर 'अप्रगतिशीलता' (Stagnation) का प्रश्न भी कम महत्व का नहीं है। विद्यार्थी एक ही कक्षा में कई वर्ष तक पड़े रहते हैं। 'अपव्यय' को दूर करने के लिए सब से अच्छा उपाय यह है कि जब फ़सल के दिन हों, तब स्कूलों में छुट्टी रहे ताकि लड़के खेतों में माँ-बाप के काम में हाथ बँटा सकें, 'अप्रगतिशीलता' को दूर करने के लिए अध्यापकों का स्तर उच्च करने की आवश्यकता है। 'एलीमेंटरी'-शिक्षा की मुख्य समस्या कन्याओं की शिक्षा है क्योंकि इस स्तर पर कन्याएँ लड़कों से कम संख्या में शिक्षा ग्रहण कर रही हैं। तृतीय पंच-वर्षीय योजना-काल में इस स्तर पर हमें मुख्य तौर पर लड़कियों की शिक्षा की समस्या को ही हल करना पड़ेगा। इसलिए अभी से एक बहुत बड़ी संख्या में अध्यापिकाओं के प्रशिक्षण का कार्य जारी कर देना आवश्यक है। यह तो प्राथमिक-शिक्षा के विस्तार की बात हुई।

प्राथमिक-शिक्षा को बेसिक-शिक्षा में ढाल देने की समस्या भी कम जटिल नहीं है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना-काल में पहले-पहल इस दिशा में विशेष तौर पर ध्यान दिया गया। १९५०–५१ में देश में १७५१ बेसिक स्कूल थे जो १९५५–५६ में १०,००० हो गये। इनमें पढ़ने वाले छात्रों की संख्या १९५०–५१ में १,८५,००० थी जो १९५५–५६ में ११,००,००० हो गई। बेसिक ट्रेनिंग-स्कूलों की संख्या १९५०–५१ में ११४ थी, जो १९५५–५६ में ४४९ हो गई। यह सब कुछ होने पर भी अभी हम प्राथमिक-शिक्षा को बेसिक में ढालने में बहुत पीछे हैं। प्रथम पंच-वर्षीय योजना के बाद 'एलीमेंटरी'-कक्षाओं में पढ़ने वाले छात्रों में से बेसिक-शिक्षा पाने वाले छात्रों की संख्या में कुल ४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसका यह अभिप्राय है कि अभी हमें अपनी एलीमेंटरी-शिक्षा को बेसिक में तब्दील करने में काफ़ी समय लगेगा। इस दिशा में सबसे बड़ी कठिनाई आर्थिक है। दूसरी कठिनाई यह भी है कि जिन लोगों के हाथ में शिक्षा का काम है उन्हें इस शिक्षा का ज्ञान भी बहुत कम है। इन दोनों दिशाओं में सरकार को ध्यान देने की आवश्यकता है।

तृतीय पंच-वर्षीय योजना तथा बेसिक-शिक्षा—प्रथम-योजना से ही प्राथमिक-शिक्षा को बेसिक के ढाँचे में ढालने का प्रयत्न किया जा रहा है। तृतीय-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

योजना में ५७,७६० स्कूलों को बेसिक के ढाँचे में ढाल दिया जायगा, और जो नहीं ढाले जा सकेंगे उनकी दिशा बेसिक कर दी जायगी ताकि आगे चलकर वे सब बेसिक में परिणत हो जायें। इस काल में यह प्रयत्न किया जायगा कि बेसिक तथा नौन-बेसिक स्कूलों की पाठविधि एक-सी कर दी जाय और सब प्राथमिक स्कूलों में कोई-न-कोई 'हस्त-कला' (Craft) जारी कर दी जाय। सब प्राथमिक स्कूलों में ऐसे 'क्रिया-कलाप' (Activities) जारी किए जायें जिन पर अधिक व्यय नहीं होता। उदाहरणार्थ, समाज-सेवा, सांस्कृतिक प्रोग्राम, खेल-कूद के आयोजन—ये सब बेसिक शिक्षा के दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करने के लिए जारी किये जा सकते हैं। सब प्राथमिक-स्कूलों का दृष्टिकोण बेसिक बना देने के लिए उक्त योजनाओं का चलाना ज़रूरी है। इन्हें साधारण-सी सहायता भी इस काल में दी जायगी और जो शिक्षक बेसिक-प्रणाली में दीक्षित नहीं हुए उन्हें थोड़े समय के लिए इस प्रणाली की शिक्षा दे दी जायगी।

७. स्वतंत्रता-काल में माध्यमिक-शिक्षा

अंग्रेज़ों की भारत को शिक्षा के क्षेत्र में एक ही देन है, और वह है—'माध्यमिक-शिक्षा'। मैकाले के अपनी रिपोर्ट लिखने के पहले से यहाँ ईसाई पादरियों ने हाई स्कूल खोले थे। पादरी लोग जिस लगन से काम कर रहे थे, और उनके कार्य से भारतीयों में जो परिवर्तन आ रहा था, उससे प्रभावित होकर सर चार्ल्स ग्रान्ट के हृदय में यह विचार उत्पन्न हुआ कि भारतीयों को शिक्षित करना आवश्यक है। वह पहले कम्पनी की नौकरी कर चुके थे, फिर पार्लियामेंट के सदस्य बने, और कम्पनी के डायरेक्टरों के बोर्ड के चेयरमैन बने। १८१३ में जब कम्पनी को दुबारा आज्ञा-पत्र दिया गया तब उन्होंने १ लाख रुपया प्रति वर्ष शिक्षा पर व्यय करने की शर्त भी स्वीकृत करा ली। उसमें लिखा गया कि 'विद्या के पुनरुज्जीवन' (Revival of Learning) तथा 'विज्ञान की वृद्धि' (Promotion of Scientific knowledge) के लिए एक लाख रुपए का व्यय किया जाय। पहले तो यही झगड़ा चलता रहा कि 'किस' विद्या का पुनरुज्जीवन किया जाय—संस्कृत तथा अरबी का, या अंग्रेज़ी का? बहुत देर तक कुछ काम न हुआ। अनेक भारतीय यही चाहते थे कि अंग्रेज़ी शिक्षा ही दी जाय। राजा राममोहन राय ने तो इस आशय का गवर्नर-जनरल को एक आवेदन-पत्र भी दिया। १८१७ में राजा राममोहन राय ने डेविड हेयर नामक एक घड़ियों के व्यापारी के सहयोग से 'हिन्दू कालेज' की स्थापना की जिसमें अंग्रेज़ी पढ़ाई जाने लगी। १८३५ में मैकाले ने अपनी रिपोर्ट लिख कर अंग्रेज़ी शिक्षा की जड़ें पाताल तक पहुँचा दीं। मैकाले से पहले भी अंग्रेज़ी ढंग के स्कूलों की ही माँग थी, मैकाले ने उसी बात पर मोहर लगा दी। अंग्रेज़ी पढ़ कर ही जब नौकरी मिलनी थी, तो कोई और-कुछ क्यों पढ़ता। आज जैसे नौकरी के लिए हमारे बालक टाइप करना सीखते हैं, वैसे उस समय आजीविका के प्रश्न को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हल करने लिए वे स्कूल में भर्ती होते थे, अंग्रेजी सीखते थे । १८३७ में न्यायालयों की भाषा भी अंग्रेज़ी कर दी गई, १८४४ में लार्ड हार्डिज ने घोषणा कर दी कि अंग्रेज़ी स्कूलों में पढ़े-लिखों को नौकरियों में प्रधानता दी जायगी। इस सारी नीति का परिणाम यह हुआ कि 'माध्यमिक स्कूल' धड़ाधड़ खुलने लगे। शिक्षा के लिए जितना रुपया स्वीकृत होता था उसमें से 'प्राथमिक-शिक्षा' पर कुछ व्यय नहीं होता था, 'माध्यमिक' पर ही सब व्यय हो जाता था क्योंकि वहाँ अंग्रेज़ी सिखाई जाती थी।

हंटर-कमीशन' (१८८२) ने इस स्थिति को समझा। उन्होंने सिफ़ारिश की कि सरकार को अपनी शक्ति 'माध्यमिक-शिक्षा' से हटा लेनी चाहिए, यह काम प्राइवेट संस्थाओं के सुपुर्द कर देना चाहिए, उन्हें सहायता-मात्र दे देनी चाहिए। इसका परिणाम तो यह होना चाहिए था कि 'माध्यमिक-शिक्षा' से बचे रुपए को सरकार 'प्राथमिक-शिक्षा' पर खर्च करती। वैसा कुछ तो सरकार ने किया नहीं, इधर मैट्रिक की तैयारी कराने वाले स्कूलों की भरमार हो गई, स्कूल चलाना भी एक व्यापार-सा हो गया। मैट्रिक पास की, बी० ए० किया, और कोई-न-कोई नौकरी हाथ लगी, फिर क्यों न स्कूलों की संख्या बढ़ती। जब स्कूल ज़रूरत से ज्यादा बढ़ गए, तब इतने मैट्रिक-पास व्यक्तियों को नौकरियों की भी तंगी होने लगी। इसके अतिरिक्त मैट्रिक-पास से बी० ए० का महत्व अधिक था, इसलिए कालेजों में बाढ़-सी आ गई। लड़का पढ़ सकता है या नहीं, इसकी पर्वाह नहीं थी, किसी तरह से इम्तिहान पास करके नौकरी का विचार बालकों को आगे-ही-आगे ले जाता था। युनिवर्सिटियों में ऐसे लड़कों की भरमार हो रही थी, जो घोट-घाट कर मैट्रिक तो पास कर आते थे, परन्तु प्रोफ़ेसर का व्याख्यान नहीं समझ सकते थे। १९०४ और १९१३ में 'भारतीय शिक्षा की नीति' की घोषणा की गई जिसमें स्वीकार किया गया कि स्कूल की पढ़ाई निरुद्देश्य चल रही है, लड़कों के सम्मुख मैट्रिक पास करके युनिवर्सिटी में भर्ती होने के सिवाय कोई उद्देश्य नहीं होता। इनके परिणामस्वरूप एस० एल० सी० की परीक्षा रखी गई जिसका उद्देश्य यह था कि बालक मैट्रिक का इम्तिहान दिये बग़ैर अगर किसी धन्धे में जाना चाहता है, तो इस परीक्षा को देकर जा सके। १९२९ में 'हारटोग कमिटी' और १९३७ में 'एबट तथा वुड' रिपोर्ट प्रकाशित हुई जिनमें कहा गया कि स्कूल में ही विषयों का ऐसा विभाग हो जाना चाहिए जिससे बालक अपनी रुचि के अनुसार ऐसे विषयों को चुन सके जो उसे जीवन में सहायक हों। प्रत्येक बालक 'युनिवर्सिटी' की शिक्षा के योग्य नहीं होता। अब तक तो पढ़ाई का ऐसा रूप था कि स्कूल में विद्यार्थी अपने को युनिवर्सिटी में भर्ती होने के लिए तैयार करता था। मैट्रिक पास हो गया, तो वह 'युनिवर्सिटी' में भर्ती हो गया, उसका भविष्य उज्ज्वल हो गया, नहीं तो सारी पढ़ाई पर पानी फिर गया। १९४६ में 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड' ने 'नरेन्द्र देव कमेटी' तथा 'सार्जेण्ट रिपोर्ट' पर पुनः विचार कर यह निश्चय किया कि स्कूल की 'माध्यमिक-शिक्षा' अपने में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पूर्ण होनी चाहिए, उसमें पढ़े हुए विद्यार्थी 'युनिवर्सिटी' में तो जाने ही चाहिएँ, परन्तु पाठविधि ऐसी होनी चाहिए कि जिससे जो बीच में छोड़ना चाहें, वे छोड़ कर किसी उद्योग-धंधे में भी लग सकें। अब तक माध्यमिक-शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थी को विश्वविद्यालय के लिए तैयार करना था, विश्वविद्यालय में लड़का भर्ती न हो सका, तो उसकी सारी शिक्षा बेकार थी, अब माध्यमिक-शिक्षा का दृष्टिकोण बदल गया, यह कहा जाने लगा कि वह अपने में पूर्ण होनी चाहिए। इस विचार को सम्मुख रखकर १९४८ से उत्तर-प्रदेश में ८वीं श्रेणी के बाद ९वीं से १२वीं श्रेणी तक साहित्यिक, रचनात्मक, वैज्ञानिक तथा कलात्मक पाठ-विधियों का चलन किया गया और १०वीं तक स्कूल होने के बजाय १२वीं तक के स्कूल बने। अब १४ जनवरी १९५५ को 'सेंट्रल एडवाइज़री बोर्ड ऑफ़ एज्यूकेशन' ने एक नया प्रस्ताव पास किया जिसके अनुसार माध्यमिक-शिक्षा के लिए ११वीं कक्षा तक का समय निश्चित किया गया है। बोर्ड का कहना है कि लड़के बेकार युनिवर्सिटी की शिक्षा के लिए भागते हैं। ११वीं के बाद उन्हें स्वतंत्रता होनी चाहिए ताकि जिस धंधे में वे जाना चाहें, जा सकें। विश्व-विद्यालय में डिग्री का कोर्स चार की जगह तीन साल का होना चाहिए। इस लक्ष्य को सामने रखकर माध्यमिक-शिक्षा का पुनर्निर्माण हो रहा है। कई प्रान्त इसे मान रहे हैं, कई नहीं मान रहे।

१०–११–१२ नवम्बर, १९६३ को केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय की तरफ़ से सब शिक्षा मंत्रियों तथा विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों की एक कान्फ़रेंस माध्य-मिक-शिक्षा पर विचार करने के लिए दिल्ली में बुलाई गई जिसमें निश्चय हुआ कि माध्यमिक-शिक्षा का काल प्राथमिक-शिक्षा को मिला कर १२ साल का होना चाहिए। आठ साल प्राथमिक-शिक्षा और चार साल माध्यमिक-शिक्षा प्राप्त करने के बाद विद्यार्थी को तीन साल कालेज की शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए। कालेज में प्रवेश के लिए उसकी आयु १८ वर्ष होनी चाहिए। अगर अभी ऐसा नहीं हो सकता तो कम-से-कम लक्ष्य यही रखना चाहिए।

८. माध्यमिक-शिक्षा पर मुदलियार-कमीशन के सुधारात्मक विचार

मद्रास विश्वविद्यालय के उप-कुलपति श्री मुदलियार की अध्यक्षता में १९५२ में एक 'सेकेण्डरी एज्यूकेशन कमीशन' नियुक्त किया गया जिसने १९५३ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। माध्यमिक-शिक्षा के आदर्श-स्कूल* का इस कमीशन ने जो चित्र खींचा है, उसका सार निम्न है :—

---

* 1. "Examine critically the defects in the present educational system. (1951)

2. Review critically our present system of education and suggest reforms. (1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) सुन्दर परिस्थिति (Proper Environment)—कमीशन का कहना है कि शिक्षणालय की चारों तरफ़ की परिस्थिति ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थी को खुद-ब-खुद पढ़ने और काम करने की प्रेरणा मिले। इस समय हमारे स्कूलों के चारों तरफ़ ऐसी भद्दी परिस्थिति होती है कि विद्यार्थियों को अपने शिक्षणालय के विषय में कोई अभिमान नहीं हो सकता। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें आर्थिक कठिनाइयाँ हैं, परन्तु आर्थिक-कठिनाइयों के होते हुए भी शिक्षणालय के चारों तरफ़ की परिस्थिति को विद्यार्थियों, माता-पिताओं तथा जनता के सहयोग से उत्तम बनाया जा सकता है। विद्यार्थी ही बाग़-बग़ीचे, फुलवाड़ी लगा सकते हैं, छोटी-मोटी मरम्मत कर सकते हैं। पाठशाला के प्रत्येक कमरे को चार्ट, चित्र आदि से सजाने का काम भी विद्यार्थियों के सहयोग से हो सकता है। बनी-बनाई सुन्दर परिस्थिति विद्यार्थियों को मिल जाय, इसकी अपेक्षा वे स्वयं अपने उद्योग से उसे सुन्दर बनायें—इसमें उनका अधिक विकास होगा।

(ख) पाठ्यान्तर कार्य (Extra-curricular activities)—शिक्षा का उद्देश्य पुस्तक पढ़ा देना ही नहीं है, इसका उद्देश्य विद्यार्थी के व्यक्तित्व का सर्वाङ्गीण विकास है। शिक्षक का काम भिन्न-भिन्न रुचि के विद्यार्थियों के लिए ऐसे 'स्वेच्छा-कार्य' (हौबी), ऐसी 'प्रायोजनायें' (प्रोजेक्ट) तैयार कर देना है जिनसे प्रत्येक रुचि के विद्यार्थी के व्यक्तित्व का चौमुखा विकास हो सके। दूसरे शब्दों में शिक्षणालय किताबी शिक्षा का केन्द्र न होकर जीवन की कला सिखाने का केन्द्र हो जाना चाहिए। शिक्षणालय को सामुदायिक-जीवन से कटा हुआ न रख कर उसे सामुदायिक-जीवन का अंग बनाने का यत्न करना चाहिए और जो कार्य विद्यार्थी अपने समाज में होते देखता है, उन्हीं का छोटा रूप उसे शिक्षणालय में दीखना चाहिए। इस दृष्टि से भविष्य का माध्यमिक-शिक्षणालय 'पुस्तक-पाठी-शिक्षणालय' होने के स्थान में 'क्रिया-पाठी शिक्षणालय' बनना चाहिए। इन शिक्षणालयों में चारों तरफ़ क्रिया-ही-क्रिया, गति-ही-गति, यह काम हो रहा है, वह काम हो रहा है—यह दृश्य दीखना चाहिए, सिर्फ़ अध्यापक कृष्ण-पट्ट पर कुछ लिख रहा है, या बोल रहा है—इतना ही नहीं। इनमें विद्यार्थी काम करते दीखने चाहिएँ, ठोडी पर हाथ रखे, अध्यापक की तरफ़ टिकटिकाते नहीं। वाद-विवाद सभाएँ, खेल के साम्मुख्य, समाज-सेवा के कार्य, पत्र-पत्रिकाएँ, चित्र-शाला-संग्रहालय—विद्यार्थी जितने पाठविधि से अतिरिक्त काम करें, थोड़े हैं।

(ग) दस्तकारी तथा उत्पादक कार्य (Craft and productive work)—सालों से हमारे शिक्षणालयों में विचारात्मक तथा क्रियात्मक अध्ययन में एक खाई पड़ी हुई है। इसे पाटने का सर्वोत्तम साधन यही है कि दस्तकारी तथा किसी उत्पादक-कार्य पर अब अधिक ध्यान दिया जाय। प्रत्येक शिक्षणालय में ऐसे कारखाने (वर्कशाप) तथा दस्तकारी-गृह (क्रैफ्ट रूम) होने चाहिएँ जहाँ विद्यार्थी उपकरणों का प्रयोग कर सकें। दस्तकारी से अभिप्राय किसी हाथ के काम में समय बिताना ही नहीं होना चाहिए, इसका अभिप्राय होना चाहिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसा काम जो ठोस हो, जो वास्तव में काम कहा जा सके । ऐसे काम सिर्फ़ सायन्स लेने वाले विद्यार्थियों के लिए ही नहीं, आर्ट लेने वालों के लिए भी आवश्यक होने चाहिएँ। शिक्षणालय की प्रयोगशाला ऐसी नहीं होनी चाहिए जिसमें अध्यापक के कहे अनुसार विद्यार्थी छोटे-मोटे परीक्षण कर लें, यह ऐसी होनी चाहिए जिससे विद्यार्थियों में भावी-आविष्कर्ता बनने की नींव पड़ सके।

(घ) **पुस्तकालय** (School-Library)—इस समय माध्यमिक-शिक्षणालयों के पुस्तकालय एक बेकार-से पुस्तकालय हैं। उनका उपयोग छात्र ठीक-से नहीं कर पाते। इन पुस्तकालयों को जीवित-जागृत बनाने की आवश्यकता है। असल में जो काम विज्ञान के क्षेत्र में प्रयोगशाला का है, वही काम अन्य विषयों के सम्बन्ध में पुस्तकालय का है। छात्रों में पुस्तकालय का ज़्यादा-से-ज़्यादा उपयोग करने की भावना पैदा करनी चाहिए। पाठ-विधि की पुस्तकों में सैंकड़ों ऐसी समस्यायें आये-दिन उठती रहती हैं जिनका हल पुस्तकालय की दूसरी पुस्तकों के सिवाय अन्य कहीं मिल नहीं सकता। पाठ-विधि की कोई पुस्तक पूर्ण नहीं होती। शिक्षक तथा पुस्तकालयाध्यक्ष का काम विद्यार्थियों को ऐसी पुस्तकों की तरफ़ प्रेरित करते रहना होना चाहिए जिससे छात्र पाठ-विधि के अतिरिक्त अन्य पुस्तकों का अधिक-से-अधिक उपयोग कर सकें। इस दृष्टि से पुस्तकालयाध्यक्ष के काम में हर किसी को नहीं, अपितु उस काम के दक्ष व्यक्ति को ही लगाना चाहिए और पुस्तकों से नोट आदि लेने की पूरी सुविधा का प्रबन्ध होना चाहिए।

(ङ) **शिक्षणालय एक समुदाय है** (School as a community)—इस समय हमारे शिक्षणालय तथा हमारा समाज दोनों एक-दूसरे से कटे हुए हैं, इनका आपसी कोई सम्बन्ध नहीं है। शिक्षणालय में छात्र भूल जाता है कि वह एक बड़े समाज का अंग है, घर में आकर वह भूल जाता है कि शिक्षणालय भी घर जैसी कोई संस्था है। इस अवस्था को बदलना होगा। हमें ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी जिससे घर से पाठशाला में आकर विद्यार्थी अनुभव करे कि उसके घर की और समाज की जो समस्यायें हैं, उन्हीं को उसे पाठशाला में हल करना है, और पाठशाला से जब वह घर जाये तो अनुभव करे कि पाठशाला में जो नयी बातें उसने सीखी हैं उनसे उसके घर की, समुदाय और समाज की समस्यायें हल होती हैं। पाठशाला जब विशाल समुदाय के अन्तर्गत एक छोटे समुदाय का रूप धारण कर लेगी तब यह सही मायनों में व्यक्ति के विकास का साधन बनेगी। अगर पाठशाला के छात्र अपने आस-पास की गन्दगी को दूर करने में, वहाँ के मच्छरों को कम करने में, वहाँ की गन्दी नालियों को सफ़ा रखवाने में, वहाँ की जनता की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को हल करने में सहायक बन और आस-पास के गाँवों के लोगों को समय-समय पर अपने यहाँ बुलाकर उन्हें अपनी समस्याओं का रूप समझने के लिए प्रेरित कर सकें, तो पाठशाला तथा समुदाय का एक-दूसरे से संपर्क स्थापित हो जाय, और वे एक-दूसरे से कटे रहने के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बजाय एक-दूसरे से जुड़ जाँय। छात्रों को जब इस प्रकार अपने चारों तरफ़ ममुदाय की वास्तविक समस्याओं को हल करना होगा तब वे मिलकर काम करना, नियन्त्रण में रहना, एक-दूसरे की मदद करना, बड़ों के अधीन रहना, संगठन करना, दूसरों से काम लेना आदि सब-कुछ स्वयं सीख जायेंगे। इस समय साल में केवल एक बार पाठशाला के संचालकों तथा छात्रों के माता-पिता का संपर्क होता है, वह भी जब कभी वार्षिक उत्सव हो। इस अवस्था को बदल कर शिक्षकों तथा माता-पिताओं का, पाठशाला तथा समाज का लगातार का संबंध उत्पन्न करने की आवश्यकता है ताकि अपने को छात्र पाठशाला तथा घर में सदा समाज की समस्याओं को हल करता हुआ अनुभव करे।

(च) शिक्षकों का दृष्टिकोण बदलना (Re-orientation of Teachers)—इस समय शिक्षक-वर्ग यह समझता है कि और कोई धंधा नहीं तो आजीविका कमाने का यह निखिद धंधा ही सही। इस दृष्टिकोण को बदलना होगा। प्रत्येक शिक्षक को यह समझना होगा कि वह एक अद्वितीय समाज-सेवा का कार्य कर रहा है, उसी में उसका अपना विकास तथा उन्नति भी है। उसे सदा मनोविज्ञान तथा शिक्षा-संबंधी साहित्य एवं शिक्षा-सबंधी प्रगतिशील विचारों के सम्पर्क में रहना होगा। विद्यार्थियों के साथ उसका प्रेममय, मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध होना आवश्यक है। शिक्षक लोग विद्यार्थियों की भिन्न-भिन्न समस्याओं को समझें और प्रत्येक विद्यार्थी भी अपनी भिन्न-भिन्न समस्याओं को समझे—ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी होगी। जिस संस्था में अध्यापक रौब जमाने में लगे रहते हैं और विद्यार्थी सदा उनसे डरते रहते हैं, वे संस्थायें प्रगति नहीं कर सकतीं। इस परिस्थिति में अध्यापकों तथा विद्यार्थियों की सदा टक्कर रहा करती है और दोनों अपना बुरे-से-बुरा रूप प्रकट किया करते हैं। अध्यापक तथा विद्यार्थी के बीच की दीवार टूट जानी चाहिए। अध्यापक का रौब उसके प्रेम, मेहनत और विद्यार्थियों के प्रति सदाशयता पर आश्रित होना चाहिए।

इस समय परीक्षा-प्रणाली को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है। इस प्रथा को बदलना होगा। विद्यार्थी पाठशाला तथा घर में जो काम करते हैं, उसे अधिक महत्व देना होगा। विद्यार्थी के प्रतिदिन के कार्य का पूरा ब्यौरा रख कर, उसके आधार पर उसे तरक्की देना ठीक होगा। यह भी देखना होगा कि पुस्तक-पाठ के स्थान में समाज-सेवा, नियन्त्रण, सहयोग, नेतृत्व आदि में वह कैसा है। पुस्तक-पाठ के साथ-साथ इन बातों पर भी ध्यान देना आवश्यक होगा और इनका भी वैसा ही ब्यौरा रखना होगा जैसा किताबों की पढ़ाई का। अध्यापकों में इस नवीन दृष्टिकोण के उत्पन्न हो जाने पर हमारी माध्यमिक-शिक्षा ठीक रास्ते पर चल पड़ेगी।

(छ) पाठशाला की स्वतन्त्रता (Freedom of School)—इस समय अध्यापक लोग यह शिकायत करते हैं कि मुख्याध्यापक उन्हें निश्चित नियमों में बाँधे रखते हैं, उन्हें अपने ढंग से किसी प्रकार का शिक्षा-सम्बन्धी परीक्षण

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने की कोई स्वतन्त्रता नहीं है; मुख्याध्यापक लोग यह शिकायत करते हैं कि डिपार्टमेंट ने उन्हें लोहे की साँकल से बाँध रखा है, उन्हें ज़रा भी इधर-उधर होने की आज़ादी नहीं है। 'सेकण्डरी एज्यूकेशन कमीशन' का कहना है कि शिक्षा के क्षेत्र में इस प्रकार की कड़ाई की ज़रूरत नहीं है। शिक्षा-विभाग की तरफ़ से शिक्षा-संचालकों को अपने क्षेत्र में आज़ादी से चलने की छूट होनी चाहिए—इसमें कुछ खतरा अवश्य है, परन्तु इस खतरे को उठाना शिक्षा के हित में है। इसी से कोई नवीन विचार उत्पन्न हो सकते हैं। जब तक शिक्षा-विभाग इस प्रकार की स्वतन्त्रता नहीं देता, तब तक भी भिन्न-भिन्न शिक्षणालय अपने-अपने क्षेत्र में कई स्वतन्त्र कार्य कर सकते हैं जिन पर किसी प्रकार का शिक्षा-विभाग प्रतिबन्ध नहीं लगाता। उदाहरणार्थ, ऊपर जो परामर्श दिए गए हैं, उनमें से कई बिना किसी रोक-टोक से क्रिया में परिणत किये जा सकते हैं, उन्हें करने में क्या आपत्ति है?

९. विश्वविद्यालय की शिक्षा

१८३५ में मैकाले ने लिखा था कि इस समय हमें ऐसे व्यक्तियों की आवश्यकता है जो शासकों तथा शासितों में दुभाषिये का काम कर सकें। ऐसे ही व्यक्ति पैदा करने में शिक्षा का सम्पूर्ण संगठन लगा हुआ था। १८५७ से पहले स्कूल और कालेज यह काम कर रहे थे, १८५७ में 'यूनिवर्सिटी एक्ट' पास किया गया जिसके अनुसार कलकत्ता, बम्बई तथा मद्रास के विश्व-विद्यालयों की स्थापना की गई और उन्होंने मैकाले का कार्य शुरू कर दिया।

प्रारम्भ में विश्वविद्यालय का काम परीक्षा लेना तथा भिन्न-भिन्न कालेजों को अपने साथ सम्बन्धित रखना था। धीरे-धीरे इस बात को अनुभव किया जाने लगा कि केवल परीक्षा लेने वाली संस्था पढ़ाने-लिखाने के क्रियात्मक क्षेत्र से सर्वथा कटी रहती है, अतः वास्तविकता से दूर रहती है। इस तथा अन्य दोषों को दूर करने के लिए १९०२ में 'युनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त किया गया जिसकी सिफ़ारिशों को क्रियान्वित करने के लिए १९०४ में 'इण्डियन युनिवर्सिटी एक्ट' पास किया गया जिसमें यह निश्चय किया गया कि विश्व-विद्यालयों का काम केवल परीक्षा लेना ही न होगा, वे पढ़ाने-लिखाने का भी काम करेंगे, अपने लेक्चरार, प्रोफ़ेसर रखेंगे, अपने पुस्तकालय तथा परीक्षण-शालाएँ बनायेंगे। अब तक सीनेट के सदस्यों की संख्या निश्चित न थी, वे जन्म-भर सदस्य रह सकते थे, सब सरकारी आदमी होते थे। इस एक्ट के अनुसार संख्या निश्चित कर दी गई, और सदस्यता का समय ५ वर्ष कर दिया गया। सिन्डीकेट के सदस्यों को अब तक कोई वैधानिक अधिकार न था, उन्हें भी वैधानिक अधिकार दे दिया गया। अब तक विश्व-विद्यालय अपने आधीन कालेजों का निरीक्षण भी नहीं कर सकते थे, इस एक्ट के अनुसार उन्हें निरीक्षण का अधिकार भी दिया गया। यह सब-कुछ इसलिए किया गया क्योंकि अब तक यह समझा जाता था कि शिक्षा का उद्देश्य पढ़ते-पढ़ते हर विद्यार्थी का विश्व-विद्यालय में भर्ती हो जाना है। इसी लिए तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विश्व-विद्यालयों के लिए शिक्षा के हर स्तर को देखना आवश्यक समझा गया। परन्तु अब दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। यह समझा जाने लगा है कि हर लड़के का विश्व-विद्यालय में आना ज़रूरी नहीं है, और इसी दृष्टि से माध्यमिक-शिक्षा पर विश्व-विद्यालय की देख-रेख रखने के बजाय उसे स्वतन्त्र बनाया जा रहा है।

१९१७ में भारत-सरकार ने 'कलकत्ता युनिवर्सिटी कमीशन' नियुक्त किया, इसके अध्यक्ष के नाम पर इसका नाम 'सैडलर-कमीशन' भी था। 'सैडलर-कमीशन' ने अनेक सिफ़ारिशें कीं जिनमें से मुख्य यह थी कि इस समय युनिवर्सिटी के ११–१२वीं के छात्रों की योग्यता स्कूल के विद्यार्थियों की-सी होती है, अतः ये कक्षाएँ कहने को तो युनिवर्सिटी की कक्षाएँ हैं, परन्तु वास्तव में स्कूल की ही हैं। इस उद्देश्य से उन्होंने सिफ़ारिश की कि इन दोनों को अलग-अलग करके 'इण्टर-मीजियेट' कालेजों की युनिवर्सिटी से अलग स्थापना की जाय। 'युनिवर्सिटियों' पर जो अनावश्यक बोझ रहता है वह भी इससे कम हो जायगा, और वे अपना काम करने में स्वतंत्र हो जाँयगी। मैट्रिक तथा इण्टरमीजियेट की पाठविधि बनाने तथा परीक्षा लेने का कार्य 'युनिवर्सिटी' को न करके 'बोर्ड ऑफ़ सेकण्डरी एण्ड इण्टरमीजियेट एज्यूकेशन' को करना चाहिए। यद्यपि यह कमीशन कलकत्ता युनिवर्सिटी से संबंध रखता था, तो भी 'सैडलर-कमीशन' की इन सिफ़ारिशों को अनेक प्रान्तों ने अपना कर उनके अनुसार पृथक् बोर्डों का निर्माण कर 'युनिवर्सिटियों' का बोझ हल्का कर दिया।

'युनिवर्सिटियाँ' दो प्रकार की हैं। एक तो ऐसी जो एक ही जगह के विद्यार्थियों को पढ़ाने का प्रबन्ध करती हैं, इन्हें 'यूनीटरी' (Unitary) कहा जाता है; दूसरी वे जिनमें पढ़ाने का प्रबन्ध तो होता ही है, परन्तु दूसरे कालेजों का भी उनके साथ सम्बन्ध होता है, इन्हें 'ऐफ़िलियेटिंग' (Affiliating) कहते हैं। अलीगढ़, अलाहाबाद, बनारस, ढाका, लखनऊ, दिल्ली, मैसूर, हैदराबाद, ट्रावनकोर के विश्व-विद्यालय 'यूनीटरी' हैं; आगरा, आन्ध्र, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, पटना, पंजाब, उत्कल तथा राजपूताना के विश्व-विद्यालय 'एफ़िलियेटिंग' हैं।

विश्वविद्यालय-शिक्षा पर राधाकृष्णन-कमीशन के सुधारात्मक विचार

भारत के स्वतन्त्र होने के बाद से भारतीय सरकार 'विश्व-विद्यालयों' की समस्याओं को नवीन दृष्टिकोण से हल करने में लगी हुई है, और इसलिए १९४८ में श्री राधाकृष्णन् की अध्यक्षता में एक 'युनिवर्सिटी कमीशन' बनाया गया। इसकी रिपोर्ट मार्च १९५० में प्रकाशित हुई। इस कमीशन की निम्न सिफ़ारिशें थीं :—

(१) इस कमीशन ने सिफ़ारिश की कि इण्टरमीजियेट कक्षा को हटा कर युनिवर्सिटी में बी० ए० का कोर्स तीन साल का कर दिया जाय।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हायर सेकण्डरी स्कूल का कोर्स ११ साल का हो। इण्टरमीजियेट कक्षा को हटा दिया जाय।

(२) अधिकांश विद्यार्थियों के लिए 'औद्योगिक तथा प्राविधिक' (Industrial and Technical) शिक्षा का प्रबंध किया जाय। ११वीं पास कर ज्यादातर लड़के इसी तरफ़ जाँय और सिर्फ़ वे विद्यार्थी विश्व-विद्यालयों में भर्ती हों जो उस शिक्षा से वास्तविक लाभ उठा सकें। इस प्रकार विश्व-विद्यालयों की अनावश्यक भीड़ कम हो जायगी और नियन्त्रण का प्रश्न भी बहुत-कुछ हल हो जायगा।

(३) भारतवर्ष ग्राम-प्रधान देश है। ग्रामों की परिस्थितियों के अनुकूल ग्राम-विश्व विद्यालयों (Rural universities) की स्थापना की जाय जिससे इनमें पढ़े हुए विद्यार्थी ग्रामीण-जीवन में भाग ले सकें, आजकल की तरह उससे सर्वथा कट न जाँय।

(४) विद्यार्थियों तथा अध्यापकों में आजकल निकट का कोई संबंध नहीं है। इसका मुख्य कारण विद्यार्थियों की संख्या का अधिक होना है। ट्यूटोरियल-पद्धति को जारी करके गुरु-शिष्य-संबंध को बढ़ाया जाय और हर कक्षा में विद्यार्थियों की संख्या कम करने का प्रयत्न किया जाय।

(५) कोर्स में पुस्तकें निश्चित करने के स्थान में विषय पर आधिपत्य प्राप्त करने की प्रेरणा विद्यार्थियों को दी जाय जिससे वे उस विषय पर अधिक-से-अधिक पुस्तकें पढ़ें। इससे उनमें आत्म-निर्भरता तथा नवस्फुरणा उत्पन्न होगी।

(६) अंग्रेज़ी साहित्य का विषय अनिवार्य न रहकर ऐच्छिक कर दिया जाय, परन्तु हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य हो।

(७) ब्रिटेन की 'युनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमेटी' की तरह अपने देश में भी एक 'युनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन' स्थापित किया जाय जिसका काम युनिवर्सिटियों की आवश्यकता की देख-रेख करना तथा उन्हें सहायता देना हो। अध्यापकों का वेतन बढ़ाया जाय।

राधाकृष्णन-कमीशन के ये सुझाव बड़े महत्वपूर्ण हैं और उनके अनुसार शिक्षा का सुधार होना ही चाहिए। 'युनिवर्सिटी ग्रान्ट्स कमीशन' की स्थापना सरकारी विज्ञप्ति के अनुसार दिसम्बर १९५४ में कर दी गई, नवम्बर १९५६ में वैधानिक तौर पर इसकी पार्लियामेंट के अधिनियम द्वारा स्वीकृति दे दी गई। धीरे-धीरे शिक्षा के अन्य क्षेत्रों में भी कमीशन की निर्दिष्ट दिशा में सुधार हो रहे हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. प्रौढ़ तथा सामाजिक शिक्षा*

(क) **प्रौढ़-शिक्षा**—प्रत्येक देश में अशिक्षितों की संख्या पर्याप्त रहती है। इन अशिक्षितों में बच्चे-बूढ़े, स्त्री-पुरुष सभी सम्मिलित हैं। अगर देश को शिक्षित करना है, तो निरक्षरता तथा अशिक्षा के हर पहलू पर आक्रमण करना होगा। बालकों की शिक्षा के लिए तो स्कूल-कालेज खोले जाते हैं, परन्तु बालक ही तो अशिक्षित नहीं हैं। प्रौढ़ लोग जो अशिक्षित हैं उनकी संख्या भी हर देश में काफ़ी होती है। इस कारण शिक्षा का आन्दोलन दो छोरों से चलता है। एक छोर से इस आन्दोलन द्वारा बच्चों को शिक्षित किया जाता है, दूसरे छोर से प्रौढ़ों तथा वृद्धों को शिक्षित किया जाता है। दूसरे छोर से शिक्षा के इस आन्दोलन को प्रौढ़-शिक्षा कहा जाता है।

१८वीं शताब्दी के अन्त में ब्रिटेन में तथा १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में अमरीका में 'प्रौढ़-शिक्षा' के प्रयत्न प्रारंभ हुए। डेनमार्क तथा स्विट्ज़रलैंड में भी इन परीक्षणों को किया गया। रूस में तो यह परीक्षण बड़े उत्साह से किया गया। चीन, ईरान, टर्की ने भी प्रौढ़ व्यक्तियों को पढ़ाना-लिखाना सिखाने के सराहनीय प्रयत्न किये।

भारत में जब चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में राज-सत्ता आयी तब अनेक प्रान्तों में 'प्रौढ़-शिक्षा' का आन्दोलन जारी किया गया। १९३७ में मोगा में 'प्रौढ़-शिक्षा सम्मेलन' बुलाया गया जिसमें अमरीका के डा० लाबेक ने अपने फ़िलिपाइन के परीक्षण के आधार पर इस देश में भी आन्दोलन खड़ा करने का प्रतिनिधियों को उत्साह दिया। इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप 'इंडियन एडल्ट एज्यूकेशन एसोसियेशन' की स्थापना हुई। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'हर पढ़ा एक और पढ़ाये' (Each one teach one) का आन्दोलन ज़ोर-शोर से चला। १९३८–३९ में सब प्रान्तों में मिलाकर ४,७३३ प्रौढ़-स्कूल खुल गये थे जिनमें १,४४,९८३ प्रौढ़ व्यक्ति शिक्षा पा रहे थे। भारत जैसे देश में जिसमें सिर्फ़ २३.७ प्रतिशत ही शिक्षित† हैं 'प्रौढ़-शिक्षा' के आन्दोलन से ही शीघ्र-से-शीघ्र निरक्षरता को दूर किया जा सकता है।

(ख) **सामाजिक-शिक्षा**—हमने अभी कहा कि भारत में जब पहले-पहल शासनाधिकार अपने लोगों के हाथ में आया था, तब १९३७ में साक्षरता आन्दोलन बड़े ज़ोर-शोर से चला। इस बीच द्वितीय विश्व-युद्ध आ पड़ा और प्रौढ़-शिक्षा आन्दोलन की प्रगति रुक गई। इसके बाद १९४६–४७ में यह आन्दोलन फिर से शुरू हुआ परन्तु तब यह आन्दोलन 'प्रौढ़-शिक्षा' (Adult education)

---

* **What is 'Social Education'? Review the steps being taken by the State government for its promotion. (1962)**

† INDIA—1962, पृष्ठ ७८।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का आन्दोलन न रह कर एक व्यापक रूप धारण कर चुका था, और इसका नाम 'प्रौढ़-शिक्षा' की जगह 'सामाजिक-शिक्षा' (Social education)—यह हो गया था। इस समय तक यह अनुभव किया जाने लगा था कि प्रौढ़ व्यक्तियों को केवल अक्षर सिखा देना ही काफ़ी नहीं है, अक्षराभ्यास के साथ-साथ उन्हें नागरिकता की अन्य बातें भी सिखाई जानी चाहियें जिससे प्रत्येक निरक्षर प्रौढ़-व्यक्ति अक्षर सीखने के साथ-साथ ही समाज का एक उत्तम अंग भी बन सके।

(ग) सामाजिक-शिक्षा के कार्यक्रम का व्यापक रूप—सामाजिक-शिक्षा केवल अक्षर सिखा देना नहीं है। १९४८ में सामाजिक-शिक्षा ने आन्दोलन का एक व्यापक रूप धारण कर लिया और इसमें निम्न ५ बातों का समावेश किया गया :

(i) साक्षरता का व्यापक प्रचार,
(ii) स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के नियमों की जानकारी,
(iii) आर्थिक-स्थिति के सुधार का यत्न,
(iv) नागरिकता के अधिकारों की जानकारी,
(v) मनोरंजन के साधनों का उपस्थित करना।*

इस प्रकार के पंच-सूत्री प्रोग्राम के कारण जो आन्दोलन १९३७ में 'प्रौढ़-शिक्षा' के रूप में शुरू हुआ था वह १९४८ में 'सामाजिक-शिक्षा' का व्यापक रूप धारण कर गया।

सामाजिक-शिक्षा के इस पंच-सूत्री प्रोग्राम को और अधिक व्यापक बनाने के लिए केन्द्रीय शिक्षा-मंत्री ने ३१ मई १९४८ ई० को एक प्रेस सम्मेलन बुला कर इसे द्वादश-सूत्री प्रोग्राम का रूप दे दिया। इस द्वादश-सूत्री प्रोग्राम को १९४९ में सरकार ने स्वीकार कर लिया और इस दिशा में कार्य शुरू कर दिया। यह द्वादश-सूत्री प्रोग्राम निम्न था :

(i) गाँव की पाठशाला सिर्फ़ बालकों के लिए शिक्षा का केन्द्र नहीं होगी, वह सामाजिक-शिक्षा का भी केन्द्र होगी। उसमें सर्व साधारण के लिए अक्षराभ्यास, मनोरंजन आदि का कार्य-क्रम होगा।
(ii) गांव की पाठशाला में बालकों, युवकों तथा प्रौढ़ों के लिए अलग-अलग समय होगा।
(iii) कुछ दिन हफ्ते में सिर्फ़ लड़कियों तथा स्त्रियों के लिए होंगे।

---

* "Social education implies an all-comprehensive programme of community uplift through community action. Social education, thus, comprises literacy, health, recreation and home life of adults, training in citizenship and guidance in improving economic efficiency."—*Third Five Year Plan* (p. 599)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(iv) प्रोजेक्टर और लाउड स्पीकर लगी मोटर गाँव-गाँव में प्रचार-कार्य करेंगी।

(v) रेडियो द्वारा प्रौढ़ों की समाज-शिक्षा के विशेष प्रोग्राम का प्रबन्ध होगा।

(vi) स्कूलों में जनता को निमन्त्रित करके शिक्षाप्रद नाटक खेले जायेंगे।

(vii) शिक्षाप्रद गाने-बजाने की व्यवस्था होगी।

(viii) किसी दस्तकारी की शिक्षा का प्रबन्ध होगा।

(ix) स्वास्थ्य, कृषि, गृहोद्योग, सहकारिता पर भाषण होंगे।

(x) अच्छे-अच्छे सिनेमा शो का प्रबन्ध किया जायगा।

(xi) सामूहिक खेल-कूद का आयोजन किया जायगा।

(xii) प्रदर्शिनी तथा मेलों की व्यवस्था की जायगी।

सामाजिक-शिक्षा की प्रक्रिया

(क) दिल्ली में—'सामाजिक-शिक्षा' का कार्य-क्रम भारत-सरकार की देख-रेख में दिल्ली राज्य में बहुत अच्छी तरह चल रहा है जिससे स्पष्ट होगा कि सामाजिक-कार्य की प्रक्रिया क्या है? दिल्ली राज्य में ३०५ गाँव हैं, ४८४ वर्गमील क्षेत्र है, और अशिक्षित व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त है। वहाँ की कार्य-प्रणाली इस प्रकार चलती है। पहले-पहल चार जीप-गाड़ियों का काफ़िला गाँव में आता है। एक गाड़ी पर स्टेज होती है, दूसरी में लायब्रेरी होती है, तीसरी में प्रदर्शिनी की कुछ वस्तुएँ होती हैं, चौथी में शिक्षा-फ़िल्म होती है। ये सब किसी केन्द्रीय गाँव में जाकर वहाँ मेला-सा लगा देते हैं। खेल-तमाशे होने लगते हैं, लोग यह सब देखने के लिए दूर-दूर से आने लगते हैं। इस काफ़िले का काम स्थानीय व्यक्तियों से संपर्क स्थापित करना तथा शिक्षा-संबंधी बातों के लिए गाँव वालों में दिलचस्पी पैदा कर देना है। यह सब कर लेने के बाद यह काफ़िला आगे निकल जाता है। इसके बाद २०–३० शिक्षक आकर ४ या ६ सप्ताह तक यहाँ रह कर 'सामाजिक-शिक्षा' का कार्य शुरू कर देते हैं। ये प्रौढ़ व्यक्तियों को अक्षराभ्यास कराते हैं, स्वास्थ्य तथा स्वच्छता के नियमों की उन्हें जानकारी देते हैं, उनसे नागरिकता की चर्चा करते हैं। जब ये २०–३० शिक्षक अपना काम समाप्त कर लेते हैं तब स्थानीय शिक्षक उनका काम संभाल लेते हैं। जीप-गाड़ियों का काफ़िला, उनके पीछे आनेवाले २०–३० शिक्षक इसी प्रकार आगे-आगे भिन्न-भिन्न गाँवों में अपना कार्य करते जाते हैं। केन्द्र की तरफ़ से दिल्ली राज्य में जो कार्य हो रहा है वैसा ही कार्य अन्य राज्यों की सरकारें अपने-अपने क्षेत्र चुन कर कर सकती हैं।

(ख) उत्तर प्रदेश में—उत्तर-प्रदेश में सामाजिक-शिक्षा के प्रसार के लिए प्रौढ़ों के लिए पुस्तकालय खोले गये हैं, वाचनालय खोले गये हैं, पुस्तकों का मुफ्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

वितरण किया जा रहा है, रात्रि-पाठशालाएँ खोली गईं, महिला-मंडलों की स्थापना की गई।

इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी सामाजिक-शिक्षा का कार्य चल रहा है।

सामाजिक शिक्षा की प्रगति

केन्द्रीय-सरकार की तरफ़ से* 'सामाजिक-शिक्षा' के क्षेत्र में कुछ कार्य हो रहे हैं जिनमें से कुछ का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जा रहा है :

(क) नव-शिक्षितों के लिए साहित्य का निर्माण—जैसा पहले कहा जा चुका है, अपने देश में १९५१ में कुल १६.६ प्रतिशत साक्षर थे, १९६१ में यह संख्या २३.७ प्रतिशत हुई। अगर 'प्रारंभिक-शिक्षा' निःशुल्क तथा अनिवार्य भी कर दी जाय, तो भी प्रौढ़-अशिक्षितों की वजह से शत-प्रतिशत जनता शिक्षित नहीं हो सकेगी। अगर प्रौढ़ों को साक्षर बना दिया जाय, तब तो साक्षरता की समस्या बहुत-कुछ हल हो जायगी। एक तरफ़ १४ वर्ष तक के बालक-बालिका शिक्षित होंगे, दूसरी तरफ़ प्रौढ़ शिक्षित होंगे। दोनों सिरों से शिक्षा के फैलने से जनता में शिक्षितों का प्रतिशत अपने-आप वेग से बढ़ेगा। इन प्रौढ़ों को कैसे शिक्षित किया जाय, इनके लिए किस प्रकार की पुस्तकें तैयार की जाँय—यही सब अनुसन्धान करने के लिए सरकार की सहायता से मार्च १९५६ में जामिया मिलिया इस्लामिया में दिल्ली में एक केन्द्र खोला गया जिसने नव-शिक्षितों के उपयोग के लिए नमूने की १२ पुस्तकें तैयार कीं। जून १९५७ में नव-शिक्षितों के लिए नमूने के इस साहित्य का निर्माण समाप्त हो गया जिस पर ४० हज़ार के लगभग व्यय हुआ।

(ख) प्रौढ़ शिक्षणालय खोलने की योजना—प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए शिक्षणालय खोलने की एक और योजना जुलाई १९५७ में **जामिया मिलिया इस्लामिया** के ही सहयोग से चलाई गई जिसका आधारभूत विचार यह था कि सामाजिक-शिक्षा को देश में सर्वव्यापी तथा सफल बना दिया जाय। इस योजना पर २,७४,००० व्यय किया गया और यह योजना ३ साल तक चली।

(ग) ज़िला-सामाजिक-शिक्षा-संयोजकों की नियुक्ति—प्रत्येक राज्य-सरकार का अपना-अपना शिक्षा-विभाग है। इस विभाग की तरफ़ से सामाजिक-शिक्षा का कार्य होता रहता है। इसी प्रकार 'सामुदायिक-योजना' की तरफ़ से भी सामाजिक-शिक्षा का कार्य चलता है। अभी तक इन दोनों विभागों का कार्य स्वतंत्र रूप से चलता था, और इन दोनों में कोई पारस्परिक सहयोग तथा संपर्क नहीं था। अब राज्य-सरकारों के शिक्षा-विभागों की तरफ़ से 'ज़िला-सामाजिक-शिक्षा-संयोजक' (District Social Education Organisers) नियुक्त कर दिये गये हैं, जिनका काम अपने ज़िले की संपूर्ण सामाजिक-शिक्षा

---

* Report of Ministry of Education and Scientific Research 1957—1958 के आधार पर।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की देख-रेख करना है, चाहे वह क्षेत्र 'सामुदायिक-योजना' के अन्तर्गत हो, चाहे न हो।

(घ) राष्ट्रीय मौलिक शिक्षा-केन्द्र—१५ मई १९५६ को शिक्षा-मंत्रालय के आधीन भारत-सरकार ने एक 'राष्ट्रीय मौलिक शिक्षा-केन्द्र' (National Fundamental Education Centre) की स्थापना की जिसका काम सामाजिक-शिक्षा के क्षेत्र में अनुसंधान, इसकी समस्याओं का अध्ययन, इस कार्य के लिए उपयोगी उपकरणों तथा साधनों को जुटाना तथा सामाजिक-शिक्षा-संबंधी विचारों में स्पष्टता लाना है। ज़िला-सामाजिक-शिक्षा-संयोजकों के प्रशिक्षण का कार्य भी इसी 'केन्द्र' द्वारा होता है। यह कार्य अप्रैल १९५८ से चालू हो चुका है।

(ङ) देश भर में पुस्तकालयों की व्यवस्था—यह प्रयत्न किया जा रहा है कि देश भर में पुस्तकालयों का ताँता बिछा दिया जाय जिससे हर व्यक्ति को उत्तम-उत्तम पुस्तकें हर जगह प्राप्त हो सकें। इस कार्य के लिए एक 'पुस्तकालय-सलाहकार-समिति' (Advisory Committee for Libraries) बनाई गई है।

(च) सामाजिक-शिक्षा का कार्य करने वाली ग़ैरसरकारी संस्थाओं को सहायता—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में स्वेच्छया सामाजिक-शिक्षा का कार्य करने वाली ग़ैर-सरकारी संस्थाओं को अनुदान देने की व्यवस्था की गई थी। इस मद में १९५७–५८ में ७.२ लाख तथा १९५८–५९ में ९ लाख रु० दिये जाने की व्यवस्था की गई थी। इस प्रकार के अनुदान का उद्देश्य सामाजिक-शिक्षा को प्रोत्साहित करना है।

(छ) श्रमियों के लिए सायंकालीन शिक्षा-केन्द्र—द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में ५ लाख रुपया इस योजना के लिए रखा गया था ताकि किसी बड़े शहर में जिसमें श्रमियों की संख्या बहुत अधिक हो, उन्हें शिक्षित करने के लिए संस्थाएँ खोली जाँय। इससे भी सामाजिक-शिक्षा बढ़ेगी। तृतीय-योजना में भी ऐसी व्यवस्था की गई है।

(ज) शहरी-क्षेत्रों में सामाजिक-शिक्षा—शहरी-क्षेत्रों में सामाजिक-शिक्षा की व्यवस्था करने के लिए द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में १५ लाख रुपया रखा गया था। १९५७–५८ में तो इस दिशा में कोई कार्य नहीं हो सका, परन्तु १९५८–५९ में यह कार्य शुरू हो गया और इस पर १०,०२,००० रु० व्यय किया गया। तृतीय-योजना में भी इस दिशा में कार्य हो रहा है।

(झ) नव-शिक्षितों के लिए सर्वोत्तम पुस्तकों पर पारितोषिक—१९५४ से नव-शिक्षितों के लिए लिखी गई सब भाषाओं की सर्वोत्तम पुस्तकों पर भारत-सरकार की तरफ़ से ३५ इनाम पाँच-पाँच सौ के और ५ इनाम हज़ार-हज़ार के दिये जा रहे हैं। इन पुस्तकों में से प्रत्येक पुस्तक की १,५०० प्रतियाँ सरकार खरीद कर सामुदायिक-योजना तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-क्षेत्रों में भेज देती है। प्रत्येक वर्ष ३० अप्रैल तक पुस्तकें मँगवाई जाती हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ञ) **बच्चों के लिए सर्वोत्तम पुस्तकों पर पारितोषिक**—देश की भिन्न-भिन्न भाषाओं में बच्चों के लिए उत्तम पुस्तकों के प्रकाशन को प्रोत्साहन देने के लिए शिक्षा-मंत्रालय की तरफ़ से पाँच-पाँच सौ रुपये के २२ या २३ पुरस्कार दिये जाते हैं। पुरस्कृत पुस्तकों की २,००० प्रतियाँ भारत-सरकार ख़रीद कर शिक्षा-केन्द्रों तथा बच्चों के पुस्तकालयों को बाँट देती है। प्रत्येक वर्ष ३१ अगस्त तक इस योजना के लिए पुस्तकें मँगवाई जाती हैं।

(ट) **साहित्यिक-कारख़ाना**—नव-शिक्षितों तथा बच्चों के लिए पुस्तकें लिखने के लिए शिक्षा-मंत्रालय 'साहित्यिक-कारख़ानों' (Literary work-shops) का समय-समय पर आयोजन करता रहता है जिसमें लेखकों को इस प्रकार के साहित्य के निर्माण के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। १९५७–५८ में इस प्रकार के कारख़ानों का आयोजन किया गया। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना-काल में प्रत्येक वर्ष नव-शिक्षितों तथा बालकों को साहित्य-निर्माण के प्रशिक्षण के लिए इस प्रकार के साहित्यिक-कारख़ानों का आयोजन किया जाता रहा।

(ठ) **ज्ञान-सरोवर का प्रकाशन**—१९५७–५८ में हिन्दी में ज्ञान-सरोवर नाम से ५ जिल्दों में **मकतब जामिया लिमिटेड** की तरफ़ से एक इनसाइक्लोपीडिया प्रकाशित किया जा रहा है। यह ग्रन्थ सामाजिक-शिक्षा के कार्य में बहुत उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा कहते हैं।

(ड) **नेशनल बुक ट्रस्ट**—१ अगस्त १९५७ को अच्छा तथा सस्ता साहित्य प्रकाशन करने के लिए शिक्षा-मंत्रालय की तरफ़ से 'नेशनल बुक ट्रस्ट' (National Book Trust) की स्थापना की गई। १९५७–५८ में इस मद में २ लाख और १९५८–५९ में ५ लाख का व्यय किया गया।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारत सरकार तथा शिक्षा-मंत्रालय 'सामाजिक-शिक्षा' की तरफ़ अनेक नवीन-नवीन योजनाओं से प्रगति कर रहा है।

११. ग्रामीण-शिक्षा*

भारत ग्राम-प्रधान देश है। इस देश की ४३ करोड़ ९० लाख जनता में से ३५.८५ करोड़ गाँवों में बसती है। यह सारी जनता का ८२.२ प्रतिशत है। इसलिए शिक्षा-संबंधी समस्या मुख्य तौर पर अपने देश की ग्रामीण समस्या है। जो भी शिक्षा के क्षेत्र में सुधार हों उनकी मुख्य दिशा ग्रामों में शिक्षा का प्रचार होना आवश्यक है।

(क) **शिक्षा का अभाव ग्रामीण समस्याओं का कारण है**—ग्रामों की ८२.२ जन-संख्या में बहुत थोड़ी जनता शिक्षित है, यही कारण है कि उनकी समस्याएँ दिनोंदिन जटिल होती जाती हैं। वे पढ़-लिख नहीं सकते इसलिए उन्हें

---

* **"Lack of education is the main cause of all rural problems in India." Discuss and suggest the pattern of education which you consider suitable for a rural population. (1958)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साहूकार अबतक ठगते रहे हैं, कहा कुछ और लिखा कुछ; अशिक्षा के कारण वे रोगों के शिकार हो जाते हैं, दवा-दारू करने के स्थान में जंतर-मंतर के चक्कर में पड़े रहते हैं; अशिक्षा के कारण वे अन्ध-विश्वासों के शिकार हो जाते हैं। भारत जैसे देश में जबतक गाँव नहीं जाग उठते तबतक शिक्षा के अभाव के कारण ग्रामीण समस्याएँ तो उठती ही रहेंगी, अशिक्षित गाँव अपने देश की भी सदा समस्या बने रहेंगे।

(ख) शिक्षा के अभाव में ग्रामीण समस्याएँ—अभी हमने कहा कि शिक्षा का अभाव ग्रामीण-समस्याओं का कारण है। कौन-सी समस्याएँ शिक्षा के अभाव के कारण ग्रामों में उत्पन्न हो गई हैं? वे समस्याएँ मुख्य तौर पर निम्न हैं :

(i) **ऋण-ग्रस्तता**—गाँव का हर-एक व्यक्ति ऋण के अथाह सागर में डूबा रहता है। अपने देश के साहूकार किसानों को कर्ज़ा दे-देकर सेठिया बने हैं। अब स्थिति बदलती जा रही है, परन्तु ऐसा समय था जब पुश्त-दर-पुश्त कर्ज़े चलते थे और हमारे कुछ किसान ऋण के कारण आयु-पर्यन्त दासता का जीवन व्यतीत करते थे।

(ii) **अन्धविश्वास**—अज्ञान के कारण गाँव के लोग अन्ध-विश्वास के शिकार होते हैं। आज के वैज्ञानिक-युग ने अन्धविश्वासों की जड़ खोखली कर दी है, परन्तु गाँवों में भूत-प्रेत, जंतर-मंतर का बोलबाला है। वहाँ डाक्टर की नहीं, ओझा की चलती है, पढ़े-लिखे अध्यापक की नहीं, पाधा की चलती है। इस सब का परिणाम यह है कि गाँववासी दिन-रात ठगे जाते हैं, धूर्तों के शिकार होते हैं। शिक्षा ही इसका एकमात्र इलाज है।

(iii) **अनुत्पादक कृषि**—गाँववासियों का मुख्य धंधा कृषि है, परन्तु कृषि-संबंधी नवीन आविष्कारों के न जानने के कारण वे पैदावार को नहीं बढ़ा पाते। गोबर को खाद की जगह इस्तेमाल करने के स्थान में उसके उपले बनाकर उससे ईंधन का काम लेते हैं। अच्छा बीज, नये औज़ार, वैज्ञानिक खाद—ये सब शिक्षा से ही संभव हैं।

(iv) **गन्दगी**—किसी गाँव में चले जाइये। सड़कें क्या हैं गन्दे पानी की नालियाँ हैं। जगह-जगह मक्खी-मच्छर दिखाई देते हैं। शिक्षा के अभाव के कारण वे इस नारकीय जीवन के लिए अभ्यस्त हो जाते हैं। जिनको साधारण-सी भी शिक्षा मिल जाती है वे प्रयत्न करके गाँव को स्वच्छ रखने का प्रयत्न करते हैं।

शिक्षा के अभाव में उत्पन्न होने वाली थोड़ी-बहुत समस्याओं का हमने निर्देश किया। समस्याएँ इनसे भी ज्यादा हैं। गाँव की फूट, मुकदमेबाज़ी, ग़रीबी, बेकारी आदि समस्याओं का हल शिक्षा के अलावा कुछ नहीं है। परन्तु प्रश्न यह है कि ग्रामीण शिक्षा कैसी हो, उसकी रूपरेखा क्या हो?

(ग) ग्रामीण-शिक्षा की रूप-रेखा—गाँव में बालक होते हैं, बड़े-बूढ़े भी होते हैं, इसलिए ग्रामीण-शिक्षा के भी दो रूप हैं। बालकों के लिए ग्रामों की शिक्षा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का रूप बेसिक-शिक्षा होना चाहिए, बड़े-बूढ़ों के लिए शिक्षा का रूप सामाजिक-शिक्षा होना चाहिए।

(i) **बच्चों के लिए बेसिक-शिक्षा**—अगर गाँव के बालकों को आजकल की-सी किताबी शिक्षा ही दी जाय तो उसका परिणाम यह होगा कि पढ़-लिख कर वे अपना पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चला आ रहा कृषि का धंधा छोड़कर बाबूगिरी करना पसन्द करेंगे। ऐसा देखा भी गया है। स्कूल-कालेजों में पढ़ने वाले किसानों के लड़के घर के कारबार के नहीं रहते। जहाँ शिक्षा का अभाव ग्रामीण-समस्याओं को उत्पन्न करता है, वहाँ सिर्फ़ किताबी शिक्षा गाँवों में एक दूसरी समस्या को उत्पन्न कर देती है। वे न घर के रहते हैं, न घाट के। इसका इलाज बेसिक-शिक्षा है जिसमें गाँव की कोई हस्त-कला, कृषि आदि को शिक्षा का केन्द्र बना कर शिक्षा दी जाती है। इससे बालक शिक्षित भी हो जाते हैं, अपने उद्योग-धंधे को भी नहीं छोड़ते।

(ii) **बड़े-बूढ़ों के लिए सामाजिक-शिक्षा**—ग्रामीण-शिक्षा में जहाँ बच्चों के लिए बेसिक-शिक्षा उपयोगी है वहाँ बड़े-बूढ़ों, प्रौढ़ों के लिए सामाजिक-शिक्षा उपयोगी है। उनके लिए रात्रि पाठशालाएँ खोलना, उन्हें अक्षराभ्यास सिखाना, स्वास्थ्य के नियम बतलाना, नागरिकता के अधिकारों का ज्ञान कराना—ये सब, जिनका हम ऊपर उल्लेख कर आये हैं, सामाजिक-शिक्षा के अंग हैं। इन के द्वारा प्रौढ़ों को शिक्षित करने से ग्रामीण-समस्याओं का हल हो सकता है।

प्रश्न

१. वर्तमान शिक्षा-पद्धति के दोषों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। उच्चतर माध्यमिक शिक्षा को सुधारने की उत्तर-प्रदेश सरकार की वर्तमान योजना का संक्षिप्त विवरण दीजिये। (१९५१)

२. आप के प्रान्त में प्रचलित ग्रामीण-शिक्षा पर अपनी सम्मति दीजिये। क्या आप जिला बोर्डों को ग्रामीण-शिक्षा का कार्य सौंपने की वर्तमान-पद्धति को सन्तोषजनक समझते हैं? इसके कारण बतलाइये। (१९५३)

३. 'बेसिक-शिक्षा' से आप क्या समझते हैं? बेसिक स्कूलों की भूमि-संबंधी कठिनाइयों को हल करने के लिये योजना-कमीशन ने क्या सुझाव दिये हैं? (१९५६)

४- इस कथन की विवेचना कीजिये—"शिक्षा सामाजिक जीवन के लिये आवश्यक है।" (१९५७)

५. "शिक्षा का अभाव भारत में सब ग्रामीण समस्याओं का कारण है।"—इस कथन की विवेचना कीजिये तथा ग्रामीण जनता के लिये शिक्षा-प्रणाली के विषय में अपने सुझाव दीजिये। (१९५८)

६. बुनियादी शिक्षा पर एक छोटा-सा निबन्ध लिखिये।
(१९५९, १९६१, १९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७. हमारी वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये और सुधार के सुझाव दीजिये। (१९६१)

८. 'सामाजिक-शिक्षा' क्या है? राज्य-सरकार इसके प्रोत्साहन के लिये क्या कर रही है? (१९६२)

९. बुनियादी-शिक्षा के विचार को स्पष्ट कीजिये और भारत में इसकी प्रगति पर प्रकाश डालिये। (१९६३)

१०. लार्ड मैकाले का भारतीय-शिक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा?

११. ब्रिटिश-काल में शिक्षा में किस-किस समय क्या-क्या सुधार हुए?

१२. मुदलियार-कमीशन ने माध्यमिक-शिक्षा के सुधार के संबंध में क्या सुझाव दिये?

१३. राधाकृष्णन-कमीशन ने विश्वविद्यालय-शिक्षा के सुधार के संबंध में क्या सुझाव दिये?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

११

भारत की निर्धनता—कारण तथा निवारण

(POVERTY—CAUSES AND CURES)

१. 'निर्धनता किसे कहते हैं ?

कोई समय था जब 'धन' का सिक्के के रूप में आविष्कार नहीं हुआ था। लोग 'वस्तुओं' से आदान-प्रदान कर लेते थे। किसी ने अनाज बोया, किसी ने कपास बोई। दोनों अपनी ज़रूरतों के अनुसार 'वस्तु-विनिमय' (Barter system) द्वारा काम चलाते थे। ज़रूरत के वक्त के लिए कुछ जमा भी कर छोड़ते थे, परन्तु इन चीज़ों को बहुत अधिक नहीं जोड़ा जा सकता था। प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी "विनिमय-शक्ति' (Exchange Power) पर आश्रित था। जो चीज़ जीवन के लिए बहुत ज़रूरी थी, जिसके बिना काम नहीं चल सकता था, जिसके उत्पादन में बहुत अधिक श्रम खर्च होता था, उसकी 'विनिमय-

---

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. "While nature showered her bounties on India with a liberal hand, man has failed to profit adequately by them. The contrast between the bounties of nature and poverty of man is here very striking." Discuss this statement and state what measures the Government should take to remove poverty from India. (1951)

2. "Our population lies at the root of Indian poverty." Examine this statement and give reasons for your answer. (1954)

3. What measures would you suggest to remove Indian poverty? (1955)

4. Do you agree with the view that our population is the cause of Indian poverty? (1956)

5. Define 'Poverty'. How are poverty and malnutrition related? (1957)

6. Do you agree with the view that Indian poverty is a result of over-population? (1958)

7. Enumerate briefly the chief causes of Indian poverty and also the measures taken by the Government to eradicate it. (1960)

8. Analyse briefly the causes of poverty in India. (1961)

9. Discuss the main causes of poverty and beggary in India. Suggest measures for their eradication. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शक्ति' दूसरी वस्तुओं से अधिक समझी जाती थी। युरोप में 'सामन्त-पद्धति' (Feudal system) के समय तक यही अवस्था थी। परन्तु उसके बाद 'पूँजीवाद' (Capitalism) का युग आया। कृषि-सभ्यता से मनुष्य ने मशीन-सभ्यता में प्रवेश किया। कृषि की सभ्यता में तो 'वस्तुओं के विनिमय' (Barter system) से काम चलता था, मशीन-सभ्यता में 'सिक्के के विनिमय' (Coin system) से काम चलने लगा। अनाज को देर तक रख सकना कठिन था, उसमें घुन लग सकता था, परन्तु 'वस्तु' की जगह जब 'सिक्का' विनिमय का साधन बन गया, तब सिक्के को संभाल कर रख सकना आसान हो गया। अनाज अथवा किसी वस्तु को कुछ लोग संभाल कर रख सकते थे, कुछ नहीं रख सकते थे। जो रख सकते थे, वे सम्पन्न कहलाते थे, जो नहीं रख सकते थे, वे असम्पन्न कहलाते थे। परन्तु यह भेद बहुत अधिक नहीं था क्योंकि अनाज, कपास आदि को देर तक संभाल कर नहीं रखा जा सकता था। पूँजीवादी-युग में जब 'वस्तु' की जगह 'सिक्का' आया, तब सिक्के को जोड़ने की प्रवृत्ति बहुत बढ़ी। सम्पन्न-असम्पन्न की जगह धनी-निर्धन—ये दो वर्ग उत्पन्न हो गए। धनी वे थे जो यन्त्रों द्वारा उत्पादन करके या व्यापार आदि द्वारा बहुत अधिक सिक्का जमा कर सकते थे; निर्धन वे थे जो इतना सिक्का नहीं जमा कर सकते थे।

परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि पूँजीवादी-व्यवस्था में निर्धन के पास सिक्का होता ही नहीं। धनी-निर्धन तो सापेक्षिक शब्द हैं। जिसे हम धनी कहते हैं, अगर उसकी दूसरे से तुलना की जाय, तो उसे हम निर्धन कहेंगे; जिसे हम निर्धन कहते हैं, वह किसी अन्य की अपेक्षा धनी होता है। तो फिर 'निर्धनता' किसे कहते हैं? 'निर्धनता' मनुष्य की उस अवस्था का नाम है, जिसमें आमदनी की कमी या फ़िजूलखर्ची से, वह अपनी और अपने आश्रितों की भौतिक तथा मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने के अपने उस स्तर को कायम नहीं रख सकता जिस स्तर की समाज के अन्य लोग उससे आशा रखते हैं। अपनी दृष्टि में तो हर-एक अपने को निर्धन समझता है और कितना ही पैसे वाला क्यों न हो दिन-रात पैसे के लिए हाय-हाय किया करता है। निर्धनता की असली परख यह है कि दूसरे भी यह समझें कि जीवन का जो स्तर इसका होना चाहिए, वह नहीं है। हर-एक देश का अपना-अपना स्तर है, अपनी-अपनी वह रेखा है जिससे ऊपर के लोग धनी गिने जाते हैं, जिससे नीचे के लोग निर्धन गिने जाते हैं। अमरीका के स्तर के अनुसार जिसे निर्धन कहा जायगा, भारत के स्तर के अनुसार उसे धनी कहा जायगा, भारत के स्तर के अनुसार जिसे धनी कहा जायगा, अमरीका के स्तर के अनुसार उसे निर्धन कहा जायगा। अमरीका में मज़दूर एक हज़ार रुपया कमाता है, मोटर रखता है, भारत में सरकारी अफ़सर को भी ये सब-कुछ मयस्सर नहीं होता, परन्तु हमारे देश का सरकारी अफ़सर धनी कहलाता है, अमरीका का मज़दूर निर्धन नहीं तो धनी भी नहीं कहलाता। हम जब भारत में 'निर्धनता'-शब्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का प्रयोग करते हैं, तब यहाँ की परिस्थितियों के अनुसार ही इस शब्द का प्रयोग होता है।

२. निर्धनता की परिभाषा

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उसके अनुसार 'निर्धनता' की निम्न परिभाषाएँ की जा सकती हैं :*

[क] **गिलिन और गिलिन की परिभाषा**—"निर्धनता उस दशा का नाम है जिसमें व्यक्ति अपर्याप्त आय अथवा विवेकहीन व्यय के कारण अपने जीवन-स्तर को इतना ऊँचा नहीं रख पाता जिससे उसकी शारीरिक तथा मानसिक कार्य-क्षमता बनी रहे और जिसमें वह अपने को तथा अपने आश्रितों को उस समाज के स्तर के अनुसार, जिसका वह सदस्य है, उपयोगी तथा कार्य-क्षम नहीं बना पाता।"

[ख] **गोडार्ड की परिभाषा**—"निर्धनता उन वस्तुओं की अपर्याप्त पूर्ति का नाम है जो किसी व्यक्ति को अपने तथा अपने आश्रितों को स्वस्थ तथा सशक्त रखने के लिए आवश्यक हैं।"

[ग] **एडम स्मिथ की परिभाषा**—"मनुष्य उसी अंश तक धनी या निर्धन है जिस अंश तक वह जीवन की आवश्यक वस्तुएँ, सुविधाएँ तथा मनोरंजन की सामग्री प्राप्त कर सकता है।"

हमने 'निर्धनता' के विषय में जो-कुछ लिखा, और इन परिभाषाओं को ध्यान में रखते हुए हम कह सकते हैं कि 'निर्धनता' को समझने के लिए निम्न बातों को ध्यान में रखना आवश्यक है :

(क) व्यक्ति की आय क्या है ?

(ख) व्यक्ति पर आश्रित सदस्यों की संख्या क्या है ?

(ग) जिस स्थान पर वह रहता है वहाँ का जीवन-स्तर क्या है ?

(घ) अपनी नहीं, परन्तु दूसरों की दृष्टि में वह वहाँ के जीवन-स्तर पर है, उसके ऊपर है या नीचे है ?

(ङ) धनी-निर्धन सापेक्ष शब्द हैं।

---

* **Define 'Poverty'. (1957)**

[क] "Poverty is that condition in which a person, either because of inadequate income or unwise expenditure, does not maintain a scale of living high enough to provide for his physical and mental efficiency and to enable him and his natural dependents to function usefully according to the standards of society of which he is a member."—*Gillin and Gillin.*

[ख] "Poverty is insufficient supply of those things which are required for an individual to maintain himself and those dependent upon him in health and vigour.—*Goddard.*

[ग] "Man is rich or poor according to the degree in which he can afford to enjoy the necessaries, the conveniences and the amusements of life."—*Adam Smith.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'निर्धनता' किसी भी देश के लिए बुरी चीज़ है। जो देश निर्धन होगा वहाँ सुरक्षा क्या हो सकेगी, कल्याण क्या हो सकेगा? निर्धन देश के लोगों के पास न खाने को पर्याप्त अन्न होता है, न पहनने को कपड़े, न रहने को मकान। वहाँ बीमारी के साथ रोग भी घर कर लेते हैं। पूरा खाना न मिलने से जीवनी-शक्ति नहीं रहती और रोग के ज़रा-से आक्रमण से लेट जाना पड़ता है। प्रत्येक देश, जो अपने समाज का कल्याण करना चाहता है, पहले-पहल 'निर्धनता' से जूझता है, और 'राष्ट्रीय-आय' (National income या National dividend) को बढ़ाने का प्रयत्न करता है। जिस देश की 'राष्ट्रीय-आय' बढ़ी हुई होती है वह धनी देश है, उस देश के निवासी खाने-पहनने-कपड़े पर, आत्मोन्नति पर ख़र्च कर सकते हैं, और वह देश 'समाज-कल्याण' के कार्य में भी ख़ूब रुपया ख़र्च कर सकता है।

३. 'राष्ट्रीय-आय' व्यक्ति की आय का माप-दंड नहीं है

मोटे तौर पर तो यही जान पड़ता है कि अगर 'राष्ट्रीय-आय' बढ़ेगी, तो प्रत्येक व्यक्ति की आय भी बढ़ेगी, परन्तु ऐसा होता नहीं है। यह हो सकता है कि एक राष्ट्र में कुछ थोड़े-से अमीर बहुत ज्यादा अमीर हो जाँय, इतने अमीर हो जाँय कि राष्ट्र की औसतन-आय पहले से बहुत बढ़ जाय, लेकिन साथ ही उस राष्ट्र की आय बढ़ जाने पर भी ग़रीबों की संख्या भी घटने के स्थान में बढ़ जाय। कुछ लोगों के अमीर हो जाने से राष्ट्र की आय तो बढ़ी हुई ही मानी जायगी, परन्तु प्रति-व्यक्ति आय बढ़ी हुई नहीं मानी जायगी। पिछले दिनों अपने देश में ऐसा ही हुआ। पंच-वर्षीय-योजना से राष्ट्र की आय तो बढ़ी, परन्तु साथ ही बेकारों की संख्या भी बढ़ी। अगर किसी राष्ट्र की औसतन-आय घट रही है, तब तो उसके लिए चिन्ता का विषय है ही, परन्तु अगर राष्ट्र की आय बढ़ रही है, तब भी उसे दो बातों पर अवश्य ध्यान देना होगा, नहीं तो राष्ट्र की आय बढ़ने पर भी प्रति-व्यक्ति आय घट सकती है। ये दो बातें हैं :—

(क) राष्ट्रीय-आय बढ़ने के साथ-साथ वितरण असमान न हो—पहली बात तो यह है कि कहीं राष्ट्र में धनी-वर्ग की बढ़ती के साथ-साथ निर्धन वर्ग भी तो नहीं बढ़ रहा? कहीं ऐसा तो नहीं हो रहा कि कुछ लोग ज्यादा अमीर होते जा रहे हैं, और उसके साथ-साथ कुछ लोग ज्यादा ग़रीब भी होते जा रहे हैं। 'उत्पादन' (Production) की वृद्धि से राष्ट्र की आय बढ़ती है, परन्तु अगर 'वितरण' (Distribution) ठीक नहीं, तो 'उत्पादन' तो बढ़ता जायगा, राष्ट्र की आय भी बढ़ती जायगी, परन्तु 'वितरण की असमानता' के कारण प्रति-व्यक्ति आय घटती जायगी, और प्रति-व्यक्ति आय घटने से निर्धनता बढ़ती जायगी।

(ख) व्यक्ति की आय बढ़ने के साथ-साथ वस्तुओं के दाम न बढ़ें—दूसरी ध्यान देने की बात यह है कि देखने को तो प्रति-व्यक्ति आय भी बढ़ती हुई नज़र आये, परन्तु चीज़ों के दाम भी उसी अनुपात में बढ़ रहे हों, और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'राष्ट्रीय-आय' की वृद्धि बेकार साबित हो जाय। यह हो सकता है कि मज़दूर की मज़दूरी पहले से दुगुनी-तिगुनी हो जाय, परन्तु खाने की चीज़ों का और कपड़े का दाम पहले से चार गुना हो जाय। ऐसी हालत में आँकड़ों में पहले से ज्यादा अमीर होने पर भी असल में देश तथा व्यक्ति पहले से ग़रीब होगा। गत महायुद्ध के बाद लगभग ऐसी ही स्थिति अपने देश के मध्य-वर्ग के सामने उपस्थित हो गई। मज़दूर को पौने-दो रुपया मज़दूरी मिलने लगी, परन्तु हर वस्तु का भाव पहले से चार-पाँच गुना हो गया। परिणाम यह हुआ कि पहले से ज्यादा मज़दूरी मिलने पर भी मज़दूर की आर्थिक-स्थिति पहले से गिर गई।

हमारा लक्ष्य सिर्फ़ 'राष्ट्रीय-आय' बढ़ाना नहीं है। हमारा लक्ष्य 'राष्ट्रीय-आय' के साथ-साथ प्रति-व्यक्ति की आय बढ़ाना भी है, आय का जो असमान-वितरण है उसे दूर करना है, कुछ-एक के नहीं, हर-एक के जीवन-स्तर को ऊँचा करना है, इतना उत्पादन कर देना और उसका इस प्रकार सम-वितरण कर देना है जिससे हर-किसी का कल्याण हो सके। इसी का नाम 'साम्यवादी-समाज' है जिसमें निर्धनता का लोप हो सकता है।

४. भारत की निर्धनता का रूप

भारत संसार का सब से निर्धन देश है। पौष्टिक भोजन की तो बात दूर रही, दाने-दाने को सही अर्थों में तरसने वाले व्यक्ति—जिनके तन-बदन पर कपड़ा नहीं, रहने को झोंपड़ी तक नहीं, सड़क पर रात बिता देते हैं, बीमारी हुई तो मर जाने के सिवाय छुटकारा नहीं—इसी देश में पाये जाते हैं।

(क) प्रति-व्यक्ति आय सब देशों से कम—अमरीका में प्रति व्यक्ति आय ७,२६५, इंग्लैंड में ३,८६५, जर्मनी में १,६००, रूस में १,५३०, जापान में ५०० रुपया प्रतिवर्ष है। इनकी तुलना में भारत में प्रति व्यक्ति आय प्रति वर्ष १९६०–६१ में ३२९ रुपया ही थी। इसका अभिप्राय यह है कि हमारे देश में प्रति-व्यक्ति २४ रुपया के लगभग मासिक आमदनी है। यह आमदनी तब है जब लाखों-करोड़ों रुपया कमाने वाले पूँजीपतियों की आमदनी को इसमें शामिल कर लिया गया है। अगर उस आमदनी को इसमें से निकाल कर सिर्फ़ मध्यम-वर्ग की आमदनी का हिसाब लगाया जाय, तो वह तो बहुत ही कम बैठती है। १९५०–५१ में भारत सरकार ने कृषि तथा मज़दूरी करने वाले वर्ग की आमदनी की जाँच करने के लिए जो कमेटी बनाई थी उसके अनुसार इस वर्ग की औसत आय सिर्फ़ १०४ रुपए वार्षिक या ८$\frac{2}{3}$ रुपये मासिक के लगभग बैठती थी। इतनी आय से किसका गुज़र हो सकता है?

(ख) पौष्टिक-भोजन का अभाव—जिस देश में मध्यम-वर्ग की औसतन आय ८$\frac{2}{3}$ रुपया मासिक हो उस देश के लोगों को पौष्टिक-भोजन कैसे मिल सकता है? स्वास्थ्य की दृष्टि से एक युवक को भोजन में से ३,००० कैलोरी मिलनी चाहियें, जबकि सर्व-साधारण के भोजन में से उसे १,८०० कैलोरी ही मिलती हैं। यह अवस्था देश की निर्धनता के कारण है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) **आय का असमान वितरण**—कहने को देश में करोड़पति भी हैं, परन्तु करोड़पतियों से देश के धनी-निर्धन होने को नहीं मापा जा सकता। राष्ट्रीय-आय १९४८–४९ में ८,६५० करोड़ थी, १९६१–६२ में १३,०२० करोड़ हो गई, परन्तु इससे देश धनी नहीं हो गया।* राष्ट्रीय-आय जो बढ़ी, उसका मुख्य भाग पूँजीपतियों की जेब में गया, मध्यम तथा निम्न वर्ग जैसे-का-तैसा रहा। उदाहरणार्थ, अगर राष्ट्रीय-आय १०० रुपया हो और वह १०० व्यक्तियों में बँटनी हो, तो इसमें से ३३ रुपया १ पूँजीपति की जेब में जायगा, ३३ रुपया ३३ मध्यम-वर्ग के लोगों में जायगा, बाकी ३४ रुपया ६६ निम्न वर्ग में बँटेगा। इस प्रकार १ पूँजीपति को १०० में से ३३ रुपया, निम्न-वर्ग के ३३ व्यक्तियों को प्रति व्यक्ति १ रुपया, निम्न वर्ग के ६६ व्यक्तियों को आठ आना प्रति व्यक्ति मिलेगा। यह सिर्फ़ उदाहरण है असमान वितरण को समझाने के लिए। इस प्रकार के असमान वितरण से देश का निर्धन होना अवश्यंभावी है।

हमने देखा, भारत की निर्धनता का क्या रूप है। अब यह देखना है कि इस घनघोर निर्धनता का कारण क्या है?

५. भारत की निर्धनता के कारण

भारत अत्यन्त निर्धन देश है—इसमें किसी को सन्देह नहीं। इस निर्धनता को मुख्य तौर पर चार भागों में बाँटा जा सकता है :

(क) वैयक्तिक कारण (शारीरिक रोग, मानसिक रोग, दुर्घटनाएँ, अनैतिक आचरण आदि)।

(ख) सामाजिक कारण (सामाजिक कुरीतियाँ, संयुक्त परिवार, शिक्षा का अभाव, स्त्रियों की दशा, युद्ध, जन-संख्या आदि)।

(ग) जन-संख्या की सीमातीत वृद्धि।

(घ) आर्थिक कारण (पूँजी, अनुत्पादक संचय, प्राथमिक उद्योग, कार्य-क्षमता की कमी आदि)।

(ङ) राजनीतिक कारण (आर्थिक नीति, युद्ध आदि)।

[भारत की निर्धनता के वैयक्तिक कारण]

(क) **शारीरिक-रोग**—श्रीयुत् हंटर £ ने अपनी पुस्तक 'पौवर्टी' में लिखा है कि निर्धनता तथा शारीरक-रोग एक-दूसरे के साथ हिस्सेदारी बना लेते हैं। निर्धनता शारीरिक आधि-व्याधि को जन्म देती है, शारीरिक आधि-व्याधि

---

* INDIA—1963, पृ० १४५।

† **1. Analyse briefly the causes of poverty in India.** **(1960, 1961)**

2. Discuss the main causes of poverty and beggary in India. Suggest measures for their eradication. **(1964)**

£ "Poverty and sickness form a vicious partnership each helping the other to add to the miseries of the most unfortunate of mankind."—*Hunter*.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निर्धनता को जन्म देती है। निर्धन व्यक्ति पौष्टिक-भोजन नहीं ले सकता, पौष्टिक-भोजन न लेने से अनेक रोग उसे जकड़ लेते हैं; रोगी होने से वह काम नहीं कर सकता, काम न करने से निर्धनता के सिवाय कोई चारा नहीं रहता। भारत में जैसा हम पहले कह आये हैं, प्रत्येक व्यक्ति भोजन से कठिनता से १८००–२००० कैलोरी ले पाता है जब कि एक स्वस्थ मनुष्य को ३,००० कैलोरी की आवश्यकता है। इस प्रकार अपने देश के अस्वस्थ व्यक्तियों के सम्मुख निर्धनता दिन-रात सिर ऊँचा किये खड़ी रहती है।

(ख) **मानसिक-रोग**—शारीरिक-रोग के अतिरिक्त मानसिक-रोग भी मनुष्य को काम करने लायक नहीं रहने देते। पहले तो मानसिक-रोगी काम न कर सकने के कारण निर्धन हो जाता है, दूसरे जो बचा-खुचा होता है, उसे इलाज में फूंक कर नंगा हो जाता है। भारत में ८ लाख के लगभग मानसिक रोगी हैं। इन सब के परिवार निर्धनता की परेशानियों में जकड़े रहते हैं।

(ग) **दुर्घटनाएँ**—दुर्घटना से मनुष्य काम करने के योग्य नहीं रहता, काम न करने से वह निर्धन हो जाता है। दुर्घटनाएँ आये-दिन हुआ करती हैं। साइकल-सवार सड़क के एक तरफ़ न चल कर ऐन सड़क के बीच चलते हैं, और अपनी जान की पर्वाह न कर मोटरों से टक्कर लेते हैं। ट्रक-ड्राइवर नशे में अंधा-धुंध ट्रक चलाते हैं और कभी-कभी पटरियों पर सो रहों को कुचल देते हैं। सड़क पर कैसे चलें—इसकी किसी को सुध नहीं, सब एक-दूसरे से अंधों की तरह टकराते और ज़ख्मी होते हैं। कल-कारखानों में किसी का हाथ कट जाता है, किसी की टाँग, कोई मशीन की लपेट में आकर यम-लोक का रास्ता पकड़ता है। कदम-कदम पर जहाँ दुर्घटनाएँ हो रही हों, वहाँ निर्धनता अपना नंगा नाच नहीं रचेगी, तो क्या होगा ?

(घ) **अनैतिक-आचरण**—ऊपर हमने जो बातें लिखीं, उन पर तो अपना बस उतना नहीं होता, परन्तु अपने आचरण पर तो मनुष्य का अपना बस है। लोग दुराचरण का जीवन बिता कर अपने-आप निर्धन होते हैं। शराब, जूआ, व्यभिचार में सारी संपत्ति फूंक कर मनुष्य स्वयं निर्धन हो जाता है।

[भारत की निर्धनता के सामाजिक कारण]

(क) **सामाजिक कुरीतियाँ**—हमारे देश की निर्धनता का एक बड़ा कारण सामाजिक कुरीतियाँ हैं। उदाहरणार्थ, ब्याह-शादी पर अपनी शक्ति से अधिक व्यय करना, शक्ति से अधिक दहेज़ देना, वृद्ध-मृतक के नाम पर सारे गाँव को भोज देना—इन सब कुरीतियों के कारण लोग कर्ज़दार हो जाते हैं, ब्याज-पर-ब्याज देते हैं, निर्धनता का कष्ट भोगते हैं।

(ख) **संयुक्त-परिवार प्रथा**—वैसे तो अब संयुक्त-परिवार टूटते जा रहे हैं, परन्तु अभी पर्याप्त मात्रा में बचे हुए हैं। संयुक्त-परिवार में सब कोई नहीं कमाता, जो कमाता है वही सब को खिलाता है। परिणाम यह होता है कि थोड़े कमानेवालों के कारण सारा परिवार निर्धनता का जीवन व्यतीत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करता है। थोड़े-से लोग जो कमाते हैं उन पर ज़रूरत से ज़्यादा बोझ पड़ जाने के कारण वे अस्वस्थ हो जाते हैं और कुछ समय बाद वे भी कमाने लायक नहीं रहते।

(ग) तकनीकी तथा औद्योगिक शिक्षा का अभाव—देश में पहले ही शिक्षा का अभाव है, उस पर जिस शिक्षा से अर्थ-प्राप्ति हो सकती है वह तकनीकी तथा औद्योगिक शिक्षा न के बराबर है। वर्तमान-युग कल-कारखानों का, उद्योगों का युग है। इस युग में धन कमाने के लिए कलम घिसने से धन नहीं आता, वह आता है कल-कारखानों से, उद्योग-धंधों से। उस शिक्षा की देश में कमी है।

(घ) स्त्रियों की अर्थोपार्जन के लिए अयोग्यता—देश में अगर आधे पुरुष तो आधी स्त्रियाँ भी हैं। युरोप में तो स्त्रियाँ अर्थोपार्जन में पुरुषों का हाथ बँटाती हैं, परन्तु अपने देश में समझा जाता है कि अर्थोपार्जन, सिर्फ़ पुरुष का काम है। इसका परिणाम यह होता है कि देश की आधी जन-संख्या कमाती है, आधी घर बैठी खाती है। देश के आधे हिस्से का अर्थोपार्जन में हाथ न बँटाना भी देश की निर्धनता का एक सामाजिक कारण है।

(ङ) युद्ध—युद्ध के समय देश के युवक मारे जाते हैं, वृद्ध, स्त्रियाँ, बच्चे, अपाहिज बच रहते हैं क्योंकि इन्हें मैदान में आगे कोई नहीं करता। युवकों के मारे जाने के कारण धन कमाने वालों की समाज में कमी हो जाती है, परिवार निर्धन हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त युद्ध के समय वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं, कमाई उतनी नहीं होती, सिर्फ़ ठेकेदार जेबें गर्म करते हैं, साधारण जनता निर्धनता में डूब जाती है, जीवन-स्तर गिर जाता है, देश की सारी आर्थिक-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जाती है।

[भारत की निर्धनता का कारण—जन-संख्या की वृद्धि]*

वैसे तो भारत की निर्धनता के सामाजिक कारणों में से ही एक कारण इस देश की जन-संख्या का निरंतर बढ़ते जाना है, परन्तु क्योंकि यह कारण अन्य कारणों से अधिक महत्वपूर्ण है इसलिए हम इसकी स्वतंत्र कारण के रूप में विवेचना करेंगे।

(क) जन-संख्या की वृद्धि का रूप तथा उसके कारण निर्धनता—इसमें सन्देह नहीं कि भारत की जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। किस प्रकार बढ़ रही है वह निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा :

गणना का वर्ष	जन-संख्या
१८५०	१० करोड़
१९०१	२३ करोड़ ५५ लाख
१९११	२४ करोड़ ९० लाख

---

* **Do you agree with the view that Indian poverty is a result of over-population? (1954, 1956, 1958)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६२१	२४ करोड़ ८१ लाख
१६३१	२७ करोड़ ५५ लाख
१६४१	३१ करोड़ ४८ लाख
१६५१	३६ करोड़ १८ लाख
१६६१	४३ करोड़ ६० लाख

जन-संख्या की वृद्धि का अनुपात अपने देश में १.२५ प्रतिशत प्रतिवर्ष है। इसका अर्थ यह है कि इस देश में हर वर्ष ६० लाख व्यक्ति बढ़ जाते हैं। १६४७ के बाद जब देश का विभाजन हुआ, हिन्दुस्तान तथा पाकिस्तान बन गये, तब से ज़मीन जन-संख्या के अनुपात में बढ़ने के बजाय सिकुड़ गई। पाकिस्तान के लोग भी हिन्दुस्तान चले आये, ज़मीन हिन्दुस्तान की पाकिस्तान चली गई। ऐसी हालत में हमारी ज़मीन हमारी बढ़ी हुई जन-संख्या का पालन नहीं कर पा रही इसलिए देश की निर्धनता बढ़ती जा रही है।

(ख) **जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ खाद्यान्न की वृद्धि नहीं हो रही**—डा० थॉमस, श्री हट्टन तथा श्री कर्वे का कथन है कि भारत में प्राकृतिक साधन इतने अधिक हैं और युरोपियन देशों के मुकाबिले में यहाँ प्रति वर्ग मील जन-संख्या इतनी कम है कि जन-संख्या की वृद्धि को इस देश की निर्धनता का कारण नहीं कहा जा सकता। अगर जन-संख्या बढ़ती जाय और साथ-साथ प्राकृतिक-साधनों से उत्पादन को बढ़ाते चले जायें, तो देश जन-संख्या के बढ़ने पर भी निर्धन नहीं रहेगा। कुछ अंश तक यह बात ठीक है। परन्तु हमें वास्तविकता का सामना करना होगा, कल्पना के क्षेत्र में विचरने से काम नहीं चलेगा। १६५१ में अपने देश में खाद्य का उत्पादन ५५६ लाख टन हुआ और अधिक जन-संख्या के कारण खपत ५६० लाख टन हुई। ३४ लाख टन खाद्यान्न को विदेशों से मँगवाना पड़ा। अगर हमारी जन-संख्या बेतहाशा न बढ़ती तो हमें विदेशों का मुँह न ताकना पड़ता। इस समय १५–२० करोड़ रुपया विदेशों से अन्न मँगवाने में व्यय हो जाता है जो देश की बढ़ती हुई जन-संख्या के लिए आवश्यक है। अगर यह रुपया अन्न पर न खर्च करना पड़ता तो इसको हम मशीनरी आदि पर व्यय करके उद्योगों को बढ़ा सकते थे, उद्योगों के बढ़ने से देश की निर्धनता दूर हो सकती थी।

(ग) **जन-संख्या की वृद्धि के साथ श्रमिक वर्ग बढ़ रहा है**—जन-संख्या बढ़ने का यह परिणाम हो रहा है कि देश में श्रमिक-वर्ग बढ़ता जा रहा है। अपने देश में २० लाख श्रमी प्रति वर्ष बढ़ रहे हैं। श्रमी क्यों बढ़ रहे हैं इसलिए क्योंकि माता-पिता आय न होने के कारण अपनी सन्तान को ऊँची शिक्षा नहीं दे पाते, उनकी सन्तान मज़दूरी करने के काम की रह जाती है। जब श्रमी ज़्यादा मिलने लगते हैं तब उनका वेतन भी अपने-आप कम हो जाता है। वेतन कम होने से निर्धनता तो होनी ही है, परन्तु इस सब की जड़ में जन-संख्या ही मुख्य कारण है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) जन-संख्या की वृद्धि के साथ प्रति व्यक्ति आय घट रही है—कुछ लोगों का कहना है कि राष्ट्रीय आय बढ़ रही है, प्रति-व्यक्ति आय भी बढ़ रही है, इसलिए जन-संख्या भारत की ग़रीबी का कारण नहीं है। उदाहरणार्थ, १९४८–४९ में राष्ट्रीय आय ८,५५० करोड़ थी, १९५८–५९ में १२,४७० करोड़ हो गई; १९४८–४९ में प्रति-व्यक्ति आय २४६.९ रुपया प्रति वर्ष थी, १९५८–५९ में ३१३.२ रुपया प्रति वर्ष हो गई। क्योंकि राष्ट्रीय-आय तथा प्रति-व्यक्ति आय जन-संख्या के बढ़ जाने पर भी बढ़ रही हैं इसलिए जन-संख्या का देश की निर्धनता के साथ कोई संबंध नहीं है। परन्तु ऐसा सोचना निराधार है। अगर जन-संख्या इतनी तेज़ी से न बढ़ती तो प्रति-व्यक्ति आय वर्तमान आय से बहुत अधिक बढ़ जाती। इस समय अपने देश में प्रति-व्यक्ति जो आय है वह है क्या? इतनी आय से किसका गुज़र हो सकता है? हम आय के इस स्तर पर इसलिए पड़े हुए हैं क्योंकि हमारी जन-संख्या बढ़ती जा रही है। यह सब देखते हुए यह कहना उपयुक्त होगा कि प्रति-व्यक्ति जो आय बढ़ती हुई दीख रही है वह जन-संख्या की बढ़ती के कारण बढ़ते हुए भी घट ही रही है, घट इसलिए रही है क्योंकि अगर जन-संख्या न बढ़े और राष्ट्रीय-आय इतनी हीं रहे, तो प्रति-व्यक्ति आय बहुत अधिक बढ़ जाय और जीवन का स्तर ऊँचा उठ जाय।

(ङ) जन-संख्या की वृद्धि के कारण कृषि विकास नहीं हो पाता—जन-संख्या की वृद्धि का यह परिणाम होता है कि परिवार टूटने लगता है, गाँवों में भाई-भाई अपने परिवार का बँटवारा करने लगते हैं, उनके बड़े-बड़े खेत छोटे-छोटे टुकड़ों में बँट जाते हैं। इन छोटे खेतों में न खेती हो सकती है, न परिवार के सदस्यों का पेट भर पाता है। परिणाम यह होता है कि कृषि का विकास ही रुक जाता है, जिससे निर्धनता का बढ़ना स्वाभाविक है।

(च) जन-संख्या की वृद्धि के कारण औद्योगिक विकास नहीं हो पाता—जन-संख्या की वृद्धि के कारण देश की ५० प्रतिशत विनिमय-मुद्रा खाद्यान्नों का आयात करने में खप जाती है। जब सारा रुपया भूखी-नंगी जनता के पेट भरने में खर्च हो गया तब उद्योगों को चलाने के लिए मशीनरी आदि कैसे मँगवाई जा सकती है? सब से उत्तम तो यह है कि हम जन-संख्या को इतना सीमित रखें जिससे अपने देश की उपज से ही सब का पेट भर जाय, और जो राष्ट्रीय-धन हो उसे विदेशों से मशीनरी आदि मँगवा कर उद्योगों को खड़ा किया जाय। इसी से देश की निर्धनता दूर हो सकती है।

[भारत की निर्धनता के आर्थिक कारण]

(क) पूँजी निर्माण की कम दर—किसी भी देश की समृद्धि का रहस्य इस बात में छिपा हुआ है कि वहाँ पूँजी-निर्माण किस दर से (Ratio of capital formation) हो रहा है। पूँजी-निर्माण का क्या अभिप्राय है? किसी भी राष्ट्र की जो आय होती है उसका दो तरह से व्यय हो सकता है। एक तो राष्ट्र के व्यक्तियों के खाने-पीने, पहनने में व्यय किया जाता है, यह तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खर्च-ही-खर्च है, इससे राष्ट्र की आय नहीं बढ़ती। दूसरा, इस आय का पूँजी के निर्माण के तौर पर व्यय किया जा सकता है। इससे राष्ट्र की आय बढ़ती है। राष्ट्रीय-आय के धन की जितनी मात्रा हम 'पूँजी-निर्माण' में लगायेंगे उतना ही देश समृद्ध होगा। ग्रेट ब्रिटेन में 'राष्ट्रीय-आय' का १० से १५ प्रतिशत 'पूँजी-निर्माण' में लगता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि १८७० से १९१३ में वहाँ 'राष्ट्रीय-आय' में १५० प्रतिशत की वृद्धि होती रही। संयुक्त राष्ट्र अमरीका में 'राष्ट्रीय-आय' का २१ से २४ प्रतिशत 'पूँजी-निर्माण' में लगता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि १८६९ से १९१३ में वहाँ 'राष्ट्रीय-आय' लगभग ५ गुणा बढ़ गई। रूस में 'राष्ट्रीय-आय' का २० प्रतिशत 'पूँजी-निर्माण' में लगता रहा। इसका परिणाम यह हुआ कि १९२८ से १९४० में वहाँ 'राष्ट्रीय-आय' में १३० प्रतिशत वृद्धि हुई।

ब्रिटिश-काल में भारत के अर्थशास्त्रियों तथा अंग्रेज़-शासकों में यहाँ की निर्धनता के विषय में सदा एक विवाद चला करता था। भारत के अर्थशास्त्री कहा करते थे कि जब से अंग्रेज़ आये तब से निर्धनता बढ़ी, अंग्रेज़ कहा करते थे कि भारत पिछले दो हज़ार साल से निर्धन-देश रहा है, इसकी निर्धनता का मुख्य कारण यहाँ की बढ़ती हुई जन-संख्या है। इस सिलसिले में दादाभाई नौरोजी का कहना था कि तुम देश का रुपया तो सब इंग्लैण्ड में खींचते चले जाते हो, यहाँ पूँजी का निर्माण होने नहीं देते, जन-संख्या की बेकार दुहाई देते हो। अगर देश का रुपया देश में रहने दिया जाता, तो पूँजी बनती, पूँजी बनती तो कल-कारख़ाने खुलते, व्यापार बढ़ता, राष्ट्रीय-आय बढ़ती। कहने का अभिप्राय यह है कि भारत की निर्धनता के अनेक कारणों में एक कारण यह है कि यहाँ अंग्रेज़ी-काल में पूँजी का निर्माण नहीं होने दिया गया, पूँजी के निर्माण न होने के कारण कल-कारख़ाने, व्यापार नहीं पनप सके और देश निर्धनता के गढ़े में गिरता चला गया।

(ख) **अनुत्पादक संचय**—जो-कुछ पूँजी बनती भी रही, अपने देश में उसे या तो ज़मीन में गाड़ रखने की प्रवृत्ति रही, या हम उसके सोने-चाँदी के ज़ेवर बना देते रहे। हमारा जो-कुछ भी पूँजी का संचय रहा वह उत्पादक-कार्यों में लगने के स्थान में अनुत्पादक-कार्यों में लगता रहा। 'इकोनोमिक जरनल' ने दिसम्बर १९२९ में लिखा था कि इस देश का लगभग ७९८ करोड़ रुपया सोने-चाँदी के ज़ेवरों में बन्द है।

(ग) **प्राथमिक-उद्योगों पर निर्भरता**—कारवर महोदय ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्सिपल्स ऑफ पोलिटिकल इकौनोमी' में धन-उत्पादन करने के साधनों पर विचार करते हुए उद्योगों को निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त किया है—प्रथम-श्रेणी के 'प्राथमिक-उद्योग' (Primary Industries); द्वितीय-श्रेणी के 'माध्यमिक-उद्योग' (Secondary Industries); तृतीय-श्रेणी के 'वैयक्तिक तथा धंधे-संधंधी कार्य' (Tertiary, personal and professional

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

services) । 'प्रथम-श्रेणी' के उद्योग फिर दो तरह के होते हैं । एक तो वे जिनमें हम कुछ पैदा करते हैं—जैसे खेती करना, मछली-मुर्ग़ी आदि पालना। दूसरे वे जिनमें हम पैदा तो नहीं करते, परन्तु जो बने-बनाये हमें मिल जाते हैं—जैसे शिकार कर लाना, लकड़ी काट लाना। 'द्वितीय-श्रेणी' के उद्योग वे हैं जिनमें हम कोई उद्योग जारी करते हैं—जैसे व्यापार करना, कल-कारख़ाना लगाना, यातायात के साधन, बैंक चलाना, मकान बनाना। 'तृतीय-श्रेणी' के उद्योग वे हैं जिनमें हम वैय्यक्तिक तौर पर कोई धंधा करते हैं—डाक्टरी का पेशा, अध्यापकी, दुकान या सरकारी नौकरी आदि । ये 'सेवा-कार्य' (Services) कहलाते हैं । यह मोटी बात है कि किसी देश की जितनी जन-संख्या 'माध्यमिक-उद्योगों' तथा 'सेवाओं' में लगी होगी, उतनी ही उस देश की 'राष्ट्रीय-आय' बढ़ेगी। अन्य देशों में आधी के लगभग जन-संख्या 'माध्यमिक-उद्योगों' अर्थात् व्यापार आदि में लगी हुई है, भारत की अधिकांश जन-संख्या 'प्राथमिक-उद्योगों' अर्थात् कृषि आदि में लगी हुई है। अपने देश की निर्धनता का यही मुख्य कारण है। हमारा देश मुख्य तौर पर कृषि-प्रधान है, अतः प्रथम पंच-वर्षीय योजना में तो उन साधनों की तरफ़ ध्यान दिया गया था जिनसे कृषि की वृद्धि तथा व्यवस्था हो सकती है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना का लक्ष्य 'राष्ट्रीय-आय' को १२ प्रतिशत बढ़ा देना था। योजना के अन्त में वह १२ की जगह १८ प्रतिशत बढ़ी। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में अधिक ध्यान कृषि के स्थान में द्वितीय तथा तृतीय-श्रेणी अर्थात् उद्योग तथा धंधों आदि की तरफ़ दिया गया जिससे 'राष्ट्रीय-आय' में २५ प्रतिशत वृद्धि की आशा की जा रही थी। यह वृद्धि २५ की जगह २० प्रतिशत हुई । तृतीय-योजना के अन्त में राष्ट्रीय-आय में ३० प्रतिशत वृद्धि हो जाय—ऐसी धारणा है।

(घ) **कार्यक्षमता की कमी**—अपने देश में निम्न-वर्ग के व्यक्तियों को खाने को पूरा नहीं मिलता। श्रमी-वर्ग मेहनत करता है, परन्तु घी-दूध नहीं पाता। वनस्पति घी और चाय के बल पर कहाँ तक दिन-रात एक करके मेहनत की जा सकती है। जब कोई पौष्टिक-पदार्थ खाने को नहीं मिलता तब आधा काम ही तो किया जा सकता है। हर क्षेत्र में यही समस्या है। पौष्टिक-भोजन न पा सकने के कारण श्रमी पूरा काम नहीं कर पाते। जब श्रमी-वर्ग पूरा काम नहीं करेगा तब 'राष्ट्रीय-आय' कैसे बढ़ेगी ? 'राष्ट्रीय-आय' न बढ़ने का एक कारण श्रमी-वर्ग की कार्य-क्षमता का गिर जाना है। अन्य देशों के श्रमी हमारे श्रमियों से ज़्यादा काम कर सकते हैं क्योंकि पौष्टिक-भोजन खाने के कारण उनका शरीर बलिष्ठ होता है।

(ङ) **पूंजीवादी-व्यवस्था**—अपने देश में पूंजीवादी-व्यवस्था अभी तक चल रही है। यद्यपि हमने 'समाजवादी-समाज' बनाने की घोषणा कर दी है, तो भी अभी सिलसिला तो वही पुराना चल रहा है। अभी तक उत्पादन के साधनों पर राज्य का प्रभुत्व नहीं, पूंजीपतियों का ही प्रभुत्व है, राज्य का प्रभुत्व

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

धीरे-धीरे हो रहा है। ऐसी आर्थिक-व्यवस्था में यह स्वाभाविक है कि मुनाफ़े का अधिक भाग पूँजीपति ले जाँय और अधिक संख्या ग़रीबों की रह जाय। वैसा अभी तक हो रहा है।

[भारत की निर्धनता के राजनीतिक कारण]

(क) **अंग्रेजों की आर्थिक नीति**—जब तक अंग्रेज़ यहाँ रहे तब तक भारत की निर्धनता का मुख्य-कारण अंग्रेज़ों की आर्थिक नीति रहा। उनकी आर्थिक-नीति भारत के हित में न होकर सदा अपने हित में रही। उन्होंने बाहर के व्यापार पर रोक-थाम लगाने और भारत के व्यापार को प्रोत्साहित करने का कोई काम नहीं किया। भारत का कच्चा माल बहुत सस्ते दाम पर विलायत जाता था, और तैयार माल बहुत महँगे दाम पर भारत भेजा जाता था। विलायतवाले कच्चा माल ख़रीदते हुए भी भारत को नुक़सान पहुँचाते थे, तैयार माल बेचते हुए भी इस देश को दोनों हाथों से लूटते थे। इसके अतिरिक्त अंग्रेज़ों की नीति यह रही कि यहाँ कोई उद्योग-धंधे न पनपें, उन्होंने यहाँ के उद्योग-धंधों का नाश करने का भी प्रयत्न किया। यह सिलसिला दो सौ साल तक लगातार चलता रहा। इतने लम्बे समय में उत्पन्न हुई निर्धनता १५–१६ साल में नहीं जा सकती।

(ख) **विश्व-युद्ध**—प्रत्येक विश्व-युद्ध के समय वस्तुओं के भाव पहले से एकदम बढ़ जाते हैं। विश्व-युद्ध समाप्त हो जाता है, परन्तु वस्तुओं के भाव पहले स्तर पर नहीं आते। हम लोग दो विश्व-युद्धों में से गुज़र चुके हैं। पहले विश्व-युद्ध (१९१५–१८) के समय जो भाव बढ़े वे गिर कर पहले स्तर पर नहीं आये। उसके बाद दूसरा विश्व-युद्ध (१९३९–४५) हुआ। उस समय हर वस्तु का भाव फिर बढ़ा। यह युद्ध भी समाप्त हो गया, परन्तु भा ों में कमी आने के स्थान में वे लगातार बढ़ते गये। प्रति-व्यक्ति आय बढ़ते जाने पर भी युद्धों के परिणामस्वरूप जब वस्तुओं के दाम कई गुणा बढ़ जाते हैं तब जीवन का स्तर गिर जाता है, निर्धनता अपना राज्य जमा लेती है। इस प्रकार युद्ध निर्धनता का राजनीतिक कारण है।

६. क्या प्रकृति ने ही भारत को निर्धन बनाया है?*

भारत की निर्धनता के कारणों पर विचार करते हुए कई लोगों का कहना है कि इस देश में प्रकृति ही प्रतिकूल है, भौगोलिक परिस्थितियाँ ही ऐसी हैं जिनके कारण देश समृद्ध नहीं हो सकता। कभी अति वर्षा, कभी बाढ़, कभी

---

* **"While nature showered her bounties in India with a liberal hand, man has failed to profit adequately by them. The contrast between the bounties of nature and poverty of man here is very striking." Discuss this statement and state what measures the Government should take to remove poverty from India. (1951)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनावृष्टि सब करे-कराये को नष्ट कर देते हैं। खनिज पदार्थों तथा प्राकृतिक साधनों का यहाँ अभाव है। ऐसी हालत में देश निर्धन न होगा तो क्या होगा ?

परन्तु यह धारणा मिथ्या है। कोई समय था, इसी देश में दूध-दही की नदियाँ बहती थीं। यहाँ की भूमि उपजाऊ है। यहाँ देश भर की ज़मीन को सींचने के लिए हर प्रान्त में नदियाँ हैं। प्रत्येक धातु की यहाँ खाने हैं। कमी है तो सिर्फ़ इस बात की कि हम भूमि के गर्भ में छिपी हुई इस सम्पत्ति को माथे का पसीना बहा कर निकाल लें। प्रश्न यह नहीं है कि यहाँ क्या-क्या है, प्रश्न यह है कि यहाँ क्या-क्या नहीं है ?

(क) खनिज सम्पत्ति (Mineral resources)—भारत सरकार द्वारा प्रकाशित 'इंडिया : १९६१' के अनुसार इस देश में मौजूद खनिज सम्पत्ति का भंडार इस प्रकार है :

कच्चा लोहा	२१०० करोड़ टन
मैंगनीज़	११.२ करोड़ टन
क्रोमाइट	१३.२ करोड़ टन
सोना	१२.६ लाख टन
ताँबा	२८४ करोड़ टन
माइका	३३०० हज़ार वर्गमील में
बौक्साइट	२५०० लाख टन
इलमेनाइट	३५०० लाख टन
जिप्सम	८५ करोड़ टन

(ख) शक्ति के साधन (Power resources)—शक्ति उत्पन्न करने में कोयला, तेल तथा जल की आवश्यकता होती है। इन्हीं से कल-कारखाने चलते हैं, बिजली उत्पन्न होती है। इनके विषय में 'इंडिया : १९६१' में निम्न आँकड़े दिये हैं :

कोयला—६,००० करोड़ टन।

तेल—आसाम, त्रिपुरा, मणिपुर आदि में ४,००,००० वर्गमील क्षेत्र में पैट्रोल तथा मट्टी का तेल मौजूद है।

जल-शक्ति—भारत की नदियों की जल-शक्ति से जो विद्युत् उत्पन्न हो सकती है उसका अध्ययन करके यह अंदाज़ लगाया गया है कि उससे ४० लाख किलोवाट विद्युत्-शक्ति उत्पन्न हो सकती है।

(ग) वन-सम्पत्ति (Forest resources)—'इंडिया : १९६३' (पृ० २०९) के अनुसार अपने देश में सारी भूमि के २२ प्रतिशत भाग में जंगल हैं। कुल २.७४ लाख वर्गमील जंगल-ही-जंगल की भूमि है। इसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की लकड़ी है। इन सब का उपयोग हो सकता है।

(घ) पशु-सम्पत्ति (Animal resources)—'इंडिया : १९६३' के अनुसार १९६१ में भारत में ७२५ लाख बैल, ५४३ लाख गौएँ, ४८९ लाख

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बछड़े, ७७ लाख भैंसें, २५० लाख भैंस, १८४ लाख कटड़े, ४०३ लाख भेड़ें, ६०८ लाख बकरियाँ, १३ लाख घोड़े-खच्चर, ७३ लाख गधे, ऊँट, सूअर, १,१६९ लाख मुर्गियाँ थीं।

उक्त विवरण से स्पष्ट है कि इस देश में खनिज सम्पत्ति, शक्ति के उत्पादन के साधन, वन-सम्पत्ति, पशु-सम्पत्ति—किसी की कमी नहीं है। इतना सब-कुछ होते हुए भी अगर यह देश निर्धन है तो हमारी अकर्मण्यता के कारण ही निर्धन है। डा० दास ने अपनी पुस्तक 'इंडस्ट्रियल एफ़ीशियन्सी ऑफ़ इंडिया' में लिखा है कि इस देश की केवल ३० प्रतिशत भूमि से उपज का काम लिया जा रहा है, बाकी ७० प्रतिशत बेकार पड़ी है। वन-सम्पत्ति का २५ प्रतिशत भाग काम में आ रहा है, बाकी ७५ प्रतिशत बेकार है। लोहे का जो उत्पादन हो रहा है वह सम्भावित उत्पादन का कुल ११ प्रतिशत है। बिजली का उत्पादन जितना हो रहा है उससे बहुत अधिक हो सकता है।

इसमें सन्देह नहीं कि अब जब से पंचवर्षीय योजनाएँ शुरू हुई हैं तब से इन सब दिशाओं में ध्यान दिया जा रहा है और प्रकृति के गर्भ में छिपी सम्पत्ति को बाहर लाकर देश को समृद्ध करने का प्रयत्न हो रहा है।

७. निर्धनता के निवारण की सरकारी नीति*

[कृषि तथा उद्योगों के विकास के द्वारा समाजवादी-समाज की रचना]

जब से देश स्वतंत्र हुआ है, तब से भारत-सरकार का ध्यान देश की निर्धनता को दूर करने की ओर विशेष रूप से गया है। निर्धनता को दूर करने के लिए भारत-सरकार ने पहले प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना (१९५१–१९५६) चलाई, फिर द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना (१९५६–१९६१) चलाई, इसके बाद अब तृतीय-पंच-वर्षीय-योजना (१९६१–१९६६) चल रही है। आर्थिक-क्षेत्र में पहले भारत-सरकार ने ६ अप्रैल १९४८ को एक प्रस्ताव स्वीकृत किया जिसमें सरकारी औद्योगिक-नीति को स्पष्ट किया गया था। उसके बाद ३० अप्रैल १९५६ को एक नया प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जिसमें पिछले अनुभव के प्रकाश में अपनी औद्योगिक-नीति को नये सिरे से रखा गया। भारत-सरकार के ये सब कार्य देश की निर्धनता को दूर करने के लिए हैं। परन्तु यह सब-कुछ करते हुए भारत-सरकार एक खास नीति को लेकर चल रही है। इस प्रकार प्रथम-योजना, द्वितीय-योजना, औद्योगिक-नीति का प्रथम-प्रस्ताव तथा द्वितीय-प्रस्ताव—ये चार बातें हैं, जिनका भारत की निर्धनता के निवारण की नीति के विषय में विचार करते हुए जान लेना आवश्यक है। हम इन चारों का यहाँ संक्षेप से वर्णन करेंगे:

(क) **प्रथम-पंचवर्षीय-योजना**—अगर देश की आर्थिक-उन्नति को बिना किसी हस्तक्षेप के छोड़ दिया जाय, व्यक्ति को पूरी-पूरी स्वतंत्रता दे दी

---

* **Enumerate briefly the measures taken by the Government to eradicate Indian poverty.** (1960)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय, तो जो हालत हो सकती है वह दुनिया में अब तक होती रही है। कुछ लोग अपने परिश्रम से आगे निकल गए, पूँजीपति बन गए, कुछ इस जद्दोजहद में पीछे रह गए। अर्थशास्त्र के 'प्रतिस्पर्धा' के नियम से धनी-निर्धन वर्ग उत्पन्न हो गया, मालिक-मज़दूर वर्ग बन गया। मज़दूरों को जब साथ-साथ रहना पड़ा, तब अपनी अवस्था की तरफ़ उनका ध्यान गया, उन्होंने संगठन बनाये, अपने अधिकारों के लिए उन्होंने हड़तालें करनी शुरू कीं। मज़दूरों के साथ सुलह किये बग़ैर पूँजीपतियों का काम नहीं चलता इसलिए कुछ ये झुके, कुछ वे झुके। यह तो आर्थिक-विकास की एक नीति है। दूसरी नीति है 'योजना' बनाकर आर्थिक-व्यवस्था को राज्य द्वारा चलाना। जो देश आर्थिक-व्यवस्था में बहुत पिछड़े हुए हैं उनके लिए अपने भाग्य को व्यक्ति पर छोड़ देना अब संभव नहीं रहा। इस प्रकार वे अपने को छोड़ देंगे, तो फिर पूँजीवादी-व्यवस्था के बजाय वहाँ और कुछ न हो सकेगा। इन पिछड़े देशों ने 'योजना-पद्धति' की नीति का आश्रय लिया है। १९२८ में सब से पहले रूस ने इस प्रकार की 'पंच-वर्षीय-योजना' बनाई। रूस ने उसके बाद कई 'पंच-वर्षीय-योजनाएँ' बनाईं, और इनके द्वारा उसने आश्चर्यजनक उन्नति की। दूसरे देशों ने भी जहाँ कम्यूनिज़्म चल रहा है, इसी प्रकार की 'पंच-वर्षीय-योजनाओं' या 'षड्-वर्षीय-योजनाओं' की नीति अपनाई।

जहाँ राज्य की तरफ़ से कोई हस्तक्षेप नहीं था, व्यक्ति को स्वतंत्र-विकास के लिए 'न्यूनतम-हस्तक्षेप' (Laissez-faire) के सिद्धान्त के अनुसार छोड़ दिया गया था, वहाँ 'राष्ट्रीय-आय' में उस प्रकार वार्षिक वृद्धि नहीं हुई जैसी वृद्धि वहाँ हुई, जहाँ राज्य द्वारा 'योजना-पद्धति' की नीति को अपनाया गया। निम्न आँकड़ों से यह बात अत्यधिक स्पष्ट हो जाती है :—

न्यूनतम-हस्तक्षेप से वैयक्तिक-स्वतन्त्रता की नीति पर चलने वाले देश

देश	समय	'राष्ट्रीय-आय' में वृद्धि
१. अमरीका	१८९९ से १९५०	३.२ से ३ प्रतिशत
२. कनाडा	१९०३ से १९२९	२.६ प्रतिशत
३. स्विट्ज़रलैण्ड	१८९० से १९२९	२.७ प्रतिशत
४. आस्ट्रेलिया	१९०१ से १९४८	२.५ प्रतिशत

राज्य के हस्तक्षेप से योजना की नीति पर चलने वाले देश

देश	समय	'राष्ट्रीय-आय' में वृद्धि
१. रूस	१९२८ से १९५३	पहले १५ फिर १६%
२. पोलैण्ड	१९४७ से १९५३	१४.५ प्रतिशत
३. चैकोस्लोवाकिया	१९४८ से १९५३	१२ प्रतिशत
४. हंगरी	१९५२ से १९५३	१२ प्रतिशत
५. बल्गेरिया	१९५२ से १९५३	१६ प्रतिशत
६. भारत	१९५१ से १९५६	१८ प्रतिशत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद भारत ने भी अपनी 'पंच-वर्षीय-योजना' बनाई। १९५० में 'प्लैनिंग-कमीशन' बनाया गया और १९५१ से १९५६ की 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' की नींव रखी गई। इस योजना के पूरे होने पर 'राष्ट्रीय-आय' १२ प्रतिशत बढ़ जाने का अनुमान लगाया गया था, परन्तु योजना के अन्तिम वर्ष में हिसाब लगाने पर ज्ञात हुआ कि 'राष्ट्रीय-आय' १२ की जगह १८ प्रतिशत बढ़ गई थी। १९५१–५६ की 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के अन्त में अनाज के उत्पादन में १४ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था, वह १४ की जगह २० प्रतिशत बढ़ा। कपास में 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के अन्त में ४४ प्रतिशत वृद्धि का अनुमान लगाया गया था, वह ४५ प्रतिशत बढ़ी। योजना के प्रारम्भ में ३२६ मिलियन एकड़ भूमि में अनाज पैदा हुआ था, १९५४-५५ में ३५२ मिलियन एकड़ भूमि में अनाज पैदा हुआ। यह तो 'कृषि-सम्बन्धी-उत्पादन' (Agricultural production) की बात है, 'औद्योगिक-उत्पादन' (Industrial production) में १९५१ की अपेक्षा १९५५ में २२ प्रतिशत वृद्धि हो गई।

इस प्रकार हमारी 'राष्ट्रीय-आय' (National income) तो 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के अन्त में १८ प्रतिशत बढ़ी, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि हमारी निर्धनता दूर हो गई। इतना सब-कुछ कर चुकने पर भी हमारा जीवन-स्तर संसार में सबसे नीचा है। हमारे देश में लोगों को भोजन की वह मात्रा नहीं मिलती जो स्वास्थ्य कायम रखने के लिए एक मनुष्य को मिलनी चाहिए। १९५५–५६ में प्रति व्यक्ति १६ गज़ कपड़ा पैदा हो रहा था जो बिलकुल अपर्याप्त है। अभी देश की आधी जन-संख्या की आमदनी १३ रुपया मासिक भी नहीं है। अमरीका की अपेक्षा हमारे यहाँ प्रति-व्यक्ति बिजली का खर्च $\frac{१}{७३}$ तथा लोहे का खर्च $\frac{१}{१२२}$ है, जापान की अपेक्षा हमारे यहाँ बिजली और लोहे का खर्च क्रमशः $\frac{१}{९}$ तथा $\frac{१}{१४}$ है। इससे स्पष्ट है कि अभी हमें अपने देश की निर्धनता को दूर करने के लिए कितने अधिक प्रयास की और कितनी ही 'पंच-वर्षीय-योजनाओं' की नीति को अपनाने की आवश्यकता होगी।

(ख) **द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना**—"प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' के १९५६ में समाप्त होने के बाद, भारत सरकार ने 'द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना' का कार्य-क्रम तैयार किया। 'प्रथम-पंच-वर्षीय-योजना' तथा 'द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना' में आधार-भूत भेद क्या है?

पहली योजना का मुख्य-उद्देश्य देश की 'कृषि-सम्बन्धी' (Agricultural) अवस्था को उन्नत करना था, इसलिए योजना पर जितना रुपया लगाया जाना था उसका १६ प्रतिशत कृषि और सामुदायिक-विकास, १७ प्रतिशत सिंचाई आदि पर व्यय किया गया। द्वितीय-योजना का मुख्य-उद्देश्य देश की 'उद्योग-सम्बन्धी' (Industrial) अवस्था को उन्नत करना था, इसलिए योजना पर किये जाने वाले व्यय का १९ प्रतिशत उद्योग तथा खनिज पर और २९ प्रतिशत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिवहन तथा संचार पर व्यय किये जाने का कार्य-क्रम बना। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रथम-योजना में उद्योग पर व्यय नहीं किया गया, या द्वितीय में कृषि पर व्यय नहीं किया गया। अभिप्राय इतना ही है कि प्रथम योजना की अपेक्षा द्वितीय में व्यय का मुख्य-बिन्दु 'कृषि' की जगह 'उद्योग' हो गया। ऐसा क्यों किया गया—इसका एक कारण है। हम इसी अध्याय में पीछे कह आये हैं कि अर्थोपार्जन के तीन साधन होते हैं—'प्रथम-श्रेणी' के (Primary), 'द्वितीय-श्रेणी' के (Secondary) तथा 'तृतीय-श्रेणी' के (Tertiary)। इनमें से प्रथम-श्रेणी के साधन कृषि आदि हैं, द्वितीय-श्रेणी के साधन उद्योग आदि हैं, तृतीय-श्रेणी के साधन देश के धंधे, विविध-सेवाएँ हैं। आर्थिक-उन्नति का नियम है कि देश की अधिक जन-संख्या 'प्रथम-श्रेणी' के साधनों के स्थान में 'द्वितीय' तथा 'तृतीय' श्रेणी के साधनों में लगी हो। अभी अपने देश की हालत यह है कि हमारी श्रम-शक्ति का ७२.४ प्रतिशत हिस्सा कृषि में लगा हुआ है, देश की श्रम-शक्ति का १०.६ प्रतिशत हिस्सा कल-कारखानों तथा छोटे-छोटे धंधों मे लगा हुआ है, ७.७ प्रतिशत व्यापार में और ९.३ प्रतिशत यातायात तथा सेवा-कार्यों में लगा हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'प्रथम-श्रेणी' के कार्यों में—कृषि आदि में—इतनी अधिक श्रम-शक्ति लगी हुई है कि प्रायः सारी श्रम-शक्ति इसी में खप गई है। निर्धनता को दूर करने का यह उपाय नहीं है। होना यह चाहिए कि हम कृषि-संबंधी आधुनिक-यन्त्रों की सहायता से थोड़े आदमियों से काम लें, और इस बची हुई जन-संख्या को उद्योग के क्षेत्र में भेजें। आधुनिक-यन्त्रों के द्वारा अब से आधी श्रम-शक्ति कृषि का उतना ही कार्य कर सकती है जितना अब ७२.४ प्रतिशत श्रम-शक्ति करती है। इस बची हुई श्रम-शक्ति को कृषि के क्षेत्र से निकाल कर उद्योग के क्षेत्र में डाल देने की आवश्यकता है। जिन देशों ने आर्थिक-उन्नति की है उन्होंने ऐसा ही किया है। उन देशों में कृषि में श्रम-शक्ति कम हो गई है, उद्योगों मे बढ़ गई है। १८७० और १९३० के बीच में अमरीका में कृषि पर लगी हुई श्रम-शक्ति ५४ प्रतिशत से कम होकर २३ प्रतिशत रह गई, फ्रांस में ४२ प्रतिशत से कम होकर २५ प्रतिशत रह गई, जापान में ८५ प्रतिशत से कम होकर ५१ प्रतिशत हो गई। जर्मनी में १८८० में ३९ प्रतिशत श्रम-शक्ति कृषि पर लगी हुई थी जो १९३० में २२ प्रतिशत रह गई, इंग्लैंड में १८७० में १५ प्रतिशत श्रम-शक्ति कृषि पर लगी हुई थी जो १९२० में ७ प्रतिशत रह गई। इस समय अमरीका में वहाँ की आबादी की केवल १२ प्रतिशत संख्या खेती में लगी हुई है। कहने का अभिप्राय यह है कि कृषि में अधिक आदमी खपाना हमारा उद्देश्य नहीं है। हमारा उद्देश्य कम-से-कम शक्ति लगाकर अधिक-से-अधिक पैदावार करना है। हमने अपनी 'द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना' में श्रम-शक्ति को उद्योग-धंधों पर लगाने का प्रयत्न किया है, क्योंकि 'प्रथम-श्रेणी' के अर्थोपार्जन के साधनों से देश उतना समृद्ध नहीं होता जितना 'द्वितीय' तथा 'तृतीय'-श्रेणी के अर्थोपार्जन के साधनों से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समृद्ध होता है। प्रथम तथा द्वितीय पंच-वर्षीय-योजनाओं में पहला भेद तो यह है।

इन दोनों योजनाओं में दूसरा भेद यह है कि जहाँ 'प्रथम-योजना' मुख्यतः 'कल्याण-राज्य' (Welfare state) को आधार बनाकर चलाई गई थी वहाँ 'द्वितीय-योजना' मुख्यतया 'समाजवादी ढाँचे के समाज' (Socialist pattern of society) को आधार बना कर खड़ी की गई। 'कल्याण-राज्य' का यही अर्थ था कि देश का कल्याण हो, अधिक जन-संख्या गाँवों में बसती है, कृषि करती है, इसलिए गाँवों में सामुदायिक-योजनाएँ चलें, कृषि की उन्नति हो, नहरें बनें, सिंचाई हो। उसके बाद जब हमने योजना के दूसरे चरण में प्रवेश किया और 'कृषि' के स्थान में 'उद्योग' को लक्ष्य बनाया, तब सबसे बड़ा सवाल यह पैदा हो गया कि उद्योगों से जो पूँजी बढ़ेगी, धन आयगा, वह क्या कुछ-एक लोगों की पेटियों में जमा हो जायगा, या बँटेगा। इसीलिए उत्पादन का ज़ोर उद्योग पर जाते ही यह तय करना भी आवश्यक हो गया कि हम अपने यहाँ पूँजीवाद को नहीं आने देंगे। कल-कारखाने बढ़ेंगे, परन्तु इनका बढ़ना देश की 'राष्ट्रीय-आय' को बढ़ाकर कुछ-एक व्यक्तियों की आमदनी बढ़ाना नहीं होगा, हर-एक की आमदनी बढ़ाना होगा। हम सम्पत्ति बढ़ायेंगे, परन्तु साथ ही सम्पत्ति का समान-वितरण भी करेंगे। इसीलिए 'द्वितीय-योजना' में यह घोषित करना आवश्यक हो गया कि हम 'समाजवादी'-समाज की रचना करेंगे।

(ग) **६ अप्रैल १९४८ का औद्योगिक-नीति का प्रस्ताव** (Industrial Policy Resolution of 6th April, 1948)—स्वराज्य-प्राप्ति के बाद ६ अप्रैल १९४८ को भारत-सरकार ने अपनी औद्योगिक-नीति की घोषणा इस प्रस्ताव द्वारा की थी। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि सरकार यह चाहती है कि औद्योगिक-उत्पादन लगातार होता रहे और उत्पादन का न्याय-संगत वितरण भी साथ-साथ होता रहे। इसके अतिरिक्त इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि देश के औद्योगिक-विकास में सरकार को भी पहले की अपेक्षा अधिक क्रियाशील होना होगा। शस्त्रास्त्रों का निर्माण, अणु-शक्ति तथा रेलों के यातायात का तो सरकार के हाथ में एक-मात्र अधिकार होगा ही, साथ ही आधार-भूत छः बुनियादी उद्योग भी सरकार ही चलायेगी। ये सरकारी उद्योग 'सार्व-जनिक-क्षेत्र' (Public sector) के अन्तर्गत होंगे, और इनके अलावा जो उद्योग होंगे, वे 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) में गिने जायेंगे। १९५५-५६ तक सरकार की यही घोषित नीति रही, परन्तु इस बीच बहुत-कुछ बदल गया। इस बीच १९४९ को भारत का विधान स्वीकृत हुआ जिसमें प्रत्येक नागरिक के कुछ 'आधारभूत-अधिकार' स्वीकृत किये गये, कुछ 'प्रेरक-सिद्धान्त' स्वीकृत किये गए। इनमें कहा गया था कि राष्ट्र की भौतिक-सम्पत्ति पर अधि-कार वा स्वामित्व इस प्रकार बँटा हुआ होना चाहिए जिससे किसी एक का भला न होकर सब का भला हो, राष्ट्र का आर्थिक ढाँचा इस प्रकार का नहीं होना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए जिससे उत्पादन के साधन तथा सम्पत्ति एक जगह इस प्रकार केन्द्रित हो जाँय कि उससे दूसरों का नुक्सान होने लगे। इन विचारों का परिणाम यह हुआ कि दिसम्बर १९५४ की भारतीय पार्लियामेंट ने 'समाजवादी ढाँचे के समाज' (Socialist pattern of society) का निर्माण अपना लक्ष्य घोषित कर दिया। १९५६–६१ के लिए 'प्लैनिंग-कमीशन' ने जो योजना तैयार की उसमें इसी लक्ष्य को आधार बनाया गया। इन सब परिवर्तनों का परिणाम यह हुआ कि भारत-सरकार को ६ अप्रैल १९४८ के अपने औद्योगिक-नीति के प्रस्ताव को बदलना पड़ा। परिणामस्वरूप ३० अप्रैल १९५६ को भारत-सरकार ने अपनी 'औद्योगिक-नीति' के प्रस्ताव को दूसरा रूप दिया। वह रूप क्या था?

(घ) ३० अप्रैल १९५६ का औद्योगिक-नीति का प्रस्ताव (Industrial Policy Resolution of 30th April, 1956)—६ अप्रैल १९४८ के प्रस्ताव में 'सार्वजनिक-क्षेत्र' की सीमा बहुत बँधी हुई थी, 'निजी-क्षेत्र' की सीमा बहुत विस्तृत थी। परन्तु जब हमारा उद्देश्य समाजवादी-समाज का ढाँचा तैयार करना है, उत्पादन को कुछ-एक के हाथों में केन्द्रित न रहने देकर सब में वितरण करना है, प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के स्तर को ऊँचा करना है, देश में से हर व्यक्ति की निर्धनता को मिटाना है, तब यह आवश्यक हो जाता है कि सरकार भी व्यापार के क्षेत्र में उतर आये, और हर-एक ऐसे उद्योग को अपने हाथ में ले जिसे या तो 'निजी-क्षेत्र' के लोग लाभ न होने से शुरू ही नहीं करते, या शुरू करते हैं तो उनका उस उद्योग पर इतना एकाधिकार हो जाता है कि मन-माना नफ़ा उठाने लगते हैं। भारत-सरकार ने यह देखकर कि द्वितीय-पंच-वर्षीय-योजना में देश का 'उद्योगीकरण' (Industrialization) आवश्यक है, इस प्रस्ताव द्वारा यह घोषणा कर दी है कि अब सरकार भी उद्योगों को अपने हाथ में लेगी। उद्योगों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया गया। प्रथम-श्रेणी उन उद्योगों की है जिन्हें सिर्फ़ सरकार चला सकेगी, अन्य कोई नहीं। इस श्रेणी में १७ बड़े-बड़े उद्योग हैं। उदाहरणार्थ, शस्त्रास्त्र, अणु-शक्ति, लोहा, लोहे की भारी मशीनें, बिजली के भारी कारखाने, कोयला, खनिज-तेल, कच्चे लोहे, मैंगनीज़, गन्धक, सोना, हीरा आदि की खानें, ताँबा, जस्ता, टिन आदि की खानें और इनके सामान, हवाई जहाज़, हवाई यातायात, रेलवे, जहाज़ बनाना, टैलीफ़ोन, बिजली पैदा करना और वितरण करना आदि। यह सब सरकार ही कर सकेगी। द्वितीय-श्रेणी में वे उद्योग गिनाये हुए हैं जिन में धीरे-धीरे सरकार प्रवेश करेगी। उदाहरणार्थ, मशीन के पुर्जे बनाना, खाद, रबर, एण्टीबायोटिक औषधियाँ, सड़कों तथा समुद्र का यातायात आदि। इनकी संख्या १२ है। इनके अलावा जो बचा रहेगा वह 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) में आ जायगा, परन्तु सरकार इस बात के लिए बाधित नहीं है कि वह किस काम को हाथ में ले और किस को न ले।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बड़े धंधों के साथ-साथ इस औद्योगिक-नीति के अनुसार सरकार छोटे-छोटे धन्धों को भी प्रोत्साहन देगी। क्योंकि छोटे धन्धों से बेकारी कम होती है इसलिए इन छोटे धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार इन उद्योगों को आर्थिक-सहायता दे सकती है, बड़े उद्योगों के उत्पादन को इस प्रकार नियन्त्रित कर सकती है जिससे इन छोटे धन्धों पर ऐसा असर न पड़े जिससे ये पनप ही न सकें, बड़े धन्धों की वस्तुओं की अपेक्षा छोटे धन्धों को प्रोत्साहन देने के लिए सरकार टैक्स की कमी भी कर सकती है। परन्तु फिर भी सरकार की नीति यही रहेगी कि खुले बाज़ार में 'प्रतिस्पर्धा' के सिद्धान्त के अनुसार छोटे उद्योगों द्वारा पैदा किया हुआ माल बाज़ार में अपने बूते पर टिक सके, हर वक्त उसे सरकारी सहायता की ही ज़रूरत न पड़ती रहे।

इस प्रकार हमने देखा कि निर्धनता क्या है, और खासकर भारत-सरकार इस प्रश्न को 'पंच-वर्षीय-योजनाओं' तथा अपनी 'औद्योगिक-नीति' द्वारा किस प्रकार हल कर रही है।

८. निर्धनता के निवारण के उपाय*

निर्धनता मुख्य तौर पर सामाजिक-रचना का परिणाम होती है। सामाजिक-रचना प्रायः सरकारी नीति पर आश्रित होती है। सरकार पूंजीवाद को प्रश्रय देती है या समाजवाद को? अगर सरकार समाजवाद को प्रश्रय देती है, उसकी नीति समाजवादी है, तो वह उत्पादन के साथ-साथ वितरण पर अवश्य बल देगी। जब उत्पन्न वस्तुओं का समान वितरण होगा तब निर्धनता अपने-आप मिट जायगी। भारत की नीति समाजवादी है, इस नीति के अनुसार उत्पादन के साथ-साथ समान वितरण पर बल दिया जा रहा है—इसी लिए हमने निर्धनता को दूर करने की सरकारी नीति का वर्णन करते हुए इस बात पर बल दिया कि भारत अपनी अर्थ-व्यवस्था को अर्थ-शास्त्र के नियमों पर छोड़ देने के स्थान में नियोजन पर बल दे रहा है, प्रथम, द्वितीय, तृतीय पंचवर्षीय-योजनाएँ बना रहा है, योजनाओं का भी समाजवाद की पृष्ठभूमि में संचालन कर रहा है।

यह कहना कि व्यक्ति की निर्धनता ईश्वर की देन है, सर्वथा भ्रममूलक है। हम अगर समाज की अर्थ-व्यवस्था का संचालन न करें, उसे योजना के अनुसार न चलायें, तब तो धनी-निर्धन का भेद अपने-आप उठ खड़ा होता है, परन्तु अगर अर्थ-व्यवस्था को अपनी समाजवादी नीति के अनुसार चलाया जाय, तब निर्धनता नाम की कोई वस्तु रह नहीं सकती। ईश्वर हमें धनी-निर्धन नहीं बनाता, समाज की नीति, समाज का संगठन हमें धनी-निर्धन बनाता है। यही कारण है कि अब भारत ने अपनी अर्थ-व्यवस्था के निर्माण की नीति को अपने हाथ में लिया है और निर्धनता का उन्मूलन कर देने का संकल्प किया है। भारत

---

* What measures would you suggest to remove Indian poverty? (1955)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी योजनाओं द्वारा किस प्रकार निर्धनता के निवारण का उपाय कर रहा है इसका हम यहाँ संक्षिप्त परिचय देंगे :

(क) कृषि की उन्नति द्वारा—भारत तथा अन्य देशों में कृषि के उत्पादन में महान् अन्तर है। भारत में जहाँ एक एकड़ भूमि में ७०० पौण्ड गेहूँ होता है वहाँ जापान में १,७१३ तथा ईजिप्ट में १,९१८ पौण्ड होता है। इसी तरह भारत में जहाँ एक एकड़ भूमि में ७५० पौण्ड धान होता है वहाँ जापान में ३,४४४ तथा ईजिप्ट में २,९९८ पौण्ड होता है। उत्पादन में इस विषमता का कारण उत्तम बीज तथा उत्तम खाद का न होना, खेती में कीड़ा लग जाना, खेती के पुराने तरीकों का होना, सिंचाई का उचित प्रबन्ध न होना आदि है। पंचवर्षीय-योजनाओं द्वारा अब कृषि की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। अब किसानों को उत्तम बीज मिल रहे हैं, रासायनिक खाद मिल रही है, कीट-नाशक औषधियाँ मिल रही हैं, ट्रैक्टर मिलने लगे हैं। इस सब से कृषि पहले से दुगुनी-चौगुनी होने लगेगी और आय भी पहले से कई गुणा बढ़ जाने से निर्धनता अपने-आप दूर होगी।

(ख) कुटीरोद्योग के विकास द्वारा—हम पहले लिख आये हैं कि किसान साल के कई महीने बेकार रहता है क्योंकि खेती का तो अपना निश्चित समय होता है। उस समय के लिए अगर उसे कोई काम न मिले, तो यह बेकारी उसकी निर्धनता का कारण बन जाती है। ऐसे समय में गृहोद्योगों द्वारा उसे काम दिया जा सकता है। प्रथम पंच-वर्षीय-योजना में गृहोद्योगों के विकास पर ३३.६ करोड़ तथा द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में २२५ करोड़ व्यय किया गया, तृतीय-योजना में ३२५ करोड़ की व्यवस्था की गई है। इन कुटीरोद्योगों से निर्धनता का निवारण हो सकेगा।

(ग) कल-कारखानों के निर्माण द्वारा—कुटीरोद्योग छोटे होते हैं, उनसे देश की निर्धनता दूर होती ही है, परन्तु बड़े-बड़े कल-कारखाने देश की सम्पत्ति को बड़े पैमाने पर बढ़ाते हैं। अपने देश में अब प्रथम, द्वितीय, तृतीय योजनाओं में बड़े-बड़े कारखाने बनने लगे हैं। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बंगाल में चित्तरंजन में रेल के इंजन बनाने का कारखाना बना है, बिहार में सिंदरी में रासायनिक खाद बनाने का कारखाना बना है, विशाखापट्टम में जहाज़ बनाने का कारखाना बना है, भोपाल में बिजली के भारी सामान बनाने का कारखाना बना है। अब तृतीय-योजना में भोपाल-जैसा बिजली के सामान बनाने का कारखाना हरिद्वार में, एन्टीबायोटिक्स का कारखाना ऋषीकेश में बनने जा रहा है। लोहे तथा इस्पात के कारखाने उड़ीसा में रूरकेला, मध्यप्रदेश में भिलाई तथा पश्चिमी बंगाल में दुर्गापुर में बने हैं। इन सब से देश की राष्ट्रीय-आय बढ़ रही है, राष्ट्रीय-आय बढ़ने से प्रति व्यक्ति आय भी बढ़ रही है जिससे देश में निर्धनता का निवारण हो रहा है। कल-कारखाने पर सार्वजनिक-क्षेत्र में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वितीय-योजना में ८८० करोड़ के लगभग व्यय हुआ, तृतीय-योजना में १,५०० करोड़ व्यय किये जाने की व्यवस्था की गई है।

(घ) पशु-विकास द्वारा—किसान जैसे रुपये-पैसे को धन कहता है, वैसे पशुओं को भी वह धन ही कहता है, विशेष कर गाय-बैल उसके लिए गो-धन हैं। इनका जितना उसके पास बाहुल्य होगा, उतना ही वह धनी कहलायगा। पशु-धन में गाय, बैल, भैंस, सूअर, मछली, मुर्गी सब आ जाते हैं। इस समय हमारा पशु-धन बहुत क्षीण हो चुका है। गाय तथा बैलों के अस्थि-पंजर नज़र आते हैं। उनकी नस्ल भी दिनोंदिन गिरती जाती है। पशुओं की नस्ल के विकास के लिए गाँव-गाँव में 'की-स्कीम' (Key-scheme) खोली गई है जिसका अर्थ है कृत्रिम गर्भाधान के केन्द्र। इन केन्द्रों में अच्छी गायों तथा अच्छे बैलों की नस्ल के लिए कृत्रिम तौर पर गर्भाधान का आयोजन किया जाता है। १९५६ से १९६१ तक १२५८ 'की-स्कीम' के केन्द्र खोले गये और इस अवधि में १९६१ तक २२ हज़ार अच्छे साँड, ९५० अच्छे बैल तथा १ लाख दूध देने वाली गायों को उन्नत किया गया। गो-सदन खोलने की योजना में द्वितीय-योजना-काल में २४३ गो-सदन खोले गये और २०० करोड़ पशुओं के लिए चरागाहों की व्यवस्था की गई, भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दुग्धशालाएँ जारी की गईं। गाय-बैलों के अतिरिक्त मत्स्य-पालन, मुर्गी-पालन की तरफ़ भी इन योजनाओं में विशेष ध्यान दिया जा रहा है जिससे देश की निर्धनता दूर हो रही है।

(ङ) सामुदायिक-विकास-योजनाओं द्वारा—भारतीय-समाज की ग्राम पहली इकाई है। अगर प्रत्येक ग्राम की आर्थिक-अवस्था सुधर जाती है तो संपूर्ण देश की आर्थिक-व्यवस्था अपने-आप उन्नत हो जाती है। इसी दृष्टि को सम्मुख रख कर २ अक्तूबर १९५२ से संपूर्ण भारत में सामुदायिक-विकास-योजनाओं को जारी कर दिया गया। सौ-सौ गाँवों का एक क्षेत्र निश्चित कर उसमें, कृषि, यातायात, शिक्षा, स्वास्थ्य, कुटीरोद्योग, पीने का पानी, सिंचाई, मकान, समाज-कल्याण, आदि की संपूर्ण व्यवस्था की जा रही है। प्रथम-पंचवर्षीय-योजना-काल में सामुदायिक विकास-योजनाओं पर ९० करोड़ रुपया व्यय करने की व्यवस्था की गई थी जिसमें ५२.४ करोड़ व्यय हुआ, द्वितीय-योजना काल में २१० करोड़ की व्यवस्था की गई, तृतीय-योजना-काल के लिए ४०० करोड़ की व्यवस्था रखी गई है। इस सब से देश में निर्धनता का निवारण होगा, गाँव-गाँव उन्नत होगा तो समूचा देश अपने-आप संपन्न होगा।

(च) विद्युत्-शक्ति के उत्पादन की योजनाओं द्वारा—कल-कारखाने देश की समृद्धि के केन्द्र हैं, परन्तु उनके लिए विद्युत्-शक्ति की भारी ज़रूरत है। विद्युत् की कमी के कारण कारखाने रुक जाते हैं, धन का उत्पादन भी कम हो जाता है। अपने देश में विद्युत्-शक्ति की खपत सब देशों से कम है। उदाहरणार्थ, भारत में प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष बिजली का उपयोग १७.२८ किलोवाट है जबकि नार्वे में ५,६९८ किलोवाट है, ब्रिटेन में १,२८८ किलोवाट है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

विद्युत् का उत्पादन बढ़ेगा तभी कल-कारखाने भी चलेंगे। इस कमी को दूर करने के लिए अब भिन्न-भिन्न राज्यों में विद्युत् के उत्पादन की बड़ी-बड़ी योजनाएँ चल रही हैं। पंजाब में भाखरा-नांगल-योजना, उत्तर-प्रदेश में पथरी-योजना इसके उदाहरण हैं। इसी प्रकार दामोदर-घाटी-योजना तथा चंबल-नदी-योजना भी विद्युत् का महान् भंडार उत्पन्न कर देश की ग़रीबी को दूर कर रही हैं।

(छ) **यातायात के साधनों के विकास द्वारा**—सड़कों, रेलों, ट्रकों, मोटरों के बिना माल का यातायात रुक जाता है, व्यापार चल नहीं सकता, माल एक ही जगह पड़ा खराब हो जाता है। किसी देश की निर्धनता को दूर करने के लिए जहाँ व्यापार आवश्यक है, वहाँ व्यापार के लिए यातायात के साधन उतने ही आवश्यक हैं। यातायात के साधनों पर प्रथम-योजना में ५५६ करोड़, द्वितीय में १,३८४ करोड़ तथा तृतीय-योजना में १,४८६ करोड़ की व्यवस्था की गई।* उक्त राशियों में सिर्फ़ रेल के यातायात पर प्रथम-योजना में ४२३.७३ तथा द्वितीय-योजना में ९०० करोड़ व्यय हुआ। तृतीय-योजना में १,१२० मील लम्बी रेलवे, १६४ मील सड़कें तथा ३०० व्यापारिक-मार्गों की वृद्धि की जायगी।

(ज) **परिवार-नियोजन द्वारा**—हम पहले कह आये हैं कि देश की दिनोंदिन बढ़ती हुई जन-संख्या भी हमारे देश की निर्धनता का एक कारण है। अपने देश में ७० लाख व्यक्ति प्रति साल बढ़ रहे हैं। इतनी बढ़ती जन-संख्या के भरण-पोषण का हम प्रबन्ध नहीं कर सकते। अगर जन-संख्या पर प्रतिबन्ध न लगाया जाय तो निर्धनता अवश्यंभावी है। इस जन-संख्या को सीमित करने के लिए परिवार-नियोजन की व्यवस्था की गई है। प्रथम-योजना में गाँवों में २१ तथा शहरों में १२६ परिवार-नियोजन केन्द्र स्थापित किये गये थे, द्वितीय-योजना में ग्रामों के केन्द्रों की संख्या २१ से १,१०० तथा शहरों में १२६ से ५४९ हो गई। इसके अतिरिक्त ग्राम के १८६४ तथा शहरों के ३३० हस्पतालों में भी परिवार-नियोजन की सुविधा कर दी गई है। इस कार्य के लिए केन्द्रीय तथा राज्य परिवार-नियोजन-पटलों का निर्माण कर दिया गया है जिनकी देख-रेख में यह कार्य चल रहा है। प्रथम-योजना में इस मद में ६५ लाख, द्वितीय-योजना में ५ करोड़ तथा तृतीय-योजना में ५० करोड़ के व्यय की व्यवस्था की गई है। जन-संख्या पर इस प्रकार के नियंत्रण से निर्धनता में कमी होना निश्चित है।

---

१. प्रायः देखा जाता है कि सरकारी आँकड़ों में भी भेद होता है। इसका कारण यह है कि कई आँकड़े शुरू-शुरू के होते हैं, कई योजना समाप्त होने के बाद के होते हैं, कई बीच-बीच में संशोधित होते रहते हैं। इसलिये इन आँकड़ों पर पूर्णतया निर्भर नहीं रहना चाहिये। ये सिर्फ़ आर्थिक-विकास की दिशा को सूचित करते हैं, और जिस काल के ये होते हैं उस काल में ठीक भी होते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(झ) बेकारी-उन्मूलन—बेकार व्यक्तियों को काम दिलाने के लिए देश में जगह-जगह काम दिलाऊ दफ्तर खोले गये हैं जिनका काम बेकार व्यक्तियों को रजिस्टर करके जिन लोगों को काम करने वालों की ज़रूरत है, उनके साथ इनका संबंध स्थापित करना है। इस योजना से भी बेकारों को रोज़गार मिलता है और निर्धनता दूर होती है।

(ञ) न्यायपूर्ण वितरण के लिए समाजवादी-व्यवस्था—देश में कितनी ही सम्पत्ति क्यों न पैदा हो जाय, राष्ट्रीय-आय कितनी ही क्यों न बढ़ जाय, अगर सम्पत्ति का वितरण ठीक नहीं है, तो धनी अधिक धनी होते जायेंगे, राष्ट्रीय-आय भी उनके कारण बढ़ती दीखेगी, परन्तु निर्धनता दूर नहीं होगी। इसके लिए अर्थ का उपार्जन ही पर्याप्त नहीं है, अर्थ का न्यायपूर्ण वितरण उससे भी ज़्यादा आवश्यक है। इस उद्देश्य से भारत-सरकार ने अपनी अर्थ-नीति की घोषणा करते हुए दिसम्बर १९५४ कोप लियामेंट में यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ की अर्थ-नीति का आधार समाजवादी अर्थ-व्यवस्था होगी, ऐसी अर्थ-व्यवस्था जिसमें धनी अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन नहीं होंगे, जिसमें सम्पत्ति का समान तथा न्यायपूर्ण वितरण होगा। ऐसा होने से ही किसी देश की निर्धनता दूर हो सकती है, केवल कृषि-सुधार, उद्योग-विकास, पशु-पालन, यातायात के साधनों के विकास तथा परिवार-नियोजन आदि से ही नहीं।

प्रश्न

१. "प्रकृति ने भारतवर्ष पर उपहारों की वर्षा उदार हाथों से की है, पर मनुष्य उनसे पूरा लाभ उठाने में सफल नहीं हुआ। यहाँ प्रकृति की उदारता की तुलना में मनुष्य की निर्धनता अति अद्भुत है।" इस कथन की व्याख्या कीजिये और यह बतलाइये कि भारत सरकार को निर्धनता दूर करने के लिए किन उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। (१९५१)

२. "भारत की निर्धनता के मूल में जन-संख्या का अधिक होना है"—इस कथन की विवेचना कीजिये और अपने उत्तर के लिए युक्तियाँ दीजिये। (१९५४)

३. भारत से निर्धनता को दूर करने के लिए आप किन उपायों को सुझाओगे? (१९५५)

४. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि भारत में निर्धनता का कारण जन-संख्या का आधिक्य है? (१९५६, १९५८)

५. निर्धनता की परिभाषा कीजिये। ग़रीबी और अपर्याप्त पोषण में क्या संबंध है? (१९५७)

६. भारतवर्ष की निर्धनता के मुख्य कारण और उसको नष्ट करने के उपाय जो सरकार ने किये हैं उनका संक्षिप्त वर्णन कीजिये। (१९६०)

७. भारत की निर्धनता के कारणों का संक्षिप्त विवेचन कीजिये। (१९६१)

८. भारत में दरिद्रता तथा बेकारी के मुख्य-मुख्य कारणों की पर्यालोचना कीजिये। इनके उन्मूलन के उपाय भी बतलाइये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२

निर्धनता तथा जन-संख्या का प्रश्न
(POVERTY AND POPULATION PROBLEM)

१. निर्धनता तथा जन-संख्या का संबंध
(Relation between Poverty and Population)

(क) अंग्रेज अर्थशास्त्रियों का मत—हमने भारत की निर्धनता तथा उसके निवारण के उपायों पर पिछले अध्याय में विचार किया। अंग्रेज अर्थशास्त्री जो भारत की निर्धनता पर विचार करते थे उनका कहना था कि इस देश की दिनोंदिन बढ़ती जन-संख्या भारत की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण है। अंग्रेज़ों के समय इस बात पर बहुत ज़ोर दिया जाता रहा कि इस देश की ग़रीबी का कारण अंग्रेज़ इतना नहीं हैं जितना यहाँ की घनी आबादी है।

(ख) भारतीय अर्थशास्त्रियों का मत—इसके विपरीत भारतीय अर्थ-शास्त्रियों का कहना था कि घनी आबादी ग़रीबी का कारण हो सकती है, परन्तु

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Mention the chief defects in the quality of Indian population. Make out a Eugenic programme for India so as to remove the cacogenic elements from our population. (1952)

2. Differentiate between positive and negative Eugenics. Suggest a Eugenic programme to remove the cacogenic elements from Indian population. (1953)

3. "Over-population lies at the root of Indian poverty." Examine this statement and give reasons for your answer. (1954)

4. Do you agree with the view that India is over-populated? Support your answer with arguments. (1955)

5. Discuss the necessity of population control in India and indicate the lines on which population planning should proceed. (1956)

6. Discuss the social consequences of an increase in population. Give examples. (1957)

7. Which of the following factors are responsible for the growing population of India—a rising birth-rate or a falling death-rate or both? (1960)

8. What suggestions can you give to check the population growth of India? (1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह ज़रूरी नहीं कि आबादी बढ़ जाय तो ग़रीबी ज़रूर ही आ जाय। उदाहरणार्थ, यह हो सकता है कि आबादी बढ़ जाय, और उसके साथ-साथ कृषि तथा उद्योगों को इतना बढ़ा लिया जाय कि बढ़ी हुई आबादी का कुछ हिस्सा इस बढ़ी हुई कृषि में और कुछ उद्योगों में खप जाय। यह भी हो सकता है कि आबादी घट जाय, पैदावार बढ़ी हुई हो, परन्तु देश का सारा कच्चा माल विदेशी-सरकार बाहर भेज दे और पैदावार के ज़्यादा होते हुए एवं आबादी कम होते हुए भी लोग भूखों मरें। अंग्रेज़ों के समय ऐसा ही होता रहा। श्रीयुत कर्वे, वाडिया, जोशी आदि भारतीय अर्थशास्त्रियों का यही कहना था कि भारत की आबादी यहाँ की ग़रीबी का कारण नहीं है, यहाँ की ग़रीबी का कारण यह है कि कृषि के संबंध में हम पुराने तरीकों का इस्तेमाल कर रहे हैं, नए तरीकों, नई-नई खादों का इस्तेमाल नहीं करते जिनसे उतनी ही ज़मीन में पहले से चार-पाँच गुणा पैदावार हो सकती है, और न ही उद्योगों की तरफ़ ध्यान देते हैं जिनमें बेतहाशा जन-संख्या खप सकती है। ये अर्थशास्त्री अंग्रेज़-सरकार का ध्यान आबादी से हटाकर कृषि तथा उद्योगों की उन्नति की तरफ़ खींचना चाहते थे। भारतीय अर्थशास्त्रियों का कहना था कि भारत की बढ़ती हुई आबादी में भी यहाँ अन्य देशों की तुलना में प्रति वर्गमील आबादी कम है। उदाहरणार्थ, १९२१ में प्रति वर्गमील आबादी बेल्जियम में ६५८, इंगलैण्ड और वेल्स में ६४९, इटली में ३१५, जर्मनी में ३११, जापान में ३२०, स्विट्ज़रलैण्ड में २३६ और भारत में केवल १७७ थी। आबादी प्रति वर्गमील कम होते हुए भी भारत इन देशों से ग़रीब क्यों था? भारत ग़रीब इसलिए था क्योंकि १९१९–२० में भारत की पहाड़ी और बंजर भूमि को छोड़ कर वह भूमि जिसे खेती के काम में लाया जा सकता था सारी खेती के काम में नहीं लायी जा रही थी। २७ प्रतिशत भूमि ऐसी पड़ी थी जिसे जोत-बो कर अनाज पैदा किया जा सकता था, परन्तु उसकी तरफ़ किसी का ध्यान नहीं था। १९५१ की जन-गणना के अनुसार प्रति वर्गमील आबादी बेल्जियम में ७९९, इंगलैण्ड में ७५०, जर्मनी में ३३२, जापान में ४८२ तथा भारत में २९६ थी। अन्य देशों की अपेक्षा आबादी का प्रति वर्गमील घनत्व भारत में कम होते हुए भी भारत निर्धन है। आबादी बढ़ने का मतलब है आबादी घनी हो जाय, भूमि कम हो जाय। जहाँ ऐसी हालत होगी, अर्थात् जहाँ आबादी घनी होगी, भूमि कम होगी, वहाँ निर्धनता होना ज़रूरी है—यह अंग्रेज़ अर्थशास्त्री कहते थे। परन्तु ऊपर जो आँकड़े दिये गए हैं उनसे स्पष्ट है कि भारत की आबादी भूमि के घनत्व को देखते हुए अन्य देशों की अपेक्षा कम होते हुए भी यह देश घनी नहीं, निर्धन है, और दूसरे देश घनी आबादी और कम भूमि होने पर भी समृद्ध देश हैं। इसका यही कारण है कि दूसरे देश अपनी ज़मीन का खेती के लिए पूरा-पूरा उपयोग करते हैं, हमारी भूमि बेकार पड़ी है। इसी प्रकार, उत्तम खाद आदि द्वारा कृषि-उपज को दुगुना-चौगुना करने की भी अपने देश में कोई नहीं सोचता था। बम्बई तथा उत्तर-प्रदेश की भूमि से उस समय १२५० पौ० प्रति एकड़ उत्पादन हो रहा था

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जबकि संयुक्त-राज्य (इंग्लैण्ड) का उत्पादन १९७३ पौ० प्रति एकड़ और पहाड़ी देश स्विट्ज़रलैण्ड का उत्पादन १८५८ पौ० प्रति एकड़ था। यह सब-कुछ क्या सिद्ध करता है। इससे यही सिद्ध होता है कि आबादी बढ़ने पर भी ऐसे उपायों का प्रयोग किया जा सकता है जिनसे निर्धनता न बढ़े। अंग्रेज़ सरकार भारत की ग़रीबी के संबंध में सिर्फ आबादी बढ़ने का नारा लगाया करती थी, कृषि तथा उद्योग बढ़ाने की तरफ़ ध्यान नहीं देती थी जिससे देश दिनोंदिन निर्धन होता जाता था। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से इस दिशा में परिवर्तन आने लगा है।

(ग) **निष्कर्ष**—हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि जन-संख्या तथा निर्धनता का कोई संबंध नहीं है। इनके संबंध के विषय में हम पिछले अध्याय में चर्चा कर आये हैं। इन दोनों का तो घनिष्ठ संबंध है ही। पिछले अध्याय में हम दर्शा आये हैं कि अगर जन-संख्या बढ़ती जायगी तो खाद्यान्न की जन-संख्या के अनुसार वृद्धि नहीं होगी, श्रमिक वर्ग के लोग बढ़ने लगेंगे, प्रति-व्यक्ति आय घटेगी। यह सब होते हुए भी यह बात ठीक है कि अगर कृषि, उद्योग आदि की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जाय तो जन-संख्या के बढ़ते जाने पर भी देश निर्धन नही होगा, उल्टे यह बढ़ती हुई जन-संख्या कृषि तथा उद्योग के लिए आवश्यक होगी।*

२. जन-संख्यातिरेक के संबंध में दो सिद्धान्त
(Two theories regarding over-population)

जैसा हमने पिछले अध्याय में कहा, और इस अध्याय में दोहराया, निर्धनता तथा जन-संख्या का संबंध है। जन-संख्या बढ़ती जायगी तो देश का निर्धन होना स्वाभाविक है। परन्तु अगर कृषि, उद्योग आदि बढ़ते चले जायें तो जन-संख्या बढ़ने पर भी देश सम्पन्न रह सकता है। हाँ, ऐसा हो सकता है कि जन-संख्या इतनी बढ़ जाय कि हम कितना ही कृषि तथा उद्योग को क्यों न बढ़ायें, जन-संख्या इतनी बढ़ी हुई हो कि सब को खाने को न दिया जा सके, सब को काम-धंधा न दिया जा सके। जब किसी देश में ऐसी स्थिति आ जाती है तब उसे 'जन-संख्यातिरेक' (Over-population) की स्थिति कहा जाता है। 'जन-संख्यातिरेक' से देश निर्धन हो जाता है।

'जन-संख्यातिरेक' की स्थिति क्या है? इस संबंध में अर्थशास्त्रियों में दो सिद्धान्त हैं। ये दो सिद्धान्त निम्न हैं:

(क) मालथस का जन-संख्यातिरेक का सिद्धान्त।

(ख) आदर्श जन-संख्या का सिद्धान्त।

---

* 1. "Over-population lies at the root of Indian poverty." Examine this statement and give reasons for your answer. (1954)

2. Do you agree with the view that over-population is the cause of Indian poverty? (1956)

3. Do you agree with the view that Indian poverty is a result of over-population? (1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. मालथस का जन-संख्यातिरेक तथा निर्धनता का सिद्धान्त (Malthusian theory of over-population and poverty)

'जन-संख्यातिरेक' के विषय में पहला सिद्धान्त मालथस का सिद्धान्त है। मालथस एक अंग्रेज़ पादरी था। मालथस के समय जो वैज्ञानिक चमत्कार हो रहे थे, उन्हें देखकर कई लोगों ने भविष्यद्वाणियाँ करनी शुरू कर दी थीं, कि अब मानव-समाज का स्वर्णिम-युग आ रहा है। अब मनुष्य के दुःख दूर हो जायेंगे, वह सुख की नींद सोयेगा और चैन की बंसी बजायेगा। यह सब-कुछ देखकर मालथस ने चेतावनी की एक आवाज़ उठाई। उसने कहा कि प्रकृति में जो 'जीवन-संग्राम' (Struggle for existence) चल रहा है, वह वनस्पति तथा निम्न प्राणि-जगत् तक ही सीमित नहीं है, यह प्राणि-शास्त्रीय नियम मानव-जगत् पर भी लागू है। मनुष्य बढ़ रहे हैं, अन्न घट रहा है—इसलिए भविष्य में ऐसा समय आने वाला है जब जीने की कश्मकश बढ़ जायगी, मनुष्य मनुष्य के साथ लड़ेगा, युद्ध होंगे, और चैन की नींद सोने के स्थान में मनुष्य के लिए आजीविका का प्रश्न उसकी नींद को हराम कर देगा। उसका कहना था कि हर पच्चीस-पच्चीस साल के बाद जन-संख्या 'गुणात्मक-क्रम' (Geometrical progression) से तथा भूमि से अन्न धनात्मक-क्रम' (Arithmetical progression) से बढ़ रहे हैं। २५ साल के बाद जन-संख्या ४ की ८ हो जाती है, ८ की १६—अर्थात् दो 'गुणा' हो जाती है, परन्तु अन्न ४ का ५, ५ का ६ और ६ का ७—अर्थात् 'गुणा' न होकर एक 'धनात्मक' अंक बढ़ता है। परिणाम यह होता है कि पहले जन-संख्या और अन्न में जो अनुपात है, वह आगे-आगे, अनुपात से न बढ़कर, अनुपात की अपेक्षा बहुत अधिक तेज़ी से बढ़ता जाता है, और सैकड़ों सालों के बाद जन-संख्या बहुत बढ़ जाती है, भूमि उतना अन्न नहीं पैदा कर सकती। भूमि की उत्पादन-शक्ति भी दिनोंदिन घटती जाती है—इसे अर्थशास्त्री 'ह्रासोन्मुखी-प्राप्ति का नियम' (Law of diminishing returns) कहते हैं। आज भूमि जितना पैदा करती है, अगली बार खेती करने पर उससे कम पैदा करेगी। हम उत्पत्ति के कितने ही नए-नए साधनों को इस्तेमाल करें, खाद दें, नई ज़मीन जोतें, परन्तु भूमि का उत्पादन दो नियमों से प्रभावित होगा। एक नियम तो 'धनात्मक-क्रम' (Arithmetical progression) का है, दूसरा 'ह्रासोन्मुखी-प्राप्ति' (Law of diminishing returns) का है। इन दोनों के कारण अनाज का उत्पादन आबादी की बढ़ती को पकड़ नहीं सकता और मनुष्य जन-संख्यातिरेक की एक विकट, भयंकर स्थिति में पड़ जाता है।

इस समस्या का क्या समाधान है? मालथस का कहना था कि इसका समाधान एक तो प्रकृति स्वयं करती है, दूसरा समाधान मनुष्य के हाथ में है। प्रकृति क्या करती है? प्रकृति अपने उपायों द्वारा जन-संख्या और अन्न में समता लाने का प्रयत्न करती रहती है। युद्ध हो जाते हैं, बाढ़ें आ जाती हैं, बीमारियाँ फैल जाती हैं, अकाल पड़ जाते हैं—सीमातीत जन-संख्या मर जाती

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, और उतने ही व्यक्ति रह जाते हैं जिनके लिए भोजन पर्याप्त होता है। प्रकृति के इन निरोधों को मालथस ने 'निश्चित-निरोध' (Positive checks) का नाम दिया है। परन्तु मालथस का कहना था कि प्रकृति के ये 'निश्चित-निरोध' बहुत दुःखदायी हैं, मनुष्य को व्याकुल कर देते हैं। इसलिए इससे अच्छा यह है कि जन-संख्या के नियन्त्रण को प्रकृति के हाथ में छोड़ देने के स्थान में मनुष्य इस काम को अपने हाथ में ले, और ऐसे उपायों का अपनी बुद्धि से प्रयोग करे जो 'प्रतिबन्धक-निरोध' (Preventive checks) के उपाय हों। ये उपाय क्या हैं? कृत्रिम 'संतति-निग्रह' (Birth-control) द्वारा बच्चे ही उतने पैदा किये जाँय जिनको हम खिला-पिला सकते हैं। मालथस का कहना था कि अगर हम कृत्रिम 'संतति-निग्रह' के उपायों द्वारा जन-संख्या को कम नहीं करते, तो जन-संख्या इतनी बढ़ जायगी कि निर्धनता मानव-समाज का एक आवश्यक अभिशाप हो जायगी।

४. आदर्श जन-संख्या का सिद्धान्त (Optimum theory of population)

मालथस ने जन-संख्यातिरेक के विषय में जो भयंकर चित्र खींचा था वह सालों बीत जाने पर भी युरोप तथा अमरीका में सही साबित न हुआ। ऐसी हालत में जन-संख्या तथा निर्धनता के विषय में कुछ लेखकों ने एक अन्य दृष्टिकोण रखा। इनका कहना यह था कि हो सकता है कि मालथस की यह स्थापना ग़लत हो कि अनाज आदि उस तेज़ी से नहीं बढ़ते जिस तेज़ी से आबादी बढ़ती है, हो सकता है कि कभी-कभी अनाज आदि आबादी से भी तेज़ी से बढ़ने लगें, परन्तु यह बात ठीक है कि अनाज आदि भूमि से उत्पन्न होने वाले पदार्थ और आबादी के बीच एक अनुपात अवश्य है। वह अनुपात बना रहेगा तो देश उन्नत होता जायगा, वह अनुपात टूट जायगा तो देश निर्धन होने लगेगा। हमें दो चीज़ों से वास्ता है—एक भूमि से उत्पन्न होने वाले पदार्थ, जिन्हें हम 'भोग्य-पदार्थ' कह सकते हैं, दूसरी 'जन-संख्या'। 'भोग्य-पदार्थ' या तो 'कृषि' (Agriculture) से उत्पन्न होते हैं, या 'उद्योग' (Industry) से उत्पन्न होते हैं। 'कृषि' से जो 'भोग्य-पदार्थ' उत्पन्न हो सकते हैं उनके उत्पन्न होने की कोई अधिक-से-अधिक सीमा है, ऐसी सीमा जिससे आगे हम कितनी ही खाद क्यों न देते जाँय, भूमि और अधिक पैदा नहीं करेगी। इसी प्रकार 'उद्योगों' से जो 'भोग्य-पदार्थ' उत्पन्न हो सकते हैं उनके अधिक-से-अधिक उत्पन्न हो सकने की भी कोई सीमा है, ऐसी सीमा जिससे आगे हम उद्योग-धन्धे में कितना ही रुपया क्यों न लगायें और कितनी ही मज़दूरी क्यों न लगायें, उस 'उद्योग' से 'भोग्य-पदार्थ' और अधिक नहीं उत्पन्न हो सकता। यह सीमा 'उत्पादन की आदर्श-सीमा' (Optimum of production या income) कहलाती है। जिस प्रकार 'भोग्य-पदार्थ' के उत्पादन की 'आदर्श-सीमा' है, इसी प्रकार 'जन-संख्या' की भी 'आदर्श-सीमा' (Optimum of population) है। 'जन-संख्या' की 'आदर्श-सीमा' वह है जिस सीमा से आगे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निकल जाने पर जन-संख्या को पर्याप्त भोजन नहीं मिल सकता। किसी देश की 'आदर्श-जन-संख्या' (Optimum of population) वह है जिस संख्या पर आकर 'उत्पादन की आदर्श-सीमा' (Optimum of Production या income) अपने उच्चतम-स्तर पर होती है, अर्थात् जिस संख्या पर उस देश के प्रति-व्यक्ति की आमदनी ज्यादा-से-ज्यादा होती है। उत्पादन तो अपनी ऊँची-से-ऊँची सीमा पर पहुँच गया, ऐसी सीमा पर पहुँच गया जहाँ आगे कितनी भी कोशिश क्यों न करें उत्पादन और अधिक नहीं बढ़ सकता। ऐसे समय में जन-संख्या को घटा-कर देखना होगा कि उत्पादन बढ़ता है या नहीं। जन-संख्या को घटाते-घटाते जिस संख्या से उत्पादन बढ़ना शुरू हो जाय, वह संख्या 'आदर्श जन-संख्या' (Optimum of population) है, और वह देश उस 'आदर्श-जन-संख्या' को कायम रखकर ही समृद्ध रह सकता है। उस 'आदर्श जन-संख्या' की अपेक्षा कम आदमी होंगे तो बहुत अच्छा है, परन्तु जन-संख्या क्योंकि कम न होकर अधिक होने की तरफ़ गतिशील होती है, अतः कम का तो प्रश्न ही नहीं उठता। प्रश्न यह है कि किसी देश की अधिक-से-अधिक कितनी जन-संख्या होनी चाहिए ताकि देश में प्रति-व्यक्ति आय अधिक-से-अधिक रहे। इसका उत्तर यही है जो हमने अभी दिया है। इस उत्तर को उदाहरण से कुछ और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। कल्पना कीजिये एक कारखाना है। उस कारखाने में मान लीजिए १० मज़दूर काम करते हैं। काम नपा-तुला है। अब हमने १० की जगह १५ मज़दूर कर दिये। उस कारखाने के लिए मज़दूरों की 'आदर्श-संख्या' क्या होगी? कल्पना कीजिए १५ मज़दूरों से जितना काम निकलता है १४ मज़दूरों से भी उतना ही निकलता है, फिर कल्पना कीजिए १४ से जितना काम निकलता है, १३ से भी उतना ही निकलता है। इसका यह अभिप्राय हुआ कि उस कारखाने के लिए १५ और १४ आदर्श संख्या नहीं हैं। अब कल्पना कीजिए कि १३ की जगह हमने १२ मज़दूर कर दिये और अब काम भी कम होने लगा। ऐसी हालत में जिस संख्या को कम करने से काम कम होने लगे, या दूसरे शब्दों में जिस संख्या को बढ़ाकर काम बढ़ने लगे, कारखाने के लिए वही 'आदर्श-संख्या' है। ऊपर के दृष्टान्त में उस कारखाने के लिए १३ आदर्श-संख्या है क्योंकि १३ से कम मज़दूर करते ही काम कम होने लगता परन्तु १४ करने से बढ़ता नहीं है। 'उपभोग्य' के उत्पादन की तो एक आदर्श-सीमा है, ऐसी सीमा जिससे आगे हम कुछ भी क्यों न कर लें, उत्पादन बढ़ ही नहीं सकता। इस 'उपभोग्य' के मुकाबिले में जन-संख्या की सीमा का हमने निर्धारण करना है। जिस बिन्दु पर पहुँचकर इस जन-संख्या से 'उपभोग्य' के उत्पादन में वृद्धि नहीं हो सकती, वह बिन्दु ही उस देश के लिए 'आदर्श-जन-संख्या' है। यह जन-संख्या कितनी ही क्यों न बढ़ती जाय, देश का उत्पादन अपनी आदर्श-सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता। घटते-घटते जिस सीमा पर आकर जन-संख्या उत्पादन को बढ़ाने लगे, वही उस देश की 'आदर्श-जन-संख्या' है, ठीक उस प्रकार जैसे १५ मज़दूरों से घटते-घटते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिस संख्या पर आकर कारखाने का उत्पादन बढ़ने लगे, वह कारख़ाने के लिए 'आदर्श-संख्या' है। इस सारे विवेचन से यह स्पष्ट है कि किसी देश की 'आदर्श-उत्पादन' की सीमा के साथ 'आदर्श-जन-संख्या' की सीमा के मेल बने रहने से ही देश समृद्ध रह सकता है, इन दोनों के मेल टूट जाने से देश निर्धनता की तरफ़ चल देता है।

जिन लोगों ने जन-संख्या के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया, उन्होंने मालथस के सिद्धान्त पर किये गए सब आक्षेपों का उत्तर दे दिया। मालथस के आक्षेप पर यह आक्षेप किया गया था कि वर्षों बीत जाने पर भी युरोप तथा अमरीका में वह भयंकर लीला क्यों न घटी जिसका मालथस ने चित्र खींचा था, क्यों लोग दाने-दाने को न मरने लगे, क्यों बीमारियाँ नहीं फैलीं, जन-संहार क्यों नहीं हुआ। इसका उत्तर 'आदर्श-जनसंख्या'-वादियों ने यह दिया कि जबतक हम अपने उत्पादन को बढ़ाकर 'आदर्श-उत्पादन' (Optimum of production या income) तथा 'आदर्श-जन-संख्या' (Optimum of population) का समन्वय बनाये रखेंगे तबतक प्रकृति के 'निश्चित-निरोधों' (Positive checks) के थपेड़ों से भी हम बचे रहेंगे।

जन-संख्या के संबंध में ऊपर जो दो सिद्धान्त दिये गए हैं, उनमें भेद यह है कि मालथस तो यह कहता था कि जन-संख्या उत्पादन की अपेक्षा बेतहाशा बढ़ती जा रही है, और अब भुखमरी आने ही वाली है, परन्तु 'आदर्श-जन-संख्या'-वादियों का कहना था कि यह ठीक है कि जन-संख्या बढ़ रही है लेकिन यह समझना कि आबादी बढ़ने के साथ ही भुखमरी आ खड़ी होगी, ग़लत है, क्योंकि न तो हर देश में उत्पादन अपनी उच्चतम सीमा में पहुँच चुका है ,और उस सीमा से जितनी जन-संख्या पल सकती है न जन-संख्या उस सीमा तक पहुँच चुकी है। उदाहरणार्थ, मालथस के शब्दों में भारतवर्ष के लिए कहा जा सकता है कि यहाँ की जन-संख्या बढ़ रही है, इसलिए भुखमरी आने ही वाली है, परन्तु 'आदर्श-जन-संख्या'-वादी कह सकते हैं कि यहाँ का 'उत्पादन' अपनी उच्च-सीमा तक नहीं पहुँचा इसलिए घबराने की कोई बात नहीं है। अभी कृषि के क्षेत्र में उत्पादन को बहुत अधिक बढ़ाया जा सकता है, देश के उत्पादन के ऐसे क्षेत्र पड़े हुए हैं, जिनकी तरफ़ अभी किसी का ध्यान तक नहीं गया, उद्योग तो अभी प्रारंभ ही हुए हैं, अभी तो इन सब के लिए हमें बहुत अधिक जन-संख्या की ज़रूरत है। देश में काम की कमी कहाँ है, काम करने वालों की कमी है। हम इसलिए ग़रीब नहीं हैं क्योंकि हमारे पास काम नहीं है, हम ग़रीब इसलिए हैं क्योंकि हम आलसी हैं, काम करना नहीं चाहते। हमारे देश में भिखमंगों की एक फौज खड़ी की जा सकती है—इतने हैं माँगने वाले इस देश में। इतनों के लिए अभी इस देश में उत्पादन की बहुत बड़ी गुंजाइश है—ऐसा 'आदर्श-जन-संख्या'-वादी कह सकते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. क्या भारत में जन-संख्यातिरेक है ?*

अभी हमने जन-संख्या के विषय में दो सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। प्रश्न यह है कि क्या मालथस के सिद्धान्त या आदर्श जन-संख्या के सिद्धान्त के अनुसार भारत को जन-संख्यातिरेक का देश कहा जा सकता है ?

(क) **मालथस के मत के अनुसार**—मालथस का मत है कि जन-संख्या 'गुणात्मक-क्रम' (Geometrical progression) तथा खाद्यान्न 'वनात्मक-क्रम' (Arithmetical progression) से बढ़ते हैं, और ऐसा समय आ जाता है जब देश की उपज देश की जन-संख्या का पेट नहीं भर सकती। ऐसी अवस्था में खाद्यान्न का अभाव हो जाता है, भुखमरी, अकाल तथा महामारी पड़ने लगती हैं। क्या यह बात भारत के विषय में ठीक है ? आँकड़ों से यही सिद्ध होता है कि यह बात भारत के विषय में ठीक उतर रही है। वह कैसे ?

(i) **गोपालस्वामी के आँकड़े**—१९५१ की जनगणना के कमिश्नर गोपालस्वामी ने लिखा है कि भारत में १८९१ और १९५१ के बीच जन-संख्या में ५१.३ प्रतिशत की वृद्धि हुई जिसमें से १९४१ तथा १९५१ के बीच १३.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। इस तेजी से खाद्यान्नों में वृद्धि नहीं हुई।

(ii) **राधाकमल मुकर्जी के आँकड़े**—डा० मुकर्जी का कहना है कि भारत में जो खाद्यान्न उत्पन्न हो रहा है उससे सिर्फ़ ८८ प्रतिशत जनता का पेट भर सकता है, जन-संख्या इस तेजी से बढ़ रही है कि १२ प्रतिशत जन-संख्या का पेट भारत में पैदा हुए अन्न से नहीं भर सकता।

(iii) **वात्तल के आँकड़े**—श्री पी० के वात्तल का कहना है कि १९३५-३६ के बीच इस देश की जन-संख्या १ प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ी, यहाँ खाद्यान्न ०.६५ प्रतिशत की दर से बढ़ा। दोनों में अनुपात का बहुत अन्तर रहा।

(iv) **डा० ज्ञानचन्द के आँकड़े**—डा० ज्ञानचन्द का कहना है कि १९०० से १९३४ के बीच जन-संख्या २१ प्रतिशत बढ़ गई परन्तु खेती योग्य भूमि में सिर्फ़ ११ प्रतिशत वृद्धि हुई।

(v) **भारत सरकार के आँकड़े**—भारत सरकार अन्न की कमी को पूरा करने के लिए अमरीका, ईजिप्ट, बर्मा आदि देशों से इकरारनामे करती रहती है। इनके आधीन अन्न का आयात प्रतिवर्ष बढ़ता जा रहा है जिससे सिद्ध होता है कि जन-संख्या इतनी बढ़ रही है कि अपने देश में उन सब के पेट पालने लायक खाद्यान्न नहीं पैदा होता। उदाहरणार्थ, निम्न आँकड़े दिये जा रहे हैं, जिनसे स्पष्ट है कि हमारा अन्न का आयात लगातार बढ़ रहा है :

---

* **Do you agree with the view that India is over-populated? Support your answer with arguments.** (1955)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्न के बढ़ते आयात के आंकड़े (टनों में)

वर्ष	चावल	गेहूँ तथा आटा	अन्य अनाज	अन्न का कुल आयात
१९५६	३,२५,०००	१०,९५,०००	—	१४,४०,०००
१९५७	७,३६,०००	२८,५२,०००	—	३५,८८,०००
१९५८	३,९१,०००	२६,७३,०००	१,०९,०००	३१,७३,०००
१९५९	२,९०,०००	३४,९७,०००	२०,०००	३८,०७,०००
१९६०	६,८८,०००	४३,१७,०००	५१,०००	५०,५६,०००
१९६१	३,७८,०००	३०,४३,०००	१९,०००	३४,४०,०००
१९६२	३,८४,०००	३१,९९,०००	—	३५,८३,०००

(vi) **अकाल**—खाद्यान्न के जन-संख्या के अनुसार न बढ़ने के अतिरिक्त मालथस का कहना यह भी है कि जहाँ जन-संख्या सीमा का उल्लंघन कर जाती है वहाँ अकाल पड़ने लगते हैं। भारत में १८७६–७८ में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें ५२.५ लाख व्यक्ति मर गये। इसके बाद १८९६–९७ में अकाल से ७.५ लाख व्यक्ति मरे। १८९९–१९०० में फिर अकाल पड़ा जिसमें १२ लाख व्यक्ति मरे। १९४३ का बंगाल का अकाल तो अपने देखते-देखते पड़ा जिसमें ३० लाख व्यक्ति मरे।

(vii) **महामारी**—मालथस के अनुसार जन-संख्या बढ़ने का परिणाम भयंकर अकाल के अलावा महामारियाँ भी होती हैं। भारत में प्रति वर्ष लगभग २ लाख व्यक्ति हैज़े से, ७१ हज़ार चेचक से, २५ हज़ार प्लेग से, ५ लाख तपेदिक से मरते हैं। ये बीमारियाँ भी इसीलिए होती हैं क्योंकि जन-संख्या के सीमातीत हो जाने के कारण इन लोगों को पर्याप्त भोजन नहीं मिलता, इनकी जीवनी-शक्ति कमज़ोर पड़ जाती है और बीमारियाँ इन पर शीघ्र आक्रमण कर देती हैं।

(ख) **आदर्श जन-संख्या के मत के अनुसार**—मालथस के मत के अनुसार तो भारत में जन-संख्यातिरेक है ही, क्या आदर्श जन-संख्या के मत के अनुसार भी इस देश में जन-संख्यातिरेक है? आदर्श जन-संख्या के मत का वर्णन हम पहले कर आये हैं। किसी देश की आदर्श जन-संख्या वह है जिससे अगर अधिक जन-संख्या हो जाय तो कृषि, उद्योग आदि के कितने ही साधन उपयोग में क्यों न लाये जायें, प्रति-व्यक्ति आय घटने लगे। इस आदर्श जन-संख्या से जब जन-संख्या बढ़ने लगती है तब उसे 'जन-संख्यातिरेक' (Over-population) कहते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भारत में अभी कृषि, उद्योग आदि का पूर्ण विकास नहीं हो पाया। कृषि, उद्योग आदि का जब पूर्ण विकास हो जायगा तब अगर हम अपनी जन-संख्या को पर्याप्त खाद्यान्न दे सकेंगे, पहनने को कपड़ा और रहने को मकान दे सकेंगे, तब जन-संख्या के बढ़ने पर भी इस देश में जन-संख्यातिरेक नहीं कहा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जा सकेगा। अभी तो स्थिति यह है कि जन-संख्या तथा कृषि, उद्योग आदि द्वारा उत्पादन—इन दोनों में मेल नहीं बैठ रहा। जन-संख्या तेज़ी से बढ़ रही है, कृषि तथा उद्योग का उत्पादन उस तेज़ी से नहीं हो रहा। ऐसी हालत में तो आदर्श जन-संख्या के मत के अनुसार भी इस देश में जन-संख्यातिरेक है, परन्तु यह जन-संख्यातिरेक आदर्श जन-संख्या में तब्दील हो सकता है अगर हम कृषि तथा उद्योग को बढ़ावा देकर इतना उत्पादन बढ़ा दें जिससे सब को खाने, पहनने, रहने को मिलने लगे। ऐसा संभव है, इसलिए आज जो जन-संख्यातिरेक है वह हमारे अनथक प्रयत्न से आदर्श जन-संख्या में परिणत हो सकता है।

६. जन्म-दर और मृत्यु-दर के तीन नियम*

यह तो हमने देखा कि 'मालथस' और 'आदर्श-जन-संख्या' के सिद्धान्तों में क्या भेद है, परन्तु इस भेद के होते हुए भी इन दोनों सिद्धान्तों में एक समानता है। दोनों का कहना है कि जन-संख्या इतनी नहीं बढ़ने देनी चाहिए जिससे लोगों को परेशानी का सामना करना पड़े। अगर जन-संख्या बहुत अधिक बढ़ जायगी, तो देश में निर्धनता का होना लाज़मी है। जन-संख्या के बढ़ने-न-बढ़ने के साथ मृत्यु-संख्या का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है, इसलिए जन-संख्या की समस्या को ठीक-ठीक समझने के लिए मृत्यु-संख्या, अर्थात् जन्म-दर और मृत्यु-दर के पारस्परिक संबंध को समझना भी ज़रूरी है। वह संबंध क्या है?

जन्म-दर और मृत्यु-दर के संबंध में तीन नियम काम करते हैं—(क) 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर'; (ख) 'निम्न मृत्यु-दर और निम्न जन्म-दर'; (ग) 'निम्न मृत्यु-दर और उच्च जन्म-दर'। ये तीनों क्या हैं?

(क) उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर—जन-संख्या बहुत अधिक न बढ़े, इसके दो उपाय हैं। एक उपाय तो जैसा मालथस ने कहा था प्रकृति का है। प्रकृति क्या करती है? प्रकृति खूब पैदा करती है, और जिस उदारता से पैदा करती है, उसी उदारता से संहार भी करती है। इससे खानेवालों की संख्या सीमा में बनी रहती है। इसी को मालथस ने अपने शब्दों में कहा था कि प्रकृति का नियम है—'उच्च जन्म-दर तथा उच्च मृत्यु-दर'—सीमातीत उत्पत्ति और सीमातीत विनाश! यह तो प्रकृति का तरीका है, परन्तु मालथस का कहना था कि इस तरीके के बजाय हमें अपना तरीका इस्तेमाल करना चाहिए, हमें उच्च जन्म-दर की जगह संतति-निग्रह के उपायों से जन्म-दर को घटा देना चाहिए, जन्म-दर घट जायगी, तो आबादी अपने-आप कम हो जायगी, और निर्धनता का प्रश्न स्वयं दूर हो जायगा।

(ख) निम्न मृत्यु-दर और निम्न जन्म-दर—मालथस ने जो कहना था वह तो कह गया, परन्तु क्या हम देखते हैं कि प्रकृति में 'उच्च जन्म-दर और

---

* **Which of the following factors are responsible for the growing population of India—a rising birth-rate or a falling death-rate or both? (1960)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उच्च मृत्यु-दर' का नियम काम कर रहा है ? पशु-पक्षी में अवश्य यह नियम काम कर रहा है, परन्तु मानव-समाज में तो ऐसा नहीं दीखता। ज्यों-ज्यों मनुष्य ने तरक्की की है, त्यों-त्यों हम देखते हैं कि जन्म-दर भले ही उच्च रही हो, मृत्यु-दर अवश्य कम होती जा रही है। पहले बीमारियों का इलाज नहीं होता था, छोटी उम्र में ही बच्चे मर जाते थे, स्वास्थ्य के नियमों की तरफ़ कोई ध्यान नहीं देता था, परन्तु आज वह सब-कुछ नहीं रहा। आज तो इंसान ने बहुत तरक्की कर ली है। पहले हर किसी को चेचक होती थी, इस बीच न-जाने कितने मृत्यु के घाट उतर जाते थे, अब चेचक के टीके के आविष्कार के बाद यह रोग नष्ट-प्राय हो गया है; पहले प्लेग जगह-जगह थी, अब स्वास्थ्य की तरफ़ अधिक ध्यान देने से प्लेग का नाम सुनने को भी नहीं मिलता। मलेरिया आदि भी कमती की तरफ़ हैं। ऐसी हालत में एक नई स्थिति उत्पन्न हो गई है। मालथस के 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' से आबादी तो सीमित बनी रहती थी, अब जो इन्सान ने तरक्की शुरू की उससे जन्म-दर वैसी-की-वैसी बनी रही, मृत्यु-दर कम हो गई, एक नया संकट उपस्थित हो गया। इससे तो आबादी बेतहाशा बढ़ने लगी। जब पैदा ज़्यादा होंगे, मरेंगे कम, तब संकट ही तो होगा।

युरोप के लोगों के सामने यह समस्या एक नया रूप धारण करके खड़ी हो गई। उन्होंने अपने देशों की जन-संख्या के प्रश्न का गहराई से अध्ययन शुरू किया। यह तो साफ़ था कि तरक्की के नवीन उपायों के कारण युरोप की जन-संख्या में मृत्यु-दर कम होती जा रही थी। उनके सामने समस्या यह थी कि क्या जन्म-दर वैसे-की-वैसी बनी हुई है ? अगर जन्म-दर वैसे-की-वैसी बनी हुई है, तब तो जन-संख्या का प्रश्न शीघ्र ही अत्यन्त विकट रूप धारण कर लेगा। जब उन्होंने जन्म-दर की गणना शुरू की, तो उनके आश्चर्य का यह देखकर ठिकाना न रहा कि युरोप की जन्म-दर मृत्यु-दर के कम हो जाने के साथ-साथ अपने आप गिर रही थी। इस प्रकार जन-संख्या के विषय में एक नवीन नियम का पता चला। पहला नियम यह था कि जब जन्म-दर बढ़ती है, तब मृत्यु-दर भी बढ़ जाती है; दूसरा नियम यह निकला कि जब मृत्यु-दर घट जाती है, तब जन्म-दर भी अपने-आप घट जाती है। इस प्रकार प्रकृति जन-संख्या को सीमा में रखने का स्वयं प्रयत्न करती है।

(ग) निम्न मृत्यु-दर और उच्च जन्म-दर—परन्तु क्या यह बात बिल्कुल सही है कि ऊँची जन्म-दर के साथ मृत्यु-दर चढ़ जाती है, नीची मृत्यु-दर के साथ जन्म-दर गिर जाती है ? कुछ देशों की जन-गणना में देखा जाता है कि उनकी मृत्यु-दर तो गिर गई, परन्तु जन्म-दर नहीं गिरी। जो देश बहुत पिछड़े हुए हैं, जिन्होंने सभ्यता में कदम ही नहीं रखा, उनमें तो 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' का नियम काम करता है, जिन देशों ने बहुत तरक्की कर ली है, उनमें 'निम्न मृत्यु-दर तथा निम्न जन्म-दर' का नियम काम करता है, परन्तु जिन देशों में अभी हाल ही तरक्की शुरू हुई है, स्वास्थ्य आदि के वैज्ञानिक प्रयोग शुरू हो गए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, परन्तु अभी पुराने रीति-रिवाज़ चल रहे हैं, छोटी उम्र की शादी, सन्तान से मोह आदि विचार जहाँ घर किये हुए हैं, वहाँ मृत्यु-दर तो कम हो गई है, परन्तु जन्म-दर कम नहीं हुई। रूस और चीन ऐसे ही देश हैं। इधर अपना भारत भी ऐसा ही देश है। जन-संख्या की समस्या इन देशों की वास्तविक समस्या है। रूस ने तो खेती बढ़ा कर, उद्योगों की स्थापना करके अपनी समस्या को समस्या का रूप नहीं धारण करने दिया। वहाँ की सरकार ने तो इतने काम बढ़ा लिए हैं कि अभी अधिक जन्म-दर और कम मृत्यु-दर के सिद्धान्त में ही वे अपनी भलाई समझते हैं। अपने देश का क्या हाल है? अपने देश में भी अधिक जन्म-दर और कम मृत्यु-दर चल रही है। इससे दिनोंदिन जन-संख्या बढ़ेगी। हम भी इस बढ़ी हुई जन-संख्या को हितकर समझ सकेंगे या नहीं यह भविष्य के गर्भ में है। फ़िलहाल यह हालत है कि हमारी दिनोंदिन बढ़ रही जन-संख्या हमारे लिए ख़तरे की घंटी बजा रही है, हमारी ग़रीबी बढ़ रही है। आइये, हम अपने देश की जन-गणना की समस्या पर कुछ विचार करें।

७. भारत की जन-संख्या का रूप तथा उसकी वृद्धि के कारण

(क) भारत की जन-संख्या की वास्तविक स्थिति—भारत की जन-संख्या में वृद्धि तेज़ी से हो रही है। १९०१ से १९३१ तक तीस सालों में जन-संख्या में जितनी वृद्धि हुई, उससे तिगुनी वृद्धि १९३१ से १९५१—इन बीस सालों में हुई। हमारी जन-संख्या निम्न वेग से बढ़ रही है :—

१८९१ से १९५१ तक जन-संख्या की वृद्धि

जन-गणना का वर्ष	जन-संख्या	प्रतिशत वृद्धि
१८९१	२३ करोड़ ५९ लाख	—
१९०१	२३ करोड़ ५५ लाख	घटी
१९११	२४ करोड़ ९० लाख	+५.८
१९२१	२४ करोड़ ८१ लाख	−०.३ घटी
१९३१	२७ करोड़ ५५ लाख	+११
१९४१	३१ करोड़ २८ लाख	+१४.३
१९५१	३५ करोड़ ६९ लाख	+१३.२
१९६१	४३ करोड़ ९० लाख	+२३

१९५१ की जन-गणना-रिपोर्ट के अनुसार हमारी जन-संख्या में १९४१ की अपेक्षा १३.२ प्रतिशत की वृद्धि हुई। हमारे जन-गणना-कमिश्नर श्री गोपाल-स्वामी का अन्दाज़ है कि १९२१ के पहले तो हमारे देश की जन-संख्या की वृद्धि इतनी तेज़ रफ्तार से नहीं हुई, परन्तु १९२१ के बाद से १९५१ तक पिछले तीस सालों में हमारी जन-संख्या बड़ी तेज़ी से बढ़ रही है। उन्होंने १९२१ को "महान् विभाजक' (Great divider) का नाम दिया है क्योंकि १९२१ के बाद भारत की जन-संख्या बहुत तेज़ रफ्तार से बढ़ रही है। उनके कथनानुसार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यदि यह वृद्धि इसी रफ्तार से रही, तो १९६१ में हमारी जन-संख्या ४१ करोड़ हो जायगी, १९७१ में ४६ करोड़ और १९८१ में ५२ करोड़ हो जायगी। श्री गोपालस्वामी का १९६१ का अन्दाज़ ४१ करोड़ था, परन्तु १९६१ में इस देश की जन-संख्या ४१ की जगह ४३ करोड़ ९० लाख हो गई। ऐसी हालत में हमें जन-संख्या की वृद्धि के प्रश्न को मामूली नहीं समझना होगा।

(ख) भारत में जन्म-दर बढ़ रही है, मृत्यु-दर घट रही है—अपने देश में जन्म-दर घट नहीं रही, और मृत्यु-दर घट रही है—यह बात अच्छी होते हुए भी खतरे से खाली नहीं है। १९३१ से १९६० तक जिस प्रकार मृत्यु-दर घटती रही है और जन्म-दर नहीं घटी उसका पता निम्न तालिका से चल जायगा :

जन्म-दर और मृत्यु-दर की तालिका*

वर्ष	जन्म-दर प्रतिहज़ार जन-संख्या	मृत्यु-दर प्रतिहज़ार जन-संख्या
१९३१	३५.०	२५.०
१९४१	३२.१	२१.९
१९४७	२६.४	१९.७
१९४८	२५.२	१७.०
१९४९	२६.४	१५.८
१९५०	२४.५	१६.१
१९५१	२४.९	१४.४
१९५२	२५.४	१३.८
१९५३	२४.८	१४.४
१९५४	२४.४	१२.५
१९५५	२७.०	११.७
१९५६	२७.४	११.६
१९५७	२१.५	११.०
१९५८	२५.१	११.३
१९५९	२५.७	१२.१
१९६०	२२.४	९.४

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि अपने देश में पैदा ज़्यादा होते हैं, मरते कम हैं। इस सब का परिणाम यह है कि हमारी जन-संख्या लगातार बढ़ रही है और हमारे यहाँ खाने को उतना नहीं है जितने से सब का पेट भर सके। हमारे देश में 'उच्च जन्म-दर और उच्च मृत्यु-दर' का नियम काम नहीं कर रहा, निम्न मृत्यु-दर और निम्न जन्म-दर का नियम भी नहीं काम कर रहा, यहाँ तो 'निम्न

---

* 'INDIA—1959' तथा 'INDIA—1961'।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मृत्यु-दर और उच्च जन्म-दर' का नियम काम कर रहा है, इसलिए यहाँ दिनों-दिन जन-संख्या बढ़ती जा रही है।

भारत की जन-संख्या इतनी तेज़ी से क्यों बढ़ रही है, इसके अन्य भी अनेक कारण हैं। इन कारणों का ज्ञान जन-संख्या के नियन्त्रण में सहायक हो सकता है, इसलिए हम यहाँ अपने देश की जन-संख्या के बढ़ने के इन कारणों पर भी संक्षिप्त विचार करेंगे। 'जन्म-दर' बढ़ने और 'मृत्यु-दर' घटने के अतिरिक्त हमारी जन-संख्या के बढ़ने के निम्न कारण हैं :—

(ग) ग़रीबी—जन-संख्या के बढ़ने का सबसे मुख्य कारण ग़रीबी है। जो व्यक्ति जीवन के निम्नतम-स्तर पर पहुँचा है, उसे उस स्तर के अधिक गिर जाने की संभावना नहीं दिखाई देती, इसलिए अधिक सन्तान उत्पन्न करने में उसे कोई खतरा नहीं दिखाई देता। कभी-कभी तो ऐसे वर्ग के लिए अधिक सन्तानों का होना सहायक सिद्ध होता है। एक भिखमंगे की जितनी सन्तानें होंगी, सब भीख माँग लायेंगी, और जितना उन बच्चों पर खर्च होगा उससे ज्यादा वे भीख माँग लायेंगे। किसान को अपनी खेती के लिए कई हाथों की ज़रूरत पड़ती है। इस दृष्टि से ग़रीबी भी कभी-कभी आबादी बढ़ने का कारण बन जाती है।

(घ) यौन-सुख—अमीर देशों में यौन-संबंध ही सुख-भोग का केवल एक साधन नहीं रहता, वे अन्य अनेक बातों पर खर्च कर सकते हैं, इसलिए उनका आमोद-प्रमोद का क्षेत्र विस्तृत बना रहता है। ग़रीब देशों के लोगों के पास इतना पैसा तो होता नहीं कि वे आमोद-प्रमोद के अन्य साधनों पर व्यय करें, इसलिए वैवाहिक-जीवन में विषय-भोग ही उनके आमोद-प्रमोद का एकमात्र साधन रह जाता है। ऐसी हालत में अधिक सन्तान होना स्वाभाविक है।

(ङ) स्त्री की पर-निर्भरता—अपने देश में स्त्री आर्थिक-दृष्टि से आत्म-निर्भर नहीं है, उसे पुरुष पर निर्भर रहना होता है, और इसीलिए भारत की नारी के लिए विवाह एक अवश्यंभावी कार्य-क्रम है। अविवाहित जीवन बिताने वाली स्त्री को इस देश में अच्छी नज़र से नहीं देखा जाता। स्त्री अविवाहित तो तभी रह सकती है जब वह आर्थिक-दृष्टि से दूसरे पर निर्भर न हो, स्वयं अर्थोपार्जन कर सके। जब उसे दूसरे पर निर्भर रहना है, विवाह अवश्य करना है, तो आबादी तो बढ़ेगी ही। आबादी तो तभी घटेगी जब विवाह कम हों, और विवाह कम तभी होंगे, जब स्त्री आर्थिक-क्षेत्र में स्वतंत्र हो, स्वयं कमा सके। आज भी जो स्त्रियाँ नौकरी करती हैं, आत्म-निर्भर हैं, उनमें शादी कम होती है।

(च) बाल-विवाह—वैसे तो कहने को १९३० से जब शारदा-कानून बना इस देश में बाल-विवाह ग़ैर-कानूनी है, परन्तु बाल-विवाह अब भी होता है, और छोटी उम्र में शादी होगी, तो बच्चे पैदा करने का बहुत अधिक समय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिलेगा और आबादी बढ़ेगी। १९५१ की जन-गणना* के अनुसार ५ से १४ वर्ष के २८ लाख ३२ हज़ार बालक तथा ६१ लाख १८ हज़ार बालिकाएँ विवाहिता थीं। इसी जन-गणना के अनुसार ५ से १४ वर्ष के ६६ हज़ार बालक विधुर तथा १ लाख ३४ हज़ार बालिकाएँ विधवा थीं। इसका स्पष्ट अभिप्राय है कि अभी तक बाल-विवाह बहुत बड़ी मात्रा में चल रहा है और इसीलिए आबादी भी दिनोंदिन बढ़ रही है।

(छ) शिक्षा का अभाव—अपने देश में १९५१ में शिक्षितों की संख्या ३६ करोड़ में से कुल ५.९२ करोड़ थी, जिनमें ४.५६ करोड़ पुरुष तथा १.३६ करोड़ स्त्रियाँ शिक्षित थीं। इस प्रकार शिक्षितों की संख्या कुल १६.६ प्रतिशत थी और इन शिक्षितों में शिक्षित स्त्रियों की संख्या कुल ७.९ प्रतिशत थी। ऐसी हालत में जन-संख्या की बेतहाशा बढ़ती के नुक़सानों को कौन समझे और कौन समझाये? यहाँ तो पुत्र के बिना गति ही नहीं होती। यह समझा जाता है कि अगले जन्म में भी पार तराने वाला पुत्र ही है। ऐसे विचारों के होते हुए जन-संख्या कम कैसे हो? इस देश में तो भीख माँगने वाले भी विवाह ज़रूर करते हैं और अपना नाम अमर कर जाने के उद्देश्य से पुत्र-रत्न को अवश्य जन्म देते हैं। फिर अगर देश के कोने-कोने में भूखे, नंगे, हड्डियों के ढाँचे चलते-फिरते नज़र आयें, तो आश्चर्य ही क्या है?

८. जन-संख्यातिरेक के सामाजिक परिणाम†

जन-संख्यातिरेक के अनेक सामाजिक परिणाम होते हैं। उदाहरणार्थ, अगर पुरुषों की संख्या स्त्रियों से बढ़ गई तो ग़रीब लोगों में स्त्री ख़रीदी जाने लगती है, अगर स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बढ़ गई तो दहेज़ प्रथा उठ खड़ी होती है या बहु-विवाह चल पड़ता है। इन सामाजिक परिणामों के अतिरिक्त जन-संख्यातिरेक के निम्न दुष्परिणाम होने लगते हैं:

(क) निर्धनता—जन-संख्या के सीमातीत बढ़ जाने से प्रति व्यक्ति आय घट जाती है, देश निर्धन हो जाता है। अगस्त १९६३ में पार्लियामेंट में डा० लोहिया ने कहा था कि भारत में २७ करोड़ व्यक्ति केवल साढ़े तीन आना प्रति दिन की आय पर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। इस कथन को चैलेंज किया गया था और श्री नन्दा ने कहा था कि नेशनल सैंपल सर्वे के १९६१–६२ के अनुसंधान के आधार पर कहा जा सकता है कि इन २७ करोड़ की आय ७ आना ५ पैसा

---

* INDIA—1963, पृ० १६।

† 1. Discuss the necessity of population control in India. (1956)

2. Discuss the social consequences of an increase in population. Give examples. (1957)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिदिन है।* परन्तु आज के युग में यह आय भी क्या आय है? इतने से भी किस का गुज़र हो सकता है?

(ख) आर्थिक प्रगति में बाधा तथा बेकारी—देश का धन जनता के पेट पालने, खाद्यान्नों का अन्य देशों से आयात करने में ही व्यय हो जाता है, उससे पूँजी का निर्माण नहीं हो पाता, पूँजी के निर्माण न होने से उद्योग नहीं खड़े किये जा सकते, उद्योगों के खड़े न कर सकने से देश की आर्थिक प्रगति रुक जाती है, आर्थिक प्रगति के रुक जाने से बेकारी बढ़ जाती है। हम इसी अध्याय में लिख आये हैं कि १९६२ में ३५ लाख ८३ हज़ार टन अनाज विदेशों से मंगाना पड़ा। इस पर लगी सब पूँजी उद्योगों के काम न आ सकी। यही कारण है कि इस देश में प्रति वर्ष २० लाख बेकारों की संख्या बढ़ जाती है।

(ग) कृषि-योग्य भूमि का बँटवारा—जन-संख्या बढ़ जाने से गाँव के प्रत्येक परिवार की भूमि कई व्यक्तियों में बँट जाती है जिससे भूमि के छोटे-छोटे टुकड़े हो जाते हैं जो एक परिवार का भी पालन नहीं कर सकते।

(घ) भुखमरी तथा महामारी—जन-संख्या बढ़ जाने से देश में दुर्भिक्ष पड़ने लगते हैं। उदाहरणार्थ, १८७६–७८ में अकाल के कारण यहाँ ५२.५ लाख व्यक्ति मरे, १८९६–९७ में ७.५ लाख मरे, १८९९–१९०० में १२ लाख मरे, १९४३ में बंगाल में दुर्भिक्ष से ३० लाख व्यक्ति मरे। जन-संख्या बढ़ने से महामारियाँ भी फैलने लगती हैं। भारत में प्रति वर्ष हैज़े से २ लाख, चेचक से ७१ हज़ार, प्लेग से २५ हज़ार, तपेदिक से ५ लाख व्यक्ति मर जाते हैं। इतनी जन-संख्या को पोषक-तत्व न दे सकने के कारण उनकी जीवनी-शक्ति का ह्रास हो जाता है और वे बीमारियों का मुकाबिला नहीं कर सकते।

(ङ) जीवन-स्तर का गिरना—जन-संख्या बढ़ जाने से जीवन का स्तर गिर जाता है। जिस परिवार में ८–१० बच्चे हों यह किस-किस को ऊँची शिक्षा दे सकता है? बीमार पड़ जाने पर किस-किस का इलाज करा सकता है? इतने अधिक व्यक्तियों को रहने के लिए या तो बड़ा मकान लिया जाय, या छोटे-से गन्दे, अन्धेरे मकान में गुज़र किया जाय। बड़ा मकान आर्थिक-स्थिति ठीक न होने से लिया नहीं जाता, शहर के किसी सस्ते, गन्दे मुहल्ले में एक कमरे में सब ठसाठस भरे रहते हैं।

(च) स्वास्थ्य-स्तर का गिरना—जन-संख्या बढ़ जाने से सब को घी, दूध, फल आदि पोषक पदार्थ नहीं मिल पाते। इसका परिणाम यह होता है कि देश का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिरता चला जाता है। हीन जीवन-शक्ति का व्यक्ति बीमारियों का मुकाबिला नहीं कर सकता, और ज़रा-सी सर्दी लगी, ज़रा-सी गर्मी लगी, वर्षा में पानी में भीग गया तो बस चारपाई पर लेट जाना पड़ता है।

---

* Hindustan Times, Aug. 27, 1963.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(छ) वैयक्तिक विगठन—जन-संख्या बढ़ जाने से प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी सोचने लगता है, समाज की दृष्टि से नहीं सोचता क्योंकि हर व्यक्ति की अपनी निजी समस्याएँ बहुत बढ़ जाती हैं। जब समाज में हर व्यक्ति अपनी-अपनी सोचने लगे तब सामाजिक बंधन शिथिल हो जाते हैं, स्वार्थ की वृत्ति बढ़ जाती है, और ईर्ष्या, द्वेष, कलह, लोलुपता का राज्य होने लगता है। इससे व्यक्ति विगठित हो जाता है, समाज-विरोधी प्रवृत्तियाँ जाग उठती हैं।

(ज) पारिवारिक विगठन—जन-संख्या बढ़ जाने से परिवार भी टूटने लगते हैं, भाई-भाई जुदा होने लगते हैं, बेटा भी माँ-बाप की परवाह नहीं करता, सब को अपनी-अपनी जो पड़ जाती है।

(झ) सामाजिक विगठन—जन-संख्या बढ़ जाने से समाज का भवन ही हिल जाता है। जब हर-एक को अपने खाने-पीने की चिंता व्याकुल कर रही हो, उसे रहने को मकान न मिले, परिवार का वह भरण-पोषण न कर सके, तब सामाजिक संबंध बिगड़ने लगते हैं, हर कोई रिश्वत, चोर-बाज़ारी से रुपया कमाना चाहता है, सामाजिक बंधनों को, सामाजिक मर्यादाओं को तोड़ने लगता है।

९. बढ़ती हुई जन-संख्या को रोकने के उपाय*

(क) परिवार-नियोजन (Family planning)—जन-संख्या को सीमा में रखने का सर्वोत्तम उपाय यह है कि जन्म-दर कम कर दी जाय। यह कैसे की जाय? इसके जो साधन हैं उन्हें 'परिवार-नियोजन' कहा जाता है। 'परिवार-नियोजन' की तीन विधियाँ मुख्य हैं:

(i) यान्त्रिक तथा रासायनिक गर्भ निरोधक उपाय (Mechanical and chemical methods),

(ii) निर्वीजीकरण (Sterilization),

(iii) सुरक्षित-काल की विधि (Union in safe periods)।

इनमें से प्रथम उपाय यांत्रिक तथा रासायनिक हैं। कुछ यांत्रिक उपकरणों के प्रयोग से पुरुष वीर्य को स्त्री के रज से मिलने नहीं दिया जाता, या रासायनिक पदार्थों के प्रयोग से पुरुष के वीर्य को नष्ट कर दिया जाता है। द्वितीय उपाय में पुरुष का ऐसा आपरेशन कर दिया जाता है जिससे वीर्य बाहर ही नहीं निकल सकता, या स्त्री का ऐसा आपरेशन कर दिया जाता है जिससे वह सन्तान उत्पन्न नहीं कर सकती। तीसरा उपाय यह है कि पुरुष तथा स्त्री का संयोग ही ऐसे समय हो जब सन्तान उत्पन्न होने की संभावना न हो। चिकित्सकों का कहना है कि स्त्री के जीवन

*** 1. Indicate the lines on which population planning should proceed in India. (1956)**

2. What suggestions can you give to check the population growth of India? (1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हर महीने कुछ समय ऐसा आता है जब पुरुष तथा स्त्री के संबंध से सन्तान नहीं होती। योग्य-चिकित्सक इस समय को ठीक-से बतला सकता है। जिस समय संबंध होने से सन्तान नहीं होती, उसे 'सुरक्षित-काल' (Safe period) कहा जाता है। 'परिवार-नियोजन-केन्द्रों' (Family Planning Centres) का काम इन विषयों में सलाह देना है।

'परिवार-नियोजन' के लिए जो कृत्रिम उपाय किये जाते हैं उनके संबंध में दो विचार हैं। एक विचार तो इनके पक्ष में है, दूसरे विचार के लोगों का कहना है कि इन उपायों के प्रयोग से जन्म-दर तो कम हो जायगी, परन्तु व्यभिचार की प्रवृत्ति बढ़ जायगी। जब नव-युवकों को यह पता चलेगा कि वे यौन-संबंध भी कर सकते हैं और इसके परिणाम से भी बच सकते हैं, तब वे विवाह के अतिरिक्त भी यौन-संबंध से नहीं हिचकिचायेंगे। यह आक्षेप बहुत अंश तक ठीक है। इसीलिए महात्मा गांधी कृत्रिम उपायों के पक्ष में नहीं थे।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में 'परिवार-नियोजन' पर ६५ लाख रुपया खर्च हुआ, द्वितीय-योजना में ५ करोड़ रखा गया, तृतीय-योजना में २७ करोड़ रखा गया है। जनवरी १९६३ तक भारत में ८,४४१ परिवार-नियोजन-केन्द्र खुल चुके थे। योजना-आयोग का कहना है कि परिवार-नियोजन को सिर्फ़ एक प्रोग्राम के तौर से ही न अपनाया जाय, इसे राष्ट्रीय आन्दोलन का रूप दिया जाय जिससे दिनोंदिन बढ़ रही जन-संख्या पर रोक लगाई जा सके।

(ख) देर से विवाह—बाल-विवाह में सन्तानोत्पत्ति का समय अधिक मिलता है, अतः जन्म-दर भी ज़्यादा हो जाती है। अगर विवाह-योग्य आयु को बढ़ा दिया जाय, देर से विवाह किया जाय, तो सन्तान उत्पन्न करने का समय कम रह जायगा और जन्म-दर कम हो जायगी। जन्म-दर कम होने से जन-संख्या अपने-आप कम हो जायगी। उदाहरणार्थ, अगर पुरुषों की विवाह-योग्य आयु २५ तथा स्त्रियों की १८ कर दी जाय तो सन्तानों की संख्या कम हो जायगी।

(ग) अनावश्यक मातृत्व को रोकना—उत्पत्ति पर नियन्त्रण के संबंध में भारत के जन-गणना-कमिश्नर श्रीयुत् गोपालस्वामी ने एक और बात पर ध्यान आकर्षित किया है। उनका कहना है कि उत्पत्ति पर बिल्कुल प्रतिबंध तो नहीं लगाया जा सकता, किन्तु एक काम किया जा सकता है। इस समय अपने देश में 'अनावश्यक-मातृत्व' (Improvident maternity) की संख्या बहुत ज़्यादा है। 'अनावश्यक-मातृत्व' का मतलब क्या है? जिस स्त्री के तीन सन्तान हो चुकी हैं और उनमें से तीनों या कम-से-कम अगर एक जीवित है, तो उसे अब अधिक सन्तान पैदा करने की आवश्यकता नहीं है, अगर तीन सन्तान हो चुकने के बाद भी वह सन्तान पैदा करती है, तो 'अनावश्यक-मातृत्व' का कार्य करती है। भारत में 'अनावश्यक-मातृत्व' की संख्या ४० से ४५ प्रतिशत के बीच है, जापान में ३३.९ प्रतिशत, अमरीका में १९.२ प्रतिशत, इंग्लैण्ड में १४.३ प्रतिशत, फ्रांस में १९.७ प्रतिशत तथा पश्चिमी जर्मनी में १२.३ प्रतिशत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। श्री गोपालस्वामी के अनुसार अपने देश में जो उत्पत्ति हो रही है उनमें अगर एक हज़ार व्यक्तियों के पीछे ४० बच्चे पैदा होते हैं, तो उनमें १७ बच्चे ऐसे पैदा होते हैं जो अपने माँ-बाप के तीसरे बच्चे के पीछे की सन्तान होती हैं। ये सब 'अनावश्यक-मातृत्व' के परिणाम हैं। अगर हम अपने देश में ऐसा वातावरण पैदा कर दें जिससे स्त्रियाँ 'अनावश्यक-मातृत्व' के बोझ को अपने ऊपर न लें, तो इस देश की जन्म-दर ४० प्रति हज़ार से घट कर ४०—१७=२३ प्रति हज़ार रह जाय। हमें ऐसा वातावरण पैदा करना होगा जिसमें तीन बच्चों से अधिक सन्तान के माता-पिता अपने को समाज में शर्मिन्दा अनुभव करने लगें—ऐसा करने से सन्तान कम करने के साधन वे अपने-आप कर लेंगे, चाहे वे कृत्रिम-उपायों द्वारा करें, चाहे 'सुरक्षित-काल' का पता लगाकर, चाहे अपने को संयम में रखकर।

(घ) सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम (Eugenic programme)*—हमने अभी उत्पत्ति पर स्वेच्छया नियन्त्रण की बात कही। स्वेच्छया के अतिरिक्त इस पर सरकारी नियन्त्रण भी होना आवश्यक है। जन-संख्या के संबंध में इस प्रकार के नियन्त्रण को 'सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम' कहा जा सकता है। 'सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम' का अर्थ है सन्तति की संख्या को बढ़ाने के स्थान में गुण को बढ़ाने का यत्न करना। इस समय तो जन-संख्या बढ़ती जा रही है। यह संख्या किस काम की? असल में तो गुणवान् सन्तान ही देश की उन्नति में सहायक हो सकती है, वह थोड़ी हो परन्तु प्रतापी हो, दक्ष हो, चतुर हो। 'संख्या' (Quantity) बढ़ने से देश दरिद्र होगा, गुणवान् (Quality) सन्तान देश को समृद्ध बनाने में सहायक होगी।

भारत में गुणवान् सन्तान के स्थान में सन्तान की संख्या बढ़ रही है। संख्या बढ़ने का अर्थ है—सब तरह की सन्तान, अच्छी-भली सन्तान और साथ ही शारीरिक तथा मानसिक दोषों से युक्त सन्तान। सन्तान के शारीरिक-दोष क्या हैं? अन्धा-बहरा होना, टी० बी०, सिफ़लिस या गनोरिया होना—इस प्रकार के अनेक शारीरिक-दोष होते हैं जो या तो जन्म से आते हैं, या वंश-परंपरा से आ जाते हैं। इस प्रकार के दोषों की सन्तान देश पर बोझ रूप होती है, उसके पालने में खर्च-ही-खर्च होता है। इसी प्रकार सन्तान के मानसिक-दोष क्या हैं? मानसिक दोष दो तरह के हो सकते हैं:—साध्य तथा असाध्य। पागलपन आदि किन्हीं परिस्थितियों के परिणाम होते हैं, उन परिस्थितियों में सुधार होने से ये साध्य हो जाते हैं, परन्तु अनेक व्यक्ति जड़-बुद्धि होते हैं, उनकी मानसिक शक्ति इतने निम्न-स्तर की होती है कि उनका कुछ बन ही नहीं सकता। इस प्रकार के व्यक्ति असाध्य-कोटि में गिने जाते हैं। ये मानसिक-दोष भी वंशानुगत

---

* Make out a Eugenic programme for India so as to remove the cacogenic elements from our population. (1953)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या जन्मजात होते हैं। इस प्रकार के दोषों की सन्तान भी देश पर बोझ होती है, उसके पालने में भी खर्च-ही-खर्च होता है।

उक्त प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दोषों वाले तत्त्व सुप्रजनन-शास्त्र की परिभाषा में 'दोष-जनक तत्त्व' (Cacogenic elements) कहलाते हैं, इनसे देश की सम्पदा का ह्रास-ही-ह्रास होता है। पहले तो जीवन-संघर्ष में योग्य के बच रहने और कमज़ोर के नष्ट हो जाने का सिद्धान्त काम करता था, इसलिए 'प्राकृतिक-चुनाव (Natural Selection) के कारण अयोग्य व्यक्ति अपने-आप समाप्त हो जाते थे, परन्तु जन-तंत्र के वर्तमान युग में तो सब की रक्षा का भाव प्रबल होता जा रहा है, सब को सब तरह की आज़ादी मिल रही है, रोगी-नीरोग सभी सन्तान उत्पन्न कर रहे हैं। इसका परिणाम यह हो रहा है कि देश पर भार-रूप रहने वालों की संख्या में वृद्धि होती जा रही है, और भारत जैसे देश की दरिद्रता तो इस अवस्था से और बढ़ती जा रही है। इसका इलाज क्या है? इसका इलाज ही 'सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम' है। 'सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम' क्या है?

'सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम'* को दो भागों बाँटा जाता है—एक है 'निषेधात्मक' (Negative) और दूसरा है विधेयात्मक (Positive)। ये दोनों क्या हैं?

(i) **निषेधात्मक सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम** (Negative Eugenic Programme)—शारीरिक तथा मानसिक दोषों वाले व्यक्तियों के लिए प्राचीन काल में दो उपाय थे—या तो उन्हें सरकारी तौर पर मार देते थे या समाज से अलग कर देते थे। आजकल मारना तो किसी भयंकर अपराध के कारण ही होता है, उसके विरोध में भी सब जगह आवाज़ उठ रही है, इसलिए किसी शारीरिक अथवा मानसिक रोग के लिए मार डालने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसे व्यक्ति सन्तान उत्पन्न न करें ताकि समाज में उन-जैसे और न बढ़ते चले जाँय—यह विचार अवश्य दिनोंदिन जड़ पकड़ता जा रहा है। इसका उपाय 'निर्बीजीकरण' (Sterilization) है। इसके लिए स्त्रियों का तो गर्भाशय निकाल दिया जाता है, और पुरुषों में अंड-कोशों से मूत्र-प्रणाली में वीर्य लाने वाली नलिका काट दी जाती है। इन ऑपरेशनों का यह परिणाम होता है कि इस प्रकार के स्त्री-पुरुष यौन-संबंध तो कर सकते हैं, परन्तु सन्तान नहीं उत्पन्न कर सकते। ये ऑपरेशन ऐसे व्यक्तियों के किये जाते हैं जिनके विषय में सरकार यह निश्चय कर ले कि ऐसे व्यक्तियों को सन्तान उत्पन्न करने से रोकना चाहिए। १९४१ तक अमरीका के २९ राज्यों ने ऐसे व्यक्तियों के निर्बीजीकरण

---

* **Differentiate between positive and negative Eugenics. Suggest a Eugenic programme to remove the cacogenic elements from Indian population. (1953)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के कानून स्वीकृत किये थे जिनके अनुसार ३५,००० व्यक्तियों के ऑपरेशन हो चुके थे जिनमें से आधे ऑपरेशन सिर्फ कैलीफ़ोर्निया में हुए थे। अब धीरे-धीरे वे लोग भी ऐसे ऑपरेशन कराने लगे हैं जो अच्छे-भले हैं, परन्तु सन्तानोत्पत्ति नहीं करना चाहते।

ऐसे व्यक्तियों को समाज से पृथक् कर देना दूसरा उपाय है, इसे 'पार्थक्य' (Segregation) का उपाय कहा जाता है। पागलों, मृगी रोग से पीड़ितों, कोढ़ियों, आतशक, सुज़ाक आदि से ग्रस्त व्यक्तियों को अगर समाज से पृथक् रख दिया जाय, तो वे भी सन्तान उत्पन्न करने से रुक जाँय और इस प्रकार की सन्तानें समाज में कुछ देर के बाद उत्पन्न होनी बन्द हो जाँय। इस प्रकार 'निर्वीजीकरण' तथा 'पार्थक्य'—इन दो सुप्रजनन-शास्त्रीय निषेधात्मक कार्यक्रमों से समाज के ऊपर भार-भूत शारीरिक तथा मानसिक दोषों से युक्त जन-संख्या को कम किया जा सकता है, परन्तु यह उपाय स्वेच्छया होने के स्थान में सरकार द्वारा ही हो सकता है।

(ii) **विधेयात्मक सुप्रजनन-शास्त्रीय कार्य-क्रम (Positive Eugenic Programme)**—इस कार्य-क्रम के अनुसार विवाह करने से पहिले पति-पत्नी को डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट लेना पड़ता है जिससे यह प्रमाणित हो कि उन्हें कोई ऐसा रोग नहीं है जो वंश-परंपरा से आगे जाने वाला हो। इस दिशा में अमरीका ने बहुत प्रगति की है। वहाँ भिन्न-भिन्न राज्यों में भिन्न-भिन्न प्रकार के कानून बने हुए हैं। कुछ राज्यों में तो विवाह के लिए सरकारी स्वीकृति लेने से पहले ७ और १५ दिन के बीच अपनी शारीरिक-परीक्षा कराकर डॉक्टरी सर्टिफ़िकेट लेना पड़ता है कि उन्हें आतशक, सुज़ाक आदि कोई वंश-परंपरा से आगे चलने वाला भयंकर रोग नहीं है; कुछ में शपथनामा भरना काफ़ी समझा जाता है जिसमें यह लिखना पड़ता है कि वे ऐसे किसी रोग से मुक्त हैं। इस बात की प्रबल आवश्यकता है कि भारत में भी विवाह से पहले पति-पत्नी की शारीरिक-परीक्षा हो और उन्हीं लोगों को सन्तान उत्पन्न करने का अधिकार दिया जाय जो इस प्रकार के रोगों से मुक्त हों, ताकि देश में ऐसी सन्तान न उत्पन्न हो जो देश के आर्थिक उत्पादन को बढ़ाने के स्थान में आजन्म उस पर एक बोझ के रूप में बनी रहे। यह काम भी स्वेच्छया होने के स्थान में सरकारी कानून से ही हो सकता है। अपने देश में उक्त दोनों प्रकार के—निषेधात्मक तथा विधेयात्मक—कानूनों के बनने की आवश्यकता है ताकि देश की जन-संख्या में से 'दोष-जनक तत्त्व' (Cacogenic element) निकल जाय, उस पर होने वाला अनावश्यक व्यय कम हो जाय और ऐसी स्वस्थ और बलिष्ठ सन्तान ही उत्पन्न हो जो देश के आर्थिक-विकास को आगे ले जाय।

(ङ) **जीवन का उच्च-स्तर**—अगर जीवन का स्तर ऊँचा हो जाय, तो जनता जन्म-दर का नियन्त्रण अपने-आप करने लगेगी। इस समय तो भूखे पेट रहकर भी लोग गुज़ारा करना अपना कर्त्तव्य समझते हैं, परन्तु 'राष्ट्रीय-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आय' (National income) बढ़ने तथा परिणाम-स्वरूप 'प्रति-व्यक्ति आय' (Per capita income) बढ़ने का नतीजा यह होगा कि देश का जीवन-स्तर ऊँचा हो जायगा, और वे जीवन को बोझ समझ कर उसकी ज़िम्मेदारियाँ उठाने के बजाय जीवन में उतनी ही ज़िम्मेवारियाँ उठायेंगे जितनों का बोझ वे बर्दाश्त कर सकेंगे। आज तो कितनी भी ज़िम्मेवारियाँ आ जाँय, जो हालत है उससे बदतर तो नहीं होगी—यह सोचकर हम लोग उपेक्षा-वृत्ति से दिन काट रहे हैं। अमरीका में एक और अधिक बच्चा परिवार में आये या न आये—यह सोचने से पहले वे लोग यह सोचते हैं कि उसके आने से हमें अपनी मोटर तो नहीं बेच देनी पड़ेगी, मकान तो गिरवी नहीं रख देना होगा, कर्ज़ तो नहीं उठाना पड़ेगा। हम यह सब-कुछ नहीं सोचते, इसलिए नहीं सोचते क्योंकि हमारा जीवन-स्तर ही इतना गिरा हुआ है, जहाँ ऊँच-नीच का कोई विचार ही नहीं।

(च) शिक्षा—शिक्षा न होने से भी हम लोग इन समस्याओं की तरफ़ ज्यादा ध्यान नहीं देते। जो हो रहा है सो ठीक है—यह वृत्ति तभी तक रहती है, जब तक मनुष्य का मन चारों तरफ़ की बातों के लिए खुला नहीं होता। शिक्षा प्राप्त करते ही मनुष्य हर बात पर पुराने विचारों की दृष्टि से नहीं, नये विचारों की दृष्टि से सोचने लगता है। देश में ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार होगा, त्यों-त्यों जन्म-दर और मृत्यु-दर-जैसी बातों पर भी लोग सोचने लगेंगे, और उनका ध्यान इस समस्या पर अपने-आप जाने लगेगा। जब तक हम यही न समझें कि जन-संख्या की समस्या भी कोई समस्या है, तब तक इसका हल क्यों सोचेंगे ?

(छ) स्त्रियों की आत्म-निर्भरता—अपने समाज में अभी तक स्त्रियाँ आर्थिक-दृष्टि से परतंत्र हैं। विवाह उनके लिए आर्थिक-समस्या का एकमात्र हल है। ज्यों-ज्यों हमारा समाज विवाह को स्त्रियों की आर्थिक-समस्या का एकमात्र हल समझना छोड़ देगा, त्यों-त्यों स्त्रियाँ परावलम्बी जीवन बिताना छोड़ कर स्वावलम्बी होने लगेंगी और बच्चा पैदा करना ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य समझना भी छोड़ देंगी। आज तो भारत की नारी के लिए जीवन का लक्ष्य सन्तान उत्पन्न करने के सिवाय और कुछ है ही नहीं—ऐसी हालत में यहाँ दिनोंदिन पुत्रोत्सव न मनाये जाँय, तो क्या हो ?

१०. भारत की जन-संख्या का गुणात्मक-पहलू*

किसी भी देश की जन-संख्या के दो पहलू होते हैं—'संख्यात्मक रूप' (Quantitative side) तथा 'गुणात्मक रूप' (Qualitative side)। आबादी कितनी है, यह 'संख्या' से पता चलता है, आबादी कैसी है, यह 'गुण' से पता चलता है।

---

* Mention the chief defects in the quality of Indian population. (1952)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हमने देखा कि भारत की जन-संख्या बढ़ रही है, यह भी देखा, बढ़ती हुई जन-संख्या के क्या दुष्परिणाम हैं, इसके बाद यह भी देखा कि इस बढ़ती हुई जन-संख्या पर कैसे रोक-थाम की जा सकती है। यह 'संख्यात्मक-पहलू' था। अब प्रश्न यह रह जाता है कि हमारी जन-संख्या की प्रकृति क्या है, उसका रूप क्या है, किस तरह के लोग हैं हमारे देश में जिनकी संख्या बढ़ने पर हम प्रतिबन्ध लगाना चाहते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि इन लोगों की बढ़ती पर रोक लगा कर हम देश को नुक्सान पहुँचा रहे हों? यह 'गुणात्मक'-पहलू है।

(क) सब देशों से कम आयु के लोग—भारत में आयु की अवधि सब देशों से कम है। उदाहरणार्थ, भिन्न-भिन्न देशों के स्त्री-पुरुषों की जीवन की अवधि निम्न थी :

देश*	पुरुषों के जीवन की अवधि	स्त्रियों के जीवन की अवधि
न्यूज़ीलैण्ड	६५ वर्ष	६७.८८ वर्ष
आस्ट्रेलिया	६३.४८ ,,	६७.१४ ,,
साउथ अफ्रीका	५७.७८ ,,	६१.४८ ,,
कनाडा	५९.३२ ,,	६१.५९ ,,
अमरीका	५९.१२ ,,	६२.६७ ,,
जर्मनी	५९.८६ ,,	६२.७५ ,,
इंग्लैण्ड	५८.७४ ,,	६२.८८ ,,
इटली	५३.७६ ,,	५६.०० ,,
फ्रांस	५४.३० ,,	५९.०२ ,,
जापान	४४.८२ ,,	४६.५४ ,,
भारत	३२.०९ ,,	३१.३७ ,,

(ख) जन्म-दर तथा मृत्यु-दर सब देशों से ऊँची—यहाँ की जन-संख्या का दूसरा गुणात्मक-पहलू यह है कि यहाँ सब देशों से ज्यादा बच्चे पैदा होते हैं, और सब देशों से ज्यादा आदमी मरते हैं। उदाहरणार्थ, १९५३ में अन्य देशों की तुलना में यहां की जन्म-दर तथा मृत्यु-दर निम्न प्रकार थी :

देश	जन्म-दर (प्रति हजार)	मृत्यु-दर (प्रति हजार)
इंग्लैंड	१५.९	११.४
इटली	१७.२	९.८
अमरीका	२४.७	९.६
जापान	२१.५	८.९
चीन	३७.००	१७.००
भारत	४०.००	२७.००

* Health in Independent India (Ministry of Health Publication) by *G. Borker*, p. 34.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) शिशु-मृत्यु की दर सब देशों से अधिक—१० वर्ष से कम आयु में मर जाने वाले शिशुओं की दर भारत में सब देशों से ज्यादा है :

देश	शिशु-मृत्यु-दर (प्रतिशत)
इंग्लैंड	५.३
अमरीका	९.७
भारतवर्ष	५०.००

(घ) माता-मृत्यु की दर सब देशों से अधिक—प्रसव के समय माताओं की मृत्यु इस देश में बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ,

देश	माता-मृत्यु दर (प्रति हजार)
इंग्लैंड	२.९
भारत	२०.००

(ङ) विधवाओं तथा परित्यक्ता स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक*— भारत में विधवाओं तथा परित्यक्ता स्त्रियों की संख्या बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ,

आयु-समूह	विधवा या परित्यक्ता स्त्रियाँ (हजारों में)
५ से १४	१,३४
१५ से २४	८,२७
२५ से ३४	२१,२९

इस देश में विधवाओं तथा परित्यक्ता स्त्रियों की संख्या १९५१ में २ करोड़, १८ लाख, ११ हजार थी।

भारत की जन-संख्या का जो 'गुणात्मक'-पहलू हमने ऊपर दिया है वह किसी भी देश के लिए चिंता का विषय हो सकता है। जिस देश में आयु की अवधि सब देशों से कम हो, जहाँ जन्म-दर सब देशों से ऊँची हो, जहाँ मृत्यु-दर भी सब देशों से ऊँची हो, जहाँ बच्चों के, माताओं के मरने की संख्या सब देशों से ऊँची हो, जहाँ विधवाएँ तथा परित्यक्ताएँ अनगिनत हों, उस देश के लिए अपनी जन-संख्या का प्रश्न सिर्फ़ संख्या का ही नहीं रहता, जन-संख्या के प्रकार का भी हो जाता है।

---

* INDIA—1963 (INDIA—1961 में भी यही तालिका दी हुई है।)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

१. भारत की जन-संख्या के गुणात्मक-योग्यता के मुख्य दोषों का वर्णन कीजिये। भारतीय जनता से शारीरिक और मानसिक दोष निकालने के लिए सुप्रजनन-शास्त्रीय योजना बनाइये। (१९५२, १९५३)

२. भावात्मक और निषेधात्मक सुप्रजनन-शास्त्र का अन्तर बताइये। (१९५३)

३. "भारत की निर्धनता की जड़ में जन-संख्यातिरेक का प्रश्न है"—इस कथन की विवेचना करते हुए अपने उत्तर के लिए युक्तियाँ दीजिये। (१९५४)

४. क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि भारत में जन-संख्यातिरेक की स्थिति है? अपना उत्तर तर्कों सहित लिखिये। (१९५५)

५. भारत में जन-संख्या के नियन्त्रण की आवश्यकता बतलाते हुए यह स्पष्ट कीजिये कि जन-संख्या का नियोजन किस प्रकार किया जाना चाहिए। (१९५६)

६. जन-संख्या में वृद्धि के सामाजिक परिणामों की सोदाहरण विवेचना कीजिये। (१९५७)

७. निम्नलिखित कारकों में से कौन-सा भारत की बढ़ती जन-संख्या के लिए उत्तरदायी है—जन्म-दर का बढ़ना या मृत्यु-दर का घटना या दोनों? (१९६०)

८. भारत की जन-संख्या की वृद्धि को रोकने के लिए आप क्या निर्देश दे सकते हैं? (१९६१)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१३

भारत में स्वास्थ्य
(HEALTH IN INDIA)

१. भारत में स्वास्थ्य-संबंधी विचार का इतिहास

भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी का ध्यान पहले-पहल अंग्रेज़ों तथा अपनी फ़ौजों के स्वास्थ्य की तरफ़ ही गया और उन्होंने इन्हीं के लिए १६६४ में अस्पताल खोले। १७वीं सदी के अन्त में आम जनता के लिए भी कलकत्ता में एक अस्पताल खोला गया। १८०० के लगभग बम्बई तथा मद्रास में भारतीयों के लिए कुछ अस्पताल खोले गये। परन्तु अभी तक यही समझा जाता था कि चिकित्सा का काम रोगी का इलाज कर देना है, यह नहीं समझा जाता था कि चिकित्सा का काम परिस्थिति में भी ऐसा सुधार करना है जिससे रोग होने ही न पाये। अभी तक चिकित्सा 'उपचारात्मक' (Curative) तो थी, 'निरोधात्मक' (Preventive) नहीं थी। यह समझा ही नहीं जाता था कि बीमारी रोगी से आ सकती है, चारों तरफ़ की दूषित परिस्थिति से—गन्दे घरों से, गन्दी नालियों से, गन्दे पानी से, गन्दी हवा से—इन सब से आ सकती है। रोग तो कर्मों का फल है—यह विचार यहाँ घर किये हुए था, इसलिए इस बात की सार्वजनिक माँग भी नहीं थी कि 'निरोधात्मक'-उपायों से रोग की रोक-थाम की जाय।

१८५९ में भारतीय-सेना के स्वास्थ्य की जाँच-पड़ताल करने के लिए 'रॉयल कमीशन' नियुक्त हुआ। इस कमीशन ने जो सिफ़ारिशें कीं उनमें कहा गया था कि सेना के स्वास्थ्य के साथ-साथ जनता के स्वास्थ्य की तरफ़ भी ध्यान

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. "No individual should fail to secure adequate medical care because of inability to pay for it." What measures have been suggested by the Bhore Committee to achieve this objective? Examine them critically. (1952, 1953)

2. What are the reasons for the poor health of the people of India? What arrangement has been made by the Indian Government and the World Health Organisation to eradicate diseases? (1960)

3. Write a short essay on the problem of health and nutrition in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देना चाहिए क्योंकि सेना को देश में ही तो रहना है। इसके अनुसार केन्द्र में तथा प्रान्तों में 'सैनीटरी-कमिश्नरों' के कुछ पद बना दिये गए परन्तु देश में रोगी इतने थे कि सरकार का ध्यान रोगों का उपचार करने पर ही केन्द्रित रहा, उनकी रोक-थाम करने की तरफ़ नहीं गया, और ये 'सैनीटरी-कमिश्नर' कुछ कहने लायक काम नहीं कर सके।

१८९६ में भारत में प्लेग का ज़ोर हुआ और उसकी जाँच-पड़ताल करने के लिए १९०४ में 'प्लेग-कमीशन' नियुक्त किया गया। इस समय देश में 'निरोधात्मक उपायों' (Preventive measures) की माँग बड़े जोरों से उठी। अपनी आँखों के सामने लोग अपने सगे-सम्बन्धियों को मरते देख चुके थे। उन्हें यह पता लग चुका था कि अगर परिस्थिति का सुधार कर दिया जाय, घरों की गन्दगी, नालियों की बदबू, पानी का दोष, हवा का ज़हरीलापन न हो, तो इस प्रकार की भयानक मृत्यु से बचा जा सकता है। १९०४ के इस 'प्लेग-कमीशन' ने जो सिफ़ारिशें कीं, उनमें एक यह भी थी कि 'सार्वजनिक-स्वास्थ्य-सेवाओं' (Public Health Services) को बढ़ाया जाय, और चेचक, प्लेग आदि के टीकों की व्यवस्था की जाय। इस कमीशन की सिफ़ारिशों के अनुसार केन्द्रीय-सरकार की तरफ़ से प्रान्तीय-सरकारों को रुपए की सहायता दी जाने लगी जिससे प्रान्तीय-सरकारें मैले की नालियाँ, जल-प्रबन्ध आदि को ठीक कर सकें और रोगों का इलाज करने के बजाय रोग को उत्पन्न ही न होने दें। परन्तु ये सब प्रयत्न शहरों तक ही सीमित रहे, देश की अधिकांश संख्या गाँवों में रहती है, इसलिए गाँवों का हाल जैसे-का-तैसा रहा और स्वास्थ्य में कोई विशेष सुधार न हो सका।

१९१९ में गवर्नमेंट ऑफ़ इंडिया एक्ट बना जिसके अनुसार भारत को कुछ 'सुधार' दिये गए और कई विषय प्रान्तों को दे दिये गए। इनमें 'स्वास्थ्य' भी एक था। अब अपने-अपने प्रान्त में अस्पताल खोलना, डाक्टरी शिक्षा देना तथा सार्वजनिक-स्वास्थ्य की देख-रेख करने में हर प्रान्त स्वतंत्र हो गया और प्रान्तों में जो स्वास्थ्य-मन्त्री बने वे अपने क्षेत्र का विस्तार करने लगे।

१९३६ में ब्रिटिश सरकार ने 'सुधारों' की दूसरी किश्त दी। इन सुधारों का परिणाम यह हुआ कि १९१९ की अपेक्षा भी प्रत्येक प्रान्त अपने क्षेत्र में अधिक स्वतंत्र हो गया। १९४५ से पहले शिक्षा, स्वास्थ्य आदि कई विभाग एक ही मन्त्री के आधीन होते थे, १९४५ में केन्द्रीय-सरकार में स्वास्थ्य का स्वतंत्र विभाग खोल दिया गया जिसके लिए एक स्वतंत्र मन्त्री नियत किया गया। प्रान्तों में भी स्वास्थ्य के विभाग का मन्त्री नियत किया गया और तब से 'सार्वजनिक-स्वास्थ्य' (Public Health) की तरफ़ विशेष रूप से ध्यान दिया जाने लगा।

२. भारत का स्वास्थ्य-संबंधी निम्न स्तर

हमने देखा कि किस प्रकार धीरे-धीरे अपने देश में सार्वजनिक स्वास्थ्य की तरफ़ ध्यान गया। अब देखना यह है कि अपने देश का स्वास्थ्य का स्तर कैसा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है ? स्वास्थ्य के स्तर को जानने के लिए उस देश के व्यक्तियों की जीवन की अवधि, मृत्यु-दर, शिशु मृत्यु-दर आदि जानना आवश्यक है ?*

(क) निम्नतम जीवन की अवधि†—किसी देश के स्वास्थ्य को परखने की पहली कसौटी यह जानना कि उस देश में जीवन की अवधि कितनी है। निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि भारत में पुरुष तथा स्त्री की जीवन की अवधि सब देशों से कम है :

	पुरुषों की जीवन की अवधि	स्त्रियों की जीवन की अवधि
न्यूज़ीलैण्ड	६५.०४ वर्ष	६७.८८ वर्ष
आस्ट्रेलिया	६३.४८ ,,	६७.१४ ,,
साउथ अफ्रीका	५७.७८ ,,	६१.४८ ,,
कनाडा	५९.३२ ,,	६१.५९ ,,
अमरीका	५९.१२ ,,	६२.६७ ,,
जर्मनी	५९.८६ ,,	६२.७५ ,,
इंग्लैंड	५८.७४ ,,	६२.८८ ,,
इटली	५३.७६ ,,	५६.०० ,,
फ्रांस	५४.३० ,,	५९.०२ ,,
जापान	४४.८२ ,,	४६.५४ ,,
भारत	३२.०९ ,,	३१.३७ ,,

(ख) उच्चतम मृत्यु-दर—कोई देश स्वास्थ्य में उन्नति कर रहा है या नहीं, इसके परखने का दूसरा तरीका यह है कि हम उस देश की मृत्यु-दर का पता लगायें। स्वस्थ देश में लोग दीर्घ-जीवी होंगे, अस्वस्थ देश में छोटी आयु में ही लोग मरने लगेंगे। भारत की स्थिति निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी :

देश	मृत्यु-दर (प्रति हजार)
इंग्लड	११.४
इटली	९.८
अमरीका	९.६
जापान	८.९
चीन	१७.००
भारत	२७.००

---

* Write a short essay on the problem of health and nutrition in India.

† Health in Independent India (Ministry of Health Publication) by *G. Borker.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) उच्चतम शिशु मृत्यु-दर—देश के स्वास्थ्य को परखने का तीसरा तरीका यह है कि उस देश के बच्चों की मृत्यु-दर पता लगाई जाय जो निम्न तालिका से स्पष्ट है :

देश	शिशु मृत्यु-दर (प्रतिशत)
इंग्लैंड	५.३
अमरीका	९.७
भारत	५०.००

(घ) भिन्न-भिन्न आयु में जीने की अवधि—देश के स्वास्थ्य को परखने का एक यह भी तरीका है कि हम देखें कि किस-किस आयु के लोग कितने-कितने वर्ष जीते हैं। यह बात निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी :

जीने की आयु की भारत तथा अमरीका की तालिका*

देश के शिशु-बाल-वृद्ध	किस आयु से किस आयु तक	भारतीयों का जीने का प्रतिशत		अमरीकनों का जीने का प्रतिशत
शिशुओं की संख्या	०–४ वर्ष	१३.५		१०.८
बालक-बालिकाओं की संख्या	५ से १४ वर्ष	२४.८		१६.३
पुरुष-स्त्रियों की संख्या	१५ से २४	१७.४		३०.३
	२५ से ३४	१५.६		
अधेड़ पुरुष-स्त्रियों की संख्या	३५ से ४४	११.९	२०.४	२५.६
	४५ से ५४	८.५		
वृद्धों की संख्या	५५ से ६४	५.१		
	६४ से ७४	२.२	८.३	१६.९
	७५ से ऊपर	१.९		

इस तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि क्योंकि अपने देश की जन्म-दर अधिक है, इसलिए शुरू-शुरू में तो हमारे देश में जीवित व्यक्तियों की संख्या अन्य देशों से अधिक है, परन्तु ३४ साल की आयु के बाद हमारे देश में जीवन का अनुपात अन्य देशों के मुकाबिले में घटने लगता है और ५४ साल के बाद जहाँ अमरीका में जीने वाले १६.९ प्रतिशत हैं, वहाँ भारत में जीवित व्यक्तियों की संख्या कुल ८.३

1. Census Report 1951.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिशत रह जाती है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि हम अभी स्वास्थ्य-रक्षा की दिशा में अन्य देशों से बहुत पीछे हैं। अन्य देशों में जहाँ ५४ वर्ष से अधिक आयु तक जीने वालों की संख्या १५ से २१ प्रतिशत तक पायी जाती है, वहाँ अपने देश में यह संख्या कुल ८.३ प्रतिशत है। ५४ वर्ष के बाद जीने वालों की भिन्न-भिन्न देशों की संख्या निम्न है :

५४ वर्ष से अधिक जीने वालों का भिन्न-भिन्न देशों का प्रतिशत

देश	५४ वर्ष से ऊपर जीनेवालों का अपने देश की संख्या से प्रतिशत	देश	५४ वर्ष से ऊपर जीनेवालों का अपने देश की संख्या से प्रतिशत
युरोप	१७.२	भारत	८.३
जर्मनी	१९.१	जापान	११.०
संयुक्त-राज्य	२१.१	दक्षिण-पूर्वी एशिया	७.३
इटली	१२.०	दक्षिण-पश्चिमी एशिया	९.५
फ्रांस	२१.४	दक्षिणी तथा मध्य अमरीका	७.४
उत्तरी अमरीका	१६.५		
अमरीका	१६.९		
ओशियेनिया	१७.८	अफ्रीका	८.५

जिन देशों में दीर्घजीवी लोगों का प्रतिशत ज्यादा है, उनके यहाँ स्वास्थ्य का स्तर स्वल्पजीवी देशों से ऊँचा है—यह मानना पड़ेगा। ५४ वर्ष से ऊपर जीने वाले जर्मनी में १९.१, संयुक्त राज्य में २१.१, फ्रांस में २१.४ प्रतिशत हैं, तो भारत में कुल ८.३ हैं। अफ्रीका से भी हमारा प्रतिशत गिरा हुआ है—इससे ज्यादा अपने देश की शोचनीय अवस्था क्या हो सकती है ?

(ङ) **रोगों का प्रकोप***—देश के स्वास्थ्य को परखने का यह तरीका भी है कि हम देखें कि उस देश में रोगों का क्या हाल है। भारत में मलेरिया, तपेदिक आदि से जो मौतें होती हैं उनका भिन्न-भिन्न हिसाब लगाया गया है। १९४७ के हिसाब के अनुसार यहाँ मृत्युजनक रोगों की स्थिति निम्न थी :

* Health in Independent India (Ministry of Health Publication) by *G. Borker.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रोग का नाम	कितने प्रति वर्ष मरते हैं
मलेरिया	१५ से २० लाख प्रति वर्ष
तपेदिक	५ लाख प्रति वर्ष
डिसेंट्री	२ लाख प्रति वर्ष
प्रसूता	२ लाख प्रति वर्ष
चेचक, हैज़ा, प्लेग आदि	२ लाख प्रति वर्ष

३. भारत के स्वास्थ्य के निम्न-स्तर के कारण*

अपने देश में जीवन की अवधि अन्य देशों से निम्नतम है, मृत्यु-दर उच्चतर है, शिशु मृत्यु-दर सब देशों से अधिक है, भिन्न-भिन्न आयु में भी जीने की अवधि निम्नतम है, रोगों का प्रकोप दुनिया भर से ज़्यादा है—इस सब के कारण क्या हैं ?- इसके कारण निम्न हैं :

(क) जन-संख्यातिरेक—१९४१ में अखंड भारत की जन-संख्या ३१ करोड़ २८ लाख थी, १९५१ में खंडित भारत की जन-संख्या ३५ करोड़ ६९ लाख हो गई, १९६१ में ४३ करोड़ ९० लाख हो गई। जन-संख्या जिस तेज़ी से बढ़ रही है उत्पादन उस तेज़ी से नहीं हो रहा। इसका नतीजा यह हो रहा है कि सब को भर पेट खाने को नहीं मिल रहा, जो-कुछ मिलता है उसमें पोषक-तत्वों की मात्रा पर्याप्त नहीं होती इसलिए देश का स्वास्थ्य दिनोंदिन गिर रहा है।

(ख) निर्धनता—इस देश में मध्यम-वर्ग की आय ८॥ रुपये मासिक है। इसमें थोड़ा-बहुत हेर-फेर हो सकता है। इतनी आय में कौन क्या खा सकता है, क्या पहन सकता है, क्या बाल-बच्चों का पेट पाल सकता है। ग़रीबी के कारण स्वास्थ्यवर्धक पदार्थों का सेवन बहुत कम लोग कर पाते हैं। उन्हें घी, दूध, दही, फल नसीब नहीं होता, रोग घेर लेते हैं तो इलाज नहीं हो पाता। ऐसे लोग अगर बीमारी के शिकार रहें, जल्दी मौत के घाट जा पहुँचे तो क्या आश्चर्य ?

(ग) सामाजिक कुरीतियाँ—पर्दा, बाल-विवाह आदि के कारण भी अपने देश का स्वास्थ्य नष्ट हो रहा है। पर्दे में रहने वाली स्त्रियों को न स्वच्छ हवा मिलती है, न सूर्य की रोशनी। ऐसी हालत में उनका स्वास्थ्य कैसे बना रह सकता है ? बाल-विवाह के कारण छोटी आयु में सन्तान उत्पन्न करना शुरू कर देने से भी स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। बालविवाह के कारण ही प्रति वर्ष २ लाख छोटी आयु की प्रसूता स्त्रियाँ यमलोक सिधार जाती हैं।

---

* What are the reasons for the poor health of the people of India? (1960)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) शिक्षा का अभाव—१९६१ की जन-गणना के अनुसार ३३.९ प्रतिशत पुरुष तथा १२.८ प्रतिशत स्त्रियाँ शिक्षित हैं।* इसका अर्थ यह हुआ कि ६६.१ प्रतिशत पुरुष तथा ८७.२ प्रतिशत स्त्रियाँ अशिक्षित हैं। अशिक्षा के कारण स्वास्थ्य के लिए ये लोग व्यय नहीं करते, रोग का इलाज औषध से करने के स्थान में जादू-टोने से करते हैं जिससे रोग से छुटकारा नहीं पा सकते।

(ङ) शुद्ध जल का अभाव—१९५१ में भारत की आबादी के सिर्फ़ ६.१५ प्रतिशत भाग को संरक्षित जल मिल रहा था, बाकी लोग कुओं, तालाबों, नहरों का पानी पी रहे थे।* कुओं, तालाबों आदि का पानी शुद्ध नहीं होता, इनसे टायफ़ाइड तथा अन्य अनेक पेट की बीमारियाँ हो जाती हैं।

(च) सफ़ाई का अभाव—हमारे देश में लोग कूड़ा बुहार कर अपने पड़ौसी के दरवाज़े की तरफ़ धकेल देते हैं, जहाँ-तहाँ थूकते, पेशाब फिरते, टट्टी करते हैं। इनसे मक्खी-मच्छर का होना स्वाभाविक है। किसी गाँव में चले जाँय, गन्दे पानी का तालाब न दीखे तो आश्चर्य है। गाँव की गलियों में कीचड़-ही-कीचड़ नज़र आता है। सरकारी रिपोर्ट के अनुसार भारत की आबादी का सिर्फ़ ३ प्रतिशत भाग ऐसा है जिसे सीवरेज की सुविधाएँ प्राप्त हैं।

(छ) हवादार मकानों का अभाव—जन-संख्या की वृद्धि के साथ-साथ देश में रिहायश के मकानों की कमी होती जा रही है। १९५१ से १९६१ में २० हज़ार या इससे ऊपर की आबादी के शहरों की जन-संख्या ४० प्रतिशत बढ़ गई है। इस बीच १९५१ में शहरों की आबादी के लिए २५ लाख मकानों की कमी अनुभव की जा रही थी, १९६१ में यह कमी ५० लाख मकानों की हो गई†। जो मकान बनते हैं उनकी दशा भी शोचनीय होती है। गाँवों में तो मकानों का बुरा हाल है। १९५३–५४ के एक सर्वेक्षण के अनुसार गाँवों के ८५ प्रतिशत मकान मट्टी-गारे के होते हैं जिनमें न खिड़की होती है, न रोशनदान। इनमें से ३४ प्रतिशत मकान एक कमरे के, ३२ प्रतिशत दो कमरे के होते हैं जिनमें सारे परिवार के लोग भरे रहते हैं।

(ज) स्वास्थ्य सेवाओं का अभाव—अन्य देशों की तुलना में भारत में स्वास्थ्य-सेवाएँ भी कम उपलब्ध हैं। उदाहरणार्थ, भोर-समिति के अनुसार १९४६ में इंग्लैंड में १,००० के पीछे १ डाक्टर था तो भारत में ६,३०० के पीछे १ डाक्टर था; इंग्लैंड में ३०० के पीछे १ नर्स थी तो भारत में ४३ हज़ार के पीछे १ नर्स थी; इंग्लैंड में २,७०० के पीछे १ दाँतों का डाक्टर था तो भारत में ३ लाख के पीछे १ दाँतों का डाक्टर था। अब इस संख्या में कुछ सुधार हुआ है, परन्तु कितना? जब स्वास्थ्य को देखने-भालने वालों की ही देश में कमी हो तब देश का स्वास्थ्य कैसे सुधरे?

---

* INDIA—1962
* INDIA—1962
† THIRD FIVE YEAR PLAN, p. 680.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(झ) पोषणयुक्त भोजन का अभाव—स्वस्थ व्यक्ति को ३,००० कैलोरी भोजन में मिलनी चाहिएँ, यहाँ १,७५० के लगभग मिल पाती है। इस संबंध में हम अगले अध्याय में लिखेंगे, यहाँ इतना लिख देना पर्याप्त है कि पोषणहीन भोजन के कारण अपने देश में बीमारियों से मुकाबिला करने की प्रतिशोध-शक्ति नहीं रहती, इसलिए वे अनेक रोगों के शिकार होते रहते हैं, एक बार रोग की लपेट में पड़ कर उसमें से निकलते नहीं।

(ञ) शुद्ध भोजन का अभाव—पोषणहीन भोजन के अतिरिक्त इस देश में कोई खाद्य-वस्तु शुद्ध नहीं मिलती। दुकानदार हर वस्तु में मिलावट करने लगे हैं। उन्हें पैसा चाहिए, ग्राहक को सस्ती वस्तु चाहिए। दूध में पानी, घी में चर्बी, शहद में गुड़, आटे में बुरादा, शुद्ध घी के नाम से वनस्पति, मलाई में स्याही-चूस—कौन-सी वस्तु है जिसमें मिलावट नहीं होती। औषधियों तक में लोग मिलावट करने से नहीं चूकते। ऐसी हालत में देश के स्वास्थ्य का सुधार कैसे हो?

४. हैल्थ-सर्वे एण्ड डिवेलपमेंट कमिटी (भोर-समिति) की रिपोर्ट*

ऊपर हमने अपने देश के स्वास्थ्य का जो चित्र खींचा उसे देखते हुए अक्तूबर १९४३ में भारत-सरकार ने देश की स्वास्थ्य-संबंधी समस्याओं पर छान-बीन करने के लिए तत्कालीन स्वास्थ्य-डायरेक्टर सर जोजफ़ भोर की अध्यक्षता में 'भोर-समिति' नियुक्त की जिसने १९४६ में अपनी रिपोर्ट तैयार करके पेश कर दी। इस समिति का उद्देश्य भारत-सरकार के सम्मुख देश की स्वास्थ्य-संबंधी समस्या और उसके हल को चित्रित कर देना था। इस समिति ने तीन बातों पर ज़ोर दिया। पहली बात थी—अपने लक्ष्य का प्रतिपादन, अर्थात् हमारी स्वास्थ्य-योजना का लक्ष्य क्या होना चाहिए, किन सिद्धान्तों को आधार बनाकर हमारी स्वास्थ्य-योजना चलनी चाहिए। दूसरी बात थी—स्वास्थ्य-संबंधी योजना। इस योजना को उन्होंने दो भागों में बाँट दिया—'दीर्घ-कालीन योजना' तथा 'स्वल्प-कालीन योजना'। इन तीनों विषयों पर 'भोर-समिति' के विचारों को हम यहाँ संक्षेप से लिखेंगे।

[क. स्वास्थ्य-योजना के आधारभूत सिद्धान्त]

इस समिति का कहना था कि हम देश में जो भी स्वास्थ्य-योजना बनायें, उसके आधारभूत सिद्धान्त निम्न होने चाहिएँ :—

(i) स्वास्थ्य-सेवाओं से देश के हर व्यक्ति को 'उपचारात्मक' (Curative) तथा 'निरोधात्मक' (Preventive)—दोनों प्रकार की पर्याप्त सहायता मिलनी चाहिए। ये सेवाएँ ऐसी होनी चाहिएँ जिनसे व्यक्ति स्वास्थ्य

---

* **"No individual should fail to secure adequate medical care because of inability to pay for it." What measures have been suggested by the Bhore Committee to achieve this objective? Examine them critically. (1952, 1953)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में प्रत्यक्ष लाभ उठाता दीख पड़े, उसके स्वास्थ्य में ऐसी तरक्की हो जो दीखे, सब को पता चले कि स्वास्थ्य उन्नत हो रहा है।

(ii) ये स्वास्थ्य-सेवाएँ जनता के इतनी निकट होनी चाहिएँ कि वे उनका ज़्यादा-से-ज़्यादा फ़ायदा उठा सकें। ऐसा न हो कि इनकी स्थापना इतनी दूर हो कि साधारण जनता वहाँ तक पहुँच ही न पाये।

(iii) स्वास्थ्य-संबंधी सरकारी-संगठन ऐसा होना चाहिए जिससे सरकारी स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं तथा आम जनता में सहयोग से काम लिया जा सके। ऐसा संगठन न हो कि ये कार्यकर्ता अफ़सरीपन में रहें।

(iv) स्वास्थ्य-संबंधी प्रोग्राम को ठीक-ठीक चलाने के लिए सिर्फ़ औषध-चिकित्सकों से काम न चलेगा, दन्त-चिकित्सकों, औषध-निर्माताओं, परिचारिकाओं आदि सभी के सहयोग की ज़रूरत होगी। इसलिए ऐसी योजना बनानी होगी जिसमें चिकित्सा, औषध अथा परिचर्या से संबंध रखने वाले सभी वर्गों के प्रतिनिधि देश की स्वास्थ्य-संबंधी नीति में समाविष्ट हों।

(v) वर्तमान चिकित्सा-पद्धति के लिए रोग का कारण, रोग की परीक्षा आदि सब-कुछ जानना आवश्यक है। इसलिए स्वास्थ्य-योजना में ऐसा प्रबन्ध होना लाज़मी है जिसमें भिन्न-भिन्न विषयों के विशेषज्ञों की सलाह रोग की चिकित्सा में प्राप्त हो सके।

(vi) जनता के कुछ भाग के लिए विशेष प्रबन्ध करना भी आवश्यक होगा। उदाहरणार्थ, माताओं, बच्चों तथा मानसिक रोगियों के स्वास्थ्य के प्रबन्ध की विशेष व्यवस्था करनी होगी।

(vii) इस बात का प्रबन्ध करना होगा कि पैसा न होने के कारण देश का कोई भी व्यक्ति 'उपचारात्मक' तथा 'निरोधात्मक' किसी प्रकार की चिकित्सा से भी वंचित न रहे।

(viii) घर में तथा घर से बाहर जहाँ भी सर्व-साधारण काम के लिए या मनोरंजन के लिए इकट्ठे होते हों, वहाँ की परिस्थिति जहाँ तक हो सके स्वास्थ्यकर हो—यह भी देखना होगा।

[ख. दीर्घ-कालीन योजना—Long-term programme]

इस समिति ने उपरोक्त लक्ष्य की पूर्ति के लिए जो दो योजनाएँ बनाई थीं, उनमें एक 'दीर्घ-कालीन' थी, दूसरी 'स्वल्प-कालीन' थी। दीर्घ-कालीन योजना को ३०–४० वर्ष में पूरा किया जाना था, स्वल्प-कालीन को पाँच-पाँच वर्ष के दो भागों में। पहले हम दीर्घ-कालीन योजना का वर्णन करेंगे।

दीर्घ-कालीन योजना का अभिप्राय यह है कि सारे देश में स्वास्थ्य-सेवाओं (Health Services) का ऐसा जाल बिछा दिया जाय कि एक व्यक्ति भी ऐसा न रहे जिसे 'उपचारात्मक' (Curative) तथा 'निरोधात्मक' (Preventive) दोनों प्रकार की स्वास्थ्य-सेवाओं का पूरा-पूरा लाभ न मिले। इसका तरीका क्या है? इसका तरीका यह है कि अगर मान लिया जाय कि ज़िले

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की आबादी लगभग ३० लाख है, तो ज़िले को छः-छः लाख के ५ टुकड़ों में बाँट दिया जाय। इस समय ज़िले कहीं थानों में, कहीं तहसीलों में और कहीं ताल्लुकों में बँटे हुए हैं। अगर थाने, तहसील या ताल्लुके में छः लाख के लगभग आबादी आ जाती है, तो यही विभाग ठीक रहेगा, नहीं तो थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ ज़िले को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है। छः-छः लाख की आबादी के इन पाँचों टुकड़ों में से एक-एक को बीस-बीस हज़ार की आबादी में बाँटा जाय। इस प्रकार इन पाँचों में से हर-एक टुकड़े के बीस-बीस हज़ार आबादी के तीस-तीस टुकड़े हो जायेंगे। इन तीस टुकड़ों में से हर-एक टुकड़ा 'प्राथमिक-इकाई' (Primary unit) कहायेगी, तीस टुकड़ों के मिलने से जो क्षेत्र बनेगा वह 'माध्यमिक-इकाई' (Secondary unit) कहायेगी, और इस प्रकार की पाँच 'माध्यमिक-इकाइयों' के मिलने से ज़िले का संगठन जो बनेगा वह 'ज़िला-केन्द्रीय-संगठन' (District Headquarters Organisation) कहायेगा। इस प्रकार ३० लाख की आबादी के ज़िले भर में १५० 'प्राथमिक-इकाइयाँ' (Primary units) होंगी। 'प्राथमिक-इकाई' तथा 'माध्यमिक-इकाई' आपस में कटी हुई न होंगी। इन दोनों के बीच एम्बुलेंस के ज़रिये हर समय बीमारों का आदान-प्रदान हो सकेगा। अगर कोई बीमार ऐसा है जिसके उपचार के सब सामान 'प्राथमिक-इकाई' में मौजूद नहीं हैं, तो फ़ौरन एम्बुलेंस के ज़रिये उसे 'माध्यमिक-इकाई' में पहुँचाया जा सकेगा, अगर वह रोगी वहाँ के लिए भी उपयुक्त नहीं है, तो उसे एम्बुलेंस के ज़रिये 'जिला-केन्द्रीय-संगठन' में पहुँचाया जा सकेगा। इन सब केन्द्रों का टैलीफ़ोन के ज़रिये संबंध होगा ताकि सूचना फ़ौरन एक स्थान से दूसरे स्थान को पहुँचाई जा सके। स्वास्थ्य के इन सभी केन्द्रों का काम 'उपचारात्मक' (Curative) तथा 'निरोधात्मक' (Preventive) दोनों चिकित्सा करना होगा। इन केन्द्रों में 'प्राथमिक-इकाई' में ७५, 'माध्यमिक-इकाई' में ६५० तथा 'ज़िला-केन्द्रीय-संगठन' में २,५०० रोगियों के लिए पलंगों का प्रबन्ध होगा। इन सब इकाइयों में डाक्टर, नर्स आदि का काम सिर्फ़ अस्पताल में आये रोगियों की देख-भाल करना ही न होगा, अपितु रोगियों को स्वास्थ्य-संबंधी बातों का परिचय कराना तथा रोग से बचने के उपायों की शिक्षा देना भी होगा। प्रत्येक केन्द्र में 'सामाजिक-स्वास्थ्य-कार्यकर्ता' (Hospital Social Workers) रहेंगे। 'प्रारंभिक-केन्द्र' में ३, 'माध्यमिक-केन्द्र' में १५ तथा 'ज़िला-केन्द्रीय-संगठन' में ५०—इस प्रकार के कार्यकर्ता होंगे जिनका काम रोगी के घर में जाकर वहाँ की उन परिस्थितियों का अध्ययन करना होगा जिनके कारण रोग उत्पन्न हुआ। इनका काम होगा कि लोगों से मिलें, उन्हें रोग का कारण समझायें और जहाँ तक वे कारण जनता के उद्योग से दूर हो सकते हैं, जनता को उन्हें दूर करने के लिए प्रेरित करें। इन सब केन्द्रों के चिकित्सकों का दोहरा काम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा—रोगों की चिकित्सा तथा परिस्थिति के सुधार के द्वारा रोगों की रोक-थाम।

[ग. स्वल्प-कालीन योजना—Short-term programme]

ऊपर जो योजना दी गई है उसे पूरा करने के लिए २,३३,६५० डाक्टर, ६,८०,००० नर्स, १,१२,५०० मिड-वाइफ़ तथा ८४,३७५ औषध-निर्माताओं की आवश्यकता होगी। क्या इतना बड़ा प्रोग्राम पूरा हो सकेगा? रशिया में १९१३ में कुल १९,७८५ डाक्टर थे, १९४१ में १,४१,६०० हो गए, अर्थात् २८ साल में पहले से ७ गुणा हुए। भारत में उक्त योजना के अनुसार ३०–४० साल में कुल ५ गुणा डाक्टर हो जाँय, तो यह प्रोग्राम पूरा हो सकता है। इस योजना के अनुसार १ रुपया प्रति व्यक्ति खर्च पड़ता है जो बहुत अधिक नहीं है, परन्तु इस योजना को क्रियान्वित करने में शुरू-शुरू में न इतने डाक्टर मिलेंगे, न इतना रुपया मिलेगा, इसलिए भोर-समिति ने एक स्वल्प-कालीन योजना भी बनाई थी। यह योजना क्या थी?

दीर्घ-कालीन योजना में तो २० हज़ार की आबादी को एक 'प्राथमिक-इकाई' (Primary unit) मान कर, अस्पताल खोलने का प्रस्ताव था, स्वल्प-कालीन योजना में २० की जगह ४० हज़ार की आबादी को एक 'प्राथमिक-इकाई' मान कर अस्पताल खोलने का प्रस्ताव किया गया। दीर्घ-कालीन योजना में ज़िले भर में १५० 'प्राथमिक-इकाइयाँ' खोलने का प्रस्ताव था, स्वल्प-कालीन योजना में शुरू-शुरू में 'माध्यमिक-इकाई' के अन्तर्गत सिर्फ़ ५ 'प्राथमिक-इकाइयों' को, और क्योंकि ज़िले में ५ 'माध्यमिक-इकाई' हैं इसलिए ज़िले भर में सिर्फ़ २५ 'प्राथमिक-इकाइयों' को खोलने का प्रस्ताव किया गया। दीर्घ-कालीन योजना में प्रत्येक 'प्राथमिक-इकाई' के लिए ७५ पलंग रखने का प्रस्ताव था, स्वल्प-कालीन योजना में योजना के प्रथम ५ वर्षों में ५ 'प्राथमिक-इकाइयों' के लिए कुल ३० पलंग रखने का, और योजना के अगले ५ वर्षों के लिए इन पलंगों की संख्या को दुगुना कर देने का प्रस्ताव किया गया। इसके अलावा, प्रत्येक 'प्राथमिक-इकाई' में एक डिसपेंसरी होगी और दो तात्कालिक-चिकित्सा तथा दो मातृत्व के लिए पलंगों का बन्दोबस्त होगा। प्रत्येक 'प्राथमिक-इकाई' में २ डाक्टर, ४ सार्वजनिक-स्वास्थ्य की जानकारी रखने वाली नर्सें, १ अस्पताल की नर्स, ४ मिड वाइफ़, ४ ट्रेण्ड दाइयाँ, २ सार्वजनिक स्वास्थ्य-निरीक्षक, २ स्वास्थ्य-सहायक, १ औषध-निर्माता, २ लेखक, १ मिस्त्री तथा १५ सेवक होंगे। इनमें से दाइयाँ 'प्राथमिक-केन्द्र' में न रहकर इस ४० हज़ार के क्षेत्र में इस तरह रखी जायँगी जिससे वे जनता के निकट-से-निकट रह सकें और समय पर उनसे सहायता ली जा सके। इन सब का काम 'उपचार' के अतिरिक्त रोगों का 'निरोध' करना भी होगा। क्योंकि स्वल्प-कालीन योजना में क्षेत्र २० हज़ार की जगह ४० हज़ार की आबादी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का लिया गया, इसलिए इतने बड़े क्षेत्र में काम करने के लिए इस क्षेत्र को ४ छोटे-छोटे उपक्षेत्रों में विभक्त कर लेना सुविधाजनक होगा, जिन चारों उपक्षेत्रों में से कोई एक 'प्राथमिक-इकाई' कहलायेगा। इन चारों उपक्षेत्रों का इस 'प्राथमिक-इकाई' के साथ संबंध होगा ताकि समय पर सब जगह सहायता पहुँचायी जा सके।

दीर्घ-कालीन योजना में ज़िले में तीस-तीस 'प्राथमिक-इकाइयों' के ऊपर एक 'माध्यमिक-इकाई' खोलने का प्रस्ताव था, स्वल्प-कालीन योजना में ज़िले भर में ५ 'प्राथमिक-इकाइयाँ' और उनके लिए ज़िले में एक 'माध्यमिक-इकाई' खोलने का प्रस्ताव किया गया। पहले ५ साल में तो ये 'प्राथमिक-इकाइयाँ' ५ ही होंगी, परन्तु अगले दस साल में बढ़कर १२ या १३ हो जायेंगी। दीर्घ-कालीन योजना में 'माध्यमिक-इकाई' के लिए ६५० पलंगों का प्रस्ताव था, परन्तु स्वल्प-कालीन योजना में २०० पलंगों का प्रस्ताव किया गया। स्वल्प-कालीन 'माध्यमिक-इकाई' में उतना ज्यादा स्टाफ़ नहीं होगा जितना दीर्घ-कालीन योजना में रखा गया। स्वल्प-कालीन योजना के अन्दर ४ लाख की आबादी के लिए एक 'माध्यमिक-इकाई' का प्रस्ताव किया गया, परन्तु अगर यह आबादी ६ लाख तक पहुँच जाय, तो ज़िले में एक की जगह दो 'माध्यमिक-इकाइयाँ' खोल दी जानी चाहिएँ—ऐसा इस योजना में कहा गया।

दीर्घ-कालीन योजना के अनुसार 'माध्यमिक' तथा 'ज़िले के केन्द्रीय-संगठन' के साथ मलेरिया, तपेदिक, यौन-रोग, कुष्ठ, मानसिक-रोग, मातृत्व-संरक्षण, बाल-कल्याण, पाठशाला-स्वास्थ्य तथा पोषण आदि के सब काम 'स्वास्थ्य-सेवाओं' (Health Services) के साथ जोड़ दिये गए हैं। प्रत्येक केन्द्र का कर्तव्य होगा कि रोग का इलाज करने के साथ-साथ इन कामों को करें, परन्तु जब तक दीर्घ-कालीन योजना क्रिया में नहीं आती तब तक के लिए प्रान्त की तरफ़ से स्वल्प-कालीन कार्य के लिए एक योजना बननी चाहिए जिसका काम प्रान्त की देख-रेख में हर ज़िले से मलेरिया, तपेदिक, यौन-रोग, कुष्ठ आदि का निवारण करना होना चाहिए।

स्वल्प-कालीन योजना में भोर-समिति ने इस बात पर भी बल दिया कि गृह-निर्माण, जल-प्रबन्ध, नालियों का बनाना आदि कार्य भी ऐसे हैं जिनकी तरफ़ ध्यान देना भी सरकार का कर्तव्य है।

अभी तक स्थिति यह है कि हमारा अस्पतालों का काम अलग-से चल रहा है, सार्वजनिक-स्वास्थ्य का काम अलग-से चल रहा है। अस्पताल का सिविल सर्जन समझता है कि अस्पताल में आये रोगियों की चिकित्सा करना ही उसका काम है, गाँवों में तथा शहरों में बीमारी की रोक-थाम उसका काम नहीं है। ज़िले का स्वास्थ्य-विभाग का अधिकारी समझता है कि ज़िले में फैलने वाली मलेरिया आदि बीमारियों की रोक-थाम तथा परिस्थिति का नियन्त्रण ही उसका

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम है, रोगियों का इलाज उसका काम नहीं है। इस प्रकार दो विभाग समानान्तर चल रहे हैं। इस स्थिति में दोनों विभागों में परस्पर किसी प्रकार का सहयोग नहीं दिखाई देता। भोर-समिति ने 'स्वास्थ्य-सेवाओं' (Health Services) की जो योजना तैयार की उसमें दोनों विभागों को एक-दूसरे से जोड़ दिया। इस योजना के अनुसार स्वल्प-कालीन तथा दीर्घ-कालीन दृष्टि से जो अस्पताल खुलेंगे उनमें सब डाक्टरों का काम 'उपचारात्मक' तथा 'निरोधात्मक'—दोनों प्रकार का होगा, और इसी दृष्टि से इन केन्द्रों में 'सामाजिक-स्वास्थ्य-कार्यकर्ताओं' की संख्या भी पर्याप्त मात्रा में रहेगी। औषधालयों के चिकित्सकों में कुछ चिकित्सक कुछ समय तक 'उपचारात्मक' कार्य करेंगे, कुछ 'निरोधात्मक' और वे भी बारी-बारी से अपना काम अदलते-बदलते रहेंगे जिससे प्रत्येक चिकित्सक को दोनों प्रकार का अनुभव हो, और वह दोनों प्रकार का कार्य कर सके।

५. पंच-वर्षीय योजनाओं में रोगोत्पादक परिस्थितियों का निवारण*

भोर-समिति ने अपनी रिपोर्ट में रोग उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का सुधार करने पर बहुत ज़ोर दिया था। असल में, रोग का इलाज करने की अपेक्षा रोग उत्पन्न ही न होने देना ही वास्तव में 'सार्वजनिक-स्वास्थ्य-सेवाओं' (Public Health Services) का उद्देश्य होना चाहिए। बीमारी पिछले जन्म के कर्मों का फल नहीं है, अस्वस्थ परिस्थिति का परिणाम है। इसी विचार को सम्मुख रखते हुए प्रथम **पंच-वर्षीय योजना** में स्वास्थ्य के लिए १४० करोड़ की राशि रखी तथा **द्वितीय योजना** में २२५ करोड़ अर्थात् लगभग दुगुना व्यय किया गया। **तृतीय-योजना** में स्वास्थ्य पर व्यय की जाने वाली राशि ३४२ करोड़ है। स्वास्थ्य के कार्य-क्रम के मुख्य तौर पर दो उद्देश्य हैं। एक उद्देश्य तो यह है कि जो स्वास्थ्य-सेवाएँ इस समय चल रही हैं, उन्हें इतना बढ़ा दिया जाय कि हर व्यक्ति उनसे आसानी से लाभ उठा सके; दूसरा उद्देश्य यह है कि इन स्वास्थ्य-सेवाओं से लाभ उठा कर सारे राष्ट्र के स्वास्थ्य का स्तर ऊँचा हो जाय। ये दोनों उद्देश्य कैसे पूर्ण हो सकते हैं—इस संबंध में 'योजना-आयोग' का कथन है कि हमें स्वास्थ्य के कार्य-क्रम बनाते हुए निम्न लक्ष्य पूरे करने होंगे :—

(क) अस्पताल खोलना।

(ख) डॉक्टरों तथा नर्सों को प्रशिक्षित करना।

*** What arrangement has been made by the Indian Government and the World Health Organisation to eradicate diseases? (1960)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) संक्रामक रोगों का नियन्त्रण।

(घ) स्वस्थ परिस्थिति उत्पन्न करना।

देश के स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए ऊपर जो चार लक्ष्य बतलाये गये हैं उनकी पूर्ति के लिए पंच-वर्षीय-योजनाओं की रूप-रेखा निम्न प्रकार है :

[क. अस्पताल खोलने का कार्य-क्रम]

प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में अस्पताल खोलने तथा रोगी-शय्याओं का कार्य-क्रम निम्न प्रकार रहा और तृतीय में निम्न प्रकार रहेगा :

मद*	प्रथम-योजना का प्रारंभ (१९५०-५१)	प्रथम-योजना (१९५५-५६)	द्वितीय-योजना (१९६०-६१)	तृतीय-योजना (१९६५-६६)
सरकारी अस्पताल	८,६००	१०,०००	१२,६००	१४,६००
सरकारी रोगी-शय्याएँ	१,१३,०००	१,२५,०००	१,८५,६००	२,४०,१००

प्रथम पंच-वर्षीय योजना-काल में अस्पतालों में १६ प्रतिशत तथा रोगी-शय्याओं में १० प्रतिशत की वृद्धि हुई; द्वितीय योजना-काल में अस्पतालों में २६ प्रतिशत तथा रोगी-शय्याओं में २४ प्रतिशत की वृद्धि हुई; तृतीय-योजना-काल में अस्पतालों में लगभग १६ प्रतिशत तथा रोगी-शय्याओं में लगभग ३० प्रतिशत वृद्धि होगी।

द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि क्योंकि भारत ग्राम-प्रधान देश है इसलिए हमें स्वास्थ्य-सेवाओं का इस प्रकार का आयोजन करना होगा जिससे ग्रामवासियों को अधिक-से-अधिक लाभ पहुँच सके। क्योंकि द्वितीय-योजना में देश में 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा' (National Extension Service) का प्रसार हो गया इसलिए जितने 'विकास-खंडों' (Development blocks) में हो सका उतनों में भोर-समिति द्वारा निर्दिष्ट 'उपचारात्मक' तथा 'निरोधात्मक' कार्य करने वाली 'स्वास्थ्य की प्रथम इकाइयों' (Primary Health Units) की व्यवस्था कर दी गई। इन इकाइयों का ब्यौरा निम्न है :—

मद	प्रथम-योजना	द्वितीय-योजना	तृतीय-योजना (प्रस्तावित)
स्वास्थ्य की प्राथमिक इकाइयाँ (Primary Health Units)	७२५	२,८००	५,०००

* THIRD FIVE YEAR PLAN, p. 653.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ख. डाक्टरों तथा नर्सों के प्रशिक्षण का कार्य-क्रम]

प्रथम तथा द्वितीय योजनाओं में मैडिकल कालेजों, विद्यार्थियों, डाक्टरों तथा नर्सों के प्रशिक्षण का कार्य निम्न प्रकार रहा और तृतीय में निम्न रहेगा :

मद*	प्रारंभ में	प्रथम-योजना	द्वितीय-योजना	तृतीय-योजना (प्रस्तावित)
मैडिकल कालेज	३०	४२	५७	७५
विद्यार्थी	२,५००	३,५००	५,८००	८,०००
दाँतों के कालेज	४	७	१०	१४
दाँतों के कालेजों में छात्र	१५०	२३१	२८१	४००
डाक्टर	५६,०००	६५,०००	७०,०००	८१,०००
नर्स	१५,०००	१८,५००	२७,०००	४५,०००
मिड वाइफ़	८,०००	१२,७८०	१९,९००	४८,५००
हैल्थ विज़िटर	५२१	८००	१,५००	३,५००
सैनीटरी इन्स्पेक्टर	३,५००	४,०००	६,०००	१९,२००

[ग. संक्रामक रोगों के नियन्त्रण का कार्य-क्रम]

इस प्रकरण में हम उन मुख्य-मुख्य संक्रामक रोगों का संक्षिप्त वर्णन करेंगे जिनका सार्वजनिक-स्वास्थ्य को उन्नत करने के लिए नियन्त्रण आवश्यक है, और जिनके नियन्त्रण पर प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय योजनाओं में विशेष बल दिया गया है।

(क) मलेरिया-पीड़ितों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—मलेरिया से देश को जो हानि पहुँच रही है, उसका उल्लेख करते हुए भारत के 'मलेरिया इन्स्टीट्यूट' के भूतपूर्व डायरेक्टर लेफ्टीनेंट-कर्नल जे० ए० सिनटन ने लिखा था कि यहाँ कम-से-कम १० करोड़ व्यक्ति प्रतिवर्ष इसके शिकार होते हैं, और प्रतिवर्ष २० लाख मौतें इस रोग से हो जाती हैं। इन्हीं महोदय ने हिसाब लगाया था कि भारत को प्रतिवर्ष मलेरिया के कारण १४७ से १८७ करोड़ रु० तक का नुक्सान उठाना पड़ता है। 'राष्ट्रीय-आय' के इस प्रकार बह जाने को क्या रोका नहीं जा सकता ? पहले तो इस बात का पता ही नहीं था कि मलेरिया किस कारण से होता है। १९वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सर रोनाल्ड रौस ने पता चलाया कि एक खास तरह के मच्छर होते हैं, जो मलेरिया के ज़हर के कीटाणुओं के वाहक होते हैं। इन्हें 'एनोफ़ीलस' (Anopheles) कहते हैं। जब से इस बात का पता चला है तब से तो मलेरिया पर पूरा-पूरा काबू पाया जाने लगा है। जब पानामा नहर बन रही थी तब मलेरिया के प्रकोप के कारण पहले-पहल तो नहर का काम ही छोड़ देना पड़ा था। उसके बाद जब मलेरिया के उन्मूलन के साधनों का प्रयोग किया

* THIRD FIVE YEAR PLAN, p. 653.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया तब रोग पर काबू पा लिया गया और नहर का काम पूरा हो सका। स्वेज़ नहर तथा अल्जीरिया में भी मलेरिया के मच्छरों के सर्वनाश से मलेरिया खत्म हो गया। भारत में भी रायपुर-विज़ागापटम रेलवे लाइन का निर्माण न हो सकता यदि मलेरिया पर काबू न पा लिया जाता। शारदा-नहर बनाने में सफलता भी मलेरिया पर सफलता पा लेने का परिणाम थी।

मलेरिया को रोकने के लिए मच्छरों के अंडों और मच्छरों दोनों का नाश करना ज़रूरी है। देश में जहाँ-तहाँ तालाबों में, जोहड़ों में पानी इकट्ठा रहता है। इनमें मलेरिया के मच्छर अंडे दे देते हैं। इन जोहड़ों को या तो पाट देना चाहिए, या इन पर अंडा-मार तेल छिड़क देना चाहिए। एक अमरीकन मछली होती है—'गम्बूसिया'। यह मलेरिया के अंडों को खा जाने में सिद्ध-हस्त है। इस मछली को ऐसे जलाशयों में छोड़ देना अच्छा रहता है। दिल्ली में राष्ट्रपति-भवन के पास जो फव्वारे हैं उनमें ये मछलियाँ छोड़ी हुई हैं। कभी-कभी रेल की पटड़ी बनाते हुए मट्टी इस तरह उठाई जाती है कि रेल के दोनों तरफ़ मीलों छोटे-छोटे जोहड़ बन जाते हैं। गाँव के लोग भी अपने कच्चे मकान बनाते हुए गाँव के बाहर से जो मट्टी लेते हैं, उनसे जोहड़ और तालाब बन जाना स्वाभाविक है। मच्छरों के लिए ये स्वर्ग हैं। इनका जबतक इलाज नहीं होगा तबतक मलेरिया का मिटना कठिन है।

अंडों का संहार करने के अलावा मच्छरों का मारना भी ज़रूरी है। मलेरिया के रोगी के शरीर में मच्छर जब डंक मारता है, तो रोगी के शरीर के कीटाणु इस मच्छर में, जिसमें पहले मलेरिया के कीटाणु न भी हों, आ जाते हैं, और फिर वह स्वस्थ मनुष्यों को डंक मार कर उनमें इन कीटाणुओं का संचार करने लगता है। इसलिए मलेरिया के रोगी को मच्छर न काटें ताकि उससे कीटाणु लेकर मच्छरों की थैलियाँ न भर जाँय, और स्वस्थ मनुष्यों को मच्छर न काटें ताकि इन कीटाणुओं का स्वस्थ-व्यक्तियों में संचार न हो जाय—इन दोनों का उपाय करना आवश्यक है। इसका उपचार डी० डी० टी० का छिड़कना तथा मसहरी का इस्तेमाल करना है। मलेरिया से पीड़ित रोगी के शरीर में कीटाणु नष्ट हो जाँय इसके लिए कुनीन का प्रयोग बहुत लाभदायक सिद्ध हुआ है। 'कुनीन' के अलावा 'एटैब्रीन' तथा 'मैपेक्राइन' का उपयोग भी लाभप्रद है। कुनीन शरीर में से मूत्रादि द्वारा जल्दी बाहर निकल जाता है, एटैब्रीन तथा मैपेक्राइन देर तक शरीर में रहते हैं—इसलिए इनका असर देरपा होता है। ऐसा भी देखा गया है कि किन्हीं कीटाणुओं पर कुनीन का ज्यादा असर होता है, किन्हीं पर एटैब्रीन तथा मैपेक्राइन का।

इस समय भारत-सरकार को मलेरिया के संबंध में सलाह देने के लिए दिल्ली में 'नेशनल मलेरिया इन्स्टीट्यूट' (National Malaria Institute) नाम की एक संस्था है। इसका काम मलेरिया तथा फ़ाइलेरिया पर अनुसंधान करना तथा इन रोगों का इलाज करने वाले चिकित्सक तैयार करना है। इस

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्था की तरफ़ से मलेरिया-निरोधक जो उपाय किये गए, उनका परिणाम यह है कि १९५३–५४ में जहाँ, १०.८ प्रतिशत को मलेरिया हुआ था वहाँ १९६२–६३ में कुल ०.४ प्रतिशत व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित हुए।*

(i) **१९५३–५४ में मलेरिया के नियन्त्रण का प्रोग्राम**—इसके अतिरिक्त प्रथम पंच-वर्षीय-योजना-काल में १९५३–५४ में 'भारत-अमरीका-समझौते' के अनुसार 'नेशनल मलेरिया नियन्त्रण प्रोग्राम' (National Malaria Control Programme) शुरू किया गया। इसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त में 'मलेरिया-नियन्त्रण-यूनिट' (Malaria Control Unit) बनाये गये जिनका काम जगह-जगह जाकर मलेरिया के मच्छरों को मारना तथा सारे पर्यावरण को मलेरिया-रहित कर देना है। प्रत्येक 'यूनिट' में ४ ट्रक, १ जीप, १ पावर स्प्रेयर, ३० डी० डी० टी० छिड़कने वाले, ६० पंप, ४० टन डी० डी० टी० होती हैं। उक्त समझौते के अनुसार देश में ३९१ यूनिट काम कर रहे हैं। क्योंकि मलेरिया नियन्त्रण के लिए डी० डी० टी० अत्यन्त आवश्यक है, इसलिए इसके निर्माण के लिए एक फ़ैक्टरी २५ मार्च, १९५५ में दिल्ली में खड़ी कर दी गई है जिसमें १ टन डी० डी० टी० प्रतिदिन बनता है और दूसरी फ़ैक्टरी केरल में बन रही है जिसमें १,४०० टन प्रतिवर्ष डी० डी० टी० बनेगा। अब इस सिलसिले में दूसरे देशों का मुँह नहीं ताकना पड़ेगा।

(ii) **१९५८ से मलेरिया के उन्मूलन का प्रोग्राम**—मलेरिया के संबंध में संसार में जो परीक्षण हुए हैं, उनके आधार पर द्वितीय पंचवर्षीय-योजना-काल में मलेरिया के नियन्त्रण के कार्य-क्रम में १ अप्रैल १९५८ से एक परिवर्तन कर दिया गया है। मलेरिया के परीक्षणों के आधार पर दो बातें पता लगी हैं। एक तो यह कि जहाँ लगातार तीन साल तक मलेरिया के उन्मूलन की कार्यवाही चलती रही है, वहाँ के मनुष्यों में फिर मलेरिया नहीं होता। फिर वहाँ मलेरिया के उन्मूलन का कार्य जारी रखना समय और शक्ति का अपव्यय है। दूसरी बात यह पता चली है कि जिन मच्छरों पर मलेरिया के उन्मूलन की औषध का प्रयोग होता है, धीरे-धीरे उनमें उस औषध के प्रति 'प्रतिरोध-शक्ति' (Resistance) पैदा हो जाती है इसलिए डी० डी० टी० आदि का उन पर कोई प्रभाव नहीं रहा। इसका अभिप्राय यह है कि हमें मलेरिया के नियन्त्रण पर इतना बल नहीं देना चाहिए जितना इसके उन्मूलन पर। 'मलेरिया-नियन्त्रण' (Malaria Control) का यह परिणाम हो सकता है कि मलेरिया के मच्छरों को हमारी औषध की आदत पड़ जाय और वे वैसे-के-वैसे बने रहें, और बीमारी फैलाते रहें। 'मलेरिया-उन्मूलन' (Malaria Eradication) से तो वे नष्ट ही हो जाते हैं, फिर बीमारी फैला ही नहीं सकते। इसलिए १ अप्रैल १९५८ से 'नेशनल मलेरिया नियन्त्रण प्रोग्राम' (National Malaria Control Programme) की

---

* INDIA—1963, p. 95.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जगह 'नेशनल मलेरिया उन्मूलन प्रोग्राम' (National Malaria Eradication Programme) चल पड़ा है।

मलेरिया के उन्मूलन के लिए राज्य द्वारा कुछ ऐसे कानून बनने आवश्यक हैं जिनसे यह नियम बन जाय कि अगर कोई अपने घर में या दस-दस गज़ के आस-पास पानी इकट्ठा होने देगा तो वह दण्डनीय होगा। इस प्रकार के कानून अमरीका में बने हुए हैं। भारत में भी 'सेण्ट्रल कौन्सिल ऑफ़ हेल्थ' की तरफ़ से एक कमेटी बना दी गई है जो 'मॉडल पब्लिक हैल्थ एक्ट' का मसविदा तैयार कर रही है और आशा है कि मलेरिया के लिए ही नहीं, अन्य घातक रोगों के लिए भी, जो परिस्थिति से उत्पन्न होते हैं, कोई ऐसा कानून बन जायगा जिससे हर तरह की बीमारी जब चाहे सिर ऊँचा न कर सके।

(ख) तपेदिक-पीड़ितों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—दक्षिण भारत के 'यूनियन मिशन टी० बी० सैनिटोरियम' के सुपरिण्टेण्डेण्ट डॉ० बैंजमिन ने कुछ साल हुए हिसाब लगाया था कि इस देश में तपेदिक से ५ लाख के लगभग व्यक्ति मृत्यु का ग्रास बनते हैं, और २५ लाख के लगभग तपेदिक के बीमार हैं। यह बीमारी गाँवों में इतनी ज़्यादा नहीं, जितनी शहरों में और शहरों में भी खुली आबादी में इतनी ज़्यादा नहीं जितनी घनी आबादी में है। शहरों में जहाँ कल-कारखाने ज़्यादा हैं, मज़दूरों को घिच-पिच रहना होता है, वहाँ तपेदिक की संख्या अधिक है। क्योंकि ये मज़दूर अपने गाँवों में आते-जाते रहते हैं, इसलिए यह बीमारी शहरों से गाँवों में भी धीरे-धीरे फैलने लगी है।

तपेदिक का प्रतिकार करने के लिए दो प्रकार के उपाय बर्ते जा सकते हैं। एक उपाय तो यह है कि लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक स्तर को ऊँचा किया जाय, अच्छे हवादार तथा रोशनीदार मकानों का प्रबन्ध हो, अच्छी पुष्टिदायक खुराक खाने को मिले और काम करने के स्थानों की हालत सुधरी हुई हो, खेलने-कूदने तथा मनोरंजन के स्थान स्वच्छ तथा स्वास्थ्यप्रद हों। इसके अलावा दूसरा उपाय यह है कि रोगियों को स्वस्थ व्यक्तियों से अलग रखा जाय ताकि उनसे रोग न फैले। जिन देशों में भी जनता का सामाजिक तथा आर्थिक स्तर ऊँचा हो गया है, जिनकी मकानों की और हवा-पानी-गन्दगी की समस्या हल हो गई है, वहाँ तपेदिक की बीमारी भी कम हो गई है। परन्तु यह काम बड़ा लम्बा-चौड़ा है। सरकार परिस्थिति पर काबू पाने का, निरोधात्मक उपायों का अवलम्बन तो कर ही रही है, परिस्थिति पर पूरा नियन्त्रण पा लेने में काफ़ी समय लगेगा, परन्तु तबतक रोग का उपचार करना तो नहीं छोड़ा जा सकता। इसलिए इन तपेदिक के रोगियों की तरफ़ ध्यान देने की अधिक आवश्यकता है।

तपेदिक के कुछ रोगी तो स्पष्ट रोगी दिखाई देते हैं, उनका इलाज होना चाहिए; कुछ ऐसे हैं जो ठीक हो ही नहीं सकते, उनका ऐसा प्रबन्ध हो जाना चाहिए जिससे वे रोग फैलाते न फिरें और अपने बचे-खुचे दिन भी बिना दुःख-दर्द के काट सकें; कुछ देखने को रोगी नहीं होते, परन्तु उनमें रोग घुसा हुआ होता

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, उनकी पड़ताल होनी चाहिए; कुछ ऐसे होते हैं जो ठीक हो गए प्रतीत होते हैं, परन्तु मौका मिलने पर उनका रोग उभर आता है, उनकी रोग ठीक हो जाने पर भी देख-रेख होनी चाहिए। इन सब बातों के लिए निम्न प्रकार व्यवस्था करनी होगी :

(i) चिकित्सा के लिए घर में ही पृथक् कर देने का प्रबन्ध;
(ii) टी० बी० परीक्षा के लिए क्लिनिक;
(iii) टी० बी० के पृथक् अस्पतालों का प्रबन्ध;
(iv) ठीक होने के बाद रोगी की देख-रेख का प्रबन्ध;
(v) असाध्य रोगियों के लिए आश्रमों का प्रबन्ध।

तपेदिक को रोकने के लिए बी० सी० जी० के टीके का कार्य-क्रम 'वर्ल्ड हैल्थ ऑर्गेनाइज़ेशन' (WHO) की सहायता से भारत में १९४८ से प्रारंभ किया गया था। अप्रैल १९५१ में इसे बड़े पैमाने पर चलाया गया। दिसम्बर १९६२ के अन्त तक ६.८७ करोड़ व्यक्तियों को बी० सी० जी० के टीके लगाये जा चुके थे। लक्ष्य यह है कि १५ वर्ष से कम आयु के १० करोड़ बच्चों को तृतीय-योजना के अन्त तक बी० सी० जी० के टीके अवश्य लग जाँय।

(ग) **चेचक-पीड़ितों के लिए स्वास्थ्य-सेवायें**—भारत में १९०२ से १९०६ में प्रतिवर्ष ८४,९१४ व्यक्ति चेचक से मरते थे, १९०७ से १९११ में प्रतिवर्ष ९४,५३४ व्यक्ति, १९१२–१९१६ में प्रतिवर्ष ७९,२१४ व्यक्ति, १९१७–१९२१ में प्रतिवर्ष ८४,८२८ व्यक्ति, १९२२–१९२६ में प्रतिवर्ष ६६,०७५ व्यक्ति, १९२७–१९३१ में प्रतिवर्ष ७७,९०२ व्यक्ति, १९३२–१९३६ में प्रतिवर्ष ८३,९५९ व्यक्ति और १९३७ से १९४१ में प्रतिवर्ष ५४,९८९ व्यक्ति चेचक से मरे। अब भारत के विभक्त होने पर संख्या कुछ कम समझनी चाहिए। यह बीमारी तो ऐसी है जिसकी रोक-थाम बड़ी आसानी से हो सकती है। उदाहरणार्थ, फ़िलिपाइन द्वीप-समूह में किसी समय ४४,००० प्रतिवर्ष चेचक से मृत्यु होती थी, और चेचक के टीके के जारी करने के बाद यह बीमारी ही समाप्त हो गई। अपने देश में भी चेचक के टीके लगाने के बाद से बीमारी बहुत कम होती जा रही है। अभी तक देश के हर भाग में चेचक का टीका लगवाना क़ानूनी तौर पर आवश्यक नहीं है। एक बार लग चुकने के बाद ८–१० साल के बाद दोबारा लगवाना तो बहुत ही कम स्थानों पर लाज़मी है। इस संबंध में आवश्यक सुधार होने चाहिएँ, और राज्य की तरफ़ से कानून बनने चाहिएँ ताकि हर बच्चे को टीका लगवाना आवश्यक हो जाय और एक बार टीका लग चुकने पर ८–१० साल के बाद दोबारा टीका भी लाज़मी तौर पर लगवाना पड़े। ऐसा हो जाने से यह बीमारी सर्वथा लुप्त हो सकती है।

१९६२ से चेचक-उन्मूलन आन्दोलन प्रारंभ किया गया है जिसके अन्तर्गत ५.३६ करोड़ व्यक्तियों को चेचक के टीके लगाये जा चुके हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) कुष्ठ-पीड़ितों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—१९२१ में भारत में कुष्ठ-रोग से जितने पीड़ित व्यक्ति थे १९३१ में उनमें ५० प्रतिशत की वृद्धि हुई। १९३१ में १ लाख ५० हज़ार ऐसे रोगी थे और १९६३ के अन्दाज़ के अनुसार २० लाख व्यक्ति ऐसे हैं जो इस रोग से पीड़ित हैं जिनमें से २५ प्रतिशत कोढ़ियों का रोग संक्रामक है। पश्चिमी बंगाल, बिहार, उड़ीसा, मद्रास, केरल में यह रोग विशेष रूप से फैला हुआ है। हिमालय की तराई में भी यह रोग पर्याप्त मात्रा में दिखाई देता है। कहीं-कहीं यह आबादी का २ से ५ प्रतिशत, कहीं-कहीं १० प्रतिशत और किन्हीं-किन्हीं स्थानों में १५ से २० प्रतिशत पाया जाता है।

कोढ़ दो प्रकार का है। एक 'न्यूरल टाइप' (Neural type), दूसरा 'लैप्रोमेटस-टाइप' (Lepromatous type)। 'न्यूरल-टाइप' रोगी में कुष्ठ के कीटाणुओं के प्रति प्रतिरोध-शक्ति होती है, और यह इतना खतरनाक नहीं होता। 'लैप्रोमेटस-टाइप' में रोगी में कीटाणुओं के प्रति प्रतिरोध-शक्ति नहीं होती, और सूक्ष्म-वीक्षण-यन्त्र द्वारा देखने से पता चलता है कि उसमें कीटाणुओं का भंडार भरा पड़ा है। रोग के फैलने का कारण 'लैप्रोमेटस-टाइप' का कोढ़ है। इस रोग के निवारण के लिए हमें 'लैप्रोमेटस-टाइप' के कोढ़ की तरफ़ विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

यद्यपि कुष्ठ-रोग चेचक, हैज़ा, प्लेग, मलेरिया, तपेदिक आदि की तरह नहीं फैलता, तो भी यह धीरे-धीरे फैलता है, और इसके निवारण के उपाय करना आवश्यक है। कोढ़ी माता-पिता की सन्तान को अगर उनसे अलहदा कर दिया जाय, तो बच्चे को कोढ़ नहीं होने पाता, परन्तु अगर वह बच्चा उन्हीं माता-पिता के साथ रहे, तो उसे भी कोढ़ हो जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि देर तक साथ रहने से यह रोग हो जाता है। इस दृष्टि से कोढ़ियों की बस्तियाँ अलग बसा देने तथा जिस गाँव या स्थान पर कोढ़ी हों, उनको दूसरों से सर्वथा पृथक् कर देने से इस रोग पर काबू पाया जा सकता है। कोढ़ियों के समूह-के-समूहों को किसी जगह केन्द्रित कर देने, अर्थात् 'सामूहिक-पृथक्करण' (Group isolation) से यह रोग फैलने नहीं पाता। जिस जगह इन्हें केन्द्रित किया जाय, उस जगह इनके लिए कुछ व्यवसायों का प्रबन्ध करना होगा ताकि वहाँ रहते हुए ये काम-काज करें और जगह-जगह माँगते न फिरें।

कुष्ठ के इलाज के लिए हाइडनोकारपस विटियाना (चॉलमूग्रा के तेल) का इंजेक्शन दिया जाता है किन्तु इस इलाज से सब रोगियों को फ़ायदा नहीं होता, फिर भी इसके इलाज का सरकार की तरफ़ से पूरा प्रबन्ध होना चाहिए। पिछले दिनों एलेट्रिस पैरेसिटिका नामक वनस्पति का चूर्ण देकर परीक्षण हो रहे हैं जो चॉलमूग्रा की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हो रहे हैं। भोर-समिति ने कुष्ठ के लिए जो सिफारिशें की थीं, उनको क्रियात्मक रूप देने के लिए सरकार ने १९४८ में एक कमेटी बना दी थी जिसने मद्रास प्रान्त के चिंगलपुट में 'सेंट्रल लेप्रोसी टीचिंग एण्ड रिसर्च इन्स्टीट्यूट' स्थापित करने का परामर्श दिया। १९५५ में यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

संस्था स्थापित हो गई और द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में इस संस्था के लिए २८ लाख रु० देने की व्यवस्था की गई।

१९५८ में सरकार ने 'लेप्रोसी एडवाइज़री कमिटी' की स्थापना की जिसके आधीन देश में 'कुष्ठ नियन्त्रण योजनाएँ' (Leprosy control schemes) चल रही हैं।

प्रथम पंच-वर्षीय-योजना में कुष्ठ-निवारण के लिए ३० लाख रुपया रखा गया था। द्वितीय पंच-वर्षीय-योजना में ५० लाख रखा गया। इस रुपये से कुष्ठ के नियन्त्रण के लिए कुछ टुकड़ियाँ बनाई गई हैं, जो 'सलफ़ोन-चिकित्सा' (Sulphone treatment) द्वारा रोग पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न कर रही हैं। इस योजना के अनुसार मद्रास, मध्यप्रदेश, पश्चिमी बंगाल तथा उत्तर-प्रदेश में एक-एक मुख्य-केन्द्र खोले गए हैं और प्रत्येक केन्द्र के आधीन देश भर में ५२ उप-केन्द्र खोले गए हैं जिनका काम उक्त प्रकार की चिकित्सा, प्रचार तथा सामाजिक-शिक्षा द्वारा कुष्ठ का निवारण करना है। द्वितीय योजना में इन ५२ उप-केन्द्रों की संख्या बढ़ा कर १०० तक कर दिया गया। हिन्द कुष्ठ-निवारण संघ तथा गांधी मैमोरियल ट्रस्ट भी भारत में कुष्ठ-निवारण का गैर-सरकारी संस्था के तौर पर अत्यन्त सराहनीय कार्य कर रहे हैं।

(ङ) यौन-रोगियों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—भारत की चिकित्सा-सेवा के भूतपूर्व डायरेक्टर-जनरल सर जॉन मेगाउ ने कुछ साल हुए हिसाब लगाया था कि यहाँ हज़ार व्यक्तियों के पीछे ३७ को सिफ़लिस या गनोरिया है। १९५८ की भारत-सरकार की रिपोर्ट के अनुसार बम्बई, पश्चिमी बंगाल तथा मद्रास प्रान्तों में आबादी की ५ से ६ प्रतिशत संख्या इन रोगों से आक्रान्त है। काश्मीर, कुल्लू, हिमाचल-प्रदेश तथा आसाम—इन पहाड़ी इलाकों में भी यह रोग काफ़ी फैला हुआ है।

सिफ़लिस का ठीक समय पर इलाज न हो तो रोगी अन्धा भी हो जाता है, और शरीर के भीतरी अवयवों को इससे बहुत नुकसान पहुँचता है। गनोरिया से मूत्र के अनेक उपद्रव उठ खड़े होते हैं और जोड़ों के रोग हो जाते हैं। अन्य संक्रामक रोगों की तरह इस रोग की रोक-थाम के लिए भी दो दिशाओं में काम करना आवश्यक है। पहला तो यह कि जब भी किसी को यह रोग हो, तो वह झट इसकी सूचना स्वास्थ्य-विभाग के अधिकारी को दे। अक्सर लोग इस रोग को छिपाते हैं। जिन देशों में तत्काल सूचना देने का नियम है उनमें यह रोग झट-से काबू में कर लिया जाता है। डेनमार्क, नार्वे, हालैण्ड तथा स्वीडन में यह कानून है कि इस रोग के रोगी को अपनी सूचना झट-से देनी होगी। रोग पर रोक-थाम करने की दूसरी दिशा यह है कि रोगी को दूसरों में रोग फैलाने न दिया जाय। यह रोग प्रायः व्यभिचार से फैलता है इसलिए वेश्याओं पर प्रतिबन्ध लगाना इस रोग पर नियन्त्रण पाने के लिए आवश्यक है। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में डॉक्टरों को यौन-रोगों की रोक-थाम की शिक्षा देने के लिए प्रान्तों में ८ तथा भिन्न-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न ज़िलों में ७५ केन्द्रों के खोले जाने की व्यवस्था की गई। तृतीय-योजना में १०० ज़िला-केन्द्र खोले जा रहे हैं। वेश्यालयों पर भी रोक-थाम लगा दी गई है और वे बंद हो रहे हैं।

(च) कैंसर-पीड़ितों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—इस रोग से २ लाख व्यक्ति प्रतिवर्ष मरते हैं। इस समय भारत में सिर्फ़ तीन स्थान हैं जहाँ इस रोग का इलाज होता है—बम्बई में टाटा मेमोरियल इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता में चित्त-रंजन सेवा-सदन तथा मद्रास में कैंसर इंन्स्टीट्यूट। दिसम्बर १९५२ में बम्बई में 'इण्डियन कैंसर रिसर्च सेण्टर' की स्थापना की गई थी जिसकी कलकत्ता तथा दिल्ली में भी शाखाएँ हैं। इस सेंटर को सरकारी सहायता प्राप्त है। इस सेंटर में कैंसर के सम्बन्ध में अनुसन्धान तथा इस रोग के इलाज करने वाले चिकित्सक तैयार किये जाते हैं। कैंसर की चिकित्सा तथा अनुसंधान के लिए यह एक ही संस्था पर्याप्त नहीं थी, इसलिए टाटा मैमोरियल इन्स्टीट्यूट तथा चित्तरंजन सेवा-सदन को भी केन्द्रीय सरकार ने अपने हाथों में ले लिया और मद्रास में एक नया 'कैंसर इन्स्टीट्यूट' खोल दिया।

[घ. स्वस्थ परिस्थिति उत्पन्न करने का कार्य-क्रम]

(i) माताओं तथा शिशुओं के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—हमारे यहाँ २ प्रतिशत स्त्रियाँ मातृत्व का संकट नहीं बर्दाश्त कर सकतीं और मौत के घाट उतर जाती हैं। अपने देश में १,००० व्यक्तियों के पीछे जो २७ मौतें होती हैं, उनमें से ११ मौतें बच्चों की होती हैं, और वे भी ५ वर्ष से नीचे के बच्चे, और इन ११ में से ७ बच्चे वे होते हैं जो एक वर्ष के भी नहीं हो पाते। यह १९५१ की जन-गणना की रिपोर्ट है। इसका यह स्पष्ट अभिप्राय है कि इस देश में मातृत्व तथा बच्चों के स्वास्थ्य की तरफ़ विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जब से देश स्वतंत्र हुआ है, इस दशा को सुधारने का यत्न हो रहा है। दशा यहाँ तक सुधर गई है कि मृत्यु-दर पहले से घट रही है और एक भारतीय की आनुपातिक आयु जो १९४६ में २७ वर्ष थी, १९५४ में ३२ वर्ष मानी जाने लगी। भोर-समिति ने माताओं तथा बच्चों के स्वास्थ्य-सुधार के लिए कुछ सिफ़ारिशें की हैं जिन्हें कार्या-न्वित किया जाना चाहिए। पंच-वर्षीय योजनाओं में इधर भी ध्यान दिया जा रहा है।

(ii) स्कूल में जाने वाले बालकों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ—भोर-समिति की सिफ़ारिश थी कि सम्पूर्ण-भारत में प्रत्येक व्यक्ति की जन्म से मृत्यु पर्यन्त स्वास्थ्य की देख-रेख के लिए 'स्वास्थ्य-सेवाओं' (Health Services) का आयोजन होना चाहिए, और इसी विभाग की तरफ़ से स्कूल में जाने वाले बालकों का भी स्वास्थ्य-संबंधी निरीक्षण होना चाहिए। इंग्लैण्ड में १९०७ से पहले शिक्षा-विभाग द्वारा बालकों की स्कूलों में स्वास्थ्य-संबंधी देख-रेख होती थी, परन्तु वह सिलसिला स्कूल से निकलने के बाद खत्म हो जाता था। इस कमी को दूर करने के लिए १९१९ में स्कूलों के बालकों के स्वास्थ्य की देख-रेख का काम भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वास्थ्य-विभाग के सुपुर्द कर दिया गया, और जैसे आम जनता के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी स्वास्थ्य-विभाग की है, वैसे स्कूलों के बालकों के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी भी स्वास्थ्य-विभाग की हो गई। स्कूल के संबंध में स्वास्थ्य-विभाग को क्या करना चाहिए? पहले तो ऐसे रोगों का पता लगाना चाहिए जो स्कूल के बच्चों को हों। इस उद्देश्य से बच्चों की समय-समय पर सर्वाङ्ग-परीक्षा होनी चाहिए। आँख, नाक, कान तथा अन्य अंगों की पूरी-पूरी परीक्षा से पता चल जाता है कि बच्चे को क्या तकलीफ़ है। पता लगने पर उसका इलाज हो सकता है। दूसरी बात स्वास्थ्य-विभाग को यह करनी चाहिए कि स्कूल के चारों तरफ़ की परिस्थिति में ऐसा-कुछ न हो, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हो, रोग को उत्पन्न करे। ये दोनों रोगों से बचने के तरीके हैं, परन्तु स्कूल के सम्बन्ध में इतना ही काफ़ी नहीं है। स्वास्थ्य-विभाग को बच्चों का स्वास्थ्य उन्नत करने के कई क्रियात्मक उपाय भी बरतने होंगे। उदाहरणार्थ, कमज़ोर बच्चों को दूध देना, शारीरिक-व्यायाम तथा खेलों का प्रबन्ध करना और स्वास्थ्य-संबंधी विषयों पर व्याख्यान देना। ब्रह्मचर्य-जैसे विषय से हमारे बालक विशेष तौर पर अपरिचित हैं। १४ से १७ वर्ष की आयु के बालकों के लिए इस विषय का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। इस विषय पर हमारी पुस्तक 'ब्रह्मचर्य-सन्देश'* के पढ़ने से बालकों को बहुत लाभ पहुँच सकता है। स्वास्थ्य-विभाग की तरफ़ से इन सब दिशाओं में ध्यान देने से बालकों की अनेक समस्याओं का हल हो सकता है।

(iii) **श्रमियों के लिए स्वास्थ्य-सेवाएँ**—'श्रमी' से अभिप्राय उन सब लोगों से है, जो घर से बाहर कोई श्रम करके आजीविका का उपार्जन करते हैं। खेत में काम करने वाला किसान, कारखाने और फ़ैक्टरी में काम करने वाला मज़दूर, दफ्तर में काम करने वाला बाबू—सब 'श्रमी' हैं, और सरकार की तरफ़ से जो-कोई भी 'स्वास्थ्य-सेवा' (Health Service) जारी की जाय, उसमें इन सब का आ जाना ज़रूरी है। ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए जिससे किसानों, मज़दूरों, बाबुओं—सभी के स्वास्थ्य की सरकार देख-भाल करे। भोर-समिति का कहना था कि यह ठीक है कि इतना बड़ा काम सरकार एकदम अपने ऊपर नहीं ले सकती, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि उद्देश्य यही होना चाहिए। अगर यह प्रोग्राम दीर्घ-कालीन योजना में लिया जाय, तो स्वल्प-कालीन-योजना में उन सब के स्वास्थ्य का प्रश्न लिया जा सकता है जो फ़ैक्टरियों, खानों, चाय-बग़ीचों, बन्दरगाहों या यातायात में काम करते हैं। इन्हें हम 'औद्योगिक-श्रमी' (Industrial workers) कह सकते हैं।

'औद्योगिक-श्रमियों' के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में हमें दो दृष्टियों से विचार करना होगा। पहली दृष्टि तो यह है कि समाज का अभिन्न अंग होने के नाते

---

* ब्रह्मचर्य-सन्देश, लेखक प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, प्राप्ति स्थान—विजयकृष्ण लखनपाल एण्ड कंपनी, विद्या विहार, बलबीर रोड, देहरादून, मूल्य ४.५०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज के अन्य व्यक्तियों को जो सुविधाएँ दी जाती हैं, वे तो इनको मिलनी ही चाहिएँ, परन्तु दूसरी दृष्टि यह है कि इन श्रमियों का काम कुछ इस ढंग का होता है कि इन्हें दूसरे लोगों की अपेक्षा कुछ अतिरिक्त सुविधाएँ भी दी जानी चाहिएँ। इनका काम प्रायः स्वास्थ्य का शत्रु होता है। इस बात को सम्मुख रखते हुए इन्हें ऐसी सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ जिनसे इनके स्वास्थ्य पर कम-से-कम बुरा प्रभाव पड़े, और साथ-साथ इनके कार्य करने की क्षमता भी घटने के स्थान पर बढ़े। यह सब देखकर आजकल चिकित्साशास्त्र की एक नवीन शाखा ने जन्म लिया है जिसे 'औद्योगिक-चिकित्सा' (Industrial medicine) कहते हैं। इसके अनुसार 'औद्योगिक-चिकित्सा' का काम होना चाहिए कि श्रमी के लिए काम करने की ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जिसमें उसका स्वास्थ्य गिरने न पाये, जिस काम को वह कर रहा है उस धंधे की अपनी कई तरह की बीमारियाँ होती हैं—इन बीमारियों का वह शिकार न हो, काम करते हुए उसे चोट आदि न लगने पाये, चोट लग जाये तो झट-से उसका इलाज हो, जिनका इलाज नहीं हो सकता, उनको कार्य-क्षम बनाने का यत्न किया जाय, और श्रमियों को स्वस्थ रहने की शिक्षा दी जाय।

इन सब दृष्टियों से 'श्रम-कल्याण' (Labour welfare) आज के सामाजिक-संगठन का एक आवश्यक अंग बन गया है। इस उद्देश्य से कई कानून बनाये गए हैं। इनकी चर्चा हम पुस्तक के 'श्रम'-संबंधी अध्यायों में करेंगे।

(iv) **गृह-निर्माण की स्वास्थ्य-सेवाएँ**—देश भर के घरों की गिनती करना तो कठिन है, फिर भी प्लैनिंग-कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार १९५३–५४ में 'नेशनल सैम्पल सर्वे' की तरफ़ से ९४३ गाँवों और ५३ बड़े-बड़े शहरों के मकानों की सर्वे की गई थी। इसके अनुसार गाँवों में ८५ प्रतिशत मकानों के कच्चे मट्टी के फ़र्श हैं, ८३ प्रतिशत की मट्टी की या बाँस और सरकंडों की दीवारें हैं, और ७० प्रतिशत की छतें फूंस और छप्पर की हैं। ९५ प्रतिशत घरों में टट्टी नहीं है, ७० प्रतिशत लोग कूओं से, १३ प्रतिशत तालाबों और जोहड़ों से, १२ प्रतिशत झीलों, झरनों तथा नदियों से और सिर्फ़ १.५ प्रतिशत नलों से पीने का पानी पा रहे हैं। शहरों की सर्वे के अनुसार एक-चौथाई मकानों के फ़र्श, दीवारें और छतें मट्टी की हैं। पिछले २० सालों में जिस तेज़ी से आबादी बढ़ी है, उस तेज़ी से मकान नहीं बने। शहरों की आबादी प्रतिवर्ष ३ से ४ प्रतिशत बढ़ी है, तो मकान सिर्फ़ २ से २.५ प्रतिशत बढ़े हैं। शहरों के ४४ प्रतिशत मकान सिर्फ़ १ कमरे के हैं। इससे स्पष्ट है कि गाँवों के मकान किस प्रकार गन्दे, असुरक्षित तथा स्वास्थ्यहीन हैं, और शहरों में किस प्रकार भीड़ है। इस सारी अवस्था का परिणाम है कि रोशनी न मिलने, अच्छा पानी न मिलने और जगह-जगह टट्टी फिरने और गन्दगी के ढेर लगे होने से सब तरह की बीमारियाँ—मलेरिया, तपेदिक—फैलती हैं।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में मकान बनाने पर ३८.५ करोड़ व्यय किया गया था। इसके अनुसार सरकार की तरफ़ से फ़ैक्टरियों तथा खानों में काम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

करने वाले मज़दूरों के लिए मकान बनाने के लिए प्रान्तीय सरकारों को, फ़ैक्टरी के मालिकों को, विस्थापितों तथा मज़दूरों की सहकारी-समितियों को सहायता दी गई थी और सारे देश में ७ लाख नए मकान बनाये गये। इसके अतिरिक्त नवम्बर १९५४ में ५०० रुपए माहवार से कम आमदनी वालों के लिए ८,००० रुपए तक सरकार की तरफ़ से कर्ज़ दिये जाने की योजना चालू की गई। ज़मीनों के दाम इतने चढ़ गए हैं कि इन सब सुविधाओं के होते हुए भी ये योजनाएँ इतनी सफल नहीं हो रहीं जितनी होनी चाहिएँ। सरकार का कर्त्तव्य है कि थोड़े दामों पर ज़मीनें मिलने का प्रबन्ध करे और जो लोग ज़मीनों का सट्टा करके इनके दाम बढ़ाते हैं उन्हें इस व्यापार में से अलग कर दे। कभी-कभी सरकार ज़मीनों का फ़ायदा उठाने के चक्कर में खुद पड़ जाती है, परन्तु इस लोभ को रोक कर ही काम हो सकेगा। ऐसा नियम बनाना होगा कि कोई आदमी एक या दो से ज़्यादा मकानों का स्वामी नहीं हो सकता, नहीं तो पैसे वाले ज़मीनें खरीदते जाते हैं और मकानों के नीलामों पर बोलियाँ देते जाते हैं, और फिर उन्हें मनमाने किरायों पर चढ़ाते हैं। इस सब पर सरकार का नियन्त्रण कभी-न-कभी अवश्य करना होगा, नहीं तो स्वास्थ्य की दृष्टि से मकानों की समस्या एक विकट समस्या का रूप धारण कर लेगी। गाँवों के लिए आदर्श मकान बनाने पर विचार करना होगा—ऐसे गाँव और ऐसे मकान जिनमें हवा और रोशनी आ-जा सके, जिनमें टट्टियों का प्रबन्ध हो और शुद्ध जल की व्यवस्था हो।

द्वितीय-पंच-वर्षीय योजना में सरकार की तरफ़ से २५० करोड़ रुपया नये मकान बनाने पर खर्च हुआ और ५ लाख मकान बने। निजी क्षेत्र में मकान बनाने पर १,००० करोड़ व्यय हुआ। द्वितीय-योजना का मुख्य लक्ष्य देश का उद्योगीकरण है इसलिए शहरों की मकानों की समस्या की तरफ़ इस योजना में विशेष ध्यान दिया गया। शहरों में जहाँ कल-कारख़ाने होते हैं, वहाँ उनके आस-पास मज़दूरों, मेहतरों की गंदी-बस्तियाँ उठ खड़ी होती हैं। द्वितीय-योजना में उद्योगों में काम करने वालों के लिए ४५ करोड़ रु० व्यय किया गया जिससे इनके लिए १ लाख २८ हज़ार मकान बने। गन्दी बस्तियों के हटाने और मेहतरों के लिए सुन्दर मकान बनाने पर २० करोड़ रु० व्यय किया गया जिससे १ लाख १० हज़ार मकान बनाये गये।

तृतीय पंच-वर्षीय योजना में सरकार की तरफ़ से मकान बनवाने पर १४२ करोड़ रुपया व्यय किया जायगा। इसके अतिरिक्त लाइफ़ इन्श्योरेंस कार-पोरेशन मकान बनवाने पर ६० करोड़ रु० व्यय करेगी।

(v) **जल-सुधार तथा सफाई की स्वास्थ्य-सेवाएँ**—शुद्ध जल के बिना मनुष्य का स्वास्थ्य ठीक नहीं रहता। १९५५ में दिल्ली में गन्दा पानी पीने के कारण पीलिया की बीमारी इतनी फैल गई थी कि जगह-जगह त्राहि-त्राहि की पुकार मच गई थी। अशुद्ध जल से अनेकों बीमारियाँ फैल जाती हैं। सफ़ाई न रहने से टाइफ़ायड आदि के रोग सिर उठाने लगते हैं। इन सब की रोक-थाम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होनी चाहिए। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में शहरों तथा गाँवों के लिए शुद्ध जल की व्यवस्था करने तथा सफ़ाई पर ख़र्च करने के लिए २४ करोड़ रु० का प्रबन्ध किया गया था। १९५४ में केन्द्रीय-सरकार ने 'नेशनल वाटर सप्लाई एण्ड सैनीटेशन प्रोग्राम' शुरू किया जिसके अनुसार शहरों के लिए १२ करोड़ रु० का ऋण तथा गाँवों के लिए ६ करोड़ की सहायता देने की व्यवस्था कर दी थी। द्वितीय-योजना में शहरों की जल तथा सफाई योजनाओं को उन्नत करने के लिए ५३ करोड़ रुपया रखा गया। तृतीय-योजना में शहरों के लिए ८८.९५ करोड़ तथा गाँवों के लिए १६ ३३ करोड़ का व्यय रखा गया है।

(vi) **पोषण-संबंधी स्वास्थ्य-सेवाएँ**—स्वास्थ्य के लिए 'पोषण' (Nutrition) का सबसे मुख्य स्थान है। जबतक हमारी जनता पुष्टि-दायक अन्न, घी-दूध नहीं पाती तबतक न तो उसका स्वास्थ्य बन सकता है, न उसकी रोगों के प्रति प्रतिरोध-शक्ति बढ़ सकती है। हमारे जैसे शरीर हैं उसमें दिनोंदिन नये-नये रोगों का आक्रमण होना लाज़मी है। यह विषय इतना आवश्यक है कि इस पर हम अगले अध्याय में पृथक् विचार करेंगे।

प्रश्न

१. "कोई व्यक्ति इसलिए पर्याप्त चिकित्सा की सुविधाओं से वंचित नहीं रहना चाहिए कि वह उसका व्यय उठाने में असमर्थ है।" इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए भोर कमेटी ने किन उपायों के अवलम्बन का सुझाव दिया है? उनकी आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। (१९५२, १९५३)

२. भारतवासियों की अस्वस्थ दशा के क्या कारण हैं? भारत सरकार और विश्व स्वास्थ्य संगठन ने रोग नष्ट करने का क्या प्रबन्ध किया है? (१९६०)

३. भारत में स्वास्थ्य तथा आहार (पोषण) की समस्या पर एक संक्षिप्त लेख लिखिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१४

भारत में पोषण
(NUTRITION IN INDIA)

१. स्वास्थ्य के तीन लक्ष्य—उपचार, निरोध, उन्नति

पिछले अध्याय में हमने कहा था कि स्वास्थ्य-सुधार के उद्देश्य दो होने चाहिएँ—'उपचार' (Cure) तथा 'निरोध' (Prevention)। परन्तु स्वास्थ्य-सुधार इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता। स्वास्थ्य-सुधार का वर्तमान आन्दोलन इससे कहीं आगे बढ़ रहा है। आज यह समझा जा रहा है कि स्वास्थ्य-सुधार का उद्देश्य समाज के हर व्यक्ति के लिए ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देना है जिसमें वह अपना अधिक-से-अधिक विकास कर सके। इस दिशा में 'पोषण' का सबसे अधिक महत्व है। अपरिपुष्ट-समाज में शरीर की ऐसी हीन अवस्था उत्पन्न हो जाती है जिसमें अगर रोग ही नहीं आ घेरता, तो भी व्यक्ति की रोगी-की-सी अवस्था हो जाती है। 'रुग्ण-अवस्था' की अपेक्षा 'रोगी-की-सी' अवस्था देश के लिए और भी अधिक घातक है क्योंकि देश में रोगी इतने नहीं जितने अपुष्ट-शरीर हैं, ऐसे शरीर जो रोग-शय्या पर तो नहीं पड़े, परन्तु जो कमज़ोर होने के कारण जितना काम उन्हें करना चाहिए, उससे आधा भी नहीं कर पाते। सेना में जो लोग भर्ती होते हैं, खा-पीकर उनके शरीर इतने हरे-भरे हो जाते हैं कि उनकी कार्य-शक्ति पहले से कई गुणा बढ़ जाती है। स्कूल के बच्चों में कमज़ोर बच्चों को जब दूध-घी दिया जाता है, तो वे झट-से तेज़ हो जाते हैं। आज अपरिपोषण के कारण हमारे राष्ट्र को कार्य-शक्ति की हीनता के रूप में जो नुक्सान उठाना पड़ रहा है, वह उस व्यय से कहीं अधिक है, जो अच्छा भोजन देने और स्वस्थ-राष्ट्र का निर्माण करने में हमें करना पड़ेगा। ऐसी हालत में रोगों का 'उपचार' और 'निरोध' करना ही हमारा लक्ष्य नहीं होना चाहिए, उचित तथा पर्याप्त मात्रा में पोषक-तत्वों द्वारा देश के स्त्री-पुरुषों का स्वास्थ्य बढ़ाना, उसे उन्नत करना भी हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. "The considerable proportion of disease and inefficiency in India has its primary causes in diet deficiency." Discuss. (1952, 1953)

2. Write a short essay on the problem of health and nutrition in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. उत्तम पोषण किसे कहते हैं ?

यह तो सब जानते हैं कि शरीर से हर समय गर्मी उत्पन्न हो रही और खर्च हो रही है। हमारी जितनी गर्मी खर्च हो रही है, उतनी शक्ति हममें से निकलती जा रही है। इस खर्च हो रही गर्मी को मापा जा सकता है। जैसे लम्बाई मापने के लिए इंच का पैमाना है, मील मापने के लिए एक फ़र्लांङ्ग का पैमाना है, वैसे खर्च हो रही गर्मी मापने के लिए भी एक पैमाना है, एक इकाई है। इस इकाई को 'ऊष्मांक'—'कैलोरी'—(Calorie) कहते हैं। जितनी 'ऊष्मा' दिन भर में हम खर्च कर देते हैं, उतनी हमें मिल जानी चाहिए। यह अन्दाज़ लगाया गया है कि एक साधारण स्त्री-पुरुष को जो मेहनत-मज़दूरी का काम नहीं करते भोजन से २,४०० 'ऊष्मांक'—'कैलोरी'—मिल जानी चाहिए क्योंकि इतनी वह दिन-रात में खर्च कर देता है। साधारण-सा* काम करने वाले व्यक्ति को २,५०० से २,६०० तथा मेहनत-मज़दूरी करने वाले व्यक्ति को २,८०० से ३,००० तक 'ऊष्मांक'—'कैलोरी'—की आवश्यकता है। स्कूल के छोटे बालकों को १,६०० तथा बड़े बालकों को २,४०० 'कैलोरी' चाहिए। आज हमारे भोजन में 'कैलोरी' की मात्रा बहुत कम पायी जाती है। पोषण-शास्त्र के विद्वान् डा० आयकरायड ने हिसाब लगाया था कि भारत में जैसा भोजन आम जनता करती है, उसमें उसे १७५० 'कैलोरी' ही मिल पाती हैं। अलाहाबाद के 'शीला-धर इन्स्टीट्यूट ऑफ़ सोशियल सर्विसेज़' के प्रो० एन० आर० धर का कहना है कि आम जनता को, जैसा वह भोजन करती है, १६२८ 'कैलोरी' ही मिलती है। एक बच्चे को जितना पोषण पदार्थ मिलना चाहिए लगभग उतना हमारे वयस्क स्त्री-पुरुषों को मिलता है, फिर उनकी कार्य-क्षमता गिरी हुई न हो तो क्या हो ?

१ पौं० दूध में ३०३, १ पौं० जई में १८८६, १ पौं० चावल में १६४६ तथा १ पौं० पनीर में २०११ 'कैलोरी' होती हैं। आदर्श-भोजन का कार्यक्रम बनाते हुए इस बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि जितनी 'कैलोरी' हमें मिलनी चाहिएँ उतनी मिलती हैं या नहीं।

'कैलोरी' के अलावा पुष्टि-कारक भोजन के लिए और भी कुछ बातों को देखने की आवश्यकता है। खाद्य-पदार्थों को 'प्रोटीन', 'मिनरल साल्ट', 'फ़ैट', 'शुगर' तथा 'स्टार्च'—इन पाँच भागों में बाँटा गया है। भोजन में 'प्रोटीन' की मात्रा पर्याप्त होनी चाहिए क्योंकि शरीर में दिन-रात हो रही टूट-फूट को 'प्रोटीन' ही पूरा करती है। 'प्रोटीन' दो प्रकार के पदार्थों से प्राप्त होती है—'जान्तविक-प्रोटीन' (Animal protein) तथा 'वानस्पतिक-प्रोटीन' (Vegetable protein)। इनमें से 'जान्तविक-प्रोटीन'—दूध, अंडा, मछली, मांस में मिलती है, 'वानस्पतिक-प्रोटीन' दालों में मिलती है। अपने देश में मांस से कई लोगों को परहेज़ है, उन्हें दूध की पर्याप्त मात्रा मिलनी चाहिए, परन्तु कितने

---

1. Bhore Committee Report.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोग हैं जो दूध पीते हैं ? 'प्रोटीन' के साथ-साथ हमें अन्य चारों तत्वों की भी नियमित मात्रा मिलनी चाहिए।

हम जितनी भी 'कैलोरी' का भोजन खायें और जितना भी 'प्रोटीन', 'मिनरल साल्ट', 'फ़ैट', 'शुगर', 'स्टार्च' खायें, भोजन का सम-विभाजन हो ही नहीं सकता जबतक हमारे भोजन में 'विटामिन' की पर्याप्त मात्रा नहीं जाती। इस-लिए पुष्टिकारक भोजन के लिए हमें ऐसा भोजन लेना होगा जिसमें 'प्रोटीन', 'मिनरल साल्ट', 'फ़ैट', 'शुगर', 'स्टार्च' की उचित मात्रा हो और इनसे हमें पूरी-पूरी 'कैलोरी' और पूरी-पूरी 'विटामिन' मिले। हमारे भोजन में इन सब का अभाव है।

अपने देश में पौष्टिक भोजन की प्रत्येक व्यक्ति को कितनी मात्रा मिलनी चाहिए—इसकी रूप-रेखा 'इंडियन कौंसिल आफ़ मैडिकल रिसर्च' ने १९५६ में तैयार की थी जिससे यह ज्ञात होता है कि प्रत्येक व्यक्ति को एक दिन में पूरी कैलोरी, प्रोटीन आदि लेने के लिए अन्न, दाल, दूध, फल, चीनी, घी, तेल आदि की कितनी आवश्यकता है, और कितनी उसे मिल रही है। वह तालिका निम्न है :—

पौष्टिक-भोजन की तालिका

खाद्य पदार्थ	कितने औंस मिलना चाहिए	कितने औंस मिल रहा है
अन्न	१४	१३.७१
दालें	३	२.१
दूध	१०	५.५
फल	३	१.५
हरी सब्ज़ियाँ	४	१.३
मूलवाली सब्ज़ियाँ	३	—
अन्य सब्ज़ियाँ	३	—
शुगर	२	१.६
तेल तथा घी	२	१
मछली	३	०.३

उक्त तालिका से स्पष्ट है कि २,८०० से ३,००० 'कैलोरी' लेने के लिए एक व्यक्ति को १४ औंस अन्न, १० औंस दूध, २ औंस घी आदि की आवश्यकता है जिनमें से कई चीज़ें तो एक भारतीय को मुश्किल से आधी ही मिल पाती हैं।

पौष्टिक-भोजनों में दूध का विशेष महत्व है। अपने देश में प्रतिव्यक्ति दूध ५.५ औंस ही मिल पाता है जबकि कनाडा में ५६.८ औंस, आस्ट्रेलिया में ४४.४ औंस, इंग्लैण्ड में ४०.७ औंस तथा अमरीका में प्रत्येक व्यक्ति को ३५.६

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औंस दूध मिलता है। पौष्टिक-भोजन की इस कमी का परिणाम बीमारी, कार्य-क्षमता की कमी होना स्वाभाविक है।*

३. सरकारी नीति में पोषण का दृष्टिकोण

पोषण की समस्या बहुत-कुछ आर्थिक समस्या है। लोगों के पास पैसा होगा तभी तो वे 'कैलोरी', 'प्रोटीन', 'विटामिन' की बात सोचेंगे। इस समय तो हमारी कृषि की नीति भी पोषण की दृष्टि से नहीं चल रही। जिस किस्म की खेती में किसान को फ़ायदा होता दीखता है, वह उसी की खेती करने लगता है। गन्ने में ज्यादा फ़ायदा है, तो गेहूँ छोड़ कर वह गन्ना बोने लगता है, तम्बाकू में फ़ायदा दीखता है तो सब-कुछ छोड़कर तम्बाकू वो डालता है। तभी तो समय-समय पर कृषि के विकास होने पर भी देश में खाद्य-पदार्थों के अभाव का संकट पैदा होता रहता है। इस स्थिति को हमें बदलना होगा, कृषि के सम्बन्ध में पोषक-तत्त्वों को दृष्टि में रखते हुए कृषि-सम्बन्धी नीति का निर्धारण करना होगा। यह काम सरकार के बीच में पड़ने से ही हो सकता है। देश के किस क्षेत्र में कौन-से पौष्टिक खाद्य-पदार्थ हो सकते हैं, उन्हें किस प्रकार की खाद देने से उपज बढ़ाई जा सकती है—यह भोजन-विशेषज्ञ तथा कृषि-विशेषज्ञों के सहयोग से निश्चित करना होगा। केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को कृषि के सम्बन्ध में यह नीति निर्धारित करनी पड़ेगी कि हम पोषक-तत्वों को दृष्टि में रखते हुए उन पदार्थों की खेती की तरफ़ विशेष ध्यान दें जिनमें 'प्रोटीन' और 'विटामिन' ज्यादा हैं।

४. सर्व-साधारण का पोषण-स्तर उच्च करना*

इसके अतिरिक्त सरकार को कुछ विशेष काम भी करने होंगे, ऐसे काम जिनसे जनता का पोषण-स्तर ऊँचा हो, उसे अच्छा खाने को मिले, शरीर हृष्ट-पुष्ट हो ताकि हर आदमी जितना काम उसे राष्ट्र के लिए करना चाहिए उतना कर सके। वे काम निम्न होंगे :—

(क) अपौष्टिकता से उत्पन्न रोगों को रोकना—पौष्टिक-भोजन न लेने से कई रोग उत्पन्न हो जाते हैं जो भोजन में सुधार करने से अपने-आप दूर भी हो जाते हैं। विटामिन बी०—१ वाले भोजन से बेरी-बेरी रोग चला जाता है। विटामिन-डी० वाले भोजन से हड्डियों की बीमारियाँ दूर हो जाती हैं। इस रोग में सूर्य की धूप भी फ़ायदा करती है। आयोडीन-युक्त भोजन से गिल्लड़ को लाभ होता है।

---

* 1. "The considerable proportion of disease and inefficiency in India has its primary causes in diet deficiency." Discuss. (1952, 1953)

2. Write a short essay on the problem on health and nutrition in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) **गर्भवती, प्रसूता तथा शिशुओं को पौष्टिक-तत्व देना**—गर्भवती स्त्रियाँ, सद्यःप्रसूता स्त्रियाँ तथा बच्चे बिना पौष्टिक-तत्वों के कई रोगों के शिकार हो जाते हैं। अगर हम चाहते हैं कि हमारे दूध-पीते शिशु जीवन-संग्राम में बिल्कुल पिछड़े हुए ही न रहें, तो उनकी माताओं को पौष्टिक-तत्व देने होंगे। माता के दूध से ही तो शिशु का पोषण होता है। माता ही सूख कर हड्डियों का ढाँचा बन गई होगी, तो बच्चे का क्या बनेगा। कोई पैसा ख़र्च कर सके या न कर सके, गर्भवती तथा प्रसूता-स्त्रियों एवं बच्चों का दूध पाने का सबसे पहला हक है।

(ग) **स्कूल के बच्चों को पौष्टिक-भोजन देना**—जो बच्चे स्कूलों में होस्टलों में नहीं रहते, घर से पढ़ने के लिए जाते हैं, उनके घर की परिस्थिति की देख-भाल होनी चाहिए, और अगर उन्हें घर में पर्याप्त पौष्टिक-पदार्थ खाने को नहीं मिलते, तो सरकार की तरफ़ से उन्हें दूध देने की व्यवस्था होनी चाहिए। अगर शुद्ध दूध नहीं दिया जा सकता, तो मक्खन निकला हुआ दूध देने में भी कोई हर्ज नहीं। अंकुरित चने भी दिये जा सकते हैं, इनमें 'कैलोरी' की पर्याप्त मात्रा होती है। यह देखा गया है कि जब अपरिपुष्ट बच्चों के लिए स्कूल में दूध आदि लेने की व्यवस्था कर दी जाती है, तब वे पढ़ाई में भी तेज़ हो जाते हैं। जो बच्चे होस्टलों में रहते हैं, उनके खाने की देख-भाल तो प्रबन्धकर्ताओं को स्वयं करनी चाहिए, और बच्चों के भोजन में कैलोरी, प्रोटीन तथा विटामिन पर्याप्त मात्रा में हों—इस बात की देख-भाल करनी चाहिए।

(घ) **श्रम करनेवालों को पौष्टिक-भोजन देना**—युरोप तथा अमरीका में कारख़ानों में काम करने वाले श्रमिकों के भोजन की पर्याप्त देख-भाल की जाती है। प्रयत्न किया जाता है कि इनको दूध आदि पौष्टिक-तत्त्व पर्याप्त मात्रा में मिलें। अब जब कि पंच-वर्षीय योजनाओं में उद्योगों पर ज़ोर दिया जाने वाला है तब तो श्रमियों के भोजन की समस्या विशेष महत्वपूर्ण हो जाती है। कारख़ाने के मालिकों का कर्तव्य है कि अपने यहाँ जो कैन्टीन आदि खोलें उनमें पौष्टिक-भोजन देने की व्यवस्था करें। जो श्रमी अच्छा भोजन खायेगा वह उसी के अनुसार श्रम भी अच्छा कर सकेगा। जिसने भरपेट भोजन नहीं किया, किया तो पेट भरने मात्र का भोजन किया, पौष्टिक-तत्त्वों का सेवन नहीं किया, वह काम भी कुछ नहीं करेगा। भोजन पर ख़र्च करना श्रमी की क्रिया-शक्ति को बढ़ा देना है। अपने देश में सरकार श्रमियों से काम लेने वाली सबसे बड़ी संस्था है, इसलिए श्रमियों को पौष्टिक-भोजन देने के प्रश्न को सबसे पहले सरकार को ही उठाना चाहिए। सरकार इसे हल करेगी, तो दूसरे अपने-आप श्रमियों के लिए उत्तम भोजन की व्यवस्था करेंगे।

(ङ) **पौष्टिक-भोजन के सम्बन्ध में सर्व-साधारण में शिक्षा तथा प्रचार**—सर्व-साधारण इतना भर समझते हैं कि भूख लगने पर पेट भर लेना काफ़ी है, वे यह नहीं जानते कि स्वास्थ्य के लिए उन्हें किन पदार्थों का सेवन करना चाहिए। अमरीका आदि में अस्पतालों में डाक्टरों के साथ-साथ भोजन-विशेषज्ञ भी रहते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उनका काम औषध-चिकित्सा के साथ-साथ रोगी को उचित भोजन के संबंध में जानकारी देना होता है ताकि औषध-चिकित्सा के साथ ठीक तरह के भोजन से रोगी शीघ्र स्वास्थ्य लाभ करे। अपने देश में भोजन के लिए विशेषज्ञों को तैयार करने की आवश्यकता है। साथ ही यह भी आवश्यकता है कि ये विशेषज्ञ जहाँ जीवन के हर क्षेत्र में भोजन के स्तर को ऊँचा करने का प्रयत्न करें, वहाँ जनता को पोषण के महत्व को समझायें।

५. प्रोटीन तथा विटामिन

पौष्टिक-भोजन के संबंध में 'प्रोटीन' और 'विटामिन'—ये दो आवश्यक तत्व हैं, इसलिए इन दोनों के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश डालना अप्रासंगिक न होगा।

(क) प्रोटीन—अपने देश के भोजन में 'प्रोटीन' की मात्रा बहुत थोड़ी होती है और सबसे बड़ी समस्या यही है कि इसे किस तरह बढ़ाया जाय। प्रोटीन दो तरह के पदार्थों से प्राप्त होती है—'जान्तविक' तथा 'वानस्पतिक'। 'वानस्पतिक'-पदार्थों की अपेक्षा 'जान्तविक'-पदार्थों में प्रोटीन की मात्रा अधिक रहती है, परन्तु इनका दाम अधिक होने के कारण आम जनता इन्हें नहीं खरीद सकती। परिणाम यह है कि अन्य देशों की तुलना में भारत में 'प्रोटीन'-युक्त पदार्थों का सेवन अपेक्षाकृत थोड़ा है, और इसीलिए यहाँ के लोगों की अन्य देशों की अपेक्षा कार्य-शक्ति भी कम है।

इसके अतिरिक्त इस देश में ऐसे लोगों की बहुत अधिक संख्या है, जो दूध के अतिरिक्त अन्य किसी 'जान्तविक'-प्रोटीन को नहीं खा सकते। अंडा, मांस, मछली आदि का सेवन उनके धर्म में निषिद्ध है। ऐसी हालत में दूध ही एकमात्र उनके लिए सहारा हो सकता है। दूध की समस्या भारत के लिए पोषक-तत्वों की दृष्टि से सबसे बड़ी समस्या है।

भारत में दूध ५ औंस प्रति व्यक्ति के लगभग पीया जा रहा है जबकि सन्तुलित-भोजन में कम-से-कम १५ औंस प्रति व्यक्ति को लेना चाहिए।* कनाडा में ५६.८ औंस, न्यूज़ीलैंड में ५५.६, स्विट्ज़रलैण्ड में ४९.२, फ़िनलैण्ड में ४५.४, आस्ट्रेलिया में ४४.४, नीदरलैण्ड्स में ४४.२, नार्वे में ४१.७, ब्रिटेन में ४०.७, डेनमार्क में ४०.३, अमरीका में ३५.६, जर्मनी में ३५, बेलजियम में ३३, फ्रांस में ३०, चेकोस्लोवाकिया में २६.३, आस्ट्रिया में १८.८ और इटली में १०.१ औंस दूध का प्रति-व्यक्ति व्यय है।† इन देशों की तुलना में ५ औंस दूध कहाँ ठहरता है? यह हालत उस देश की हो गई है जहाँ कभी दूध-घी की नदियाँ बहा करती थीं। गर्भवती तथा प्रसूता स्त्रियों को कम-से-कम ३३.८ औंस दूध मिलना चाहिए। यह सब स्थिति गंभीर है और इसका शीघ्र-से-शीघ्र सुधार होना चाहिए।

---

* Second Five-Year Plan.

† Bhore Committee Report.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) विटामिन—'विटामिन' प्रायः सभी पदार्थों में भिन्न-भिन्न मात्रा में पाये जाते हैं, इसलिए अगर भोजन में विविधता हो, तो इनकी कमी नहीं रहती। साग-सब्ज़ी तथा फलों में 'विटामिन' की मात्रा अधिक होती है, परन्तु इस देश में साग-सब्ज़ी और फल महंगे होने के कारण इन्हें लोग कम खाते हैं। चावल भी मशीन का पालिश किया हुआ खाते हैं, और मोटे आटे की जगह मैदे की पूरियाँ खाते हैं। पालिश करने और गेहूँ का ऊपरी छिलका निकाल देने से 'विटामिन' भी निकल जाते हैं। बिना पालिश का चावल और मोटा आटा—ये 'विटामिन' के भंडार हैं। आजकल तो रासायनिक-विटामिन बनने लगा है। गत महायुद्ध में अमरीका तथा इंग्लैण्ड में रासायनिक-विटामिन की गोलियाँ सिपाहियों को दी जाती थीं जिनसे उन्हें बहुत लाभ हुआ।

६. भोजन में मिलावट के विरुद्ध कानून—१९५४

आज के युग का देवता पैसा हो गया है। पैसे के लिए लोग सब-कुछ करने लगे हैं। बनावटी औषधियाँ इस देश में बनती हैं। कहाँ तो जीवन-मृत्यु का प्रश्न, और कहाँ बनावटी औषधि से चिकित्सा। औषधियों के साथ-साथ खाने की वस्तुओं में भी बनावट-मिलावट सब-कुछ चलता है। शुद्ध दूध और शुद्ध घी कहीं नहीं मिलता। वनस्पति-घी में रंग डालने के लिए देश भर में माँग है ताकि असली-नकली की पहचान की जा सके। हालत यहाँ तक पहुँच गई है कि कोई शुद्ध दूध या शुद्ध घी लेकर भी आये, तो लोग उसमें विश्वास नहीं करते। इसीलिए १ जून १९५४ में 'मिलावट-विरोधी-कानून' (Prevention of Food Adulteration Act of 1954) लागू किया गया। इस कानून के अनुसार केन्द्रीय-सरकार ने एक कमेटी बना दी है जिसका काम होगा कि भोजन की हर वस्तु का माप निर्धारित कर दे और जो वस्तु उस माप को न पहुँचे उसमें मिलावट समझी जाय। इस उद्देश्य से कलकत्ते में एक 'केन्द्रीय भोजन-जाँच-प्रयोगशाला' (Central Food Laboratory) १ जून, १९५५ में खोली गई जिसमें जाँच के लिए हर-एक चीज़ भेजी जा सकती है। अगस्त १९५७ तक इस कानून के आधीन ४५,९०० मुकदमे दायर किये गये।

इस प्रकार हमने देखा कि राष्ट्र के स्वास्थ्य की देख-रेख के लिए हमें बहुत-कुछ करना है। यह सब-कुछ जब हम कर लेंगे तब संसार के अन्य राष्ट्रों की पंक्ति में सिर ऊँचा करके खड़े हो सकेंगे। तब तक अपने देश के लिए घोर तपस्या के दिन हैं।

प्रश्न

१. "पोषण की कमी भारत में पायी जाने वाली अधिकतर बीमारी और अक्षमता का एक प्रधान कारण है।" विवेचना कीजिये। (१९५२–५३)

२. भारत में स्वास्थ्य तथा आहार (पोषण) की समस्या पर एक संक्षिप्त लेख लिखिए। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५

भारत में ग्रामीण-जीवन
(RURAL LIFE IN INDIA)

१. ग्रामीण-जीवन की परिभाषा

ग्रामीण-जीवन की उत्पत्ति कैसे हुई? शुरू-शुरू में मनुष्य जंगल से फल-मूल चुग लाता था, जहाँ खाने को मिलता वहाँ चला जाता था। फल का मौसम न होने पर वह शिकार भी कर लाता था। शिकार भी हर जगह नहीं मिलता था। उस समय उसका जीवन फिरंदर-जीवन था। जहाँ फल-मूल मिले, शिकार मिला, वहीं वह चला जाता था, किसी एक स्थान पर टिक कर वह नहीं रहता था। प्रारंभिक ग्रामीण-जीवन में उसका निवास 'अस्थायी' था। इसके वाद जब उसने कृषि करना सीखा तव भूमि से वँध जाने के कारण वह अस्थायी से 'स्थायी' जीवन बिताने लगा। कृपि के लिए 'अस्थायी' से 'स्थायी' जीवन शुरू करते ही ग्रामीण-जीवन का सूत्रपात हुआ। एक-साथ रहने के कारण साथ रहने वाले लोगों का जीवन एक-से नियमों में वँध गया। वे दिन-रात साथ रहते थे इसलिए वे एक-दूसरे को जानते थे, सव का निकट का, आमने-सामने का संवंध

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :—

1. What are the causes that have led or are leading to the disintegration of village community in the country? How far have the community projects helped in the rehabilitation of village communities? (1951, 1959)

2. Suggest positive measures that may be adopted in overcoming the evils that are found in villages. (1951)

3. Give chief characteristics of rural life in India. (1956, 1961)

4. "Lack of education is the main cause of all rural problems in India." Discuss and suggest the pattern of education which you consider suitable for a rural population. (1958)

5. Discuss the role of co-operation in rural reconstruction in India. (1955, 1958)

6. Briefiy analyse the most disturbing problems of our villages. Will the current projects for rural reconstruction solve them effectively? (Rajasthan, 1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

था, समाज-शास्त्र की परिभाषा में उनका संबंध 'प्राथमिक-समूह' (Primary Group) का संबंध था। इस समय जन-संख्या अधिक नहीं थी, कृषि ही सब का मुख्य व्यवसाय था। जब जन-संख्या बढ़ने लगी, कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसायों को लोग पकड़ने लगे, अपने-अपने काम में वे इतने उलझने लगे कि एक-दूसरे की जानकारी का समय भी उनके पास न रहा तब ग्रामीण-जीवन से नागरिक-जीवन का श्रीगणेश हुआ।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ग्राम वह समुदाय है जिसमें लोगों का आमने-सामने का जीवन हो, सब एक-दूसरे को जानते-पहचानते हों, एक-दूसरे के सुख-दुःख में भाग लेते हों, जिसमें प्रायः सब का व्यवसाय कृषि हो, जहाँ जन-संख्या अधिक न हो। ऐसे समुदाय का जीवन ग्रामीण-जीवन कहलाता है।

२. भारतीय ग्रामीण-जीवन की विशेषताएँ
(Chief characteristics of rural life in India)

(क) प्राकृतिक-जीवन—भारत के गाँवों की पहली विशेषता उनका प्रकृति के निकट होना है। प्रकृति के सुन्दर दृश्यों को जब कैनवास पर चित्र में उतारा जाता है तब उसका सैकड़ों रुपया दाम देने को लोग तैयार हो जाते हैं, फिर जीती-जागती प्रकृति में रहने का तो कुछ भी दाम चुकाया नहीं जा सकता। गाँव के प्राकृतिक दृश्यों में झोंपड़ों को भी पुष्प-लताओं से ऐसे सजा कर रखा जा सकता है कि महलों को भी वैसा न रखा जा सके। करोड़पति को भी उतनी विस्तृत खुली जगह नहीं मिल सकती जितनी एक ग़रीब किसान को अपने टूटे-फूटे झोंपड़े के लिए मिल जाती है। अगर मनुष्य चाहे तो गाँव में प्रकृति के वरदान से घर को स्वर्ग बना सकता है, परन्तु गाँव के लोग जैसे रहते हैं, उससे तो उन्होंने अपने हाथ से स्वर्ग को नरक बनाया होता है।

ग्रामीण-व्यक्ति ग्रामीण-परिस्थिति में रहता है। वह मुख्य तौर पर खेती करेगा—जो-कुछ भी करेगा उसका स्थान प्रकृति के बीच में है, वह हर समय प्रकृति के निकट है। सर्दी, गर्मी, वर्षा—हर समय का वह उस-उस मौसम में अनुभव करता है। उसे मालूम है, अब कौन-सी ऋतु आ रही है क्योंकि उस ऋतु का उस ऋतु के अनाज के पैदा करने के साथ विशेष संबंध है। वह सूर्य की रश्मियों को फूटता देख कर उठता है, अन्धेरा होने पर सो जाता है, रात को जाग खुले तो तारों को देख कर बता देता है कि कितनी रात बाकी है। भारत क्योंकि ग्राम-प्रधान देश है, और ग्राम का व्यक्ति प्रकृति की हर बात के निकट रहता है, इसलिए इस देश में सूर्य, चन्द्र, तारे, गंगा-जमना देवता माने जाते हैं, इनकी पूजा होती है।

ग्रामीण-व्यक्ति चाहे स्वतंत्र खेती करता हो, या किसी दूसरे का खेत जोतता हो, उसे हर समय तैनात नहीं रहना होता, प्रकृति के वर्षा-गर्मी-सर्दी के भिन्न-भिन्न समय उसके कार्य की प्रणाली को बाँधते हैं। जब बोने-काटने का समय नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं, तब उसे खेत में यों ही धक्के खाने की ज़रूरत नहीं। इस दृष्टि से उसके पास समय बहुत है और अपने समय का वह मालिक है।

(ख) ग्रामीण-संस्कृति—ग्रामीण-संस्कृति की अपनी कई विशेषताएँ होती हैं। प्रकृति के निकट होने के कारण ग्रामीणों के कथा-कथानक, उनके नृत्य, उनके गीत—सब का उदय प्रकृति के अथाह सागर से होता है। ग्रामीण-संस्कृति में कृत्रिमता नहीं होती, ग्रामीण लोग अपने स्वाभाविक-जीवन को अपनी संस्कृति में उंडेल देते हैं। ग्राम-वासी का पहनावा, उसका चेहरा-मोहरा—सब प्रकृति के निकटतम होने के कारण स्वाभाविक होता है। मनुष्य के मनुष्य के साथ व्यवहार में भी ग्रामवासी की संस्कृति की अपनी विशेषता है। शहर का आदमी भूखे को देख कर पास से निकल जायगा, गाँव का आदमी भूखे को रोटी देगा; शहर का आदमी मेहमान को नफ़रत से देखेगा, गाँव का आदमी मेहमान को प्रेम से देखेगा; शहर का आदमी निरा स्वार्थी होगा, गाँव का आदमी स्वार्थी नहीं होगा—ये ग्रामीण संस्कृति की विशेषताएँ हैं।

(ग) परिवार की प्रधानता—गाँव की परिस्थिति में जीवन-रूपी वृत्त का केन्द्र घर तथा परिवार होता है। ग्रामीण-जीवन में मनुष्य चारों तरफ़ से संसार से तो कटा रहता है, परन्तु अपने परिवार से अभिन्न तौर पर बंधा रहता है। सब का साथ-साथ खेती करना पारिवारिक-बंधनों को और अधिक दृढ़ बना देता है। परिवार की प्रथाएँ तथा पुरानी परम्पराएँ व्यक्ति के जीवन को कसे रहती हैं। ग्रामीण-जीवन में क्योंकि परिवार मुख्य होता है, व्यक्ति नहीं, इसलिए इस जीवन में बुज़ुर्गों का शासन होता है—यह एक प्रकार की 'पितृ-प्रधान-व्यवस्था' है। परिवार के सब सदस्यों पर बड़ों-बूढ़ों की हुकूमत चलती है, परिवार की सत्ता में व्यक्ति की सत्ता विलीन हो जाती है। परिवार का जितना ऊँचा स्थान है, व्यक्ति का भी उतना ऊँचा स्थान अपने-आप बन जाता है। ऊँचे खानदान का व्यक्ति अपने खानदान की वजह से ऊँचा माना जाता है। शहर में कर्म तथा गाँव में जन्म प्रधान होता है। शहर का आदमी परिवार से उखड़ सकता है, गाँव के आदमी की नस-नस परिवार में ओत-प्रोत होती है। गाँव में किसी व्यक्ति का परिचय देना हो तो कहा जाता है—'अमुक परिवार का लड़का'। शहर में तो हो सकता है कि परिवार का एक लड़का कांग्रेसी हो, दूसरा जन-संघी और तीसरा कम्यूनिस्ट, परन्तु गाँव में ऐसा नहीं हो सकता। वहाँ तो परिवार का एक मत होता है, कभी-कभी तो परिवार क्या, सारे गाँव का ही एक मत होता है। जिधर गाँव वोट देता है उधर ही व्यक्ति भी वोट देता है।

(घ) संयुक्त-परिवार-प्रथा—ग्रामीण-जीवन परिवार-प्रधान होने के कारण 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' के लिए ज्यादा उपयुक्त है। गाँवों में परिवार के सब लोग साथ-साथ रहते हैं। एक चूल्हे पर उनका खाना बनता है, अगर परिवार का कोई सदस्य नहीं भी कमाता तो उसे घर से निकाल नहीं दिया जाता। एक तरह से 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' प्राचीन समय की सुरक्षा-पद्धति (Security System)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का एक रूप हैं। सम्पत्ति परिवार के किसी विशेष व्यक्ति की नहीं, सारे परिवार की साझी समझी जाती है। परिवार में किसी लड़के-लड़की की शादी होती है, तो उसका खर्च किसी एक पर न पड़ कर सारे परिवार पर पड़ता है। आज का शहरों का युग व्यक्तिवाद का युग है, हर-एक अपने-अपने लिए है, परन्तु ग्रामीण-जीवन में यह स्वार्थ-वृत्ति दिखाई नहीं देती।

(ङ) बिरादरी या जाति-प्रथा का प्रभाव—गाँव का व्यक्ति क्योंकि परिवार के साथ बंधा हुआ होता है, इसलिए उसका व्यक्तित्व स्वतंत्र रूप धारण नहीं करता। वह 'मैं' की भावना में न सोचकर 'हम' की भावना में सोचता है। उसका धर्म-धंधा, उसके आचार-विचार—सब बातों का नियन्त्रण बिरादरी के दृष्टि-कोण से होता है, वह स्वयं नहीं सोचता, बिरादरी उसके लिए सोचती है। बिरादरी के निर्णय के सामने सिर झुकाना उसके लिए स्वयं-सिद्ध है। स्त्री-पुरुष के संबंध भी ग्रामीण-जीवन में बिरादरी के दृष्टि-कोण से होते हैं। गाँव का वासी बिरादरी-प्रधान जीवन व्यतीत करता है।

(च) परंपरा, प्रथा तथा रूढ़ि का प्रभाव—शहर के व्यक्ति पर कानून का प्रभाव होता है, ग्रामीण व्यक्ति पर परंपरा का प्रभाव होता है, परंपरा के सामने वह कानून को तुच्छ समझता है। जो बात बाप-दादों के समय से चली आ रही है, जो पुरखाओं की परंपरा है, वह उसके लिए जीने-मरने का सवाल बन जाती है। ठीक भी है। ग्रामीण व्यक्ति, उसके जो-कुछ नज़दीक है, उससे अपने को अभिन्न समझने लगता है। परिवार, गाँव और इन दोनों की परंपरा—यही तो उसके निकटतम की वस्तुएँ हैं, इसलिए अपने परिवार, अपने गाँव की परंपरा का टूट जाना, वह अपनी नाक कट जाने के समान समझता है। वह अपने विचारों का इतना पक्का होता है कि कोई उसे अपने विचारों की नींव से हिला नहीं सकता। गाँव-वासियों के विचार उसके विचार होते हैं, और जो उन विचारों का विरोध करता है सारा गाँव उसका दुश्मन हो जाता है। परंपरा का दास होने के कारण ग्राम-वासियों में असहिष्णुता अधिक होती है। दुनिया में कितनी रोशनी क्यों न फैल जाय, गाँव में उस रोशनी का असर नहीं होता, होता भी है तो धीरे-धीरे और मद्धम तौर पर।

(छ) पड़ौसीपन की भावना—गाँव वाले जानते हैं कि पड़ौसी किसे कहते हैं। शहर में रहने वाला ऐसे व्यक्तियों से घिरा होता है जिन्हें वह जानता ही नहीं होता। गाँव में ऐसी बात नहीं हो सकती। गाँव का हर आदमी हर-एक गाँव-वासी को जानता है। इससे किसी की कमज़ोरी दूसरे से छिपी नहीं रहती। इसका लाभ भी है। लोकापवाद के भय से लोग बुरे काम से बचे रहते हैं। क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति का सारे गाँव से निकटतम संबंध होता है, इसलिए सुख-दुःख में सब एक-दूसरे का साथ देते हैं। इसके विपरीत शहर का कोई व्यक्ति इकला-पड़ा अपने दुःख में मर भी जाय, तो उसे पूछने वाला कोई नहीं होता। गाँव में दुश्मनी होती है तो वह भी ज़बर्दस्त, पुश्तैनी चलती है; दोस्ती होती है तो उसका भी कोई ठिकाना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नहीं। गाँव में मनुष्य एक छोटे-से समूह का हिस्सा होता है जिसमें सब सबको जानते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का हर व्यक्ति के साथ आमने-सामने का, सीधा संबंध ही 'प्राथमिक-संबंध' कहलाता है। पड़ौसीपन का आधार यही 'प्राथमिक-संबंध' है। क्योंकि गाँव में प्रत्येक व्यक्ति का हर व्यक्ति से 'प्राथमिक-संबंध' होता है। इसलिए उच्च-कोटि के सब गुणों को प्रकट करने की हर-एक की इच्छा बनी रहती है, हर-एक यह चाहता है कि वह ऐसा काम करे जिससे सारा गाँव उसकी तारीफ़ करे।

(ज) स्थायी-जीवन—हम पहले लिख आये हैं कि मनुष्य पहले फिरन्दर-जीवन व्यतीत करता था। फल-मूल, शिकार के जीवन में वह एक स्थान पर टिक कर बैठ नहीं सकता था। परन्तु कृषि-जीवन का प्रारंभ करते ही फिरन्दर-जीवन समाप्त हुआ, मनुष्य अस्थायी से स्थायी जीवन व्यतीत करने लगा, भूमि के साथ टिक कर बैठ गया, खेती करने लगा। जब से मनुष्य ने इस प्रकार स्थायी-जीवन बिताना शुरू किया तब से देर-तक एक साथ रहने के कारण सहवासी-समुदाय का सूत्रपात हुआ। इस सहवासीपन का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहाँ निवास-स्थान जल्दी-जल्दी बदलने की संभावना हट गई, वहाँ धर्म, जाति, प्रथा, परंपरा, विचार, नियंत्रण आदि में भी स्थिरता का तत्व आने लगा क्योंकि स्थायीपन की भावना का प्रभाव एक क्षेत्र में ही न होकर चतुर्दिक् हुआ। यही कारण है कि आज के ग्रामीण-जीवन तथा विचारों में सदियों से कोई अन्तर नहीं दिखाई देता, आज से १०० साल पहले ग्रामों में जैसा जीवन था, जैसे उस समय के विचार थे, आज तक वे वैसे अक्षुण्ण चले आ रहे हैं। स्थायित्व ग्रामीण-जीवन की आत्मा है।

(झ) कृषि की प्रधानता—भारतीय ग्रामीण-जीवन की प्रमुख विशेषता यहाँ के ग्रामीण-जीवन का कृषि-प्रधान होना है। क्योंकि यहाँ की जन-संख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही है और यहाँ की अधिक जन-संख्या ग्रामों में रहती है, इसलिए उद्योगीकरण के बावजूद ग्रामों की जन-संख्या बढ़ती जा रही है, और ग्रामों की जनसंख्या बढ़ते जाने के परिणामस्वरूप देश में कृषि-प्रधान समुदाय में बढ़ती होती जाती है। अन्य देशों में उद्योगीकरण के कारण कृषि-प्रधान जनता कम होती जाती है, परन्तु भारत में उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप कृषि-प्रधान जनता की संख्या में कमी नहीं आ रही।

(ञ) जिजमानी-प्रथा—भारत के ग्रामों में एक विशेष प्रथा पायी जाती है जिसे जिजमानी-प्रथा कहते हैं। इस प्रथा के अनुसार ग्राम-वासियों को कुछ सेवाएँ ग्राम के कुछ लोग देते रहते हैं। ये सेवाएँ पुश्तैनी होती हैं, बाप-दादा के काल से चली आती हैं और आगे की बाप-दादा की पीढ़ी तक चलती चली जाती हैं। उदाहरणार्थ; नाई, धोबी, कहार, लोहार आदि के कार्य हैं। ये कार्य, ये सेवाएँ वंश-परंपरा से ये लोग अपने यजमानों को देते रहते हैं। जिसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सेवा दी जाय वह 'यजमान' या गाँव की भाषा में 'जिजमान' कहलाता है। जिजमान को यह चिन्ता नहीं करनी पड़ती कि आज उसके घर पानी भरने धीवर आयेगा या नहीं आयेगा। धीवर को चिन्ता होती है कि उसके जिजमान के घर पानी भरना है, वह बीमार हो तो उसके घर का कोई दूसरा आदमी यह काम कर आयेगा। यही बात अन्य सेवाओं के विषय में है। इन लोगों का काम ब्याह-शादी तथा अन्य धार्मिक उत्सवों के समय और महत्वपूर्ण हो जाता है। इन लोगों को बाकायदा वेतन नहीं मिलता, परन्तु समय-समय पर इन्हें यजमानों से गेहूँ, कपड़ा, रसद आदि की निश्चित राशि दी जाती है। आज जहाँ प्रतिदिन नौकरों का झंझट बना रहता है, वहाँ जिजमानी-प्रथा में सेवा देने की चिंता काम करनेवाले पर रहती थी, काम लेनेवाले पर नहीं रहती थी।

(ट) **श्रम-विभाग का न होना**—ग्रामों में श्रम-विभाग का अभाव होता है। प्रत्येक व्यक्ति सब काम थोड़ा-थोड़ा कर लेता है। वह हल चलाता है, हल के टूट जाने पर उसकी मरम्मत भी कर लेता है। स्त्रियाँ चरखा कातती हैं, परन्तु खेती में भी हाथ बँटा देती हैं। शहरों में एक व्यक्ति एक ही काम में माहिर होता है, गाँवों में हर-एक व्यक्ति हर काम को थोड़ा-थोड़ा अवश्य जानता है।

(ठ) **सदाचारमय सादा जीवन**—गाँव के जीवन की दो प्रमुख विशेषताएँ हैं। पहली विशेषता है 'सदाचारमय जीवन' तथा दूसरी विशेषता है 'सादा जीवन'। गाँव में लोग सब एक-दूसरे को जानते हैं इसलिए प्रत्येक को अपनी प्रतिष्ठा की चिंता बनी रहती है। चोरी, व्यभिचार से वे डरते हैं, इसलिए डरते हैं क्योंकि सब एक-दूसरे को जानते हैं। कोई चोरी करेगा भी तो अपने गाँव में नहीं, व्यभिचारी होगा भी तो दूर कहीं। वे एक-दूसरे को धोखा नहीं देते, उनका जीवन कपटमय नहीं होता। दूसरी विशेषता है—सादा जीवन। गाँव के लोगों का जीवन कृषि पर आश्रित है। कृषि से इतनी आमदनी नहीं होती जिससे मनुष्य गुलछर्रे उड़ा सके। साधारण आय होने के कारण जीवन का स्तर साधारण रहता है, इसलिए गाँव के लोग दिखावट का, बनावट का, खर्चीला जीवन नहीं व्यतीत कर सकते, उनका जीवन सादा होता है। इसके अतिरिक्त उनकी प्रवृत्ति भी सादे जीवन की होती है। अगर उनके पास पैसा आ भी जाये तब भी तड़क-भड़क की तरफ़ उनकी रुचि नहीं होती। जो लोग बनाव-शृंगार करके घूमते हैं उन्हें गाँव की जनता घृणित समझती है।*

---

* **1. Give chief characteristics of rural life in India. (1956)**

2. Discuss the main provisions of the village life in India. (1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. भारतीय ग्रामीण-जीवन की समस्याएँ*
(Problems of Village Life in India)

भारत के ग्रामीण जीवन की समस्याओं को मुख्य तौर पर चार भागों में बाँटा जा सकता है :—

(क) ग्रामीण-जीवन की आर्थिक-समस्याएँ;
(ख) ग्रामीण-जीवन की सामाजिक-समस्याएँ;
(ग) ग्रामीण-जीवन की स्वास्थ्य-संबंधी समस्याएँ;
(घ) ग्रामीण-जीवन की शिक्षा-संबंधी समस्याएँ।

(क) ग्रामीण-जीवन की आर्थिक-समस्याएं

अपने देश के ग्रामीण-जीवन की आर्थिक-समस्याओं को हम मुख्य तौर पर तीन भागों में बाँट सकते हैं :—

१. कृषि-समस्या;
२. पशु-समस्या;
३. ऋण-समस्या।

[कृषि-समस्या]

'कृषि-समस्या' भारत के ग्रामीण-जीवन की सबसे बड़ी समस्या है। दूसरे देशों का किसान खेती से कमाता है, वहाँ छोटे-छोटे किसानों के पास भी बंगले और मोटरें हैं, परन्तु भारत के किसान के पास टूटी-फूटी झोंपड़ी, तन पर फटा हुआ कपड़ा और खाने को मक्का या बाजरे की रोटी है। इस निर्धनता की क्या वजह है ? इसकी वजह यह है कि यहाँ के किसान की खेती उभरने नहीं पाती। उसकी खेती के न उभर सकने के कई कारण हैं जिनमें से मुख्य कारण निम्न हैं :—

(i) प्राकृतिक कारण;
(ii) भूमि-संबंधी कारण ;
(iii) पूँजी-संबंधी कारण;
(iv) श्रम-संबंधी कारण;
(v) संगठन-संबंधी कारण।

(i) **कृषि-समस्या के प्राकृतिक कारण (विनाशकारी जीव-जन्तु)**—कृषि का दारमदार बारिश पर है, परन्तु बारिश कभी यहाँ अधिक हो जाती है, कभी कम हो जाती है, कभी बेमौसमी हो जाती है, कभी होती ही नहीं। सर्दियों में पाला और ओले फ़सल का पीछा नहीं छोड़ते। मौसम ने साथ दिया, तो सूअर,

---

* 1. Briefly analyse the most disturbing problems of our villages. (Rajasthan, 1958)

2. Suggest positive measures that may be adopted in overcoming the evils that are found in villages. (1951)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हरिण, ख़रगोश, बन्दर, चूहे, टिड्डी, कीड़े-मकौड़े परेशान कर देते हैं। बारिश ज़्यादा होने और पाले का तो कोई इलाज नहीं, परन्तु बारिश कम होने की समस्या का हल सरकार के पास है। नहरों के खोदने और सिंचाई की व्यवस्था से यह समस्या हल हो सकती है। प्रथम पंच-वर्षीय, द्वितीय पंच-वर्षीय तथा तृतीय-पंच-वर्षीय योजनाओं में इस तरफ़ पर्याप्त ध्यान दिया गया है। जीव-जन्तुओं को मारने के लिए तो किसान को बन्दूकों का लाइसेंस देना चाहिए, कीड़े-मकौड़े की समस्या को हल करने के लिए कीट-विनाशक द्रव्य का उपयोग होना चाहिए जिनमें डी० डी० टी० मुख्य है। इसके लिए सरकार का कृषि-विभाग बहुत सहायता कर सकता है।

(ii) कृषि-समस्या के भूमि-संबंधी कारण (छितरे खेत, सिंचाई की कमी, खाद का अभाव तथा रद्दी बीज)—खेतों का छोटा और छिटका होना भी कृषि की उन्नति में रुकावट का काम करता है। भारत की उत्तराधिकार-प्रथा के अनुसार किसान की ज़मीन जब उसके पुत्रों में बँटती है, तब उसके टुकड़े होकर हर-एक का हिस्सा छोटा रह जाता है। किसान की ज़मीन भी सब एक जगह नहीं होती, कोई टुकड़ा यहाँ तो कोई वहाँ होता है, उसकी ज़मीन छोटी और छिटकी रहती है। ज़मीन के टुकड़े न हों और सारी एक जगह हो, तो खेती ज़्यादा हो सकती है। १९५१ की गणना के अनुसार इस देश में ३४.४ प्रतिशत किसान २ एकड़ से कम, २७.६ प्रतिशत किसान २ से ४ तथा ३८ प्रतिशत किसान ४ एकड़ से ज़्यादा ज़मीन जोतते थे। दो एकड़ से कम ज़मीन पर क्या-कुछ और कितना-कुछ हो सकता है? विनोबा भावे अपने भू-दान-आन्दोलन में प्रयत्न कर रहे हैं कि उनके आन्दोलन में भूमि का वितरण प्रति किसान ५ एकड़ भूमि हो ताकि काश्तकार उससे अपनी आजीविका तो चला सके। खेतों के छिटके-पन को दूर करने के लिए भारत भर में 'चकबन्दी' (Consolidation of holdings) की योजना प्रारंभ की गई है। इस योजना के अनुसार इस देश में द्वितीय-योजना के अन्त तक ३ करोड़ एकड़ भूमि चकबन्दी के अन्तर्गत आ गई थी और तृतीय-योजना के अन्त तक और ३ करोड़ एकड़ भूमि चकबन्दी में आ जायगी।

सिंचाई की समस्या भी कृषि के उन्नत होने में बड़ी भारी रुकावट है। किसान बादल की आस में आकाश की तरफ़ मुँह उठाये पानी की बूँद के लिए चातक की तरह तरसता रहे, तो खेती क्या हो सकती है। इसके लिए कृत्रिम-साधनों द्वारा सिंचाई को अपने बस में करने की आवश्यकता है। कूओं, नल-कूपों तथा तालाबों की संख्या का बढ़ाना आवश्यक है। पंच-वर्षीय योजना में अनेक 'नदी-घाटी-प्रायोजनाएँ' (River Valley Projects) सफलतापूर्वक चलाई गई हैं जिनसे भूमि की सिंचाई तथा बिजली दोनों प्राप्त होंगी। इनमें बिहार तथा पश्चिमी-बंगाल के लिए दामोदर-घाटी-योजना, बिहार तथा नेपाल के लिए कोसी-बाँध-योजना, उड़ीसा के लिए हीराकुड-योजना, मध्य-भारत तथा राजस्थान के लिए चम्बल-नदी-योजना, उत्तर-प्रदेश के लिए रिहंद-बाँध-योजना,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंजाब के लिए भाखरा-नांगल-बाँध, हैदराबाद, आंध्र तथा मैसूर के लिए तुङ्गभद्रा-घाटी-योजना, महाराष्ट्र के लिए कोयना-योजना तथा गुजरात के लिए ताप्ती-घाटी-योजना मुख्य हैं। प्रथम पंच-वर्षीय योजना में सिंचाई पर व्यय करने के लिए ७२० करोड़ रु० रखा गया था जिसमें से ३४० करोड़ चालू-योजनाओं पर खर्च हुआ और क्योंकि वे योजनाएँ चल रही हैं इसलिए बाकी रकम उन पर आगे खर्च होगी। द्वितीय-योजना में जो नई सिंचाई की योजनाएँ प्रारंभ की गई हैं, उन के लिए ३८० करोड़ रु० रखा गया है जिसमें से १८२ करोड़ द्वितीय-योजना-काल में और बाकी का उन्हीं योजनाओं को पूरा करने में अगले समय में व्यय होने का अनुमान है। तृतीय-योजना में सिंचाई तथा बाढ़ रोकने के कार्य-क्रमों पर व्यय करने के लिए ६६१ करोड़ रुपया रखा गया है। सिंचाई की इन योजनाओं के अतिरिक्त नल-कूपों का भी भारी संख्या में निर्माण हो रहा है। इन योजनाओं के पूरा हो जाने पर २०–३० प्रतिशत सिंचाई की भूमि बढ़ जायगी।

खाद की समस्या भी भारतीय किसान की एक बड़ी समस्या है। यह ठीक है कि भूमि की उपजाऊ-शक्ति खेती करने से दिनोंदिन कम होती जाती है, परन्तु यह भी ठीक है कि खाद देने से उसे बढ़ाया भी जा सकता है। १९५१ में भारत में २३ करोड़ पशु थे, और उनका ८० करोड़ टन गोबर प्रतिवर्ष उपलब्ध था, मूत्र अलग। अगर इस सारे को खाद के काम में लिया जाता, तो कृषि को बहुत लाभ पहुँचता। होता यह है कि गोबर खाद के काम आने के स्थान में उपले बनाकर जला दिया जाता है। किसान के पास इसके अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं। लकड़ी उसे मिलती नहीं, पत्थर का कोयला भी गाँव में नहीं पहुँचता। सरकार को ग्रामीण-व्यक्ति की लकड़ी-कोयले की समस्या को हल करना होगा, तब वह गोबर का पूरा-पूरा फ़ायदा उठा सकेगा। पिछले दिनों से कम्पोस्ट-खाद का बहुत प्रचार हो चला है। गोबर-मूत्र-कूड़ा-कर्कट-हरी-पत्ती सब मिला कर एक गढ़े में डाल कर उसे मट्टी से पाट देते हैं, पाँच-छः महीने के बाद यह अच्छा खाद बन जाता है। कुछ सालों से प्रान्तीय-सरकारों ने म्यूनिसिपैलिटियों के लिए कम्पोस्ट-खाद का बनाना आवश्यक कर दिया है। गोबर, कम्पोस्ट आदि के अतिरिक्त मनुष्य की टट्टी-पेशाब की खाद भी बहुत उपयोगी है। खेतों में गड्ढे खोदकर ऐसी टट्टियाँ बनायी जा सकती हैं जिनको शौचालय के काम में लिया जाय, और खाद के काम भी लिया जा सके। इस स्थान को बदलते रहने से खेत के बहुत-से हिस्से को खाद मिल जाती है। महात्मा गांधी ने सेवाग्राम में इस प्रकार का प्रबन्ध किया हुआ था। यह प्रबन्ध आश्रमों की जमीनों में आसानी से हो सकता है। हड्डी की भी खाद बनती है। मरे हुए जानवरों की हड्डियों का चूरा बनाया जाता है। इसके लिए उत्तर-प्रदेश में कई कारखाने भी खुले हैं। रासायनिक-खाद की उपयोगिता भी अब दिनोंदिन किसान समझने लगे हैं। बिहार में सिंदरी नामक स्थान पर ३८ करोड़ की लागत से भारत-सरकार ने रासायनिक-खाद तैयार करने का एक कारखाना खोला है जिसमें प्रतिवर्ष लाखों टन पोटाशियम नाइट्रेट,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पोटाशियम क्लोराइड, पोटाशियम सल्फ़ेट तथा अमोनियम सल्फ़ेट तैयार होते हैं। फ़सलों के हेर-फेर से भी ज़मीन की पैदावार बढ़ती है। कुछ फ़सलें ज़मीन से पोषक-तत्त्व खींचती हैं, तो कुछ फ़सलें ऐसी भी होती हैं जो ज़मीन को पोषक-तत्त्व देती हैं। लुसरेन घास या सनी बो देने से वह ज़मीन के लिए खाद का काम कर देती है।

बीजों का अच्छा न होना भी कृषि के सफल न होने का कारण है। अच्छे बीज से खेती २०-३० प्रतिशत बढ़ सकती है। 'सामुदायिक-योजना' तथा 'राष्ट्रीय-विस्तार सेवा' में गाँव वालों को अच्छे बीज देने की व्यवस्था की जा रही है।

(iii) कृषि-समस्या के पूँजी-संबंधी कारण (किसान की निर्धनता तथा ऋणग्रस्तता)—किसी चीज़ को बढ़ाना, उसे उन्नत करना—यह सब पूँजी पर निर्भर है। किसान के पास पूँजी तो क्या होगी, पिछली पुश्तों का कर्ज़ा उसके सिर चढ़ा होता है। वह कहाँ से अच्छा बीज लाये, कहाँ से खेती के नवीन उपकरणों को खरीदे, उसके लिए तो उसका घिसा हुआ पुश्तैनी हल और सड़े बीज ही धन हैं, यही उसकी सम्पत्ति और पूँजी हैं। इनसे वह क्या-कुछ कर सकता है। साहूकार से वह ब्याज पर कर्ज़ लेता है, जो एक जन्म क्या, कई जन्मों में भी नहीं उतर पाता। इस स्थिति को बदलने के लिए 'सहकारी-समितियों' (Co-operative societies) की आवश्यकता है। 'सहकारिता' का अर्थ है उत्पादन और वितरण के क्षेत्र में प्रतियोगिता को निकाल कर जो उत्पादन करने वाले हैं वे परस्पर सहयोग से उत्पादन करें। जब इस प्रकार किसान या दूसरे उद्योग-धंधे वाले मिलकर काम करते हैं, तो उन्हें 'सहकारी समिति-बैंक' से नीची दर पर कर्ज़ मिल जाता है। ऐसी हालत में उन्हें महाजन का मुँह नहीं देखना पड़ता। भारत में यह आन्दोलन १८८४ से चल रहा है। उस समय यहाँ के किसानों की हालत देख कर सर विलियम वैडरबर्न ने भारत-सरकार को सहकारी-समितियों की स्थापना करने का मशविरा दिया था, परन्तु वह नहीं माना गया। अन्त में केन्द्रीय-सरकार ने १९०४ में 'सहकारी-ऋण-समिति-कानून' बनाया। तब से अब तक यह आन्दोलन बढ़ता जा रहा है, और गाँव वालों को सूद की दर उतनी नहीं देनी पड़ रही जितनी वे साहूकारों को देते थे।

(iv) कृषि-समस्या के श्रम-संबंधी कारण (कुटीरोद्योगों की आवश्यकता)—भारत का किसान श्रम भी उतना नहीं कर सकता जितना अन्य देशों के किसान कर लेते हैं। इसका यह कारण नहीं कि उसमें श्रम करने की सामर्थ्य ही नहीं है। श्रम वह कर सकता है, परन्तु श्रम करने के लिए जिस पौष्टिक-भोजन की ज़रूरत है वह उसे नहीं मिलता। भूखा आदमी कहाँ तक काम कर सकता है। इसके साथ ही गाँव की गन्दगी और चारों तरफ़ सड़ रहे जोहड़ों से वह मलेरिया-टाइफ़ायड का शिकार बना रहता है। बीमारी से निबटता है, तो इतनी खुराक नहीं पाता जिससे उसका शरीर पनप सके। इन कारणों से भी भारत का किसान खेती में अधिक उन्नति नहीं कर सक रहा। पंच-वर्षीय-योजनाओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में स्वास्थ्य की तरफ़ विशेष ध्यान दिया जा रहा है, मलेरिया को मिटाने की योजनाएँ बन रही हैं। अगर इस प्रकार के रोगों पर नियन्त्रण पा लिया गया, तब भी किसान की कार्य-शक्ति बहुत बढ़ जायगी।

'श्रम' पर विचार करते हुए हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि भारत का किसान साल में कई महीने श्रम-हीन हो जाता है। साल भर तो खेती चलती नहीं। जिस समय खेती नहीं होती उस समय वह क्या करे? खेती करने वाला कृषक तो यह सोच सकता है कि इस बेकारी के समय को वह आराम में व्यतीत करे क्योंकि जब खेती होगी तब उसके खाली बैठे रहने के हर्ज़ाने को वह पूरा कर देगी, परन्तु जो भूमिहीन किसान हैं, जिनका काम खेतों में मज़दूरी करके जीवन-निर्वाह करना है, उनके लिए यह बड़ी भारी समस्या है।

इस समस्या को हल करने के लिए गाँवों में ऐसे कुटीर-उद्योगों का जारी किया जाना आवश्यक है जिनसे बेकार आदमी की समस्या का हल हो सके। इधर कुछ समय से भारतीय-सरकार का ध्यान 'अम्बर-चर्खे' की तरफ़ गया है। यह चर्खा हाथ के चर्खे से उन्नत प्रकार का है। इससे एक आदमी १ रुपया २ आना दिन में कमा सकता है। २८ जून १९५५ में प्लैनिंग-कमीशन ने श्री कर्वे की अध्यक्षता में 'विलेज एण्ड स्माल स्केल इण्डस्ट्रीज़' नाम की एक कमेटी का निर्माण किया था। इस कमेटी ने अपनी अक्तूबर १९५५ की रिपोर्ट में लिखा था कि द्वितीय-योजना के अन्त तक हमें १,४०० से १,७०० मिलियन गज़ कपड़े की पहले से अधिक ज़रूरत पड़ेगी। कर्वे कमेटी का कहना था कि अगर यह अतिरिक्त कपड़ा मिलों से न बनवा कर किसी अन्य प्रकार से बनवाया जाय, तो लाखों व्यक्तियों को रोज़गार मिल सकता है। क्योंकि यह काम गाँवों में चलेगा इसलिए इससे गाँववालों की श्रम-समस्या हल होगी। इस संबंध में 'खादी तथा विलेज इण्डस्ट्रीज बोर्ड' का कहना है कि अगर २५ लाख अम्बर-चर्खे दिये जाँय, तो गाँवों की बेकारी की समस्या का बहुत बड़ा हल हो सकता है। भारत सरकार ने 'अम्बर-चर्खे' के सम्बन्ध में एक कमेटी बैठाई थी जिसने जून १९५६ की अपनी रिपोर्ट में यह सिफ़ारिश की थी कि १९५६ में ७५ हज़ार अम्बर-चर्खे और ५६–५७ में दो लाख चर्खे चलाये जाँय, और ज्यों-ज्यों यह स्कीम सफल होती जाय, त्यों-त्यों इसे आगे बढ़ाया जाय।

अम्बर-चर्खा एक कुटीर-उद्योग है। इसी प्रकार अन्य अनेक कुटीर-उद्योग जारी किये जा सकते हैं। इन कुटीर-उद्योगों पर प्रथम-योजना में ३३.६ करोड़ रखा गया था, द्वितीय-योजना में २०० करोड़ रखा गया, तृतीय-योजना में २६४ करोड़ रु० रखा गया है।

(v) कृषि-समस्या के संगठन-संबंधी कारण (सहकारी-कृषि तथा सेवा-सहकारिता की आवश्यकता)*—हमारा खेती करने का ढंग बहुत पुराना है।

---

* **Discuss the role of co-operation in rural reconstruction in India.** **(1955, 1958)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे देशों में कृषि की उन्नति के उपायों को सोचा ही नहीं, किया जा रहा है। डैन्मार्क, इंग्लैण्ड आदि में खेती के लिए सहकारिता का उपयोग किया जा रहा है। इस प्रकार के संगठन से उनका उत्पादन बहुत बढ़ जाता है। हम छोटे-छोटे खेतों में हल जोतते हैं, किसी को कुछ नहीं मिलता। अर्थशास्त्रियों का कथन है कि कृषि-संबंधी स्थायी उन्नति करने के लिए फ़ार्मों द्वारा खेती करना बहुत लाभ-प्रद है। फ़ार्म चार प्रकार के हो सकते हैं—पूँजीपतियों के फ़ार्म, सामूहिक फ़ार्म, सरकारी फ़ार्म तथा सहकारी फ़ार्म। **पूँजीपति के फ़ार्म** में सारा प्रबन्ध एक व्यक्ति के हाथ में रहता है। वह पैसे वाला होता है, इसलिए बीज, खाद, ट्रैक्टर, सब पर पैसा खर्च कर सकता है, परन्तु उसकी पैदावार तो एक ही आदमी की जेब में जाती है, समाजवादी अर्थ-व्यवस्था में यह ठीक नहीं बैठता। दूसरे प्रकार के फ़ार्म **सामूहिक-फ़ार्म** होते हैं। इन फ़ार्मों का संचालन कुछ व्यक्ति करते हैं जिन्हें सब मिलकर चुनते हैं। किसान अपनी ज़मीन इन फ़ार्मों को दे देता है, स्वयं उसी में मज़दूरी करता है, मज़दूरी के पैसे लेता है, और सारे नफ़े में से उसका हिस्सा भी उसे अलग मिल जाता है। किसान अपनी ज़मीन समूह को दे देने के बाद अपना व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं जता सकता। ऐसे फ़ार्म रूस में बड़ी सफलता से चल रहे हैं, परन्तु क्योंकि इस प्रकार के संगठन में व्यक्तिगत स्वामित्व छोड़ना पड़ता है, इसलिए भारत में इसके चल निकलने की कम संभावना है। तीसरे प्रकार के फ़ार्म **सरकारी-फ़ार्म** होते हैं। उत्तर-प्रदेश में गंगा-खादर और नैनीताल की तराई में इसके परीक्षण हो रहे हैं। सरकारी ज़मीन पर बड़े-बड़े फ़ार्म होते हैं और इनमें अच्छा बीज बनाने और उसे किसानों को बाँटने के परीक्षण होते हैं। चौथा प्रकार कृषि-समितियाँ बनाकर सहकारी तौर पर, कृषि में स्थायी सुधार करने का है। इटली, बल्गेरिया, फ़िलिस्तीन में ये परीक्षण चल रहे हैं। इस प्रकार के संगठन से कृषि में सौ फ़ी सदी तरक्की होती देखी गई है।

इन **सहकारी-समितियों** के फिर चार प्रकार हैं—(क) सहकारी उन्नतिशील-खेती समितियाँ, (ख) सहकारी संयुक्त-खेती समितियाँ, (ग) सहकारी किसान कृषि-समितियाँ, तथा (घ) सहकारी सामूहिक समितियाँ। 'सहकारी उन्नति-शील-खेती समिति' में किसान सब बातों में स्वतंत्र होता है, उसका भूमि पर स्वामित्व होता है, परन्तु वह अन्य किसानों के साथ मिलकर एक समिति का सदस्य बन जाता है जिसका उद्देश्य बीज, खाद, ट्रैक्टर, सिंचाई तथा बिक्री की व्यवस्था करना है। अपने देश में जहाँ किसानों के पास काफ़ी ज़मीन है, वहाँ यह संगठन सफल हो सकता है। 'सहकारी संयुक्त-खेती समितियाँ' वहाँ सफल होंगी, जहाँ छोटे-छोटे खेत हैं। जब तक इन जोतों को मिलाकर बड़ा नहीं किया जाता, तब तक खेत के छोटा होने के कारण किसान को लाभ नहीं हो सकता। इस संगठन में इन छोटे-छोटे खेतों को इकट्ठा करके फ़ार्म बना लिया जाता है और उसका प्रबन्ध प्रबन्धक-कमेटियों के हाथ में होता है। 'सहकारी-किसान कृषि-समिति' वह संगठन है जिसमें एक सहकारी-समिति सरकार से भूमि प्राप्त करती है और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसके छोटे-छोटे टुकड़े करके भूमिहीन किसानों को बाँट देती है। खेती की योजना, खाद, बीज, ट्रैक्टर का प्रबन्ध समिति करती है, भूमि की मालिक भी समिति होती है, परन्तु सारी उपज किसान की मानी जाती है। भूमिहीन किसानों को सुविधा देने के लिए यह व्यवस्था की गई है। 'सहकारी सामूहिक-समिति' में खेती का सारा ढंग रूस के सामूहिक-फ़ार्मों की तरह का-सा चलता है। किसान भूमि का मालिक नहीं रहता, वह काम की मज़दूरी लेता है और जिन किसानों ने मिलकर फ़ार्म बनाया है उनमें उनकी मज़दूरी के अतिरिक्त उपज का नफ़ा भी अनुपात से बाँट दिया जाता है।

सहकारी-समितियों द्वारा कृषि (Co-operative farming) के कार्य को चलाने से खाद्य-उत्पादन में बहुत उन्नति हो सकती है। अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी ने हैदराबाद के अधिवेशन में एक उप-समिति नियुक्त की थी और उसे निर्देश दिया था कि वह कृषि-समस्या से संबंधित भूमि-सुधार के प्रश्न पर विचार करे। इस उप-समिति के अध्यक्ष श्री धेबर भाई थे। इस 'कृषि-उत्पादन उप-समिति' की रिपोर्ट के आधार पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने ६४वें अधिवेशन में जो अभयंकर नगर, नागपुर में हुआ, १० जनवरी १९५९ को निम्न प्रस्ताव स्वीकृत किये जिनमें अपने देश में कृषि को बढ़ाने के लिए कृषि का भावी ढाँचा सहकारी-समितियों के आधार पर ढालने की बात कही गई। वे प्रस्ताव थे :—

(१) ग्राम संगठन को ग्राम पंचायतों और ग्राम सहकारी समितियों पर आधारित होना चाहिए और इन दोनों को जो काम सौंपे जाएँ उन्हें पूरा करने के पर्याप्त अधिकार और साधन उन्हें दिए जाने चाहिएँ। कई ग्राम सहकारिता समितियाँ मिलकर अपना एक संघ बना सकती हैं। गाँव के सभी स्थायी निवासियों को, चाहे उनकी अपनी ज़मीन हो या न हो, ग्राम सहकारिता समिति के सदस्य होने का अधिकार होना चाहिए और ग्राम सहकारिता समिति को चाहिए कि वह खेती के नए और बेहतर तरीकों और कृषि की उन्नत प्रविधियों का इस्तेमाल करते हुए पशुपालन और मत्स्यपालन का विकास करके और साथ ही ग्रामोद्योगों को बढ़ावा देकर अपने सदस्यों का कल्याण साधन करे। ऋण देने की व्यवस्था और दूसरे सेवा कार्य करते हुए उसे किसानों के कृषि उत्पादन के एक जगह इकट्ठा किए जाने का और उसकी बिक्री का प्रबन्ध करना होगा और उसके लिए खलिहानों और गोदामों की सहूलियतों की व्यवस्था करनी होगी। गाँव के सभी विकास कार्यों का नेतृत्व पंचायतों और सहकारिता समितियों दोनों को ही लेना होगा, और खास तौर पर खेती की फी एकड़ पैदावार को बढ़ाने के खयाल से सघन खेती को बढ़ावा देना होगा।

(२) कृषि का भावी ढाँचा संयुक्त सहकारिता कृषि का होना चाहिए जिसमें खेतों को संयुक्त खेती के लिए इकट्ठा कर लिया जायगा, हालाँकि खेतों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर मिलकियत किसानों की रहेगी और अपने-अपने खेत के हिसाब से उन्हें मुनाफ़े में हिस्सा मिलेगा। इसके अलावा, जो खेतों पर खुद काम करने वाले हैं, उनकी अपनी ज़मीन हो या न हो, उन्हें उस संयुक्त खेती में अपने-अपने काम के मुताबिक हिस्सा मिलेगा।

संयुक्त खेती की शुरूआत से पूर्व, पहले कदम के रूप में, सारे देश में सेवा-सहकारी समितियों को संगठित कर देना चाहिए। यह काम तीन साल के अन्दर पूरा हो जाना चाहिए। पर इस दौरान भी, जहाँ मुमकिन हो और जहाँ किसान आम तौर पर तैयार हों, संयुक्त खेती शुरू कर दी जा सकती है।

(४) भूमि सुधारों के बारे में अनिश्चितता दूर करने और किसान की जिंदगी में पायदारी कायम करने की दृष्टि से, आज की और बाद की भी जोतों की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी जानी चाहिए और इसके लिए और साथ ही मध्यवर्तियों का उन्मूलन करने के लिए सभी राज्यों द्वारा १९५९ के अन्त तक कानून बनाने का काम पूरा कर दिया जाना चाहिए। इसका मतलब यह नहीं है कि आमदनी की कोई सीमा बाँध दी जायगी, क्योंकि उम्मीद यह की जाती है कि सघन खेती और अतिरिक्त धन्धों की वजह से गाँवों की आमदनी में वृद्धि होगी। इस प्रकार की अतिरिक्त भूमि पर पंचायतों का अधिकार होना चाहिए और उनका प्रबन्ध भूमिहीन खेतिहरों और छोटे किसानों की सहकारिता समितियों के हाथ में रहना चाहिए।

(४) काश्तकार को उचित मुनाफ़ा दिलाने की दृष्टि से हर फ़सल का, उसकी बुवाई के मौसम से काफ़ी पहले, अल्पतम मूल्य तय कर देना चाहिए, और वक्त-ज़रूरत के लिए उस पैदावार को सीधे ख़रीद लेने की व्यवस्था रहनी चाहिए।

(५) खाद्यान्नों के थोक व्यापार को राज्य के हाथों में दे दिए जाने का स्वागत है और इस पर पूरा अमल होना चाहिए।

(६) खेती के लायक जो ज़मीन खाली पड़ी हुई है, उस पर और ऊसर ज़मीन पर खेती के लिए हर तरह की कोशिश की जानी चाहिए। इस तरह की ज़मीन का उपयोग करने की दृष्टि से उचित कदम उठाने के लिए केन्द्रीय सरकार को एक समिति नियुक्त करनी चाहिए।

कांग्रेस को भरोसा है कि केन्द्रीय और राज्य सरकारें जल्द ही ऊपर बताए गए कदम उठाएँगी, और कांग्रेस संगठन भी, दूसरी संस्थाओं के सहयोग से, इन कदमों के लिए देश के लाखों-करोड़ों किसानों के अन्दर सामूहिक रूप से उत्साह पैदा करने और उनमें स्वतः आगे बढ़ने की और खुद अपनी मदद करने की भावना जगाने में हर तरह मदद करेगा।

नागपुर कांग्रेस में सहकारी खेती के सम्बन्ध में उक्त जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ उसने बड़ी हलचल मचा दी। कुछ लोगों ने इसकी कड़ी आलोचना की।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दुर्भाग्य से कुछ लोग यह नारा लगा रहे हैं कि "किसानों की ज़मीन छीनी जा रही है।" यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसान अपनी ज़मीन का मालिक पूर्ववत् बना रहेगा, फिर भी असन्तोष तथा भ्रम जारी है। अतएव यह आवश्यक है कि सब तथ्यों को ठीक-ठीक समझा जाए।

आज हमारे सामने विकट खाद्य-समस्या है। इसका कारण यही है कि हमारी खेती की व्यवस्था ठीक नहीं। किसानों के पास की ज़मीन के बँटवारा होते-होते इतने छोटे-छोटे हिस्से हो गए हैं कि वे कड़ी मेहनत के बाद भी अपना पेट नहीं भर सकते। दूसरी ओर कुछ किसान ऐसे भी हैं जिनके पास काफ़ी ज़मीनें हैं, लेकिन वे अच्छी प्रकार उसे कमा नहीं पाते, और शायद न कभी कोशिश करते हैं। वे सोचते हैं कि उनके लिए काफ़ी हो जाता है, फिर परिश्रम करने की क्या आवश्यकता है। इससे देश की बड़ी हानि होती है। आश्चर्य होता है कि उत्तर-प्रदेश के पश्चिमी उपजाऊ जिलों में भी जहाँ गन्ना और गेहूँ की बड़ी पैदावार होती है, जहाँ १,५०० मन प्रति एकड़ गन्ना और ५२ मन प्रति एकड़ गेहूँ निकल आता है, ऐसे भी बहुत से किसान हैं जिनके यहाँ केवल २०० मन प्रति एकड़ गन्ना और ५–६ मन प्रति एकड़ गेहूँ पैदा होता है! इसका केवल यही कारण है कि या तो वे अपनी ज़मीन को अच्छी प्रकार कमा नहीं पाते या फिर कमाना नहीं चाहते। यदि सहकारी खेती होगी तो ऐसी ज़मीन का सदुपयोग हो सकेगा।

दूसरी बात जो किसानों को पनपने नहीं दे रही और बराबर उनको पीछे की ओर धकेलती जा रही है, वह है उनके आपसी झगड़े। उनकी वजह से उन्हें बराबर अदालत जाना पड़ता है। अस्सी प्रतिशत गाँव के झगड़े तो ज़मीन के ही कारण होते हैं। यदि सहकारी खेती प्रारंभ हो जाए तो किसान झगड़ों से बच जाएंगे और अपने अमूल्य समय को खेती में काम करने और पैदावार बढ़ाने में खर्च करेंगे। सहकारी खेती होने पर उनकी इस प्रकार की संकुचित भावना कि मेरे खेत को पानी मिलना चाहिए, भले ही दूसरे का सूख जाए, दूसरे के खेत की मेंड़ तोड़ कर कुछ अपने में मिला लूँ, आदि समाप्त हो जायगी और जब यह भावना ही समाप्त हो जायगी तो आए-दिन के झगड़े भी समाप्त हो जाएँगे और गाँव में खुशहाली आ जाएगी।

आज किसान ज़मीन के छोटे-छोटे हिस्से होने से परेशान है। किसी-किसी किसान के पास ज़मीन का बँटवारा होते-होते दो एकड़ से भी कम हिस्सा रह गया है। हल चलाने के लिए दो बैल तो अवश्य ही चाहिएँ। अब यदि हम गहराई से सोचें तो क्या दो एकड़ ज़मीन दो बैलों के चारे भर के लिए भी काफ़ी होती है? नहीं! और नतीजा यह हो रहा है कि न बैलों को चारा पूरा मिल पा रहा है और न किसानों को रोटी। बच्चों को पढ़ाना-लिखाना और घी-दूध का प्रबन्ध तो दूर रहा।

सहकारी खेती के विरुद्ध एक दलील यह दी जाती है कि इससे लोगों में अपनत्व की भावना समाप्त हो जाएगी और उसके परिणाम-स्वरूप पैदावार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

घटेगी। कहा जाता है कि इसराईल को छोड़ कर सभी देशों में सहकारी खेती से पैदावार घटी है। ऐसी बात तो नहीं है। लेकिन यदि यह बात मान भी लें तब भी यह कैसे कहा जा सकता है कि भारत में भी वह विफल होगी।

ऐसा सोचना कि सहकारी खेती भारत में सफल नहीं होगी, निराधार है। गाँव में आज भी ऐसे घर हैं जिनमें तीन-तीन और चार-चार पीढ़ियों के लोग एक ही जगह रहते चले आ रहे हैं। सब मिलकर काम करते हैं। कभी कम-ज़्यादा काम करने की भावना उनके अन्दर नहीं आती। वे स्वयं प्रेरित होकर काम करते हैं और यह देखा गया है कि वे दूसरे लोगों से हर बात में कहीं अधिक समृद्ध हैं।

दूसरे, प्रायः गाँव में देखा जाता है कि लोग अलग रहते हुए भी काम के समय एक दूसरे की सहायता करते हैं। बुआई, कटाई, गुड़ाई जैसे मौकों पर लोग मिलकर एक-दूसरे के खेतों में हाथ बँटाते हैं। यह सहकारिता का रूप नहीं तो क्या है? गाँव में सहकारिता पहले से मौजूद है केवल प्रोत्साहन की आवश्यकता है।

इन सब बातों को दृष्टि में रखते हुए यही लगता है कि गाँवों में सहकारी-कृषि अवश्य सफल होगी।

सहकारी-कृषि का सिद्धान्त भारत के लिए कोई नई बात नहीं है। यहाँ 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' (Joint Family System) रही है। सब भाई मिलकर रहते रहे हैं और सब की कमाई साझी मानी जाती रही है। सहकारी-कृषि का विचार भी संयुक्त-परिवार-प्रथा के आधारभूत सिद्धान्त को मान कर चला है। भेद इतना है कि संयुक्त-परिवार में रुधिर के संबंधी सहकारिता में बँधते हैं, सहकारी-कृषि में एक गाँव के रहने वाले सहकारिता में बँधते हैं। यह बात ठीक ऐसे है जैसे किसी जॉयन्ट स्टाक कम्पनी के कई हिस्सेदार होते हैं और सब मिलकर कम्पनी के मालिक कहलाते हैं। ठीक इसी तरह 'यह खेत मेरा'—'वह खेत तेरा'—इस विचार के स्थान में सहकारी-कृषि में 'सारी खेती हम सब की साँझी' का विचार काम कर रहा है। अगर सहकारी-कृषि का विचार सफल हो गया, तो सहकारी-कारखानों के विचार का उत्पन्न हो जाना भी कोई अस्वाभाविक बात न रहेगी। प्रत्येक उद्योग में आज भी कई हिस्सेदार होते हैं, हिस्सेदारी की यह भावना बढ़ते-बढ़ते यहाँ तक बढ़ सकती है कि कारखानों में काम करने वालों को भी सहकारिता के सिद्धान्त के अनुसार कारखानों में थोड़ा-थोड़ा हिस्सेदार मान लिया जाय। आज का युग सहकारिता का युग है और यह भावना जीवन के हर क्षेत्र में फैलती जा रही है।

'सहकारी-कृषि' (Co-operative farming) को एकदम चलाना कुछ कठिन प्रतीत हो रहा है क्योंकि इसमें एक गाँव या दो-तीन गाँवों के सब किसानों को अपने खेत दूसरों के साथ सहकारिता में देकर सब के साथ खेती करनी होगी। उन्हें ऐसा कुछ प्रतीत होगा कि उनका अपने खेतों पर पृथक् स्वामित्व नहीं रहा। ऐसी-कुछ बात है तो नहीं, परन्तु ऐसी भावना का उठ खड़ा होना स्वाभाविक-सा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतीत होता है। इसी विचार के कारण इसका विरोध भी हो रहा है। ऐसी स्थिति में 'सहकारी-कृषि' को एकदम प्रारंभ करने के स्थान में 'सेवा-सहकारिता' (Service Co-operatives) को शुरू-शुरू में जारी करने का विचार है। 'सेवा-सहकारिता' का क्या अर्थ है? खेती के लिए किसान को ज़मीन की ज़रूरत तो होती है, साथ ही उसे अच्छे बीज, ठीक समय पर पानी, फ़सल पक जाने पर उसे मंडी में पहुँचाना आदि अनेक बातों की ज़रूरत पड़ती है। ये सब 'सेवाएँ' (Services) हैं। शुरू-शुरू में इन सब से सहकारिता की भावना को पैदा किया जायगा। तीन साल तक इसी दिशा में काम होगा, और जब किसान को यह अनुभव हो जायगा कि सहकारिता से काम करने से उसे लाभ है, तब वह भूमि के लिए भी सहकारिता के लिए तैयार हो जायगा। इस प्रकार 'सेवा-सहकारिता' (Service Co-operatives) 'सहकारी-कृषि' (Co-operative farming) की भावना को लाने में सहायक होगी। यह सब काम पंचायत की देख-रेख में होगा और क्योंकि पंचायत में लोकतंत्रीय-भावना काम कर रही होगी इसलिए सेवा-सहकारिता तथा सहकारी-कृषि—दोनों में किसी एक की न चलकर पंचायत की बात चलेगी।

'सहकारी-कृषि' (Co-operative farming) तथा 'सामूहिक-कृषि' (Collective farming) में भेद है, और इस भेद को न समझ कर ही कई लोग 'सहकारी-कृषि' के विचार पर आपत्ति करते हैं। उनका कहना है कि 'सहकारी-कृषि' में सरकार का हस्त-क्षेप होगा, यह किसान पर ज़बर्दस्ती लादी जायगी। ऐसी बात नहीं है। 'सहकारी-कृषि' तथा 'सामूहिक-कृषि' में तो भेद ही यह है कि 'सहकारी-कृषि' किसानों की अपनी मर्ज़ी की बात है, वे चाहे इसमें शामिल हों, चाहे न हों, परन्तु 'सामूहिक-कृषि' तो अपनी मर्ज़ी की बात नहीं, उसमें तो सरकार हस्त-क्षेप करती है, ज़बर्दस्ती सब को उसका सदस्य बनाती है। 'सहकारी-कृषि' का नियन्त्रण अन्दर से होता है, 'सामूहिक-कृषि' का बाहर से; 'सहकारी-कृषि' में किसान उसके लाभ को देखकर उसमें सम्मिलित होते हैं, 'सामूहिक-कृषि' में सरकार द्वारा हर-एक किसान को बाधित होकर उसमें शामिल होना पड़ता है। इसका यह मतलब भी नहीं कि जब जो किसान 'सहकारी-कृषि' में शामिल होना चाहे, शामिल हो जाय, जब निकलना चाहे निकल जाय। कुछ नियम तो जन-तंत्र में भी पालने ही पड़ते हैं। इसका यह मतलब भी नहीं कि दूसरे सब किसान शामिल हो जायँ, और कोई एक अपनी अलग बंसी बजाये। यह सब कुछ होते हुए भी 'सहकारी-कृषि' में 'सामूहिक-कृषि' की अपेक्षा किसान को स्वतन्त्रता अधिक रहेगी और इससे खेती की उपज कई गुणा बढ़ेगी।

[पशु-समस्या]

वैसे तो किसान की 'कृषि-समस्या' ही एक बहुत बड़ी समस्या है, उसके साथ मिलकर 'पशु-समस्या' बेचारे की ज़िन्दगी को और मुश्किल कर देती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९५१ की पशु-गणना के अनुसार इस देश में १५ करोड़ ५१ लाख गाय-बैल और ४ करोड़ ३३ लाख भैंसें हैं। दो मनुष्यों के पीछे एक गाय-बैल-भैंस पड़ते हैं परन्तु यहाँ के जानवर इतने कमज़ोर हैं कि उनसे खेती कर सकना एक समस्या है। पहले कभी यहाँ गायें अच्छा दूध देती होंगी, अब तो सेर-डेढ़ सेर दूध देती हैं। इन गायों के मुकाबिले में इंग्लैण्ड की गाय नौ गुणा दूध देती है। हालैण्ड में १०० एकड़ ज़मीन के पीछे ३८ गाय-बैल हैं, मिस्र में २५, चीन में १५, परन्तु हमारे देश में १०० एकड़ ज़मीन के पीछे ६७ गाय-बैल हैं। इतने जानवरों को किसान कैसे खिलाये ? पशु-समस्या के तीन रूप हैं—चारा, पशुओं के रोग तथा नस्ल।

(i) चारा—जब तक गाय-भैंसें दूध देती हैं तब तक जैसे-तैसे उनके खाने का प्रबन्ध हो भी जाता है, परन्तु जब वे सूख जाती हैं तब तो महा-संकट उपस्थित हो जाता है। १९५१ की पशु-गणना के अनुसार हमारे यहाँ २८ लाख गायें सूखी थीं। इन सब का प्रबन्ध करने के लिए चारे को बढ़ाना होगा, गोचर-भूमि की व्यवस्था करनी होगी, चरने के लिए वनों का प्रबन्ध करना होगा। प्रायः देखा जाता है कि बरसात के दिनों में जब घास बहुत होती है तब जानवर उसमें खुले छोड़ दिये जाते हैं, जो आधा चरते हैं, आधा खराब करते हैं। इसको काट कर खिलाने से वही घास दुगुने समय तक चल सकती है और बची हुई चरी या पुआल को संभाल कर रखा जा सकता है। चरी के भी कई प्रकार हैं, घास भी कई तरह की हैं। ऑस्ट्रेलियन चरी साल में कई बार बोई और काटी जा सकती है, चीन का लुसरेन घास, मिस्र का बर्सीम घास ऐसे घास हैं जिन्हें जितना काटते जाओ, उतना वे बढ़ते हैं और पशुओं की चारे की समस्या को हल कर सकते हैं।

(ii) रोग—चारे के अतिरिक्त पशुओं की दूसरी समस्या पशुओं के रोग हैं। इन रोगों में पशु-प्लेग (रिंडरपेस्ट) तथा खुर-मुँह (फ़ुट एण्ड मौथ डिज़ीज़) ऐसे रोग हैं जो हर साल अच्छी-अच्छी गायों और भैंसों को सफ़ाचट कर देते हैं। पशु-प्लेग में जानवर ठीक-से खा नहीं सकता, और खुर-मुँह में ठीक-से पैर नहीं रख सकता। ये रोग फैलने वाले हैं और क्योंकि हम लोग रोगी जानवर को अलग-से नहीं रखते, सब के साथ उसे चरने भेजते हैं, इसलिए एक को बीमारी लगी, तो सब में फैल जाती है। टीका लगवा कर इन रोगों को रोका जा सकता है, पोटासियम परमैंगनेट से खुर धोकर खुर-मुँह बीमारी को ठीक किया जा सकता है।

(iii) नस्ल—पशुओं के संबंध में किसान की तीसरी समस्या उनकी नस्ल की है। अपने देश में साँड छोड़ने की प्रथा है। धर्म के नाम पर सस्ते और घटिया बछड़े साँड बनने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। इनकी सन्तान भी घटिया होती है, गाय हो तो कम दूध देती है। अच्छे साँड से अच्छी नस्ल बनती है। ऐसे साँडों की बछड़ियाँ भी गाय बनकर अच्छा दूध देती हैं। उत्तर-प्रदेश में मथुरा के माधुरी-कुंड में अच्छे साँड तैयार किये जाते हैं। भारत को प्रतिवर्ष दो लाख उत्तम साँड

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिएँ। इसके लिए नस्ल-सुधार केन्द्र खोले जायेंगे जिनमें उत्तम साँड बनाये जायेंगे। 'कृत्रिम-गर्भाधान' (Artificial Insemination) से भी गाय-बैल की उत्तम नस्ल पैदा करने के प्रयत्न हो रहे हैं। कृत्रिम-गर्भाधान द्वारा गाय-बैल की नस्ल सुधारने, दूध बढ़ाने, चारे की समस्या हल करने आदि के लिए १९५२ में सरकार ने 'की विलेज स्कीम' (Key Village Scheme) को चालू किया जो कृत्रिम-गर्भाधान, दूध को बढ़ाना, चारे की समस्या को हल करना आदि के केन्द्र हैं।

[ऋण-समस्या]

१९३० में ब्रिटिश-भारत के गाँवों पर ९०० करोड़ का कर्ज़ था। १९३९ में यह बढ़कर १,८०० करोड़ हो गया। गत महायुद्ध के बाद कर्ज़ में कुछ कमी आयी, किसानों ने कुछ कमाया, परन्तु फिर भी यह सत्य है कि भारत का किसान अपने ही पुश्तैनी कर्ज़ से पीढ़ी-दर-पीढ़ी दबता चला आया है, यहाँ तक कि कर्ज़ का जीवन उसके लिए एक स्वाभाविक-सी बात हो गई है। इस कर्ज़दारी के क्या कारण हैं, इसका क्या रूप है, इससे किसान को मुक्त करने के लिए क्या-क्या किया जा सकता है—इसकी हम कुछ चर्चा करेंगे :—

(i) **पुश्तैनी कर्ज़**—गाँव का काश्तकार कर्ज़ में पैदा होता है, कर्ज़ में जीवन व्यतीत करता है और अपने पुत्र-पौत्रों को कर्ज़ ही वसीयत में दे जाता है। साहूकार कर्ज़ देते समय सूद पहले से ही काट लेता है। अगर कोई किसान किसी प्रकार की जायदाद नहीं भी छोड़ जाता, तो भी कर्ज़ा तो ज़रूर ही छोड़ जाता है, और उसका पुत्र उसे अदा करना अपना धार्मिक कर्तव्य समझता है।

(ii) **सूदखोरी**—महाजन का सूद भी साधारण नहीं होता, २० से १०० प्रतिशत तक वह ब्याज लेता है और वही-खाते में ऐसी चालबाज़ी चलता है कि किसान बेचारा देखता रह जाता है। किसान मूलधन पर तो आ ही नहीं पाता, वह सूद चुकाने में ही लगा रहता है।

(iii) **तकावी**—किसान महाजन के चंगुल में न फँसे इस प्रश्न पर सरकार का ध्यान देर से इधर जा चुका है। किसान को दो तरह का कर्ज़ लेना पड़ता है—'दीर्घ-कालीन' तथा 'स्वल्प-कालीन'। 'दीर्घ-कालीन' ऋण इसलिए लेना पड़ता है जिससे वह अपनी ज़मीन की उन्नति कर सके, 'स्वल्प-कालीन' ऋण बीज आदि के लिए लेना पड़ता है जिसे वह फ़सल तैयार होने के बाद ही उतार देता है। किसान को इस प्रकार के ऋण देने के लिए १८८० में 'फ़ैमिन कमीशन' ने सिफ़ारिश की थी। उस सिफ़ारिश के अनुसार १८८३ में 'दीर्घ-कालीन' ऋण देने के लिए 'लैण्ड इम्प्रूवमेंट लोन्स एक्ट' तथा १८८४ में अल्प-कालीन कर्ज़ देने के लिए 'एग्रीकलचरिस्ट लोन्स एक्ट' स्वीकृत हुए। इनमें स्वल्प-कालीन कर्ज़ को किसान जल्दी उतार देता है, परन्तु दीर्घ-कालीन को उतारने के लिए २० साल का अर्सा रखा गया है। असल में किसान को दीर्घ-कालीन ऋण की ही अधिक आवश्यकता रहती है। इसे 'तकावी' कहते हैं। कभी-कभी किसान कर्ज़ लेकर उसे उस काम में नहीं लगाता था जिस काम के लिए कर्ज़ लिया गया है। यह बात देखकर कई

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राज्य-सरकारों ने रुपया देने के स्थान में सामान देना शुरू किया। जो-कुछ भी हो, इन दोनों प्रकार के सरकारी कर्ज़ों से किसान को काफ़ी राहत मिली, परन्तु ये दोनों कर्ज़े तो किन्हीं ख़ास उद्देश्यों के लिए दिये जाते हैं। किसान को तो और कामों के लिए भी कर्ज़ की आवश्यकता थी। इसके अतिरिक्त इन कर्ज़ों के लिए किसान को पटवारी, कानूनगो आदि की जो खुशामद करनी पड़ती थी, उनको भेंट-पूजा चढ़ानी पड़ती थी—इन सब कारणों से किसान महाजन के साथ फिर भी चिपटा ही रहा और सरकार से कर्ज़ लेने के साथ महाजन से भी कर्ज़ लेता ही रहा।

लेकिन महाजन तो अपनी शर्तों पर ऋण देता था। वह किसान की ज़मीन गिरवी रखा लेता था और कर्ज़ अदा न कर सकने की हालत में ज़मीन ले लेता था। इस प्रथा को रोकने के लिए पंजाब में १९०० में 'पंजाब लैण्ड एलिनेशन एक्ट' बना जिसके अनुसार खेती न करने वाला महाजन ज़मीन नहीं ले सकता था। अन्य प्रान्तों में भी ऐसे ही कानून बनाये गए जिनसे भी किसान को कुछ राहत मिली।

(iv) सहकारिता*—जैसा हमने ऊपर कहा सरकार की तरफ़ से दीर्घ-कालीन तथा स्वल्प-कालीन ऋण देने के जो दो कानून बने थे, वे विशेष उद्देश्यों के लिए ऋण देने के लिए बने थे, इसलिए किसान इनके बावजूद महाजन से ऋण लेता रहा और उसके चंगुल में फँसता रहा। इस अवस्था को देख कर १९०४ में सरकार की तरफ़ से 'को-ऑपरेटिव क्रेडिट सोसाइटीज़ एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार 'सहकारी-समितियों' का काम शुरू हुआ। परन्तु 'सहकारी-समितियों' को रुपये-पैसे की मदद कहाँ से मिले? इस उद्देश्य से १९१२ में 'को-ऑपरेटिव सोसाइटीज़ एक्ट' पास हुआ जिसके आधीन 'केन्द्रीय-सहकारी बैंक' (Central Co-operative Bank) की स्थापना हुई। इस बैंक की शाखाएँ जगह-जगह खोली गईं और उनसे सहकारी-समितियों को आर्थिक-सहायता दी गई। इन केन्द्रीय बैंकों के बाद 'प्रान्तीय सहकारी बैंक' (Provincial Co-operative Banks) खोले गए जिनका काम प्रान्त में 'सहकारिता' में सहायता देना था। १९१५ में मैकलेगन-कमिटी ने 'सहकारिता' पर अपनी रिपोर्ट पेश की, १९१९ में 'सहकारिता' केन्द्र से प्रान्तीय विषय हो गया, और इस बीच 'सहकारी-समितियों' का काफ़ी निर्माण हुआ। १९३७ में जब कांग्रेसी मन्त्री-मंडल आया, उसने इस दिशा में काफ़ी दिलचस्पी ली और 'सहकारी-समितियों' द्वारा किसानों को सहायता देने में बहुत-कुछ किया।

किसान अपनी ज़मीन बंधक के तौर पर रखकर कर्ज़ लेता था। यह सोचा गया कि अगर ऐसे बैंक खोले जाँय जो किसान का कर्ज़ अदा करके थोड़े कर्ज़ पर उसे बैंक के पास बंधक के रूप में रख लें, तो शायद किसान की मुसीबत टल जायगी। यह सोचकर 'भूमि-बंधक-बैंक' (Land Mortgage Banks) खोले

---

* Discuss the role of co-operation in rural reconstruction in India. (1955, 1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गए। १९२० में पंजाब में और १९२९ में मद्रास में इस तरह के बैंकों की स्थापना हुई। परन्तु साहूकार को पूरा रुपया अदा करना भी इन बैंकों की शक्ति से बाहर था। इस उद्देश्य से समझौता-बोर्ड (Debt Conciliation Boards) बनाये गए जिनमें अवैतनिक-सदस्य होते थे और वे साहूकारों से मिलकर पहले कर्ज़ की रकम कम कराते थे, और बाद को 'लैण्ड मौर्टगेज बैंक' से कर्ज़ चुकता कराकर किसान को राहत दिलाते थे। ये सब काम 'सहकारिता' के नाम से होते रहे और हो रहे हैं।

(v) साहूकारा कानून—परन्तु यह सब-कुछ करने के बावजूद भी किसान साहूकार के पंजे से नहीं छूटता, इसलिए कुछ ऐसे कानून भी बनाये गए हैं जिनसे साहूकार के लिए यह धंधा ही आकर्षक न रहे, और वह अपने-आप किसान के खून चूसने के धंधे को छोड़ दे। १८७५ में बम्बई प्रान्त में किसानों ने साहूकारों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और पूना ज़िले के ४५ तथा अहमदनगर के २२ गाँवों के किसानों ने साहूकारों से दस्तावेज छीन कर जला दिये। इस स्थिति पर विचार करने के लिए सरकार ने एक कमीशन नियुक्त किया जिसकी सिफ़ारिशों पर १८७९ में एक 'डेक्कन एग्रीकलचरिस्ट्स रिलीफ़ एक्ट' पास हुआ। इसके अनुसार अदालतों को हुक्म दिया गया कि किसानों के खिलाफ़ जो मुकदमे हों, उनमें पुराने काग़ज़ात तलब किये जायें, और उनके अनुसार देखा जाय कि असल में किसान ने कितना देना है, कितना दिया है, और सूद की नावाजिब दर कम कर दी जाय। इस कानून में यह कहा गया कि किसान की ज़मीन बेची नहीं जा सकेगी अगर उसने साफ़ तौर पर रहन ही नहीं कर दी होगी। अगर धोखे में किसान ने ज़मीन साहूकार को बेच भी दी होगी, तो भी वह उसे खास-खास हालतों में वापिस कर दी जायगी। १८८२ में इस कानून का संशोधन हुआ जिसके अनुसार किसान मियाद से पहले अगर कर्ज़ का रुपया वापस करना चाहता, तो कर सकता था। १८९२ और १९१२ में इन सुधारों की जाँच के लिए जो कमीशन बनाये गए उनका कहना था कि इन सुधारों से कुछ लाभ नहीं हुआ। साहूकारों ने इन सब कानूनों से बचने के लिए नये-नये तरीके निकाल लिये थे। वे देते ६० रुपया थे, लिखवाते १०० रुपया थे। ज़मीन को रहन या बेची न दिखाकर अपने नाम लीज़ पर लिखवा लेते थे। बम्बई प्रान्त में ही इस प्रकार ज़मीनें किसानों से निकल कर साहूकारों के पास नहीं आ रही थीं, अन्य प्रान्तों का भी यही हाल था। ज़मीनों के दाम बढ़ रहे थे इसलिए साहूकार कर्ज़ का रुपया लेने के स्थान में ज़मीन हड़पने में जुटे थे। इस बीमारी को दूर करने के लिए १९०० में पंजाब में, १९०३ में उत्तर-प्रदेश में, १९१६ में मध्य प्रदेश में 'लैण्ड एलिनेशन एक्ट्स' (Land Alienation Acts) पास हुए जिनके अनुसार खेती न करने वालों के पास ज़मीनें रहन तो रखी जा सकती थीं, परन्तु कुछ सालों के बाद उन्हें किसानों को वापस कर देना ज़रूरी था। इसका परिणाम यह हुआ कि साहूकारों ने 'बेनामी' सौदे करने शुरू कर दिये, ज़मीन तो खुद ले लेते थे, परन्तु नाम किसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ऐसे का रहता था जो खेती करने वाला होता था। जितने कानून बने साहूकार ने उनसे बचने के लिए अपने तरीके निकाल लिये और किसान वहीं-का-वहीं रहा।

किसान की बड़ी भारी दिक्कत यह भी थी कि वह हिसाब-किताब रखना नहीं जानता था। इसे दूर करने के लिए 'रॉयल कमीशन ऑफ़ एग्रीकल्चर' ने सिफ़ारिश की कि हर-एक साहूकार को बाधित किया जाय कि वह जिस किसान को कर्ज़ दे, उसका पूरा-पूरा हिसाब रखे, और समय-समय पर किसान को लिख कर दे कि असल कितना है, और सूद कितना है। इसका भी कोई विशेष लाभ न हुआ क्योंकि किसान ने ही अपने हित की सुरक्षा के लिए कोई विशेष दिलचस्पी नहीं दिखाई।

हम पहले ही देख आये हैं कि 'डेक्कन एग्रीकलचरिस्ट्स रिलीफ एक्ट' तथा 'लैण्ड एलिनेशन एक्ट्स' से बचने के लिए साहूकारों ने नये-नये तरीके निकाल लिये थे। इसलिए १९१८ में 'सूदखोरी-कर्ज़-कानून' (Usurious Loans Act) पास हुआ जिसके अनुसार ज़्यादा सूद नहीं लिया जा सकता था, और अदालत साहूकार का पिछला सारा हिसाब तलब कर सकती थी। परन्तु अगर किसान खुद सूद देता चला जाय, तो कोई इलाज नहीं था, इसलिए कई तरह के कानून बनाये गए, साहूकारों का लाइसेंस लेना, सूद की मात्रा का निश्चित करना आदि सब-कुछ हुआ, परन्तु अपने देश का किसान कर्ज़ के बोझ से मुक्त नहीं हुआ।

(vi) ऋण से सर्वथा मुक्ति—किसानों के ऋण की समस्या को हल करने के लिए सरकार की तरफ़ से उसे सहकारिता के द्वारा सहायता देने तथा साहूकार पर प्रतिबन्ध लगाने के प्रयत्न किसान को ऋण-मुक्त नहीं कर सके। यह भी बात ठीक है कि जबतक किसान की स्थिति ठीक नहीं होती, तबतक कृषि-प्रधान इस देश का भाग्य भी ऊपर नहीं उठ सकता। इस विषम-समस्या का एकमात्र हल यही है कि जैसे सरकार ने साहस करके ज़मींदारों को हटा दिया है, वैसे एक बार साहस करके किसानों को सब कर्ज़ों से मुक्त घोषित कर दिया जाय—कोई किसी का लेना-देना नहीं, पिछला सारा कर्ज़ा बेबाक। जैसे ज़मींदारों को बॉंड दिये गए हैं, वैसे साहूकारों के हाथों में बॉंड पकड़ा दिये जाँय और इस झंझट को सदा के लिए समाप्त कर दिया जाय। अगर ऐसा नहीं किया जाता, तो जैसे पहले कानून बनते रहे हैं, और उन कानूनों से बचने के उपाय निकलते रहे हैं, वैसा ही आगे भी होता रहेगा।

(ख) ग्रामीण-जीवन की सामाजिक-समस्याएँ

भारत के ग्रामीण-जीवन की आर्थिक-समस्याओं का हमने कुछ विस्तार से वर्णन किया क्योंकि मुख्य तौर पर उनकी समस्या आर्थिक ही होती है, किन्तु इसका यह मतलब नहीं कि उनकी और कोई समस्या नहीं होती। किसानों की सामाजिक-समस्याओं में दो बड़ी प्रबल हैं—एक है ग्रामों में स्त्री-शिक्षा का अत्यन्त अभाव और दूसरी है बिरादरी का ज़बर्दस्त प्रभाव।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) **ग्रामीण-स्त्री**—गाँव की स्त्री पढ़ी-लिखी नहीं होती। इसका यह मतलब नहीं है कि शहर की अपनी बहिन के मुकाबिले में वह किसी तरह भी नीचे दर्जे की होती है। स्वास्थ्य की दृष्टि से वह शहर की बहिन से बहुत बढ़ी होती है। घर का काम-काज तो वह करती ही है, साथ ही अपने पति के साथ खेत में भी वह उसका हाथ पूरी तरह बँटाती है। वह घर में ही सज-धज कर बैठना नहीं जानती, अपने पति के साथ उसके आर्थिक तथा सामाजिक जीवन में पूरा हिस्सा लेती है। पढ़ने की उसे फ़ुर्सत ही नहीं होती, नवीन-विचारों से वह दूर रहती है, और यही कारण है कि रूढ़ियों, प्रथाओं तथा परंपराओं के साथ वह चिपटी रहती है, बिरादरी का भूत हर समय उसके ऊपर सवार रहता है। किसान को सामाजिक-क्षेत्र में स्वतंत्र विचार न करने देने में उसकी स्त्री का बहुत बड़ा हाथ रहता है।

(ii) **बिरादरी**—गाँव का किसान बिरादरी की रस्सियों में बड़ा कसकर जकड़ा होता है। सरकार की तरफ़ से कोई भी कानून क्यों न बन जाय, जात-बिरादरी का कानून ही उसके लिए असली कानून है। बिरादरी के पास अपनी आज्ञा मनवाने का रास्ता जाति-बहिष्कार का है। जो व्यक्ति बिरादरी से उल्टा चलता है, उसका हुक्का-पानी बन्द कर दिया जाता है। बिरादरी में भी पंच होते हैं। अगर किसी को बिरादरी के किसी फ़ैसले के ख़िलाफ़ अपील करनी हो, तो वह पंचों के सामने अपना मामला रख सकता है। पंचों का फ़ैसला हर-एक को सिर-माथे पर रखना होता है। ग्रामीण-व्यक्ति के सामाजिक-जीवन में बिरादरी और पंचों का बड़ा महत्त्व है।

(ग) ग्रामीण-जीवन की स्वास्थ्य-सम्बन्धी समस्याएँ

स्वास्थ्य के सम्बन्ध में ग्राम-वासियों की समस्याओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है—गन्दगी की समस्या और स्वास्थ्य-सुधार की समस्या। गन्दगी की समस्या में (i) तालाबों की समस्या, (ii) कूड़े-कर्कट के ढेर के लिए खाद के गढ़े बनाना, (iii) गन्दी नालियाँ बनाना, (iv) कूओं की सफ़ाई तथा (v) शौचालय बनाना—यह सब आ जाता है। स्वास्थ्य-सुधार में (i) हवादार मकान बनाना, (ii) पौष्टिक-भोजन का प्रबन्ध, (iii) काम करने के बाद पर्याप्त विश्राम, (iv) उपचारात्मक तथा निरोधात्मक चिकित्सा—यह सब आ जाता है। हम इन सब पर क्रमशः थोड़ा-थोड़ा प्रकाश डालेंगे :—

[गन्दगी का निवारण]

(i) **तालाबों की समस्या**—गाँवों के बाहर एक जोहड़ ज़रूर बना होता है। इसमें भैंसें लोटती हैं, औरतें कपड़े धोती हैं, गाँव का पानी बह कर इसमें आ मिलता है, बालक इसमें तैरते हैं, अनेक स्थानों पर पानी भी इसी जोहड़ का पिया जाता है। गाँवों के मकान क्योंकि मट्टी के बने होते हैं, वह मट्टी इन्हीं जोहड़ों से ली जाती है, और प्रायः मकान बनाने के लिए मट्टी लेने से ही ये तालाब और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जोहड़ बनते हैं। ये बीमारी का घर होते हैं। इन्हीं में मच्छर पलते हैं। ग्राम-सुधार-योजना में इन जोहड़ों को पटवा कर उन पर खेल के मैदान बनाना योजना का अंग होना चाहिए। गाँव के लोगों के लिए पीने के पानी की नल-कूपों से व्यवस्था होनी चाहिए। पंच-वर्षीय-योजना में समाज-कल्याण तथा भारत-सेवक-समाज के कार्यक्रम के अन्तर्गत इस प्रकार का काम कई जगह हुआ है जिसमें आधा काम गाँव के लोगों ने श्रम-दान से और बाकी का आधा व्यय सरकार ने दिया है।

(ii) **कूड़े-कर्कट की खाद**—गाँव के बाहर कूड़ा-कर्कट फेंक देने से गन्दगी फैलती है। इसका इलाज यही है कि खेतों में गढ़े खोद दिये जाँय जिनमें गोबर कूड़ा-कर्कट सब फेंक दिया जाय। इससे कम्पोस्ट खाद बन जाती है जिससे मक्खी-मच्छर भी नहीं होता और सब कूड़ा-कर्कट भी काम आ जाता है। इस शिक्षा का गाँव में जगह-जगह प्रचार होना चाहिए।

(iii) **गन्दी-नालियाँ**—हर-एक गाँव की सड़क एक अच्छी-खासी कीचड़ की नाली होती है। बर्तन माँजने, नहाने और कपड़े धोने का सारा पानी सड़क में बह निकलता है। एक घर का पानी हो तो कोई बात नहीं, परन्तु हर घर का पानी इस प्रकार सड़क में आ पड़ने से रास्ता चलना कठिन हो जाता है। इसका सबसे अच्छा इलाज सोकेज-पिट बनाना है। एक बार पानी सोकने का गढ़ा बना लिया, तो मुद्दतों इस गन्दगी से छुटकारा मिल जाता है, इसके बिना गन्दी नालियों के पानी के सड़ने से गाँव में बीमारी फैलती रहती है।

(iv) **कुएँ**—गाँव के कुएँ भी सारी गन्दगी अपने पेट में समेटते रहते हैं। वहीं पर सब नहाते हैं, कपड़े धोते हैं, उसमें सब तरह की गन्द और पत्ती गिरती रहती है, उसी का सब पानी पीते हैं। कूओं के चारों तरफ़ ऐसा चौंतरा बना देना चाहिए जिससे गन्दा पानी अन्दर लौट कर न जाने पाये। कूएँ में समय-समय पर लाल दवाई डालते रहना चाहिए। इस बात का पूरा प्रयत्न करना चाहिए कि कुएँ का पानी स्वच्छ रहे।

(v) **शौचालय**—गाँवों में लोग खेतों में शौच जाते हैं, बच्चे घरों के सामने सड़क में या आँगन में बैठ जाते हैं। टट्टी पर मक्खी बैठती है और फिर वह खाने पर आ बैठती है—इस प्रकार इन मक्खियों से गाँवों में बीमारियों का ताँता-ता-ताँता बँधा रहता है। खेत में खुले में टट्टी बैठना खेत को भी किसी तरह का फ़ायदा नहीं पहुँचाता। खाद तो पकने पर बनता है, इस प्रकार कच्ची टट्टी तो घर में और खेत में दोनों जगह रोग फैलाती है। गाँव वालों को समझाना चाहिए कि टट्टी फिर कर उस पर मट्टी डाल देना बीमारी की रोक-थाम के लिए आवश्यक है और इससे और किसी का नहीं उन्हीं का फ़ायदा है।

[स्वास्थ्य का सुधार]

(i) **हवादार मकान**—गाँव का मकान किसी तरतीब से नहीं बना होता। न उसमें रोशनदान होता है, न खिड़की। रसोई का धूँआ सारे मकान में भरा रहता है। खुली हवा में रहते हुए भी मकानों के कमरे काल-कोठरियाँ होती हैं,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अन्दर घुस जाओ तो अन्धेरा-ही-अन्धेरा। ग्राम-सुधार योजना में इस प्रकार के आदर्श मकान बनाकर ग्रामवासियों के सम्मुख पेश करने चाहियें, जिन पर व्यय भी ज्यादा न आये, और वे स्वास्थ्य की दृष्टि से भी उपयुक्त हों। ग्रामवासी मकान का मुख्य उद्देश्य 'सुरक्षा'-मात्र समझता है, अच्छा स्वास्थ्य नहीं। इस दृष्टि-कोण को बदलने की आवश्यकता है।

(ii) **पौष्टिक-भोजन**—कोई समय था जब किसान डेढ़ सेर दूध एक साँस में पी जाता था, छाछ के कटोरे में दो छटांक मक्खन की टिकिया गटक जाता था, वही किसान आज चाय का आदी हो गया है, उसके पास दूध रहा भी नहीं है। दिन-रात मेहनत करने वाले को, २,८०० से ३,००० कैलोरी की आवश्यकता है, और इधर किसान से अच्छा भोजन लेने वाले भारतीय को प्रो० धर के अनुसार केवल १८२८ और डा० आयकरायड के कथनानुसार केवल १७५० कैलोरी मिल पाती हैं। भोजन को पुष्टिकारक बनाना होगा।

(iii) **विश्राम**—किसान मेहनत बहुत करता है, उसी मेहनत के अनुसार उसे विश्राम भी करना चाहिए। शरीर को बहुत ज्यादा थका देने से स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। विश्राम करने से कार्य-शक्ति पहले से बढ़ जाती है। थका हुआ व्यक्ति काम करता ही चला जाय तो काम भी कम ही निकलता है। आराम करके काम करने से काम ज्यादा होता है। जो किसान कभी विश्राम नहीं लेते उनकी जहाँ कार्य-शक्ति कम हो जाती है, वहाँ वे शीघ्र ही इस दुनिया से चल भी पड़ते हैं।

(iv) **उपचार तथा रोग का निरोध**—अपने यहां तरीका यह है कि रोग होने पर पहले हर-कोई उसका स्वयं इलाज करने लगता है, हर-कोई अपने को डाक्टर समझता है। गाँव में डाक्टर को तब बुलाते हैं, जब यह निश्चय हो जाय कि अब यह चला। यह ग़लत तरीका है। रोग होते ही उसका उपचार करना—यह बात हमारे ग्राम-निवासी भाइयों को सीखनी पड़ेगी। इस उपचारात्मक-चिकित्सा के साथ-साथ उन्हें यह भी सीखना होगा कि रोग का इलाज करने की अपेक्षा रोग के कारणों को ही उत्पन्न न होने देना सबसे अच्छी चिकित्सा है। हम अपने चारों तरफ़ ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न कर देते हैं, जिनसे मौसमी बुखार, मियादी बुखार, तपेदिक, खांसी-जुकाम—सब धड़ाधड़ फैलें और फिर कर्मों को रोने लगते हैं। गाँव के चारों तरफ़ जोहड़ों में पानी इकट्ठा न हो, टट्टी-पेशाब इधर-उधर कोई न फिरे, मच्छर पैदा न हों, मक्खियाँ पैदा न होने दी जाँय—इन साधनों से रोग की अपने-आप रोक-थाम हो जाती है।

(घ) ग्रामीण-जीवन की शिक्षा-सम्बन्धी समस्याएँ*

भारत का किसान अशिक्षित है, इसी कारण उसकी सब समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। वह अशिक्षित है इसलिए साहूकार उसे कर्ज़ में पुश्त-दर-पुश्त दबाये रखता

---

* **"Lack of education is the main cause of all rural problems in India." Discuss and suggest the pattern of education which you consider suitable for a rural population. (1958)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है, वह अशिक्षित है इसलिए वह खेती के नवीनतम उपायों का प्रयोग नहीं करता, वह अशिक्षित है इसलिए वह जगह-जगह रिश्वत देकर काम चलाना चाहता है, वह अशिक्षित है इसलिए वह प्रथाओं-परंपराओं का दास बना हुआ है, वह अशिक्षित है इसलिए किसी नवीन सुधार को वह आसानी से ग्रहण नहीं करता।

ग्रामीण-जीवन की शिक्षा-संबंधी समस्याओं को पाँच भागों में बाँटा जा सकता है—(i) बेसिक-शिक्षा, (ii) प्रौढ़-शिक्षा तथा सामाजिक-शिक्षा, (iii) ग्राम-मेले, (iv) ग्रामीण-फ़िल्में तथा (v) वाचनालय-पुस्तकालय।

(i) **बेसिक-शिक्षा**—भारत ग्राम-प्रधान देश है। यहाँ शिक्षा किस प्रकार दी जाय यह एक बड़ी भारी समस्या है। अंग्रेज़ों ने तो अपने दफ्तर चलाने थे, इसलिए देश की अवस्था पर ध्यान दिये बग़ैर बाबू पैदा करने की शिक्षा की मशीन खड़ी कर दी। गाँवों के जो बच्चे इस शिक्षा के ढाँचे में पड़े उन्होंने खेती-बाड़ी करना ही छोड़ दिया। ऐसी शिक्षा अपने देश में कारगर नहीं हो सकती। गाँवों में तो ऐसी शिक्षा-प्रणाली की आवश्यकता थी जिससे गाँव के बच्चे पढ़-लिख भी जाँय और अपनी खेती की समस्याओं को भी हल कर सकें। इस बात को महात्मा गांधी ने खूब समझा था और एक नवीन शिक्षा-प्रणाली को जन्म दिया था जिसे बेसिक-शिक्षा कहते हैं। वैसे तो बेसिक शिक्षा-प्रणाली सिर्फ़ गाँवों के लिए नहीं है। यह एक विस्तृत दृष्टि-कोण से ईजाद की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य है कि किसी हस्त-कौशल को माध्यम बनाकर अन्य विषयों को उससे अनुबद्ध करके पढ़ाया जाय। शहर तथा गाँव दोनों के लिए यह उपयोगी है। परन्तु क्योंकि अपने देश में खेती बहुत अधिक होती है इसलिए हस्त-कौशल में खेती को प्रधान स्थान देना स्वाभाविक हो जाता है। ऐसा करने से ग्रामीण बच्चे अपने वंश-परंपरा-गत खेती के धंधे से कट नहीं जाते। वे पढ़ते हैं और साथ-साथ खेती करते हैं। उत्तर-प्रदेश में तो गाँवों के स्कूलों के साथ कृषि के फ़ार्म लगा दिये गए हैं। प्रत्येक स्कूल के साथ एक 'विस्तार-शिक्षक' (Extension teacher) रखा गया है जो विद्यार्थियों से खेती कराता है, इस खेती की उपज से आमदनी भी होती है और स्कूल का पुनः संगठन खेती को दृष्टि में रखकर किया जा रहा है। इस विषय में शिक्षा के प्रकरण में हम पहले बहुत-कुछ लिख आये हैं।

(ii) **प्रौढ़-शिक्षा तथा सामाजिक-शिक्षा**—भारत का किसान अपढ़ है, वह अपना हस्ताक्षर करना भी नहीं जानता। यह बात नहीं है कि उसके पास समय नहीं है। समय उसे काफ़ी मिलता है, परन्तु अंग्रेज़ों के समय देश का संचालन ही इस ढंग से हो रहा था जिसमें किसान के लिए शिक्षा की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। इस समय उसे शिक्षित करने के लिए एक ही तरीका है, और वह है गाँवों में प्रौढ़ व्यक्तियों को साक्षर बनाना। यह आन्दोलन अब अपने देश में चल पड़ा है। परन्तु प्रौढ़-शिक्षा ही काफ़ी नहीं है। साक्षरता के साथ सामाजिक-शिक्षा का भी उतना ही महत्त्व है। आज प्रौढ़-शिक्षा का दृष्टि-कोण बदलता जा रहा है। पहले ग्रामीणों को साक्षर कर देना काफ़ी समझा जाता था, अब यह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझा जाने लगा है कि अक्षराभ्यास तो होना ही चाहिए, परन्तु ग्रामीण व्यक्ति को सामाजिक-समस्याओं का भी ज्ञान होना चाहिए। प्रौढ़-शिक्षा तो व्यक्ति के अक्षराभ्यास सीख लेने पर समाप्त हो जाती है, परन्तु सामाजिक-शिक्षा तो जीवन भर चलती रहती है। हमें किसान का दृष्टि-कोण बदलना है। वह अपने पुराने विचारों की काल-कोठरी से आगे निकलना ही नहीं चाहता। नये विचारों को देख-सुनकर वह नाक-भौं सिकोड़ने लगता है। प्रथा और परंपरा का वह दास है। उसने उन्नति करनी है, तो नई रोशनी के प्रकाश में उसे हर किसी बात को देखना होगा। यह सब काम सामाजिक-शिक्षा करेगी। भारत सरकार ने प्रौढ़ तथा सामाजिक-शिक्षा के लिए अनेक पुस्तिकाएँ तैयार कराई हैं जो शिक्षा मंत्रालय द्वारा प्रकाशित हुई हैं। इनसे गाँव के लोग बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

(iii) **ग्राम-मेले**—गाँवों में मेले लगने की पुरानी प्रथा चली आ रही है। क्योंकि हर-एक गाँव हर चीज़ को पैदा नहीं कर सकता इसलिए कहीं किसी दिन और कहीं किसी दिन पैंठ भरती है। यह आर्थिक दृष्टि-कोण से किया गया है। सांस्कृतिक-दृष्टिकोण से भी गाँवों में मेले लगते हैं। इन मेलों को अधिक सुसंगठित करने की आवश्यकता है। पैंठों के साथ मेलों को जोड़ देने से आर्थिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि-कोणों का सम्मिश्रण हो जायगा और ग्रामवासियों की शिक्षा अपने-आप होने लगेगी। इन मेलों में कबड्डी, कुश्ती, गतका आदि की प्रतियोगिता होनी चाहिए, बच्चों के साम्मुख्य होने चाहिएँ, प्रदर्शनियाँ होनी चाहिएँ। इनसे जहाँ ग्राम के बिखरे हुए जीवन में सामूहिकता की भावना उत्पन्न होगी, वहाँ ग्रामीण भाइयों के मनोरंजन के साथ-साथ उनकी शिक्षा भी होगी। पहले कभी यह सब-कुछ होता था; अब तो चौपाल में बैठ कर हुक्का गुड़गुड़ाने और एक-दूसरे की चग़ली करने के सिवाय कुछ नहीं होता। यह अवस्था बदलनी होगी।

(iv) **ग्रामीण-फ़िल्में**—गाँववालों को लेक्चर सुनाकर इतना-कुछ नहीं बताया जा सकता जितना फ़िल्मों के ज़रिये उन्हें बताया जा सकता है। रोगों के उत्पन्न होने के कारणों, रोगों के रोकने के उपायों आदि को फ़िल्मों में चित्रित करके उन्हें दिखाने से ग्रामीणों को अनेक बातों के संबंध में सहज जानकारी हो जाती है। इन फ़िल्मों के साथ-साथ आजकल तो अनेक गाँवों में रेडियो-सेट भी लगा दिये गए हैं। देहली, लखनऊ, आदि रेडियो-घरों में से देहाती कार्यक्रम चलता है। संगीत, नाटक, प्रहसन, खेती के सम्बन्ध में जानकारी, जिन्सों के भाव—यह सब रेडियो से प्रसारित होता है जिसे ग्राम-वासी बड़े ध्यान से सुनते हैं। इस सब कार्य-क्रम को और अधिक प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

(v) **वाचनालय तथा पुस्तकालय**—अब गाँव के आदमी में दुनिया की जानकारी की इच्छा भी पैदा हो गई है। पिछले दिनों गाँव-गाँव में पुरानी चौपाल की तरह गाँव-घर बनने लगे हैं। इन गाँव-घरों में पंचायत की तरफ़ से समाचार-पत्र मँगवा कर रखे जाने लगे हैं। इससे दुनिया की जानकारी बढ़ती है। इन पत्रों के अतिरिक्त गाँव-घरों में पुस्तकें भी रखी जाती हैं। कथा-कहानी की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ही पुस्तकें अधिक संख्या में यहाँ होती हैं, परन्तु यह आवश्यक है कि चरित्र-निर्माण, स्वास्थ्य-सुधार आदि की पुस्तकें भी इन पुस्तकालयों में रखी जाँय। इनके साथ खेती, बाग़वानी आदि उन विषयों की पुस्तकें भी इन पुस्तकालयों में होनी चाहिएँ जिनकी किसान को अपने प्रतिदिन के जीवन में आवश्यकता पड़ती रहती है।

४. ग्रामीण-समुदाय में विगठन*
(Disintegration of Village Communities)

हम इस अध्याय के प्रारंभ में ग्रामीण-समुदायों की विशेषताओं का वर्णन कर आये हैं। ग्रामों में प्राकृतिक जीवन होता है, वे प्राचीन संस्कृति को धरोहर के रूप में रख कर उसकी सुरक्षा करते हैं, ग्रामों में संयुक्त-परिवार-प्रथा होने के कारण सब लोग भाई-भाई की तरह बरतते हैं, उनमें स्वार्थ नहीं होता, जाति तथा बिरादरी के प्रभाव के कारण प्रथा, परंपरा का सब पालन करते हैं, मर्यादा में रहते हैं, पड़ौसीपन की भावना उनमें सदा जागृत रहती है।

परन्तु आज के युग में ग्रामीण-समुदाय की उक्त भावनाओं में परिवर्तन आता जा रहा है। आज का ग्रामीण-जीवन शुद्ध तथा सादा नहीं रहा, उसमें गन्दगी आती जा रही है, गाँवों में भी फ़ैशन घुसता जा रहा है। कभी ग्राम स्वावलंबी हुआ करते थे, आज गाँवों का रुख शहरों की तरफ़ होता जा रहा है, लोग खेती छोड़ कर शहरों में कल-कारख़ानों में काम करने के लिए दौड़े आ रहे हैं, किसान मज़दूर होता जा रहा है। आज गाँवों में वह सचाई, ईमानदारी नहीं रही, खून-खराबी, चोरी-डकैती, मुकदमेबाज़ी—सब-कुछ गाँवों में होने लगा है। समाज-शास्त्र की परिभाषा में ग्रामीण-समुदाय में इस परिवर्तन को 'विगठन' (Disintegration) का नाम दिया जाता है। ग्रामीण-समुदाय में इस परिवर्तन, इस विगठन का क्या रूप है और क्या कारण है?

(क) शहरी सभ्यता का प्रभाव—ग्रामीण-समुदाय में सब से पहला परिवर्तन यह आ रहा है कि ग्रामों पर शहरी-सभ्यता का रौब छाता जा रहा है, गाँव छोटे-से शहर का रूप धारण करते जा रहे हैं। वही फ़ैशनपरस्ती, वही दिखावा, वही टीप-टाप जो शहरों में दिखाई देती है, गाँवों में झलकने लगी है। गाँवों का गाँवपन मिटता जा रहा है, उनमें शहरीपन आता जा रहा है।

(ख) व्यक्तिवादी प्रभाव—शहरी-सभ्यता का सब से मुख्य प्रभाव व्यक्तिवादी-भावना है। शहरों में लोग पास-पड़ौस के व्यक्ति को भी नहीं जानते, सब अपने में मस्त हैं। गाँव में सामुदायिक-भावना होती थी, एक का कष्ट दूसरा बाँटता था, व्यक्तिवादी-भावना नहीं थी। आज शहर की यह व्यक्तिवादी-भावना गाँवों में भी कदम रखती जा रही है।

---

* **What are the causes that have led or are leading to the disintegration of village community in the country? (1951, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) संयुक्त-परिवार-प्रथा का ह्रास—व्यक्तिवाद का परिणाम यह होना स्वाभाविक है कि मनुष्य अपने छोटे-से परिवार को ही अपना समझे, भाई-भतीजे, चाचा-ताऊ के बोझ को अपने ऊपर न ले। शहरों की तरह आज गाँवों में भी संयुक्त-परिवार टूट कर एकाकी-परिवार बनते चले जा रहे हैं।

(घ) नियन्त्रणों का अभाव—कोई समय था जब जाति से बहिष्कार किये जाने के डर से गाँव का प्रत्येक व्यक्ति प्रथा तथा रूढ़ि का पालन करता था, जैसा-कैसा भी धर्म था उसकी मर्यादा में रहता था। आज जाति तथा बिरादरी के नियंत्रण को गाँव वाले मानने के लिए तैयार नहीं, शहरी-सभ्यता तथा व्यक्ति-वाद के प्रभाव के कारण वे किसी के दवाव में नहीं आना चाहते।

(ङ) पंचायत के नियंत्रण का अभाव—ग्रामों की कभी धारणा थी 'पंच परमेश्वर' की। पंचों ने जो निर्णय दिया वह प्रत्येक के लिए शिरोधार्य था। आज जो हवा चल पड़ी है उसमें पंचों की बात को भी लोग मानने को तैयार नहीं, पंच भी उस प्रकार के न्यायशील नहीं रहे।

(च) शिक्षा तथा जागरूकता—ग्रामीण-समुदाय में जो परिवर्तन दीखता है, वह बुरा हो हो ऐसी बात नहीं। भले के लिए भी परिवर्तन हो रहा है। आज का ग्रामीण-युवक पहले की अपेक्षा अधिक शिक्षित है, पहले की अपेक्षा अपने अधिकारों के लिए अधिक जागरूक है।

(छ) स्त्रियों में जागृति—ऊपर जिन परिवर्तनों की हम ने चर्चा की उनमें से सब से ज़बर्दस्त परिवर्तन ग्राम की स्त्रियों में दिखाई देने लगा है। चुनाव के समय अपने गाँवों में स्त्रियाँ पुरुषों की अपेक्षा अधिक मतदान देने लगी हैं। स्त्रियों में अपने अधिकारों की चर्चा है। पर्दा पहले से बहुत कम हो गया है।

इन कारणों से हमारे गाँव पहले के-से गाँव नहीं रहे, वे बदलते जा रहे हैं, वे न गाँव रहते हैं, न शहर बनते हैं, वे विगठित होते जा रहे हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय ग्रामीण-जीवन में आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य तथा शिक्षा-संबंधी समस्याओं का क्या स्थान है, उन्हें इस नव-युग में किस प्रकार हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है और किस प्रकार ग्रामीण-समुदाय धीरे-धीरे परिवर्तित होता जा रहा है।

प्रश्न

१. हमारे देश में ग्रामीण समुदायों के विगठन के क्या कारण हैं? सामुदायिक योजनाओं ने ग्रामीण-समुदाय के पुनःप्रतिष्ठान में कैसे सहायता पहुँचायी है? (१९५१, १९५९)

२. भारत में ग्रामीण-जीवन के मुख्य लक्षणों की विवेचना कीजिये। (१९५६, १९६१)

३. भारतवर्ष में ग्रामीण-पुनर्निर्माण में 'सहकारिता' के स्थान की विवेचना कीजिये। (१९५५, १९५८)

४. "भारत में सब ग्रामीण-समस्याओं का मुख्य कारण शिक्षा का अभाव है।"—इस कथन की विवेचना करते हुए ग्रामवासियों के लिए उपयुक्त शिक्षा की रूप-रेखा का निर्देश दीजिये। (१९५८)

५. हमारे गाँवों की सब से गंभीर समस्याओं का संक्षिप्त विश्लेषण कीजिये। क्या ग्रामीण-पुनर्निर्माण की प्रचलित योजनाएँ इन समस्याओं का सप्रभाविक समाधान कर सकेंगी? (राजस्थान, १९५८)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१६

भारत में ग्राम का महत्व तथा उसका संगठन
(IMPORTANCE OF THE VILLAGE IN INDIA AND ITS ORGANISATION)

१. भारत में गाँवों का महत्त्व

(क) सामाजिक दृष्टि से गाँवों का महत्व—भारतवर्ष ग्राम-प्रधान देश है। १९६१ में* यहाँ २,६८९ शहर थे, ५,६४,२५८ गाँव। गाँवों और शहरों की आबादी का पारस्परिक अनुपात इस देश में निम्न प्रकार रहा है।

सन्	सारी आबादी के अनुपात में	
	गाँवों की आबादी	शहरों की आबादी
१९२१	८८.६ प्रतिशत	११.४ प्रतिशत
१९३१	८७.९ ,,	१२.१ ,,
१९४१	८६.१ ,,	१३.९ ,,
१९५१	८२.७ ,,	१७.३ ,,
१९६१	८२.० ,,	१८.० ,,

हमारे देश में ४३.८६ करोड़ की आबादी में से ७.८८ करोड़, अर्थात् १८ प्रतिशत लोग शहरों में रहते हैं, बाकी ३५.९८ करोड़, अर्थात् ८२ प्रतिशत व्यक्ति गाँवों में रहते हैं। जिस देश में पाँच हिस्सों में से लगभग चार हिस्सा आबादी गाँवों में रहती हो उसमें सामाजिक दृष्टि से गाँव का महत्त्व अपने-आप बढ़ जाता है। इंग्लैंड में पाँच हिस्सों में से एक हिस्सा आबादी गाँवों में और चार

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं:

1. Suggest positive measures that may be adopted in overcoming the evils that are found in villages. (1951)

2. Discuss the socio-economic significance of village communities in India. (1952)

3. Is Zamindari abolition a complete solution of the land problem in U.P.? What other measures would you suggest? (1955)

* INDIA—1963, भारत सरकार द्वारा प्रकाशित पृ० २०।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हिस्सा शहरों में रहती है, जो भारत से ठीक उल्टा है। वहाँ के समाज में गाँवों का वह महत्व नहीं जो इस देश में है।

(ख) सांस्कृतिक दृष्टि से गाँवों का महत्व—भारतीय संस्कृति के जो आधारभूत तत्व हैं वे शहरों में तो पाश्चात्य-सभ्यता के प्रभाव से नष्ट होते जा रहे हैं, परन्तु ग्रामों में अब भी उनकी जड़ टिकी हुई है। उदाहरणार्थ, गाँवों में संयुक्त-परिवार प्रथा अभी बनी हुई है, भ्रातृत्व की, बिरादरी की, सामुदायिकता की, अतिथि-सत्कार की भावना शहरों से उखड़ चुकी है, परन्तु गाँवों में अभी मौजूद है। देश की परंपराओं, यहाँ के सामाजिक-मूल्यों की झलक शहर में नहीं दिखाई देती, गाँवों में दिखाई देती है। अगर भारत के गाँव लुप्त हो जायें, सिर्फ़ शहर रह जायें तो भारत की संस्कृति का खोज सकना ही कठिन हो जाय।

(ग) आर्थिक दृष्टि से गाँवों का महत्व—भारत ग्राम-प्रधान देश है, ग्राम का मुख्य व्यवसाय कृषि होता है, इसलिए भारत कृषि-प्रधान देश है। देश में ७० प्रतिशत व्यक्ति भूमि के उत्पादन पर अपना निर्वाह करते हैं। देश की आधी आर्थिक-आय कृषि से आती है। हमारे निर्यात की वस्तुओं के लिए कच्चा माल कृषि से उत्पन्न होता है। मूँगफली, चाय तथा लाख के उत्पादन में भारत का स्थान सब देशों से प्रथम है, चावल, जूट, शक्कर, अलसी, तिल तथा अरंडी के उत्पादन में भारत का स्थान दूसरा है। १९६१ में फ़ैक्टरियों में प्रतिदिन काम करने वाले श्रमिकों की संख्या ३९.१२ लाख थी। ये सब श्रमिक गाँवों से आते हैं। कच्चे सामान तथा श्रमिकों का गाँवों से आना—इन दोनों बातों से गाँवों का आर्थिक महत्व बहुत अधिक है।

(घ) शहरों के जीवन की दृष्टि से गाँवों का महत्व—उक्त दृष्टियों के अलावा गाँवों का एक और भी महत्व है। गाँव तथा शहर के कुटुम्बों का तुलनात्मक अध्ययन करने वालों का कहना है कि अगर एक ही स्तर का जीवन बितानेवाले गाँव तथा शहर के कुटुम्बों का अध्ययन किया जाय, तो पता चलेगा कि शहर में बसे हुए ऐसे कुटुम्ब जिनका जीवन का स्तर अपने गाँव वाले कुटुम्ब का-सा हो, कुछ पीढ़ियों के बाद नष्ट हो जाते हैं, परन्तु उसी स्तर का जीवन बिताने वाले गाँव में बसे हुए कुटुम्ब पीढ़ी-दर-पीढ़ी बने रहते हैं। इसका मतलब यह है कि अगर गाँवों से शहरों में लगातार आवागमन न होता रहे, तो शहरों में बसने वाले कुटुम्ब ही नष्ट हो जायें। शहर के लिए गाँव एक प्रकार की जीवन की वह धारा है जिसके प्रवाह के ऊपर ही शहर का जीवन अवलम्बित है। इस दृष्टि से गाँवों का महत्व और अधिक बढ़ जाता है। गाँवों में मानव-शक्ति ही नहीं प्राण-शक्ति भी है।*

---

* **Discuss the socio-economic significance of village communities in India.** **(1952)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. भारत में गाँव की रचना और संगठन

(क) **गाँव वालों का मोटा खाका**—भारत की औद्योगिक रचना में गाँव उसकी इकाई है। गाँव को मौज़ा भी कहते हैं। इंग्लैण्ड में भारत के गाँव की तरह वहाँ 'पैरिश' होता है। गाँव की सीमाएँ बँधी हुई हैं, और एक शताब्दी से दूसरी शताब्दी निकल जाती है, इन सीमाओं में हेर-फेर नहीं होता। साधारणतः एक गाँव में १०० से १५० एकड़ भूमि होती है, परन्तु कहीं-कहीं ज़्यादा भी पायी जाती है, १,०००–१,५०० एकड़ तक एक-एक मौज़े में ज़मीन हो सकती है।

भारत के गाँवों में साधारण-से मट्टी के झोंपड़े दिखाई देते हैं, फूँस की उनके ऊपर छत होती है, कहीं-कहीं मट्टी की छत भी डाल दी जाती है। किसी घर में एक, किसी में दो कमरे बने होते हैं—पीछे की तरफ़ एक सेहन जिसमें गाय, भैंस, बैल बँधे रहते हैं। कोने में एक चूल्हा जिसके धूएँ से सारा घर भर जाता है, और पास बड़ी सफ़ाई से मंजे पीतल के बर्तन तरतीब से लगे रहते हैं। आँगन गोबर से लिपा होता है—साफ़ सुथरा, परन्तु गली में या तो नालियों के पानी से कीचड़ भरा होता है या कूड़ा-कर्कट घर से बुहार कर बाहर फेंक दिया जाता है। गाँव में टट्टियाँ नहीं होतीं, प्रायः सभी खेतों में जाते हैं, या बालक कोठों की छतों पर टट्टी फिर आते हैं। गन्दगी और कीचड़ से मच्छरों और मक्खियों के मारे नाक में दम रहता है। जो भी रोग न आ घेरे—वही थोड़ा है।

खेती के लिए बरसात पर ही निर्भर रहना पड़ता है, नहरों का इतना प्रबन्ध नहीं, इसलिए, किसान के छः महीने बेकारी में गुज़रते हैं। जिनके पास खेती के लिए ज़मीन नहीं, जो खेतों में मज़दूरी करके गुज़र करते हैं, उनके तो आठ महीने बेकारी में गुज़र जाते हैं। ऐसे सब लोग गलियों में ताश लिए खेला करते हैं, या दोपहर को चद्दर तान कर सोया करते हैं। सर्दियों में चौपाल में बैठकर सब लोग गप्पें उड़ाते हैं, आग जल रही है, चारों तरफ़ घेरा लगाकर सब बैठे हैं, हुक्का सामने धरा है—इस प्रकार की ज़िन्दगी हमारे ग्रामीण भाई सदियों से बिताते चले आ रहे हैं।

ग्राम-वासी अधिकांश शाकाहारी होते हैं। जिस जगह जो अन्न होता है वहाँ उसी को खाते हैं। देहरादून में चावल और लुधियाना में गेहूँ। जिस मौसम में जो अन्न उपजता है उस मौसम में उसी अन्न का इस्तेमाल करते हैं—बाजरे की मौसम में बाजरा, और चने की मौसम में चना। पहले तो गाँव का रहने वाला हर-एक खूब दूध पीता था, घी खाता था, परन्तु अब तो गाँव वालों को भी चाय का चस्का लग गया है, वे कटोरे भर-भर कर चाय पीते हैं, दूध-घी का गाँवों में से भी नामोनिशान मिटता जा रहा है। नतीजा यह है कि हमारे गाँव वालों के जो भरे हुए चेहरे और उभरी हुई छाती दिखाई दिया करती थी, वह लुप्तप्राय होती जा रही है। सुकड़े हुए चेहरे और चमकती हुई नोकीली हड्डियाँ शहरों में ही नहीं, गाँवों में भी चारों तरफ़ दिखाई देने लगी हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ख) गाँव का संगठन—हमारे यहाँ गाँवों का जो संगठन रहा है उसे एक छोटी-सी रिपब्लिक कहा जा सकता है। अंग्रेज़ी-शासन-काल में इस संगठन को कायम नहीं रहने दिया गया, परन्तु उस समय के जो रजवाड़े थे, उनमें इस संगठन का शुद्ध रूप दिखाई देता था। रजवाड़े की तरफ़ से जो सूचनाएँ आती थीं वे गाँव के पंच या पटेल के नाम भेजी जाती थीं। पंच का अभिप्राय है गाँव के चुने हुए पाँच या न्यूनाधिक व्यक्ति। गुजरात आदि में गाँव का मुखिया पटेल कहलाता है। पटेल का काम भी गाँव के संबंध में ज़रूरी कामकाज करना है। गाँव के सामूहिक कार्य पंच या पटेल की आज्ञानुसार चलते हैं। गाँव के नाई, धोबी, बढ़ई, लोहार—ये सब किसी एक का काम नहीं करते, सारे गाँव का काम करते हैं। शादी-ब्याह का मौका हो, तो इन सब से काम लिया जाता है। इनको साल की दोनों फ़सलों में दो बार सब लोगों की तरफ़ से अनाज दिया जाता है। कुछ लोग गाँव में ऐसे भी होते हैं, जिनसे हर प्रकार का काम लिया जाता है। चमार लकड़ी भी ला देंगे, मरे जानवर को भी उठा ले जायेंगे, सब-कुछ करेंगे। गाँव का संगठन कुछ ऐसे ढंग का बना हुआ है कि वह अपने में संपूर्ण है, उसे बाहर से किसी प्रकार की सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ती।

पंच और पटेल गाँव के झगड़ों को गाँव में ही निपटा देने की कोशिश करते हैं। उनकी कोशिश यह रहती है कि जहाँ तक हो सके मामला अदालत में न जाय। गाँव का संगठन इतना ज़बर्दस्त है कि अगर सरकार भी किसी प्रथा या गाँववालों के किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक अधिकार में हस्तक्षेप करना चाहे, तो वह पंचों को अपने साथ में लिये बग़ैर आगे नहीं बढ़ सकती। जब पंचों की आवाज़ उठती है, तो वह सारे गाँव की आवाज़ होती है—अन्दर वाले भी पंचों की बात को नहीं मोड़ सकते, बाहर वालों को भी पंचों की आवाज़ को सुनना पड़ता है। गाँवों में पुलिस का कोई प्रबन्ध नहीं होता इसलिए पंच ही अपराधी के पकड़े जाने पर ऐसी सज़ा देते हैं कि किसी में दुबारा अपराध करने का साहस नहीं होता। जहाँ-जहाँ गाँवों का पुराना संगठन चल रहा है, वहाँ-वहाँ यही हाल है, परन्तु अब यह संगठन टूटता जा रहा है।

(ग) गाँवों का संगठन टूट चुका है—गाँवों का अपने देश में जो संगठन था वह अंग्रेज़ों के समय बहुत-कुछ टूट गया। पंचायतों और पंचों का ज़ोर कम हो गया। इस ज़माने में गाँवों में एक चौकीदार रखा जाने लगा जिसका काम गाँव की हर शिकायत को थाने में पहुँचाना हो गया। पहले गाँव का गाँव से ही शासन होता था, अब गाँव का गाँव के बाहर के थाने से शासन होने लगा, पंचों की ताकत घट गई और गाँवों में भी एक नई किस्म का वर्ग उत्पन्न हो गया जो थोड़ा-बहुत पढ़ लिख गया था, खेती-बाड़ी छोड़कर बाबूगिरी करने लगा था और अपनी हर पुरानी बात को नफ़रत की नज़र से देखने लगा था। ये लोग न गाँववाले रहे थे, न शहरी—इन लोगों का एक कदम गाँव में गड़ा था, परन्तु दूसरा शहर की तरफ़ बढ़ रहा था। इन्होंने गाँवों के संगठन को ढीला कर दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) **गाँवों की भूमि-व्यवस्था**—गाँव का सबसे बड़ा पेशा काश्तकारी है। किसान खेत जोतता-बोता है, उसकी पैदावार से अपना पेट भरता है। परन्तु उसी के पेट भरने से तो काम नहीं चलता। देश की सरकार भी तो चलनी है। किसान अपने लिए कमाता है और सरकार के लिए भी कमाता है। भारत में भूमि-व्यवस्था-संबंधी-नीति का आधार यह समझा जाता रहा है कि देश का राजा या देश की सरकार ही भूमि की स्वामी है। उसकी दी हुई भूमि पर किसान हल चलाता है, इसलिए राजा या सरकार किसान से जो भूमि-कर लेना चाहे ले सकती है, किसान को भूमि से हटाना चाहे, हटा सकती है। भूमि-कर दिये बिना भी किसान भूमि का स्वामी हो सकता है—यह स्थिति अपने यहाँ नहीं मानी जाती। गाँव का संगठन गाँववालों की दृष्टि में खेती की पैदावार तथा सरकार की दृष्टि में मालगुजारी के लिए है, और इन दोनों का संबंध 'भूमि-व्यवस्था' से है इसलिए इस सम्बन्ध में हम यहाँ एक पृथक् शीर्षक देकर उस पर विचार करेंगे।

३. गाँवों की भूमि-व्यवस्था

भूमि के संबंध में गाँव वालों की अनेक समस्याएँ हैं। किसान ज़मीन का मालिक माना जायगा या नहीं, अगर मालिक नहीं माना जायगा तो उसे बेदखल किया जा सकेगा या नहीं, अगर बेदखल किया जा सकेगा तो कितनी मालगुज़ारी न देने पर बेदखल किया जा सकेगा, मालगुज़ारी का मापदंड क्या होगा, उपजाऊ-अनुपजाऊ भूमि पर प्रति एकड़ एक-समान मालगुज़ारी देनी होगी या भूमि की उपजाऊ-शक्ति के आधार पर मालगुज़ारी लगेगी, मालगुज़ारी एक बार निश्चित कर दी जायगी या समय-समय पर बदलती रहेगी—ये सब समस्याएँ हैं जो सदियों से किसानों को परेशान करती रही हैं। इन समस्याओं की आत्मा को समझने के लिए हमें इस विषय के पिछले इतिहास पर सरसरी नज़र डालनी होगी।

इन समस्याओं को हम दो भागों में बाँट सकते हैं। एक भाग तो 'भूमि मालगुज़ारी' (Land Revenue) से संबंध रखता है और बहुत-से प्रश्न इस 'भूमि-मालगुज़ारी' से जुड़े हुए हैं। 'मालगुज़ारी' (Revenue) तथा 'लगान' (Rent) में भेद है। जहाँ ज़मींदारी-प्रथा रही है वहाँ सरकार ज़मींदार से 'मालगुज़ारी' लेती रही है, परन्तु 'ज़मींदार' किसानों से सरकार को मालगुज़ारी देने के लिए 'लगान' लेता रहा है। ज़मींदार 'लगान' बहुत बड़ी राशि में वसूल करता रहा है, उसका कुछ हिस्सा 'मालगुज़ारी' में देता रहा है। भूमि-व्यवस्था में सबसे बड़ी समस्या यही रही है कि सरकार किसान से सीधे मालगुज़ारी ले या ज़मींदार को बीच में डाल कर उसे वसूल करे। मालगुज़ारी के अतिरिक्त भूमि-व्यवस्था की दूसरी समस्या 'भू-स्वामित्व' (Land tenure) की रही है। गाँव की भूमि का कौन मालिक है? क्या उसकी मालिक सरकार है, क्या ज़मींदार है, या किसान है? भूमि-संबधी प्रश्नों को हम 'मालगुज़ारी' (Revenue) तथा 'स्वामित्व' (Tenancy)—इन दो में बाँट सकते हैं। दोनों का अपना-अपना इतिहास है इसलिए हम इन दोनों पर क्रमशः विचार करेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. अंग्रेज़ों से पहले गाँवों की 'मालगुज़ारी' व्यवस्था

[ज़मींदारी प्रथा का विकास]

मुग़ल-बादशाहों से पहले, मनु के समय से लेकर अनेक हिन्दू राजाओं तक, यहाँ की प्रथा यह थी कि उपज का छठा हिस्सा राज-कोष में चला जाता था। शेरशाह और अकबर के समय यह सुधार किया गया कि उपज का नक़द दाम या अनाज दोनों में से कुछ मालगुज़ारी या भूमि-कर के रूप में दिया जा सकता था। कितना दिया जाय—यह भूमि की उपजाऊ-शक्ति को देखकर भिन्न-भिन्न तय किया जाता था। इसके बाद, डा० राधाकमल मुकर्जी के कथनानुसार, मुग़ल-राज्य में सामूहिक मालगुज़ारी की प्रथा चालू की गई। इसका मतलब यह था कि प्रत्येक प्रान्त से शाही खजाने के लिए मालगुज़ारी की मात्रा पैदावार का आधा हिस्सा निश्चित कर दी गई और यह आधा हिस्सा उन प्रान्तों से वसूल कर लिया जाता जिन पर यह मात्रा लागू की गई थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों और प्रान्तों में भी भिन्न-भिन्न रकबों से मालगुज़ारी वसूल करने की ज़िम्मेदारी किन्हीं खास-खास व्यक्तियों पर रख दी गई। ये व्यक्ति ही ज़मींदार कहलाते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि किसानों पर ज़ोर-जब्र होने लगा, मालगुज़ारी की बढ़ी हुई माँग को पूरा न कर सकने के कारण स्त्रियों तथा बच्चों तक को गुलामों के तौर पर किसानों को बेचना पड़ा।

५. अंग्रेज़ों के समय गाँवों की मालगुज़ारी की व्यवस्था

(Land Revenue System Under British)

मालगुज़ारी वसूल करने की अपने देश में तीन व्यवस्थाएँ रही हैं—ज़मींदारी-प्रथा, महालवारी-प्रथा तथा रय्यतवारी प्रथा। ये तीनों क्या हैं?

(क) **ज़मींदारी-प्रथा**—प्राचीन-काल में तो ऐसा नहीं था, परन्तु मुग़ल-काल से भारत में एक व्यवस्था चल पड़ी थी जिसके अनुसार सरकार किसान से सीधी मालगुज़ारी न लेकर एक बीच के व्यक्ति से मालगुज़ारी वसूल कर लेती थी, हर-एक से अलग-अलग लेने के झगड़े में नहीं पड़ती थी, और वह बीचवाला हर-एक किसान से अलग-अलग मालगुज़ारी वसूल करता था। ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी जब भारत में आयी, तो उसको भी मालगुज़ारी वसूल करने का यह तरीका आसान प्रतीत हुआ। इस प्रकार ज़मींदारी-प्रथा मुग़ल-काल में चली और अंग्रेज़ों के शासन-काल में पक्की हो गई। इन ज़मींदारों के साथ एक रकम निश्चित कर दी जाती थी, और उस रकम को अदा करना ज़मींदार का काम होता था। इस रकम में हेर-फेर नहीं हो सकता था। इस अवस्था को 'स्थायी-बन्दोबस्त' (Permanent Settlement) कहा जाता था। कुछ अंग्रेज़ों को इस व्यवस्था में दोष दिखाई दिया। वे देखते थे कि किसान नई-नई ज़मीन जोतने लगा है, उपज बढ़ रही है, परन्तु मालगुज़ारी की ज़मींदार के साथ मात्रा निश्चित होने के कारण वे उसे बढ़ा नहीं सकते थे। वारन हेस्टिंग्स ने 'स्थायी' की जगह 'अस्थायी-बन्दोबस्त'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Temporary Settlement) लाना चाहा, परन्तु वह चल न सका। अन्त में लार्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल में 'स्थायी-बन्दोबस्त' जारी कर दिया। उसने ज़मीनें नीलाम करनी शुरू कर दीं, जो ज़्यादा-से-ज़्यादा मालगुज़ारी देने की बोली देता था, उसके नाम ज़मीन छोड़ दी जाती थी। कॉर्नवालिस खुद इंग्लैण्ड का एक ज़मींदार था और इस प्रथा को रुपया वसूल करने का सहज तरीका समझता था। कॉर्नवालिस की इस कार्यवाही का परिणाम यह हुआ कि ज़मींदार जो अभी तक सरकार की देख-रेख में एक तरह के मालगुज़ारी वसूल करने के एजेंट थे, उन्हें अपने-अपने क्षेत्र में मालगुज़ारी वसूल करने के पूरे-पूरे अधिकार दे दिये गये। इस सबका नतीजा यह भी हुआ कि ज़मींदारों का एक ऐसा वर्ग उत्पन्न होगया जिसका काम किसानों से अधिक-से-अधिक पैसा वसूल करना था। वे खुद कोई काम-काज नहीं करते थे, आराम से शहरों में कोठियाँ बनाकर चैन की वंशी बजाते थे, और अपने मुनीमों के ज़रिये मालगुज़ारी वसूल कर एक तरह का राज करते थे। नीलामी में उन्होंने जितनी मालगुज़ारी देने की बोली दी होती थी, उतनी माल-गुज़ारी सरकार को देने के बाद जितना भी वे किसान से वसूल कर सकते थे अपने पास रख सकते थे, इसलिए 'स्थायी-बन्दोबस्त' में किसान से वे ज़्यादा-से-ज़्यादा वसूल करने लगे।

अभी हमने कहा कि कॉर्नवालिस ने बंगाल में 'स्थायी-बन्दोबस्त' जारी किया था। इस व्यवस्था से जिस प्रकार नियमपूर्वक मालगुज़ारी आ रही थी, उसे देखते हुए ईस्ट-इण्डिया-कम्पनी के डायरेक्टरों ने बनारस, उत्तरी-मद्रास तथा दक्षिणी-मद्रास में भी इस प्रथा को जारी करने का प्रयत्न किया। जब दक्षिणी-मद्रास में 'स्थायी-बन्दोबस्त' को जारी करने की कोशिश की जा रही थी, तब कम्पनी को कठिनाई का सामना करना पड़ा। 'स्थायी-बन्दोबस्त' के लिए यह ज़रूरी था कि कुछ इलाकों को इकट्ठा करके उनकी बोली ली जाय, और जो सबसे ज़्यादा बोली दे उसे उस इलाके का ज़मींदार बना दिया जाय। अभी ये किसान सीधा सरकार को मालगुज़ारी दे रहे थे। इस प्रकार सरकार तथा किसान के मालगुज़ारी के सीधे संबंध को 'रय्यतवारी'-प्रथा कहते हैं। सरकार और किसान के बीच इस प्रकार एक तीसरे, अर्थात् ज़मींदार का आ जाना किसानों को भला कैसे रुच सकता था। इसका मतलब तो यह होता कि किसान जो अब तक सीधा सरकार के प्रति ज़िम्मेदार था, अब ज़मींदार के प्रति उत्तरदायी हो जाता, और ज़मींदार उस पर मनमाना मालगुज़ारी का बोझ लाद देता। दक्षिणी-मद्रास के किसानों ने सरकार के इस प्रयत्न को सफल नहीं होने दिया और वहाँ 'स्थायी-बन्दोबस्त' न चल सका।

'स्थायी-बन्दोबस्त' और 'अस्थायी-बन्दोबस्त' का जिस प्रकार ऐतिहासिक विकास हुआ है उससे ऐसा प्रतीत होता है जैसे 'स्थायी-बन्दोबस्त' का ज़मींदारी-प्रथा से संबंध हो, और 'अस्थायी-बन्दोबस्त' का रय्यतवारी-प्रथा के साथ, परन्तु ऐसा-कुछ नहीं है। 'ज़मींदारी-प्रथा' का अर्थ है सरकार तथा किसान के बीच

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालगुज़ारी के लिए ज़मींदार का माध्यम के रूप में होना; 'रय्यतवारी-प्रथा' का अर्थ है सरकार तथा रय्यत अर्थात् किसान का मालगुज़ारी के सम्बन्ध में सीधा संबंध होना। 'ज़मींदारी-प्रथा' में भी मालगुज़ारी की रकम पक्के तौर से निश्चित की जा सकती है, 'रय्यतवारी-प्रथा' में भी; 'ज़मींदारी-प्रथा' में भी मालगुज़ारी की रकम समय-समय पर बदली जा सकती है, 'रय्यतवारी-प्रथा' में भी। परन्तु क्योंकि शुरू-शुरू में कॉर्नवालिस के समय 'स्थायी-बन्दोबस्त' करते हुए ज़मींदारों के साथ स्थायी तौर से मालगुज़ारी निश्चित करने का प्रश्न उठा था इसलिए 'ज़मींदारी-प्रथा' और 'स्थायी-बन्दोबस्त' का सम्बन्ध जुड़ गया है, वास्तव में इन दोनों का कोई ऐसा संबंध नहीं है जो अमिट हो। 'स्थायी' और 'अस्थायी'-बन्दोबस्त ज़मींदारी तथा रय्यतवारी दोनों प्रकार की भूमि-व्यवस्थाओं में हो सकता है। ज़मींदारी तथा रय्यतवारी दोनों प्रथाओं में अगर सरकार स्थायी तौर पर मालगुज़ारी की रकम निश्चित कर देती है, तो वह स्थायी-बन्दोबस्त कहलाता है; अगर स्थायी तौर पर निश्चित नहीं करती, समय-समय पर बदलती रहती है, तो वह अस्थायी-बन्दोबस्त कहलाता है।

क्योंकि 'स्थायी-बन्दोबस्त' से कम्पनी-सरकार को नुक्सान होता था, किसान की पैदावार ज़्यादा होती थी और ज़मींदार के साथ पहले से निश्चित रकम बँधी हुई थी, इसलिए १८२१ में कम्पनी के डायरेक्टरों ने यह घोषित कर दिया कि उत्तरी-भारत में वे 'स्थायी-बन्दोबस्त' को नहीं जारी करेंगे। इस संबंध में काफ़ी देर तक विवाद चलता रहा, परन्तु अन्त में १८८३ में भारत-सचिव ने यह घोषणा कर दी कि अब से 'स्थायी-बन्दोबस्त' की नीति को आगे से जारी नहीं रखा जा सकेगा।

(ख) **महालवारी-प्रथा**—ज़मींदारी-प्रथा में बंगाल में तो यह मान लिया गया था कि कुछ गाँव एक ज़मींदार की मिल्कियत हैं, उनकी मालगुज़ारी वह ज़मींदार देता है, परन्तु आगरा-अवध तथा पंजाब में यह बात नहीं मानी गई। इनमें यह सिद्धान्त माना गया कि गाँवों के कुछ समूह जिन्हें 'महाल' कहा जाता है किसी व्यक्ति-विशेष की मिल्कियत नहीं हैं, वे सब गाँववालों की साझी सम्पत्ति हैं, इसलिए किसी एक ज़मींदार से उस 'महाल' की मालगुज़ारी के लिए कोई फ़ैसला नहीं किया जा सकता। इन साझीदारों में से किसी एक को सरकार इस बात का ज़िम्मेवार ठहरा देती थी कि वह सारे 'महाल' की—अर्थात् उन सब गाँवों की जो उस 'महाल' के अन्दर आ जाते हैं—मालगुज़ारी इकट्ठी करके सरकार के कोष में जमा कर दे। इस प्रथा के क्रियात्मक रूप जगह-जगह पर भिन्न-भिन्न हैं। आगरा-बन्दोबस्त के अनुसार यद्यपि मालगुजारी अदा करने की ज़िम्मेदारी सारे-के-सारे गाँव की साझी थी, तो भी गाँव का कोई हिस्सा या गाँव का कोई किसान इस बात की माँग कर सकता था कि उसकी ज़िम्मेदारी सबसे अलग कर दी जाय। वह अपना ज़िम्मा ले सकता है, सबका ज़िम्मा नहीं ले सकता। साझी ज़िम्मेदारी का यह मतलब था कि अगर कोई किसान मालगुज़ारी नहीं देगा, तो वह गाँव के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरे लोगों से भी वसूल की जा सकती है। जैसे ज़मींदारी प्रथा में 'स्थायी' तथा 'अस्थायी'-बन्दोवस्त हो सकता है, वैसे 'महालवारी' में भी हो सकता है—अर्थात् 'स्थायी-बन्दोबस्त' में मालगुजारी की रकम एक वार अन्तिम तौर पर निश्चित की जा सकती है, और 'अस्थायी-बन्दोबस्त' में उस रकम को २०–३० साल के वाद घटाया या बढ़ाया भी जा सकता है। परन्तु जैसा हम ऊपर कह आये हैं, १८८३ के वाद से भारत में 'स्थायी-बन्दोवस्त' की नीति को छोड़ दिया गया क्योंकि वार-वार मालगुजारी की रकम को वदलने से सरकार उसे वढ़ाकर अपना कोठा पूरा कर सकती थी।

(ग) रय्यतवारी-प्रथा—इस प्रथा में किसान का संबंध सीधा सरकार के साथ होता है। ज़मींदारी-प्रथा में ज़मींदार किसान से मालगुज़ारी वसूल करता है, महालवारी-प्रथा में भी सरकार सब किसानों से अलग-अलग मालगुज़ारी नहीं वसूल करती है, माल-गुज़ार से वसूल करती है, परन्तु रय्यतवारी-प्रथा में तो सरकार का और किसान अर्थात् रय्यत का सीधा संबंध होता है। शुरू-शुरू में कैप्टन रीड तथा थौमस मनरो ने १७९२ में इस प्रथा को मद्रास के वारामहल ज़िले में चालू किया और उसके बाद धीरे-धीरे वम्बई में भी यही प्रथा जारी की गई। असल में जिन गाँवों में रय्यतवारी-प्रथा जारी की गई उनमें भी पहले 'महालवारी'-प्रथा चल रही थी। 'महालवारी'-प्रथा गाँव की सामुदायिक-भावना का एक जीता-जागता दृष्टान्त है। गाँव का सव- छ सबका साझा है। एक दृष्टि से अपने यहाँ साम्यवाद का यह एक क्रियात्मक नमूना था। अंग्रेज़ों ने या तो ज़मींदारी-प्रथा को प्रोत्साहन दिया, या रय्यतवारी-प्रथा को। ज़मींदारी-प्रथा को इसलिए क्योंकि इससे मालगुज़ारी वसूल करने की उनकी दिक्कत बचती थी, और रय्यतवारी-प्रथा को इसलिए क्योंकि इससे बीच का मुनाफ़ा भी उनकी जेब में आता था। अंग्रेज़ यही कहते रहे कि 'महालवारी-प्रथा' भारत की प्रथा नहीं है, यहाँ 'रय्यतवारी-प्रथा' ही चलती रही है। बेडन-पावल का कहना है कि भारत के गाँव 'महालवारी' सिद्धान्त पर ही बने हुए थे। इस बात का श्री राधाकमल मुकर्जी ने समर्थन किया है। उनका कहना है कि यहाँ की प्रचलित 'महालवारी'-प्रथा इस बात को सिद्ध करती है कि भूमि पर ग्रामवासियों के सामूहिक स्वामित्व की प्रथा यहाँ मौजूद थी। खैर, 'रय्यतवारी-प्रथा' का यह अभिप्राय है कि किसान को सीधी सरकार से भूमि प्राप्त होती है, और बीच में दूसरा कोई दखल देने वाला नहीं है। उसका ज़मीन पर कब्ज़ा होता है, वह ज़मीन विरासत में आगे-आगे जाती है, उसे बेचा जा सकता है, हाँ, अगर मालगुज़ारी न दी जाय, तो उस ज़मीन को सरकार ज़ब्त कर सकती है, बेदखल करा सकती है। आशा तो यह करनी चाहिए थी कि जहाँ इस प्रकार किसान का भूमि पर स्वामित्व होगा वहाँ किसान खुशहाल होगा, परन्तु क्योंकि अंग्रेज़ी सरकार 'स्थायी-बन्दोबस्त' को छोड़ चुकी थी, और बार-बार नए सिरे से लगान लगाती रहती थी और हर बार पिछली बार से कुछ बढ़ा देती थी इसलिए 'रय्यतवारी-प्रथा' से भी किसान खुशहाल न हुआ।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. अंग्रेज़ों के समय 'भू-स्वामित्व' की व्यवस्था (Land Tenure System Under British)

हम लिख आये हैं कि भूमि-व्यवस्था के मुख्य अंग दो हैं—'मालगुज़ारी की व्यवस्था' (Land revenue system) तथा 'भूस्वामित्व की व्यवस्था' (Land tenure system)। हमने देखा कि अंग्रेज़ों ने इस देश में ज़मींदारी-प्रथा को प्रधानता दी। उनका ऐसा करना स्वाभाविक भी था। पश्चिम से वे आये थे, वहाँ 'सामन्त-पद्धति' (Feudalism) को उन्होंने देखा था। 'पश्चिम' के ये 'सामन्त' राजा तथा किसान के बीच माध्यम का काम करते थे। भारत के प्राचीन इतिहास में तो इन सामन्तों का कहीं नाम नहीं आता, राजा सीधा प्रजा से कर वसूल करता था, परन्तु यहाँ भी बीच के काल में जब केन्द्रीय राज-शक्ति कमज़ोर पड़ गई तब इस प्रकार के सामन्तों से काम लिया जाने लगा। इन बीच के लोगों की आवश्यकता ही तब पड़ती है, जब सरकार सीधा प्रजा से संपर्क नहीं बना सकती। मुग़लों के समय से इस प्रकार के ज़मींदार चले आ रहे थे, अंग्रेज़ों ने भी, जो इस प्रकार की पद्धति से अपने देश में पहले से परिचित थे, जब यहाँ इस प्रथा को चलते देखा, तो उसे झट-से अपना लिया और उसी प्रथा को देश में प्रोत्साहन दिया। इससे उन्हें मालगुज़ारी वसूल करने में आसानी प्रतीत हुई और ज़मींदार को भी किसान से मनमाना लगान वसूल करने की छूट होने के कारण इसमें बहुत लाभ प्रतीत हुआ। परन्तु इससे किसान पर क्या गुज़री?

अगर तो ज़मींदार ज़मीन को खुद जोतता-बोता या अपने मज़दूरों से जुतवाता-बुवाता और सरकार को मालगुज़ारी देता, तब तो कोई समस्या नहीं थी। तब तो सरकार ज़मींदार से मालगुज़ारी लेती, और ज़मींदार या तो खुद हल चलाता, या मज़दूर रखकर खेती करता। वे मज़दूर काम करते और मज़दूरी लेकर अलग होते और किसी प्रकार की समस्या न खड़ी होती। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। ज़मींदार ने मज़दूर रखने के स्थान में किसान को ज़मीन खेती के लिए दे दी। इस किसान ने खुद लग कर, अपने बीबी-बच्चों को लगाकर, मौके-बे-मौके अपने दूर के सगे-सम्बन्धियों को बुला कर, ज़रूरत पड़ती तो मज़दूरों को मज़दूरी देकर, दिन-रात एक करके ज़मीन को हरा-भरा किया। अब प्रश्न यह खड़ा हुआ कि जिस किसान ने खून-पसीना एक करके सूखे में हरियावल खड़ी की उसका उस ज़मीन पर स्वामित्व है या नहीं? क्या ज़मींदार अपनी इच्छा से जब चाहे उसे ज़मीन पर से हटा सकता है या किसान का भी उस ज़मीन पर कोई अधिकार है?

स्वाभाविक तो यही प्रतीत होता है कि उसका अधिकार होना चाहिए, परन्तु स्थिति कुछ विचित्र थी। स्थिति यह थी कि अंग्रेज़ों ने ज़मींदारों की एक श्रेणी बना दी थी और वे स्वयं काम करने के स्थान में किसानों को लगान पर ज़मीन देकर उनसे काम कराते थे। इन किसानों में से भी कई स्वयं काम नहीं करते थे,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन्होंने भी आगे ज़मीन लगान पर देने का सिलसिला चला रखा था। परिणाम यह था कि ज़मींदार और किसान के बीच भी दूसरे हकदार थे, और ज़मीन को उपजाऊ बनाने तथा कृषि को सुधारने के बजाय हर-एक दूसरे को लूट लेना चाहता था। इस चहुँमुखी लूट का अन्तिम-किसान पर बहुत बुरा असर पड़ता था, उस बेचारे के पास तो कुछ रहता ही न था। उसका जब चाहे कर बढ़ा दिया जाता था, जब चाहे उसे भूमि से बेदखल कर दिया जाता था। इस सारी स्थिति को सुधारने के लिए समय-समय पर कानून बनते रहे। बंगाल में १८५९ में 'बंगाल रेंट-एक्ट' बना जिसे श्री आर० सी० दत्त ने बंगाल के किसानों के लिए राहत का एक्ट कहा। हम पहले ही कह आये हैं कि बंगाल में 'स्थायी-बन्दोबस्त' था और ज़मींदारों के साथ एक बार मालगुज़ारी की राशि निश्चित हो चुकी थी जिसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता था। ये ज़मींदार किसानों को मनमानी तौर पर लूटने लगे थे। जब चाहते उनका लगान बढ़ा देते, न देने पर जब चाहे उन्हें ज़मीन से निकाल देते। इस १८५९ के कानून के अनुसार किसानों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया गया। जिन किसानों के पास १७९३ से ज़मीनें थीं और इस बीच उनके लगान नहीं बढ़े थे उनके लिए निश्चित हुआ कि अब आगे भी उनके लगान कभी नहीं बढ़ेंगे; जिनके पास पिछले २० साल से ज़मीनें थीं और इस बीस साल में उनके लगान नहीं बढ़े थे, उनके लिए कहा गया कि यही समझा जायगा कि इनके पास १७९३ से ये ज़मीन हैं और उनके लगान भी नहीं बढ़ सकेंगे; जिनके पास पिछले १२ साल से ज़मीन थीं उनको मौरूसी अधिकार दे दिया गया और यह निश्चय किया गया कि उनका लगान बिना सरकारी आज्ञा के नहीं बढ़ाया जा सकेगा। इस श्रेणी को बंगाल के ज़मींदारों ने बहुत तंग करना शुरू किया। हरचंद वे कोशिश करने लगे कि कोई किसान १२ साल तक लगातार एक ज़मीन पर काबिज़ न रह सके। 'बंगाल-रेंट-एक्ट' की देखा-देखी यू० पी०, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, बम्बई तथा मद्रास में भी इसी प्रकार के कानून स्वीकृत किये गए जिनमें किसान को ज़मीनों पर मौरूसी हक देने का प्रयत्न किया गया, उसे जहाँ तक हो सकता था वहाँ तक ज़्यादा-से-ज़्यादा 'भू-स्वामित्व' दिया गया, परन्तु किसानों की अधिक संख्या इन कानूनों के क्षेत्र से बाहर ही रही, कानून ही ऐसे बनते थे कि उनकी परिभाषा के अन्दर आने वाले किसानों की संख्या बहुत परिमित रहती थी।

जब पहले-पहल १९३५ के 'गवर्नमेंट ऑफ इण्डिया एक्ट' के अनुसार १९३७ में कांग्रेस ने चुनाव में भाग लेकर अपना मंत्रि-मण्डल बनाया, तब किसानों की स्थिति सुधारने के संबंध में अनेक कानून बनाये गये। इन कानूनों का उद्देश्य था—(क) लगान बढ़ाने पर रोक लगाई जाय, (ख) बेदखली पर रोक लगाई जाय, (ग) किसानों को मौरूसी हक दिये जाँय ताकि उनका भूमि पर स्वामित्व हो जाय, यह स्वामित्व पुश्तैनी हो, किसान जब चाहे इस अधिकार को दूसरे को दे सके, (घ) बकाया लगान पर राहत दी जाय और बैलों आदि की कुर्की पर रोक लगाई जाय, (ङ) अगर ज़मींदार को मालगुज़ारी में सरकार की तरफ़ से राहत

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मिले तो किसान को भी लगान में राहत मिले, (च) अगर किसान ज़मीन को उपजाऊ बनाने या उसके विकास में कुछ खर्च करे तो उसे उसका विकास का मुआविज़ा दिया जाय।

इन उद्देश्यों को सामने रखकर कांग्रेस सरकारों ने १९३८ में बंगाल में 'बंगाल-टैनेंसी-अमेंडमेंड-एक्ट', १९३९ में यू० पी० में 'यू० पी०-टैनेंसी-अमेंडमेंट-एक्ट', १९३९ में सी० पी० में 'सी० पी० टैनेंसी-अमेंडमेंट-एक्ट' पास किये और इसी प्रकार मद्रास तथा बम्बई में भी इसी प्रकार के कानून पास किये गए जिनसे किसानों को भू-स्वामित्व के अधिकार देने के साथ-साथ अन्य प्रकार की सुविधाएँ भी दी गईं। १९३९ में उत्तर-प्रदेश में जो सुधार हुए वे निम्न थे :—

(क) ज़मींदार 'सीर' की ज़मीन नहीं बढ़ा सकता था। 'सीर'-ज़मीन उसको कहते हैं जो ज़मींदार अपने लिए रखता है। इस ज़मीन पर वह मज़दूर रख कर काम कराता है। क्योंकि ज़मींदारों को यह डर था कि काश्तकार जिस ज़मीन पर हल चलायेगा वह किसी-न-किसी समय काश्तकार की हो सकती है, इसलिए ज़मींदार 'सीर' बढ़ाते रहते थे। इस कानून से ज़मींदार के लिए 'सीर' की मात्रा निश्चित कर दी गई जिससे अधिक वह 'सीर' नहीं बढ़ा सकता था।

(ख) कुछ 'सीर'-ज़मीनें ज़मींदारों की न रहीं और उन पर जो काश्तकार हल चलाते थे वे उनके मौरूसी-काश्तकार बना दिये गए।

(ग) यह निश्चय किया गया कि पाँच साल के अन्दर-अन्दर भूमि का लगान घटाकर १८९५ और १९०६ में जो लगान था वह कर दिया जायगा।

(घ) उसके बाद २० साल तक लगान में कोई तब्दीली नहीं होगी, होगी भी तो किन्हीं खास अवस्थाओं में ही हो सकेगी।

(ङ) बकाया लगान पर सूद की दर घटाकर ६¼ प्रतिशत कर दी गई।

(च) बेदख़ली के नियम कड़े कर दिए गए ताकि आसानी से बेदख़ली न हो सके।

(छ) किसान को खेत में बाग़ लगाने, मकान बनाने के अधिकार भी दिये गए।

७. ज़मींदारी-उन्मूलन-कानून तथा भूमि-सुधार अधिनियम*
(Zamindari Abolition and Land Reforms Act)

(क) ज़मींदारी-उन्मूलन कानून का रूप—किसानों की दशा सुधारने के जो प्रयत्न हुए उनके मुख्य उद्देश्य तीन थे—'भू-स्वामित्व' (Fixity of tenure), 'न्याय-संगत लगान' (Fair rents) तथा 'तबादले की स्वतंत्रता'

---

* **Is Zamindari abolition a complete solution of the land problem in U. P.? What other measures would you suggest? (1955)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Free transfer)। किसान ये तीन बातें चाहता था। इनमें सबसे बड़ी समस्या 'भू-स्वामित्व' की थी। जब तक ज़मींदारी-प्रथा बनी हुई थी, तब तक इस समस्या का हल होना कठिन था, इसलिए १ जुलाई १९५२ को उत्तर-प्रदेश में से ज़मींदारी-प्रथा का ही उन्मूलन कर दिया गया। 'प्लैनिंग-कमीशन' ने प्रथम पंच-वर्षीय योजना में इस बात पर ज़ोर दिया था कि किसानों की दशा सुधारने के लिए ज़मींदारी-प्रथा को हटाना होगा। परिणाम-स्वरूप प्रथम-योजनाकाल में सब प्रान्तों में इस प्रथा को कानूनन हटा दिया गया। उत्तर-प्रदेश के कुछ ज़मींदारों ने प्रथम भारतीय-विधान के अन्तर्गत इस धारा के आधार पर कि किसी के निजी अधिकार पर कोई कानून वार नहीं कर सकेगा, सुप्रीम-कोर्ट में ज़मींदारी-उन्मूलन-कानून पर आपत्ति की थी, इसलिए कुछ देर तक इस कानून को स्थगित रखना पड़ा, परन्तु इस बीच १९५२ में ही विधान में ऐसा परिवर्तन कर दिया गया जिससे यह आपत्ति जाती रही। यह नया कानून प्रायः सभी प्रान्तों में लग चुका है। इस कानून द्वारा छोटे-बड़े २० लाख ७० हज़ार ज़मींदारों का उन्मूलन हो गया। उत्तर-प्रदेश के ज़मींदारी-उन्मूलन-कानून की मुख्य बातें निम्न हैं:

अभी तक ज़मींदार के नीचे दो तरह के किसान थे—मौरूसी तथा शिकमी। मौरूसी काश्तकार तो वह था जिसका कई साल तक जोतने के कारण भूमि पर स्वामित्व मान लिया गया था, शिकमी काश्तकार वह था जिसे दो-एक साल के लिए ज़मीन जोतने के लिए दे दी जाती थी, फिर वापस ले ली जाती थी। ज़मींदार भी शिकमी-काश्तकार रख सकता था, मौरूसी-काश्तकार भी शिकमी-काश्तकार रख सकता था। इसके अलावा ज़मींदार के पास कुछ और ज़मीन होती थी जिसे अगर वह छोटा ज़मींदार था तो उस पर खुद हल चलाता था इसलिए वह ज़मीन 'खुद-काश्त' कहलाती थी, अगर वह बड़ा ज़मींदार था तो नौकर रख कर खेती करता था, यह उसकी 'सीर' की ज़मीन कहलाती थी। इस प्रकार ज़मीन चार तरह की हुई—मौरूसी, शिकमी, खुदकाश्त और सीर। ज़मींदारी-उन्मूलन-कानून के अनुसार ज़मींदार को तो सरकार ने शुद्ध आय (Net assets) का ८ गुणा मुआविज़ा देकर अलग कर दिया। अब ये चार तरह के किसान रह गए। इन किसानों में जिन के पास सीर की ज़मीन थी, वह तो उनकी ही हो गई। अगर बड़े ज़मींदार भी थे और उनकी सीर की ज़मीन थी, तो वह उनकी ही रही, वह उनसे नहीं छीनी गई। कई छोटे ज़मींदार थे, वे कहलाते तो ज़मींदार थे, परन्तु थे काश्तकार ही, स्वयं जोतते-बोते थे। यह खुदकाश्त की ज़मीन भी उनकी ही रही। अब रही मौरूसी और शिकमी ज़मीन। मौरूसी काश्तकार अबतक भूमि का मालिक नहीं था, जबतक वह लगान देता रहता तबतक उसे कोई बेदखल नहीं कर सकता था। परन्तु ज़मींदारी-उन्मूलन-कानून के अनुसार यह निश्चय किया गया कि जो मौरूसी-किसान लगान का १० गुणा सरकार को दे देगा वह उस ज़मीन का पूरा मालिक बन जायगा, वह 'भूमिधर' कहलायेगा। जबतक वह 'भूमिधर' नहीं बनता तबतक वह ज़मींदार की जगह सरकार का मौरूसी काश्तकार रहेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शिकमी-काश्तकारों की स्थिति इससे भी नहीं सुधरी। १९५४ में 'ज़मींदारी उन्मूलन-कानून' में इन शिकमी-काश्तकारों की दशा सुधारने के लिए एक कानून पास किया गया और यह सुधार ३० अक्तूबर १९५४ से लागू हो गया। इस सुधार के अनुसार शिकमी काश्तकारों को सीर के अधिकार दे दिये गए। मौरूसी-काश्तकारों को १० गुणा मुआविज़ा देकर 'भूमिधर' के अधिकार मिले थे, इन शिकमी-काश्तकारों को भी इसी प्रकार के अधिकार देने की व्यवस्था की गई है। प्रदेश भर में इन सब 'शिकमी काश्तकारों' के ४४,३२,००० खाते थे जिनका कुल रकबा २२ लाख एकड़ था। १९५४ से पूर्व ये शिकमी अपने खातेदार को लगान देते थे। अब इन शिकमियों को अधिकार दिये गए कि पाँच वर्ष तक वे अपनी भूमि पर काबिज़ रहें और उसके बाद मालगुज़ारी का १५ गुणा जमा करके 'भूमि-धर' के अधिकार प्राप्त करना चाहें तो प्राप्त कर लें। इस प्रकार वे भी अपनी भूमि के स्वामी हो गये और सीधे सरकार को मालगुज़ारी अदा करने लगे। जिस प्रकार सरकार ने ज़मींदारों को हटाने के लिए मुआविज़ा दिया उसी प्रकार खातेदारों को हटाने के लिए और शिकमियों को 'भूमिधर' बनाने के लिए सरकार उन्हें भी मालगुज़ारी के १० से २० गुने तक का मुआविज़ा दे रही है। अनुमान है कि उत्तर-प्रदेश सरकार को ज़मींदारों को १३७ करोड़ और खातेदारों को १५ करोड़ रुपए का भुगतान करना पड़ा। ज़मींदारी तथा खातेदारी का खात्मा होने पर उत्तर-प्रदेश सरकार को १,०२८ लाख रुपए की पहले की अपेक्षा अधिक आय हो रही है, क्योंकि ज़मींदार का मुनाफ़ा सरकार को मिलने लगा। इससे किसान को भी लाभ हुआ क्योंकि मौरूसी तथा शिकमी काश्तकार के 'भूमि-धर' बन जाने पर उसे पहले की अपेक्षा लगान आधा देना पड़ रहा है।

(ख) ज़मींदारी-उन्मूलन कानून की विशेषताएँ—हमने देखा कि इस कानून का रूप क्या है। अब देखना है कि इस कानून की विशेषताएँ क्या हैं? वे निम्न हैं :

(i) ज़मींदारों से सरकार ने जो ज़मीन ले ली है उसका उन्हें मुआविज़ा दिया गया है,

(ii) ज़मींदारों की खुदकाश्त भूमि उनके पास रहने दी गई है,

(iii) जिस ज़मीन पर उनका घर, कूआँ, बाग़-बगीचा था वह भी उनसे नहीं ली गई,

(iv) सरकार तथा काश्तकार का प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर दिया गया है,

(v) गाँव की साझी भूमि—बंजर, वन, चरागाह पर राज्य का अधिकार हो गया है।

(ग) ज़मींदारी-उन्मूलन कानून की समालोचना—कुछ लोगों का कहना तो यह है कि यह कानून किसानों के लिए मैग्नाकार्टा है। इससे वे ज़मीन के मालिक हो जायेंगे, पहले की अपेक्षा दुगुने उत्साह से काम करेंगे, उनकी नीलामियाँ बन्द

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जायेंगी, वे सुख की साँस लेंगे। कुछ लोगों का कहना इससे उल्टा है। उनका कहना है कि इससे किसानों का तो कोई भला नहीं होगा, वे ज़मींदार की जगह सरकार के चंगुल में फँस जायेंगे, ज़मींदार तो कुछ रियायत कर भी देता था, सरकार के कारिन्दे—अमीन, पटवारी और तहसीलदार—तो उसे नोंच-नोंच कर खा जायेंगे, किसानों का भला न होने के साथ ज़मींदार उजड़ जायेंगे। यह बात ठीक नहीं है क्योंकि जहाँ ज़मींदारों से ज़मीन छीनी गई है वहाँ उन्हें पर्याप्त मुआविज़ा दिया गया है। इस मुआविज़े से ज़मींदारों का पुनर्वास होगा, वे निठल्ले बैठे रहने और दूसरों की कमाई पर पलने की जगह कोई काम-धंधा करेंगे। अनुमान लगाया गया है कि ज़मींदारों को मुआविज़े के तौर पर १ अरब ३७ करोड़ रुपया बाँटा गया है। इस रुपये से ज़मींदार वणिज-व्यापार करके जहाँ अपने निठल्लेपन को दूर करेंगे वहाँ देश में भी व्यापार आदि की प्रगति बढ़ेगी।

(घ) क्या ज़मींदारी-उन्मूलन किसान की समस्या का पूर्ण हल है ?—इस प्रश्न पर विचार करते हुए देखना होगा कि ज़मींदारी-उन्मूलन कानून का मुख्य तौर पर कितने ज़मींदारों पर प्रभाव पड़ा। अगर इसका प्रभाव थोड़े ज़मींदारों पर ही पड़ा तो भूमि-समस्या का पूर्ण हल नहीं हुआ। जाँच करने पर पता चला कि ५ हज़ार या अधिक मालगुज़ारी देनेवाले ज़मींदारों की संख्या ८०० के लगभग थी। इस कानून का विशेष प्रभाव तो इन्हीं ८०० पर पड़ा। बाकी ७८.५ प्रतिशत ज़मींदार २५० रुपये से कम मालगुज़ारी देते थे, जो कहने को ज़मींदार थे परन्तु वास्तव में किसान ही थे। इनकी भी भूमि छिन गई—यह कुछ ज्यादती हुई।

इसके अतिरिक्त भूमि-संबंधी अन्य भी समस्याएँ हैं। उदाहरणार्थ, ज़मींदारी-उन्मूलन-समिति के अनुसार किसान भूमि से तभी लाभ उठा सकता है जब उसके पास १० एकड़ ज़मीन हो। इस समिति के अनुसार उत्तर-प्रदेश में ९४ प्रतिशत किसानों के पास १० एकड़ ज़मीन नहीं है। उनके पास जितनी ज़मीन है उसे 'लाभप्रद जोत' (Economic holding) नहीं कहा जा सकता। भूमि-संबंधी समस्या का हल करने के लिए ज़मींदारी-उन्मूलन ही पर्याप्त नहीं है, 'जोत का पुनर्वितरण (Redistribution of holdings) भी आवश्यक है। वह इस कानून द्वारा नहीं किया गया।

ज़मीन का ठीक-ठीक बँटवारा हो जिससे किसान के पास उतनी ज़मीन आ जाये जिससे उसके परिवार का पालन हो सके—यह ठीक है, परन्तु गाँवों में ऐसे भी किसान हैं जिन्हें भूमिहीन-श्रमिक कहा जा सकता है। १९११ में इनकी संख्या ७५ लाख थी, १९३१ में ३३० लाख हो गई। इन लोगों को ३६५ दिन में सिर्फ़ २०० दिन काम मिलता है। शेष दिन क्या करें ये ? इसके लिए गाँवों में कुटीर-उद्योगों की व्यवस्था होनी आवश्यक है तभी सब प्रकार के किसानों की समस्याओं का समाधान होगा।

(ङ) सुझाव—किसानों की समस्याओं का समाधान करने के लिए ज़मींदारी-उन्मूलन के अतिरिक्त निम्न उपायों का भी प्रयोग करना उचित है :

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारण के साथ-साथ निम्नतम सीमा भी निर्धारित कर दी जाय। अगर किसी के पास ३० एकड़ से ज़्यादा भूमि न रहने दी जाय तो यह भी व्यवस्था हो कि किसी किसान के पास १० एकड़ से कम भूमि भी न हो। अगर किसी के पास १० एकड़ से कम भूमि हो तो उसकी कमी पूरी कर दी जाय।

(ii) बिखरे हुए खेतों की चकबन्दी की व्यवस्था हो। 'जोतों की चकबन्दी' (Consolidation of holdings) का कार्य उत्तर-प्रदेश में १९५३ से हो रहा है।

(iii) सहकारी खेती (Co-operative farming) को प्रोत्साहन दिया जाय। इसकी चर्चा हम पिछले अध्याय में कर आये हैं।

(iv) भूमिहीन-श्रमिकों के लिए ग्रामों में गृहोद्योगों की व्यवस्था हो और उन्हें कम-से-कम वेतन कितना दिया जाय—यह भी तय कर दिया जाय।

इस प्रकार हमने देखा कि ग्राम का संगठन किस प्रकार बदलता-बदलता आज कहाँ आकर खड़ा हो गया है।

प्रश्न

१. भारत के गांवों में पायी जानेवाली बुराइयों को दूर करने के लिये निश्चित उपाय सुझाइये। (१९५१)

२. भारत में ग्रामीण समुदायों के सामाजिक तथा आर्थिक महत्व की विवेचना कीजिये। (१९५२)

३. क्या जमींदारी-उन्मूलन उत्तर-प्रदेश की भूमि-व्यवस्था का पूरा समाधान है ? आप इसके लिये कौन-से अन्य उपाय सुझायेंगे ? (१९५५)

४. उत्तर-प्रदेश जमींदारी उन्मूलन कानून ने भूमिधरों को ठोस लाभ तो नहीं पहुँचाया किन्तु इससे लाखों जमींदारों और उनके आश्रितों के लिये अनावश्यक कठिनाइयां बढ़ गई हैं। क्या आप इससे सहमत हैं ? आप इसके लिये क्या अन्य उपाय सुझायेंगे ? (१९५६)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१७

ग्रामों का पुनर्निर्माण
(RURAL RECONSTRUCTION)

१. ग्रामीण-पुनर्निर्माण का महत्व

पिछले अध्याय में हम देख आये हैं कि भारत की रचना में ग्रामों का महत्व क्या है। इस देश में ४३.८६ करोड़ में से ३५.९८ करोड़ तो गाँवों में ही रहते हैं। जिस देश में ८२ प्रतिशत जनता का निवास गाँवों में हो वह देश गाँवों का देश ही कहा जा सकता है।

गाँवों के इस देश की हालत क्या है? १५वें अध्याय में हम लिख आये हैं

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Discuss the importance of rural reconstruction and planning in India. (1951)

2. How far can the Gaon Panchayat Raj Act help in rehabilitation of village communities? (1951)

3. Discuss the importance of village Panchayats as a means of social reform in India. How far can the Gaon Panchayat Raj Act help in improving village life? (1953)

4. How are Community Projects to improve rural life in India? What role are people expected to play in the fulfilment of these projects? (1954)

5. Discuss the role of "Village Panchayats" in rural reconstruction. (1956)

6. What do you understand by 'Community Projects'? Discuss their objects. (1956)

7. How far have the community projects helped in rehabilitation of village communities? (1959)

8. State briefly the influence of Community Projects upon village life. Illustrate your answer with examples. (1960)

9. Give the main characteristics of the Community Development Programme of our country. (1961)

10. What are the objectives of our Community Development Programmes? How are they sought to be achieved? (1962)

11. What steps are being taken for the reconstruction of rural India? (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि भारतीय ग्रामीण जीवन विविध प्रकार की समस्याओं से घिरा हुआ है। ग्रामवासी की आर्थिक-समस्याएँ हैं, सामाजिक-समस्याएँ हैं, स्वास्थ्य-संबंधी समस्याएँ हैं, शिक्षा-संबंधी समस्याएँ हैं। आर्थिक-समस्याएँ क्या हैं? ग्रामवासी का मुख्य व्यवसाय कृषि है, परन्तु कृषि वह ठीक तरह से कर नहीं सकता। कीट-पतंग, पशु उसकी खेती को उजाड़ देते हैं, सिंचाई की उसके पास व्यवस्था नहीं है, उसके पास भूमि भी इतनी नहीं है कि अपने परिवार का पेट पाल सके. जो खेत हैं वे छितरे-छितरे हैं, उसे खाद भी नहीं मिलता, उसके पास पूँजी नहीं, वह ऋण के बोझ से दबा रहता है। सामाजिक-समस्याएँ क्या हैं? ग्रामवासी प्रथाओं, रूढ़ियों, परंपराओं का दास है, बिरादरी उसे हर समय जकड़े रहती है, वह स्वतंत्रता से न कुछ सोच सकता है, न कर सकता है। स्वास्थ्य-संबंधी समस्याएँ क्या हैं? ग्राम चारों तरफ़ से गन्दगी से घिरा रहता है, जगह-जगह कूड़े के ढेर लगे रहते हैं, गलियों में कीचड़, कीचड़ में मक्खी-मच्छर; टाइफ़ाइड, मलेरिया का वह शिकार बना रहता है। शिक्षा-संबंधी समस्याएँ क्या हैं? ग्रामवासी के पास खेतों में इतना काम होता है कि वह बच्चों को पढ़ने-लिखने के लिए भेज ही नहीं सकता, अगर बच्चे उसका खेत में हाथ न बंटायें तो उसका खेती का धंधा चल नहीं सकता, जो बच्चे पढ़-लिख जाते हैं वे खेती को हाथ नहीं लगाते। यह हालत है हमारे गाँवों की।

अगर इस सारी परिस्थिति को बदलना हो तो इनमें से एक-एक समस्या को लेकर उसका हल करना होगा। ग्राम-वासियों की आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए कृषि की तरफ़ विशेष ध्यान देना होगा। कृषि के विकास के लिए उत्तम खाद उत्पन्न करने के कारखाने बनाना, नहरें खोदना, कीट-नाशक द्रव तैयार करना, ऋण के बोझ से किसान को मुक्त करना—यह सब-कुछ करना होगा। ग्राम-वासियों की सामाजिक-समस्याओं को हल करने के लिए कुप्रथाओं और कुरीतियों की दासता से उन्हें मुक्त करना होगा। उसके लिए कुछ नये कानून बनाने होंगे। दहेज़, जात-बिरादरी के बंधन से कानून द्वारा उसे छुड़ाना होगा। ग्राम-वासियों की स्वास्थ्य-संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए ग्रामों में सड़कें बनानी होंगी, बिजली-पानी की व्यवस्था करनी होगी, टाइफ़ाइड, मलेरिया के उन्मूलन की योजनाएँ बनानी होंगी। ग्राम-वासियों की शिक्षा-संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए प्रौढ़-शिक्षा का प्रबन्ध करना होगा, ग्रामों में वाचनालय तथा पुस्तकालय खोलने होंगे।

यही सब-कुछ करना ग्रामीण-पुनर्निर्माण है। जब तक गाँवों का नक्शा नहीं बदलता, तब तक भारत का नक्शा नहीं बदल सकता क्योंकि भारत अगर कुछ है तो गाँवों का ही देश है।

परन्तु ग्रामों का नक्शा घर बैठे-बैठे नहीं बदल सकता। अपने देश में ५६ लाख से अधिक गाँव हैं। इतने गाँवों का पुनर्निर्माण बिना योजना के नहीं हो सकता। यही कारण है कि ग्रामीण-पुनर्निर्माण के लिए भारी पैमाने पर 'नियोजन'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Planning) चल रहा है। इस नियोजन की रूप-रेखा पर विस्तार से इसी अध्याय में आगे लिखेंगे।*

२. ग्रामीण-पुनर्निर्माण के ग़ैर-सरकारी तथा सरकारी प्रयत्न

(क) ग्रामीण-पुनर्निर्माण के ग़ैर-सरकारी प्रयत्न—हमने देखा कि ग्रामीण पुनर्निर्माण का महत्व क्या है? इस दिशा में अनेक प्रयत्न हुए परन्तु वे ग़ैर-सरकारी तौर पर थे इसलिए बड़े पैमाने पर न होकर छोटे पैमाने पर थे और व्यक्तिगत अथवा संस्थागत होने के कारण उतने सफल नहीं हो सके। उदाहरणार्थ, महात्मा गांधी ने राष्ट्रीय महासभा के कार्य-क्रम में ग्राम-सुधार को स्थान दिया, १९२३ में 'अखिल भारतीय चर्खासंघ' की स्थापना की, गाँव-गाँव में खद्दर के उत्पादन के केन्द्र खोले गये। १९२१ में श्री रवीन्द्र नाथ टैगोर ने श्री लियोनार्ड एल्महर्स्ट के सहयोग से ग्रामों के पुनर्निर्माण के उद्देश्य से श्री-निकेतन की स्थापना की। श्री-निकेतन के कार्यकर्ता ग्रामवासियों के साथ हिल-मिल जाते थे, उनके साथ एकात्मता उत्पन्न करके उन्हें अपनी समस्याओं को हल करने की प्रेरणा देते थे। 'सर्वेंट्स आफ़ इंडिया सोसाइटी' ने मद्रास-प्रान्त में मायानुर ग्राम-केन्द्र में कृषि, मुर्ग़ी-पालन, शहद की मक्खी का पालन आदि कार्यों का शिक्षण शुरू किया, ग्वालियर में कर्नल शितोले ने १९४० में अपनी जागीर के २३२ गाँवों में ग्राम-सुधार योजनाओं को चालू किया, परन्तु ये सब योजनाएँ व्यक्तिगत थीं, संस्थागत थीं, इसलिए इनका कार्य-क्षेत्र संकुचित ही रहा।

(ख) ग्रामीण-पुनर्निर्माण के सरकारी प्रयत्न—स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद १९४७ में भारत-सरकार ने बड़े पैमाने पर ग्रामीण-पुनर्निर्माण के कार्य को अपने हाथ में लिया। ग्रामीण-पुनर्निर्माण के सरकारी प्रयत्न निम्न थे :

(i) पंच-वर्षीय योजनाओं द्वारा ग्रामीण-पुनर्निर्माण,
(ii) सहकारी आन्दोलन द्वारा ग्रामीण-पुनर्निर्माण,
(iii) ज़मींदारी उन्मूलन द्वारा ग्रामीण-पुनर्निर्माण,
(iv) ग्राम पंचायतों के पुनःसंगठन द्वारा ग्रामीण पुनर्निर्माण,
(v) सामुदायिक विकास-योजनाओं द्वारा ग्रामीण-पुनर्निर्माण।

ग्रामीण-पुनर्निर्माण के लिए उक्त पाँच कार्य-क्रम चल रहे हैं।† इनमें से पंच-वर्षीय योजनाओं का वर्णन हम ७वें अध्याय में, सहकारी आन्दोलन का वर्णन १५वें अध्याय में, ज़मींदारी-उन्मूलन का वर्णन १६वें अध्याय में कर आये हैं। ग्रामीण-पुनर्निर्माण के शेष दो प्रयत्नों—ग्राम पंचायतों का पुनः संगठन तथा सामुदायिक विकास-योजनाओं—का वर्णन हम इस अध्याय में करेंगे।

---

* **Discuss the importance of rural reconstruction and planning in India.** (1951)

† **What steps are being taken for the reconstruction of rural India?** (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. ग्राम-पंचायतों के पुनः संगठन द्वारा ग्रामीण-पुनर्निर्माण

जैसा हम देख आये हैं भारत ग्रामों का देश है। जड़ मज़बूत हो तभी वृक्ष मज़बूत रहता है, नींव पक्की हो तभी मकान अडिग रहता है। अगर हम समूचे देश का नव-निर्माण करना चाहें तो गाँवों का पुनर्निर्माण करना होगा। परन्तु गाँवों का पुनर्निर्माण कैसे होगा? गाँवों का पुनर्निर्माण तभी होगा जब निर्माण का कार्य ग्रामवासियों के अपने हाथ में सौंप दिया जाय। उनकी अपनी भलाई को उनके सिवाय कौन जान सकता है? उनके हाथ में सत्ता दे देने को ही पंचायत-राज कहा जाता है। भारत में सदा से पंचायत-राज रहा है। इसमें सन्देह नहीं कि पंचायत-राज का अंग्रेज़ों के समय ह्रास हो गया, किन्तु स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद इस प्रथा के फिर से चालू करने का प्रयत्न हुआ, ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत, पंचायती-अदालत बनी। हम इस प्रकरण में निम्न बातों पर विचार करेंगे :

(क) पंचायत का पूर्व-इतिहास,
(ख) पंचायतों के ह्रास के कारण,
(ग) पंचायत-प्रथा को फिर से चालू करने के प्रयत्न,
(घ) पंचायत-राज का संगठन तथा कार्य,
(ङ) ग्राम-सभा, ग्राम-पंचायत, पंचायती-अदालत,
(च) पंचायतों की असफलता के कारण,
(छ) ग्रामीण-पुनर्निर्माण में पंचायतों का स्थान।

४. पंचायत का पूर्व-इतिहास

स्वायत्त-शासन का यही अर्थ नहीं है कि कुछ लोगों के हाथ में सत्ता आये, असली स्वायत्त-शासन तो तभी होता है जब जनता के हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता आती है। परन्तु हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता कैसे आ सकती है? इसका तरीका संसार की प्राचीन शासन-प्रणालियों में मिलता है। ग्रीस, इटली, प्राचीन-भारत तथा अन्य देशों में ऐसी ग्राम-सभाएँ होती थीं, जिनमें गाँव का हर वयस्क-व्यक्ति सदस्य होता था। समय-समय पर गाँव के सब व्यक्ति इकट्ठे होते थे और गाँव के मसलों को बहुमत से हल करते थे। यूनानी राजा सैल्युकस का राजदूत मैगस्थनीज़ पाटलीपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य-काल में यहाँ रहा। वह लिखता है कि यहाँ के नगरों में ऐसी सभाएँ हैं, जिनके ३० सदस्य होते हैं, इनकी ६ उप-समितियाँ होती हैं, जो नगर का शासन करती हैं। नगरों की इन सभाओं की तरह ग्रामों की सभाएँ भी होती हैं। इसी पद्धति द्वारा प्राचीन-भारत में ग्रामों का शासन होता था। शुक्रनीतिसार में लिखा है कि ग्राम-पंचायतों का चुनाव होना चाहिए। उसके पास 'व्यवस्थापक' (Executive) तथा 'न्यायात्मक' (Judiciary) दोनों काम थे। भूमि का वितरण तथा कर वसूल करने का काम भी पंचायत करती थी। गाँव के चरागाह तथा जंगलों पर पंचायत का अधिकार था। शिक्षा, स्वास्थ्य, सुरक्षा, शान्ति, निर्माण, झगड़ों को निपटाना—ये सब काम पंचायतें करती थीं। पंचायत का अर्थ था—चुने हुए पाँच व्यक्ति जिनकी बात

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब लोग मानते थे। पंचायतें एक प्रकार की उस समय की 'गण-तंत्र' (Republics) थीं।

असल में, ग्रामों की समस्याओं को ग्रामवासी ही समझ सकते हैं। अपनी समस्याओं को हल करने में जितनी दिलचस्पी उनकी होती है उतनी दूसरे किसी को नहीं हो सकती। यह संगठन प्राचीन-काल में था, इसलिए दिल्ली में किसी का भी राज रहा हो, गाँवों में गाँव वालों का ही राज रहा, और भारत की आर्थिक तथा सामाजिक व्यवस्था नहीं टूटी। इसी को 'विकेन्द्रीकरण' या पंचायत-राज्य कहा जाता था। मुसलमानों के राज्य तक पंचायतें जैसी-की-तैसी बनी रहीं। उन्होंने इस संगठन को तोड़ने का प्रयत्न नहीं किया। गयासुद्दीन तुग़लक ने अपने राज्य में यह आज्ञा प्रचलित की थी कि पंचायतों के संगठन को आँच न आने पाये। हाँ, अंग्रेज़ों के आने से पंचायत-राज की यह व्यवस्था टूट गई। हर बात को अंग्रेज़ी-राज्य ने केन्द्रित करना चाहा। सारी शक्ति गाँव से थाने में और थाने से ज़िले में खींच ली गई। जब पंचायतों के पास किसी प्रकार की शक्ति न रही, तो उनका शिथिल हो जाना स्वाभाविक था।

५. पंचायतों के ह्रास के कारण

जैसा हमने कहा, अंग्रेज़ों के भारत में आने से पूर्व इस देश में गाँव-गाँव में पंचायतें बनी हुई थीं। मुसलमानों के समय तक पंचायतों द्वारा ही ग्रामों का शासन होता था। अंग्रेज़ों को यहाँ की पंचायत-व्यवस्था देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता था। परन्तु अंग्रेज़ों के लिए इस व्यवस्था द्वारा राज करना कठिन था क्योंकि इस व्यवस्था द्वारा तो शासन जनता के हाथ में देना होता था। यह उन्हें अभीष्ट न था। उन्होंने जिस व्यवस्था को जारी किया उसमें पंचायतों का दिनोंदिन ह्रास होने लगा। अंग्रेज़ों की व्यवस्था में निम्न कारणों से पंचायतों का ह्रास तेज़ी से होने लगा—

(क) लगान-वसूली की पद्धति—पहले इस अध्याय में हम लिख आये हैं कि पहले यहाँ 'महालवारी'-प्रथा थी। इसका यह अर्थ है कि लगान किसान से व्यक्ति-रूप से वसूल न करके 'महाल' से वसूल किया जाता था। गाँवों के कुछ समूहों को 'महाल' कहा जाता था। वसूली का यह काम किसी समय पंचायत करती थी, फिर ज़मींदारी-प्रथा चलने पर ज़मींदार करने लगा। अंग्रेज़ों के समय यह कानून बना कि लगान प्रत्येक व्यक्ति को स्वयं जमा करना चाहिए जिससे पंचायती-प्रथा की लगान वसूल करने की दृष्टि से आवश्यकता न रही।

(ख) पुलिस तथा कचहरी की व्यवस्था—अब तक गाँव की सुरक्षा तथा गाँव के झगड़े निपटाने का काम पंचायत का था, परन्तु अंग्रेज़ों के समय पुलिस की सुदृढ़ व्यवस्था हो जाने के कारण गाँव की सुरक्षा की ज़िम्मेदारी पंचायत की न रही और गाँवों के झगड़े कचहरियों में जाने लगे। इस प्रकार पंचायतों के पास काम न रहने के कारण भी उनका ह्रास होने लगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) **ज़िला-बोर्डों का निर्माण**—१८४२ में शहरों के सुशासन के लिए म्यूनिसिपैलिटियाँ बनी थीं, लार्ड रिपन के उद्योग से १८८२ में डिस्ट्रिक्ट बोर्डों का निर्माण हुआ जिनका काम ज़िले भर के गाँवों का प्रबन्ध करना था। डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के बनने से सत्ता पंचायतों के हाथ में न रही, डिस्ट्रिक्ट बोर्डों के हाथ में आ गई।

(घ) **ज़मींदारी-प्रथा**—अंग्रेज़ों के आने से पहले किसान से कर की वसूली पंचायत के द्वारा होती थी। अंग्रेज़ों ने ज़मींदारी-प्रथा को जन्म दिया। तब से कर की वसूली ज़मींदार करने लगा। अब पंचायत की कर-वसूली के लिए भी आवश्यकता न रही।

६. पंचायत-प्रथा को फिर से चालू करने के प्रयत्न

परन्तु जैसा हम अभी कह आये हैं, स्व-शासन को तभी स्व-शासन कहा जा सकता है जब जनता के हाथ में सत्ता हो। जनता तो अपने देश में गाँवों में फैली पड़ी है। जब तक उस जनता के हाथ में सत्ता नहीं दी जाती तबतक विधान-सभाओं और संसदों के सदस्य चुन लेने से तो काम नहीं चल सकता। ये सदस्य तो प्रान्तों में या केन्द्र में जाकर बैठ जाते हैं। जनता के हाथ में शासन कैसे आये? इस बात को अनुभव कर स्वतन्त्र-भारत में पंचायतों के पुनरुज्जीवन का कार्य-क्रम प्रारम्भ हुआ। पंचायतें बनेंगी, तो अपने गाँवों का दिन-प्रतिदिन का शासन गाँव वाले स्वयं ही तो करेंगे। यह वास्तविक रूप में जनता का शासन होगा। स्वतंत्रता के बाद सब प्रान्तों में पंचायतों के निर्माण के कानून बनने लगे। १९४७ में भारत स्वतन्त्र हुआ और ७ दिसम्बर १९४७ को 'उत्तर-प्रदेशीय पंचायत-राज कानून' स्वीकृत हो गया जिसके अनुसार पंचायत-सभा और पंचायत-अदालत का पहला चुनाव फरवरी १९४९ को कर दिया गया। इस कानून में अन्तिम संशोधन १९५४ में हुआ।

इसका यह मतलब नहीं कि पंचायत के विचार को १९४७ के बाद से ही सोचना शुरू किया गया। इससे बहुत पहले से इस बात को सोचा ज़ा रहा था कि सत्ता केन्द्र में केन्द्रित न रहकर जनता के हाथ में आनी चाहिए। केन्द्र से प्रान्त में, प्रान्त से ज़िले में, और ज़िले से गाँव में सत्ता पहुँचेगी, तभी ठीक-ठीक शासन हो सकेगा। गाँव में सत्ता पहुँचने का अर्थ है—पंचायतों का निर्माण क्योंकि गाँव में पंचायत के द्वारा ही तो काम-काज हो सकता है। गाँव के हाथ में सत्ता न होकर ज़िले के हाथ में सत्ता के चले जाने को सत्ता का 'केन्द्रीकरण' (Centralization) कहते हैं। ज़िले में सत्ता के केन्द्रीभूत न रहकर ग्राम के, ग्राम-पंचायतों के हाथ में सत्ता को बखेर देने को 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization) कहते हैं। असल में जन-सत्ता-वाद में सत्ता का 'विकेन्द्रीकरण' आवश्यक है, और जब से भारत स्वतंत्र हुआ है, तब से सत्ता के 'विकेन्द्रीकरण' के लिए पंचायतों के निर्माण का सतत प्रयत्न हो रहा है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८४२ तथा १८६२ में कुछ ऐसे कानून बनाये गये थे जिनका आशय यह था कि शहरों में म्यूनिसिपल-कमेटियाँ बननी चाहिएँ ताकि वे शहरों का स्थानीय प्रबन्ध कर सकें। १८७० में लार्ड मेयो के प्रस्ताव के अनुसार शहरों में इन म्यूनिसिपैलिटियों की संख्या बढ़ा दी गई, किन्तु अभी तक गाँवों की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं गया। स्थानीय-निकायों को ठीक ढंग से चलाने और शहरों तक ही उन्हें सीमित न रखने का श्रेय लार्ड रिपन को है। १८८२ में स्थानीय-निकायों के लिए लार्ड रिपन के समय में जो प्रस्ताव स्वीकृत हुआ वह भारतवर्ष में 'स्थानीय निकाय विकास-काल' कहा जाता है। इसके बाद १९०९ में रायल-कमीशन बना। इस कमीशन ने कहा कि हम अब तक ग्रामों का पुनर्निर्माण करने में इसलिए सफल नहीं हुए क्योंकि हमने नींव से पुनर्निर्माण के कार्य को नहीं शुरू किया। इस देश की नींव यहाँ के गाँव हैं। अगर हम ग्रामों का पुनर्निर्माण करना चाहते हैं, तो पंचायतों का पुनरुज्जीवन करना होगा। १९१९ में जब मौन्टेगू-चेम्सफ़ोर्ड सुधारों के अनुसार स्व-शासन के अधिकार को मानकर सत्ता प्रान्तीय-मन्त्रियों के हाथ में दे दी गई, तब ग्राम-पंचायतों की तरफ़ सरकार का ध्यान विशेष रूप से गया।

इस समय जगह-जगह ग्राम-पंचायतें बनीं। हर प्रान्त में ग्राम-पंचायत-कानून बने। १९१९ में बंगाल में, १९२० में मद्रास, बम्बई, सी० पी० तथा उत्तर-प्रदेश में, १९२६ में बिहार, उड़ीसा, आसाम में तथा १९३५ में पंजाब में ग्राम-पंचायत-कानून स्वीकृत हुआ। बड़ौदा, मैसूर, ट्रावनकोर-कोचीन आदि रियासतों में भी यह कानून स्वीकृत हुआ।

ग्राम-पंचायतों पर विशेष रूप से विचार बलवन्त राय मेहता कमेटी ने किया। जनवरी १९५७ में प्लैनिंग-कमीशन की प्लैन-प्रोजेक्ट्स-कमेटी ने कम्यूनिटी-डिवेलपमेंट-प्रोग्राम की कार्य-प्रणाली की छान-बीन करने के लिए श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में एक कमेटी का निर्माण किया जिसका उद्देश्य था कि वह ऐसे उपायों की तरफ़ सरकार का ध्यान खींचे जिनसे सरकारी काम कुछ तेज़ी से होने लगें। इस कमेटी ने १९५७ के अन्त में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि देश का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए पंचायत-राज को व्यवस्थित ढंग से चलाना होगा। कमेटी का कहना था कि कम्यूनिटी-डिवेलपमेंट के अनुसार देश का विभाजन तीन स्तरों में हुआ-हुआ है। सब से नीचे के स्तर पर 'ग्राम' (Villages) हैं, उसके बाद 'मंडल' (Blocks) हैं, उसके बाद 'ज़िले' (Districts) हैं। हमें पंचायत-राज की स्थापना इस तरह से करनी चाहिए जिससे पहले 'ग्राम' में सदस्यों का निर्वाचन हो, भिन्न-भिन्न ग्रामों के इन निर्वाचित सदस्यों में से 'मंडल' के सदस्यों का निर्वाचन हो, अन्त में मंडलों के निर्वाचित सदस्यों में से 'ज़िले' के सदस्यों का निर्वाचन हो। इन तीन स्तरों पर जो लोग चुने जायें, वे अपने-अपने स्तर में शासन-व्यवस्था का संचालन करें। इसे उन्होंने त्रिस्तरीय-शासन-व्यवस्था (Three-tier system) का नाम दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मेहता-कमेटी की पंचायत-राज की इस योजना को 'प्रजातांत्रिक-विकेन्द्रीकरण' (Democratic decentralization) भी कहा जाता है क्योंकि इस योजना द्वारा सत्ता को भिन्न-भिन्न जन-केन्द्रों में बाँट दिया गया है। कमेटी की सिफ़ारिशों को १९५७ में नेशनल डिवेलपमेंट कौंसिल ने स्वीकार कर लिया और उसके अनुसार सबसे पहले राजस्थान में अक्तूबर १९५९ में पंचायत-राज के तौर से लागू कर दिया। इस सब का विस्तृत ब्यौरा हम आगे इस ही अध्याय में देंगे।

७. पंचायत-राज का संगठन तथा कार्य

भारत के संविधान में सरकारी-नीति के 'निर्देशक-सिद्धान्तों' (Directive Principles) का वर्णन करते हुए स्पष्ट लिखा है कि ग्राम-पंचायतों के संगठन पर विशेष ध्यान दिया जायगा। जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, ग्राम-पंचायत के कानून तो पहले ही बन चुके थे, अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद इन पंचायतों को विशेष रूप से संगठित करने का प्रत्येक प्रान्त ने प्रयत्न किया। ग्राम-पंचायत के संगठन में तीन अन्य संस्थाएँ आ जाती हैं—(क) ग्राम सभा, (ख) ग्राम-पंचायत, तथा (ग) पंचायती अदालत। हम यहाँ इन तीनों पर कुछ लिखेंगे।

८. ग्राम-सभा

(क) संगठन तथा सदस्यता—१००० से अधिक की आबादी के गाँवों में एक ग्राम-सभा होती है। जिन गाँवों की आबादी कम हो, उन्हें पास के दूसरे गाँव के साथ मिला दिया जाता है। ऐसे गाँव एक-दूसरे से दूर नहीं होने चाहियें, उनके बीच नदी-नाले का व्यवधान नहीं होना चाहिए। अब नवीन संशोधन के अनुसार २५० संख्या के गाँवों में भी ग्राम-सभा बन सकती है। २१ वर्ष का हर व्यक्ति—पुरुष हो, स्त्री हो, ग्राम-सभा का सदस्य माना जाता है।

(ख) कार्य—ग्राम-सभा की दो बैठकें होना आवश्यक है—एक खरीफ़ की फ़सल के बाद, दूसरी रबी की फ़सल के बाद। यदि सभा के २० सदस्य लिखित माँग करें, तो आवेदन-पत्र आने के ३० दिन के भीतर सभा बुलानी होती है। ग्राम-सभा अपना प्रधान अपने-आप चुनती है। प्रधान की अवधि ५ साल होती है। प्रधान तथा उप-प्रधान के विरुद्ध दो-तिहाई मत आने पर अविश्वास का प्रस्ताव स्वीकृत माना जाता है। खरीफ़ की फ़सल के बाद की बैठक में सालाना बजट बनाया जाता है और रबी की फ़सल के बाद की बैठक में बजट का रुपया ठीक से व्यय हुआ या नहीं—इस पर विचार होता है।

९. ग्राम-पंचायत

(क) संगठन—ग्राम सभा के १,००० सदस्यों पर ग्राम-पंचायत के ३० सदस्य, १,००० से २,००० सदस्य-संख्या पर ३६ सदस्य, २,००० से ४,००० की संख्या पर ३९ सदस्य, ३ व ४ हज़ार की संख्या पर ४५, और ४ हज़ार से ऊपर की सदस्य-संख्या पर ५१ सदस्य चुने जाते हैं। उत्तर-प्रदेश के १९४७ के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंचायत-राज-अधिनियम के अनुसार यह सदस्यता ५१ रखी गई थी परन्तु उसके बाद के संशोधन के अनुसार सदस्यता १५ से २० तक कर दी गई। ये सदस्य ५ वर्ष तक के लिए चुने जाते हैं। अनुसूचित-जाति की संख्या के अनुपात से पंचायत में उनका स्थान सुरक्षित रखना होता है। इस प्रकार ग्राम-पंचायत को ग्राम-सभा चुनती है, और एक तरह से यह ग्राम-सभा की कार्यकारिणी-समिति है। ग्राम-सभा का सभापति ग्राम-पंचायत का भी सभापति समझा जाता है। पंचायत के कुल सदस्यों में से एक-तिहाई सदस्य प्रतिवर्ष हटते जाते हैं, उनकी जगह प्रति वर्ष नवीन-सदस्यों का चुनाव होता है, और इस प्रकार ग्राम-पंचायत कभी भंग नहीं होती।

(ख) **कार्य-क्षेत्र**—ग्राम-पंचायतों का कार्य-क्षेत्र भी निर्धारित कर दिया गया है। ग्राम-पंचायतों के लिए दो प्रकार के कार्य हैं—'अनिवार्य' तथा 'ऐच्छिक'। अनिवार्य-कार्यों में सड़कों की देख-भाल और मरम्मत, उनका समतल करना, चौड़ा करना, ग्राम की सफ़ाई, कूएँ-तालाबों की व्यवस्था, उन्हें शुद्ध रखना, मैला जमा न होने देना, जन्म-मृत्यु का लेखा रखना, प्राथमिक-शिक्षा की व्यवस्था करना, पटवारी, सिपाही, चौकीदार आदि से अगर ग्राम-वासियों को शिकायत हो, तो उसे ऊपर के अधिकारियों तक पहुँचाना—ये सब काम ग्राम-पंचायतों के लिए आवश्यक हैं। ऐच्छिक कार्यों में ग्रामवासियों की चिकित्सा का प्रबन्ध करना, वाचनालय तथा पुस्तकालय स्थापित करना, खेती तथा जानवरों की नस्ल को सुधारना, खेल-कूद तथा अखाड़ों का आयोजन, रेडियो का प्रबन्ध, ग्राम की रक्षा के लिए स्वयं-सेवक-दल का निर्माण, मेले-तमाशे-हाट-बाज़ार का लगाना—ये सब ऐच्छिक कार्य हैं, जिन्हें ग्राम-पंचायत कर सकती है।

(ग) **आय के साधन**—परन्तु इन कामों के लिए रुपया चाहिए। रुपये के लिए ग्राम-सभा को कुछ टैक्स लगाने के अधिकार दे दिये गए हैं। ग्राम-सभा द्वारा लगाये गये इन टैक्सों की आय से ही ग्राम-पंचायत ग्राम का सब प्रबन्ध करती है। ग्राम-सभा मज़दूरों से २ रु० सालाना, पल्लेदारों से ३ रु०, गाड़ीवानों से १॥ रु०, व्यापारियों से ८ रु० सालाना वसूल कर सकती है; १९३९ के काश्तकारी-कानून के मातहत लगान में से १ आना रुपया टैक्स वसूल कर सकती है; बाहर से पैंठ तथा मेलों में जो व्यापारी अपना माल बेचने के लिए आयें उन पर टैक्स लगा सकती है; पशुओं की बिक्री, कसाई-खानों से टैक्स वसूल कर सकती है; ३०० रुपये वार्षिक की आय वालों पर गृह-कर लगा सकती है। इसके अतिरिक्त सरकार भी ग्राम-सभाओं को आर्थिक-सहायता देती है। अब तो ज़मींदारी ख़त्म हो गई, इसलिए सरकार ज़मीन की मालिक है। अब जो लगान वसूल होगा वह सरकार ग्राम-सभाओं के द्वारा वसूल करने की सोच रही है। इस वसूली के लिए सरकार की तरफ़ से १ आना रुपया ग्राम-सभाओं को कमीशन दिया जायगा जिससे ग्राम-सभाओं के पास काफ़ी रुपया जमा हो जायगा और इस रुपये को ग्राम-सभा अपने विकास कार्यों पर व्यय कर सकेगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१०. पंचायती-अदालत

(क) **संगठन**—जब ग्राम-सभाएँ पंचायत के सदस्य चुनती हैं तब पाँच अतिरिक्त सदस्यों को भी पंचायती-अदालत के लिए चुन लेती हैं। हर गाँव की अपनी पंचायती-अदालत नहीं होती, कुछ गाँव मिलाकर उनकी पंचायती-अदालत बना दी जाती है। हर गाँव के पाँच-पाँच मिलाकर ४–५ गाँवों में २०–२५ सदस्य हो जाते हैं। ये सदस्य मिलकर स्वयं अपना एक सरपंच चुन लेते हैं। सरपंचों और सहायक सरपंचों का पढ़ा-लिखा होना आवश्यक है। प्रत्येक मुकदमे के लिए सरपंच पहले चुने हुए २०–२५ पंचों से पाँच पंचों का एक 'बैंच' नियुक्त कर देता है—वादी के गाँव का एक, और प्रतिवादी के गाँव का एक पंच इस बैंच में होना आवश्यक है, शेष तीन पंच अन्य गाँवों के होते हैं। और यह 'बैंच' मुकदमा सुनकर उसपर फ़ैसला करती है।

(ख) **अधिकार-क्षेत्र**—पंचायती-अदालत, फौजदारी तथा दीवानी—दोनों प्रकार के फ़ैसले करती है। फ़ौजदारी में निम्न मामले पंचायती-अदालत सुन सकती है—अदालती समन न लेना, सार्वजनिक मार्ग पर लड़ाई, मार-पीट, तेज़ गाड़ी चलाना, गन्दे गाने गाना, बेगार लेना, ४० रुपए से कम की चोरी, बलात्कार, कूएँ या जलाशय को गन्दा करना, आग लगाना। इन मामलों में पंचायती-अदालत जेल की सज़ा नहीं दे सकती, १०० रु० तक जुर्माना कर सकती है। दीवानी मामलों में १०० रुपए तक के मुकदमे का यह अदालत फ़ैसला कर सकती है, जायदाद, वसीयत आदि के मुकदमों को नहीं सुन सकती। यदि कोई अदालत बहुत अच्छा काम करती हो, तो उसे राज्य-सरकार ५०० रु० तक के दीवानी मुकदमे सुनने का अधिकार दे सकती है।

११. पंचायतों की असफलता के कारण

पंचायतें ठीक तरह से कार्य करें इसके लिए सरकार ने अपनी तरफ़ से पर्याप्त व्यवस्था कर रखी है। 'पंचायत-राज अधिनियम' के अनुसार पंचायतों के कार्य की देख-रेख के लिए अनेक अधिकारी नियुक्त किये हुए हैं। पंचायत-निरीक्षक, पंचायत-अफ़सर, पंचायत-डायरेक्टर आदि अनेक अधिकारी हैं जिनका काम पंचायतों की व्यवस्था को देखना है। ग्राम सभा, ग्राम-पंचायत तथा पंचायती-अदालत के बजट को पंचायत-निरीक्षक देखता है, जो पंचायतें ठीक काम नहीं करतीं, उन्हें सरकार भंग भी कर सकती है, परन्तु इतना सब-कुछ नियंत्रण रखने पर भी कई कारणों से पंचायतें उतना संतोषजनक कार्य नहीं कर रहीं जितना करने की उनसे आशा थी। इसके निम्न कारण हैं :—

(क) **जातिवाद**—अभी तक जाति का विचार अपने देश में काफ़ी जड़ पकड़े हुए है। ऊँच-नीच का भेद भी इस जातिवाद की ही उपज है। गाँवों के लोग प्रायः अशिक्षित हैं, जाति के विचार के ऊपर वे नहीं उठ सकते। इसका परिणाम यह होता है कि जब कोई बात पंचायत में आती है तब उसे व्यक्ति की जाति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की दृष्टि से देखा जाता है। तथा-कथित नीच जाति के व्यक्ति के साथ पूरा-पूरा न्याय नहीं हो पाता। पंचायतों के चुनाव में भी तथाकथित नीच जाति के व्यक्ति को पंचायत के किसी उच्च-पद पर चुन लिया जाना कठिन रहता है।

(ख) **गुटबन्दी**—प्रत्येक गाँव में जो मुख्य-मुख्य व्यक्ति होते हैं उनके अपने-अपने गुट होते हैं। इस प्रकार के गुट शहरों में भी होते हैं। गुट के लोग अपने साथियों का योग्यता की दृष्टि से नहीं, परन्तु गुट-बन्दी के कारण साथ देते हैं। गाँवों में तो दुश्मनी भी पुश्तैनी चलती है और उसके साथ बनी गुटबन्दी भी पुश्तैनी चलती है। इस कारण भी पंचायतें निष्पक्ष-भाव से गाँव-सुधार का कार्य नहीं कर पातीं।

(ग) **निर्धनता**—इसके अतिरिक्त पंचायत का कार्य ऐसा है जिसमें वही व्यक्ति भाग ले सकता है जो आर्थिक-दृष्टि से निश्चिन्त हो। हमारे ग्रामवासी प्रातः से सायं तक अपनी रोटी-पानी की व्यवस्था में ही जुटे रहते हैं, उन्हें पंचायती बातों के लिए समय ही कहाँ है। इसलिए जो खाते-पीते लोग हैं, वे फ़ुर्सत में बैठ-कर जो फ़ैसला कर देते हैं उसे गाँव के लोग चुपके से मान लेते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि ज्यों-ज्यों देश की निर्धनता दूर होगी, लोग अन्य दिशाओं में भी दिलचस्पी लेने लगेंगे।

(घ) **अशिक्षा**—पंचायतों के कार्य में इच्छित सफलता न मिलने का कारण ग्रामवासियों का शिक्षित न होना भी है। वे अभी अपने अधिकारों के प्रति उतने सचेत नहीं हुए जितना उन्हें होना चाहिए। ज्यों-ज्यों शिक्षा का प्रचार बढ़ता जायगा, ज्यों-ज्यों वे अपने अधिकारों को समझते जायेंगे, त्यों-त्यों वे पंचायती संगठन में अब तक की अपनी उदासीनता को छोड़ कर इसमें हिस्सा लेने लगेंगे।

१२. ग्रामीण-पुनर्निर्माण में पंचायतों का स्थान*

[ग्रामों का पुनर्निर्माण]

हमने देखा कि अपने देश में पंचायत-राज की नींव पड़ रही है, इसके लिए सारी शक्ति लगाई जा रही है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न उठ खड़ा होना स्वाभाविक है कि पंचायत-राज का क्या उद्देश्य है, इसका देश के पुनर्निर्माण में क्या महत्व है? पंचायत-राज का जो उद्देश्य है उसी में उसका महत्व स्पष्ट हो जाता है। पंचायत-राज द्वारा हम क्या करना चाहते हैं? इसके द्वारा हम देश का सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। वह कैसे?

---

* **1. Discuss the importance of Village Panchayats as a means of social reform in India. How far can the Gaon Panchayat Raj Act help in improving village life or rehabilitation of village communities? (1951, 1953)**

2. Discuss the role of "Village Panchayats" in rural reconstruction. (1956)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[पंचायत-राज द्वारा देश का सामाजिक-पुनर्निर्माण]

(क) **सामूहिक-कार्य की भावना**—हम पहले कह आये हैं कि आज के व्यक्तिवादी-युग में गाँवों में सदियों से चली आ रही पड़ौसीपन की भावना नष्ट होती जा रही है, संयुक्त-परिवार-प्रथा टूटती जा रही है। पंचायतें गाँवों में श्रम-दान द्वारा सड़कें, कूएँ, तालाब, नालियाँ बनवाती हैं, सब को इकट्ठा कर स्कूल आदि भवनों का निर्माण करवाती हैं। इससे नष्ट होती हुई सामूहिक-भावना फिर से जागृत होती है और गाँव वाले, युग की व्यक्तिवादी-भावना के बावजूद 'मैं' के स्थान में 'हम' की भावना में सोचने लगते हैं।

(ख) **सार्वजनिक-हित की भावना**—पंचायतों द्वारा गाँव की सफ़ाई का प्रयत्न किया जाता है, संक्रामक-रोगों को दूर करने का उपाय सोचा जाता है, सब के लिए पानी की व्यवस्था की जाती है, मनोरंजन के साधनों को जुटाया जाता है, किसी के संकट में पड़ जाने पर उसकी सहायता की जाती है—इस सब से ग्रामीण-जनता में परार्थ की भावना प्रबल होती है, स्वार्थ की भावना के स्थान में सार्वजनिक-हित की दिशा में ग्रामवासी सोचने लगते हैं।

(ग) **समाज-सुधार की भावना**—पंचायतें समाज-सुधार की दिशा में सफल प्रयत्न कर सकती हैं। हमारा ग्रामीण-समाज कुप्रथाओं का शिकार है। बाल-विवाह, दहेज़, कन्या-विक्रय, पर्दा, अस्पृश्यता आदि दानव समाज को ग्रस रहे हैं। पंचायतों के संचालक यदि शिक्षित हों और इन कुरीतियों को दूर करना चाहें, तो उनके प्रभाव से ये कुरीतियाँ मिनटों में दूर हो सकती हैं।

(घ) **शिक्षा के प्रचार की भावना**—पंचायतों ने ग्रामों में शिक्षा का प्रचार करने में बड़ा हाथ बँटाया है। रेडियो द्वारा, व्याख्यान-मालाओं द्वारा, प्रौढ़-शिक्षा के आन्दोलन द्वारा, रात्रि-पाठशालाओं द्वारा, प्राइमरी-शिक्षणालयों द्वारा ग्राम-पंचायतें सराहनीय कार्य कर रही हैं।

(ङ) **मातृत्व तथा बाल-कल्याण की भावना**—गाँवों में बच्चों तथा ज़च्चा-बच्चा पर अब तक ध्यान नहीं दिया जाता था। पुरानी दाइयाँ अपने अस्वास्थ्यकर गन्दे तरीकों से बच्चा जनवाती थीं। अब पंचायतों के बन जाने से गाँव-गाँव में मातृमन्दिर बनते जा रहे हैं जिनकी देख-रेख योग्य दाइयों द्वारा की जाती है। बच्चों के खेल-कूद तथा मनोरंजन के साधनों को जुटाना भी पंचायतों का कर्तव्य है। इस सब से मातृत्व तथा बाल-कल्याण की भावना ग्रामों में जाग उठी है।

(च) **मादक-द्रव्य-निषेध तथा कुचेष्टाओं पर प्रतिबन्ध की भावना**—पंचायत के बन जाने से पंच लोग अपनी ज़िम्मेवारी के प्रति जागरूक हो जाते हैं और ग्राम के लोग भी समझने लगते हैं कि उनके आचार-व्यवहार पर कोई निगाह रखने वाला है। इस सब का परिणाम यह होता है कि मादक-द्रव्यों पर अपने-आप प्रतिबन्ध लग जाता है, गाँव के लोग कुचेष्टाओं को स्वयं छोड़ने लगते हैं, एक-दूसरे की शर्म से ये सब उपद्रव रुक जाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[पंचायत-राज द्वारा देश का आर्थिक-पुनर्निर्माण]

(क) **गृहोद्योग**—गाँवों में कुछ भूमिहीन किसान होते हैं, कुछ के पास भूमि होती है। भूमिहीन मजदूरी के सिवाय कुछ नहीं कर सकते। उनके लिए गृहोद्योगों की व्यवस्था करना पंचायतों का काम है। जिनके पास भूमि है वे भी साल के उस हिस्से में जब खेती नहीं होती बेकार रहते हैं। ऐसे लोगों के लिए सामयिक गृहोद्योगों की व्यवस्था की जा सकती है जो पंचायतें भली-भाँति कर सकती हैं क्योंकि उनका शासन से घनिष्ठ संबंध होता है। वे इन कार्यों के लिए अनुदान लेकर इस प्रकार के गृहोद्योग चला सकती हैं।

(ख) **कृषि-सुधार**—अभी तक गाँवों में खेती के पुराने तरीके चलते थे। कृषि के साधन भी पुराने थे। बीज भी अपने ही खेत का अच्छा-बुरा जैसा हुआ रख लिया जाता था। पंचायतों ने इस दिशा में पर्याप्त सुधार कर दिया है। कृषि के नवीन यंत्र, उत्तम बीज, उत्तम खाद, गोदाम आदि की व्यवस्था की जा रही है। बिक्री में भी पंचायतें मदद देती हैं, सहकारी-समितियों की स्थापना करती हैं, जो न करें तो उन्हें करना चाहिए, यही उनका महत्व है।

(ग) **सिंचाई**—खेती के लिए सब से आवश्यक सिंचाई की व्यवस्था है। पंचायत से जब ग्राम का संगठन हो जाता है तब गाँव की आवश्यकता के अनुसार पंचायत कूएँ, तालाब, नहर की व्यवस्था कर सकती है। सहयोग से अनेक ऐसे कठिन काम हो जाते हैं, परन्तु इन कामों के लिए श्रम-दान देने के लिए लोग तभी तैयार होते हैं, जब उनमें पंचायत-जैसा कोई संगठन होता है।

(घ) **पशु-सुधार**—गाँव के लोग पशु को धन कहते हैं। जैसे खेती की पैदावार उनके लिए धन है वैसे पशु भी उनके लिए धन हैं। गौ को गोधन कहा जाता है। गाय-बैल की नस्ल जब तक नहीं सुधरती तब तक इनसे काम भी ठीक नहीं लिया जा सकता। आज सरकार बैलों तथा गायों की नस्ल सुधारने के लिए सब तरह की सहायता कर रही है। पंचायतों द्वारा इस सहायता का सदुपयोग हो सकता है।

(ङ) **चरागाह**—पशुओं के लिए चरागाहों की जरूरत है। इनका प्रबन्ध भी गाँव के सभी व्यक्तियों की सहायता से पंचायतें ही कर सकती हैं।

(ग) **सहकारी-समितियाँ**—अनेक आर्थिक-योजनाएँ इकले व्यक्ति के बस की नहीं होतीं, सहकारी-समितयों द्वारा उन्हें आसानी से किया जा सकता है। ग्राम-पंचायतें सहकारिता की भावना को सुगमता से ग्रामवासियों में संचारित कर सकती हैं।

(छ) **अदालती-अपव्यय**—पंचायतें जहाँ आर्थिक-पुनर्निर्माण की योजनाओं के संचालन में सहयोग दे सकती हैं, वहाँ अनेक प्रकार के अपव्यय रोक कर ग्रामवासियों की आर्थिक-स्थिति को उन्नत कर सकती हैं। कुरीतियों को रोक कर अपव्यय को रोका जा सकता है क्योंकि ग्रामों में अनेक ऐसी प्रथाएँ है जिन पर बेकार खर्च होता है। इसके अतिरिक्त पंचायत-राज ने पंचायती-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदालतें बनाकर तो एक बहुत भारी अपव्यय को रोक दिया है। ग्रामवासी छोटे-छोटे झगड़ों को लेकर अदालत का दरवाज़ा खटखटाया करते हैं। वकील उन्हें खूब साफ़ करते हैं। मुकदमों की तारीख-पर-तारीख पड़ती है। किसान लुट जाता है। पंचायती-अदालतें बन जाने से यह सब अपव्यय रुक गया है।

[पंचायत-राज द्वारा देश का राजनीतिक-पुनर्निर्माण]

(क) त्रि-स्तरीय-योजना—हम पहले लिख आये हैं कि पंचायत-राज का अर्थ है सत्ता का 'विकेन्द्रीकरण' (Decentralization)। जनतंत्र में सत्ता का केन्द्र प्रत्येक व्यक्ति है, वह व्यक्ति जिसके पास मतदान का अधिकार है। परन्तु सिर्फ़ मतदान का अधिकार पर्याप्त नहीं है। मतदाता के पास शासन का सूत्र होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति के हाथ में तो शासन का सूत्र दिया नहीं जा सकता, हाँ, शासन का सूत्र ऐसे संगठन के हाथ में दिया जा सकता है जिसके साथ व्यक्ति अपने को अभिन्न समझे। इसी उद्देश्य से त्रि-स्तरीय योजना बनाई गई है। एक स्तर है—ग्राम, दूसरा स्तर है—मंडल, तीसरा स्तर है—ज़िला। ग्राम में 'ग्राम-सभा' को सत्ता दी गई है, इसके बाद सत्ता मंडल को दी गई है जिसे 'क्षेत्रीय-समिति' कहा गया है, इसके बाद सत्ता ज़िले को दी गई है जिसे 'ज़िला-परिषद्' कहा गया है। ग्राम-सभा, क्षेत्रीय-समिति तथा ज़िला-परिषद्—इन तीनों में जो लोग आयेंगे वे चुन कर आयेंगे और इस प्रकार इन तीनों स्तरों पर देश का राजनीतिक-पुनर्निर्माण होगा, सत्ता केन्द्र में न जाकर जनता के हाथ में आ जायेगी क्योंकि सारे चुनाव का आधार गाँव होगा, वह गाँव जिसमें जनता-जनार्दन का निवास है। ग्राम-सभा, क्षेत्रीय-समिति तथा ज़िला-परिषद् में सरकारी व्यक्तियों की प्रधानता न होकर जनता द्वारा चुने गये व्यक्तियों की प्रधानता होगी—त्रि-स्तरीय-योजना का यही राजनीतिक महत्व है।

(ख) राष्ट्रीय-चेतना—ग्राम-पंचायतों द्वारा राष्ट्रीय-चेतना भी जागृत हो रही है। प्रत्येक गाँव में गाँधी-चबूतरे बने हुए हैं, पंचायत-घर बने हुए हैं, जहाँ बड़े-बूढ़े-जवान-बालक एकत्रित होते हैं, रेडियो सुनते हैं, राष्ट्रीय-समस्याओं को सुनते हैं, उनकी चर्चा करते हैं। इस सब से राष्ट्रीय-चेतना उभरती है।

(ग) नागरिकता—पंचायतों द्वारा प्रत्येक युवक-युवति को नागरिकता की शिक्षा दी जा सकती है। नागरिक के क्या अधिकार हैं, क्या कर्तव्य हैं—इन सब को नागरिक अपने-आप सीखने लगता है जब उसे पंचायतों के चुनाव में हिस्सा लेना होता है। चुनाव के समय उम्मीदवारों के गुण-दोष का सूक्ष्म विवेचन होता है। इस विवेचन से व्यक्ति उत्तम नागरिक होने का प्रयत्न करता है ताकि अगर उसे भी कभी निर्वाचन के लिए खड़ा होना पड़े तो वह खरे-खोटे की परख में ठीक उतर सके।

(घ) सुशासन की शिक्षा—पंचायत का काम ग्राम का शासन करना है। जब ग्राम के शासन की बागडोर जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों के हाथ में आ जाती है, तब वे शासन करना सीख जाते हैं, शासकों की कठिनाइयों को भी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समझने लगते हैं, इसीलिए स्वयं शासन में रहना भी सीख जाते हैं। किसी भी देश के राजनीतिक पुनर्निर्माण के लिए शासन करना तथा शासन में रहना दोनों महत्व-पूर्ण वस्तुएँ हैं।

१३. पंचायतों का मूल्यांकन

[पंचायतों के लाभ]

(क) **स्थानीय समस्याओं का हल**—पंचायतों का सब से बड़ा लाभ तो यह हुआ है कि स्थानीय समस्याओं का हल स्थानीय व्यक्तियों के हाथ में आ गया है। पहले स्थानीय समस्याओं पर विधान-सभाओं का समय व्यर्थ में नष्ट होता था। मन्त्री लोग भिन्न-भिन्न स्थानों की स्थानीय समस्याओं को सुलझाने में लगे रहा करते थे। उन के निर्णय भी स्थानीय परिस्थितियों का अध्ययन किये बिना होते थे इसलिए जनता में असन्तोष बना रहता था। अब पंचायतों के बन जाने तथा सत्ता के विकेन्द्रीकरण से स्थानीय मामलों का निर्णय स्थानीय लोग ही करेंगे और शासन-सूत्र अपने हाथ में होने से उस निर्णय को क्रियान्वित भी कर सकेंगे।

(ख) **जन-तांत्रिकता**—हमारे देश का विधान जन-तंत्र के आधार पर बना है। केन्द्र तथा प्रांत में जिन लोगों के हाथ में सत्ता है वे जनता द्वारा चुने गये, जनता के प्रतिनिधि हैं। परन्तु शासन के सिर पर बैठे ये जनता के प्रतिनिधि शासन-सूत्र का संचालन नहीं कर पा रहे। शासन-सूत्र है अफ़सरशाही के हाथ में। यह एक विरोधास्पद बात है। जनता के प्रतिनिधि अफ़सरों के कहे के अनुसार चलते हैं। अब जिस प्रकार के पंचायत-राज की स्थापना हो रही है, उसमें ग्राम-सभा में, क्षेत्रीय-समिति में, ज़िला-परिषद् में सब जगह जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि ही प्रधान होंगे, वही शासन-सूत्र का संचालन करेंगे। इस प्रकार 'जन-तांत्रिक-विकेन्द्रीकरण' (Democratic decentralization) से यथार्थ अर्थों में देश में जन-तांत्रिकता आयेगी।

(ग) **शासन की मज़बूती**—यह तो हम जानते हैं कि ब्रिटिश सरकार ने केन्द्र तथा प्रान्तों में बहुत मज़बूत शासन स्थापित किया था, परन्तु स्थानीय-निकाय—डिस्ट्रिक्ट बोर्ड—शक्तिहीन थे। शासन का संपूर्ण संचालन ऊपर से होता था। केन्द्र से प्रान्त में, प्रान्त से ज़िले में, ज़िले से गाँव में शासन चलता था। केन्द्र से गाँव तक शासन-सत्ता के पहुँचते-पहुँचते शासन-सत्ता बहुत हल्की पड़ जाती थी। अब पंचायती-राज के चल पड़ने से सत्ता गाँव के हाथ में आ जायगी, और जैसे केन्द्र तथा प्रान्त का शासन मज़बूत था, वैसे ही ग्राम का शासन भी मज़बूत हो जायगा, इसलिए मज़बूत हो जायगा, क्योंकि गाँव के लोगों के हाथ में शासन होगा।

[पंचायतों की हानियाँ]

(क) **दलबन्दी**—प्रत्येक गाँव दलबन्दी का केन्द्र होता है, पंचायतों के चुनाव में यह दलबन्दी और उग्र रूप धारण कर लेती है। पंचायतों के चुनाव

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से दलबन्दी हटती नहीं, बढ़ती है। प्रत्येक व्यक्ति अपने दल के साथ उग्र रूप में हो जाता है, दूसरे दल को नुक्सान पहुँचाने की कोशिश करता है। चुनाव के समय तो दलबन्दी बढ़ती ही है, चुनाव के बाद भी इसके आसार कम नहीं होते। जो लोग चुने जाते हैं वे सत्तारूढ़ होने के बाद अपने विरोधियों से बदला लेने की भावना को त्याग नहीं सकते।

(ख) **जातिवाद**—दलबन्दी तो जाति के बाहर भी हो सकती है, परन्तु जातिवाद तो जाति के अन्दर ही होता है। पंचायतों के चुनाव में अपनी जाति के भाइयों से विशेष रूप से अपील की जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि एक तरफ़ हम जातिवाद को दूर करने के नारे लगाते हैं दूसरी तरफ़ इन चुनावों में जातिवाद को प्रोत्साहन देते हैं।

(ग) **अयोग्य व्यक्ति**—पंचायती-राज की तीसरी हानि यह है कि इसमें अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में भी बागडोर आने की आशंका बनी रहती है। पहले तो योग्य व्यक्ति चुनाव का दंगल लड़ने से कतराते हैं, दूसरे अयोग्य व्यक्ति जो चुनाव के दाँव-पेंच खेलना जानते हैं, वोट ले जाते हैं। अभी अपने देश की जनता इतनी शिक्षित नहीं कि वह भले-बुरे का भेद समझ सके, अच्छे-बुरे में तमीज़ कर सके।

यह सब-कुछ होते हुए भी पंचायत-राज से हानि की अपेक्षा लाभ ज़्यादा हैं। चुनाव-प्रणाली में जो दोष होते हैं वे तो इसमें रहेंगे ही। वे दोष पंचायत-राज के ही नहीं, सब तरह के चुनावों के हैं, परन्तु इतने से पंचायत-राज को दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता। जनता को शिक्षित करने की आवश्यकता है, जो लोग पंचायतों में चुने जायें उनके लिए भी विशेष शिक्षण देने की आवश्यकता है। यह सब-कुछ होगा तो पंचायत-राज के दोष अपने-आप दूर हो जायेंगे।

१४. सामुदायिक-विकास योजनाओं द्वारा ग्रामीण-पुनर्निर्माण

जैसे पंचायतों के पुनःसंगठन से ग्रामीण-पुनर्निर्माण का कार्य हो रहा है वैसे सामुदायिक-विकास योजनाओं से भी ग्रामीण पुनर्निर्माण हो रहा है। सामुदायिक विकास-योजनाओं पर विचार करते हुए हम निम्न बातों पर विचार करेंगे :

(क) सामुदायिक-विकास योजनाओं का अर्थ तथा उद्देश्य,
(ख) सामुदायिक-विकास योजनाओं की रूप-रेखा
(ग) सामुदायिक-विकास योजनाओं में जनता का सहयोग,
(घ) सामुदायिक-विकास योजनाओं का महत्व तथा अ-ग्रामीण-जीवन पर प्रभाव,
(ङ) सामुदायिक-विकास योजनाओं का मूल्यांकन।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५. सामुदायिक-विकास योजनाओं का अर्थ*

[क] **प्लैनिंग कमीशन की व्याख्या**—"जनता के अपने प्रयत्नों से ग्रामीण-जीवन के सामाजिक तथा आर्थिक ढांचे को बदल देना ही सामुदायिक-विकास कहलाता है।"

[ख] **प्रथम-पंचवर्षीय योजना रिपोर्ट**—"सामुदायिक-विकास-प्रोग्राम का केन्द्रीय उद्देश्य ग्रामीण-जीवन के सारे स्तर को ग्रामवासियों के सामूहिक श्रम को क्रियशील बना कर उन्नत करना है।"

[ग] **इण्डिया : १९५९**—"सामुदायिक-विकास एक ऐसा अनुदान-प्राप्त तथा आत्म-निर्भर कार्य-क्रम है जिसे ग्रामवासी स्वयं क्रियान्वित करते हैं, सरकार केवल तकनीकी सहायता देती है और मार्ग-दर्शन करती है।"

[घ] **श्री देसाई**—"सामुदायिक-विकास योजना उस प्रणाली का नाम है जिसके ज़रिये पंच-वर्षीय-योजना गाँवों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के रूपान्तरण की प्रक्रिया प्रारंभ करती है।"

१६. सामुदायिक-विकास योजना का उद्देश्य*

सामुदायिक-विकास योजनाओं के उद्देश्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन।

(क) **अल्पकालीन उद्देश्य**—सामुदायिक-विकास-योजनाओं के अल्पकालीन उद्देश्य निम्न हैं :—

(i) कृषि उत्पादन में वृद्धि,
(ii) बेकारी की समस्या हल करना,
(iii) प्रारंभिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा, स्वास्थ्य आदि की उन्नति करना,

---

* **What do you understand by "Community Projects" ? Discuss their objects.** **(1956, 1962, 1964)**

[क] "Community Development is an attempt to bring about a social and economic transformation of village life through the efforts of the people themselves." —*Planning Commission.*

[ख] "The central object of the Community Development Programme is to mobilize local man-power for a concerted and co-ordinated effort at raising the whole level of rural life." —*First Five-Year Plan.*

[ग] "It is a programme of aided self-help to be planned and implemented by the villagers themselves, Government only offering technical guidance and financial assistance." —*INDIA* 1959.

[घ] "Community Development Project is the method through which Five-Year Plan seeks to initiate a process of transformation of the social and economic life of the villages." —*A. R. Desai.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(iv) मनोरंजन के केन्द्र खोलना,
(v) दस्तकारी तथा गृहोद्योगों की व्यवस्था द्वारा आर्थिक सुधार,
(vi) स्त्रियों की दशा में सुधार
(vii) सड़कों, मकानों की दशा सुधारना।

(ख) दीर्घकालीन उद्देश्य
(i) जनता का सदा के लिए दृष्टि-कोण बदल देना,
(ii) ग्रामीण-जनता में आत्म-निर्भरता की भावना पैदा कर देना,
(iii) योजनापूर्वक ग्राम की सामाजिक तथा आर्थिक समस्याओं को हल करते रहना।

१७. सामुदायिक-विकास-योजनाओं की रूप-रेखा*

पंचायतें बना देने से ही तो ग्रामों का पुनर्निर्माण नहीं हो जायगा। इसके लिए बहुत गहरा काम करना होगा। एक-एक गाँव को पकड़ कर उसकी सब समस्याओं को सुलझाना होगा। गाँवों की समस्याएँ हैं—कृषि, पशु, स्वास्थ्य, शिक्षा, प्रौढ़-शिक्षा, सहकारिता, मकान, सड़क, पानी—यह सब-कुछ। जब तक हर समस्या का समाधान नहीं होता तब तक गाँव का पुनर्निर्माण भी नहीं होता। इसी लक्ष्य को सामने रखकर स्वतंत्र भारत की सरकार ने 'सामुदायिक-योजनाओं' (Community Projects) की रूप-रेखा तैयार की और १९५२ में महात्मा गांधी के जन्म दिन २ अक्तूबर को उन्हें जारी किया।

सामुदायिक-योजना की रूप-रेखा निम्न थी :—

(क) 'अग्रगामी-योजना (Pilot project) के परीक्षण—योजना चालू की जाय इससे पहले उस प्रकार के परीक्षण कर लेना आवश्यक था। इस प्रकार के परीक्षण भिन्न-भिन्न प्रांतों में जारी किये गए। इनमें उत्तर-प्रदेश की १९४८ में प्रारंभ की गई 'इटावा अग्रगामी-योजना' (Etawah Pilot Project) प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त मद्रास की फ़िरका-अग्रगामी-योजना, केरल की मार्तण्डम-अग्रगामी-योजना भी प्रसिद्ध हैं।

(ख) 'सामुदायिक-योजनाएं (Community projects)—उक्त अग्रगामी-योजनाओं से प्रोत्साहित होकर बड़े पैमाने पर ग्राम-पुनर्निर्माण की योजनाओं का प्रारंभ किया गया। शुरू-शुरू में प्लैनिंग कमीशन ने ५५ 'सामुदायिक-योजनाओं' की स्वीकृति दी। इन ५५ 'सामुदायिक-योजनाओं' के लिए ४० करोड़ की स्वीकृति दी गई। इनको सफल बनाने में अमरीका ने ४ करोड़ रु० की सहायता दी। अमरीकी सहायता उपकरणों के रूप में दी गई थी। प्रथम-

---

* 1. Give main characteristics of community development programme of our country. (1961)
2. What are the objectives of our community development programme? How are they sought to be achieved? (1962)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पंच-वर्षीय-योजना में प्लैनिंग कमीशन ने पहले पाँच वर्षों के लिए १०२ करोड़ रुपया बजट में रखा था। इसका उद्देश्य यह था कि ५५ योजनाओं पर ४० करोड़ खर्च हो जाने पर इसी प्रकार की अन्य योजनाएँ भी इस १०२ करोड़ रुपये से ही जारी की जाँय। एक 'सामुदायिक-योजना' (Community project) २ लाख व्यक्तियों के क्षेत्र की आवश्यकताओं को पूरा करती थी। इसमें ३०० गाँव सम्मिलित किये गए थे। प्रत्येक 'सामुदायिक-योजना' (Community project) पर ६५ लाख खर्च किया गया। इन ३०० गाँवों की कृषि, पशु, स्वास्थ्य, शिक्षा आदि की सब समस्याओं को हल किये जाने का प्रोग्राम था। जैसा ऊपर कहा गया, ५५ 'सामूहिक-योजनाओं' का यह कार्य-क्रम २ अक्तूबर १९५२ को जारी किया गया।

(ग) 'सामुदायिक विकास-खंड' तथा 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड'—(Community Development Blocks and National Extension Service Blocks)—ऊपर जिन 'सामुदायिक-योजनाओं' का हमने वर्णन किया वे २ अक्तूबर १९५२ में शुरू की गईं। इनके ठीक एक साल बाद अक्तूबर १९५३ में उससे कुछ छोटी योजनाओं का प्रारंभ किया गया। इनका नाम था 'सामुदायिक विकास-खंड' (Community Development Blocks) तथा 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' (National Extension Service Blocks)। इन दोनों खंडों में भेद सिर्फ़ इतना था कि 'राष्ट्रीय-विस्तार-सेवा-खंड' में कार्य-क्रम उतना गहरा नहीं था जितना 'सामुदायिक विकास-खंड' में था, वैसे दोनों का क्षेत्र १०० गाँव, ६० से ७० हज़ार की आबादी तथा १५० से १७० वर्गमील क्षेत्र था। 'सामुदायिक-योजनाओं' (Community Projects) पर तो अमरीका से ४ करोड़ रु० की सहायता ली गई थी, इन 'सामुदायिक-विकास-खंडों' तथा 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंडों' के लिए किसी से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली गई। ध्यान रखने की बात यह है कि 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' का काम जब गहराई से चल पड़ता है, तब वही 'सामुदायिक विकास-खंड' के रूप में परिणत हो जाता है। प्रथम पंच-वर्षीय योजना तक एक 'सामुदायिक-योजना' (Community project) में तीन 'सामुदायिक विकास-खंड' (Community development blocks) थे, और इन 'विकास-खंडों' की योजना १९५३ में शुरू की गई थी। द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में योजना को नये सिरे से ढाला गया। बड़े पैमाने की ३०० गाँवों की 'सामुदायिक-योजनाओं' (Community projects) को छोड़ दिया गया और उनके स्थान में १०० गाँवों के 'विकास-खंड' (Development blocks) बनाये गए। इन 'विकास-खंडों' में पहले एक साल तक 'पूर्व-विस्तार कार्यकाल' (Pre-extension phase) होता है जिसमें सिर्फ़ कृषि पर बल दिया जाता है, उसके बाद 'राष्ट्रीय- विस्तार-सेवा-खंड' (N.E.S. Blocks) के रूप में पाँच साल तक काम होता है और उस पर ७½ लाख रु० व्यय होते हैं। जब वह जड़ पकड़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है तब उसे 'सामुदायिक विकास-खंड' (Community development block) में बदल दिया जाता है जो फिर पाँच साल तक चलता है और उस पर भी ७½ लाख रु० व्यय होता है और इस प्रकार दस साल काम हो चुकने के बाद उस काम को आगे चलाने के लिए कुछ स्टाफ़ छोड़ दिया जाता है। इस दृष्टि से 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' तथा 'सामुदायिक विकास-खंड' एक ही योजना के दो पहलू हैं।

जनवरी १९६३ तक सारे देश में 'पूर्व-विस्तार कार्य-काल' (Pre-Extension phase) में ९६१ विकास-खंड चल रहे थे, जिन खंडों को चले पाँच वर्ष पूरे नहीं हुए थे या जिन्हें जारी हुए पाँच वर्ष हो चुके थे, उनकी संख्या ४,१८७ थी। देश को कुल ५,२२३ विकास-खंडों में बाँटा गया है और योजना के अनुसार अक्तूबर १९६३ तक सारा देश विकास-खंडों के अन्तर्गत आ जायगा।

'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' (N. E. S. block) तथा 'सामुदायिक विकास-खंड' (Community development block) में जो थोड़ा-बहुत अन्तर है वह उनमें काम करने वाले स्टाफ़ से स्पष्ट हो जायगा। 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' में निम्न स्टाफ़ रहता है—१ 'विकास-अधिकारी'; ३ 'विस्तार-अधिकारी' (इन तीनों में से एक कृषि का, एक पशुओं का तथा एक सहकारिता एवं पंचायतों का विशेषज्ञ); २ सामाजिक-शिक्षा के संगठन-कर्ता (इन दो में से एक स्त्री तथा एक पुरुष); १ ओवरसीयर (इसे स्वास्थ्य-सेवा का ज्ञान होना चाहिए); १० 'बहुधंधी ग्राम-सेवक'; १ गणक तथा भंडारी; १ क्लर्क और ३ नौकर। 'सामुदायिक विकास-खंड' में उक्त स्टाफ़ तो रहता ही है, परन्तु इसके अलावा निम्न स्टाफ़ अतिरिक्त रहता है—'बहुधंधी ग्राम-सेवक' १० की जगह १२। इन के अलावा ४ पशुओं के काम के सहायक; १ डाक्टर; १ कम्पाउण्डर; १ लेडी हेल्थ विज़िटर; ४ दाइयाँ; १ स्वास्थ्य-शिक्षक; २ भंगी —ये और रहते हैं। सामाजिक-शिक्षा के संगठन-कर्ताओं के ऊपर १ मुख्य समाज-सेवा संगठन-कर्ता भी 'सामुदायिक विकास-खंड' में रखा जाता है, परन्तु वह तीन 'सामुदायिक विकास-खंडों' के लिए एक होता है। इससे स्पष्ट है कि 'राष्ट्रीय विस्तार-सेवा-खंड' की अपेक्षा 'सामुदायिक विकास-खंड' में बहुत ज्यादा भेद तो नहीं होता, परन्तु स्वास्थ्य की दिशा में 'सामुदायिक विकास-खंड' में बहुत ज्यादा ध्यान दिया जाता है। भोर-समिति की अल्पकालीन स्वास्थ्य-योजना को 'सामुदायिक विकास-खंडों' में स्थान दिया गया है। कृषि, पशु, सहकारिता, पंचायत, शिक्षा, मनोरंजन आदि सब क्षेत्रों में इन विकास-खंडों में ध्यान दिया जाता है।

(घ) 'बहुधंधी ग्राम-सेवक' (Multi-purpose village-level workers)—'राष्ट्रीय विस्तार सेवा-खंड' (N. E. S. block) तथा 'सामुदायिक विकास-खंड'—इन दोनों खंडों में १०० गाँव होते हैं, इन १०० गाँवों की समस्याओं को कैसे हल किया जाय? ऊपर के सारे काम का संचालन तो किसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक ही स्थान से हो सकता है, और विकास-अधिकारी उसी एक स्थान पर रह सकता है; फिर इन १०० गाँवों के साथ संपर्क कैसे स्थापित किया जाता है? इस समस्या को हल करने के लिए ३ से ५ हज़ार के क्षेत्र के १० गाँवों के लिए एक-एक 'बहुधंधी ग्राम-सेवक' (Multi-purpose village-level worker) रखा गया है। एक 'विकास-खंड' में क्योंकि १०० गाँव हैं इसलिए एक खंड में १० ग्राम-सेवक रखने की व्यवस्था की गई है। इनका काम १० गाँवों के लोगों से सम्पर्क स्थापित करना, उनकी समस्याओं को समझना, इन समस्याओं को 'विकास-खंड' के अधिकारियों के पास लाना और हल समझ कर गाँव के लोगों तक पहुँचाना होता है। ये ग्राम-सेवक इस सारी योजना की जान हैं। इन ग्राम-सेवकों को बाकायदा प्रशिक्षण दिया जाता है और इनका ग्राम-वासियों की कृषि, पशु, लेन-देन, कर्ज़, शिक्षा, चिकित्सा आदि हर समस्या से जानकारी रखना आवश्यक है।

१८. सामुदायिक विकास-योजनाओं का कार्यक्रम*

सामुदायिक विकास-योजनाओं का उद्देश्य ग्रामीण-पुनर्निर्माण है इसलिए इसके कार्य-क्रम में वे सब बातें आ जाती हैं जिनसे ग्रामों का सुधार हो, ग्रामों की समस्याओं का हल हो, ग्रामीण-जीवन का जो धीरे-धीरे विगठन हो रहा है उसका 'पुनः संस्थापन' (Rehabilitation) हो, वह उन्नत हो। इसके कार्य-क्रम में निम्न बातें आ जाती हैं जिनसे स्पष्ट हो जायगा कि इनके द्वारा ग्रामीण जीवन विकसित होने लगेगा, उन्नत होने लगेगा, विगठित हो रहे ग्रामीण-समुदाय का पुनः संस्थापन होने लगेगा, सामुदायिक-विकास योजनाओं द्वारा ग्राम का जीवन आमूल-चूल बदल जायगा।

(क) कृषि का विकास—कृषि के विकास से संबंध रखने वाले सब कार्य-क्रम सामुदायिक-विकास-योजनाओं के अन्दर आ जाते हैं। उदाहरणार्थ, नयी भूमि तोड़ना, बंजर भूमि को कृषि योग्य बनाना, कूएँ, तालाब, नल-कूप, छोटी नहरों की व्यवस्था कर सिंचाई का प्रबन्ध करना, बीज, खाद को जुटाना, उत्तम हल आदि की व्यवस्था करना, पशुओं की चिकित्सा करना, नस्ल सुधार के लिए कृत्रिम-गर्भाधान-केन्द्र खोलना, भू-क्षरण को रोकना, वृक्ष लगाना आदि।

(ख) यातायात के साधनों की व्यवस्था—सड़कें बनाना तथा बनी हुई सड़कों को ठीक करना।

---

* 1. How are community projects to improve village life in India? (1954)

2. How have the community projects helped in rehabilitation of village communities? (1959)

3. State briefly the influence of community projects upon village life. Illustrate your answer with examples. (1960)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) **मकानों की व्यवस्था**—गाँव वालों को रोशनी तथा हवादार मकान बनाने के नक्शे देना और टीन, सीमेंट आदि की सुविधा देना ।

(घ) **स्वास्थ्य तथा सफ़ाई**—सामुदायिक-विकास योजना के प्रत्येक खंड में मलेरिया, चेचक, हैज़ा, तपेदिक आदि के उन्मूलन का प्रबन्ध किया जाता है; योजना-क्षेत्र में एक चलता-फिरता अस्पताल रहता है जिससे ग्रामवासियों को इलाज की सुविधा रहे।

(ङ) **शिक्षा की व्यवस्था**—बच्चों के लिए बेसिक तथा प्रौढ़ों के लिए ग्राम में प्रौढ़-शिक्षा की व्यवस्था की जाती है। ग्रामों में वाचनालय, पुस्तकालय खोले जाते हैं।

(च) **प्रशिक्षण-केन्द्र**—ग्राम के पंचों, मुखियाओं आदि को प्रशिक्षित करने तथा उन्हें अपने काम की जानकारी के लिए सामूहिक-विकास-योजनाओं में प्रशिक्षण-केन्द्र खोले जाते हैं जिनमें ८–१० दिन जाकर वे अपने काम के उत्तर-दायित्व को समझने का प्रयत्न करते हैं।

(छ) **रोज़गार की व्यवस्था**—गाँव में कुछ लोग बिल्कुल बेकार होते हैं, जो खेती करते हैं वे भी कुछ महीने बेकार रहते हैं। सामुदायिक-विकास योजनाओं में ग्रामों में ऐसे उद्योगों की व्यवस्था की जाती है जिससे बेकारों तथा अर्ध-बेकारों को रोज़गार मिल सके।

(ज) **सामाजिक-कल्याण**—सामुदायिक-विकास योजनाओं द्वारा ग्रामों में हाट आदि की व्यवस्था की जाती है, सहकारिता को प्रोत्साहन दिया जाता है, मेल-मिलाप बढ़ाने का प्रयत्न किया जाता है, लोग एक-दूसरे से मिल-जुल कर रहें, आपसी झगड़े आपस में निबटा लें—ऐसी व्यवस्था की जाती है।

(झ) **मनोरंजन के साधन**—ग्रामवासियों में सामुदायिकता की भावना उत्पन्न करने के लिए, रेडियो, सिनेमा, खेल-तमाशों, प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है। जब सब मिल कर एक जगह बैठते हैं, कन्धे से कन्धा भिड़ता है तब गाँव की बहुत-सी समस्याएँ तो स्वयं हल हो जाती हैं।

१९. सामुदायिक-विकास योजनाओं का संगठन

सामुदायिक-विकास योजनाओं का संगठन केन्द्र, राज्य, ज़िला, खंड, ग्राम—इन पाँच स्तरों पर होता है। उसका विवरण निम्न है :—

(क) **केन्द्र के स्तर पर**—केन्द्रीय स्तर पर एक केन्द्रीय मंत्रालय है जिसका नाम 'मिनिस्ट्री ऑफ़ कम्यूनिटी डिवेलपमेंट एण्ड को-ऑपरेशन' है। यह एक मंत्री के आधीन काम करता है और देश भर के सामुदायिक-विकास के लिए यही उत्तरदायी है।

(ख) **राज्य के स्तर पर**—केन्द्रीय मंत्रालय के आधीन प्रत्येक राज्य में एक 'स्टेट डिवेलपमेंट कमेटी' होती है जिसका प्रधान राज्य का मुख्य-मंत्री होता है, इस कमेटी का मंत्री 'विकास-कमिश्नर' होता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) **ज़िले के स्तर पर**—'स्टेट डिवेलपमेंट कमेटी' के आधीन प्रत्येक ज़िले में 'डिस्ट्रिक्ट डिवेलपमेंट कमेटी' होती है जिसका अध्यक्ष 'डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट' होता है।

(घ) **खण्ड के स्तर पर**—इस सारे कार्य-क्रम की इकाई 'विकास-खंड' (Development block) होता है। 'विकास-खंड' में १०० गाँव, १५० वर्गमील क्षेत्रफल और ६०–७० हज़ार के बीच की जन-संख्या होती है। इस 'विकास-खंड' का मुख्य-अधिकारी 'ब्लॉक डिवेलपमेंट आफ़िसर' या बी० डी० ओ० कहलाता है। उसी की देख-रेख में सम्पूर्ण विकास-खंड का कार्य चलता है। उसके आधीन कुछ 'एक्सटेंशन आफिसर' तथा कुछ 'विशेषज्ञ' होते हैं। ये कृषि, सहकारिता, पशुपालन, कुटीर-उद्योग आदि में बी० डी० ओ० की सहायता करते हैं।

(ङ) **ग्राम के स्तर पर**—हमने अभी कहा कि एक विकास-खंड में १०० गाँव होते हैं। इनमें से दस-दस गाँवों की इकाई मान कर इनमें एक 'ग्राम-सेवक' रहता है, सारे विकास-खंड में १० ग्राम-सेवक रहते हैं जो अपने गाँवों में घूमते-रहते हैं। इन्हें बहुधंधी ग्राम-सेवक कहा जाता है क्योंकि ये कृषि, पशु-पालन, मुर्ग़ी-पालन, स्वास्थ्य आदि सब दिशाओं में शिक्षण प्राप्त किये रहते हैं। ये ग्रामवासियों से संपर्क स्थापित कर उनकी समस्याओं को हल करते हैं, जिन्हें नहीं हल कर सकते उन्हें विकास-खंड में आकर विशेषज्ञों से सलाह लेकर हल करने का प्रयत्न करते हैं। इस सारी विकास-योजना की रीढ़ ये ही ग्राम-सेवक हैं।

२०. सामुदायिक-विकास योजना तथा जनता*

सामुदायिक-विकास योजनाओं की सफलता के आधार-स्तम्भ दो हैं—सरकार तथा जनता। सरकार इस संबंध में जो-कुछ कर रही है वह हमने लिखा। परन्तु ये योजनाएँ तबतक सफल नहीं हो सकतीं जब तक जनता का इनके सफल बनाने में पूर्ण सहयोग न हो। हमने सामुदायिक-विकास योजनाओं का अर्थ लिखते हुए लिखा था कि प्लैनिंग कमीशन के शब्दों में "जनता के अपने प्रयत्नों से ग्रामीण-जीवन के सामाजिक तथा आर्थिक ढाँचे को बदल देना ही सामुदायिक-विकास कहलाता है।" सामुदायिक-विकास में जनता का प्रयत्न आवश्यक है। सामुदायिक-विकास के उद्देश्यों का वर्णन करते हुए हमने लिखा था कि इनका उद्देश्य जनता के दृष्टि-कोण को बदल देना है, उसमें आत्म-निर्भरता की भावना को उत्पन्न कर देना है। जबतक ग्रामवासी स्वयं अपनी समस्याओं को खुद नहीं समझेंगे, उनके हल करने में खुद नहीं जुटेंगे तबतक सरकार सब-कुछ करने की सामर्थ्य रखती हुई भी कुछ नहीं कर सकेगी। यही कारण है कि ग्राम-सेवकों तथा विकास-

---

* **What role are people expected to play in the fulfilment of community project?** (1954)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिकारियों में वे ही सफल हो सकते हैं जो जनता के साथ घुल-मिल जाते हैं, जिनका जीवन जनता का जीवन हो जाता है।

१९५९ से पहले सामुदायिक-विकास का सारा कार्य सरकार द्वारा होता था, परन्तु १९५९ में भारत-सरकार ने यह तय किया कि विकास का सारा कार्य सार्वजनिक-संस्थाओं के हाथ में दे दिया जाना चाहिए। यही कारण है कि अब विकास का सारा कार्य पंचायतों के हाथ में सौंप दिया गया है। पंचायतें ही आधार-भूत आँकड़े एकत्रित करती हैं, गाँव की आवश्यकताओं का संकलन कर उनमें प्राथमिकता का निश्चय करती हैं।

२१. सामुदायिक-योजनाओं तथा राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं का मूल्यांकन*

(Evaluation of the working of C.D. and N.E.S. Blocks)

प्लैनिंग-कमीशन ने सामुदायिक योजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवाओं की यथार्थ स्थिति का मूल्यांकन करने के लिए, यह जानने के लिए कि इन योजनाओं में कहाँ तक सफलता मिली है, कहाँ हेर-फेर तथा परिवर्तन की आवश्यकता है, एक संस्था बनाई हुई है जिसका नाम है—'प्रोग्राम इवैल्युएशन ऑर्गनाइज़ेशन' (Programme Evaluation Organisation)। इस संस्था की तरफ़ से एक 'प्रोजेक्ट इवैल्युएशन ऑफ़िसर' (Project Evaluation Officer) भी नियुक्त किया जाता है। इस संस्था द्वारा सामुदायिक-योजनाओं का निरीक्षण करके, उसके कार्यकर्ताओं से मिल-जुल कर, उनकी कठिनाइयों को समझ कर और हर बात की जाँच-पड़ताल करके समय-समय पर रिपोर्ट तैयार की जाती है। १९५५, १०५६ में भी इस प्रकार की रिपोर्टें तैयार हुईं, और मई १९५८† में इस संस्था की पाँचवीं रिपोर्ट प्लैनिंग-कमीशन के सम्मुख प्रस्तुत की गई। १९५८ की रिपोर्ट में सामुदायिक-योजनाओं तथा राष्ट्रीय विस्तार-सेवाओं के विषय में जो मुख्य-मुख्य बातें कही गई वे निम्न हैं :—

(१) विस्तार-खंड के कार्यकर्ताओं की संख्या और विस्तार-खंड पर दिया जाने वाला व्यय विस्तार-खंड के क्षेत्र के अनुकूल होना चाहिए—'प्रोग्राम इवैल्यु-एशन ऑर्गनाइज़ेशन' का कहना है कि योजना-खंडों के अध्ययन से पता चला है कि जन-संख्या की दृष्टि से योजना का क्षेत्र प्रायः २५ प्रतिशत बड़ा है, और जो बड़े क्षेत्र हैं उनमें उस क्षेत्र के अनुरूप उतना अधिक न तो स्टाफ़ ही रखा गया है और न उतने बड़े क्षेत्र के लिए उतने धन की व्यवस्था की जाती है। इसका परिणाम

---

* **Discuss briefly the aims and objectives of community development projects in India. Point out their short-comings. (1964)**

† **The Fifth Evaluation Report on Working of Community Development and N.E.S. Blocks, published by the Programme Evaluation Organisation, Planning Commission, May, 1958.**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह हुआ है कि प्रोग्राम को उतनी गहराई में न चलाकर हल्का करना पड़ता है। सामुदायिक-योजनाओं और राष्ट्रीय विस्तार-सेवाओं को उपयोगी बनाने के लिए इन क्षेत्रों में जितने कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है और जितने धन की आवश्यकता है उसकी व्यवस्था किये बिना इन योजनाओं का पूर्ण रूप से सफल होना कठिन है।

(२) **विकास-खंडों की संख्या तभी बढ़ानी चाहिए जब कार्यकर्ताओं की संख्या पर्याप्त हो**—'प्रोग्राम इवैल्युएशन ऑर्गनाइज़ेशन' के सदस्यों का कहना है कि जहाँ तक वस्तु-स्थिति का अध्ययन किया गया है उसके अनुसार तो यह परिणाम निकलता है कि विकास-क्षेत्रों में कार्य करने वालों का अभी बहुत अभाव है। उदाहरणार्थ, ४० प्रतिशत विकास-क्षेत्रों में 'क्षेत्र-विकास-अधिकारी' (Block Development Officer—B. D. O.) पूरे समय तक उपस्थित नहीं थे और 'विकास-योजना-क्षेत्रों' (C. D. Blocks) तथा 'विस्तार-सेवा-क्षेत्रों' (N. E. S. Blocks) में कृषि-विशेषज्ञ योजना-काल के एक-चौथाई समय तक उपस्थित नहीं थे। इस सब का यही परिणाम हो सकता है कि योजना तो चालू रही, परन्तु योजना को क्रियान्वित करने वाले व्यक्तियों का अभाव रहा। जब योजना को चलाने वाले व्यक्ति ही न रहे, तब योजना भी क्या चली होगी ?

(३) **सामुदायिक-योजनाओं और राष्ट्रीय-विस्तार-सेवाओं का प्रोग्राम और उसे पूर्ण करने के लिए रखे गये कार्यकर्ता उस-उस क्षेत्र की स्थानीय आवश्यकताओं को देखकर तदनुरूप होने चाहियें**—ऐसा प्रतीत होता है कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की योजनाएँ उस-उस क्षेत्र की स्थानीय आवश्यकताओं को देख कर नहीं बनाई गईं। परिणाम यह होता है कि योजना का जो प्रोग्राम बनाया जाता है वह स्थानीय आवश्यकताओं को पूरा नहीं करता और इससे वहाँ के लोगों के जीवन को योजना छू नहीं पाती। खास कर स्टाफ़ रखते और प्रोग्राम बनाते हुए स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में नहीं रखा जाता।

(४) **'खंड-विकास-अधिकारी' (Block Development Officer) की योग्यता और उसकी स्थिति उसकी वर्तमान योग्यता और स्थिति से ऊँची होनी चाहिए**—ज्यों-ज्यों समय बीतता जायगा त्यों-त्यों अपने देश में सत्ता का विकेन्द्रीकरण होता जायगा और सत्ता कुछ लोगों के हाथ में केन्द्रित रहने के स्थान में जनसाधारण के हाथ में आ जायेगी। प्रजातांत्रिक-युग का यह अवश्यम्भावी परिणाम है। इसका परिणाम यह होगा कि जितने विकास-क्षेत्रों में काम करने वाले अधिकारी हैं उनका महत्त्व बढ़ जायगा क्योंकि वे भारत के ग्रामों में बसने वाली जनता के निकटतम सम्पर्क में रहने वाले व्यक्ति हैं। ऐसी स्थिति में इन कार्यकर्त्ताओं का महत्त्व पहले से बहुत अधिक बढ़ जायगा। क्योंकि इनका महत्त्व बढ़ेगा इसलिए यह आवश्यक है कि लोग योग्यता में अब से बढ़े-चढ़े हों और स्थिति इनकी वर्तमान स्थिति से ऊँची मानी जाय।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(५) कृषि के अलावा अन्य सभी क्षेत्रों में भी विकास तथा विस्तार (Development and Extension) के कार्य को बढ़ाया जाय और विशेषज्ञों को अपना कार्य करने दिया जाय, उन्हें प्रबन्ध के कार्य से मुक्त किया जाय—फ़िलहाल विकास-क्षेत्रों में कृषि के अलावा 'विस्तार-कार्य' (Extension work) बहुत कम दिखाई देता है। जो भी विशेषज्ञ इन विकास-क्षेत्रों में कार्य करते हैं, वे प्रायः प्रबन्ध के कार्य में व्यस्त रहते हैं। अगर हम इन क्षेत्रों का सब दिशाओं में विकास चाहते हैं तो इन विशेषज्ञों को अपने-अपने क्षेत्रों में विशेष ध्यान देना होगा। उदाहरणार्थ, चिकित्सा-विशेषज्ञ को चिकित्सा की तरफ़, शिक्षा-विशेषज्ञ को शिक्षा की तरफ़ ध्यान देना होगा। इस समय कृषि-विशेषज्ञ तो कृषि के विस्तार में लगा ही रहता है, अन्य विशेषज्ञ प्रबन्ध के कार्य में ही व्यस्त रहते हैं। इस स्थिति को बदलना होगा।

(६) 'क्षेत्र-विशेषज्ञ' (Block Specialist) तथा ग्राम-सेवक के पारस्परिक सम्पर्क को बढ़ाना तथा ग्राम-सेवक के कार्य तथा क्षेत्र को स्पष्ट करना आवश्यक है—इस समय ग्राम-सेवक तथा क्षेत्र-विशेषज्ञों का संपर्क कृषि-के क्षेत्र को छोड़कर अन्य क्षेत्रों में न के बराबर होता है। विशेषज्ञ भी अपने-अपने क्षेत्र में अधिकतर प्रबन्ध के काम में ही लगे रहते हैं, और संभवतः इसी कारण उन्हें या तो ग्राम-सेवक की आवश्यकता नहीं पड़ती और अगर कभी आवश्यकता पड़ती भी है, तो वह इतना कम प्रशिक्षित होता है कि उनके किसी काम नहीं आ सकता, वे उसके बग़ैर अपना काम चला सकते हैं। यह स्थिति ठीक नहीं है। हमारी योजना में ग्राम-सेवक 'बहु-धंधी विस्तार-कार्यकर्ता' (Multi-purpose extension worker) है, परन्तु वह इस भूमिका को सफलता से निबाहने के लिए तैयार नहीं किया जाता। या तो उसका प्रशिक्षण अधिक विस्तृत-क्षेत्रों के लिए होना चाहिए ताकि वह प्रत्येक विशेषज्ञ को उसके काम में सहयोग दे सके, या उसका प्रशिक्षण कुछ ही क्षेत्रों में होना चाहिए और उसे काम करने के लिए भी सीमित क्षेत्र देने चाहिएँ। इस समय उसके कार्य का क्षेत्र अधिक विस्तृत है, परन्तु उसकी योग्यता का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं है। इस समय ग्राम-सेवक की जितनी योग्यता होती है उसकी अपेक्षा उसके कार्य का क्षेत्र २५ प्रतिशत अधिक विस्तृत है। इसके अतिरिक्त ग्राम-सेवक जहाँ रहता है उस स्थान को छोड़ कर अन्य ग्राम जिनमें उसे काम करना है उसकी सेवाओं का ४५ प्रतिशत कम फ़ायदा उठा सकते हैं।

(७) विकास-क्षेत्रों के लिए धन प्राप्त करने की व्यवस्था को सरल बनाना होगा—विकास-क्षेत्रों के लिए जितना धन स्वीकृत किया जाता है उतना वे ख़र्च नहीं कर सकते। इसका कारण है धन प्राप्त करने की व्यवस्था का पेचीदा होना। या तो ठीक समय पर धन की स्वीकृति नहीं प्राप्त होती, जब स्वीकृति हो भी जाती है तब भी दफ्तरी लम्बी-चौड़ी कार्यवाही के कारण धन समय पर प्राप्त नहीं होता जिससे कार्य अधूरे पड़े रह जाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(८) जनता का सहयोग प्राप्त करने के उपायों पर विचार करने की आवश्यकता है—जब से सरकार द्वारा विकास का कार्य प्रारंभ हुआ है तब से जनता में यह भावना उत्पन्न हो गई है कि यह सब-कुछ सरकार का काम है, इसमें जनता को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है। सरकारी लोगों की भावना भी ऐसी ही रहती है कि वे अपने अफ़सरपन में अधिक रहते हैं। इस सब में परिवर्तन की आवश्यकता है। इस दृष्टि-कोण का परिवर्तन तभी हो सकता है जब इन क्षेत्रों में सरकारी कार्यकर्त्ता वे लोग हों जिनकी भावना जनता की भावना हो, जो जनता के साथ हिल-मिल सकते हों, उनके साथ एक-जान हो सकते हों। जीपों में सैर करते फिरने वाले और चपरासियों से अपने घर के काम कराने वाले जनता में किसी प्रकार का उत्साह नहीं पैदा कर सकते।

(९) हरिजनों तथा अन्य भूमि-हीनों को लाभ पहुँचाने के लिए विकास-कार्यों की रूप-रेखा में परिवर्तन करना होगा—इस समय जो विकास-कार्य चल रहे हैं उनसे हरिजनों तथा अन्य पिछड़े वर्गों को भी लाभ पहुँचा है। उदाहरणार्थ, कुएँ खुदे हैं, सड़कें बनी हैं, स्कूल खुले हैं। इन सब का इन्हें भी फ़ायदा पहुँचा है। इन पिछड़े वर्गों के लिए कहीं-कहीं विशेष तौर पर कार्य हुआ। परन्तु फिर भी विकास-क्षेत्रों में अधिक कार्य कृषि-संबंधी ही हुआ है, और क्योंकि हरिजनों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के पास भूमि ही नहीं है, इसलिए उन्हें अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा कम लाभ मिला है। इस दृष्टि को सामने रखते हुए हमें विकास-क्षेत्र के कार्य की रूप-रेखा में कुछ परिवर्तन करना होगा ताकि इन्हें भी लाभ पहुँच सके।

इस प्रकार हमने देखा कि भारत के ग्रामों का पुनर्निर्माण पहले ग़ैर-सरकारी तौर से चलता रहा और अब सरकार की सहायता से विकास-योजनाओं द्वारा बड़ी तीव्र-गति से चल रहा है।

प्रश्न

१. भारत में ग्रामीण पुनर्निर्माण और नियोजन के महत्व की विवेचना कीजिये। (१९५१)

२. ग्राम-पंचायत एक्ट ने ग्रामीण-समुदाय के पुनः प्रतिष्ठान में कहाँ तक सहायता पहुँचायी है? (१९५१)

३. ग्राम-पंचायतें कहाँ तक भारत में सामाजिक-सुधार में साधन हैं? ग्राम-पंचायत एक्ट ग्रामीण-जीवन को कहाँ तक उन्नत कर सकता है? (१९५३)

४. सामुदायिक-विकास-योजनाओं द्वारा भारत के ग्रामीण जीवन में सुधार किस प्रकार से होगा? इन योजनाओं की सफलता में जनता का क्या योग होगा? (१९५४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. ग्रामीण पुनर्निमाण में ग्राम-पंचायतों के महत्व की विवेचना कीजिये। (१९५६)

६. सामुदायिक विकास योजनाओं से, आप क्या समझते हैं? इनके उद्देश्यों की विवेचना कीजिये। (१९५६)

७. सामुदायिक-योजनाओं ने ग्रामीण-समुदाय के पुनःप्रतिष्ठान में कैसे सहायता पहुँचायी है? (१९५९)

८. ग्रामीण-जीवन पर सामुदायिक-योजनाओं का प्रभाव बतलाइये। अपने उत्तर को उदाहरणों से स्पष्ट कीजिये। (१९६०)

९. हमारे देश में सामुदायिक-विकास कार्य-क्रम के मुख्य लक्षण बतलाइये। (१९६१)

१०. सामुदायिक-विकास-योजना के क्या उद्देश्य हैं? उन्हें कैसे पूरा किया जाय? (१९६२)

११. भारत के ग्रामों के पुनर्निर्माण के लिए क्या पग उठाये जा रहे हैं? (१९६३)

१२. भारत की सामुदायिक-विकास योजनाओं के लक्ष्य तथा उद्देश्यों की संक्षिप्त विवेचना कीजिये। इनकी न्यूनताओं पर भी प्रकाश डालिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१८

नगरों का विकास
(THE GROWTH OF TOWNS)

१. नगरीकरण का अर्थ*

मानव-समूह का आपस में निकट का संबंध दो तरह का हो सकता है—'अस्थिर' या 'स्थिर'। आप बाज़ार में चले जा रहे हैं, एक व्यक्ति किसी मकान के सामने सिर ऊँचा किये खड़ा है, आप भी उसी की तरह सिर ऊँचा करके उधर ही देखने लगते हैं जिधर वह देख रहा था। दूसरा आता है, तीसरा आता है, जितने लोग आते हैं, सब ऊपर को देखने लगते हैं। सभा हो रही है, व्याख्यान चल रहा है। एक नहीं, दो नहीं, सैंकड़ों-हज़ारों व्यक्ति व्याख्यान सुनने खड़े हो जाते हैं। कुछ देर बाद ये सब तितर-बितर हो जाते हैं, फिर इनमें से किसी को दूसरे से मिलने का मौका नहीं मिलता। ये सब लोग मिले थे, इनका कुछ क्षणों

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :—

1. "The best general test of the industrialisation of a nation's life under modern conditions is the rate and character of the growth of its towns." Explain this statement by tracing the growth of towns in India. (1953)

2. What were the factors responsible for the growth of towns in the past? Account for the decay of the old towns and the growth of new ones. (1955)

3. Bring out the contrast between rural and urban communities in India. (1957)

4. How far can urban life be regarded as a distinct sociological phenomenon? Mention its main characteristics. (1958)

5. Do you agree with the view that due to industrialisation new towns have grown ? What are the factors responsible for the growth of towns in India in the past? (1959)

6. Explain the meaning of urbanisation. What are the chief differences between urban and rural life? (1960)

7. What factors have been responsible for the recent growth of towns in our country? Discuss the main social problem faced by these growing towns. (1961)

*** Explain the meaning of urbanisation. (1960)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का समुदाय था, पर वह 'अस्थिर' समुदाय था। जैसे 'अस्थिर' समुदाय होते हैं, वैसे 'स्थिर' समुदाय भी होते हैं। जो लोग एक जगह बस गए, वहीं रहने लगे, वहीं काम-धंधा करने लगे, वे भीड़ की तरह कुछ मिनटों के लिए तो एक-दूसरे के सम्पर्क में नहीं आते। वे तो दिन-रात साथ रहते हैं, अपने साथ रहनेवाले दूसरे लोगों के साथ उनके स्वार्थ जुड़ जाते हैं। इस प्रकार जब मनुष्य मनुष्य के साथ अस्थिर रूप से नहीं, स्थिर रूप से सम्पर्क में आता है, दूसरों के साथ रहने लगता है, तब निवास का प्रारंभ होता है। शुरू-शुरू में मानव-समाज का धंधा जब खेती हुआ तब यह धंधा करने वाले लोग स्थिर रूप से एक-दूसरे के साथ रहने लगे, उनका एक जगह निवास हो गया। इससे ग्रामों का निर्माण हुआ, परन्तु खेती भी तो ऐसा धंधा नहीं जो सदा-सर्वदा मानव-समाज को घेरे रहे। जन-संख्या बढ़ती जाती है, गाँव के रहने वालों के लिए भूमि पर्याप्त नहीं रहती, वे किसी अन्य काम-काज के लिए निकल पड़ते हैं। ये काम-काज जिन स्थिर स्थानों पर चल रहे होते हैं, वे शहर कहलाते हैं। गाँव में आजीविका का साधन 'कृषि' तथा शहर में आजीविका का साधन 'उद्योग' है; 'कृषि' से ग्रामों का निर्माण और 'उद्योग' से शहरों का निर्माण होता है।

जब लोग 'कृषि' को छोड़ कर 'उद्योग' की तरफ़ चल पड़ते हैं, विरल आबादी की जगह घनी आबादी होने लगती है, जब उनका आमने-सामने का, जान-पहचान का जीवन न रहकर ऐसा जीवन हो जाता है कि कोई किसी को पहचानता ही नहीं है, तब जो प्रक्रिया चल पड़ती है उसे 'नगरीकरण' कहा जाता है। इस प्रक्रिया में भिन्न-भिन्न पेशे, भिन्न-भिन्न रोज़गार पैदा हो जाते हैं, सब तरफ़ विविधता दीख पड़ती है।

२. ग्रामीण तथा नागरिक जीवन में भेद*

हमने देखा कि गाँवों तथा शहरों के बनने में मानव-समाज का एक-दूसरे के साथ 'अस्थिर' नहीं, 'स्थिर' संबंध कारण होता है; 'अस्थिर'-संबंध भीड़, समुदाय आदि में होता है, 'स्थिर'-संबंध गाँव-शहर आदि में होता है। गाँव तथा शहर दोनों में 'स्थिर'-संबंध के होते हुए भी गाँव में हर व्यक्ति का दूसरे के साथ निकट का संबंध होता है, शहर में निकट का संबंध नहीं होता, दूर का संबंध होता है। शहर में एक-दूसरे को जानने के लिए क्लब, सभा, सोसाइटियाँ बनी होती हैं, जहाँ लोग जाते हैं, उनके सदस्य बनते हैं, इस प्रकार एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं; गाँव में घर बैठे ही सब-कोई एक-दूसरे को जानता है। शहर में हो सकता है लोग पास वाले को न जानते हों, क्लब का सदस्य होने के नाते या समाचार-पत्र द्वारा दूर के व्यक्ति को जानते हों; गाँव में दूर वाले को नहीं पर पास वाले को लोग जानते हैं। गाँवों में क्योंकि निकट का संबंध होता है इसलिए वहाँ सब एक

* What are the chief differences between urban and rural life ? (1957, 1958, 1960)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सूत्र में बँधे रहते हैं; शहरों में यह एक-सूत्रता नहीं दिखाई देती। इसी कारण रीति-रिवाज गाँवों में जिस प्रकार वहाँ की जनता को बाँधे रखते हैं, वैसे शहरों के लोगों को नहीं बाँध सकते। गाँवों तथा शहरों के लोगों की आर्थिक-स्थिति में भी भेद रहता है। गाँवों में अमीर-ग़रीब का इतना भेद नहीं होता जितना शहरों में होता है। हो सकता है कि शहर में एक आदमी करोड़पति हो, दूसरा पैसे-पैसे का मुहताज हो, गाँव में मनुष्य-मनुष्य में इतना भारी अन्तर नहीं दीख पड़ता, सब लोगों की स्थिति समान-सी होती है, थोड़ा-बहुत अन्तर होता है। गाँव में हर धंधे के लोग नहीं दिखाई देते, प्रायः अधिकांश संख्या खेती करने वालों की होती है, शहरों में हर धंधे के लोग दिखाई देते हैं। गाँव में एक डाक्टर मुश्किल से होगा, शहर में पचासों डाक्टर होंगे, डाक्टरों में भी अपने-अपने विषय के विशेषज्ञ होंगे, एक थूक-मूत्र आदि की परीक्षा ही करता है, दूसरा एक्स-रे के सिवा अन्य कुछ नहीं करता, तीसरा टी० बी० का विशेषज्ञ है, चौथा टूटी हड्डियाँ ही ठीक करता है।

ग्रामीण तथा नागरिक जीवन में भेद के विषय में अधिक जानकारी के लिए हमारी पुस्तक 'समाजशास्त्र के मूल-तत्व' का दवाँ अध्याय देखिये।

३. उद्योगीकरण तथा नगरीकरण*

यह समझना कि उद्योगीकरण से, मशीन के आविष्कार से ही शहरों का निर्माण हुआ, उससे पहले शहर नहीं थे, ग़लत है। उद्योगीकरण से पहले भी शहर थे। ईस्वी सन् से पहले जब कहीं कल-कारखानों का नाम तक न था, मेसोपोटामिया, ईजिप्ट, ग्रीस तथा भारत में बड़े-बड़े शहर मौजूद थे। सिन्धु घाटी की खुदाई में मोहनजोदारो तथा हरप्पा के बड़े-बड़े नगर ईस्वी सन् के बहुत पहले के मिले हैं। कोलम्बस द्वारा अमरीका के पता लगाने से पहले पेरु तथा मैक्सिको में बड़े-बड़े शहर थे। इसमें सन्देह नहीं कि उद्योगीकरण तथा मशीन के युग ने शहरों की वृद्धि में बहुत हिस्सा लिया है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जब उद्योगीकरण नहीं हुआ था, जब मशीन का आविष्कार भी नहीं हुआ था, तब भी बड़े-बड़े शहरों का निर्माण सभ्यता के विकास के साथ-साथ हुआ और सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ शहरों की वृद्धि होती रही। पहले कृषि के साथ-साथ छोटे-छोटे गृहोद्योग भी चलते थे, कृषि तो केवल गाँवों में होती थी, गृहोद्योग गाँवों तथा शहरों दोनों जगह होते थे। कृषि तथा गृहोद्योगों से जो वस्तुएँ पैदा होती थीं, वे एक ही जगह तो नहीं रह सकती थीं, उनको एक जगह से दूसरी जगह ले जाना होता था ताकि जहाँ उनकी ज़रूरत है, वहाँ वे पहुँच सकें। जिनको ज़रूरत थी वे गाँव-गाँव नहीं फिर सकते थे, यह बहुत कठिन कार्य था, इसलिए गाँवों की कृषि

* Do you agree with the view that due to industrialization new towns have grown? (1959)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा गृहोद्योग की पैदावार को कुछ केन्द्रों में पहुँचा दिया जाता था जहाँ ज़रूरत-मन्द लोग आकर एक ही केन्द्र में हर-किसी वस्तु को खरीद सकते थे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न गाँवों से कृषि तथा गृहोद्योगों की पैदावार को मुख्य-मुख्य केन्द्रों में बेचने के लिए लाना 'व्यापार' कहलाता था, और ये केन्द्र जहाँ सब सामान आता था 'शहर' कहलाते थे। ज्यों-ज्यों किसी केन्द्र में ज्यादा सामान आने लगा, त्यों-त्यों वह केन्द्र बढ़ने लगा, छोटा शहर बड़ा होता गया। १८वीं तथा १९वीं शताब्दी में कई वैज्ञानिक आविष्कार हुए। पहले कोयले से मशीनें चलीं, फिर बिजली से चलने लगीं, कल-कारखाने बने, नदियों में नौकाओं की जगह समुद्र में जहाज़ चलने लगे, बैल या घोड़ा-गाड़ी की जगह रेल-गाड़ी दौड़ने लगी, पास-पास के शहरों में माल पहुँचाने की जगह हज़ारों मील दूर माल जाने लगा। पहले सिर्फ़ व्यापार से शहरों की वृद्धि होती थी, अब १८–१९वीं शताब्दी में 'यन्त्रीकरण तथा उद्योगीकरण' (Mechanization and Industrialization) से शहरों की पहले से भी अधिक वृद्धि होने लगी। व्यापार, कल-कारखाने सब शहरों में केन्द्रित होने लगे, काम-धंधा ढूंढने वाले भी शहरों की तरफ़ चल पड़े, इससे शहरों की आबादी बढ़ना लाज़मी हो गया। इतने आदमी जहाँ अपने-अपने काम में इकट्ठे हो जाँय, वहाँ सब प्रकार की सुविधाएँ उत्पन्न हो जाना भी स्वाभाविक है, इन सुविधाओं को उत्पन्न करना भी तो एक व्यापार हो जाता है, इससे भी पैसा पैदा होता है। इस प्रकार अनाज पैदा करने का काम गाँव वालों पर छोड़ कर दूसरे धंधों से पैसा कमाने के लिए जो लोग इकट्ठे होते हैं, उनसे शहर बनते हैं। कृषि से इतना पैसा नहीं पैदा होता जितना अन्य धंधों से होता है, इसलिए उद्योग-धंधों वाले ज़्यादा पैसा कमा लेते हैं। ऐशो-आराम से रहने लगते हैं। बहुत-से लोग ऐसे भी हो जाते हैं, जो काफ़ी कमा लेते हैं, उन्हें या उनकी सन्तान को ज़्यादा हाथ-पैर चलाने की ज़रूरत नहीं रहती। वे अपना ध्यान अन्य दिशाओं में भी देने लगते हैं। इस प्रकार शहरों में कल-कारखानों और उद्योगों के अलावा संस्कृति का भी विकास होने लगता है। संस्कृति के अलावा शहर राजनीति के भी गढ़ बन जाते हैं।

*जैसा हमने पहले कहा, शहर का विकास केवल कल-कारखानों से, यन्त्रीकरण से नहीं होता, इसके विकास के अन्य भी अनेक कारण हैं। इसी लिए शहर कई तरह के हो सकते हैं। कुछ शहर व्यापार के केन्द्र होते हैं, कुछ कल-कारखानों के, कुछ संस्कृति के, कुछ अन्य बातों के। इसी दृष्टि से भारत में भूतकाल में शहरों का विकास हुआ। भारत क्या संसार भर में शहरों का विकास इन्हीं कारणों से होता है और इसी लिए शहरों का वर्गीकरण निम्न प्रकार हो सकता है:—

(क) **रक्षा-नगर**—ये ऐसे नगर हैं जिनका मुख्य उद्देश्य देश की रक्षा करना या रक्षा करने के साधनों को उत्पन्न करना है। जहाँ-जहाँ फ़ौजें रखी जाती हैं वे

---

* **What were the factors responsible for the growth of towns in India in the past? (1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रक्षा-नगर हैं। भारत में जहाँ-जहाँ कन्टोनमेंट हैं वे एक-तरह से रक्षा-नगर कहे जा सकते हैं। उदाहरणार्थ, देहरादून, मेरठ, पूना आदि।

(ख) **व्यापार-नगर**—ये वे नगर हैं जो व्यापार के मुख्य केन्द्र हैं। उदाहरणीर्थ, बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों की मुख्यता व्यापार के कारण है।

(ग) **उद्योग-नगर**—ये नगर उद्योग-प्रधान होते हैं। अहमदाबाद, टाटा-नगर, मोदी नगर ऐसे ही नगर हैं।

(घ) **राजनीति-नगर**—ये नगर राजनीति के गढ़ होते हैं, देश की राजनीति का चक्र इन नगरों से चला करता है। दिल्ली भारत का मुख्य तौर पर राजनीति-नगर है। हर प्रान्त के राजनीतिक गुट दौड़-दौड़ कर दिल्ली आते हैं।

(ङ) **धार्मिक-नगर**—ये नगर धार्मिक केन्द्र होते हैं। हरद्वार, अलाहाबाद, काशी भारत के धार्मिक-नगर हैं।

(च) **शिक्षा-नगर**—ये शिक्षा तथा संस्कृति के केन्द्र होते हैं। जहाँ-जहाँ विश्वविद्यालय हैं, वे शिक्षा-नगर समझने चाहिएँ।

(छ) **स्वास्थ्य-नगर**—ये नगर स्वास्थ्य के लिए प्रसिद्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, श्रीनगर, नैनीताल, शिमला, मसूरी में लोग इसलिए इकट्ठे होते हैं क्योंकि वहाँ स्वास्थ्य-लाभ होता है।

४. नगरों का पारिस्थितिक विकास

नगरों का विकास शुरू-शुरू में 'पारिस्थितिक' (Ecological) होता है। शुरू-शुरू में किसी विशेष योजना को लेकर शहर नहीं बनते। सब काम गड़बड़ तौर पर चलता है। जो ज़्यादा दाम देता है, ज़मीन ले लेता है, जहाँ चाहता है, जैसा चाहता है, मकान बना लेता है। प्रारंभिक नगर 'न्यूनतम-हस्तक्षेप' के सिद्धान्त के अनुसार बनते हैं, राज्य उनके निर्माण में कोई दखल नहीं देता। बरजेस के कथनानुसार शहर के निर्माण में पाँच क्षेत्र होते हैं। (क) जो स्थान सब के लिए सुविधा-जनक हो वहाँ बाज़ार बन जाता है। यह बाज़ार प्रायः शहर के केन्द्र में होता है। केन्द्र में इसलिए होता है क्योंकि केन्द्र का स्थान प्रायः सब के नज़दीक पड़ता है। इस 'केन्द्रीय-स्थल' (Central zone) पर ही कचहरी, सरकारी दफ्तर, होटल, बैंक आदि बनाये जाते हैं ताकि यह स्थान सब को नज़दीक पड़े। जिस चीज़ की हर-एक को ज़रूरत पड़ती रहती है वह केन्द्र की तरफ़ जाने लगती है। (ख) इस केन्द्रीय-बिन्दु से हटकर शहर का दूसरा क्षेत्र इसके बाहर परन्तु इसी से लगा हुआ होता है। वहाँ सस्ते मकान मिलते हैं। इस स्थान पर मकान सस्ते इसलिए मिलते हैं क्योंकि इनके मालिक इनकी मरम्मत पर खर्च करना पसन्द नहीं करते। वे उस समय की इन्तज़ार में रहते हैं, जब केन्द्रीय-स्थल इतना भर जायगा कि उसमें रहने को अधिक गुंजाइश नहीं रहेगी और शहर फैलना शुरू करेगा। जब शहर फैलने लगता है तब इस द्वितीय-स्थल की तरफ़ बढ़ता है। उस समय यहाँ रहने वाली ग़रीब आबादी इस स्थान को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

छोड़कर दूसरी जगह चली जाती हैं, और यहाँ बिना मरम्मत के मकानों की मरम्मतें होने लगती हैं, क्योंकि उनका अब किराया आने लगता है, खाली पड़े स्थानों पर नये मकान खड़े होने लगते हैं। इस दूसरे क्षेत्र को 'परिवर्तन-क्षेत्र' (Transition zone) कहते हैं क्योंकि यहाँ की आबादी ऐसे लोगों की होती है जिन्हें किसी-न-किसी समय शहर के फैलने पर उठना पड़ता है, अपना स्थान परिवर्तित करना पड़ता है। ये केन्द्र के पास इसलिए बसे होते हैं क्योंकि केन्द्र में रहने वालों को मेहनत-मजदूरी के लिए इनकी सदा आवश्यकता बनी रहती है। महलों के साये में झोंपड़े इसीलिए दिखाई देते हैं, परिस्थिति ही शहर की इस प्रकार की रचना का मुख्य कारण है। अगर केन्द्र के पास इस प्रकार की बस्तियाँ न हों, तो केन्द्र में रहने वालों का काम ही न चले। (ग) इस द्वितीय-क्षेत्र के बाद शहर का तीसरा-क्षेत्र होता है जिसमें द्वितीय-क्षेत्र की अपेक्षा अच्छी आर्थिक स्थिति के लोग रहते हैं। वे केन्द्र में तो महँगा होने के कारण रह नहीं सकते, द्वितीय-क्षेत्र के गंदा होने के कारण वहाँ भी नहीं रहते, इसलिए द्वितीय-क्षेत्र की बस्तियों के आगे इन लोगों की बस्तियाँ उठ खड़ी होती हैं। इस तृतीय-क्षेत्र में भी अधिकतर वही लोग रहते हैं, जिनका केन्द्रीय-बस्ती के काम-धंधों के साथ संबंध होता है, आर्थिक-स्थिति इनकी द्वितीय-क्षेत्र के लोगों से बेहतर होती है। अक्सर कारीगर या बाहर से आकर बसे हुए लोग इस क्षेत्र में रहते हैं, इसलिए इसे 'कारीगर-क्षेत्र' (Workingmen's zone) कह सकते हैं। (घ) 'तृतीय-क्षेत्र' के बाद बाबू लोगों की बस्ती होती है। ये मध्य-श्रेणी के लोग होते हैं, काम के लिए केन्द्रीय-क्षेत्र में बाइसिकल, रेल, बस द्वारा चले जाते हैं, काम के बाद खुली हवा में अपने मकानों में आ जाते हैं। इस क्षेत्र में बड़े-बड़े मकान नहीं होते, साधारण से दो-तीन कमरों के घर बने होते हैं, जो इनके लिए पर्याप्त होते हैं। यह 'मध्यम-वर्ग क्षेत्र' (Middle-class zone) कहलाता है। (ङ) इस चतुर्थ-क्षेत्र के बाद पाँचवाँ क्षेत्र वह होता है कि जिसे शहर की परिधि कहा जा सकता है। यह क्षेत्र शहर के परले सिरे और गाँव के उरले सिरे पर होता है, इसमें शहर और गाँव की परिधियाँ मिल जाती हैं, दोनों का सम्मिश्रण हो जाता है। इसे 'उप-नगर क्षेत्र' (Suburban zone) कह सकते हैं। इन उपनगरों में बड़े-बड़े लोग बंगले बनाकर रहते हैं, मोटरों में अपने कार्य के केन्द्र-क्षेत्र में जाते और काम कर चुकने के बाद वापस आ जाते हैं, ये लोग नगर तथा ग्राम—दोनों का लाभ उठाना चाहते हैं। यह प्रक्रिया दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इसे 'नगर-ग्रामीकरण' (Rurarbanization) कहते हैं। इस प्रक्रिया का उद्देश्य एक ऐसे क्षेत्र का निर्माण करना है जिसमें नगर तथा ग्राम का भेद मिट जाय। बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली के उपनगर इसी प्रक्रिया को सूचित करते हैं। कहीं-कहीं इन क्षेत्रों में कारखाने-मिलें लगाई जाती हैं। क्योंकि यह क्षेत्र शहर तथा गाँव के संगम पर होता है इसलिए गाँव वालों को काम पर आने में सुविधा रहती है। यह जरूरी नहीं कि प्रत्येक शहर का विकास ठीक इसी ढंग से हुआ हो, इसमें हेर-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फेर हो सकता है, परन्तु मोटे तौर पर शहर के विकास की दिशा इसी ढाँचे पर होती है, और इस ढाँचे पर विकास होने का कारण परिस्थितियाँ हैं। यह सारा विकास बिना किसी योजना के होता है इसलिए जब योजना का युग शुरू होता है, तब इस सब में परिवर्तन करने की आवश्यकता पड़ती है।

५. भारत में नगरीकरण की प्रगति*

इस समय सब देशों में 'नगरीकरण' (Urbanization) की प्रक्रिया बड़े ज़ोरों से चल रही है। ज्यों-ज्यों भूमि पर जन-संख्या का बोझ बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों भूमि कम और जन-संख्या अधिक होती जाती है। इसके साथ-साथ कृषि के नवीनतम उपायों से भी थोड़े ही आदमी काफ़ी भूमि जीत लेते हैं। आदमी की जगह ट्रैक्टर और बैल की जगह पैट्रोल से काम लिया जा रहा है। इस युग में यह प्रश्न और अधिक वेग से उठ खड़ा हुआ है कि जो लोग खेती में नहीं खप रहे, वे क्या करें? वे सब शहरों की तरफ़ काम-धंधे की तलाश में मुँह उठाये चले जा रहे हैं। इनकी संख्या इतनी बढ़ती जा रही है, और इन्हें काम देने के लिए कल-कारखाने इतने बढ़ते जा रहे हैं कि छोटे कस्बे शहर बनते जा रहे हैं, और शहर पहले से दुगुने-चौगुने होते जा रहे हैं। गाँवों का यह सब 'नगरीकरण' वर्तमान-युग 'उद्योगीकरण' (Indusrialization) से हो रहा है। पैट्रोल, ट्रैक्टर, कल-कारखाने—यही सब तो गाँवों को नगर बनाते जा रहे हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि उद्योगीकरण से शहर बढ़ते हैं, या दूसरे शब्दों में जितने शहर बढ़ेंगे उतना उद्योगीकरण बढ़ रहा होगा।

अन्य देशों में 'नगरीकरण' की प्रक्रिया बड़ी तेज़ी से बढ़ चुकी है। इंग्लैण्ड में सन् १८०० में २० प्रतिशत संख्या शहरों में रहती थी, ८० प्रतिशत गाँवों में रहती थी, १९३० में पासा पलट गया, २० प्रतिशत संख्या गाँवों में रह गई, ८० प्रतिशत शहरों में चली आयी। अमरीका में सन् १८९० में ३५.४ प्रतिशत शहर में रहते थे, १९३० में शहर-वासियों की संख्या ५६.२ प्रतिशत हो गई। फ्रांस में १८६० में १८.९ प्रतिशत शहरों में रहते थे, १९३० में यह संख्या ४९.१ प्रतिशत हो गई। जर्मनी में १८९० में ४७.० प्रतिशत शहरों में रहते थे, १९३० में यह संख्या ६७.१ प्रतिशत हो गई। भारत में नगरीकरण हो रहा है, परन्तु यह देश कृषि-प्रधान है, इसलिए यहाँ नगरीकरण उस तेज़ी से नहीं हो रहा जिस तेज़ी से अन्य देशों में हुआ है। अन्य देशों का नगरीकरण निम्न सारिणी से स्पष्ट समझ में आ जायेगा :—

---

* **"The best general test of industrialization of a nation's life under modern conditions is the rate and character of growth of its towns." Explain this statement by tracing the growth of towns in India. (1953)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०,००० से अधिक जन-संख्या के नगरों में रहने वाली आबादी

सन्	अमरीका	इग्लैंड तथा वेल्स	फ्रांस	जर्मनी
१८००	—	२०.०	—	—
१८६०	—	५४.६	२८.९	—
१८९०	३५.४	७२.०	३७.४	४७.०
१९३०	५६.२	८०.०	४९.१	६७.१

भारत में शहरों में रहने वाली जन-संख्या का निम्न-सारिणी से स्पष्टीकरण होगा। इस सारिणी से यह स्पष्ट है कि यद्यपि भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया चल रही है, तो भी यहाँ यह प्रक्रिया उस तेजी से नहीं चल रही जैसी अन्य देशों में चल रही है। भारत की प्रक्रिया निम्न है :—

भारत की गाँव तथा नगर में प्रतिशत-आबादी

सन्	जन-संख्या का प्रतिशत	
	गाँव की आबादी	शहर की आबादी
१९२१	८८.७	११.३
१९३१	८७.९	१२.१
१९४१	८६.१	१३.९
१९५१	८२.७	१७.३
१९६१	८२.०	१८.०

भारत की लगभग ४३.८६ करोड़ जन-संख्या में से ७.८८ करोड़, अर्थात् १८ प्रतिशत लोग शहरों में रहते हैं, बाकी ३५.९८ करोड़, अर्थात् ८२ प्रतिशत गाँवों में रहते हैं। १९४१ से १९५१ तक दस सालों में शहरों की आबादी में ३.४ प्रतिशत की वृद्धि हुई है, जो १९४१ से पहले के बीस सालों में हुई शहरों की २.७ प्रतिशत वृद्धि से भी अधिक है। इसका यही अभिप्राय हो सकता है कि भारत में भी नगरीकरण की प्रक्रिया जारी है यद्यपि अन्य देशों के मुकाबिले में यह नहीं के बराबर है। १९६१ की जन-गणना के अनुसार अपने देश में २,६८९ शहर हैं, और ५,६४,२५८ गाँव हैं। इन आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि भारत युरोपीय देशों के मुकाबिले में नगरीकरण की प्रक्रिया में अभी बहुत पीछे है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६. नगर कैसे बनते और बढ़ते हैं*

नगर कैसे बनते और बढ़ते हैं—इसे जानने के लिए पहले यह जान लेना ज़रूरी है कि गाँव कैसे बनते हैं? छोटे-से समूह अपनी सुरक्षा तथा पेट भरने के विचार से इकट्ठे रहने लगते हैं, उन सब में एक खून होता है, सब की एक साझी ज़मीन होती है, सब का एक स्वार्थ होता है, बस एक जगह रहने से उसका गाँव बन जाता है। शुरू-शुरू में गाँवों की रचना इसी प्रकार होती है। जब ज़मीन धीरे-धीरे उनमें से कुछ की ज़रूरियात पूरी करती नहीं दीखती, तो पेट भरने के इससे अच्छे साधनों की तलाश करने लगते हैं, और शहरों का सूत्र-पात हो जाता है। जैसे गाँवों का मुख्य धंधा 'कृषि' है, वैसे शहरों का मुख्य धंधा कृषि नहीं, 'उद्योग' है। उद्योग में कृषि की अपेक्षा अधिक प्राप्ति है। कृषि से अन्न पैदा होता है, किन्तु प्रत्येक व्यक्ति कितना अन्न खा सकता है? इसके विपरीत उद्योग से ज़रूरियात की वस्तुएँ तो बनती ही हैं, साथ ही ऐशो-आराम की, विलासिता की तथा अन्य उपभोगों की वस्तुएँ भी बनती हैं। इन वस्तुओं पर कोई कितना खर्च करेगा इसकी कोई सीमा नहीं है। खाने पर ५० रुपया व्यय करने वाले, उद्योग से पैदा की हुई वस्तुओं पर हज़ारों और लाखों रुपए व्यय कर देते हैं। कृषि से जो उद्योग की तरफ़ जायगा वह शीघ्र ही मालामाल हो सकता है। परन्तु उद्योग के लिए ऐसे स्थान चाहिएँ जहाँ बिजली हो, रेल हो, जहाँ कारखाने लग सकें। इन चीज़ों का जहाँ ताँता बिछ जाता है वहीं उद्योग-धंधे, कल-कारखाने बन जाते हैं, इन उद्योग-धंधों से रुपया कमाने वाले सेठ-साहूकार वहाँ जमा हो जाते हैं, इन कारखानों में मज़दूरी करके आजीविका चलाने वाले मज़दूर वहाँ पहुँच जाते हैं, मिलों का माल गाँव-गाँव तक पहुँचाने वाले व्यापारी वहाँ दुकानें खोल देते हैं, इन स्थानों के धनी-मानी लोग अधिक रुपया खर्च कर अपने बच्चों को ऊँची शिक्षा दे सकते हैं, इसलिए स्कूल-कालिजों की वहाँ भरमार हो जाती है, रुपया वहाँ पैदा होता है इसलिए उसे बाँट खाने के लिए सब पेशों के लोग वहाँ जमा हो जाते हैं। इसी जमघट को शहर कहते हैं। कृषि का उपाय मनुष्य की पेट भरने की समस्या का हल है, परन्तु अगर सब लोग कृषि पर ही लगे रहें, तो एक समय ऐसा आ जाता है जब जितने लोग खेती पर लगे होते हैं, खेती-बाड़ी उन सब का पेट नहीं भर सकती, इसलिए कुछ लोगों का खेती-बाड़ी से निकलना ज़रूरी हो जाता है ताकि बचे हुए लोग खेती करते रहें—इसी प्रक्रिया से छोटे-बड़े शहर बन जाते हैं।

संसार की जितनी बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ हुई हैं सब में गाँवों से शहर की तरफ़ जाने की प्रवृत्ति देखी गई है। असल में, शहरों के बड़े होने का कारण ही इस प्रवृत्ति का होना है। 'भौगोलिक-परिस्थितियों' (Geographical environments) के कारण पहले लोग नदियों के किनारे बसते हैं, वहाँ खेती-बाड़ी शुरू

---

* **What factors have been responsible for the recent growth of towns in our country? (1961)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होती है, फिर अच्छी 'भौगोलिक-परिस्थिति' का यह स्थान सब लोगों का केन्द्र बन जाता है, वहाँ जीविकोपार्जन की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं, और यह आर्थिक कारण जन-संख्या को गाँव से शहरों में खींचकर ले आता है। जब 'कृषि-युग' (Agricultural age) से 'उद्योग-युग' (Industrial age) आता है, तब उद्योग के केन्द्र वे स्थान बनते हैं जहाँ उस उद्योग की सुविधाएँ हैं। तब नदी-नाले का ख्याल न करके जहाँ लोहा हो वहाँ लोहे के कारख़ाने, जहाँ गन्ना हो वहाँ गन्ने की मिलें, जहाँ कपास हो वहाँ जिनिंग फ़ैक्टरियाँ बन जाती हैं। इन स्थानों में अर्थोपार्जन की सुविधा अधिक रहती है, इसलिए मानव-समूह इसी स्थान पर उमड़ पड़ता है, और यही स्थान शहर कहलाने लगते हैं। ऐसा भी समय आता है जब शहर का निर्माण 'भौगोलिक-परिस्थितियों' से बंधा नहीं रहता, जहाँ नदी-नाले नहीं, जहाँ लोहे और कोयले की खानें नहीं, वहाँ भी मनुष्य रेल-ट्रक आदि से माल ले आता है, और अपनी मर्ज़ी की जगह पर कल-कारख़ाने, उद्योग-धंधे खड़े कर लेता है, जहाँ चाहे शहर बना लेता है, परन्तु मनुष्यों की आबादी शहर में इसीलिए आती है क्योंकि वहाँ उद्योग-धंधों के कारण धन पैदा करने की सुविधाएँ बढ़ जाती हैं। गाँवों की आबादी घटने और शहरों की आबादी बढ़ने के मुख्य-मुख्य कारण निम्न हैं :—

(क) **'अतिरिक्त-सम्पदा पर अधिकार'** (Control over surplus resources)—हमने देखा था कि ज़मीन एक हद तक ही पैदावार दे सकती है, उसके बाद मनुष्य-संख्या इतनी बढ़ जाती है कि ज़मीन थोड़ी पड़ जाती है, और जितनी हर-एक के हिस्से आती है, वह भी लगातार उतनी पैदावार नहीं देती जितनी पहले देती थी। 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास का नियम' (Law of diminishing returns) पृथ्वी की पैदावार को कम कर देता है। ऐसी हालत में मनुष्य किसी ऐसी 'सम्पदा' या 'साधन' (Resources) की तलाश करने लगता है जिसमें जन-संख्या को दृष्टि में रखते हुए उत्पादन अधिक किया जा सके। सबसे पहले तो उसका ध्यान ज़मीन पर ही जाता है। क्या ऐसा उपाय नहीं किया जा सकता जिससे पृथिवी की उत्पादन-शक्ति बढ़ा दी जाय? अबतक उसकी खेती का साधन मनुष्य का श्रम था। मनुष्य में जितनी शक्ति है उतना ही तो काम वह करेगा। खुद जितना वह कर सकता है करता था, कुछ दूसरों से कराता था। बहुत हुआ, जहाँ दास-प्रथा चल पड़ी, वहाँ कुछ काम मुफ्त का करा लेता था। भारत में हरिजनों से बेगार ली जाती थी। परन्तु मनुष्य के मनुष्य पर प्रभुत्व से वह इतना उत्पादन नहीं कर सका जितना वह चाहता था। जब से मनुष्य के ऊपर प्रभुत्व के स्थान पर मनुष्य का प्रकृति के ऊपर प्रभुत्व हो गया है, तब से उत्पादन बहुत बढ़ गया है, एक प्रकार की 'कृषि-क्रांति' (Agricultural revolution) हो गई है। मशीन से मिलने वाले श्रम पर मनुष्य का जब से अधिकार हो गया है, तब से 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास के नियम' (Law of diminishing returns) का मुकाबिला करने की मनुष्य में सामर्थ्य आ गई है। उसे यह दीखने लगा है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पृथिवी के गर्भ में छिपी सम्पदा अपरिमित है, अभी इस 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) को तो उसने छुआ तक नहीं। अभी तक जो-कुछ वह पैदा करता था वह कुछ नहीं था, नवीन-साधनों से वह भंडारों-के-भंडार भर सकता है। इसका यह मतलब नहीं कि अब 'उत्पादन के क्रमिक-ह्रास का नियम' लागू नहीं होगा। नियम तो यही काम करेगा, परन्तु जिस विन्दु पर आकर हम समझते थे कि अब पृथिवी की वह सीमा आ गई जब कि आगे उत्पादन में उत्तरोत्तर ह्रास होगा, वह सीमा इन वैज्ञानिक साधनों ने बहुत पीछे धकेल दी है। अब यह संभव हो गया है कि कुछ थोड़े-से लोग खेती-बाड़ी में लगे रहें, और कृषि के नवीनतम साधनों द्वारा संपूर्ण मनुष्य-समाज की अनाज की समस्या को हल करते रहें, और अधिक संख्या उद्योग-धन्धों से अपनी आजीविका का निर्वाह करे। यह हिसाब लगाया गया है कि पहले १४ आदमी जितना अनाज पैदा कर सकते थे अब वैज्ञानिक-साधनों से ४ आदमी उतना अनाज पैदा कर लेते हैं। इंग्लैण्ड में तो ९० प्रतिशत संख्या उद्योग-धन्धों में लगी हुई है, कुल १० प्रतिशत ही खेती करते हैं। इस प्रकार के कृषि के नवीन साधनों के निकल आने से अब पाश्चात्य-देशों में तो थोड़ी-सी जन-संख्या गाँवों में रहकर खेती का काम करती है, और अधिक जन-संख्या शहरों में जाकर उद्योग-धंधों में लगकर अर्थोपार्जन करती है। अगर 'कृषि-क्रांति' के नवीन साधन—ट्रैक्टर, रासायनिक खाद, एक साल में ही कई पैदावार (Intensive cultivation) आदि—न होते तो मानव समाज एक घोर विपत्ति में पड़ जाता। कृषि से लोग इसलिए भागने लगते क्योंकि ज़मीन की पैदावार जन-संख्या के मुकाबिले में काफ़ी नहीं, और अगर सब शहरों में जमा हो जायें, तो अनाज कौन पैदा करता—आखिर, बिना अन्न खाये, कोयले की खानों और लोहे के कारखानों में कोयला और लोहा खाकर तो गुज़र नहीं हो सकती। वर्तमान-युग में पाश्चात्य-देशों में लोगों के गाँवों से शहरों में आने का सबसे बड़ा कारण यह है कि वे गाँव छोड़कर निश्चिन्ताई से शहरों में आ सकते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि पीछे गाँवों में जो लोग रह जायेंगे, वे वर्त्तमान वैज्ञानिक साधनों से इतना पैदा कर देंगे कि पैसा देकर इन उद्योग-धंधों में काम करने वालों को भी खाने-पीने को काफ़ी मिल जायगा।

(ख) **'उद्योगीकरण तथा व्यापारीकरण'** (Industrialization and Commercialization)—शहरों की जन-संख्या बढ़ने का दूसरा कारण 'उद्योगीकरण' तथा 'व्यापारीकरण' है। यह तो हम देख ही चुके हैं कि शहरों के बनने का मुख्य कारण है, 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) का मिल जाना। 'अतिरिक्त-सम्पदा' सब पृथिवी के गर्भ में छिपी पड़ी है। सबसे पहली 'अतिरिक्त-सम्पदा' खेती के रूप में हमारे सामने आयी, उसे थोड़े आदमियों के सुपुर्द कर देने का परिणाम बचे हुए लोगों का शहरों की तरफ़ मुँह करके चल देना हुआ। शहरों में भी तो 'अतिरिक्त-सम्पदा' (Surplus resources) का कोई खज़ाना होना चाहिए। 'अतिरिक्त-सम्पदा' का मतलब है, ऐसी 'सम्पदा'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Resources) जिसमें 'उत्पादन' के 'क्रमिक-ह्रास के नियम' (Law of diminishing returns) की सीमा बहुत देर में काम करने लगे। ऐसी दूसरी 'सम्पदा' लोहे का कारखाना, कोयले की खानें, कपड़े की मिलें—और इसी प्रकार के उद्योग-धंधे हैं। इनमें खेती की अपेक्षा पैसा ज़्यादा कमाया जा सकता है, कच्चा माल मिलता रहे, तो उत्पादन लगातार होता रहता है। इसकी अपनी कुछ समस्याएँ नहीं—ऐसी बात नहीं है। उद्योगों के अपने सिर-दर्द के मामले हैं, परन्तु क्योंकि इनमें विविधता है—सैंकड़ों, हज़ारों तरह के उद्योग हैं, इसलिए हर-एक को कुछ-न-कुछ काम मिल ही जाता है। काम ढूँढने के लिए गाँव के लोग शहर चल पड़ते हैं। विज्ञान के वर्तमान साधनों से उद्योगीकरण और अधिक आसान हो गया है। गाँव के लोग ज़्यादा दौड़-धूप पसन्द नहीं करते, घर से खेत और खेत से घर जाना-आना ही वे बहुत मानते हैं, परन्तु रेल, बस, ट्राम, मोटर आदि साधनों के निकल आने से यातायात की सुविधा हो गई है, वे दूर-दूर जाने लगे हैं, और शहर खचाखच देहाती मज़दूरों से भरने लगे हैं। 'औद्योगिक-क्रांति' (Industrial revolution) का यह परिणाम हुआ है कि इंग्लैण्ड, अमरीका तथा अन्य समुन्नत देशों में शहरों की संख्या और उनका परिमाण दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है, भारत में भी अहमदाबाद, बम्बई, कलकत्ता आदि शहरों में उद्योगों की वृद्धि हो रही है, और जितना उद्योग बढ़ते जा रहे हैं, उतना शहर बढ़ते जा रहे हैं।

'उद्योगीकरण' (Industrialization) तो इसी युग की देन है, परन्तु शहरों की वृद्धि बड़े प्राचीन-काल से होती चली आ रही है। जिस समय बड़े-बड़े उद्योग नहीं चले थे, तब शहरों में छोटे-छोटे उद्योग होते थे, उनके द्वारा रोज़ी कमाने के लिए लोग शहरों में आया-जाया करते थे, परन्तु उद्योगों के अतिरिक्त व्यापार के लिए तो सदा से मानव-समाज शहरों का मुँह ताकता रहा है। 'व्यापार' उद्योग से भी पहले की संस्था है, और शहरों के इस 'व्यापारीकरण' (Commercialization) से शहरों की संख्या सदा बढ़ती रही है। जिस शहर का व्यापार मारा गया, वह शहर भी शहर नहीं रहा, गाँव का-सा हो गया। आज-कल जो नये-नये व्यापार निकल आये हैं, व्यापार के नए साधन निकल आये हैं, बिना पूँजी के भी सट्टे आदि के व्यापार किये जाते हैं—इनसे भी शहरों की वृद्धि होने लगी है।

(ग) **'जीवन का उच्च-स्तर'** (Higher standard of living)—उद्योगों से नये-नये पदार्थ सस्ते बनने लगते हैं, क्योंकि एकदम भारी मात्रा में मशीनों के ज़रिये उनकी उत्पत्ति होती है। हर-एक उन्हें ख़रीदना चाहता है। एक बार ख़रीदने के बाद लोगों में उस चीज़ के लिए शौक पैदा हो जाता है, उनकी नयी-नयी ज़रूरियात पैदा हो जाती हैं, नयी-नयी फ़रमाइशें होने लगती हैं। यह चीज़ भी चाहिए, वह चीज़ भी चाहिए। अभी तक मट्टी के तेल का दिया जलता था, पर अब बिजली के लाटू के बिना कैसे काम चलेगा, छोटा-सा ही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकान क्यों न हो, पलंग चाहिए, मेज़ चाहिए, कुर्सी भी चाहिए। फिर रेडियो क्यों न चाहिए? औद्योगिक-युग में धीरे-धीरे मनुष्य की आवश्यकताएँ बढ़ती जाती हैं, जीवन का स्तर ऊँचा होता जाता है। जीवन के स्तर के ऊँचा होने का मतलब है उन वस्तुओं की माँग का बढ़ जाना, जिनसे स्तर का ऊँचा होना कहा जाता है। कृषि से जो पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनकी माँग ऐसे नहीं बढ़ती जैसे औद्योगिक-पदार्थों की माँग बढ़ती है। खाने को कौन कितना खा जायगा, परन्तु आवश्यकताओं की तो कोई सीमा नहीं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए सैंकड़ों, हज़ारों, लाखों व्यक्तियों के खपने की शहरों में जगह बनी रहती है, और इस प्रकार जीवन के उच्च-स्तर होते जाने के कारण शहर बढ़ते रहते हैं।

हमने देखा कि गाँव या शहर बनने में आर्थिक-नियम काम कर रहे होते हैं। इन्हीं आर्थिक-नियमों के परिणामस्वरूप गाँवों की आबादी घटती, और शहरों की बढ़ती जाती है। गाँव और शहर बनने की यह प्रक्रिया, गाँवों की आबादी घटते और शहरों की बढ़ते जाने की प्रक्रिया अपने-आप होती जाती है, आर्थिक-कारण इस सारी प्रक्रिया का संचालन करते हैं। हमारे हाथ में नहीं कि हम अपनी मर्ज़ी से चाहे जहाँ रहें, हमारी आर्थिक-स्थिति हमें कहीं-का-कहीं ले जाकर पटक देती है। पश्चिमी-देशों में गाँवों की आबादी शहरों की अपेक्षा कम हो गई है। वहाँ इतना 'उद्योगीकरण' हुआ कि गाँव खाली होते जा रहे हैं, शहर भरते जा रहे हैं। फ्रांस में ४९.१ से अब ५२ प्रतिशत, और इंग्लैण्ड में ८० प्रतिशत जन-संख्या शहरों में रहने लगी है। भारत में अभी 'उद्योगीकरण' नहीं हुआ। यहाँ ८२ प्रतिशत जन-संख्या गाँवों में रहती है, १८ प्रतिशत शहरों में रहती है। १९२१ की गणना के अनुसार ८८.७ प्रतिशत ग्रामीण तथा ११.३ प्रतिशत शहरों की जन-संख्या थी, १९३१ में ८७.९ प्रतिशत ग्रामीण तथा १२.१ प्रतिशत शहरी जन-संख्या हो गई, १९४१ में ग्रामीण संख्या ८६.१ तथा शहरों की १३.९ हो गई, १९५१ में ग्रामीण जन-संख्या ८२.७ तथा शहरी जनसंख्या १७.३ हो गई और १९६१ में ग्रामीण जन-संख्या ८२ तथा शहरी जन-संख्या १८ प्रतिशत हो गई। भारत में ग्राम से शहर की तरफ़ गति है, परन्तु अत्यन्त मन्द। इसका यही कारण है कि इस देश का 'उद्योगीकरण' अभी नहीं हुआ। जब से देश स्वतंत्र हुआ है, तब से उद्योगीकरण के प्रयत्न हो रहे हैं और तब से शहरों की भी लगातार वृद्धि होती जा रही है।

उक्त कारणों के अतिरिक्त शहरों में मौज-बहार है, नाटक-सिनेमा हैं। इन कारणों से भी शहरों की आबादी बढ़ती है। कई लोग दौड़-धूप और चका-चौंध में रहना पसन्द करते हैं। दूसरे के माल पर हाथ सफ़ा करने के मौके भी शहरों में ज्यादा हैं, वहाँ कुछ करे जाओ, पकड़ में आना कठिन है, गाँव में हर-एक एक-दूसरे का चेहरा पहचानता है। इन सब कारणों से भी शहरों की आबादी दिनों-दिन बढ़ती जा रही है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

१. "आधुनिक अवस्थाओं में किसी भी राष्ट्र के जीवन के उद्योगीकरण की सर्वोत्तम कसौटी उस राष्ट्र में नगरों के विकास की दर और स्वरूप है।" भारत में नगरों के विकास को बतलाते हुए उपरोक्त कथन की व्याख्या कीजिये। (१९५३)

२. भूत-काल में कौन-से कारक नगरों की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी थे? नये नगरों का विकास किन कारणों से हो रहा है? (१९५५)

३. भारत में नागरिक एवं ग्रामीण समुदायों की असमानताओं का वर्णन कीजिये। (१९५७, १९५८, १९६०)

४. नागरिक जीवन को कहाँ तक एक पृथक् समाजशास्त्रीय तत्व माना जा सकता है? उसकी प्रमुख विशेषताएँ बतलाइये। (१९५८)

५. क्या आप इस बात से सहमत हैं कि उद्योगीकरण के कारण नये नगरों की उत्पत्ति हुई है? भूत-काल में कौन-से तत्व भारत में नगरों की उत्पत्ति के लिये उत्तरदायी थे? (१९५९)

६. 'नगरीकरण' के अर्थ समझाइये। नागरिक तथा ग्रामीण जीवन में मुख्य अन्तर क्या है? (१९६०)

७. हमारे देश में नगरों के वर्तमान विकास के क्या कारण हैं? (१९६१)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९

नागरिक समस्याएँ
(URBAN PROBLEMS)

१. नागरिक समस्याएँ किन परिस्थितियों से उत्पन्न हो रही हैं ?

नागरिक-समस्याओं के उत्पन्न होने के अनेक कारण हैं, परन्तु मुख्य तौर पर तीन कारण हैं जिनसे नगरों की भिन्न-भिन्न समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। वे तीन हैं—खुले से बन्द स्थानों में रहना, इने-गिने थोड़े-से लोगों के स्थान में भीड़ भड़क्के का हो जाना तथा गृहोद्योगों के स्थान में वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों से विशाल उद्योगों का खड़ा हो जाना। इन तीनों का क्या अर्थ है—पहले हमें यह समझना होगा।

(क) बन्द कमरों में रहना—समाज-शास्त्रियों का कहना है कि आज का मानव जिन परिस्थितियों में रहने लगा है, वे उन परिस्थितियों से बहुत भिन्न हैं जिनमें वह वर्तमान-सभ्यता के उदय से पहले रहता चला आ रहा है। उनके कथनानुसार कोई समय था जब वह वृक्ष की छाया के नीचे रहता था। आगे चलकर फिर किसी समय सर्दी-गर्मी-वर्षा से बचने के लिए वह गुफ़ाओं में रहने-लगा, ज़मीन के नीचे भूमि खोद कर भी रहने लगा। बहुत-सा समय इस अवस्था में बिता चुकने के बाद कहीं मकानों का आविष्कार हुआ। जब मनुष्य मकान बनाने लगा, तब भी उसका अधिक समय मकान के बाहर ही व्यतीत होता था। मकान में सर्दी-गर्मी-वर्षा से तो रक्षा हो सकती थी, परन्तु अन्दर अंधेरा था, सीलन थी, अन्दर खाना बनाने से सारा मकान धुएँ से भर जाता था। इसके अतिरिक्त जिन काम-धंधों से वह आजीविका चलाता था, वे भी मकान के अन्दर नहीं चल सकते थे, खुले मैदान में ही उसके काम-धंधे चलते थे। अधिकतर मकान रात को सोने या दिन को विश्राम करने के काम आते थे, जीवन का अधिक समय मकानों के बाहर व्यतीत होता था। ज्यों-ज्यों प्रकाश के साधनों का आविष्कार हुआ, ज्यों-ज्यों मकानों के निर्माण में धुआँ बाहर निकलने के लिए चिमनी का प्रयोग होने लगा, ज्यों-ज्यों मकानों में हवा-पानी का बन्दोबस्त हुआ, त्यों-त्यों मनुष्य भी

इस अध्याय से संबंध रखनेवाला निम्न प्रश्न परीक्षा में आ चुका है :

1. Discuss the main social problem faced by these growing towns. (1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मकान से बाहर रहने के स्थान में मकान के अन्दर रहने लगा। अब स्थिति बदल चुकी है। अब मनुष्य का अधिक समय घर के अन्दर व्यतीत होने लगा है। अन्दर बिजली की रोशनी है, गर्मी से बचने के लिए पंखे और कूलर तथा सर्दी से बचने के लिए हीटर लगे हुए हैं, मकानों के अन्दर सारा काम-काज और धंधा चल रहा है। आदि के मानव और आज के शहर के मानव की परिस्थिति में यह पहला भेद है।

(ख) **भीड़-भड़क्के में रहना**—इस भेद के अलावा इन दोनों की परिस्थिति में दूसरा भेद यह है कि आदि का मानव थोड़े-बहुत लोगों के बीच रहता था। उस समय सौ, दो-सौ का ज्यादा-से-ज्यादा एक गिरोह था। हर व्यक्ति हर दूसरे-किसी को जानता-पहचानता था, सब का निकट का संबंध था। शुरू कार्ल की बात सोचें, हाल के गाँवों की बात सोचें, सब-कहीं शहरों के उदय होने से पहले मनुष्य मनुष्य के निकट था। जब से शहर बने तब से हर शहर में इतना भीड़-भड़क्का हो गया कि सब लोगों को जानना-पहचानना तो क्या, पास-पड़ौसी को भी लोग नहीं जानते-पहचानते। इतनी बड़ी भीड़ और इतना बड़ा जन-समूह जितना आज शहरों में दिखाई देता है आदि-काल के मानव को बड़े भारी अचम्भे में डाल देगा। आदि के मानव और आज के शहर के मानव की परिस्थिति में यह दूसरा भेद है।

(ग) **उद्योगीकरण**—तीसरा भेद आज का उद्योगीकरण है। पहले हर चीज़ अपने हाथ से बनाई जाती थी, आज हर चीज़ मशीन से बनती है। मशीन के युग ने मनुष्य के युग को पीछे धकेल दिया है, मशीन ने मनुष्य का स्थान ले लिया है। यह ठीक है कि आज जब हम किसी कारखाने में जाते हैं और एक घंटे में हज़ारों गज़ कपड़ा तैयार होता देखते हैं, तब हमें कोई आश्चर्य नहीं होता, हम वर्तमान-युग में इस सब के आदी हो गए हैं। चारों तरफ़ मशीन-ही-मशीन देखते-देखते कोई भी नई चीज़ निकल आये, तो हमें आश्चर्य नहीं होता। परन्तु आज से दो-सौ साल पहले क्या था? उस समय घर-घर में चरखा और गाँव-गाँव में खड्डी चलती थी, बैल-गाड़ी और बहुत हुआ तो घोड़ा-गाड़ी से लोग आते-जाते थे। १७३८ में के महोदय ने और १७६४ में जेम्स हरग्रीव ने बुनने की मशीनों में आविष्कार किये जिनसे बड़े पैमाने पर बुनना शुरू हुआ। १७६५ में जेम्स वाट ने स्टीम ऐंजिन का आविष्कार किया। इसके बाद इन कल-कारखानों को चलाने के लिए कोयले की ज़रूरत हुई और कोयले की खानों का काम शुरू हुआ। कोयले के इस्तेमाल के बाद लोहा पिघलाने का काम शुरू हुआ क्योंकि लोहा ऐसे-वैसे ताप से तो पिघलता नहीं।

उक्त तीन चीज़ें हैं जो शहर की परिस्थिति को आदि-कालीन मानव तथा ग्रामीण-मानव की परिस्थिति से भिन्न करती हैं। ये तीनों परिस्थितियां नगर की वर्तमान समस्याओं को उत्पन्न करने का आधार-भूत कारण हैं। ये परिस्थितियाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नागरिक-समस्याओं को कैसे उत्पन्न कर रही हैं इस पर हमें इस अध्याय में विचार करना है।

२. नागरिक-समस्याएँ*

जिन परिस्थितियों का हमने ऊपर वर्णन किया उनसे भिन्न-भिन्न नागरिक-समस्याएँ उत्पन्न हो रही हैं। ये समस्याएँ क्या हैं? ये समस्याएँ हैं—(क) नगरों में मृत्यु-दर का बढ़ना, (ख) जन्म-दर का घटना, (ग) अपराधों का बढ़ना, (घ) स्नायु रोग, पागलपन तथा आत्म-हत्याओं का बढ़ना, (ङ) विचारों की उच्छृंखलता, (च) व्यक्तिवाद, (छ) परिवार का विगठन, (ज) व्यक्ति का विगठन, (झ) मकानों की कमी, (ञ) प्रकृति से अलहदगी। हम नगरों की इन समस्याओं पर संक्षेप से विचार करेंगे :

(क) मृत्यु-दर का बढ़ना—यद्यपि गाँवों तथा शहरों की मृत्यु-संख्या का अलग-अलग ब्यौरा उपलब्ध नहीं है, तथापि जो लोग गाँवों में खुली हवा में रहते हैं उनमें बीमारी का कम होना और जो लोग बन्द कमरों में, भीड़-भड़क्के में रहते हैं, उनमें रोग का अधिक होना स्वाभाविक है। शहरों में लोग स्थान की कमी के कारण इतने पास-पास रहते हैं, और स्थान तंग होने के कारण इतनी घिच-पिच में रहते हैं कि फैलने वाली बीमारियाँ एकदम एक-दूसरे को लग जाती हैं। प्राचीन-काल में बड़े-बड़े शहर या तो युद्धों के कारण नष्ट-भ्रष्ट हो जाते थे, या किसी संक्रामक रोग के कारण सब-के-सब तबाह हो जाते थे। प्लेग ने कई शहर नष्ट कर दिये और आजकल भी इन्फ्लुएंज़ा आदि जब होते हैं तब सभी के रूमाल तर हो जाते हैं। तपेदिक की बीमारी भी हवादार और रोशनीदार मकानों के न होने के कारण शहरों में बहुत अधिक पायी जाती है।

वर्तमान-युग की चिकित्सा-संबंधी उन्नति के कारण शहरों की यह समस्या अब कुछ सुलझती जा रही है। शहरों में स्वास्थ्य की तरफ़ ज़्यादा ध्यान दिया जा रहा है। हर शहर की नगरपालिका का अपना-अपना स्वास्थ्य-विभाग है, जो मलेरिया आदि के सर्वनाश के प्रयत्न करता रहता है। गन्दी नालियों के लिए ज़मीन के नीचे नालियाँ बनाई जा रही हैं, टट्टी-पेशाब के लिए फ्लश की टट्टियाँ बन रही हैं, इनसे मक्खी-मच्छर कम किये जा रहे हैं। इन सब के बावजूद अभी शहरों में गाँवों की अपेक्षा मृत्यु-दर अधिक है। इंग्लैण्ड में १९३५ में लिवरपूल, बरमिंघम, शैफ़ील्ड आदि शहरों तथा सफ़्फ़ोल्ड, लिंकनशायर, विल्ट-शायर, ऑक्सफ़ोर्डशायर आदि गाँवों की मृत्यु-दर देखने से पता चला कि गाँवों के २५ वर्ष की आयु के व्यक्तियों की ४७–४८ वर्ष तक तथा शहरों के २५ वर्ष की आयु के व्यक्तियों की ३८–४२½ वर्ष तक जीने की आशा की जा सकती थी। भारत में भी गाँवों की अपेक्षा शहरों का स्वास्थ्य गिरा हुआ है और इसका मुख्य

---

* **Discuss the main social problem faced by these growing towns.** **(1961)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण शहरों में तंग मकानों एवं भीड़-भड़क्के का होना तथा जन-संख्या का अधिक होना है। यह समस्या स्वास्थ्य-विभाग के अधिक विस्तार से ही हल हो सकती है।

(ख) **जन्म-दर का घटना**—पशुओं की जाँच करने वालों का कहना है कि जंगल में पशुओं की जितनी सन्तान बढ़ती है, उतनी चिड़िया-घरों में नहीं बढ़ती। शहरों में बसने वाले इन्सान को चिड़िया-घरों के जानवरों की तरह क़ैद में रहने वाला तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु फिर भी शहर का बसना एक तरह की क़ैद ही है। जो-कुछ भी हो, यह बात ठीक है कि शहरों में जन्म-दर घटती जाती है। शहरों की जन-संख्या जन्म-दर के बढ़ने के कारण नहीं बढ़ती, वह तो इसलिए बढ़ती है क्योंकि गाँवों से जन-संख्या का प्रवाह शहर की तरफ़ उमड़ता रहता है। अमरीका आदि देशों में शहर की यह एक बड़ी भारी समस्या है कि वहाँ की जन्म-दर घटती जाती है। १९३५–४० में अमरीका के शहरों की जाँच करने पर पता चला कि अगर अवस्थाएँ वैसी ही रहें जैसी हैं, तो १०० बच्चों के मरने पर उनकी जगह ७३ बच्चे पैदा होते हैं, गाँवों में १०० मरें तो उनकी जगह १५६ पैदा होते हैं। कई समाज-शास्त्रियों का कहना है कि अगर गाँवों से लगातार शहरों की तरफ़ नदी के प्रवाह की तरह मानव-प्रवाह न बहता रहे, तो शहर कभी के समाप्त हो जाँय। शहरों की परिस्थिति जन्म-दर बढ़ने में सहायक भी नहीं है। पहले तो शहरों के लोग गर्भ-निरोधक उपायों का प्रयोग अधिक करते हैं। गाँव वालों के लिए अधिक सन्तान खेती-बाड़ी का बोझ बँटाने के लिए सहारा होती है, शहर वालों के लिए अधिक सन्तान जीवन के स्तर को कम करने वाली समझी जाती है, इसलिए शहरी लोग अधिक सन्तान चाहते ही नहीं। इसके अतिरिक्त शहरों में जगह की तंगी होने के कारण मकान ही ऐसे होते हैं जिनमें बच्चे का विकास ही नहीं हो सकता। बच्चा दौड़ना-घूपना चाहता है, खेलना चाहता है, उसे अपने विकास के लिए बहुत अधिक जगह की आवश्यकता है। शहर में छोटा-सा कमरा, ४ फुट का मुश्किल से बरामदा, बच्चा वहाँ क्या करे? शहर बच्चों के लिहाज़ से नहीं, बड़ों के लिहाज़ से बने होते हैं। एक बच्चे को शहर के तंग मकानों और तंग गलियों में पालना एक समस्या है। शहर में मानव का उत्पादन नहीं, उपभोग हो सकता है, शहर मानो मनुष्य को खा जाता है।

शहर की इस समस्या को हल करने के लिए जगह-जगह बाग़-बग़ीचे लगाने का प्रयत्न किया जाता है ताकि बच्चे खेल-कूद सकें, उन्हें गाँव की-सी खुली हवा मिल सके। आजकल बच्चों के कैम्प लगाये जा रहे हैं, युवक-शिविर, शिक्षार्थी-शिविर। इस सब का उद्देश्य यह है कि शहर में रहने के कारण बच्चों को जो तंगी होती है, उसे दूर किया जाय। शहर की इस तंगी को दूर करने के लिए अमरीका आदि समुन्नत देशों में अब ऐसे शहरों की योजनाएँ बन रही हैं, जिनमें शहरों की सब सुविधाएँ हों, पर साथ ही गाँवों का खुलापन, गाँवों की आबादी और गाँवों का-सा वातावरण हो, जहाँ गाँव शहर का-सा हो और शहर गाँव का-सा हो, जहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बच्चों को अपने विकास की पूर्ण सुविधा हो। अभीतक तो शहरों में जन्म-दर घट ही रही है और यह समस्या एक वास्तविक समस्या है।

(ग) **अपराधों का बढ़ना**—गाँवों की अपेक्षा शहरों में अपराध करने का अवसर अधिक रहता है। जो अपराधी मनोवृत्ति का नहीं भी है, वह भी शहर में जहाँ उसे कोई नहीं जानता अपराध करने के लिए ललचा उठता है। मनुष्य के अपराध न करने का बहुत बड़ा कारण समाज का भय है, लोग क्या कहेंगे, बिरादरी क्या कहेगी ? जहाँ कोई किसी को जानता ही नहीं, वहाँ किसका भय। यह तो उनकी बात है जो अपराधी मनोवृत्ति के नहीं हैं। जो अपराधी मनोवृत्ति के हैं, उन्हें तो अपराध करने के लिए शहर एक उपजाऊ भूमि मिल जाती है। शहरों में सब तरह के अपराध करने की सुविधा रहती है—चोरी करो, ठगी करो, जेब कतरो—जो-चाहो करो और इतनी बड़ी भीड़ में गुम हो जाओ, फिर कौन पहचान पायेगा कि किसने क्या किया। भलेमानसों को अपराध करने का अवसर और बदमाशों को अपराध करने की सुविधा शहरों में मिलती रहती है इसलिए शहरों में अपराध बढ़ते रहते हैं।

(घ) **स्नायु-रोग, पागलपन तथा आत्म-हत्याओं का बढ़ना**—हिसाब लगाने वालों का कहना है कि शहरों में गाँवों की अपेक्षा स्नायु-रोग तथा पागलपन अधिक पाया जाता है। स्नायु-रोग तथा पागलपन के दो बड़े कारण हैं—आर्थिक तथा यौन। शहरों में उद्योगीकरण से जहाँ लोग पैसा जल्दी-जल्दी कमाते हैं झट-से लखपति हो जाते हैं, वहाँ झट-से कंगाल भी हो जाते हैं। सट्टेबाज आज करोड़पति तो कल कंगाल हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में आर्थिक कारणों से घबरा कर लोग आत्म-हत्या भी कर बैठते हैं। आर्थिक कारणों से मानसिक-विक्षोभ तो शहरी-लोगों को रहता ही है। इस प्रकार के मानसिक-क्षोभ में चिन्ता का रोग मनुष्य को बेचैन बनाये रखता है। जिन देशों में नागरिकता का जीवन अपने शिखर पर पहुँच गया है, वहाँ स्नायु-रोग भी अपने उच्च शिखर पर पहुँचा हुआ है। इस प्रकार की स्नायु-व्याधियों के कारण शहरों के लोग दुःखी तथा खिन्न-चित्त रहते हैं और इनसे बचने के लिए तरह-तरह की चित्त-शान्ति की औषधियों का सेवन करते हैं। अमरीका में १९५६ में दवाई बेचनेवालों ने 'प्रसाद-गुटिकाएँ' (Happy pills) बेचना शुरू किया जिन पर १९५७ में १५ करोड़ डालर खर्च होने का अनुमान लगाया गया है। यह खर्च वे १ करोड़ २० लाख के लगभग व्यक्ति करेंगे जो आत्मिक-शान्ति के लिए और अपनी मानसिक बेचैनी को दूर करने के लिए इन गोलियों को खायेंगे। इन गोलियों से क्या होता है ? आदमी नींद की-सी हालत में रहता है, परेशानी को भूल जाता है, और शीघ्र यम-लोक की राह लेता है। यौन-कारण भी शहरों में अधिक पाये जाते हैं। स्त्री-पुरुष का असंगत मेल पागलपन का बड़ा भारी कारण है। ये परिस्थितियाँ गाँवों में इतनी नहीं होतीं जितनी शहरों में होती हैं। पागलपन के अतिरिक्त आत्महत्या की घटनाएँ भी शहरों में अधिक होती हैं। आत्म-हत्या के भी आर्थिक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तथा यौन-कारण हैं। स्वास्थ्य विगड़ जाने से भी निराशा में व्यक्ति आत्म-हत्या कर वैठता है। इस प्रकार की परिस्थितियाँ भी शहरों की विशेषताएँ हैं। हिसाव लगाने वालों का कहना है कि शहरों में आत्म-हत्या की घटनाएँ गाँवों की अपेक्षा तीन गुना पायी जाती हैं।

(ङ) **विचारों की उच्छृंखलता**—ग्रामवासियों की विचार-प्रणाली परंपरागत विचारों से बँधी रहती है, वे उन बंधे-बंधाये विचारों से इधर-उधर नहीं सोचते। शहर का रहने वाला अपनी परंपराओं से जुदा हो चुका होता है, वह किसी पुरानी परंपरा या रूढ़ि का दास नहीं रहता, वह हर बात पर स्वतंत्र विचार करता है। जहाँ तक स्वतंत्रता तथा विविधता का प्रश्न है, यह ठीक ही है, मनुष्य को स्वतंत्र विचार करना ही चाहिए, परन्तु प्रायः विचार-स्वातंत्र्य विचारों की उच्छृंखलता में परिणत हो जाता है। शहरों के रहने वालों के लिए उन्हें पुरानी प्रथाओं से वाँधने वाली कोई रूढ़ियाँ या मान्यताएँ नहीं रहतीं, वे भौतिकवाद के शिकार हो जाते हैं। जव मनुष्य को वाँधने वाली कोई चीज़ नहीं रहती, तव उसका पथ-भ्रष्ट हो जाना स्वाभाविक है। आज हमारे शहरी-जीवन में विचारों की स्वतंत्रता उच्छृंखलता का रूप धारण करती जा रही है और यह हमारे नागरिक-जीवन की एक बड़ी समस्या वनती जा रही है। विचारों की उच्छृंखलता शहरों में अपराध वढ़ाने का एक वड़ा कारण है। विचारों की इस उच्छृंखलता ने व्यक्ति की सव आस्थाएँ तोड़ दी हैं, वह अव किसी प्रकार के वन्धन में वँधा रहना नहीं चाहता। इस उच्छृंखलता ने एक ऐसी विचार-धारा को जन्म दे दिया है जिसके सामने सामाजिक-वंधन पारिवारिक-बंधन, व्यक्ति का अपना वनाया हुआ वन्धन—सब टूटते जा रहे हैं, और शहर का मनुष्य विना पतवार की नौका के समान जीवन-रूपी समुद्र में वहता चला जा रहा है। इन विचारों ने गूढ़ 'व्यक्तिवाद' को जन्म दिया है। और व्यक्तिवाद ने सामाजिक-विगठन, पारिवारिक-विगठन तथा व्यक्ति के विगठन की समस्याओं को, जो विशेष कर शहरों की समस्याएँ हैं, जन्म दिया है। विचारों की उच्छृंखलता, व्यक्तिवाद, सामाजिक-विगटन, पारिवारिक-विगठन तथा वैयक्तिक-विगठन —ये सव एक ही रोग के भिन्न-भिन्न रूप हैं।

(च) **व्यक्तिवाद या सामाजिक विगठन**—गाँवों में थोड़े व्यक्ति होते हैं, इसलिए हर-एक सिर्फ़ अपने को समाज का अंग नहीं समझता। वहाँ का समाज सव की साझेदारी से समाज वनता है। प्रायः सभी का एक पेशा होता है, नहीं भी होता तो भी वे इतने थोड़े होते हैं कि वहाँ एक प्रकार का साम्यवाद नज़र आता है। सव एक-दूसरे के साथ सुख-दुःख में शरीक होते हैं। शहरों में ऐसा नहीं होता। वहाँ सव का काम अलग-अलग होता है। कोई व्यापार करता है तो कोई नौकरी करता है, नौकरी भी कोई कारखाने में, कोई दफ्तर में, एक कहीं तो दूसरा कहीं। हर काम-धंधे में विशेषीकरण है। जन-समूह तो इतना अधिक है कि कोई ठिकाना नहीं, परन्तु वह जन-समूह उद्योगीकरण की दृष्टि से इतना अधिक वंटा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है कि व्यक्ति का सामाजिक-सम्पर्क बहुत परिमित लोगों के साथ रह जाता है। एक दफ्तर में काम करने वाले बाबू लोग भी एक-दूसरे को नहीं जानते क्योंकि उसी दफ्तर के कोई एक विभाग में काम करता है, तो कोई दूसरे विभाग में, और इन दोनों विभागों का आपस में कोई सम्बन्ध नहीं होता। फिर एक ही विभाग में काम करने वालों में से एक व्यक्ति शहर के पूर्व में रहता है, तो दूसरा पश्चिम में। इनका भी दफ्तर में ही आपस का सम्पर्क होता है। ऐसी हालत में इस भीड़-भड़क्के में रहते हुए भी व्यक्ति मानो इकला होता है, पास-पड़ौस के न उसे जानते हैं, न वह उन्हें जानता है। वह तो प्रातःकाल अपने काम-धंधे पर निकल जाता है, शाम को वापस लौटता है, रात को खाना खाकर सो जाता है, छुट्टी के दिन बच्चों को लेकर सिनेमा-नाटक देखने चला जाता है, उसे किसी के सम्पर्क में आने का अवसर ही नहीं मिलता। इस प्रकार व्यक्ति समाज में रहता हुआ भी समाज से कट जाता है और उसका सोचना-विचारना समाज की दृष्टि से नहीं होता, अपनी दृष्टि से होने लगता है, व्यक्तिवाद की दृष्टि से होने लगता है। व्यक्तिवाद स्वार्थ की जड़ है। व्यक्तिवादी हर बात को अपनी दृष्टि से देखता है, समाज की दृष्टि से नहीं देखता। कोई जिये या मरे—अपने लिए हर किसी प्रकार से पौ-बारह होनी चाहिए—यह दृष्टि शहरों की उपज है। इस व्यक्तिवाद का नतीजा है कि शहर के लोग हर बात में उथला-उथला जीवन व्यतीत करते हैं। अगर किसी से परिचय है, तो सिर्फ़ सिर हिला देने मात्र का, 'ठीक तो है'—कह देने मात्र का। गाँव का भाई जब 'तबीयत कैसी है'—पूछता है तब सचमुच उसका मतलब यह जानने का होता है कि आपकी तबीयत कैसी है, शहर का भाई जब यह पूछता है तब वह आपके उत्तर के लिए भी नहीं ठहरता। वह तो इसे सामाजिक-व्यवहार का एक अंग समझता है, सौहार्द या मानवीयता की भावना से, भाई-चारे के नाते से यह बात नहीं पूछता। इस व्यक्तिवाद के कारण व्यवहार पर जैसा प्रभाव पड़ता है, वैसा शहरी व्यक्ति के आचार पर भी कम प्रभाव नहीं पड़ता। गाँव में आचार-शास्त्र की जो मर्यादाएँ हैं उन्हें कोई तोड़ता नहीं, वे उसके जीवन की जड़ों तक पहुँच चुकी होती हैं, इस-लिए पहुँच चुकी होती हैं क्योंकि गाँव का व्यक्ति समाज में इकला नहीं खड़ा होता, उसकी जड़ें सामाजिक-भूमि के भीतर जाकर दूसरों की जड़ों के साथ उलझ चुकी होती हैं, शहर में व्यक्तिवाद के कारण हर-एक की जड़ अलग-अलग है, हर-एक व्यक्ति अलग-अलग खड़ा है, उसके मान-दंड सामाजिक नहीं, अपने वैयक्तिक मान-दंड होते हैं, इसलिए कोई भी सामाजिक-मर्यादा उसे बाँध नहीं सकती। जब कोई भी सामाजिक-मर्यादा उसे नहीं बाँध सकती तब वह जैसा आचार-शास्त्र बनाना चाहता है बना लेता है। व्यक्तिवाद बढ़ते हुए नगरों की बड़ी गहन समस्या है।

शहरों की इस समस्या को शहर के लोग अनुभव न करते हों—यह बात नहीं है। जगह-जगह सभा-सोसाइटियाँ इसी उद्देश्य से खोली जाती हैं ताकि शहर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का व्यक्ति अपने को इकला अनुभव न करे, वह समाज के अन्य व्यक्तियों के सम्पर्क में आये। धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक संगठन मनुष्य को व्यक्तिवाद में से निकालने के प्रयत्न हैं। इन प्रयत्नों के बावजूद शहरों में ९७ प्रतिशत संख्या ऐसे लोगों की ही रहती है, जो जीवन की जद्दोजहद में ही लगे रहते हैं, उन्हें कोई चीज़ भी व्यक्तिवाद के कीचड़ में से नहीं निकाल सकती।

(छ) परिवार का विगठन—हमने ऊपर व्यक्तिवाद की जो चर्चा की उससे कुछ देर के लिए ऐसा जान पड़ता है कि शायद शहर के मनुष्य को बाँध रखने वाली चीज़ परिवार ही रह गई है, सामाजिक-बंधन नहीं रहे। परन्तु परिवार भी तो उसे बाँधता नहीं दीखता। शहरी व्यक्ति जहाँ सामाजिक-बन्धनों से मुक्त होता जा रहा है, वहाँ उसका पारिवारिक-बंधन भी शिथिल होता जाता है। महँगाई, उद्योगीकरण तथा उच्च जीवन-स्तर के कारण शहर की जद्दोजहद इतनी उग्र हो उठी है कि जबतक परिवार के सब सदस्य कमाने में न लगें, तबतक गुज़र ही नहीं होती। दिनभर, माता, पिता, लड़के, लड़कियाँ, अलग-अलग दफ्तरों-कारखानों में रहते हैं। सवेरा होते ही सब की अलग-अलग तैयारी होने लगती है। कुछ देर के लिए वे मिलते हैं फिर दिनभर के लिए जुदा हो जाते हैं। पारिवारिक-विगठन नागरिक-जीवन की अनेक समस्याओं में से एक है। शहर में व्यक्ति पर न समाज का बन्धन रहता है, न परिवार का, और परिवार में लड़के-लड़कियाँ न माँ की सुनती हैं, न बाप की, न दूसरे किसी की।

(ज) व्यक्ति का विगठन—जिस समाज में व्यक्ति अपने समूह से टूट कर जुदा हो गया, परिवार के सहारे से भी अलग हो गया, उस समाज में व्यक्ति किस आधार पर खड़ा रह सकता है? विगठित समाज तथा विगठित परिवार में व्यक्ति का विगठित हो जाना अवश्यम्भावी है। जब पुराने मूल्य नष्ट हो जाते हैं, सामाजिक-मूल्य और पारिवारिक-मूल्य व्यक्ति के जीवन में से निकल जाते हैं, तब व्यक्ति कोरा-का-कोरा रह जाता है। उसके सामने न कोई मान-दंड रहता है, न उसके जीवन की दिशा निर्धारित करने की कोई सामग्री रह जाती है। मनुष्य के व्यक्तित्व के विकास का अभिप्राय यही तो है कि व्यक्ति समाज में रहता हुआ सदियों से संचित किये हुए सामाजिक-संस्कारों के अनुसार अपने को ढाले, जब व्यक्ति समाज को, परिवार को, सब को धकेल कर निरे व्यक्तिवाद पर अपने जीवन की आधार-शिला को खड़ा करता है, तब उसके सामने अपने जीवन के विकास का क्या नक्शा रह जाता है? किस नमूने को सामने रखकर वह अपने जीवन के भवन का निर्माण करना चाहता है? जिन नमूनों को वह सामने रख सकता था, उन्हें तो उसने तोड़-मोड़ कर अलग रख दिया, अब वह जीवन-नौका को इस संसार-समुद्र में किस दिशा की तरफ़ मोड़े? इस प्रकार पुराने मूल्यों के टूटने के परिणामस्वरूप व्यक्ति का विगठन हो जाता है, और वह कभी अपराध करता है, कभी मानसिक-व्याधियों का शिकार बनता है, और कोई-कोई आत्म-हत्या कर डालता है। यह समस्या गाँवों की इतनी नहीं जितनी शहरों की है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(झ) मकानों की कमी—हम पहले कह आये हैं कि शहरों की भीषण समस्याओं के आधार मुख्य तौर पर तीन हैं—मकान, भीड़ और उद्योगीकरण। हर किसी समस्या के आधार में इन तीनों में से कोई-न-कोई, दो या तीनों बातें काम कर रही होती हैं, शहरों में मकानों की समस्या स्वयं एक भीषण समस्या है। 'राष्ट्रीय-स्थाली-पुलाक-सर्वेक्षण-विभाग' (National Sample Survey Department) ने १९४३ में गाँवों और शहरों के मकानों की समस्या की जाँच की थी। उन्होंने बम्बई, कलकत्ता, दिल्ली तथा मद्रास—इन चार बड़े-बड़े शहरों के आँकड़े तैयार किये थे। उनका कहना था कि शहरों में ४४ प्रतिशत घर १ कमरे के, २८ प्रतिशत २ कमरे के, १२ प्रतिशत ३ कमरे के थे। ४६ प्रतिशत घरों में प्रति व्यक्ति १०० घनफ़ुट से कम जगह का औसत आता है। शहर में एक व्यक्ति को १० फ़ुट लम्बाई-ऊँचाई की जगह मिले, तो उसका स्वास्थ्य कैसे ठीक रह सकता है? इसके अतिरिक्त शहरों में मकानों की तंगी की कोई हद नहीं। १९५१ में शहरों में ६ करोड़ २० लाख की आबादी के लिए लगभग १ करोड़ मकान थे। उस वर्ष २५ लाख मकानों की कमी का अन्दाज़ था। सन् १९३१ और १९४१ के बीच शहरों की आबादी में १ करोड़ ६० लाख की और १९४१ से १९५१ के बीच १ करोड़ ८० लाख की बढ़ती हुई और १९५१ से १९६१ के बीच शहरी आबादी उद्योगीकरण की नीति के कारण ३३ प्रतिशत बढ़ जाने की संभावना की जा रही है। अगर शहरों में मकानों के बनाने की योजनाओं को द्रुतगति से न चलाया गया, तो १९६१ के आते-आते १९५१ की तुलना में मकानों की कमी दुगुनी हो जायेगी।

प्रथम पंच-वर्षीय योजना में भवन निर्माण पर ३८.५ करोड़ रुपया ख़र्च करने के लिए रखा गया था, अब द्वितीय-पंच-वर्षीय योजना में इस मद में १२० करोड़ रुपया रखा गया है। इस रुपए में से ४५ करोड़ औद्योगिक-क्षेत्रों के श्रमिकों के मकानों के लिए सहायता के रूप में कारखानों वालों को दिया जायगा ताकि वे अपना भी कुछ रुपया लगाकर श्रमिकों के लिए मकान बनायें, ४० करोड़ थोड़ी आमदनी वालों को मकान बनाने में सहायता के रूप में दिया जायगा, १० करोड़ ग्रामों में भवन-निर्माण पर व्यय किया जायगा, २० करोड़ गन्दी बस्तियों को हटाकर तथा भंगियों के मकान बनाने पर ख़र्च होगा, ३ करोड़ मध्यम आय वालों के मकानों पर व्यय होगा और २ करोड़ से बाग़ान में काम करने वाले श्रमियों के मकान बनेंगे। इस प्रकार अपने देश में शहरों में मकानों की समस्या को हल करने का प्रयत्न किया जा रहा है।

(ञ) प्रकृति से अलहदगी—ग्रामीण-जीवन प्रकृति की गोद में विकसित होता है, शहरी-जीवन प्रकृति से परे कृत्रिम वातावरण में पनपता है। शहर में प्रकृति की झाँकी सिर्फ़ आँखें उठाकर आस्मान में जब चारों तरफ़ से घटाएँ उमड़ रही होती हैं, दिखाई देती है। चारों तरफ़ आँखें फाड़-फाड़ कर देखने से भी कहीं हरियावल नहीं दिखाई देती। छोटे-छोटे गमलों में लगे पौधों को देख-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर आँखों की प्यास बुझती है। रात को तारों की रोशनी की तरफ़ बिजली की रोशनी के कारण किसी को देखने का ध्यान ही नहीं आता। प्रकृति की बहार से शहर का रहने वाला वंचित रहता है। लहलहाते खेतों की यादगार के लिए शहरों में कहीं-कहीं छोटे-छोटे बाग़-बग़ीचे लगाये जाते हैं, परन्तु वे प्रकृति की छटा के पास भी नहीं पहुँचते। इसी का परिणाम है कि शहरी-जीवन में प्राकृतिक सरलता के स्थान में कृत्रिम जीवन की कुटिलता भरी रहती है।

३. नगर का बढ़ता हुआ प्रभुत्व

गाँव तथा नगर में वर्तमान-युग में नगर का प्रभाव दिनोंदिन बढ़ता जा रहा है। नगर का रहन-सहन का तरीका, उसके रीति-रिवाज़ गाँवों के लोग अपनाते जा रहे हैं। गाँव के लोग नगर का रौब मानते हैं, नगर की धन-दौलत का सिक्का उन पर जमा हुआ है, नगर-निवासियों को अपने से ज़्यादा अक्ल-मन्द भी समझते हैं। गाँव के माल का ख़रीदार नगर है। गाँव का माल शहर में जब जाता है, तब शहर पर गाँव की छाप नहीं छोड़ता, परन्तु जब नगर का माल गाँव में आता है, तब अपने साथ शहरीपन की हवा भी थोड़ी-बहुत ले आता है। नगर के प्रभाव के बढ़ने के दो विशेष कारण भी हैं। एक तो रेल-मोटर, अख़बार-रेडियो आदि साधनों से नगर और गाँव का पहले की अपेक्षा संपर्क बहुत अधिक बढ़ गया है। पहले गाँव के लोग शहर में जाते थे, शहर के गाँव में कम आते थे। अब भी गाँव के लोग शहर में जाते हैं, परन्तु वे शहरी बन कर शहर की हवा गाँव में ले आते हैं। शहरों का प्रभाव बढ़ जाने का दूसरा कारण यह है कि शहरों की आबादी गाँवों की अपेक्षा दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। जिन देशों में उद्योगीकरण हो गया है उनमें तो शहरों की आबादी बहुत अधिक बढ़ गई है। शहरों की आबादी क्योंकि बढ़ती गाँव के लोगों से ही है इसलिए भी शहरों का प्रभाव ज़माने के साथ बढ़ता जा रहा है। यद्यपि गाँवों का नगरों से पृथक् अस्तित्व तो नहीं जा सकता, तो भी एक दृष्टि से गाँव और नगर का गहरा भेद मिटता जा रहा है, ग्रामों का धीरे-धीरे नगरीकरण होता जा रहा है। कई लोगों का कहना है कि क्योंकि गाँवों से लोग नगर में आते हैं इसलिए अपने साथ-साथ ग्रामीणता को भी ले आते हैं, इससे नगरों का ग्रामीकरण हो रहा है, परन्तु ऐसी बात नहीं है। जो लोग गाँवों से नगरों में आते हैं वे अपनी ग्रामीणता को छोड़ते जाते हैं, और उसके स्थान में उनका जीवन नागरिकता की अच्छाइयों तथा बुराइयों से ओत-प्रोत होता जाता है। वे ही लोग ग्रामीण-जीवन को भी प्रभावित करते हैं। गाँव के हर व्यक्ति में शहरी बनने की लालसा जाग उठती है।

४. नगर के प्रभुत्व से ख़तरा

कई लेखकों का कथन है कि यह नगरीकरण की प्रक्रिया सभ्यता तथा संस्कृति के लिए एक ख़तरे की चीज़ है, और नगरों का बढ़ता हुआ प्रभाव जहाँ नगरों के विकास पर प्रकाश डालता है, वहाँ इससे नगरों के ह्रास पर भी प्रकाश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। नगरीकरण की प्रक्रिया से नगरों को ही खतरा है—यह स्थापना कई समाज-शास्त्रियों ने की है जिनमें ओसवल्ड स्पैंगलर (Oswald Spengler) तथा लूई ममफ़र्ड (Lewis Mumford) मुख्य हैं।

स्पैंगलर की पुस्तक 'डिक्लाइन ऑफ़ दि वैस्ट' (Decline of the West) है। इनका कहना है कि जब शहर अपने विकास के उच्च शिखर पर पहुँच जाता है तब इसके विनाश के सामान भी पैदा होने लग जाते हैं। इतना ही नहीं कि यह आस-पास के गाँवों की जीवनी-शक्ति खींच लेता है, परन्तु साथ ही अपनी जीवनी-शक्ति के ह्रास की प्रक्रिया को भी जन्म दे देता है। शहर में बौद्धिक क्रियाशीलता प्रचंड रूप धारण कर लेती है, हर बात बुद्धि की कसौटी पर परखी जाती है, नैसर्गिक-शक्ति का, जो गाँवों की देन है, ह्रास हो जाता है; शहर में कृत्रिमता अपने उग्र रूप में प्रकट होती है, ग्राम की सरलता विनष्ट हो जाती है; शहरी मनुष्य हर समय तनाव के वातावरण में विचरता है, गाँव के मानसिक सन्तुलन तथा शान्ति को वह खो बैठता है; शहर में भाई-बन्दी की, परिवार की, रिश्तेदारी की भावना समाप्त हो जाती है, व्यक्तिवाद और स्वार्थ की भावना से मनुष्य जकड़ा जाता है। स्पैंगलर के कथनानुसार इन सब प्रक्रियाओं तथा मानसिक प्रवृत्तियों का परिणाम यह होता है कि शहर के नागरिक की उत्पादन-शक्ति कम हो जाती है, शहरों की उत्पादन-दर घटने लगती है, मनुष्य समुदाय के रूप में नहीं परन्तु व्यक्ति के रूप में जीना चाहता है और धीरे-धीरे जैसे पहले शहरों का विकास हुआ था, वैसे अब उनके विनाश की प्रक्रिया शुरू हो जाती है और शहर का जन्म उसकी मृत्यु का कारण बन जाता है। जिस प्रकार शरीर उत्पन्न होता है, युवा होता है, वृद्ध होता और मर जाता है, इसी प्रकार स्पैंगलर के विचार के अनुसार शहर की उत्पत्ति-वृद्धि-विनाश होते हैं।

लूई ममफ़र्ड की पुस्तक 'दी कलचर ऑफ़ सिटीज़' (The Culture of Cities) है। इनका कहना भी स्पैंगलर के कथन की पुष्टि करता है। इन्होंने नगरों के विकास के छः क्रम बताये हैं—(क) आदि-नगर (Eopolis), (ख) नगर (Polis), (ग) मुख्य-नगर (Metropolis), (घ) विशाल-नगर (Megalopolis), (ङ) आक्रान्त-नगर (Tyrannopolis) तथा (च) मृत्यु-नगर (Nekropolis)। इनका कहना है कि नागरिक सभ्यता तथा नगरों का विकास इन छः क्रमों में से गुजरता है और नगर का निर्माण अन्त में नगर के विनाश में समाप्त हो जाता है। ममफ़र्ड के ये छः क्रम निम्न हैं :—

(क) 'आदि-नगर' की अवस्था (Eopolis stage)—आदि-नगर निवास-स्थान की सबसे पहली अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य समूह में रहने लगता है। इस अवस्था में नगर का विकास तो नहीं हुआ होता, गाँव का विकास हो चुका होता है। नगर नष्ट भी हो जाय, मनुष्य के समूह में रहने की यह अवस्था तो बनी ही रहती है। यह अवस्था नगर बनने से पहले होती है, नगर बन जाने पर भी नगर से पृथक् गाँवों में मनुष्य सामूहिक-जीवन व्यतीत करता है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नगर के नष्ट हो जाने पर भी यह अवस्था नष्ट नहीं होती। जिस समय मनुष्य ने स्थिर तौर पर रहना शुरू किया, खाने-पीने के लिए गेहूँ-चने के घरेलू पौधों का और दूध-दही के लिए घरेलू जानवरों का पता लगाकर एक जगह अपना स्थिर डेरा बना लिया उस समय मानो आदि-नगर बन गया। इस समय मानव-समाज को सब तरह का खाना मिलने लगा, उसे खाने-पीने के लिए किसी बात की कमी नहीं रही।

(ख) **'नगर' की अवस्था** (Polis stage)—'आदि-नगर' के बाद 'नगर' मनुष्य के निवास की दूसरी अवस्था आती है। गाँव इकला तो अपना जीवन-निर्वाह कर नहीं सकता, इसे अपनी आवश्यकताओं के लिए बहुत अंश तक अपने पर और बहुत-सी बातों के लिए दूसरे पास-पड़ौस के गाँवों पर निर्भर रहना पड़ता है। इस पर-निर्भरता से किसी ऐसे गाँव की मुख्यता बढ़ जाती है जो दूसरे गावों की दृष्टि से सब की आवश्यकताओं को औरों से अधिक पूरा कर सकता है। यह गाँव धीरे-धीरे नगर का रूप धारण कर लेता है। इस समय छोटे-मोटे यन्त्रों का प्रारम्भ होता है। यन्त्रों के आविष्कार से श्रम-विभाग शुरू हो जाता है, कोई व्यक्ति एक यन्त्र चलाता है, उसमें चतुर है, दूसरा व्यक्ति दूसरा-कोई यन्त्र चलाना जानता है, हर-कोई हर यन्त्र को नहीं चला सकता। अबतक मनुष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में ही लगा हुआ था। भोजन, वस्त्र, मकान की चिन्ता उसे हर समय घेरे रहती थी, इन्हीं के उत्पादन में वह जुटा रहता था। अब उसे कुछ चैन मिलती है, वह भोजन के अतिरिक्त अन्य बातों को भी सोचने लगता है। विकास की इस अवस्था में गणित, ज्ञान-विज्ञान, ज्योतिष आदि का विकास होता है।

(ग) **'मुख्य-नगर' की अवस्था** (Metropolis stage)—इन नगरों में भी कोई एक नगर ऐसा होता है, जो दूसरे नगरों की अपेक्षा अनेक बातों में बढ़ा-चढ़ा होता है। उदाहरणार्थ, वहाँ पीने का पानी प्रचुर मात्रा में है, रक्षा के साधन अन्य नगरों की अपेक्षा अधिक हैं, कृषि-योग्य भूमि मिल सकती हैं, वहाँ पानी, सड़क या हवा के रास्ते से आसानी से पहुँच सकते हैं, व्यापार की बहुत गुञ्जाइश है। ऐसा नगर अन्य नगरों की अपेक्षा मुख्य हो जाता है। यहाँ लोगों का आना-जाना बढ़ जाता है। तरह-तरह के लोग आते हैं, अपनी-अपनी किस्मत आजमाने के लिए, एक-से-एक बढ़े-चढ़े। इन सब के आने से इस नगर की सभ्यता-संस्कृति उन्नत होने लगती हैं। इन शहरों का दूर-दूर तक अपनी विशेषता के लिए नाम हो जाता है। हर क्षेत्र में श्रम-विभाग अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। भिन्न-भिन्न विषयों में भिन्न-भिन्न लोग माहिर माने जाने लगते हैं। आदि-नगर की अवस्था में एक आदमी सब-कुछ करता था, अब श्रम-विभाग इतना बढ़ जाता है और हर बात की गहराई में लोग इतना जाने लगते हैं कि वे जो-कुछ जानते हैं उसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं जानते। इस समय 'श्रम-विभाग' (Division of Labour) और 'विशेषीकरण' (Specialization) चरम सीमा पर आ जाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) **'विशाल-नगर' की अवस्था** (Megalopolis stage)—मुख्य-नगर एक-दूसरे की होड़ में विशाल-नगर बनने लगते हैं। इस अवस्था में अन्य सब नगरों की अपेक्षा शक्तिशाली होना ही ध्येय हो जाता है। शक्तिशाली होने के लिए पैसा मुख्य साधन है। इसलिए ऐसे नगरों में पैसा पैदा करने के सिवाय और किसी तरफ़ ध्यान नहीं होता। क्योंकि पैसा पैदा करने के साधन बड़े-बड़े यन्त्र, कल-कारख़ाने हैं, इसलिए इस अवस्था का मुख्य लक्ष्य यन्त्रीकरण हो जाता है, मनुष्य को पीछे धकेल कर मशीन राज्य-सिंहासन पर आ विराजती है। जो लोग उत्पादन तथा वितरण के साधनों के स्वामी होते हैं, वे पैसा पैदा करने में जुट जाते हैं और उन्हें रुपया-पैसा-नफ़ा—इनके अतिरिक्त और कुछ नहीं सूझता। जब यह अवस्था आ जाती है तब नगर का पतन, उसका विनाश शुरू हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि यह विनाश एकदम नहीं हो जाता, यह प्रक्रिया धीरे-धीरे होती है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि जब मनुष्य मशीन का दास हो जाता है, तब नगर के विनाश का सूत्रपात हो जाता है।

(ङ) **'आक्रान्त-नगर' की अवस्था** (Tyrannopolis stage)—नगर में जब रुपया-पैसा कमाने की तरफ़ सब भागने लगते हैं, तब हर-एक के हाथ तो नहीं भर जाते। यन्त्रीकरण से पूँजीवाद उत्पन्न होता है। पैसा तो पैदा होता है, परन्तु वह कुछ सीमित व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है। ये लोग अपना गुट बनाते हैं क्योंकि सारी शक्ति इनके हाथ में केन्द्रित हो जाती है। इस समय तानाशाही सिर उठाने लगती है। जिनके हाथ में शक्ति आ जाती है, वे मनमानी करने लगते हैं। नगरों की सभ्यता जो अबतक विकसित हुई थी, वह इन तानाशाहों की इच्छा की दास हो जाती है। वे जैसा चाहते हैं जनता को चलाते हैं, जनता अपनी स्वतंत्रता खो बैठती है, ज्ञान-विज्ञान भी इनके दास हो जाते हैं। इनकी अधिकार-लिप्सा का परिणाम युद्ध और रक्तपात होता है और अन्त में भूख, महामारी मुँह फैला कर यम-दंष्ट्रा की तरह इन नगरों को निगलने लगती हैं।

(च) **'मृत्यु-नगर' की अवस्था** (Nekropolis stage)—जब तानाशाहों का बोलबाला हो जाता है, सिकन्दर, नादिरशाह, नैपोलियन, हिटलर, मुसोलिनी जैसे लोग शक्ति के पीछे भागने लगते हैं, तब उन्हीं शहरों की जो किसी समय अपने यौवन की मस्ती में झूम रहे थे मौत की घड़ी आ पहुँचती है और ये शहर तहस-नहस हो जाते हैं।

शहरों के उत्थान और पतन की लूई ममफ़र्ड के शब्दों में यही करुण कहानी है।

५. क्या यह ख़तरा सचमुच का ही ख़तरा है ?

लूई ममफ़र्ड ने शहरों के पतन की ख़तरे की घंटी तो बजाई, परन्तु वह स्पैंगलर की तरह उतना निराशावादी नहीं है। ममफ़र्ड का कहना है कि यह ज़रूरी नहीं कि शहर इन छहों क्रमों में से अवश्य ही गुज़रें। यह ठीक है कि बड़े-बड़े शहरों का प्राचीन इतिहास यही सिद्ध करता है कि उनका उत्थान हुआ, पतन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी हुआ, परन्तु यह भी हो सकता है कि बीच में ही कई ऐसे कारण उत्पन्न हो जाँय जिनसे पतन की तरफ़ जाता हुआ शहर संभल जाय और नष्ट होता-होता बच ही न जाय, अपितु उसके पुनर्जीवन के सामान भी पैदा हो जाँय। इस तरह ऐसा भी हो सकता है कि कहीं-कहीं खतरे की घंटी समय से पहले ही बज उठे और छहों प्रक्रियाओं में गुज़रने से पहले ही कोई शहर चलता बने। आखिर, मनुष्य के जीवन में दुर्घटनाएँ भी होती हैं, ऐसी ही दुर्घटनाएँ नगर के जीवन में हो सकती हैं। स्पैंगलर का कहना था कि शहरों में जन्म-दर घट रही है, मृत्यु-दर बढ़ रही है, परन्तु वर्तमान वैज्ञानिक उन्नति तथा स्वास्थ्य-संबंधी आविष्कारों से अब पासा पलट रहा है। आजकल शहरों में ग्रामों की अपेक्षा स्वास्थ्य की तरफ़ अधिक ध्यान दिया जा रहा है। पहले जो बीमारियाँ शहरों से निकलती ही नहीं थीं, मलेरिया, प्लेग, टायफ़ाइड—वे अब शहरों से भाग रही हैं। अब शहरों की मृत्यु-दर घटने तथा जन्म-दर बढ़ने लगी है। शहरों में धुआँ, मक्खी, मच्छर, गर्द का इलाज किया जा रहा है, और यह कहना असंगत नहीं है कि अब सब खतरे जिनके कारण स्पैंगलर ने शहरों के विनाश की तरफ़ संकेत किया था, कम होते जा रहे हैं।

इस प्रकार हमने देखा कि नगरों के साथ-साथ नागरिक-समस्याएँ भी पैदा होती जा रही हैं, परन्तु आज का मानव उन समस्याओं का हल भी ढूँढता जा रहा है। आज के युग में जब चारों तरफ़ निर्माण-ही-निर्माण की हवा बह रही है, नगरों के पुनर्निर्माण की भी योजनाएँ बन रही हैं, तब आशा की जानी चाहिए कि भारत में जहाँ अभी बहुत बड़े-बड़े नगरों का निर्माण होने वाला है, हर नवीन नगर का किसी योजना के अनुसार निर्माण होगा ताकि नगरों के सम्बन्ध में जिन समस्याओं का हमें सामना करना पड़ता है, उनका शुरू में ही हल सोच लिया जाय।

प्रश्न

१. नगरों की मुख्य सामाजिक समस्याओं का वर्णन कीजिये। (१९६१)

२. नागरिक-समस्याओं का वर्णन करते हुए जन्म-दर, मृत्यु-दर, अपराध, स्नायु-रोग, पागलपन, उच्छृंखलता, व्यक्तिवाद, वैय्यक्तिक तथा पारिवारिक विगठन—इनके सम्बन्ध में शहरी समस्याओं पर प्रकाश डालिये।

३. 'नगरीकरण की प्रक्रिया से ही नगर को खतरा है'—इस स्थापना पर स्पैंगलर तथा ममफ़र्ड के विचार लिखिये।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२०

उद्योगीकरण तथा उसके सामाजिक-आर्थिक प्रभाव

(INDUSTRIALIZATION AND ITS SOCIO-ECONOMIC EFFECTS)

१. औद्योगिक-क्रान्ति

१८वीं तथा १९वीं शताब्दी में युरोप में औद्योगिक-क्रांति का प्रारम्भ हुआ। औद्योगिक-क्रांति की जो प्रक्रिया युरोप में हुई, वही अन्य देशों में भी हुई, और भारत में हो रही है, परन्तु क्योंकि औद्योगिक-क्रांति युरोप की और ख़ास कर इंग्लैण्ड की देन है, इसलिए इसे ठीक-ठीक समझने के लिए इस क्रांति की प्रक्रिया को समझ लेना आवश्यक है।

इस क्रांति का प्रारंभ यान्त्रिक-आविष्कारों से हुआ। सबसे पहले इंग्लैण्ड में औद्योगिक-क्रांति हुई जिससे मनुष्य का जीवन ही बदल गया। इंग्लैण्ड के बाद यह क्रांति अन्य देशों में फैल गई, अब भारत में फैल रही है। इस क्रांति के युग में ऐसे-ऐसे आविष्कार हुए जिनसे श्रम की बहुत अधिक बचत हुई। सन् १७६४ में जेम्स हरग्रीव नामक एक अंग्रेज़ कारीगर ने ऐसे चरखे का निर्माण किया जिससे एक के स्थान में इकट्ठे आठ-दस सूत काते जा सकते थे। १७८६ में रिचर्ड आर्कराइट-नामक एक दूसरे कारीगर ने ऐसे बेलनों का आविष्कार किया जो हाथ के बजाय यान्त्रिक-शक्ति से चलते थे। धीरे-धीरे ऐसे यन्त्र निकले

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. State the socio-economic consequences of industrialization in India. What steps should be taken to check the evil effects of industrialization? (1952, 1959)

2. Discuss the effects of technological progress on society. (1954)

3. State briefly the social implications of rapid industrialization in India. (1960)

4. What are the social consequences of increasing industrial development in India. (1962)

5. Give the major socio-economic problems of an industrial town. (1963)

6. Analyse the socio-economic effects of industrialization, with special reference to India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जिनसे एक-साथ दो-सौ सूत काते जा सकते थे, जिसका अभिप्राय यह था कि अनेक मज़दूरों का काम एक मज़दूर कर सकता था। १७८४ में कार्टराइट-नामक कारीगर ने एक ऐसी खड्डी बनायी जो पानी से चलती थी, और जिस पर एक पन्द्रह वर्ष का बालक उतना काम कर सकता था जितना पहले दस कारीगर करते थे। १७५० में पत्थर के कोयले का पता लगा। अबतक भट्टियों में लकड़ी का कोयला काम आता था, उसमें इतनी गर्मी न थी जितनी पत्थर के कोयले की आग में थी। इससे लोहे को गलाने में बहुत सुविधा हो गई, और लोहे की मशीनें बननें लगीं। १७६५ में जेम्स वाट ने स्टीम ऐंजिन बनाया जिसने औद्योगिक-क्रांति को बहुत वेग दिया। १८१४ में जार्ज स्टीवनसन ने पहली रेलगाड़ी बनाई जो माल को बैल गाड़ी में ढोने के स्थान में तेज़ी से एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जा सकती थी। १८०२ में जहाज़ भी चप्पुओं से चलने के स्थान में स्टीम-ऐंजिन से चलने लगे।

*१८वीं शताब्दी में एक-साथ इतने जो यांत्रिक-आविष्कार हुए उनसे उत्पादन के साधनों में एकदम परिवर्तन आ गया। पहले का यान्त्रिक आविष्कार हल था, इसलिए उत्पत्ति का साधन 'कृषि' था, अब उत्पत्ति का साधन मशीन हो गई, कोयला हो गया, इसलिए उत्पत्ति का साधन 'उद्योग' हो गया, कल-कारख़ाने हो गए। समाज-शास्त्र का यह नियम है कि जब उत्पत्ति के साधन बदल जाते हैं, तब उस देश का आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा भी बदल जाता है। पहले यह आर्थिक तथा सामाजिक ढाँचा उत्पत्ति के उन साधनों के अनुकूल बनाया गया था जो पहले प्रचलित थे; अगर वे साधन बदल गए तो इस ढाँचे का भी बदलना ज़रूरी था। जब मनुष्य कृषि करता था, हल ही उसके उत्पादन का साधन था, तब आर्थिक ढाँचा क्या था? तब व्यक्ति जो-कुछ पैदा करता था, उसका दूसरों के साथ अदला-बदला कर लेता था। इसे अर्थशास्त्र की परिभाषा में 'विनिमय' कहते हैं। अब मनुष्य के उत्पादन का साधन उद्योग हो गया, मशीन के ज़रिये धड़ाधड़ हर चीज़ पहले से सौ-पचास गुणा पैदा होने लगी। अब कौन किससे अदला-बदला करता। इस युग में सिक्के, हुंडी, नोट की ईजाद हुई, पहले की आर्थिक-व्यवस्था बदल कर नयी आर्थिक-व्यवस्था उत्पन्न हो गई। जैसे नवीन उत्पत्ति के साधनों के साथ नवीन आर्थिक ढाँचा बन जाता है, वैसे ही नवीन उत्पत्ति के साधनों के साथ सामाजिक-व्यवस्था भी नवीन हो जाती है, बदल जाती है। जब उत्पादन का साधन 'कृषि' थी, तब मनुष्य बड़े-बड़े खेतों में रहता था, भीड़-भड़क्कों में नहीं रहता था, गाँव ही उसका घर था, गाँव की सभ्यता उसकी सभ्यता थी, गाँव का समाज उसका समाज था; जब उत्पादन का साधन 'उद्योग' हो गया, तब एक उद्योग के लिए सैंकड़ों-हज़ारों व्यक्ति एक

---

* **Discuss the effects of technological progress on society. (1954)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्थान पर जमा होने लगे, भीड़-भड़क्का बढ़ गया, गाँव के स्थान में शहर मनुष्य का घर हो गया, शहर की सभ्यता उसकी सभ्यता और शहर का समाज उसका समाज हो गया। जिस प्रकार कृषि के युग का अपने समय की सामाजिक तथा आर्थिक-रचना पर प्रभाव पड़ा, इसी प्रकार तकनीकी प्रगति तथा उद्योगीकरण का भी अपने समय की सामाजिक तथा आर्थिक-रचना पर प्रभाव पड़ा। सामाजिक तथा आर्थिक—इन दो शब्दों के संक्षेप के लिए हम 'सामाजिक-आर्थिक' या 'सामाजार्थिक' (Socio-economic) शब्द का यहाँ प्रयोग करेंगे। यह 'सामाजिक-आर्थिक' प्रभाव क्या पड़ा—यही हमें इस अध्याय में देखना है। क्योंकि तकनीकी प्रगति तथा उद्योगीकरण का सबसे पहले प्रभाव आर्थिक-व्यवस्था पर पड़ा और उसके बाद सामाजिक-व्यवस्था पर पड़ा, इसलिए हम पहले आर्थिक-प्रभाव पर और उसके बाद सामाजिक-प्रभाव पर विचार करेंगे।

२. उद्योगीकरण का आर्थिक-व्यवस्था पर प्रभाव*

उद्योगीकरण से हमारे आर्थिक ढाँचे में जो परिवर्तन आये हैं उनके कारण हमारी आर्थिक-व्यवस्था पहले से बिल्कुल बदल गई है। वे परिवर्तन निम्न हैं :—

(क) पूँजीवाद (Capitalism)—कृषि-युग में सब लोग खेती करते थे इसलिए भूमि ही किसान की सबसे बड़ी सम्पत्ति, सबसे बड़ी जायदाद थी। उस समय 'भूमि' तथा 'सम्पत्ति' का एक ही अर्थ था। जिसके पास ज्यादा-से-ज्यादा भूमि थी, वह ज्यादा-से-ज्यादा सम्पत्तिशाली था। औद्योगिक-युग में 'भूमि' और 'सम्पत्ति' का यह गठ-जोड़ा टूट गया, भूमि के अतिरिक्त भी सम्पत्ति नाम की कोई चीज़ होती है, वह चीज़ भूमि से भी ज्यादा मूल्यवान् होती है—यह नया आविष्कार हुआ। भूमि से अतिरिक्त मूल्यवान् वह चीज़ क्या थी? यह थी—'सिक्का'। कृषि-युग में लोग खेती करते थे, जो पैदावार होती थी, उसका विनिमय कर लेते थे। वे विनिमय इसलिए कर सकते थे कि पैदावार बे-अन्त तो न होती थी, जितनी होती थी, उसे किसान संभाल सकता था। औद्योगिक-युग में तो कल-कारखानों से बे-अन्त पैदावार होने लगी। कृषि में परिमित भूमि पर परिमित उत्पत्ति होती है, उद्योग में परिमित कारखाने से अपरिमित उत्पत्ति हो सकती है। इतनी ज्यादा उत्पत्ति का विनिमय से कैसे काम चलता? इसका परिणाम यह हुआ कि सिक्का-नोट आदि का आविष्कार हुआ। वस्तु-विनिमय के स्थान में रुपए-पैसे से लेन-देन होने लगा। औद्योगिक-युग की आर्थिक-व्यवस्था का यह पहला आर्थिक-आविष्कार था।

औद्योगिक-युग में एक दूसरा भी आर्थिक-आविष्कार हुआ। कृषि-युग में किसान अपना खेत जोतता था, कुछ काम दासों से कराता था। युरोप में तो

---

* **State the Socio-economic consequences of industrialization in India. What steps should be taken to check the evil effects of industrialization? (1952, 1959, 1963, 1964)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सामन्तशाही के ज़माने में दास-प्रथा थी ही। सामन्त लोग उन दासों से खेती-बाड़ी का काम लेते थे। अपने देश में भी चमारों से दासों का-सा काम लिया ही जाता रहा। औद्योगिक-युग में दास-प्रथा हट गई, दास-प्रथा ने मज़दूर-प्रथा का रूप ले लिया। जैसे उद्योगपति के पास अपना 'उद्योग' था वैसे मज़दूर के पास अपना 'श्रम' था। उद्योगपति अपने कल-कारख़ाने का कपड़ा बेचकर पैसा पैदा कर सकता था, श्रमी अपना श्रम बेचकर पैसा पैदा कर सकता था।

औद्योगिक-युग ने ऐसी अर्थ-व्यवस्था को जन्म दिया जिसमें किसान उद्योग-पति हो गया, दास श्रमी हो गया, भूमि की जगह पैसे ने स्थान लिया। एक शब्द में इस युग का लक्ष्य पैसा पैदा करना हो गया—उद्योगपति ने भी पैसा पैदा करना चाहा, श्रमी ने भी। परन्तु क्योंकि उत्पत्ति का मुख्य साधन कल-कारख़ाना-मशीन थी, उस पर उद्योगपति का स्वामित्व था, इसलिए श्रमी को उद्योगपति की शर्तों पर अपना श्रम बेचना पड़ा, न बेचता तो भूखा मरता। कृषि-युग की अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य पैसा नहीं था, उसका लक्ष्य जीवन-निर्वाह के लिए पर्याप्त उत्पादन करना था, इसलिए जिसको जितनी ज़रूरत थी उतनी वस्तु उसे मिल जाती थी, औद्योगिक-युग की अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य पैसा हो गया, इसलिए जीवन-निर्वाह हो या न हो सस्ते-से-सस्ते में माल पैदा करना और महँगे-से-महँगे पर बेचना—यही उद्योगपति का लक्ष्य हो गया। कल-कारख़ाने से, मशीन से माल भारी तादाद में पैदा होता था इसलिए इस युग में ख़ूब पैसा बनने लगा। मिल-मालिक के पास पैसे का दरिया बहने लगा। वह इतना पैसा कहाँ रखे, कैसे रखे, कभी-कभी पैसे की तंगी आ जाती थी उस समय क्या हो—इन सब समस्याओं को हल करने के लिए बैंक खुलने लगे। एक कारख़ाना खुला तो दूसरा भी खुला, तीसरा खुला—आपस में प्रतियोगिता चल पड़ी। जहाँ पहले थोड़े कारख़ाने थे और उन्होंने पैसे का भंडार भर लिया था, वहाँ अब हर-कोई कारख़ाना खोलने लगा। इस प्रतियोगिता में माल का भाव गिरने लगा, किसी-किसी को अपनी सारी पूँजी बर्बाद करके दिवालिया बन जाना पड़ा। मिलों में कभी-कभी माल ज़्यादा पैदा हो जाता था, बिक नहीं पाता था, मालिक मिलों में ताले डाल देते थे। प्रतियोगिता में जब माल सस्ता बेचना पड़ता था तब अपना ख़र्च कम करने और मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए वे मज़दूरों की मज़दूरी में कमी करते थे, उन्हें इतना भी नहीं देते थे जिससे उनका पेट भी भर सके। यही-सब पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था कहलाती है, और इस अर्थ-व्यवस्था को उद्योगीकरण ने जन्म दिया। इस अर्थ-व्यवस्था का लक्ष्य पैसा है, मुनाफ़ा है। अगर पत्थर पीस कर आटे में मिला देने से पैसा पैदा होता है, अगर चर्बी को घी कहकर बेचने से मुनाफ़ा मिलता है, अगर औरतों को वेश्यालयों के लिए बेचकर चार पैसे आते हैं, तो उद्योगीकरण की बीमारी का मरीज़ यह सब-कुछ करने को तैयार है। इस युग का माई-बाप पैसा है, मुनाफ़ा है। पैसे के लिए भाई भाई का गला काटता है, बाप बेटे को,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेटा बाप को भूल जाता है। क्योंकि पूँजीवाद ने ही पैसे को जन्म दिया है, इसलिए यह सब पूँजीवाद की उपज है, और पूँजीवाद उद्योगीकरण की उपज है।

(ख) नगरीकरण (Urbanization)—उद्योगीकरण का दूसरा आर्थिक-प्रभाव नगरीकरण पर हुआ है। कृषि की अपेक्षा उद्योगों में रुपया अधिक कमाया जा सकता है—इसमें किसी को सन्देह नहीं। इसी कारण औद्योगिक-क्रांति के बाद से युरोप में गाँव उजड़ गए हैं, नगर बस गए हैं। १९३० में इंग्लैण्ड में ८० प्रतिशत जन-संख्या नगरों में रहने लगी थी, जर्मनी में ६७.१ प्रतिशत, अमरीका में ५६.२ प्रतिशत, फ्रांस में ४९.१ प्रतिशत। भारत में भी उद्योगीकरण के साथ-साथ नगरीकरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। १९२१ से १९४१ तक बीस सालों में नगरों की आबादी में जो वृद्धि हुई उससे १९४१ से १९५१ तक के १० सालों में अधिक वृद्धि हुई। इस प्रकार उद्योगीकरण से गाँव घटते तथा शहर बढ़ते जा रहे हैं। इसलिए बढ़ते जा रहे हैं क्योंकि उद्योगों में काम करके मज़दूर भी कृषि की अपेक्षा ज्यादा कमा लेता है, और मिल-मालिक तो ज्यादा कमाते ही हैं। क्योंकि कल-कारखानों में एक ही जगह अनेक मज़दूरों का रहना ज़रूरी है, इसलिए शहरों में भीड़-भड़क्का बढ़ता जाता है। माल पैदा करने के लिए, उसका वितरण करने के लिए, उसे बेचने के लिए शहरों में मज़दूर, बाबू, दुकानदार बढ़ते जा रहे हैं। नगरीकरण की जो समस्याएँ हैं—मकानों की कमी, जन्म-दर का घटना, मृत्यु-दर का बढ़ना, अपराधों की उत्तरोत्तर वृद्धि—इन सब का वर्णन हम पिछले अध्याय में कर आये हैं। यहाँ तो हम सिर्फ़ उद्योगीकरण के आर्थिक-प्रभाव का ज़िक्र कर रहे हैं। उद्योगीकरण से हमारी जो आर्थिक-व्यवस्था बदल रही है, उसमें ग्रामीकरण का स्थान नगरीकरण लेता जा रहा है।

(ग) बेकारी (Unemployment)—उद्योगीकरण का तीसरा आर्थिक-प्रभाव बेकारी पर पड़ता है। उद्योगीकरण का अर्थ है यन्त्रों से काम लेना। इसमें सन्देह नहीं कि यन्त्रों को मनुष्य चलाता है, परन्तु इसमें भी सन्देह नहीं कि एक यन्त्र १०–१५ आदमियों का काम करता है। जो काम १५ व्यक्ति करते हैं, वह यन्त्र के द्वारा एक व्यक्ति करने लगता है और १४ को बेकार कर देता है। जब युरोप में पहले-पहल यन्त्रीकरण हुआ तब गृहोद्योग नष्ट हो गए, जो लोग घर बैठे रोज़गार करते थे, करघे चलाते थे, वे बेकार हो गए। युरोप में इन यन्त्रों को शुरू-शुरू में नष्ट करने का प्रयत्न किया गया, इन्हें मनुष्य का शत्रु समझा गया। 'यन्त्र-नाश' (Machine-wrecking) का युरोप का अपना इतिहास है। १५७९ में एक इटैलियन पादरी ने एक पुस्तक लिखी थी जिसमें लिखा था कि जब पहले-पहल साधारण से अच्छे, ज्यादा काम करने वाले करघे का आविष्कार हुआ, तब डैनज़िग की कौन्सिल ने इस डर से कि इससे कई आदमी बेकार हो जायेंगे, उसे नष्ट करवा दिया, और इस करघे के आविष्कारक को या तो पानी में डुबवा दिया गया या उसका गला घुटवा दिया गया। अपने देश में पिछले दिनों जब मशीन के 'आधुनिकीकरण' (Rationalization) की योजना चली, तब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूरों में बड़ा भारी आन्दोलन हुआ। 'आधुनिकीकरण' का अभिप्राय ऐसी मशीनें लगाना है जिनसे पहले से ज़्यादा पैदा होता है, नुक्सान कम होता है, उत्पादन बढ़ता है। इसकी सीधी चोट मज़दूरों पर पड़ती है, इसलिए 'आधुनिकीकरण' का कानपुर आदि शहरों में मज़दूरों द्वारा ज़बर्दस्त विरोध हुआ। महात्मा गांधी का कहना था कि यन्त्रीकरण और उद्योगीकरण की अपेक्षा गृहोद्योगों को बढ़ावा देना चाहिए क्योंकि इससे बेकारी घटती है। जिन देशों में जन-संख्या कम है, उन देशों में तो यन्त्रों द्वारा काम लेने से उनकी समस्या हल हो जाती है, परन्तु भारत में तो जन-संख्या बहुत काफ़ी है। अगर हम यन्त्रीकरण की नीति का अवलम्बन करेंगे तो हमारे यहाँ बेकारी नहीं बढ़ेगी, तो क्या होगा?

(घ) विशेषीकरण (Specialization)—उद्योगीकरण का चौथा आर्थिक-प्रभाव विशेषीकरण के रूप में है। ग्रामीण आर्थिक-व्यवस्था में हर कोई हर-किसी काम को कर सकता है। पंडित-पाधा-पुरोहित-वैद्य के धंधे अलग-अलग नहीं हैं, पंडित जी ही पढ़ा भी देते हैं, ब्याह-शादी भी करा देते हैं, बीमारी में दवा भी देते हैं। यही बात और धंधों की है। उद्योगीकरण में इस प्रकार के उथले ज्ञान से काम नहीं चलता। वहाँ आर्थिक-क्षेत्र में 'श्रम-विभाग' (Division of labour) का नियम काम करता है। वैसे तो श्रम-विभाग का नियम प्रारंभिक सामाजिक-व्यवस्था में भी काम करता है, परन्तु औद्योगिक-युग में यह विभाजन गहरा हो जाता है। जो व्यक्ति एक मशीन चला सकता है, वह दूसरी नहीं चला सकता, एक मशीन में भी जो एक पुर्ज़े को ठीक कर सकता है, वह दूसरे पुर्ज़े के विषय में कुछ नहीं जानता। प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने क्षेत्र का माहिर है, अपने क्षेत्र की बात को ही जानता है, दूसरे के क्षेत्र के विषय में कुछ नहीं जानता। इस स्थिति से कई बार संकट भी उत्पन्न हो जाते हैं, काम एकदम रुक जाता है। उस विषय का विशेषज्ञ जबतक नहीं पहुँचता तबतक सब एक-दूसरे का मुँह ताकने लगते हैं। विशेषज्ञ होने के कारण उसकी पूछ भी बहुत होती है, वह विशेषज्ञता का पूरा-पूरा दाम वसूल करता है। विशेषीकरण में पर-निर्भरता का होना ज़रूरी है।

(ङ) समाजवाद (Socialism)—उद्योगीकरण का पाँचवाँ आर्थिक-प्रभाव समाजवाद की विचार-धारा का उत्पन्न होना है। हम पहले कह आये हैं कि मशीन से पैसा बड़ी तेज़ी से पैदा होता है। जो लोग पैसा पैदा करते हैं, वे हर साधन से करते हैं, दूसरों को उसमें हिस्सा नहीं लेने देते, दूसरों का हिस्सा भी हड़प जाते हैं। पूँजीवाद का नतीजा एक तरफ़ अमीरी और दूसरी तरफ़ ग़रीबी का हो जाना है। जब पूँजीवाद अपने उच्च शिखर पर पहुँच जाता है, तब अमीरी तथा ग़रीबी भी उच्च शिखर पर पहुँच जाती हैं। ये ग़रीब लोग मज़दूर-वर्ग के होते हैं। शहर में रहने के कारण ये हर बात सुनते-समझते हैं, बहस भी करते हैं। अमीर-ग़रीब के श्रेणी-भेद को देखकर इनमें असन्तोष उत्पन्न हो जाता है, ये अपनी आर्थिक-अवस्था उन्नत करने का प्रयत्न करते हैं। इसी प्रयत्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के परिणाम-स्वरूप 'श्रमी-संघ' (Trade unions) बनते हैं। ये श्रमी-संघ मज़दूर-वर्ग में एका उत्पन्न कर अपनी माँगें पेश करते हैं। पूँजीपति-वर्ग आसानी से, और इच्छा से, अपना मुनाफ़ा इनमें बाँटने को तैयार नहीं होता। जद्दोजहद शुरू हो जाती है। मज़दूर काम बन्द कर देने की धमकी देते हैं, पूँजीपति कारख़ाने बन्द कर देने की धमकी देते हैं। इस सब संघर्ष से एक नवीन विचार-धारा उत्पन्न हो जाती है और उस विचार-धारा का नाम 'समाजवाद' है। समाजवाद एक तरह से पूँजीवाद का ही पुत्र है। उद्योगीकरण ने पूँजीवाद को जन्म दिया, पूँजीवाद की बुराइयों ने समाजवाद को जन्म दिया। समाजवाद धनी-निर्धन के भेद को मिटाने का हल्का प्रयत्न है। यह भेद नहीं रहना चाहिए। ऐसा नहीं होना चाहिए कि कुछ लोगों को ज़रूरत से ज़्यादा मिले और कुछ लोग भूखे-पेट रहें, उन्हें भर-पेट खाने को भी न मिले। यह विचार-धारा अपने-आप औद्योगिक-युग में उत्पन्न हो जाती है। जब इस प्रकार का आर्थिक-परिवर्तन नहीं होता, ऐसा परिवर्तन जो अपने-आप हो जाना चाहिए था, तब आर्थिक-क्षेत्र में क्रांति उत्पन्न हो जाती है, और उत्पत्ति के साधनों को मज़दूर-वर्ग ज़बर्दस्ती हिंसा के उपायों से अपने अधिकार में लाने का प्रयत्न करते हैं। ज़बर्दस्ती के इसी प्रयत्न को कम्यू-निज़्म कहा जाता है। मार्क्स का कहना था कि जब उत्पत्ति के साधन बदल जाँय, तब आर्थिक-व्यवस्था भी बदल जानी चाहिए, अपने-आप बदल जानी चाहिए, अगर नहीं बदलती तब क्रांति होती है। जब संसार कृषि से जीवन व्यतीत करता था, तब एक तरह की आर्थिक-व्यवस्था हम बना चुके थे। वह आर्थिक-व्यवस्था उस युग के अनुरूप थी। जब कृषि के स्थान में उत्पत्ति के साधन यन्त्र बन गए, उद्योगीकरण आ गया, तब हमारी आर्थिक-व्यवस्था भी बदलनी चाहिए। बदल कर वह किस प्रकार की होनी चाहिए? श्रमी मशीन से काम करता है, अपना लहू तथा पसीना बहाता है। उसके साथ अगर पहले जैसा ही बर्ताव किया जायगा, उसे खाने को भी तरसाया जायगा, तो बौखला कर वह उत्पत्ति के साधनों पर ही प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयत्न करेगा। मार्क्स का कहना था कि धनी-वर्ग स्वयं शक्ति हाथ से जाने नहीं देगा, इसलिए आर्थिक-क्रांति होना लाज़मी है, उसे कोई रोक नहीं सकता, उद्योगीकरण का वह अवश्यंभावी परिणाम है। मार्क्स के इस विचार को रूस ने अपनाया और ज़बर्दस्ती आर्थिक-क्रांति को उत्पन्न किया। दूसरे लोग श्रमियों के कल्याण के कानून बनाकर, उन्हें सब तरह की सुविधाएँ देकर इस क्रांति को शान्त करना चाहते हैं।

३. उद्योगीकरण का सामाजिक-व्यवस्था पर प्रभाव*

उद्योगीकरण का समाज की आर्थिक-व्यवस्था पर जो प्रभाव पड़ा या पड़ रहा है, उसका हमने वर्णन किया। आर्थिक-व्यवस्था के अलावा इसका समाज की सामाजिक-व्यवस्था पर भी गहरा प्रभाव पड़ रहा है। वह प्रभाव क्या है?

---

* **State briefly the social implications of rapid industrialization in India. (1960, 1962, 1964)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) **परिवार का विगठन** (Disorganisation of the family)—उद्योगीकरण का सामाजिक-व्यवस्था पर जो प्रभाव पड़ा है, उसका सबसे अच्छा उदाहरण परिवार का विगठन है। इस ज़माने में जीवन का संघर्ष इतना बढ़ गया है कि इकले व्यक्ति की आमदनी से घर का खर्च नहीं चलता। औद्योगिक-शहरों में पति, पत्नी, लड़के, लड़की—सब अलग-अलग कमाते हैं। प्रातःकाल वे घर से डब्बों में परोंठे डालकर निकलते हैं और शाम को लौट कर आते हैं। रात को वे सो जाते हैं। आपस में घुल-मिल कर बैठने की भी उन्हें फ़ुर्सत नहीं मिलती। एक ही घर में रहते हुए, रुधिर का संबंध होते हुए भी वे एक-दूसरे से इतना ही मिल-जुल सकते हैं जितना पास-पड़ौस के अन्य लोगों से। परिणाम यह होता है कि खाने-पकाने का काम होटलों के सुपुर्द हो जाता है, कपड़े धोने का काम लौण्ड्री करने लगती है, घर के लिए कोई काम नहीं रहता। अबतक परिवार इसीलिए तो बना हुआ था क्योंकि कुछ लोग घर पर रहते थे, कुछ कमाते थे, घर पर रहने वाले घर का काम-काज करते थे। अब घर पर कोई नहीं रहता, इससे परिवार टूटता चला जा रहा है और यह उद्योगीकरण के कारण हो रहा है। उद्योगीकरण से लोगों की आवश्यकताएँ बढ़ गयी हैं, जीवन का स्तर ऊँचा उठ गया है, उस स्तर को कायम रखने के लिए कमाने की ज़रूरत बढ़ गयी है, हर-एक कमाने लगा है, घर का काम-काज घर के बाहर होने लगा है और इस प्रकार परिवार का दिनोंदिन विगठन बढ़ता जा रहा है, परिवार टूटता जा रहा है।

(ख) **आवश्यकताओं का बढ़ना** (Increase of wants)—उद्योगी-करण का सामाजिक-जीवन पर दूसरा प्रभाव आवश्यकताओं का बढ़ जाना है। कृषि-युग में आवश्यकताएँ क्या बढ़तीं? उस समय तो खाने-पीने, रहने-सहने के सिवाय कोई विशेष आवश्यकता थी ही नहीं। आदमी कितना खायेगा, पीयेगा? खाने-पीने पर, मकान पर, कपड़े पर कुछ निश्चित मात्रा ही ख़र्च की जा सकती है। आवश्यकताएँ तो अनन्त हैं, उनकी कोई सीमा नहीं। जीवन के स्तर के ऊँचा होने का भी क्या मतलब है? खाने-पीने में कोई कितना स्तर ऊँचा कर लेगा? पचास की जगह सौ, सौ की जगह दो-सौ, पाँच-सौ ख़र्च कर लेगा। आवश्यकताओं को पूरा करने में तो कोई हद्द ही नहीं। एक आदमी की आवश्य-कताएँ पाँच रुपए में पूरी हो सकती हैं, दूसरे की पाँच लाख में भी पूरी नहीं होतीं। उद्योगीकरण में ही ऐसे-ऐसे उद्योग बढ़ते हैं, जो मनुष्य के हृदय में नयी-नयी अभि-लाषाएँ उत्पन्न कर देते हैं और उन्हें पूरा करने में मनुष्य बे-अन्त ख़र्च कर सकता है। ख़र्च ही क्या, आवश्यकताओं का बढ़ना तो एक प्रवृत्ति का सूचक है, ऐसी मानसिक-प्रवृत्ति जो उद्योगीकरण का परिणाम है, परन्तु जब वह प्रवृत्ति एक बार उत्पन्न हो जाती है, तब मनुष्य के भीतर तरह-तरह की इच्छाएँ घर कर लेती हैं। ये इच्छाएँ सामाजिक-जीवन को भिन्न-भिन्न तौर पर प्रभावित करती रहती हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) **संयुक्त-परिवार का टूटना** (Disruption of Joint Family)—आवश्यकताओं के बढ़ने तथा परिवार के विगठित होने का स्वाभाविक परिणाम संयुक्त-परिवार-प्रथा का टूटना है। औद्योगिक-युग में जब परिवार का हर-एक व्यक्ति कमाने लगता है, तब यह कोई नहीं चाहता कि अपनी कमाई वह दूसरों पर खर्च करे। हर-एक अपने पैसे को अपने पर खर्च करना चाहता है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह हो रहा है कि परिवार के लोग साथ-साथ रहना पसन्द नहीं करते, जहाँ रहते हैं वहाँ कमाने वाले की बहू हर समय यही गाना गाया करती है कि हमारे आदमी तो कमा कर लायें और दूसरे लोग घर बैठे खायें। जब औद्योगिक-युग नहीं था, सब लोग खेती करते थे, तब सभी कुछ-न-कुछ खेत में करते ही थे। ऐसी हालत में उस समय संयुक्त-परिवार प्रथा किसी को अखरती नहीं थी, आज यह अखरती है और इसलिए टूट भी रही है। इसका परिणाम यह है कि औद्योगिक-युग में परिवार का रूप एकाकी-परिवार का होता जा रहा है। पति-पत्नी तथा पुत्र—इस तिगड्डे के सिवाय लोग नाते-रिश्तेदारों को साथ रखना पसन्द नहीं करते। संयुक्त-परिवार-प्रथा वृद्धावस्था में माँ-बाप के लिए सुरक्षा का एक सहारा थी। औद्योगिक-युग में वह सहारा उनके हाथ से छिन गया है और इसीलिए कल्याण-राज्य को वृद्धों की सुध-बुध लेनी पड़ रही है।

(घ) **स्त्री-पुरुष संबंधी दृष्टिकोण में परिवर्तन** (Change in sex-morality)—उद्योगीकरण का स्त्री-पुरुष के पारस्परिक संबंधों पर भी प्रभाव पड़ा है। गाँव में हर-एक लड़का गाँव की लड़की को बहन, बड़ी को अपनी माँ कह कर पुकारता है, परन्तु औद्योगिक-नगर में यह भावना नहीं होती। दूर-दूर के लोग एक जगह इकट्ठे हो जाते हैं, कोई किसी को नहीं जानता-पहचानता। दफ्तर में लड़के-लड़कियाँ एक ही जगह काम करते हैं, स्कूलों-कालेजों में एक ही जगह पढ़ते-लिखते हैं। स्त्री-पुरुष के इस प्रकार समय-असमय संपर्क में आने से उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन आ गया है। यह परिवर्तन अच्छा है या बुरा—इस विषय में हर-एक की भिन्न-भिन्न राय है, बहुत-कुछ यह राय अपने-अपने अनुभव पर आश्रित होती है। जिसकी लड़की किसी लड़के के साथ भाग जाती है, वह तो दोनों हाथों से इस परिवर्तन को कोसता है, जिसको कोई बुरा अनुभव नहीं हुआ, वह इसकी तारीफ़ करता है, वह कहता है कि लड़के-लड़कियों को रूई में लपेट कर रखने से काम नहीं चलेगा, उन्हें जीवन की यथार्थता का सामना करना होगा, एक-दूसरे के सम्पर्क में आना होगा। जो-कुछ हो, यह ठीक है कि स्त्री-पुरुष के आपस के संबंधों को आज के युग ने नितान्त बदल दिया है और यह उद्योगीकरण के कारण हुआ है।

(ङ) **मनोरंजन का व्यापारीकरण** (Commercialized recreation)—हम पहले कह आये हैं कि उद्योगीकरण ने हमारे आर्थिक ढाँचे को बदल दिया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। आर्थिक-परिवर्तनों ने भी सामाजिक-परिवर्तन उत्पन्न किये हैं, जो मूलतः उद्योगीकरण के ही परिणाम हैं। उदाहरणार्थ, आजकल के मनोरंजन के साधन आर्थिक आधार पर बने हैं। नाटक, सिनेमा—ये सब मनोरंजन के सामाजिक साधन हैं, परन्तु इनका संगठन आर्थिक दृष्टि-कोण से किया जा रहा है। इस प्रकार हम देखते हैं कि उद्योगीकरण का मनोरंजन के साधनों द्वारा सामाजिक-जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

(च) **सांस्कृतिक-केन्द्र** (Cultural centre)—उद्योगीकरण के बाद जब शहर बढ़ने लगता है तब सिर्फ़ मज़दूर ही वहाँ नहीं आने लगते, सब तरह के लोगों की शहर में भरमार होने लगती है। कवि, गायक, नाटककार, लेखक, चित्रकार, खिलाड़ी—ये सब भी अपनी-अपनी कला का प्रदर्शन करने वहाँ जमा होने लगते हैं और उद्योगीकरण के परिणामस्वरूप शहर संस्कृति का भी केन्द्र बन जाता है।

(छ) **राजनीतिक-केन्द्र** (Political centre)—उद्योगीकरण का शहर के राजनीतिक-जीवन पर भी प्रभाव पड़ता है। जो लोग विधान-सभा में गाँवों का प्रतिनिधित्व करते हैं, उनका अड्डा भी शहरों में होता है। उद्योगीकरण-के बाद शहर की जो समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, वे शहर के कभी-कभी राजनीतिक-जीवन का संचालन करती हैं। कभी मज़दूरों की, कभी ताँगेवालों की हड़तालें होती हैं। इन हड़तालों में भाग लेना, इनका नेतृत्व करना ही तो पोलिटिकल लीडरी है। इस प्रकार उद्योगीकरण का राजनीति द्वारा सामाजिक-जीवन पर प्रभाव पड़ता है।

(ज) **गन्दी बस्तियाँ** (Slums)—उद्योगीकरण से शहरों की आबादी बढ़ रही है। वहाँ मकानों की पहले ही कमी है, आबादी बढ़ जाने से यह कमी और बढ़ जाती है। इस आबादी को कहाँ खपाया जाय? परिणामस्वरूप ऐसी घनी और तंग बस्तियाँ बस जाती हैं जहाँ न हवा है, न पानी, न रोशनी, सब लोग घिच-पिच रहने लगते हैं। बम्बई में चौल, कलकत्ते में बस्ती, मद्रास में चेरी, कानपुर में आहाता ऐसी ही गन्दी बस्तियों के नमूने हैं। इंग्लैंड में केवल ६ प्रतिशत श्रमिक एक कमरे वाले मकान में रहते हैं, परन्तु बम्बई में ७० प्रतिशत से अधिक मज़दूर एक कमरे वाले मकान में रहते हैं। इन गन्दी बस्तियों का इलाज म्यूनीसिपल बोर्ड, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट तथा मिल-मालिक ही कर सकते हैं। वे मज़दूरों के लिए अच्छे मकान बनाकर, इस मद में मिल मालिकों को कर्ज़ा देकर और कुछ हिस्सा मिल मालिकों को अपनी तरफ़ से लगाने को बाधित कर के इस समस्या को हल कर सकते हैं। ये गन्दी बस्तियाँ शहरों का अभिशाप हैं क्योंकि इन्हीं में चोरी, जारी, जूआ, शराबख़ोरी आदि व्यसन पनपते हैं।

ऊपर के विवरण से यह स्पष्ट है कि उद्योगीकरण का आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

१. भारत में उद्योगीकरण के सामाजिक-आर्थिक परिणामों का वर्णन कीजिये। उद्योगीकरण के दुष्परिणामों को रोकने के लिये क्या उपाय किये जाने चाहियें ? (१९५२, १९५९)

२. तकनीकी विकास के समाज पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना कीजिये। (१९५४)

३. भारत में उद्योगीकरण के सामाजिक उपलक्षणों को संक्षेप में बतलाइये। (१९६०)

४. भारत में बढ़ते हुए उद्योगीकरण की अभिवृद्धि के सामाजिक परिणाम क्या हैं ? (१९६२)

५. एक औद्योगिक नगर की मुख्य-मुख्य सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का उल्लेख कीजिये। (१९६३)

६. भारत को दृष्टि में रखते हुए व्यवसायीकरण (उद्योगीकरण) के सामाजिक तथा आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण कीजिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२१

सामाजिक-विगठन
(SOCIAL DISORGANISATION)

१. सामाजिक-संगठन क्या है, उसके आवश्यक तत्व

'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) तथा 'सामाजिक-विगठन' (Social disorganisation) दोनों सापेक्षिक शब्द हैं। जैसे बीमारी को जानने के लिए स्वास्थ्य को जानना आवश्यक है, वैसे 'विगठन' को जानने के लिए 'संगठन' को जानना आवश्यक है। 'सामाजिक-संगठन' क्या है? किसी वस्तु को जानने के लिए उसके बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप को जान लेने से हम

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. What do you understand by social disorganisation? Discuss its causes. Show how far an individual is responsible for it. (1953)

2. Discuss social disorganisation as a process. What is the impact of social disorganisation upon family? (Rajasthan, 1954)

3. Explain the meaning of social disorganisation. What factors lead to such a situation in society? (Rajasthan, 1956)

4. How is social disorganisation engendered by modern industrial conditions? (1957)

5. Explain the concept of social disorganisation. Illustrate your answer with examples from Indian society. (Rajasthan, 1959)

6. Define the concept of social organisation and disorganisation and explain the two processes by means of illustrations. (1960)

7. Indicate some of the major tensions and conflicts prevailing today in our country and discuss their causes. (1962)

8. Distinguish between personal and social disorganisation and show their relationship with crime. (1962)

9. Define social disorganisation and discuss its causes. (1963)

10. What do you understand by social disorganisation? What is the relationship between industrialization and social disorganisation? Illustrate your answer by Indian examples. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उस वस्तु को जान लेते हैं। 'सामाजिक-संगठन' का वाह्य रूप 'समाज की रचना' (Structure of Society) है, 'सामाजिक-संगठन' का आभ्यन्तर रूप 'समाज की आन्तरिक प्रक्रिया' (Process of Society) है। इन दोनों को जान लेने से 'सामाजिक-संगठन' का वास्तविक रूप हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है। 'समाज की रचना' तथा 'समाज की आन्तरिक प्रक्रिया' क्या है ?

(क) सामाजिक-संगठन का वाह्य-रूप या समाज की रचना—'संगठित-समाज' (Organised Society) की 'रचना' (Structure) कैसी होगी ? एक मकान है, जिसकी एक-एक ईंट अपनी जगह लगी हुई है, छत, दीवार, खिड़की, दरवाजें—सब ठीक हैं, ऐसे मकान को संगठित, सुव्यवस्थित मकान कहा जा सकता है। भूचाल आ जाय, तो ईंटें हिल जाँयगी, दरवाजें टूट जायेंगे, फिर वह मकान संगठित, सुव्यवस्थित नहीं कहा जा सकता। एक स्वस्थ मनुष्य है, अंग-अंग अपनी जगह ठीक सज रहा है, हर-एक अंग अपना काम कर रहा है, वह सुसंगठित, सुव्यवस्थित मनुष्य है। रोग आ जाय, अंजर-पंजर ढीले पड़ जाँय, तो शरीर असंगठित, अव्यवस्थित हो जाता है। इसी प्रकार समाज में जब प्रत्येक व्यक्ति, अपनी-अपनी जगह बैठा हुआ है, अपनी स्थिति के अनुसार अपना-अपना काम कर रहा है, किसी को अपनी स्थिति से असन्तोष नहीं, तब समाज सुसंगठित और सुव्यवस्थित है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी 'जगह' बैठा, और अपनी-अपनी जगह 'काम' कर रहा है—इसका क्या अर्थ है ? समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अपना 'स्थान', अपनी 'जगह' (Status) होती है—यह सब कोई जानता है। जबतक उसका समाज में वह 'स्थान', वह 'जगह' (Status) कायम रहती है, तबतक समाज का संगठन बना रहता है। जबतक बड़ों का बड़ा, छोटों का छोटा, पुरुषों का पुरुषों का-सा, स्त्रियों का स्त्रियों का-सा, लायक आदमियों को लियाकत के मुताबिक, नालायकों को उनके अनुकूल स्थान मिलेगा, तबतक समाज में व्यवस्था, संगठन, शान्ति बनी रहेगी। बड़े स्थान का क्या मतलब है ? बड़े स्थान का यह मतलब है कि जिसका बड़ा 'स्थान' (Status) है, उससे बड़ेपन का ही 'कार्य' (Role) लिया जाय, यह न हो कि बड़ा स्थान हो, और छोटा काम हो। बुजुर्ग बुजुर्गों के तौर से बर्तें, छोटे छोटे के तौर से बर्तें, बुजुर्ग छोटों के तौर से और छोटे बुजुर्गों के तौर से बरतने लगेंगे, तो गड़बड़ मच जायेगी। सामाजिक-संगठन को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में हर व्यक्ति का 'स्थान' हो, और जैसा 'स्थान' (Status) है, उसके मेल का ही उसका 'कार्य' (Role) हो। समाज में व्यक्ति के 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के समन्वय से समाज संगठित कहलाता है, नहीं तो समाज में अशान्ति और असन्तोष हो जाता है।

(ख) सामाजिक-संगठन का आभ्यन्तर रूप या समाज की आन्तरिक-प्रक्रिया या ऐकमत्य—समाज की वाह्य-रचना के संगठित रहने के अलावा 'सामाजिक-संगठन' (Social organisation) को बनाये रखने वाली दूसरी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीज़ 'समाज की आभ्यन्तर-प्रक्रिया' (Process of Society) है।* समाज में अधिकांश व्यक्तियों का अधिकांश बातों में एक तरह से सोचना-विचारना 'आभ्यन्तर-प्रक्रिया' है। यह प्रक्रिया 'सामाजिक-संगठन' के लिए आवश्यक है। समाज की कई समस्याएँ होती हैं, परन्तु अगर एक व्यक्ति का एक विचार है, दूसरे का दूसरा, तो समाज संगठित कैसे रह सकता है? जबतक समाज में किन्हीं बातों पर एक-मति नहीं होती, तबतक वह किसी बात को क्रिया में कैसे परिणत कर सकता है? समाज की बाह्य-रचना का रूप व्यक्ति के समाज में में 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का समन्वय है, परन्तु समाज की यह बाह्य-रचना तभी टिक सकती है, जब उसकी आन्तरिक-रचना में विचारों की एकता हो। समाज की इस आभ्यन्तर-एकता को 'ऐकमत्य' (Consensus) कहा जाता है। अगर समाज का आभ्यन्तरिक 'ऐकमत्य' (Consensus) नहीं होगा, तो समाज बाहर से एक दीखता हुआ भी भीतर से टूटा होने के कारण शीघ्र ही बाहर से भी टूट-फूट जायगा, क्योंकि जो-कुछ बाहर है वह भीतर से निकलता है। समाज में परिवार का, व्यक्ति का क्या स्थान है, सम्पत्ति-जायदाद के विषय में हमारे क्या विचार हैं—इन सब बातों के सम्बन्ध में जब सबकी एक विचार-धारा होगी तभी समाज संगठित रह सकता है, अन्यथा नहीं।

(ग) **सामाजिक-नियन्त्रण** (Social control)—सामाजिक-संगठन के उक्त दो आवश्यक तत्वों के अलावा एक तीसरा तत्व है जिसके बिना समाज का ढाँचा बना नहीं रह सकता। वह तत्त्व है—'नियन्त्रण'। अगर समाज के भिन्न-भिन्न तत्वों को नियन्त्रण में न रखा जाय, सब को खुली छूट हो तो सब अपना-अपना उल्लू सीधा करने में जुट जायें। यही कारण है कि प्राचीन-काल में प्रथा, रीति-रिवाज आदि के द्वारा समाज पर नियन्त्रण रखा जाता था, और अब जब प्रथा आदि के बंधन शिथिल होते जा रहे हैं, कानून द्वारा नियन्त्रण रखा जा रहा है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया है उसके आधार पर पारसन्स द्वारा की गई सामाजिक-संगठन की निम्न परिभाषा मनन करने योग्य है :

टैलकोट पारसन्स की परिभाषा : "सामाजिक संगठन शब्द समाज की उस व्यवस्था के लिए प्रयुक्त होता है जिसमें समाज की संस्थाओं, व्यक्तियों आदि के समाज में 'स्थान' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का समन्वय होता है।"†

२. सामाजिक-विगठन क्या है, उसके आवश्यक तत्व£

हमने देखा 'सामाजिक-संगठन' क्या है। 'संगठन' को जान लेना 'विगठन' को जान लेना है। 'सामाजिक-संगठन' के हमने दो भाग किये—बाह्य तथा

---

* **Discuss social disorganisation as a process.** **(1954)**

† "Social structure is the term applied to the particular arrangement of statuses and roles which each person assumes in the group." —*Talcott Parsons.*

£ **What do you understand by social disorganisation? (1964)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आभ्यन्तर। वाह्य को हमने समाज की 'रचना' (Structure) तथा आभ्यन्तर को समाज की 'प्रक्रिया' (Process) कहा। जैसे हमने अभी देखा कि समाज की 'रचना' (Structure) में संगठन का क्या रूप है, और समाज की 'प्रक्रिया' (Process) में संगठन का क्या रूप है, वैसे अव हमने यह देखना है कि समाज की 'रचना' (Structure) में विगठन का क्या रूप है, और समाज की 'प्रक्रिया' (Process) में विगठन का क्या रूप है। इन दोनों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

(१) **समाज के वाह्य रूप या उसकी रचना में विगठन** (Disorganisation in the Structure of Society)—हमने देखा कि संगठित समाज में प्रत्येक व्यक्ति की निश्चित-'स्थिति' (Status) होती है, और उस निश्चित-स्थिति के अनुसार वह 'काम' (Role) करता है। जव समाज में व्यक्ति की 'स्थिति' (Status) और 'काम' (Role) का मेल टूट जाता है, तव समाज असंगठित कहलाता है। 'स्थान' तथा 'काम' में मेल न रहने की तीन अवस्थाएँ हो सकती हैं। वे क्या हैं ?

(क) **नवीन परिस्थिति के कारण सामाजिक-विगठन**—एक अवस्था तो वह है जव समाज में ऐसी नवीन-स्थिति उत्पन्न हो जाय कि व्यक्तियों की समाज में जो निश्चित 'स्थिति' (Status) थी, वह न रहे, और 'स्थिति' न रहने की वजह से उन्हें समझ न पड़े कि समाजरूपी रंग-मंच पर वे किस भूमिका में उतरें, क्या पार्ट अदा करें, क्या 'कार्य' (Role) करें। अगर दुर्भिक्ष पड़ जाय, लोग भूखे मरने लगें, तो एकदम व्यक्ति को एक नयी परिस्थिति का सामना करना पड़ता है, कोई इस परिस्थिति का सामना कर सकता है, कोई नहीं कर सकता। मशीन के आविष्कार से पहले घर ही उद्योग का केंद्र था, मशीनों के निकलने के बाद घर के बाहर कल-कारखाने खड़े हो गए। इस नवीन परिस्थिति मेंगृह-पत्नी की पहली 'स्थिति' (Status) में परिवर्तन आ गया। वह घर से बाहर जाने का 'कार्य' (Role) करे, या न करे—यह समस्या उसके सामने खड़ी हो गयी। बहुत अधिक व्यक्तियों के शिक्षित हो जाने से आज सैकड़ों युवकों को समाज में कोई जगह नहीं, कोई स्थान नहीं। जब परिस्थितियाँ व्यक्ति को अपनी पहले की निश्चित-'स्थिति' (Status) से हिला देती हैं, वह मानों जड़ से उखड़ जाता है, तब समाज में एक ऐसा व्यक्ति पैदा हो जाता है, जिसका जीवन असंगठित हो गया। जव ऐसे व्यक्तियों की संख्या समाज में बढ़ जाती है, तब समाज असंगठित हो जाता है।

(ख) **ऊँची स्थिति होते हुए अनुरूप काम न मिलने के कारण सामाजिक-विगठन**—दूसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति की समाज में ऊँची 'स्थिति' (Status) तो बनी रहती है परन्तु वह अपनी ऊँची 'स्थिति' के अनुरूप 'कार्य' (Role) या तो स्वयं करना छोड़ देता है, या समाज की अवस्थाओं से बाधित होकर वह काम उससे छूट जाता है। ऐसी अवस्था में समाज तबतक संगठित नहीं हो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पाता जब तक 'स्थिति' (Status) नीचे गिर कर 'कार्य' (Role) के स्तर पर नहीं आ जाती, या 'कार्य' (Role) ऊपर उठकर 'स्थिति' (Status) के स्तर पर नहीं पहुँच जाता। हिन्दू समाज में ब्राह्मणों की 'स्थिति' ऊँची थी, 'काम' नीचा हो गया, यह अवस्था समाज के 'विगठन' की अवस्था थी। यह 'विगठन' तबतक बना रहेगा, जबतक 'स्थिति' तथा 'काम' का समन्वय नहीं हो जायगा। जात-पात के विरुद्ध आन्दोलन इस विगठन को दूर करने का ही एक प्रयत्न है। कर्म नीच होते हुए भी जन्म या नस्ल से किसी को ऊँचा मानना 'सामाजिक-विगठन' का ही उदाहरण है। जिस व्यक्ति को नीच-कर्म के होते हुए भी जन्म के कारण ऊँचा माना जाता है उसके विरुद्ध समाज में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। यह प्रतिक्रिया ही समाज में असन्तोष, बेचैनी, विद्रोह पैदा करती है, और जब तक समाज में यह बेचैनी बनी रहती है तब तक समाज विगठित रहता है। यह हो सकता है कि किसी समाज में इस प्रकार की स्थिति के प्रति विद्रोह न हो, ऊँची स्थिति के लोग नीच काम करते रहें, नीच स्थिति के लोग ऊँचे काम करते रहें और पहलों को ऊँचा, दूसरों को नीचा ही समझा जाता रहे, किसी के हृदय में इस अवस्था के प्रति असन्तोष उत्पन्न न हो। हिन्दू-समाज में सदियों तक ऐसा ही होता रहा। अच्छा कर्म होते हुए भी जन्म के कारण किसी को अछूत और व्यभिचारी होते हुए भी जन्म के ब्राह्मण होने के कारण किसी को पूज्य समझा जाता रहा, इस स्थिति के विरुद्ध किसी ने आवाज़ नहीं उठायी। ऐसी अवस्था में समाज विगठित नहीं, संगठित ही कहा जायगा। समाज के विगठित होने के लिए 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) का बेमेलपन होना ही नहीं, परन्तु बेमेलपन को अनुभव करना आवश्यक है। समाज जब 'स्थिति' और 'कार्य' के बेमेलपन को अनुभव कर लेता है, तब इसे दूर करने का प्रयत्न करता है। सामाजिक-संगठन का अर्थ ही 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) की विषमता को दूर कर इन दोनों में समता का स्थापन करना है। जबतक व्यक्ति को समाज में 'स्थिति' (Status) नहीं मिलती, और उस स्थिति के अनुकूल 'कार्य' (Role) नहीं मिलता, तब तक वह समाज के शरीर में रड़क पैदा करता रहता है और समाज विगठित रहता है।

(ग) नीची स्थिति होने पर ऊँचा कार्य होने के कारण सामाजिक-विगठन—तीसरी अवस्था वह है जब व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' (Status) नीची हो, परन्तु उसका 'कार्य' (Role) ऊँचा हो। ऐसी अवस्था तब आती है जब किसी देश में नीच कही जाने वाली जातियों को राजनीतिक-क्षेत्र में विशेषाधिकार दिया जाता है। आज अपने देश में हरिजन कहे जाने वाले लोगों को योग्यता के आधार पर नहीं, नीची 'स्थिति' के कारण विशेष अधिकार दिये गये हैं। जब कभी कोई ऐसा व्यक्ति मिनिस्टर बन जाता है, तब ऊँचा 'कार्य' (Role) रखते हुए उसकी समाज में नीची 'स्थिति' (Status) होती है। परन्तु यह अवस्था भी नहीं रहने पाती। समाज में 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Role) को एक स्तर पर लाने की प्रक्रिया लगातार होती रहती है, और समय आता है जब ऊँचे 'काम' वाले को ऊँची 'स्थिति' स्वयं मिल जाती है।

समाज में व्यक्ति की उक्त तीनों प्रकार की 'स्थिति' (Status) तथा 'काम' (Role) या तो 'जन्म' से होता है, या 'कर्म' से। व्यक्ति की समाज में जो 'जन्म' से स्थिति होती है, उसे समाज ने निश्चित किया होता है, उसे 'समाज-प्रदत्त' (Ascribed by society) कहा जाता है, अपने उद्योग से व्यक्ति ने जो स्थिति प्राप्त की होती है, वह 'कर्म-प्राप्त' (Ascribed by effort) कही जाती है। समाज में जबतक 'जन्म' तथा 'कर्म' में विषमता रहती है, तब तक समाज विषम, असंगठित अवस्था में रहता है, जब 'जन्म' तथा कर्म' में समता स्थापित हो जाती है, तब समाज समावस्था, संगठित-अवस्था में आ जाता है।

(२) **समाज के आभ्यन्तर रूप या उसकी प्रक्रिया में विगठन** (Disorganisation in the Process of society)—समाज का बाहर का ढाँचा तो व्यक्ति की समाज में 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) के मेल, इनके समन्वय से बना रहता है, इनके मेल के हट जाने से टूट जाता है; अन्दर का ढाँचा 'ऐक-मत्य' (Consensus) से बना रहता है, 'ऐक-मत्य' (Consensus) के न होने से टूट जाता है। समाज की आभ्यन्तर-प्रक्रिया में जहाँ एक दिशा में सोचने के स्थान में हर व्यक्ति ने भिन्न-भिन्न दिशा में सोचना शुरू किया, वहीं समाज के भवन में तरेड़ आ जाती है, और बिना मरम्मत के इसका टिकना असंभव हो जाता है। समाज के आभ्यन्तर में किन कारणों से 'ऐक-मत्य' (Consensus) नष्ट हो जाता है, किन कारणों से विगठन की प्रक्रिया उत्पन्न हो जाती है, उन पर विचार करना आवश्यक है।

सामाजिक-विगठन के उक्त दो तत्वों के अलावा कुछ अन्य तत्व भी हैं जो विगठन के सूचक हैं। उदाहरणार्थ, व्यक्तिवाद, प्राचीन तथा नवीन का संघर्ष, एक समूह के कार्यों का दूसरे समूह द्वारा किया जाना आदि ऐसे तत्व हैं जो सामाजिक-विगठन के सूचक हैं। इन तीनों का भी इस प्रकरण में उल्लेख करना आवश्यक है।

(३) **व्यक्तिवाद** (Individualism)—सामाजिक-क्षेत्र में जब व्यक्ति-वाद बढ़ जाता है, जब हर क्षेत्र में व्यक्ति अपने निजी दृष्टि-कोण से सोचने लगता है, दूसरों के दृष्टि-कोण की पर्वाह नहीं करता, तब समझ लेना चाहिए कि सामाजिक-विगठन के तत्व सिर ऊँचा करने लगे हैं। पहले संयुक्त-परिवार प्रथा थी। व्यक्ति जो-कुछ करता था परिवार की दृष्टि से करता था। कमाता था, अपने परिवार का पालन करता था, परन्तु अपने परिवार के बन्धुओं का भी ख्याल रखता था। माता-पिता बूढ़े हो गये तो उनका पालन करना वह अपना कर्त्तव्य समझता था। परिवार का कोई व्यक्ति बेकार है तो जब तक वह काम में नहीं लग जाता था तब तक उसकी देख-रेख करना परिवार के सब व्यक्ति अपना कर्त्तव्य समझते थे। आज वैयक्तिक परिवार हो गये हैं, हर-एक को अपनी-अपनी पड़ी है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कोई किसी के दुःख-दर्द का साथी नहीं है, हम हर बात पर अपने निजी दृष्टि-कोण से विचार करते हैं। ये लक्षण सामाजिक-विगठन के हैं।

(४) **प्राचीन तथा नवीन का संघर्ष** (Conflict between old and new)—प्राचीन-काल में कुछ रूढ़ियाँ बनी थीं। वे रूढ़ियाँ उस समय की आवश्यकताओं को देख कर बनी थीं। आज समाज की परिस्थितियाँ बदल गईं; पुरानी आवश्यकताएँ नहीं रहीं, परन्तु वे रूढ़ियाँ अभी तक चली आ रही हैं। नव-युवक-समाज जब देखता है कि आज के युग में पुरानी रूढ़ियों की ज़रूरत नहीं, तब वह नव-युग की आवश्यकताओं को देख कर नवीन संस्थाओं का निर्माण करने लगता है। इनके निर्माण करते ही पुरानी प्रथाओं तथा इन नवीन संस्थाओं में संघर्ष छिड़ जाता है। समाज में जब इस प्रकार के संघर्ष के तत्व प्रकट होने लगें, तब समझ लेना चाहिए कि समाज विगठन की दिशा में जा रहा है। उदाहरणार्थ, जाति-प्रथा भारत की पुरानी रूढ़ि है, आज का युवक इस प्राचीन रूढ़ि को तोड़ रहा है; स्त्रियों को निरक्षर रखना यहाँ की रूढ़ि बन चुकी है, आज का युवक इस प्राचीन रूढ़ि को तोड़ रहा है। यह प्राचीन तथा नवीन का संघर्ष सामाजिक-विगठन का सूचक है। पुराना समाज टूट रहा है, नये समाज का निर्माण हो रहा है क्योंकि विगठन तथा संगठन साथ-साथ चला करते हैं।

(५) **एक समूह के कार्यों का दूसरे समूह द्वारा किया जाना** (Transfer of functions of one group to another)—सामाजिक-विगठन का पाँचवाँ तत्त्व है एक समूह के कार्यों का दूसरे समूह द्वारा किया जाना। उदाहरणार्थ, एक समय था जब परिवार का काम शिक्षा देना, धर्म में दीक्षित करना, भोजन की व्यवस्था आदि सब-कुछ था। उस समय पाठशालाएँ नहीं थीं, देवालय नहीं थे, होटल नहीं थे। आज शिक्षा के लिए स्कूल-कालेज खुल गये, धर्म में दीक्षा देने के लिए मन्दिर-मस्जिद बन गईं, भोजन के लिए होटल खुल गये। ये लक्षण विगठन के हैं। यह ज़रूरी नहीं कि विगठन बुरा ही हो। विगठन का अर्थ है पुराने संगठन का टूटना और नये का बनना। आज राज्य के पास भी नये-नये कार्य पहुँचते जा रहे हैं। जो कार्य पहले राज्य नहीं करता था वे सब वह करने लगा है। ये लक्षण विगठन के लक्षण कहे जा सकते हैं।*

३. सामाजिक-संगठन तथा विगठन की तुलना

सामाजिक-संगठन	सामाजिक-विगठन
१. ऐकमत्य	१. अनैकमत्य
२. सामाजिक दृष्टिकोण	२. वैयक्तिक दष्टिकोण
३. कर्तव्य-परायणता	३. अधिकार-लिप्सा
४. पुरातन की रक्षा, रूढ़िवाद	४. पुरातन का ध्वंस, संस्थावाद

---

*Define the concept of social organisation and disorganisation and explain the two processes by means of illustrations. (1960)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

५. सामाजिक-नियमों का पालन	५. सामाजिक-नियमों का भंग
६. 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) में मेल	६. 'स्थिति' तथा 'कार्य' में बेमेलपन
७. सन्तोष, सुख, शान्ति	७. असन्तोष, दुःख, अशान्ति
८. व्यक्ति तथा समाज में समन्वय	८. व्यक्ति तथा समाज में संघर्ष
९. जन-संख्या में एकरसता	९. जन-संख्या में विविधता
१०. विश्वास का वातावरण	१०. अविश्वास का वातावरण

४. सामाजिक-विगठन की परिभाषा*

हमने देखा कि 'सामाजिक-विगठन' का स्वरूप क्या है। इस स्वरूप को ध्यान में रखते हुए 'सामाजिक-विगठन' की भिन्न-भिन्न लेखकों ने जो व्याख्याएँ की हैं उनमें से कुछ निम्न हैं :—

[क] **रौबर्ट फ़ैरिस की व्याख्या**—"समूह के कुछ माने हुए कार्य हैं। जब व्यक्तियों के आपस के संबंध इतने टूट जाते हैं कि ये कार्य होने बन्द हो जायें तब जो अवस्था पैदा हो जाती है, उसे 'सामाजिक-विगठन' कहते हैं।"

[ख] **इलियट, मैबल तथा मेरिल की व्याख्या**—""सामाजिक-विगठन उस प्रक्रिया को कहते हैं, जिससे किसी समूह के आपसी संबंध या तो टूट जाते हैं या समाप्त हो जाते हैं।"

[ग] **थौमस विलियम की व्याख्या**— "समूह के व्यक्तिगत सदस्यों पर से सामाजिक-नियमों के प्रभाव के घट जाने को सामाजिक-विगठन कहते हैं।"

५. समाज के आभ्यन्तर-विगठन के कारण†

समाज के आभ्यन्तर को जो कारण छिन्न-भिन्न कर देते हैं, जो 'ऐकमत्य' (Consensus) नहीं रहने देते, जिनके कारण समाज का अन्तरात्मा विगठित हो जाता है, और क्योंकि अन्तरात्मा विगठित हो जाता है, इसलिए शरीर भी विगठित हो जाता है, वे निम्न हैं :

---

* **Define social disorganisation. (1953, 1956, 1959, 1960, 1963, 1964)**

[क] "Social disorganisation is the disruption of the functional relations among persons to a degree that interferes with the performance of the accepted tasks of the group." —*Robert Faris.*

[ख] "Social disorganisation is the process by which the relationships between members of a group are broken or dissolved." —*Elliot, Mabel and Merrill.*

[ग] "Social disorganisation is a decrease of the influence of existing social rules of behaviour upon individual members of the groups." —*Thomas William.*

† **Discuss the causes of social disorganisation. (1953, Rajasthan, 1956, 1963, 1964)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) सामाजिक-विगठन का पहला कारण 'सामाजिक-परिवर्तन' (Social change)--पहले का समाज सैंकड़ों नहीं, हज़ारों सालों तक एक-जैसा रहा। जब से युरोप में औद्योगिक-क्रांति हुई तब से रहन-सहन, आचार-विचार सब में परिवर्तन ही नहीं हुआ, जो परिवर्तन हज़ारों सालों में नहीं हुआ वह देखते-देखते हो गया। मनुष्य का जीवन, अबतक जो रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, रीति-रिवाज, दृष्टि-कोण बने हुए थे, उनके आधार पर चल रहा था, अब एकदम नयी-नयी परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गयीं। इन नयी परिस्थितियों के अनुसार प्रथाएँ और रूढ़ियाँ एकदम कैसे बदलें? अगर कोई समाज बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार अपनी प्रथाओं, रूढ़ियों को उठाकर फेंक देता है, और नये ढंग से चलने लगता है, तब तो उसका विगठन नहीं होता, परन्तु ऐसा कब हुआ है? प्रथाएँ और रूढ़ियाँ, जो किसी समय समाज की रक्षा के लिए बनी थीं, अब परिवर्तित परिस्थितियों में भी समाज को बाँधे रखती हैं, परिस्थितियाँ बदल जाती हैं, प्रथाएँ और रूढ़ियाँ नहीं बदलतीं। लड़कियाँ पढ़-लिख गईं, ऊँची-ऊँची बातें करने लगीं, परिस्थितियाँ कहती हैं कि पढ़ने-लिखने के बाद तो पर्दा मत करो, प्रथा कहती है कि पर्दा करो; परिस्थितियाँ कहती हैं, स्त्री को आर्थिक स्वतन्त्रता दो, प्रथा कहती है, उसे घर में बन्द रखो। हम क्योंकि परिस्थिति के अनुसार अपने विचारों को नहीं बदलते, इसलिए समाज विगठन की, बेचैनी की, विषमता की अवस्था में रहता है।

(ख) सामाजिक-विगठन का दूसरा कारण 'सामाजिक-धारणाएँ' (Social attitudes)--अभी हमने परिवर्तन का वर्णन किया। परिवर्तन के कारण परिस्थितियाँ आगे निकल जाती हैं, मनुष्य का विचार पीछे रह जाता है। परिवर्तित परिस्थितियों के साथ वह पुराने विचारों का मेल नहीं कर सकता। यह अवस्था 'सामाजिक-विगठन' को जन्म देती है। यह विगठन की अवस्था परिवर्तन के कारण पैदा होती है, परन्तु पैदा अपने-आप हो जाती है। समाज में हर-क्षण जो लगातार यान्त्रिक तथा आर्थिक परिवर्तन हो रहे हैं, उनका यह स्वाभाविक परिणाम है। कभी-कभी 'विगठन' की अवस्था स्वयं नहीं पैदा होती, समाज उत्पन्न करता है। एक रूसी बच्चे को पाठशाला में शिक्षा देते हुए पूँजी-वाद के विरुद्ध भर दिया जाता है। वह पूँजीवाद के विरुद्ध दूसरी बात सोच ही नहीं सकता। अमरीका में सामाजिक-परंपरा द्वारा प्रत्येक व्यक्ति नीग्रो के विरुद्ध ही सोचता है। भारत में ब्राह्मण के प्रति श्रद्धा की भावना बच्चा-बच्चा यहाँ के वायु-मण्डल से सीखता है। मन की ये अवस्थाएँ जो मनुष्य को एक खास दिशा में चलने के लिए मानो बाधित कर देती हैं, उसे उधर चाहे-अनचाहे खेंचती हैं, मनुष्य की 'धारणाएँ' (Attitudes) हैं। ये 'धारणाएँ' अगर पुरानी 'धारणाओं' के अनुकूल हैं, तब तो ठीक, नहीं तो नवीन-धारणाएँ पुरानी धारणाओं से टकराती रहती हैं। कभी-कभी मनुष्य ऐसे समूह में जन्म लेता है, या परि-स्थितियों के कारण पड़ जाता है, जिसकी धारणाएँ प्रचलित सामाजिक-धारणाओं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से उल्टी होती हैं। चोरों, लुटेरों, डाकुओं के वच्चों की धारणाएँ उन्हें समाज-विरोधी कामों के लिए प्रवृत्त करती हैं, उनकी ऐसी धारणाएँ वन जाती हैं, जो समाज के अधिकांश व्यक्तियों की धारणाओं के विरुद्ध होती हैं। कई वच्चों को जन्म से ही कटु अनुभव होने लगते हैं, माता-पिता उन्हें मारते-पीटते हैं, गाली देते हैं। जुल्मों के वीच और लाड़-प्यार के वीच पले वालक की धारणाएँ अलग-अलग हो जाती हैं। जिसकी जैसी धारणाएँ वन जाती हैं, वह उन धारणाओं को लेकर ही समाज में व्यवहार करता है। कोमल धारणाओं का व्यक्ति संसार में कोमलता वहाता है, कठोर धारणाओं का व्यक्ति हर-एक व्यक्ति पर तनी आँखों से देखता है। प्रेम की धारणाएँ समाज में 'संगठन' पैदा करती हैं, द्वेष की, कठोरता की, तनातनी की धारणाएँ समाज को 'विगठित' कर देती हैं।

(ग) सामाजिक-विगठन का तीसरा कारण 'सामाजिक-मूल्य' (Social values)—'धारणा' (Attitude) से 'मूल्य' (Value) पैदा होता है। 'धारणा' शून्य के प्रति तो नहीं होती, किसी वस्तु, किसी पदार्थ या किसी विचार के प्रति होती है। अगर किसी वस्तु या विचार के प्रति यह 'धारणा' हो गई कि यह आवश्यक है, तो उसका 'मूल्य' उत्पन्न हो गया, अगर यह धारणा हो गई कि वह अनावश्यक है, तो उसका 'मूल्य' कुछ न रहा। समाज जिस चीज़ को मूल्य-वान् समझ लेता है, उसकी जी-जान से रक्षा करता है। जिस चीज़ के प्रति हमारी अनुकूल धारणा है उसका सामाजिक-मूल्य वढ़ा-चढ़ा है, जिसके प्रति प्रति-कूल धारणा है उसका सामाजिक-मूल्य कुछ नहीं है। सामाजिक-मूल्य की वस्तु जहाँ हाथ से जाती दीखती हो, वहाँ समाज उद्विग्न हो उठता है। विवाह के प्रति समाज की अनुकूल धारणा है, अतः समाज की दृष्टि में इसका मूल्य है। तलाक से विवाह टूटता नज़र आता है, अतः तलाक का विचार हमारी ऐसी संस्था पर आक्रमण करता है जो हमारे लिए मूल्यवान् है। परन्तु विवाह में पति-पत्नी के आपस में वेमेलपन का क्या इलाज है? इस वेमेलपन के कारण तलाक का विचार उत्पन्न हुआ, इसलिए इस विचार के प्रति भी समाज के कुछ लोगों की अनुकूल धारणा वन गई। अनुकूल धारणा बन गई, तो इस विचार का भी कुछ मूल्य उत्पन्न हो गया। विवाह तथा तलाक इन परस्पर-विरोधी विचारों का मूल्य पड़ जाने के कारण दोनों मूल्यों में संघर्ष उत्पन्न हो गया। कोई विवाह के मूल्य को बढ़ा-चढ़ा कर कहने लगा, कोई तलाक के मूल्य को बढ़ा-चढ़ा कर कहने लगा। जबतक तलाक के प्रति सव की विरोधी धारणा थी, तव तक तलाक के विचार का कोई मूल्य न था, और संघर्ष की यह प्रक्रिया भी उत्पन्न नहीं हुई थी। एक वस्तु या विचार के प्रति एक धारणा का बना रहना 'संगठन' को पैदा करता है, दो धारणाओं का उत्पन्न हो जाना 'विगठन' को उत्पन्न कर देता है, क्योंकि दो धारणाओं से समाज का 'ऐकमत्य' (Consensus) टूट जाता है, 'अनैकमत्य' उत्पन्न हो जाता है। वर्तमान-समाज में किसी बात में 'ऐकमत्य' नहीं है, किसी बात में हम सब की एक-सी धारणाएँ नहीं हैं, इसलिए किसी बात का एक-सा मूल्य नहीं है। यही

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारण है कि आज का समाज प्रगतिशील तो है, परन्तु अत्यन्त विगठित है। आज के समाज में धर्म, अर्थशास्त्र, राजनीति, स्त्री की समाज में स्थिति, यौन-संबंध—सब बातों में नयी-नयी धारणाएँ उत्पन्न हो रही हैं, अतः नये-नये मूल्य बन रहे हैं—'विगठन' बढ़ता चला जा रहा है।

(घ) **सामाजिक-विगठन का चौथा कारण 'सामाजिक-संकट'** (Crisis)—जब कभी समाज में एक बिल्कुल नवीन परिस्थिति उत्पन्न हो जाती है, तब व्यक्ति या समूह उस परिस्थिति का मुकाबिला नहीं कर सकते। उस समय समाज के सामने संकट उपस्थित हो जाता है, और समाज विगठित हो जाता है। संकट दो प्रकार का हो सकता है—'आकस्मिक' (Precipitate) तथा 'क्रमिक' (Cumulative)। 'आकस्मिक-संकट' भारत के विभाजन के समय, महात्मा गांधी की अकस्मात् मृत्यु के समय, बिहार तथा क्वेटा के भूचाल के समय, बंगाल के दुर्भिक्ष के समय आया था। जब अप्रत्याशित अवस्था सामने आ खड़ी हो, समझ न पड़े क्या करें, क्या न करें, एकदम सैकड़ों, हज़ारों व्यक्तियों की 'स्थिति' (Status) तथा 'काम' (Role) एकदम टूट जाँय, तब आकस्मिक-संकट होता है। इसमें समाज एकदम 'विगठित' हो जाता है। कभी-कभी संकट धीरे-धीरे बढ़ता है, यह संकट की क्रमिक-अवस्था है। राजपूताना का रेगिस्तान धीरे-धीरे बढ़ रहा है, और इससे दिल्ली के आस-पास गर्मी बढ़ रही है, बारिश कम होने लगी है। इन संकटों का जो समाज सामना कर लेगा वह संगठित, और जो नहीं कर सकेगा वह विगठित कहलायेगा। युरोप में औद्योगिक-क्रांति के बाद से आर्थिक-संगठन बदलने लगा, परिवार धीरे-धीरे टूटने लगा, स्त्री भी पुरुष के साथ मज़दूरी करने लगी, होते-होते पूँजीवाद उत्पन्न हुआ, पूँजीवाद से मज़दूरों के संघ बने, अब हड़तालें होती हैं, कारखानों में क्रोध भड़क उठने पर आग लगा दी जाती है। ये सब संकट उद्योगीकरण और यन्त्रीकरण के कारण हैं, परन्तु धीरे-धीरे बरसों में प्रकट हुए हैं। ये सब समाज को विगठित कर रहे हैं, और क्रमिक-संकट के उदाहरण हैं।

(ङ) **सामाजिक-विगठन का पाँचवाँ कारण 'युद्ध'** (War)—युद्ध भी सामाजिक-विगठन का एक बड़ा भारी कारण है। सेना में भर्ती होकर जो लड़ाई में जाते हैं, उनका जीवन असाधारण हो जाता है। मरना-मारना उनके जीवन का अंग हो जाता है। ये लोग जब युद्ध के बाद लौटते हैं, तब या तो बेकारी का जीवन व्यतीत करते हैं, और समाज में बेकारों की संख्या बढ़ा कर देश की आर्थिक-समस्या को विकट कर देते हैं, या बेकार नहीं होते, तो ये नये प्रकार के सामाजिक-मूल्यों और धारणाओं को लेकर लौटते हैं और समाज की परंपरागत धारणाओं के साथ मेल न खाने के कारण सामाजिक-विगठन को उत्पन्न कर देते हैं। युद्ध के समय वस्तुओं के दाम बढ़ जाते हैं, मूल्य बढ़ जाने से जीवन का स्तर गिर जाता है, स्तर गिरने से ग़रीबी बढ़ जाती है। युद्ध से बीमारियाँ फैलती हैं जो समाज को और अधिक विगठित कर देती हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(च) सामाजिक-विगठन का छठा कारण 'सांस्कृतिक-विलम्बना' (Cultural lag)—सामाजिक-विगठन के अनेक कारणों में से 'सांस्कृतिक-विलम्बना' एक बड़ा भारी कारण है। 'सांस्कृतिक-विलम्बना' का क्या अर्थ है? मानव-समाज दो तत्वों से घिरा हुआ है—भौतिक-तत्व तथा अभौतिक तत्व। भौतिक-तत्व कौन-कौन-से हैं? हम रेल में चढ़ते हैं, साइकल का इस्तेमाल करते हैं, कोट-पैंट पहनते हैं, टाई लगाते हैं। ये सब भौतिक-तत्व हैं। इनका विकास तथा प्रचार बड़ी तेज़ी से हो रहा है। हर शहर, हर गाँव में ये तत्व दिखलाई पड़ते हैं। अभौतिक-तत्व कौन-से हैं? हमारे विचार, हमारी धारणाएँ, हमारा सोचना-समझना अभौतिक-तत्व हैं। भौतिक-तत्वों में तो सदा परिवर्तन होता रहता है, अभौतिक-तत्वों में परिवर्तन उस तेज़ी से नहीं होता। परिणाम यह होता है कि भौतिक-तत्व बहुत आगे निकल जाते हैं, अभौतिक-तत्व—हमारे विचार, हमारी धारणाएँ—बहुत पीछे रह जाते हैं। कोट-पैंट तो सब पहनने लगे, परन्तु घर में आज का युवक अपनी माता के सामने कोट-पैंट पहने, जूता पैर में डाले अगर चौके में रोटी खाने आ बैठे तो माता उसे झिड़क देती है। इस पर कभी-कभी लड़ाई हो जाती है। ऐसा क्यों होता है? ऐसा इसलिए होता है क्योंकि युवक ने कोट-पैंट तो पहन लिया, जूते भी चढ़ा लिये, भौतिक-तत्व में बहुत आगे निकल गया, परन्तु उसके माता के विचारों, उसकी धारणाओं में तो उस तेज़ी से परिवर्तन नहीं हुआ, वह तो उसे स्नान कर लेने के बाद, धोती पहना कर, चौके में बैठाकर खाना खिलाती रही है। इस अभौतिक-तत्व की गति इतनी मंद है कि दोनों तत्वों में मेल न बैठ सकने के कारण सामाजिक-विगठन की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

६. सामाजिक-विगठन के परिणाम या रूप

आदि-समाज की अवस्था में 'सामाजिक-विगठन' नहीं होता, ज्यों-ज्यों समाज विकसित होता जाता है, त्यों-त्यों 'सामाजिक-विगठन' बढ़ता जाता है। समाज की आदि-अवस्था 'स्थिर' (Static) अवस्था है, वर्तमान-अवस्था 'गतिशील' (Dynamic) अवस्था है। स्थिरता में भिन्नता नहीं होती, गति में भिन्नता होती है। आदि-अवस्था 'संगठित' (Integrated) थी, वर्तमान अवस्था 'असंगठित' (Disintegrated) है, आदि-अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति की 'स्थिति तथा काम' (Status and role) निश्चित था, वर्तमान-अवस्था में अनिश्चित हो गया है, आदि-अवस्था 'जन्म' पर आश्रित थी, वर्तमान-अवस्था 'कर्म' पर आश्रित है। किसी को कुछ नहीं सूझता वह क्या करे, क्या न करे, उसकी समाज में क्या 'स्थिति' है, इस सब का परिणाम यह है कि आदि-अवस्था में 'विगठन' (Disorganisation) नहीं था, वर्तमान-अवस्था में दिनोंदिन 'विगठन' बढ़ रहा है, आदि-अवस्था में 'ऐकमत्य' (Consensus) था, वर्तमान अवस्था में 'अनैकमत्य' बढ़ रहा है, हर व्यक्ति की अपनी-अपनी अलग-अलग सम्मति है और इन सब के बढ़ने के साथ-साथ परिवार का अंग-भंग, निर्धनता,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पराश्रयता, बेकारी, अपराध,* व्यभिचार, दुराचार, अत्याचार न जाने क्या-क्या बढ़ रहा है। हम इनमें से कुछ-एक का वर्णन करेंगे, परन्तु इसका यह मतलब नहीं समझना चाहिए कि ये सब बढ़ते ही रहेंगे। समाज की प्रक्रिया तब-तक सन्तोष से नहीं बैठती जबतक 'विगठन' की प्रक्रिया फिर 'संगठन' की तरफ़ नहीं चल देती। बीमारी आरोग्यता प्राप्त करने की तरफ़ ध्यान खेंचती है, विगठन संगठन की आवश्यकता को उग्र कर देता है।

विगठन के दो रूप हैं—'सामाजिक' (Social) तथा 'वैयक्तिक' (Pesonal)। उदाहरणार्थ, परिवार टूटता जा रहा है, निर्धनता बढ़ती जा रही है, लोग पराश्रित हैं, बेकार हैं—यह 'सामाजिक-विगठन' (Social disorganisation) है; व्यक्ति अपराध करता है, युवा, बालक अपराध करते हैं—यह 'वैयक्तिक-विगठन' (Personal disorganisation) है। इन विगठनों की चर्चा हम आगे करेंगे। 'विगठन' के सामाजिक तथा वैयक्तिक रूप निम्न हैं :†

(क) परिवार का अंग-भंग,
(ख) निर्धनता,
(ग) पराश्रयता,
(घ) बेकारी,
(ङ) युवापराध
(च) बालापराध।

७. परिवार का अंग-भंग**

'सामाजिक-विगठन' का पहला परिणाम परिवार का अंग-भंग है। सदियों से अब तक पति पत्नी के लिए और पत्नी पति के लिए प्राणों की आहुति देते रहे। स्त्रियों ने, और ख़ास कर भारत की पतिव्रता नारियों ने तो पति के मरने पर उसकी धधकती चिता में जीते-जी कूद कर सती-प्रथा की परम्परा से इस देश के इतिहास के पन्नों को रंग दिया है। पिता पुत्र के लिए और पुत्र पिता के लिए बलिदान हो गया। अन्धे माता-पिता को बहंगी पर बिठाये श्रवण देश-विदेश फिरता रहा और माता-पिता की सेवा में ही उसने अपना यौवन न्यौछावर कर दिया। यह था एक ज़माना—

परन्तु अब क्या हो रहा है? आज के युग में दो नयी विचार-धाराएँ फूट पड़ी हैं जो उस पुराने परिवार को नहीं रहने दे रहीं। जो नया ज़माना आ

---

* **Indicate some of the major tensions and conflicts prevailing today in our country and discuss their causes. (1962)**

† **Distinguish between personal and social disorganisation and show their relationship with crime. (1962)**

** **What is the impact of social disorganisation upon family? (Rajasthan, 1954)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

रहा है, उसमें पत्नी पति को नहीं पूछेगी, पति पत्नी को नहीं पूछेगा, बेटा बाप की परवाह नहीं करेगा, बाप बेटे की चिन्ता नहीं करेगा। ऐसा ज़माना आना चाहिए या नहीं—इस गहराई में जाने की ज़रूरत नहीं। आ रहा है, हमारे देखते-देखते आ रहा है, यह सभी जानते हैं—ऐसा ज़माना है जो आ रहा है।

क्यों आ रहा है—इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि वर्तमान-युग में मनुष्य की उलझनें ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती हैं, त्यों-त्यों वह अपने परिवार के सब लोगों की समस्याओं को हल करने के स्थान में अपनी समस्याओं को भी नहीं हल कर पा रहा। समय था जब 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' थी। बड़ा कमाता था, छोटे खाते थे। वह समय था जब इसी धरती पर दूध, दही और शहद की नदियाँ बहा करती थीं। उस समय एक आदमी सब का पालन कर सकता था। आज दूध की जगह चाय, दही की जगह सेपरेटा और शहद की जगह सड़े हुए गुड़ ने स्थान ले लिया है। इस ज़माने में कौन किसकी ज़िम्मेदारी ले सकता है। इसीलिए भाई-भाई अलग हो रहे हैं, खानदानों के टुकड़े होते चले जा रहे हैं। बड़ा भाई कहता है, मैं अपने बाल-बच्चों की परवरिश करूँ या सब अलाय-बलाय को पालूँ? 'संयुक्त-परिवार' टूट-टूट कर 'विभक्त-परिवारों' में बटते चले जा रहे हैं, आर्थिक प्रश्न उग्र होता जा रहा है, आर्थिक प्रश्न की उग्रता के साथ-साथ 'व्यक्ति-वाद' बढ़ता चला जा रहा है। हर व्यक्ति अपने लिए है। जब व्यक्ति अपनी आर्थिक-समस्या को ही नहीं सुलझा सकता तब वह सारे कुनबे के सिर-दर्द को कैसे अपने कन्धों पर ले। इस 'व्यक्तिवाद' की विचार-धारा की तेज़ तलवार से 'संयुक्त-परिवार' के कट-कट कर टुकड़े-टुकड़े होने लगे हैं, परन्तु यह प्रक्रिया यहीं तक रुकने वाली नहीं है। जब संयुक्त-परिवार के टुकड़े हुए, और परिवार में से भाई-भतीजे, चचा-ताऊ अलग जा पड़े, और परिवार में पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री ही रह गए, तो इनका क्या आपस में गुज़र हो जायगा? 'व्यक्तिवाद' का आधार आर्थिक समस्या है। हर आदमी के पास काफ़ी पैसा नहीं है इसलिए वह दूसरों से पल्ला छुड़ाना चाहता है। संयुक्त-परिवार-पद्धति में कई परिवार जुड़े रहते हैं, इस युग की विकट आर्थिक परिस्थिति में वे जुड़े नहीं रह सकते, इसलिए सब अलग-अलग होते जाते हैं, परन्तु अलग होकर क्या इन परिवारों की आर्थिक-समस्या सुलझ जाती है? हाँ, सुलझती है, परन्तु सुलझती हुई भी उलझी रहती है। आवश्यकताएँ इतनी बढ़ती जाती हैं कि पति-पत्नी का संयुक्त-परिवार से अलग होकर भी गुज़ारा नहीं होता, और वही 'व्यक्तिवाद' जिसने संयुक्त-परिवार को तोड़ा, पति-पत्नी के इस छोटे-से परिवार को भी बने नहीं रहने देता। आज ऐसे परिवार बनते चले जा रहे हैं जिनमें परिवार के सब लोग—पति-पत्नी, पुत्र-पुत्री—नौकरी करते हैं, सब कमाने में जुटे हुए हैं। प्रातःकाल वे लोग चाय के लिए इकट्ठे बैठते हैं, फिर ८ बजे अपने-अपने टिफ़िन-कैरीयर लेकर पिता अपने दफ्तर चला जाता है, माता कहीं मास्टरनी है तो वह अपने स्कूल चली जाती है, लड़की टाइपिस्ट है, और लड़का अपने काम कर लगा हुआ है। अब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जब सब अपनी-अपनी समस्या खुद हल कर रहे हैं, अपना-अपना कमा रहे हैं, तब यह खयाल आ जाना कि अपनी कमाई को अपने पर खर्च करो, कोई बड़ी अचम्भे की बात नहीं है। जो 'व्यक्तिवाद' 'संयुक्त-परिवार-प्रथा' को छिन्न-भिन्न कर रहा है, वही माता-पिता-पुत्र के इस छोटे-से परिवार को भी छिन्न-भिन्न क्यों न कर देगा ?

परिवार के विगठन से भाई भाई का शत्रु हो रहा है, मुकदमेबाज़ी चलती है, हत्याएँ होती हैं। ये सब सामाजिक-अपराध परिवार के अंग-भंग होने के कारण हो रहे हैं।

८. निर्धनता

'सामाजिक-विगठन' का दूसरा परिणाम निर्धनता है। निर्धनता पर हम ११वें अध्याय में विस्तार से लिख आये हैं। यहाँ उस पर संक्षेप से विवेचन करेंगे। निर्धनता के अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं :—

(क) **'वैयक्तिक-असमर्थता'** (Incapacity of the Individual)—मनुष्य की निर्धनता का एक कारण, उसकी 'असमर्थता' है। 'असमर्थता' के दो कारण हो सकते हैं—एक वंशगत-असमर्थता, दूसरी परिस्थितिगत-असमर्थता। एक आदमी पैदाइश से बहुत ही छोटे दिमाग़ का है, न पढ़ सकता है, न लिख सकता है, न कोई काम कर सकता है। दूसरा जन्म से कोढ़ी है, अन्धा है, बहरा है। ऐसे लोग वंशगत-असमर्थता के कारण 'निर्धन' (Poor) होते हैं, इनमें कई 'दरिद्र' (Pauper) होते हैं। परिस्थिति के करण व्यक्ति में असमर्थता तब उत्पन्न होती है, जब वह बीमारी के कारण, मशीन में हाथ कट जाने के कारण, लड़ाई में लंगड़ा हो जाने के कारण, दिमाग़ विगड़ जाने के कारण या किसी अन्य कारण से जीवन-संग्राम के लिए अनुपयुक्त हो जाता है।

(ख) **'भौतिक-परिस्थिति'** (Physical Environment)—भौतिक-परिस्थिति में कई ऐसी अवस्थाएँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिनके कारण निर्धनता उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इनमें से मुख्य हैं—(i) प्राकृतिक पदार्थों की कमी, (ii) ऋतु की प्रतिकूलता, (iii) जीव-जन्तुओं का उत्पात तथा (iv) प्रकृति का कोप। इन चारों के विषय में थोड़ा-थोड़ा विचार करना आवश्यक है।

(i) भूमि के सम्बन्ध में किये गए अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि कई भूमियाँ ऐसी होती हैं, जो दूसरों की अपेक्षा अधिक उपजाऊ होती हैं, उपजाऊ भूमि के तत्त्व भी कुछ समय के बाद वर्षा के कारण बह जाते हैं, उन्हें भूमि में फिर से डालने की आवश्यकता रहती है, कभी-कभी भूमि को एक-एक मौसम छोड़कर जोतना होता है ताकि उसकी नष्ट हुई ताकत फिर-से लौट आये। कृषि के अतिरिक्त भूमि के खनिज पदार्थों की मात्रा परिमित होती है, अतः जब किसी स्थान का कोयला, लोहा, सोना, चाँदी समाप्त हो जाता है, तब वह स्थान उजड़ जाता है, जो लोग पहले धनी हो रहे थे वही निर्धन हो जाते हैं। भूमि की उपजाऊ-शक्ति तथा उसके खनिज पदार्थों का कम हो जाना निर्धनता लाने का एक कारण है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) कभी-कभी भारी सर्दी या ओले पड़ने से फ़सल नष्ट हो जाती है, बहुत ज्यादा गर्मी भी कभी-कभी खेती को सुखा देती है। जहाँ नहरें हों वहाँ खेती को बचाया जा सकता है, जहाँ पानी न मिले वहाँ क्या किया जाय ? ऐसे स्थानों में किसानों को बड़े कष्टों का सामना करना पड़ता है। दोनों पंच-वर्षीय योजनाओं में इसी लिए बड़े-बड़े बाँध बनाकर बड़ी-बड़ी नहरों के बनाने की योजनाएँ बनाई गई हैं ताकि ऋतु की प्रतिकूलता के कारण वर्षा आदि न पड़े तो किसानों की समस्या का हल किया जा सके।

(iii) भारत में अक्सर टिड्डी-दल खेतों को नष्ट कर देते हैं। खेतों में तरह-तरह के कीड़े, जीव-जन्तु फ़सल को नष्ट किया करते हैं। हर पेड़ को कोई-न-कोई कीड़ा लगा करता है। किसान के पास इस सब के लिए साधन न होने के कारण उसकी आर्थिक समस्या विकट हो जाती है।

(iv) प्रकृति का कोप भी मनुष्य को भटकाया करता है। अपने देश में बाढ़ से करोड़ों रुपए का नुकसान होता रहता है। भूचाल, आग लग जाना, ज्वालामुखी फूट पड़ना, जहाज का डूब जाना, हवाई जहाज का गिर पड़ना—ऐसे अनेक उपद्रव हैं, जो उन लोगों के लिए आजीविका की समस्या को खड़ा कर देते हैं, जिन्हें इनका शिकार होना पड़ता है।

(ग) आर्थिक-कारण (Economic factors)—निर्धनता को उत्पन्न करने वाला सबसे बड़ा कारण आर्थिक है। कोई समय था जब यह समझा जाता था कि संसार में मनुष्य बढ़ते जा रहे हैं, उनकी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए 'उत्पादन' (Production) कम हो रहा है। यह समझा जाता था कि जिस मात्रा में 'जन-संख्या' बढ़ रही है, अगर उसी मात्रा में 'उत्पादन' बढ़ता रहे, तो सब के लिए खाने-पहनने को मिलता रहे, कोई निर्धन न रहे। जब से औद्योगिक-क्रांति हुई है, तब से 'उत्पादन' पहले से कई गुणा बढ़ गया है, मशीन के ज़रिये 'उत्पादन' की मात्रा इतनी बढ़ गई कि जितना उत्पन्न हो रहा है उतना खप नहीं रहा। परन्तु क्या कारण है कि फिर भी धनी-निर्धन का भेद बढ़ता ही नहीं जा रहा है, पहले से कहीं अधिक हो गया है ? इसका यह कारण है कि 'उत्पादन' तो बढ़ गया है, परन्तु उत्पन्न का 'वितरण' (Distribution) ठीक नहीं है। थोड़े व्यक्तियों के हाथ सब-कुछ आता जा रहा है, अधिक व्यक्तियों के हाथ कुछ नहीं आ रहा। 'उत्पादन के साधनों' (Means of Production) पर पूँजीपतियों का प्रभुत्व है, अतः इन साधनों से जो 'उत्पादन' होता है, वह पूँजीपतियों के हाथ में केन्द्रित होता जाता है। 'धन का अव्यवस्थित वितरण' (Maldistribution of wealth) आज के व्यक्ति की निर्धनता का सबसे बड़ा कारण है। इस अव्यवस्था को राज्य के सिवाय कौन दूर कर सकता है ? इसका एक उपाय तो यह है कि राज्य ही 'उत्पादन के साधनों' को अपने हाथ में ले ले, और जो आमदनी हो, उसे वस्तुओं के दाम कम करके, या जनता की शिक्षा, स्वास्थ्य, अच्छे मकान आदि पर खर्च करके जनता को ही लौटा दे। ऐसा प्रयोग रूस में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो रहा है, दूसरे देश भी बड़े-बड़े व्यवसायों को अपने हाथ में लेने लगे हैं। दूसरा उपाय यह है कि वस्तुओं के दाम निश्चित कर दिये जाँय, यह तय कर दिया जाय कि इतने से अधिक कोई मुनाफ़ा नहीं ले सकता। यह काम भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लोग स्वयं कर सकते हैं, परन्तु इसकी संभावना बहुत कम है, ऐसी हालत में यह काम भी राज्य का हो जाता है।

(घ) **सामाजिक-कारण** (Social factors)—उक्त कारणों के अतिरिक्त कई सामाजिक कारण हैं जो आज के व्यक्ति की निर्धनता के कारण बन रहे हैं। वे हैं—(i) त्रुटिपूर्ण शिक्षा-प्रणाली, (ii) त्रुटि-पूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा-प्रणाली तथा (iii) त्रुटि-पूर्ण मकानों की व्यवस्था। इन तीनों के सम्बन्ध में संक्षिप्त विचार कर लेना ठीक होगा :—

(i) **त्रुटि-पूर्ण शिक्षा-प्रणाली**—आज हमारी शिक्षा-प्रणाली अत्यन्त दूषित हो रही है। पढ़ने के बाद आर्थिक-समस्या को किस प्रकार हल किया जायगा, इसे कोई नहीं जानता। हर-एक यूनिवर्सिटी हज़ारों ग्रेजुएटों की भरमार करती जा रही है, ऐसे ग्रेजुएट जो अपने को किसी काम के योग्य नहीं पाते। शिक्षित-व्यक्तियों की इस बेकारी की हालत को देखकर शिक्षा-विज्ञान ने शिक्षा-प्रणाली में सुधार शुरू किये हैं, दस्तकारी आदि विषयों को पाठ्य-क्रम में सम्मिलित किया जा रहा है, परन्तु अभी तक यह हालत है कि किसानों के लड़के बी० ए०, एम० ए० बनना चाहते हैं, और पढ़ कर न वे घर के काम के रहते हैं न घाट के, न उन्हें नौकरी मिलती है, न वे खेती कर सकते हैं। फ़ैशन करना वे सीख जाते हैं, पैसा पैदा करना नहीं सीखते, यह शिक्षा का दोष है।

(ii) **त्रुटि-पूर्ण स्वास्थ्य-रक्षा-प्रणाली**—हमारी स्वास्थ्य-रक्षा-सम्बन्धी व्यवस्था भी त्रुटि-पूर्ण है। सैकड़ों, हज़ारों व्यक्ति रोगी होने के कारण कमाई नहीं कर सकते। रोगी हो जाने पर रोग का इलाज करने की अपेक्षा ऐसे उपायों का अवलम्बन करना चाहिए जिससे व्यक्ति रोगी ही न हो। ऐसी हालत में रोगी होने के कारण जो दिन बिना कमाई के निकल जाते हैं, उनमें कमाई कर सकने के कारण निर्धनता में कमी हो सकती है। मज़दूर को दिहाड़ी पर काम मिलता है। वह रोज़ काम करता है, रुपया-डेढ़ रुपया कमा लाता है, और गुज़ारा चलाता है। जितने दिन वह बीमार रहता है, उतने दिनों का उसे रुपयों में नुक्सान हो जाता है।

(iii) **त्रुटि-पूर्ण मकानों की व्यवस्था**—इस समय मकानों की व्यवस्था पैसेवालों के हाथ में है। जिनका अपना मकान नहीं, उन्हें किराये के मकानों में रहना पड़ता है। पैसेवाले किराये के लिए मकान बनाते हैं, सुविधा, आराम, स्वास्थ्य की दृष्टि से नहीं। परिणाम यह होता है कि बहुत थोड़े लोग हैं जिनको अपनी सुविधा के अनुसार मकान मिलता है, अधिकांश व्यक्ति ऐसी गन्दी-गन्दी झोंपड़ियों में गुज़र करते हैं जिनमें आदमी सिर्फ़ सिर ढक सकता है, परन्तु अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लेता है। ऐसे मकानों में निर्धन व्यक्ति ही रह सकता है, सम्पन्न व्यक्ति नहीं। समाज के निर्धन व्यक्तियों के इस कष्ट के दूर करने के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

राष्ट्र की तरफ़ से मकान बनने चाहिएँ, उनका स्वामित्व राष्ट्र के पास हो, सिर्फ़ किराये की दृष्टि से नहीं, रहने वाले की सुविधा, आराम की दृष्टि से मकान बनाये जाँय, राष्ट्र उनका किराया ले, परन्तु किरायेदार को बिल्कुल तबाह न कर दे। अमरीका तथा इंग्लैण्ड में राज्य की तरफ़ से इस प्रकार के मकान बनाने का परीक्षण हो रहा है।

(ङ) युद्ध (War)—निर्धनता का सबसे बड़ा कारण युद्ध है। युद्ध के समय रोटी तक मिलना कठिन हो जाता है, हर-एक वस्तु लड़ाई में चली जाती है, जो लोग मैदान में लड़ रहे होते हैं वे गिन-गिन कर दिन काटते हैं, जो पीछे रह जाते हैं वे दाने-दाने को तरस कर जीते हैं। युद्ध जाति को धन-धान्य में ही निर्धन नहीं बनाता, मनुष्यता में भी दरिद्र बना देता है। उभरी छाती के बाँके नौ-जवान युद्ध की अग्नि में झोंक दिये जाते हैं, मरे-सड़े लोग समाज का सूत्र चलाने के लिए पीछे रह जाते हैं। जबतक लड़ाई चलती है, तबतक नौ-जवान सन्तान नहीं उत्पन्न करते, यही बचे-खुचे, भले-बुरे लोग जो रह जाते हैं, कमज़ोर सन्तानों को उत्पन्न करते रहते हैं। ऐसी सन्तान जीवन-संग्राम में मुकाबिले में नहीं टिक सकती, इसलिए जब यह बड़ी होती है, तब समाज के लिए एक विषम समस्या बन जाती है। युद्ध के बाद जब सेनाएँ भंग की जाती हैं, तब वे बेकारों की संख्या इतनी बढ़ा देती हैं कि चारों तरफ़ निर्धनता-ही-निर्धनता का राज्य दीखने लगता है। इस-लिए युद्ध के बाद जीवन का स्तर गिर जाता है, वस्तुओं का मूल्य बढ़ जाता है, और समाज अपनी पूर्ण विगठित अवस्था में दीखने लगता है।

९. पराश्रयता

'सामाजिक-विगठन' का तीसरा परिणाम पराश्रयता है। जैसे 'निर्धनता' (Poverty) समाज की एक विगठित अवस्था है, वैसे 'पराश्रयता' (Dependency) भी विगठित अवस्था है। बालक माता-पिता के आश्रित है, पत्नी पति के आश्रित है, परन्तु जब हम समाज की विगठित अवस्था का वर्णन कर रहे होते हैं, तब इनको पराश्रित नहीं कहते। हाँ, जो बालक माता-पिता के मर जाने के कारण अनाथ हो जाता है, जिस पत्नी को पति छोड़ देता है, वह परा-श्रित अवश्य है। पराश्रित व्यक्ति मुख्य तौर पर तीन प्रकार के हैं—(क) अनाथ, (ख) वृद्ध तथा (ग) अपंग। हम इन तीनों का थोड़ा-थोड़ा वर्णन करेंगे :—

(क) अनाथ—जिस बालक के माता-पिता नहीं हैं, उसकी देख-रेख कोई नहीं करता। वह समाज में आवारा फिरता है। कई ऐसे बालक भी हैं, जिनके माता-पिता हैं, परन्तु वे इतने निर्धन हैं कि बालकों का पालन-पोषण नहीं कर सकते। वे खुद भीख माँगते हैं, बच्चे भी भीख माँगते हैं। ऐसे बालक निर्धन होने के साथ-साथ चोरी, गाँठ कतरना आदि सब बुरी आदतें सीख जाते हैं। समाज के लिए उनके भरण-पोषण का ही प्रश्न नहीं है, उनको शिक्षा देकर योग्य नागरिक बनाने का भी प्रश्न है। ऐसे बालकों को भीख देकर उन्हें जन्म भर के लिए

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपाहिज बना देता है। अनाथालयों में रखना उन के मन में सदा के लिए अनाथ-भावना उत्पन्न कर देना है। ऐसे बच्चों के लिए १९५२ में उत्तर-प्रदेश में 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) पास हुआ था, जिसके अनुसार १६ वर्ष से नीची आयु के बच्चों को आवारा फिरता देखकर पुलिस पूछ सकती है कि उनके अभिभावक कौन हैं? अगर कोई न हों, और हों तो बच्चों की देख-रेख न कर सकते हों, उन्हें इन बाल-सुधार-आश्रमों में रखकर जीवनोपयोगी सब काम सिखाये जायेंगे। इस प्रकार के बच्चों के आश्रम खोलने के लिए लाइसेंस लेने का कानून १९५६ में पार्लियामेंट ने स्वीकार किया।

(ख) वृद्ध—वृद्धावस्था में मनुष्य पराश्रित हो जाता है। बालक तो इसलिए पराश्रित है क्योंकि वह कमा ही नहीं सकता, वृद्ध इसलिए पराश्रित है क्योंकि उसने वृद्धावस्था के लिए काफ़ी बचाया नहीं होता। जो मज़दूर सिर्फ़ उस दिन के लायक मज़दूरी कमाता है जिस दिन वह काम करता है, वह बचा कहाँ सकता है? इसलिए या तो हर-एक आदमी का बीमा होना आवश्यक है, या बुढ़ापे में उसकी देख-भाल करना राज्य के लिए आवश्यक है। बीमा खुद करे या उसका मालिक कराये। कुछ राज्यों में वृद्धों की रक्षा के लिए आश्रम खुले हुए हैं, इन आश्रमों को 'निर्धनालय' (Poor House) कहते हैं। असल में, हर देश में भीख न माँगने का नियम है, और जो भीख माँगता पाया जाता है उसे इन निर्धनालयों में भर्ती कर दिया जाता है। वैसे तो प्रत्येक वृद्ध के पुत्र-पौत्र उसकी देख-भाल करते हैं, परन्तु जहाँ किसी की देख-भाल करने वाला कोई नहीं होता वहाँ उसे इन निर्धनालयों में भर्ती कर दिया जाता है। जो लोग जवानी में अच्छे दिन गुज़ार चुके होते हैं, उन्हें इन निर्धनालयों में रख देना कुछ अन्याय-सा दीखता है। उनके लिए 'वृद्धालय' (Old People's Houses) खुलने चाहिएँ, जहाँ अच्छी स्थिति के वृद्ध लोग अपना जीवन व्यतीत कर सकें। वृद्धावस्था की पेंशनों का भी प्रबन्ध होना चाहिए। निर्धनालय में प्रत्येक वृद्ध-व्यक्ति पर जो खर्च होता है, वह पेंशन के रूप में दे दिया जाय, तो खर्च अधिक नहीं बढ़ता। परन्तु ये सब संस्थाएँ युरोप में हैं, भारत में नहीं हैं।

(ग) अपंग—बालक तथा वृद्ध के अलावा तीसरी श्रेणी अपंगों की है, जो पराश्रित कहे जा सकते हैं। पागल, मृगी के शिकार, जन्म के रोगी, अंग कटे हुए, अन्धे, लूले, लंगड़े—ये सब अपंग हैं। ग़रीब आदमियों की जिन बीमारियों को दूर किया जा सकता है, उन्हें दूर करना राज्य का काम है, नहीं तो इतने ही निराश्रितों की संख्या बढ़ती जाती है, और राज्य पर आर्थिक बोझ भी बढ़ता जाता है।

'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' का इलाज

जबतक 'निर्धनता' और 'पराश्रयता' को परमात्मा की देन, कर्मों का फल तथा अनिवार्य समझा जाता था, तबतक दान-पुण्य से इन लोगों की सहायता की जाती थी, परन्तु विज्ञान के युग में अनिवार्य बातें बहुत थोड़ी रह गई हैं। ऐसे

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोगों को भीख देकर उनकी सहायता करके उनकी रक्षा करना धर्म नहीं है, परन्तु स्वास्थ्य आदि के कानून बनाकर, रोगी तथा अपाहिज सन्तान उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों को उत्पादन के अयोग्य बनाकर ऐसे व्यक्तियों की तथा समाज की रक्षा की जा सकती है। बीमारी, वृद्धावस्था, अपंगता आदि के समय पराश्रय न होना पड़े, इस बात को ध्यान में रख कर ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड में बीमा करने की व्यवस्था है। यह बीमे का धन मालिक को देना होता है। इन व्यवस्थाओं के अतिरिक्त सब से बड़ा काम समाज-सेवक (Social worker) का है। जो काम राज्य ज़बर्दस्ती कराना चाहता है, वही समाज-सेवक समझा-बुझाकर, उन लोगों के साथ उठ-बैठ कर करता है। समाज-सेवक का काम अपने क्षेत्र के निर्धन तथा पराश्रित व्यक्तियों की गणना करना, किसको क्या मिल सकता है, किसे दवा-दारू की ज़रूरत है यह सब देखकर उनकी सहायता करना है। इस दिशा में 'भारत-सेवक-समाज' के कार्यकर्ता बहुत अच्छा काम कर सकते हैं। इस प्रकार राज्य के कानून तथा समाज-सेवक की प्रेमपूर्ण सेवा के सहयोग से 'निर्धनता' तथा 'पराश्रयता' की समस्या थोड़ी-बहुत हल हो सकती है। इसका असली हल तो सारे-के-सारे आर्थिक ढाँचे को बदलना है।

१०. बेकारी

'सामाजिक-विगठन' का चौथा परिणाम बेकारी है। किसी ऐसे काम में लगे रहना जिसमें अर्थ-प्राप्ति हो बारोज़गारी, और सशक्त-व्यक्तियों की इच्छा रहते भी काम न मिलना बेकारी कहलाता है। कई काम मौसमी होते हैं, ऐसे होते हैं जिन्हें कुछ आज और कुछ एक-दो दिन छोड़कर करना होता है, इसलिए किसी देश में पूर्ण रोज़गारी होते हुए भी कुछ-न-कुछ बेकारी तो रहती ही है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ ने अपने सदस्य देशों को पूर्ण रोज़गारी का मान-दंड निश्चित करने को कहा था। उसके आधार पर कहा जा सकता है कि २ से ५ प्रतिशत तक बेरोज़गारी होने पर भी उस देश में पूर्ण-रोज़गारी कही जाती है, इससे ऊपर बेकारी चली जाय, तो वह बेकारी समझी जाती है।

भारतवर्ष में कहाँ तक बेकारी है, यह बात ठीक-ठीक नहीं कही जा सकती। कुछ-कुछ अन्दाज़ 'रोज़गार-दफ्तर' (Employment Exchange) के आँकड़ों से लगाया जा सकता है। परन्तु ये अंक विश्वसनीय नहीं कहे जा सकते क्योंकि इनके आँकड़ों में शहरों के उन व्यक्तियों की ही गणना है जिन्होंने अपना नाम रजिस्टर में लिखवा दिया है। इसके अतिरिक्त ये केवल शहरों के आँकड़े हैं। गाँवों की बेरोज़गारी का इनसे कुछ भी पता नहीं चलता। फिर भी प्लैनिंग कमीशन की रिपोर्ट के अनुसार १९५६ में बेकारों की संख्या ५३ लाख थी। यह संख्या तब से लगातार बढ़ रही है।*

---

* INDIA 1963, p. 148.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भारत की बेकारी की समस्या को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है। (क) गाँवों में लोग खेती-बाड़ी का काम करते हैं, उनके पास भूमि न रहने से 'कृषि-बेकारी' (Agricultural unemployment) बढ़ रही है। (ख) शहरों में कल-कारख़ाने बढ़ रहे हैं। इन कारख़ानों में नये-नये आविष्कारों के परिणामस्वरूप आदमी का काम यन्त्र करने लगे हैं, इससे 'यान्त्रिक-बेकारी' (Technological unemployment) बढ़ रही है। (ग) तीसरी बेकारी पढ़े-लिखे लोगों में है। इस वर्ग में 'शिक्षितों की बेकारी' (Educational unemployment) बढ़ रही है। इन तीनों के विषय में कुछ विचार कर लेना आवश्यक है।

(क) कृषि-बेकारी तथा उसका इलाज

भारत कृषि-प्रधान देश है। यहाँ की ८२ प्रतिशत जनता ५.६४ लाख गाँवों में रहती है और उनमें से अधिकांश भूमि-माता का वरदान पाकर ही पेट पालती है, परन्तु जन-संख्या के बहुत अधिक बढ़ जाने तथा भूमि के बट जाने के कारण लाखों लोग बेकार हो गए हैं। जिनके पास भूमि है भी, वह इतनी थोड़ी है कि उसकी उपज से उनके कुटुम्ब का भरण-पोषण नहीं हो पाता। पहले कृषि आमदनी का साधन थी, अब यह आमदनी का साधन नहीं रही, इसलिए किसान खेती छोड़कर मज़दूरी करना ज्यादा पसन्द करते हैं। १९४८–४९ के सम्बन्ध में 'राष्ट्रीय-आय-कमेटी' (National Income Committee) की रिपोर्ट १९५१ में प्रकाशित हुई थी। इस रिपोर्ट के अनुसार भारत के ६८ प्रतिशत व्यक्ति जो कृषि में लगे हुए थे, उनकी प्रति व्यक्ति वार्षिक आय १८० और अन्य व्यवसायों में लगे हुए व्यक्तियों की आय ४१६ रुपया कूती गई थी, जो कृषि की अपेक्षा अढ़ाई गुणा के लगभग थी। इसी कारण १९४१ से १९५१ तक दस साल के भीतर १ करोड़ आदमी गाँव छोड़कर शहरों में काम की तलाश में आये—इससे स्पष्ट है कि या तो उनके पास भूमि थी ही नहीं, थी तो काफ़ी नहीं थी, काफ़ी थी तो उपजाऊ नहीं थी। किसान इसलिए भी बेकार रहता है क्योंकि साल भर तो ज़मीन में वह पैदा कर नहीं सकता। एक खेती बो देने के बाद उसके पकने तक उसे प्रतीक्षा में बैठे रहना पड़ता है। जहाँ नहरें आदि हैं, हर समय पानी मिल सकता है, वहाँ भी दो-अढ़ाई महीने उसे बेकार बैठना पड़ता है। परन्तु जहाँ पानी की पूरी व्यवस्था नहीं है, वहाँ पाँच-छः महीने आसमान में बादलों की ताक में वह गिन-गिन कर दिन निकाल देता है। हमारा किसान खेती के लिए ज्यादातर वर्षा पर निर्भर करता है।

इस सब समस्या का हल यही है कि बंजर ज़मीनों को नहरों, वैज्ञानिक खादों आदि से उपजाऊ बनाया जाय, उन्हें भूमिहीन किसानों में बाँटा जाय, जिनके पास ज़रूरत से ज्यादा ज़मीन पड़ी है उस भूमि को वे भूदान-यज्ञ में दान दे दें, या राज्य की तरफ़ से कानून द्वारा वे ज़मीनें ले कर उन्हें किसानों में बाँट दिया जाय,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

किसानों की जो भूमियाँ इधर-उधर बिखरी पड़ी हैं उनका ऐसा बँटवारा किया जाय जिससे एक किसान की सारी ज़मीन एक जगह आ जाय।

अपने देश में इतनी भूमि पड़ी है कि अगर सिंचाई का ठीक-ठीक प्रबन्ध हो जाय, तो अन्न-संकट तो अपने-आप दूर हो ही जाय, साथ ही किसान का भी पेट ठीक-से भरने लगे। इस दृष्टि से प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय पंच-वर्षीय योजनाओं में छोटी-बड़ी जल-योजनाओं को चलाया गया है जिनसे २२० लाख एकड़ भूमि को उपजाऊ बनाया जा सकेगा। इन योजनाओं का अन्तिम उद्देश्य यह है कि १५-२० साल के भीतर अब से दुगुनी ज़मीन को पानी से सींचा जा सके।

पानी के अतिरिक्त भूमि को उपजाऊ बनाने के लिए वैज्ञानिक खादों तथा ट्रैक्टर आदि के उपयोग से भी कृषि की उपज बहुत बढ़ सकती है। १९४८ में भारत में प्रति व्यक्ति कृषि-योग्य भूमि का क्षेत्र-फल .७१ एकड़ था, जापान में प्रति-व्यक्ति एक-तिहाई एकड़ था, परन्तु भारत के किसान की अपेक्षा थोड़ी भूमि होते हुए भी जापान के किसान की उपज भारत के किसान से ज़्यादा है। भारत का किसान अगर बेकारी से बचना चाहता है, तो उसे फ़सलों को अच्छी तरह से अदल-बदल कर, अच्छे बीजों को बोकर, अच्छा वैज्ञानिक खाद देकर, वैज्ञानिक यन्त्रों का इस्तेमाल करके, सहकारिता के उपायों का प्रयोग करके अपनी स्थिति को सुधारना होगा। उसे यह भी जान लेना होगा कि खेती छोड़कर सिर्फ़ शहर की ओर चल देने से उसकी समस्या का हल नहीं हो सकता, क्योंकि शहरों की बेकारी गाँवों की बेकारी से भी ज़्यादा भीषण रूप धारण करती जा रही है।

(ख) यान्त्रिक बेकारी तथा उसका इलाज*

बेकारी का एक बहुत बड़ा कारण यांत्रिक-युग है। यंत्र-युग में मनुष्य का स्थान यन्त्र ले रहे हैं। जहाँ दस आदमी काम करते थे वहाँ एक आदमी यन्त्र द्वारा दस मनुष्यों का काम कर रहा है। इसका यही मतलब है कि जितना यन्त्रीकरण बढ़ता जायगा, उतनी बेकारी बढ़ती जायगी। युरोप में 'यन्त्रीकरण' (Mechanization) से पहले बेकारी की समस्या नहीं थी। ज्यों-ज्यों 'प्राविधिक' या 'यान्त्रिक-आविष्कार' (Technological inventions) बढ़ते गए, त्यों-त्यों मनुष्य का स्थान यन्त्र लेते गए। १९३२ में अमरीका में १ करोड़ ४० लाख आदमी बेकार हो गए। जो लोग किसी के सामने सिर नहीं झुकाते थे, वे दर-दर भीख माँगने लगे। इस काल को 'महा-मंदी' (The Great Depression) का नाम दिया जाता है। असल में, पूँजीवाद का स्वाभाविक परिणाम बेकारी है। यन्त्र का काम थोड़े-से-थोड़े मनुष्यों द्वारा ज़्यादा-से-ज़्यादा पैदा करना है। आवश्यकता से अधिक उत्पादन हो जाने पर वह खपे कहाँ? माल खपाने के लिए ही 'उपनिवेश-वाद' (Colonialism) चला था। अन्दर माल नहीं खपता,

---

* How is social disorganisation engendered by modern industrial conditions? (1957)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यन्त्रों द्वारा ज़रूरत से ज़्यादा बनता है, इसलिए नये-नये बाज़ार कब्ज़े में किये जाते थे, ज़बर्दस्ती की जाती थी। जिन देशों के पास उपनिवेश नहीं हैं, उनका माल अगर देश के अन्दर नहीं खप सकता, तो देश के बाहर माल भेजना पड़ता है। परन्तु बाहर भेजनेवाले भी तो एक नहीं, अनेक देश हैं। समय आता है, मुकाबिले में माल का भाव गिराना पड़ता है। भाव इतना गिर जाता है कि अन्दर तथा बाहर लागत के भाव भी नहीं बिकता। कारखाने बन्द कर देने पड़ते हैं, जो थोड़े-बहुत लोग काम में लगे थे, वे भी बेकार हो जाते हैं। जो देश ज़बर्दस्ती दूसरे देशों को अपने आधीन रख सकते हैं, वे ज़बर्दस्ती दूसरों के गले माल उतारते हैं, परन्तु अब तो सभी देश जागने लगे हैं, कोई देश दूसरे के आधीन रहने को तैयार नहीं है, भारत स्वतन्त्र हो गया है, अन्य एशियाई देश भी अब किसी की घुड़की सुनने को तैयार नहीं हैं। बढ़ते हुए माल की खपत न हो, तो कारखानों का बन्द होना स्वाभाविक है, कारखानों के बन्द होने से बेकारी का और अधिक बढ़ जाना स्वाभाविक है। परन्तु अन्य देशों तथा भारत में एक भेद है। युरोप के देशों की जन-संख्या अधिक नहीं है, भारत की जन-संख्या का कोई अन्त नहीं। अन्य देशों में जन-संख्या की कमी के कारण यन्त्रों की वृद्धि की जा सकती है, भारत में जन-संख्या इतनी अधिक है कि यहाँ जितना 'यन्त्रीकरण' होगा, उतनी बेकारी बढ़ेगी क्योंकि मनुष्य का काम यंत्र करेगा।

भारत में यन्त्रीकरण के सम्बन्ध में दो पक्ष हैं। एक पक्ष का कथन तो यह है कि 'यन्त्रीकरण' को और अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है। जितने कल-कारखाने खुलेंगे, उतनी ही उत्पत्ति बढ़ेगी, जितनी उत्पत्ति बढ़ेगी, उतना दाम कम होगा। वस्तुओं के दाम कम होने से हर-एक व्यक्ति सब-तरह की वस्तुओं को खरीद सकेगा, जीवन का स्तर ऊँचा होगा। दूसरे पक्ष के लोगों का कहना है कि 'यन्त्रीकरण' तो मज़दूर कम करने का तरीका है। जब मज़दूर कम हो जायेंगे, तो जिन लोगों को मज़दूरी तक नहीं मिलती, वे सस्ती वस्तुओं को भी कैसे खरीद सकेंगे? खरीदने के लिए जीवन का स्तर नहीं, क्रय-शक्ति का स्तर ऊँचा होना चाहिए, परन्तु बेकारी में तो क्रय-शक्ति ही नहीं रहती। इस सारी स्थिति को सोच-समझ कर महात्मा गांधी ने बड़ी दूरदर्शिता से स्वदेशी-आन्दोलन खड़ा किया था। स्वदेशी-आन्दोलन केवल अंग्रेज़ों के साथ ही लड़ाई का साधन नहीं था, यह बेकारी दूर करने का भी सबसे उत्तम उपाय था। यह ठीक है कि जो बड़े-बड़े कल-कारखाने हैं, वे हटाये नहीं जा सकते, परन्तु इतना तो किया जा सकता है कि जो काम छोटे कारखानों से नहीं चल सकता, वही बड़ों से लिया जाय, जो काम छोटे कारखानों से चल सकता है वह बड़ों से न लिया जाय। दस्तकारी में मशीन के बजाय मनुष्य काम करता है, इसलिए जिस देश के पास जन-संख्या कम हो, उसे मशीन, तथा जिसके पास जन-संख्या अधिक हो, उसे मनुष्य द्वारा काम लेना होगा। मशीन की आवश्यकता तो तब होनी चाहिए जब मनुष्य काम न कर सके, अगर मनुष्य के रहते मशीन काम करेगी, तो मनुष्य स्वयं बेकार हो जायगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उद्योगों को तीन हिस्सों में बाँटा जा सकता है—'बड़े पैमाने के उद्योग' (Large-scale Industries), 'छोटे पैमाने के उद्योग' (Small-scale Industries) तथा 'गृहोद्योग' (Cottage Industries)। 'गृहोद्योगों' के स्थान में जितने 'छोटे पैमाने के उद्योग' बढ़ेंगे, उतना ही कम आदमियों से काम चलेगा, और 'छोटे पैमाने के उद्योगों' के स्थान में जितने 'बड़े पैमाने के उद्योग' बढ़ेंगे, उतनी ही बेकारी बढ़ेगी। इसके साथ जितने आविष्कार बढ़ते जायेंगे, उतनी ही ऐसी मशीनें निकलती आयेंगी जिनके द्वारा बिना कारीगर के भी काम चलने लगेगा। ये स्वयं चलने वाले यन्त्र मनुष्य को बिल्कुल बेकार करके छोड़ेंगे। ऐसी अवस्था को देख कर भारत को अपनी आर्थिक-नीति में परिवर्तन करना होगा, और बड़े-बड़े कारखाने खोलने के बजाय गृहोद्योग जारी करने होंगे। गृहोद्योगों में सारा काम मनुष्य करता है, इसलिए जितने ये उद्योग बढ़ेंगे, बेकारी घटेगी।

इसमें सन्देह नहीं कि शुरू-शुरू में गृहोद्योगों के पनपने के लिए सरकार को उनकी मदद करनी पड़ेगी। इन उद्योगों द्वारा जो माल बनेगा, वह मशीनों के माल के मुकाबिले में कुछ घटिया दर्जे का होगा, उस पर व्यय भी अधिक पड़ेगा, परन्तु जनता में अपने हाथ से बनी चीज़ों के इस्तेमाल की भावना को जागृत करना होगा। हमारे सामने दो विकल्प हैं—या तो गृहोद्योगों द्वारा बनी हुई सादी चीज़ों का इस्तेमाल करके बेकारी को कम करें, या मनुष्य के स्थान पर मशीनों द्वारा बनी हुई चीज़ों को बढ़ाकर बेकारी को बढ़ायें। देश-भक्ति इसी बात में है कि हम गृहोद्योगों को बढ़ाकर अधिक-से-अधिक व्यक्तियों को काम में लगायें। जबतक एक-एक व्यक्ति काम में नहीं लग जाता, तबतक बड़े कल-कारखाने खोलना बेकारी को बढ़ाना है।

गृहोद्योगों से यह भी फ़ायदा होगा कि जो किसान साल में कई महीने बेकार बैठे रहते हैं, उन्हें खाली समय में अपनी आमदनी बढ़ाने का अवसर मिलेगा, और करोड़ों किसान जो खेती को घाटे का धंधा समझ कर शहरों में चल देते हैं, वे फिर से गाँवों को लौटने लगेंगे, और भारत की बेकारी की समस्या हल हो जायगी।

हमारे कहने का यह मतलब नहीं है कि हमें बड़े-बड़े कल-कारखाने बन्द कर देने होंगे। कई वस्तुएँ तो बड़े कारखानों द्वारा ही बन सकती हैं। लोहे के कारखाने इसी श्रेणी के हैं। कई प्रकार का ऐसा कच्चा माल है, जो अपने देश में बहुत ज्यादा होता है, दूसरे देशों में होता ही नहीं। ऐसे माल को कच्ची हालत में भेजने के बजाय उसको पक्का बनाकर भेजने से देश की आय बढ़ सकती है, और उस माल को तैयार करने के लिए बड़े-बड़े नये कारखाने खोलना भी ज़रूरी है। बाहर से जिस माल का 'आयात' (Import) होता है, उसे यहाँ पैदा करने के लिए भी कल-कारखाने खोलने की आवश्यकता है। इस प्रकार के जितने बड़े-बड़े कारखाने खुलेंगे, वे भी बेकारी की समस्या को हल करेंगे, इन कारखानों को खोलने के लिए 'निजी-क्षेत्र' (Private sector) की पूँजी को प्रोत्साहन देना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा, इस प्रकार की पूँजी लगाने वालों को 'निर्यात' (Export) की पूरी सुविधा देनी होगी, उनका कर भी कम करना होगा ताकि ऐसी पूँजी व्यापार के क्षेत्र में अधिकाधिक आये, परन्तु जो काम गृहोद्योगों द्वारा हो सकते हैं, उनके लिए बड़े-बड़े कारख़ाने खड़े करने से तो देश की बेकारी बढ़ती ही जायेगी, इसलिए इतने अंश तक ही 'यन्त्रीकरण' करना होगा जितने अंश में वह गृहोद्योग में रुकावट न हो।

(ग) शिक्षितों की बेकारी तथा उसका इलाज

अपने देश में शिक्षा का उद्देश्य रोज़गार देना था। १८३५ में लार्ड मैकाले ने इस शिक्षा-प्रणाली को जन्म ही इसलिए दिया था ताकि पढ़-लिख कर लोग सरकारी नौकरियों में भरती हो सकें। इस समय पढ़े-लिखे व्यक्तियों की संख्या नौकरियों की संख्या से कई गुणा अधिक हो गई है, परन्तु फिर भी पढ़ाई-लिखाई को आजीविका का प्रश्न हल करने का साधन समझा जाता है। इस दिशा में दृष्टिकोण बदलने की आवश्यकता है। माध्यमिक-शिक्षा के बाद हर बालक की मानसिक-परीक्षा होनी चाहिए। जो आगे चल सकने योग्य हों, वही आगे चलें, बाकी को किसी उद्योग-धंधे की शिक्षा दी जाय, तो पढ़ाई के बाद बेकार रहने की आवश्यकता नहीं होगी। इसी दृष्टि-कोण को सम्मुख रखकर केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-मंत्रालय ने स्कूल की शिक्षा १२ के स्थान पर ११ साल कर देने की योजना बनाई है ताकि ११ साल पढ़ लेने के बाद एक मंज़िल पूरी हो जाय, और लड़का किसी व्यवसाय में चला जाय। हर-एक लड़का बी० ए०, एम० ए० ही हो, इसकी क्या ज़रूरत है? अगर पढ़ना-लिखना आजीविका के प्रश्न को हल करने के लिए है, तो इतना ही पढ़ना चाहिए जितना अत्यन्त ज़रूरी है। कुछ साल पहले पढ़े-लिखों की बेकारी को दूर करने के लिए योजना-कमीशन ने प्रारम्भिक-शिक्षा के लिए ८० हज़ार नए शिक्षकों को नियुक्त करने का निश्चय किया था। परन्तु इस प्रकार कहाँ तक भर्ती की जा सकती है? असली हल शिक्षा की दिशा को बदलना है। राधाकृष्णन् कमीशन ने यह देखकर कि देश की अधिक संख्या खेती के क्षेत्र में आती है, यह सिफ़ारिश की थी कि सारी शिक्षा को, अन्य विषयों के साथ-साथ, कृषि के विचार से ओत-प्रोत कर दिया जाय। प्रारम्भिक, माध्यमिक तथा उच्च-शिक्षा में कृषि को सर्वोत्तम स्थान मिलना चाहिए। कृषि के साथ दस्तकारी को भी ऊँचा स्थान देना होगा। विद्यार्थियों तथा माता-पिता का यह विचार कि पढ़-लिख कर लड़का नौकरी करेगा—यह दृष्टिकोण सर्वथा बदल देना होगा, तभी शिक्षितों की बेकारी की समस्या का हल हो सकेगा, अन्यथा नहीं। इस दिशा में उत्तर-प्रदेश की सरकार ने यह घोषणा की थी कि वह गाँवों के सभी प्राथमिक-शिक्षणालयों को कृषि-विद्यालयों का रूप दे देगी। इससे गाँवों की ८० प्रतिशत आबादी जो प्राथमिक-स्कूलों में शिक्षा ग्रहण कर रही है, आत्म-निर्भर होना सीखेगी क्योंकि इस प्रकार की शिक्षा से कमाई का एक साधन उनके हाथ में आ जायगा। प्रत्येक शिक्षणालय के साथ एक १० एकड़ का फ़ार्म होगा जिसमें विद्यार्थी तथा शिक्षक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिदिन दो घंटे कृषि करेंगे। कृषि के साथ उन्हें पशु-पालन, ग्रामीण अर्थ-शास्त्र आदि विषयों की शिक्षा भी दी जायगी। इसी उद्देश्य से उत्तर-प्रदेश सरकार ने तीन हज़ार दो-सौ कृषि-पंडितों की भर्ती की थी जो अब विद्यार्थियों की कृषि की शिक्षा दे रहे हैं। अनेक उच्चतर माध्यमिक विद्यालयों को उत्तर-प्रदेश की सरकार पोलीटेकनिक संस्थाओं का रूप दे रही है जिससे प्राथमिक-शिक्षणालयों से आने वाले विद्यार्थी किसी हुनर की विशेष योग्यता प्राप्त कर सकें। आशा की जानी चाहिए कि इस प्रयत्न से शिक्षितों की बेकारी की समस्या का कुछ हल होगा क्योंकि कृषि की ही विशेष तौरपर तथा अन्य उद्योगों की शिक्षा ग्रहण करने के अनन्तर विद्यार्थी इधर-उधर दूसरे धंधों में भागने के स्थान पर कृषि तथा गृहोद्योगों में ही अपने ध्यान को केन्द्रित कर सकेंगे।

'विगठन' के परिणामों का वर्णन करते हुए हमने लिखा था कि इसके दो रूप हैं—'सामाजिक' (Social) तथा 'वैयक्तिक' (Personal)। इनमें से 'विगठन' के सामाजिक परिणामों का वर्णन हमने इस अध्याय में किया, 'विगठन' के वैयक्तिक परिणामों का वर्णन हम अगले दो अध्यायों में करेंगे।

प्रश्न

१. आप 'सामाजिक-विगठन' से क्या समझते हैं? इसके कारणों की विवेचना कीजिये। यह बतलाइये कि एक व्यक्ति इसके लिये कहाँ तक उत्तरदायी है? (१९५३)

२. 'सामाजिक-विगठन' की एक प्रक्रिया के रूप में विवेचना कीजिये। 'सामाजिक-विगठन' का परिवार पर क्या प्रभाव पड़ता है? (राज०, १९५४)

३. 'सामाजिक-विगठन' का अर्थ समझाइये। किन कारणों से समाज में ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है? (राजस्थान, १९५६)

४. आधुनिक औद्योगिक परिस्थितियाँ किस प्रकार 'विगठन' उत्पन्न करती हैं? (१९५७)

५. 'सामाजिक-विगठन' की धारणा की व्याख्या कीजिये। अपने उत्तर में उदाहरण भारतीय समाज से दीजिये। (राजस्थान, १९५९)

६. 'सामाजिक-संगठन' और 'सामाजिक-विगठन' की परिभाषा कीजिये और दोनों प्रक्रियाओं को उदाहरणों की सहायता से स्पष्ट कीजिये। (१९६०)

७. अपने देश में वर्तमान में प्रचलित मुख्य तनावों तथा संघर्षों का निर्देश दीजिये तथा उनके कारणों का वर्णन कीजिये। (१९६२)

८. सामाजिक तथा वैयक्तिक विगठन में भेद दर्शाते हुए उनका अपराध से क्या संबंध है—इसे स्पष्ट कीजिये। (१९६२)

९. सामाजिक-विगठन की व्याख्या कीजिये तथा इसके कारणों पर प्रकाश डालिये। (१९६३)

१०. सामाजिक-विगठन से आप क्या समझते हैं? व्यवसायीकरण (उद्योगीकरण) तथा सामाजिक-विगठन में क्या सम्बन्ध है? अपना उत्तर भारतीय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२२

भारत में युवापराध
(CRIME IN INDIA)

१. बालापराध तथा युवापराध में भेद*

'अपराध' के लिए यह आवश्यक है कि जो अपराध करे उसे इस बात का ज्ञान हो कि वह अपराध कर रहा है। छोटे बच्चे को अपराध का ज्ञान नहीं होता, अतः उसके काम को अपराध नहीं कहा जा सकता। बच्चा पैसा देख कर उठा लेता है, परन्तु यह चोरी नहीं है। चोरी तो इसे तब कहा जाता है जब उठाने वाला भी जानता हो कि वह दूसरे की चीज़ उठा रहा है, या ऐसा काम कर रहा है जिसे समाज उचित नहीं समझता। इस दृष्टि से 'अपराध' उस आयु से शुरू होता है, जब से भले-बुरे, ठीक-ग़लत का ज्ञान होने लगता है। बालक जब अच्छे-बुरे को जानता हुआ बुरा काम करता है, तब इसे 'बालापराध' (Delinquency) कहते हैं, जब युवा अच्छे-बुरे को जानता हुआ बुरा काम करता है तब इसे 'युवापराध' (Crime) कहते हैं। ७ वर्ष से नीचे के बच्चे के विषय में तो कोई नहीं

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :—

1. **Discuss the causes of crime. What measures would you suggest for reforming criminals? Give Indian examples. (1952)**
2. **Explain how in a particular economic situation certain individuals take to crimes while others do not. Illustrate your answer with Indian examples. (1953)**
3. **State briefly the various theories of punishment and indicate the one which appears to you the most reasonable. (1954,1959)**
4. **Discuss the present transitional features in Indian urban social environment as causes of crime and vice. (1954)**
5. **Discuss the causes of crime. Suggest ways and means for the prevention of crime. (Rajasthan, 1954)**
6. **Clearly bring out the inter-relationship between crime, poverty and war. (Rajasthan, 1956, 1959)**
7. ***Discuss the nature and causes of crime and delinquency in India. What improvements you can suggest in the existing measures for their treatment? (Rajasthan, 1958)**
8. **Analyse the causes of increasing incidence of crime in India. (1963)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता कि उसने अपराध किया है; ७ से १८ वर्ष के बालक के विषय में समझा जाता है कि उसका अपना दोष इतना नहीं है, वंशानुगत-कारणों या बुरी परिस्थिति के कारण यह बिगड़ रहा है, उसका सुधार हो सकता है—इस आयु के अपराधों को 'बालापराध' या 'किशोरापराध' (Juvenile delinquency) कहते हैं; १८ वर्ष से ज्यादा आयु के व्यक्ति के विषय में समझा जाता है कि वंशानुगत-कारण या परिस्थिति जिस-किसी से भी वह बिगड़ा हो, अब वह अपनी ज़िम्मेदारी को समझने लगा है और समझते हुए भी नहीं सुधरता इसलिए उसका दोष ज्यादा है—इस आयु के अपराधों को 'अपराध' या 'युवापराध' (Crime) कहते हैं। बालक या किशोर जो अपराध करते हैं; युवा भी वही अपराध करते हैं, ज़रा कच्चे-पक्के का भेद है, वैसे आधार-भूत दृष्टि से देखा जाय, तो बालकों तथा युवाओं के अपराधों के रूप में विशेष भेद नहीं है।

२. 'अपराध' की परिभाषा

'अपराध' की परिभाषा भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न की है जिनमें से मुख्य-मुख्य परिभाषाएँ निम्न हैं :

[क] लैन्डिस और लैन्डिस की परिभाषा—"अपराध उस काम को कहते हैं जिसे राज्य ने समूह के कल्याण के लिए हानिकारक घोषित कर दिया है और जिसे करने पर राज्य दण्ड दे सकता है।"

[ख] इलियट और मैरिल की परिभाषा—"अपराध उस समाज-विरोधी व्यवहार को कहते हैं जिसे समूह ने त्याज्य तथा दण्डनीय घोषित कर दिया है।"

[ग] गिलिन और गिलिन की परिभाषा—"कानूनी दृष्टिकोण से देश के कानून के विरुद्ध व्यवहार को अपराध कहते हैं।"

३. कानून द्वारा निषिद्ध कार्य ही अपराध है

उक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि किसी काम को 'अपराध' कहने के लिए दो बातों का होना आवश्यक है :

(i) वह कार्य समाज-विरोधी हो,

(ii) राज्य ने उस समाज-विरोधी कार्य को दण्डनीय घोषित किया हो।

यह ठीक है कि समाज-विरोधी कार्य 'अपराध' कहलाता है, परन्तु उस कार्य के 'अपराध' घोषित किये जाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य ने उस

[क] "Crime is an act which the state has declared harmful to group-welfare and which the state has power to punish."
—*Landis and Landis.*

[ख] "Crime may be defined as an anti-social behaviour which the group rejects and to which it attaches penalties."
—*Elliot and Merril.*

[ग] "From legal point of view crime is an offence against the law of the land." —*Gillin and Gillin.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

समाज-विरोधी कार्य को दण्डनीय घोषित किया हो। अगर समाज-विरोधी कार्य को राज्य ने दण्डनीय घोषित नहीं किया तो वह अपराध नहीं माना जाता। उदाहरणार्थ, १९३७ से पहले जब तक कांग्रेस ने देश की बागडोर अपने हाथों में नहीं संभाली थी मद्यपान अपराध नहीं था यद्यपि वह समाज-विरोधी कार्य था। कांग्रेस ने मद्यपान-विरोधी कानून बनाये। तब से वह अपराध हो गया। तब भी जहाँ-जहाँ मद्यपान-विरोधी कानून लागू हुआ, वहाँ-वहाँ यह अपराध है, जहाँ-जहाँ यह कानून लागू नहीं हुआ, वहाँ-वहाँ यह अपराध नहीं है। इसी प्रकार १९२९ से पहले तक जब तक हरविलास शारदा वाला बाल-विवाह निषेधक कानून नहीं लगा था बाल-विवाह अपराध नहीं था, उस कानून के बनने के बाद यह अपराध बन गया।

इस सब का क्या अर्थ है? इस सब का यही अर्थ है कि अपराध तभी अपराध कहलाता है जब राज्य उसे समाज-विरोधी समझ कर कानून द्वारा निषिद्ध घोषित कर देता है। जब तक वह बात कानून द्वारा निषद्ध घोषित नहीं की जाती तब तक वह अपराध नहीं समझी जाती। कानून कब किसी बात को निषिद्ध घोषित करता है? कानून किसी बात को तब निषिद्ध करता है जब कानून बनाने वालों के सम्मुख यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वह समाज-विरोधी है। कभी-कभी कानून बनाने वाले जिस बात को आज समाज-विरोधी समझते हैं, उसे पहले कभी समाज-विरोधी नहीं समझते थे। उदाहरणार्थ, आज से १०–१५ वर्ष पूर्व अस्पृश्यता समाज-विरोधी बात नहीं समझी जाती थी, स्वाभाविक समझी जाती थी; सती-प्रथा, बाल-विवाह आदि समाज-विरोधी कृत्य नहीं समझे जाते थे, स्वाभाविक समझे जाते थे। क्या कारण है कि आज जिस बात को समाज स्वाभाविक तथा समाज के अनुकूल समझता है उसी को कालान्तर में अस्वाभाविक तथा समाज-विरोधी समझ कर उसके विरुद्ध कानून बना देता है? इसका कारण यह है कि हर-एक बात, हर-एक संस्था समाज की किसी आवश्यकता को पूरा करने के लिए प्रारंभ होती है। जबतक वह उस आवश्यकता को पूरा करती रहती है तब तक वह स्वाभाविक समझी जाती है। जब आवश्यकता समाप्त हो जाती है, तब भी अगर वह संस्था या रीति-रिवाज़ बनी रहती है तब वह समाज के लिए अनावश्यक हो जाती है, समाज-विरोधी हो जाती है, और तब कानून से उसे हटाने की ज़रूरत पड़ जाती है। इसके अतिरिक्त समाज के आदर्श भी समय-समय पर बदलते रहते हैं। सामाजिक-आदर्शों तथा सामाजिक-मूल्यों के बदल जाने से पहली बातों को हटाने के लिए कानून का सहारा लेना पड़ता है। रूस में किसी समय पूँजीवाद का बोलबाला था, समाजवादी दण्डनीय समझे जाते थे, आज वहाँ समाजवाद का बोलबाला है, पूँजीवादी दण्डनीय समझे जाते हैं। यह सब इसी लिए है क्योंकि वहाँ पहले के सामाजिक-मूल्य बदल गये, उनकी जगह नये सामाजिक-मूल्य आ गये। इस प्रकार समाज-विरोधी रीति-रिवाज़ों तथा नवीन सामाजिक-मूल्यों—इन दो कारणों से कानून किसी कार्य को निषिद्ध घोषित कर उसे 'अपराध' की कोटि में गिनने लगता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दृष्टि से समाज-विरोधी कार्य 'अपराध' (Crime) है। इसका आधार कानूनी-दृष्टिकोण है। धर्म-शास्त्र विरोधी कार्य को 'पाप' कहते हैं; नीति-शास्त्र विरोधी कार्य को 'दुराचार' या 'अनैतिकता' कहते हैं; समाज-विरोधी-कार्य को 'अपराध' कहते हैं। पाप का दंड लोग ईश्वर के आधीन समझते हैं; दुराचार तथा अनैतिकता का दण्ड मनुष्य की अन्तरात्मा देती रहती है, मनुष्य को इसमें आत्म-ग्लानि होती रहती है; अपराध का दण्ड राज्य देता है।

'अपराध' पर दार्शनिक-दृष्टि से विचार दो पहलुओं को सामने रखकर किया जा सकता है—(१) पहला पहलू तो यह है कि 'अपराध' किसे कहते हैं, (२) दूसरा पहलू यह है कि 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है? हम इन दोनों पहलुओं पर यहाँ संक्षिप्त विचार करेंगे :

४. अपराध किसे कहते हैं?

तो फिर 'अपराध' किसे कहते हैं? समाज में व्यक्ति भिन्न-भिन्न परिस्थिति में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया करता है। भूखा होने पर एक व्यक्ति रोटी माँगता है, दूसरा जब कोई देख न रहा हो, तो दूसरे के घर से रोटी उड़ा लाता है, तीसरा मेहनत-मज़दूरी करके रोटी कमा लाता है। व्यक्ति के सामने तीन 'विकल्प' थे—एक रोटी माँग लेना, दूसरा मौका मिलते ही रोटी उड़ा लेना, तीसरा मेहनत-मज़दूरी करना। इन तीनों विकल्पों में से रोटी उड़ा लेने के विकल्प को हम अपराध कहते हैं, रोटी माँग लेने या मज़दूरी करके रोटी पैदा करने को अपराध नहीं कहते। परन्तु क्यों? यह इसलिए क्योंकि प्रत्येक संस्कृति में कुछ ऐसे आचार, कुछ ऐसे व्यवहार होते हैं, जो समाज में सर्व-मान्य कहे जाते हैं—इन्हें सब जगह चलने के कारण 'सार्वत्रिक' कहते हैं। उदाहरणार्थ, दूसरे की वस्तु को बिना पूछे न लेना, ईमानदारी, सच बोलना आदि 'सार्वत्रिक'-आचार बन चुके हैं। एकपत्नी-विवाह अब धीरे-धीरे 'सार्वत्रिक'-आचार बनता जा रहा है। जितनी भी प्रथाएँ तथा रूढ़ियाँ हैं, वे जिस-जिस समाज में प्रचलित हैं, उस-उस समाज के लिए वे सब 'सार्वत्रिक'-आचार हैं। उस-उस समाज के लोग उन-उन आचारों को सर्व-मान्य समझते हैं, उनके प्रतिकूल नहीं जाते। जिस आचार पर समाज ने मुहर लगा दी, उसे अपनी सामाजिक-रचना का अंग बना लिया, वह 'सार्वत्रिक'-आचार बन गया। चोरी-डाका, लूट-खसोट को समाज ने स्वीकार नहीं किया, इसे 'सार्वत्रिक' बनने नहीं दिया, परन्तु कई लोग ऐसा होने पर भी झूठ, चोरी, डाका, काला-बाजार—इन सब को अपनाते हैं, रुपये के लिए व्यापार न करके जेब काटते हैं, अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए सच न बोलकर झूठ बोलते हैं, यौन-संबंध के लिए विवाह न करके व्यभिचार करते हैं, शिकायत को दूर करने के लिए अदालत में न जा कर लट्ठ चलाते हैं। समाज में सब जगह माना हुआ आचार तो सच बोलना, चोरी न करना, दूसरे की बहू-बेटी के साथ छेड़खानी न करना, सुलह-सफाई से काम लेना है—यही-कुछ तो

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। इस प्रकार के 'सार्वत्रिक'-आचार के विरुद्ध चलने को ही 'अपराध' कहा जाता है। बालकों तथा किशोरों का 'सार्वत्रिक'-आचार को तोड़ना 'दोष' कहलाता है, युवाओं का ऐसा करना 'अपराध' कहलाता है।

५. अपराध का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ?

हमने देखा कि 'अपराध' क्या है। परन्तु 'अपराध' का मनोवैज्ञानिक-आधार क्या है ? प्रत्येक व्यक्ति की आधार-भूत कुछ मानसिक-रचना होती है। प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की आँखों में उठना चाहता है, धनी होना चाहता है, स्त्री-पुत्र-कलत्र चाहता है। इन्हें भारतीय-शास्त्रों में 'एषणाएँ' (Urges) कहा गया है। दूसरे की आँखों में उठने की अभिलाषा 'लोकैषणा' (Power-urge), धनी होने की अभिलाषा 'वित्तैषणा' (Money-urge) तथा स्त्री-पुत्र-कलत्र की अभिलाषा 'पुत्रैषणा' (Sex-urge) कहलाती है, और सब में भिन्न-भिन्न पाई जाती है। हर-एक व्यक्ति समाज में अपनी ऐसी 'स्थिति' चाहता है जिसमें वह इन तीनों एषणाओं को पूरा कर सके। सब के सामने यही प्रश्न है कि किस 'स्थिति' (Status) में रह कर वह इन एषणाओं की तृप्ति का 'कार्य' (Role) पूरा कर सकता है ? यदि समाज की रचना ऐसी है जिसमें व्यक्ति की 'स्थिति' (Status) तथा 'कार्य' (Role) आपस में इस प्रकार बंधे हुए हैं, कि उनके द्वारा वह अपनी तीनों एषणाएँ पूरी कर सकता है, तब तो व्यक्ति 'अपराध' नहीं करता, परन्तु ऐसा होता कहाँ है ? समाज की रचना इस ढंग की है कि उसमें सैकड़ों, हजारों व्यक्ति जिस 'स्थिति' (Status) में हैं, उसमें अपनी एषणाओं की तृप्ति के 'कार्य' (Role) को पूरा नहीं कर सकते। अगर समाज का संगठन इस प्रकार का है, अगर उसकी रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, नियम, कायदे-कानून इस प्रकार के हैं कि सब की एषणाएँ पूरी हो सकें, तब तो इन नियमों को कोई नहीं तोड़ता; अगर ऐसा नहीं है, तब रूढ़ियाँ, प्रथाएँ, नियम, कायदे-कानून एक-के-बाद-एक टूटने लगते हैं और अपराध शुरू हो जाते हैं। लोग अपराध करते क्यों हैं ? वे अपराध इसलिए करते हैं क्योंकि समाज की रचना ऐसी नहीं है कि जिस 'स्थिति' (Status) में वे हैं, उस स्थिति में रहते हुए अपनी 'एषणाओं' (Urges) को पूरा कर सकें। एक आदमी निर्धन है, धनी होना चाहता है। समाज की रचना ऐसी है कि बिना मेहनत-मज़दूरी किये, या बिना व्यापार-धंधा किये कोई धनी नहीं हो सकता। इधर उसकी 'स्थिति' (Status) ऐसी है कि आलसी होने के कारण न वह मज़दूरी करना चाहता है, और पूँजी न होने के कारण न वह व्यापार कर सकता है। परिणाम यह होता है कि वह रूढ़ि, प्रथा, कायदे-कानून तोड़ कर चोरी करने लगता है। एक लड़के-लड़की का प्रेम हो गया। लड़का ऊँचे खानदान का है, लड़की नीचे खानदान की है। माता-पिता विवाह की स्वीकृति नहीं देते। लड़के-लड़की की अपनी-अपनी 'स्थिति' (Status) ऐसी है कि वर्तमान सामाजिक-रचना में उनका विवाह नहीं हो सकता। परिणाम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह होता है कि लड़का लड़की को भगा ले जाता है। कहने का मतलब यह है कि 'अपराध' तब होता है जब समाज की रचना इस प्रकार की हो कि व्यक्ति जिस 'स्थिति' (Status) में है, उसमें रहता हुआ, वह अपनी 'एषणाओं' (Urges) की पूर्ति न कर सके। ऐसी अवस्था में समाज-विरोधी उपायों द्वारा व्यक्ति अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है, 'अपराध' करता है। जो लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए उन उपायों का सहारा लेते हैं जिनको समाज ने स्वीकार नहीं किया हुआ, उनका रास्ता 'अपराध' का रास्ता कहलाता है। यह 'अपराध' का मनो-वैज्ञानिक-आधार है।

६. अपराध के सात 'वाद'

परन्तु प्रश्न यह है कि क्योंकि कुछ व्यक्तियों की ऐसी मानसिक-रचना हो जाती है कि जहाँ दूसरे लोग अपनी एषणाओं को 'अपराध' किये बग़ैर पूरा कर लेते हैं, वहाँ ये, समाज की रचना को ऐसा पाते हैं कि 'अपराध' किये बग़ैर इनकी एषणाओं की पूर्ति ही नहीं हो पाती? दूसरे शब्दों में, किन कारणों से मनुष्य की मानसिक-रचना ऐसी हो जाती है कि वह 'अपराध' करने लगता है? इस संबंध में सात वाद हैं जिन्हें निम्न प्रकार विभक्त किया जा सकता है :—

(क) धर्म-हीनता वाद (Theological school),
(ख) सुख-प्राप्ति वाद (Hedonistic or Classical school),
(ग) भौगोलिक-पर्यावरण वाद (Geographical or Ecological school),
(घ) प्रकृति-भेद वाद (Typological school),
(ङ) समाजवादी अथवा आर्थिक वाद (Socialist school or Economic Determinism),
(च) समाज-शास्त्रीय वाद (Sociological school),
(छ) बहु-कारणता वाद (Multiple-cause school)।

(क) धर्महीनता वाद (Theological school)—युरोप में मध्य-युग में यह समझा जाता था कि शैतान के वस में आ कर लोग अपराध करते हैं। अपराध क्या, रोग भी शैतान के शरीर में घुस आने से होता है—यह समझा जाता था। अपने देश में देवी-देवता का शरीर में आ जाना, और फिर व्यक्ति से तरह-तरह के काम कराना—इस बात को आज तक कई लोग मानते हैं। इतना तो प्रायः सभी मानते हैं कि ईश्वर की सत्ता से इन्कार करना अपराध का सब से बड़ा कारण है। दैवी-प्रकोप या धर्महीनता को अपराध का कारण मानने वाले अपराध का दण्ड भी ईश्वर के आधीन छोड़ते हैं और समझते हैं कि वही कर्मों के चक्र को चला कर अपराधों का दण्ड देता रहता है।

इतिहास यह बतलाता है कि धर्म-हीनता का तथा अपराध का कोई संबंध नहीं है। अगर धर्म-हीनता के कारण अपराध होते हैं, तो यह स्पष्ट है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जितनी धर्म-हीनता बढ़ेगी उतने अपराध बढ़ेंगे, जितनी धार्मिक-भावना बढ़ेगी, उतने अपराध कम होंगे, परंतु ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा देखने में नहीं आता। मध्य-युग में युरोप में ईसाइयत का बहुत अधिक प्रचार था, परन्तु इसके साथ ही अपराधों की संख्या भी बहुत अधिक थी; बाद की सदी में अधार्मिकता बढ़ गई, परन्तु साथ ही अपराध भी घट गए। **फैरी** ने लिखा है कि उसने ७०० हत्यारों की जाँच की जिनमें से सिर्फ़ एक नास्तिक था; **हार्सिले** पादरी लिखता है कि उसने २८,३५१ अपराधियों की जाँच की जिनमें से सिर्फ ५७ नास्तिक थे; **जोली** लिखता है कि पैरिस में ३० साल में फाँसी पर चढ़ाए जाने वाले कैदियों में से सिर्फ एक नास्तिक था। असल बात यह है कि धार्मिकता नैतिकता में कारण तो हो सकती है, परन्तु नैतिकता धार्मिकता के बिना भी रह सकती है। नैतिक व्यक्ति ईश्वर को न भी मानता हो, अपराध इसलिए नहीं करता क्योंकि वह उसे समाज-विरोधी कार्य समझता है; धार्मिक-व्यक्ति अपराध इसलिए कर बैठता है क्योंकि पाप करते समय ईश्वर तो उसे दीखता नहीं, परन्तु यह वह सोच लेता कि पाप कर चुकने के बाद वह ईश्वर से माफ़ी माँग सकता है।

(ख) **सुख-प्राप्ति वाद** (Hedonistic school)—मनुष्य जो-कुछ करता है सुख प्राप्त करने और दुःख से हटने के लिए करता है। इस वाद को पाश्चात्य-दर्शन में 'सुख-प्राप्ति-वाद' (Hedonism) कहा जाता है। सुख-दुःख के इस मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त को १७७५ में **बैन्थम** (Bentham) ने अपराध-शास्त्र पर घटाने का प्रयत्न किया। उसका कहना था कि अपराध करने से कितना सुख होगा और अपराध के दण्ड-स्वरूप कितना दुःख होगा—इन दोनों बातों को तौलने के बाद जब उसे सुख का पलड़ा भारी दिखाई देता है, तब मनुष्य 'अपराध' करता है। इस वाद के अनुसार यह स्वाभाविक है कि दण्ड ऐसा दिया जाय, जो अपराध करने के कारण प्राप्त होने वाले सुख से कहीं अधिक हो। अगर दण्ड अपराध के प्रत्याशित सुख से अधिक नहीं होगा, तो व्यक्ति अपराध करता रहेगा।

परन्तु क्या हर व्यक्ति सुख प्राप्त करने की इच्छा से ही अपराध करता है? क्या ऐसे अपराध नहीं हैं जिन्हें करने की कई लोगों को आदत-सी पड़ जाती है? ऐसी हालत में यह 'वाद' कहाँ तक सही कहा जा सकता है?

(ग) **भौतिक-पर्यावरण वाद** (Ecological school)—अनुसंधान से मालूम हुआ है कि अपराध पर भौगोलिक अवस्थाओं, सर्दी-गर्मी, ऋतु तथा मौसम का बड़ा प्रभाव पड़ता है। १८३० में कुछ अपराध-शास्त्रियों ने यह विचार प्रकट किया कि मार-पीट के अपराध पहाड़ी इलाकों में सबसे ज्यादा, ऊबड़-खाबड़ इलाकों में उससे कम, और सम-स्थलों में सब से कम होते हैं। बलात्कार पहाड़ी इलाकों में और सम-स्थलों में ज्यादा होता है। गर्म मुल्कों में मार-पीट, और सर्द मुल्कों में चोरी-डकैती की ज्यादा घटनाएँ होती हैं। शीत ऋतु में सम्पत्ति तथा ग्रीष्म ऋतु में व्यक्ति-संबंधी अपराध ज्यादा देखे गए हैं। जनवरी, फरवरी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मार्च, अप्रैल में बच्चों की हत्या, जुलाई में आक्रमण तथा मनुष्य-हत्या, जनवरी तथा अक्तूबर में माता-पिता की हत्या, मई, जुलाई तथा अगस्त में बलात्कार, दिसम्बर में बलात्कारों का अत्यन्त कम हो जाना पाया जाता है। सर्द देशों तथा सर्दी की मौसम में मार-पीट इसलिए कम हो जाती है क्योंकि लोग सर्दी की वजह से ज्यादातर घरों में बन्द रहते हैं; गर्म मुल्कों तथा गर्मी की मौसम में मार-काट इसलिए बढ़ जाती है क्योंकि लोगों को एक-दूसरे के संपर्क में आने का अधिक अवसर मिलता है। सर्दी में चोरी आदि इसलिए बढ़ जाती हैं क्योंकि सर्दी के कारण अर्थोपार्जन के साधन कम हो जाते हैं। डेक्सटर (Dexter) ने देखा कि सर्दी के होने के साथ-साथ लड़ाई-झगड़े बढ़ने लगते हैं, ऋतु की भयानकता के साथ-साथ अपराध घट जाते हैं।

ये सब परिणाम अभी और देखने होंगे, परन्तु इन सब अपराधों का कारण यही प्रतीत होता है कि ऋतु का सीधा अपराध करने पर तो प्रभाव नहीं पड़ता, मनुष्य की मनोवृत्ति पर अवश्य प्रभाव पड़ता है, और उस प्रभाव के कारण पहले से अपराधी मनोवृत्ति का व्यक्ति अपराध कर सकता है, परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि इन ऋतुओं के कारण मनुष्य अपराध करता है।

(घ) प्रकृति-भेद वाद (Typological school)—१८७५ में इटली के लोम्ब्रोसो (Lombroso) ने अनेक अपराधियों के सिर, कान, नाक आदि की परीक्षा करके इस बात पर ज़ोर दिया कि अपराधी तो जन्म से अपराधी की बनावट, अपराधी का ढाँचा लेकर पैदा होते हैं, उनका टाइप ही अलग होता है, उनकी प्रकृति ही अपराध करने की होती है। लोम्ब्रोसो का कहना था कि चोरों के कपाल की लम्बाई-चौड़ाई सामान्य-व्यक्तियों से कम होती है, माथा छोटा होता है। भारत में भी ज्योतिषी लोग हाथ की रेखाएँ देख कर चोर, ठग, व्यभिचारी को पहचानने का दावा करते हैं। कई जेल-खानों के कैदियों की शारीरिक-परीक्षा से यह ज्ञात हुआ है कि अपनी आयु के अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा अपराधियों के शारीरिक-गठन में कुछ न्यूनाधिकता होती है। यौन-अपराधों के स्त्री-पुरुषों की परीक्षा से ज्ञात हुआ है कि उनकी शारीरिक-वृद्धि असाधारण तौर से बढ़ी हुई होती है, इसलिए वे दुराचार-बलात्कार आदि कर बैठते हैं। शरीर की ग्रन्थियों के संबंध में जो कुछ ज्ञान प्राप्त हुआ है उसके आधार पर भी कहा जा सकता है कि अनेक अपराध 'ग्रन्थि-रस' (Glandular secretion) के कम-अधिक होने के कारण होते हैं। थॉयरायड-ग्रन्थि के घट जाने से व्यक्ति मोटा, सुस्त हो जाता है, काम नहीं करता; एड्रिनल-ग्रन्थि के बढ़ जाने से मनुष्य लड़ाकू हो जाता है, स्त्री पुरुष-जैसी हो जाती है; जनन-ग्रन्थियों के बढ़ जाने से व्यक्ति विषयी हो जाता है। सुस्त आदमी चोरी कर सकता है, लड़ाकू आदमी कत्ल कर सकता है, विषयी व्यक्ति बलात्कार कर सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकृति के लोग भिन्न-भिन्न अपराध कर सकते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लोम्ब्रोसो के 'वाद' का तो बर्ट तथा पीयर्सन ने खंडन कर दिया, परन्तु 'प्रकृति-भेद-वाद' के अंतर्गत अन्य विचारकों ने अपने कुछ विचार रखे। इनमें एक विचार यह था कि मानसिक-विकास का अपराधों पर प्रभाव पड़ता है। अगर किसी व्यक्ति का मानसिक-विकास नहीं हुआ, तो वह तरह-तरह के अपराध कर बैठता है। मानसिक-विकास के अलावा एक विचार मनोविश्लेषण-वादियों (Psycho-analyst) का था जिसके अनुसार मानसिक-क्षोभ के कारण अनेक अपराध होते हैं। इसका विवेचन हम 'बालापराध' (Juvenile Delinquency) के प्रकरण में अगले अध्याय में करेंगे।

(ङ) **समाजवादी अथवा आर्थिक वाद** (Economic school)—इस विचार-धारा का अभिप्राय यह है कि समाज की हर बात का आधार आर्थिक होता है। परिणामस्वरूप, अपराध का आधार भी आर्थिक है। आर्थिक कारणों तथा अपराधों का पारस्परिक संबंध है। ग़रीबी और बेकारी में प्रायः अनेक व्यक्ति चोरी करते हैं। स्त्रियाँ वेश्या-वृत्ति करती हैं। इस वाद के अनुसार ग़रीबी, बेकारी तथा धन की अधिकता—ये ही अपराध के एकमात्र कारण हैं। इस वाद के मानने वाले अपराध के अन्य कारणों को नहीं मानते। इनका कहना है कि कल्पना करो एक व्यक्ति बेकार है, सुबह से शाम तक काम की तलाश में मारा-मारा फिरता है, जहाँ जाता है वहीं दरवाज़ा बन्द देखता है। वह भूखा, प्यासा, थकावट से चूर रात को घर लौटता है। घर में घुसते ही वह क्या देखता है कि उसके बीबी-बच्चे भी उसकी तरह ही भूख से बिल-बिला रहे हैं। घर में एक दाना नहीं है, उनके तन-बदन पर सर्दी से बचने के लिए वस्त्र भी नहीं हैं। ऐसा व्यक्ति क्या करेगा? क्या वह समाज के मूल्यों, उसकी प्रथाओं, रीति-रिवाज़ों, कायदे-कानूनों को देखता रहेगा, या जैसे भी हो सकेगा, चोरी से, डाके से, छीना-झपटी से कुछ-न-कुछ लाकर बाल-बच्चों का पेट भरेगा? वह 'अपराध' करने के लिए निकल पड़ेगा, एक बार 'अपराध' करने के बाद दूसरी बार पक्का अपराधी बन जायगा। अपने दुःखों को भुलाने के लिए वह शराब भी पीयेगा, नशा भी करेगा। अगर वह बूढ़ा है, जीवन के आर्थिक-संघर्ष को बर्दाश्त नहीं कर सकता तो वह आत्मघात भी कर लेगा। उसके लड़के जेब काटने को निकल पड़ेंगे, लड़कियाँ वेश्यालयों में जा बैठेंगी।

ग़रीबी तथा अपराध के पारस्परिक संबंध पर अनेक समाजशास्त्रियों ने अनुसंधान किये हैं। इटली के श्री **फोर्नासरी डिवर्सी** इटली में अपनी गवेषणाओं के आधार पर इस परिणाम पर पहुँचे कि वहाँ ८५ से ९० प्रतिशत अपराध निर्धन-वर्ग के लोग करते हैं। हालैंड के अपराधशास्त्री **बौंगर** का कहना है कि निर्धनता से मानसिक-संघर्ष, शराबखोरी बढ़ती है जिससे अपराध होते हैं। **साइरिल बर्ट** का कहना है कि उसके अध्ययन में १९ प्रतिशत अपराधी अत्यन्त निर्धन परिवार के थे, ३७ प्रतिशत अपराधी अत्यन्त तो नहीं, परन्तु निर्धन परिवार के ही थे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शा तथा इलियट का कहना है कि उनके अध्ययन के अनुसार निर्धन परिवारों के व्यक्ति ही अपराध करते पाये गये।*

यह सब-कुछ स्वाभाविक है। आज के युग में पैसा ही सब-कुछ हो गया है। पैसा न हो तो जीवन की यह गाड़ी चलती नहीं। इसके अलावा आज इच्छाएँ भी सब की बढ़-चढ़ गई हैं। ग़रीब भी सिनेमा देखना चाहता है, पैसा नहीं होता तो चोरी कर लेता है। इससे स्पष्ट है कि ग़रीबी तथा अपराध का अनुसंधान करने पर ही संबंध पाया जाता हो—यह बात नहीं, यह संबंध स्वाभाविक भी है।

परन्तु इस प्रकरण में यह समझ लेना आवश्यक है कि अनेक समाज-शास्त्री आर्थिकवाद को अधूरा 'वाद' मानते हैं। उनका कहना है कि भूखा होने पर कुछ लोग चोरी ज़रूर कर बैठते हैं, परन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो भूखे रह जाते हैं परन्तु चोरी नहीं करते। इसी प्रकार यह ठीक है कि कुछ औरतें ग़रीबी के कारण वेश्या बन जाती हैं परन्तु समाज में अधिकांश संख्या उन स्त्रियों की है जो ग़रीब रह जाती हैं परन्तु अपने सतीत्व पर आँच नहीं आने देतीं। इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि एक विशेष आर्थिक अवस्था में कुछ व्यक्ति अपराध करते हैं जब कि दूसरे नहीं करते। इतना ही नहीं, य ह भी देखा जाता है कि जिनके पास धन है वे चोरी करते हैं, जिन स्त्रियों के पास किसी बात की कमी नहीं वे व्यभिचार करती हैं। इसका क्या कारण है?†

(i) **वैयक्तिक-कारण (मानसिक रचना)**—अपराध का बड़ा भारी कारण मनोवैज्ञानिक है। कई व्यक्तियों की मानसिक रचना ही ऐसी होती है कि वे अपराध करते ही करते हैं। काम-वासना तीव्र होने पर व्यक्ति व्यभिचार में प्रवृत्त होगा, अमीर हो, ग़रीब हो—इसका उस पर कोई असर नहीं होगा। क्रोधी व्यक्ति बिना बात के भी लड़ पड़ेगा, एक पैसे के लिए दूसरे का सिर फोड़ देगा, शान्त व्यक्ति सैंकड़ों लुट जाने पर भी हाथ नहीं उठायेगा।

(ii) **सामाजिक-कारण (रीति-रिवाज)**—कभी-कभी किसी-किसी समाज में कुछ ऐसे चलन होते हैं जिन्हें हम अपराध कहते हैं परन्तु उस समाज के लोग उसे अपराध नहीं कहते। उदाहरणार्थ, नागा लोगों में किसी का सिर काट लाना साहस का, शाबासी का काम समझा जाता है, हमारे समाज में इस पर मृत्यु-दंड दिया जाता है। यही कारण है कि भारत में अनेक अपराधी जातियाँ हैं जिनका पेशा ही अपराध करना है, वे अमीरी-ग़रीबी के कारण अपराध नहीं करते, पेशे के कारण अपराध करते हैं।

---

* **Clearly bring out the inter-relationship between crime and poverty.** **(Rajasthan, 1956, 1959)**

† **Explain how in a particular economic situation certain individuals take to crime while others do not. Illustrate your answer with Indian examples.** **(1953)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(च) समाज-शास्त्रीय वाद (Sociological school)—इस वाद का प्रारंभ १९१५ से कहा जा सकता है। यह वाद प्रायः शिक्षा-शास्त्रियों के दृष्टि-कोण पर आधारित है। **ड्यूई, मीड, कूले** आदि का कथन है कि जैसे मनुष्य और बातों को समाज से सीखता है, वैसे अपराध को भी समाज से सीखता है। एक व्यक्ति जिसका ईश्वर में विश्वास है, जो शारीरिक-दृष्टि से बिल्कुल स्वस्थ है, जो पैसे से भी तंग नहीं है, बुरी संगति में पड़कर बुरा हो जाता है, अपराध करना सीख जाता है, दूसरा ईश्वर और धर्म में विश्वास न करता हुआ, शरीर से भी अपंग होता हुआ, निर्धन होता हुआ मौका मिलने पर भी अपराध नहीं करता। इसका कारण क्या है? इसका कारण यही है कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह समाज से बनता है, अच्छी सामाजिक-परिस्थिति में वह अच्छा बन जाता है, बुरी सामाजिक-परिस्थिति में बुरा बन जाता है। जिस मनुष्य के सामने प्रलोभन लगातार बना रहेगा, वह स्वभाव से अच्छा होता हुआ भी बिगड़ सकता है, जिसके सामने प्रलोभन नहीं आयेगा वह बिगड़ा हुआ भी अपराध नहीं करेगा। इस विषय को विस्तार से समझने के लिए हमारी पुस्तक **'समाज-शास्त्र के मूल-तत्व'** के—'पर्यावरण का क्या अर्थ है'—इस अध्याय का अध्ययन करना लाभप्रद है।

(छ) बहु-कारणतावाद (Multiple-cause school)—ऊपर हमने जो-कुछ लिखा उससे स्पष्ट है कि 'अपराध' का एक कारण नहीं, अनेक कारण हैं, प्रायः वे सभी हैं जिनका अभी तक उल्लेख किया गया। इसके अतिरिक्त स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक अपराध करते हैं, वृद्धों की अपेक्षा जवान अधिक अपराध करते हैं, ग्रामीणों की अपेक्षा शहरी लोग अधिक अपराध करते हैं। समाज के उच्चतर व्यक्तियों की अपेक्षा निम्न सामाजिक तथा आर्थिक स्तर के लोग अधिक अपराध करते हैं, और इन सब अपराधों के एक नहीं, अनेक कारण होते हैं।

७. अपराध के कारण*

हमने अपराध के विषय में सात 'वादों' का अध्ययन किया। इन वादों के अध्ययन में अपराध के कारणों का अपने-आप उल्लेख हो जाता है। फिर भी विषय को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहाँ अलग से अपराधों के कारणों का उल्लेख कर रहे हैं। उक्त 'वादों' में किसी ने धार्मिक, किसी ने भौतिक, किसी ने आर्थिक, और किसी ने किसी और कारण को अपराध का एकमात्र कारण सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। असल में अपराध के अनेक कारण हैं, जिनमें से मुख्य निम्न हैं :—

(क) शारीरिक-कारण (Physical Causes)—शारीरिक-दृष्टि से स्वस्थ व्यक्ति अपराध कम करता है, अंग-हीन व्यक्तियों में अपराध अधिक पाया

---

* **Discuss the causes of crime.** **(1952, Rajasthan, 1958)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाता है। संस्कृत की कहावत है 'क्वचित् काणो भवेत् साधुः'—काणा व्यक्ति बड़ा टेढ़ा होता है। हिन्दी की कहावत है—'सौ में सूर लाख में काना, सवा लाख में ऐंचा-ताना, ऐंचा-ताना करे पुकार, काने से रहियो होशियार।' जो व्यक्ति शारीरिक-दृष्टि से हीन होता है वह अपनी हीनता को पूरा करने के लिए अपराध के मार्ग पर चल पड़ता है।

शारीरिक-दृष्टि पर विचार करते हुए लड़के-लड़कियों में भी अपराध के क्षेत्र में अपना-अपना रास्ता है। लड़के ज्यादातर घर से बाहर रहते हैं, सड़कों पर आवारा फिरते हैं, आसानी से कुसंग में पड़ जाते हैं, इसलिए लड़कियों की अपेक्षा अधिक अपराध करते हैं। सम्पत्ति-संबंधी चोरी, डाका आदि अपराध तथा मार-पीट और हत्या आदि अपराध स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक करते हैं। यह भेद अधिकतर शारीरिक-भेद के कारण है।

(ख) मानसिक-कारण (Mental Causes)—मानसिक-दुर्बलता, मृगी तथा पागलपन भी अपराध के कारण होते हैं। **गोरिंग** ने ९४८ जेल-खाने में भर्ती हुए अपराधियों की बुद्धि-परीक्षा ली। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि अनाज के ढेर में आग लगाने वाले अपराधियों में ५२.९ प्रतिशत मानसिक-दृष्टि से दुर्बल थे, मन्द-बुद्धि थे। **गिलिन** का कथन है कि जेलखानों में जो अपराधी पाये जाते हैं, उनमें से १२ प्रतिशत तो किसी-न-किसी मानसिक-दोष से ग्रस्त होते हैं। **हीली** ने शिकागो में दुबारा अपराध करने वाले एक हज़ार अपराधियों की जाँच-पड़ताल की। वह इस परिणाम पर पहुँचा कि उनमें ७ प्रतिशत मृगी रोग से पीड़ित थे। पागल अनेक अपराध करते हैं—यह तो सब कोई जानता है।

(ग) उद्वेगीय कारण (Emotional Causes)—मनोविश्लेषण-वादियों का कहना है कि जब मनुष्य का कोई उद्वेग पूर्ण नहीं होता तो उसके भीतर तनाव उत्पन्न हो जाता है। उस तनाव को दूर करने के लिए वह अपराध करता है। एक लड़का किसी लड़की से प्रेम करता है, वह पूर्ण नहीं होता। वह लड़की को भगा ले जाता है, कभी-कभी उसकी हत्या कर डालता है। एक व्यक्ति दूसरे को सांसारिक ऐश्वर्य-उपभोग करते हुए देखता है, पर उसे खाने को भी नहीं मिलता। यह सब देखकर उसके भीतर ईर्ष्या पैदा हो जाती है। इस तनाव को दूर करने के लिए वह चोरी करता है। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि उद्वेग मनुष्य के भीतर भिन्न-भिन्न प्रकार के तनाव उत्पन्न करते हैं और इन्हीं के कारण अनेक अपराध होते हैं। गीता में ठीक कहा है—'संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभि-जायते। क्रोधाद् भवति संमोहः संमोहात् स्मृति-विभ्रमः॥ स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धि-नाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥'

(घ) आनुवंशिक कारण (Hereditary Causes)—लोम्ब्रोसो आदि अनेक अपराध-शास्त्रियों का विचार है कि अपराध वंश-परंपरा से आता है। समाज-शास्त्री इस बात को नहीं मानते। उनका कहना है कि अपराध तो वंश-परंपरा से नहीं आता, परन्तु शारीरिक-मानसिक-उद्वेगात्मक दुर्बलता वंश-परंपरा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से आती है, आनुवंशिक होती है। इन दुर्बलताओं से जैसा हम अभी लिख आये हैं, व्यक्ति अपराध कर बैठता है।

(ङ) **सामाजिक कारण** (Social Causes)—सामाजिक-कारणों में परिवार, रीति-रिवाज़, बेकारी तथा ग़रीबी, मद्यपान, सिनेमा आदि आ जाते हैं।

(i) **परिवार**—जब बच्चे को परिवार में उचित वातावरण नहीं मिलता, तब वह अपराधी मनोवृत्ति का हो जाता है। जो माँ-बाप, आपस में झगड़ते हैं, शराब पीते हैं, दुराचार-व्यभिचार करते हैं, जेल भुगतते हैं, बच्चों से भीख मंगवाते हैं, उनके बच्चों का अपराधी बन जाना स्वाभाविक है।

(ii) **रीति-रिवाज**—हमारे समाज में कई ऐसे रीति-रिवाज़ हैं, जो व्यक्ति को अपराधी बनाने में सहायक हो जाते हैं। विधवाओं को विवाह न करने देने से व्यभिचार तथा अवैध-संतान का हो जाना, दहेज़ की कुरीति से कन्याओं का आत्म-हत्या कर लेना इस बात के दृष्टान्त हैं।

(iii) **बेकारी तथा ग़रीबी**—बेकारी ग़रीबी को पैदा करती है और ग़रीबी के कारण व्यक्ति चोरी आदि के अपराध कर बैठता है। समाज-शास्त्रियों ने अंकों के सहारे यह परिणाम निकाला है कि जब-जब अनाज का भाव बढ़ता है, तब-तब चोरियों की संख्या बढ़ जाती है, जब-जब अनाज का भाव गिरता है, तब-तब इनकी संख्या भी गिर जाती है। भारत में **डा० हैकरवाल** ने १९१७–१९२७ के बीच अनाज के भावों तथा अपाराधों की संख्या का पता लगा कर यह परिणाम निकाला है कि इन दोनों में अटूट संबंध है। भाव चढ़े तो अपराध बढ़े, भाव गिरे तो अपराध भी कम हो गये।

(iv) **मद्यपान**—मद्यपान तथा अपराध का भी संबंध है। मद्य के नशे में मनुष्य विवेक को खो देता है और कहीं मोटर की टक्कर कर बैठता है, कहीं यौन-अपराध करता है, कहीं दूसरे पर हमला कर देता है, युद्ध में सिपाहियों को शराब इसीलिए पिलाई जाती है, जिससे कि वे मरने-मारने में किसी प्रकार की हिचक न करें।

(v) **सिनेमा**—आजकल के सिनेमा अपराध करने के नये-नये तरीके दिखलाते हैं, और इन्हें देख कर अपरिपक्व-आयु के बालक उन अपराधों का अनुकरण करने लगते हैं।

(च) **आर्थिक-कारण** (Economic Causes)—कई अपराध-शास्त्रियों का कथन है कि आर्थिक-कारण से पुरुष चोरी करने तथा स्त्रियाँ अनैतिक जीवन बिताने लगती हैं। वेश्यावृत्ति का मुख्य कारण आर्थिक है। कई समाज-शास्त्री इस बात को स्वीकार नहीं करते। उनका कहना है कि भूखा होने पर चोरी करने और निर्धन होने पर व्यभिचार करने वाले पुरुष-स्त्रियों की संख्या बहुत कम होती है। ऐसे बहुत हैं जो भूखे रह जाते हैं, परन्तु चोरी नहीं करते। ऐसी स्त्रियाँ बहुत हैं जो निर्धन रहेंगी परन्तु व्यभिचार नहीं करेंगी। असल में, पारिवारिक-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

परिस्थिति, शिक्षा तथा वातावरण ही अगर ठीक न हो, तो आर्थिक कारणों के उपस्थित होने पर व्यक्ति अपराध करता है, अगर ये ठीक हों तो आर्थिक तंगी होने पर भी वह अपराध नहीं करता।

(छ) **भौगोलिक कारण** (Geographical Causes)—अपराध पर भौगोलिक-परिस्थिति, जलवायु, ऋतु आदि का बहुत प्रभाव है। लोम्ब्रोसो का कथन था कि मार-पीट के अपराध पहाड़ों में सबसे अधिक, समतल भू-भागों में सब से कम होते हैं। बलात्कार पहाड़ों की अपेक्षा समतल भू-भागों में अधिक होता है। कई अपराध-शास्त्रियों का कथन है कि गर्मियों में अपराध अधिक होते हैं, सर्दियों में कम। समाज-शास्त्रियों का कहना है कि अपराध के इन भौगोलिक-कारणों से यह सिद्ध नहीं होता कि भौगोलिक-परिस्थिति अपराध का कारण है। होता क्या है? होता यह है कि सर्दियों में लोग घरों में बन्दी रहते हैं, इसलिए उन्हें अपराध करने का मौका कम मिलता है। गर्मियों में बाहर फिरते हैं, इसलिए उन्हें अपराध करने के अधिक अवसर मिल जाते हैं। इस दृष्टि से भौगोलिक-कारण अपराध करने का प्रत्यक्ष कारण (Direct Cause) न होकर 'अप्रत्यक्ष-कारण' (Indirect Cause) है।

(ज) **युद्ध** (War as a cause of crime)*—जैसे निर्धनता तथा अपराध का पारस्परिक-संबंध है वैसे युद्ध तथा अपराध का भी पारस्परिक-संबंध है। इसके कारण निम्न हैं :

(i) **युवाओं का मर जाना**—युद्ध में स्त्रियों, बूढ़ों, बच्चों को तो भेजा नहीं जाता, युवाओं को भेजा जाता है। वे युद्ध की बलि-वेदी पर चढ़ जाते हैं। इसके परिणाम दो होते हैं—एक तो देश में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से बढ़ जाती है, दूसरे जो विवाहिता स्त्रियाँ थीं, वे विधवा हो जाती हैं। स्त्रियों की संख्या बढ़ जाने से व्यभिचार बढ़ने लगता है; विधवाओं की संख्या बढ़ जाने से परिवार का अंग-भंग हो जाता है।

(ii) **परिवारों का अंग-भंग**—युद्ध के कारण जब परिवार टूट जाते हैं तब परिवार के लड़के-लड़कियों की देख-रेख नहीं हो पाती, ये बच्चे आवारा हो जाते हैं और अपराध करने लगते हैं।

परिवारों के अंग-भंग के कई रूप हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, स्त्रियाँ आजीविका के लिए कल-कारखानों में जाने लगती हैं। न जायँ तो पेट कैसे पले? इससे बच्चों पर से नियन्त्रण उठ जाता है। वे अनुशासनहीन हो जाते हैं। स्त्रियाँ भी जब कल-कारखानों में जाती हैं वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार के लोगों के संपर्क में आकर सुनिश्चित मार्ग को प्रायः छोड़ बैठती हैं। कभी-कभी उन्हें अपना शहर छोड़कर आजीविका के लिए दूसरी जगह जाना पड़ता है। इन सब बातों से परिवार का जीवन नष्टप्राय हो जाता है, स्त्रियाँ, लड़के, लड़कियाँ—सब मानो

* **Clearly bring out the relationship between crime and war. (Rajasthan, 1956, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपनी जड़ से उखड़ जाते हैं और परिणामस्वरूप अपराधी मनोवृत्ति के शिकार हो जाते हैं।

(iii) **मुनाफ़ाख़ोरी तथा काला बाज़ारी**—युद्ध के समय हर वस्तु महँगी हो जाती है, व्यापारी मुनाफ़ाख़ोरी करने लगते हैं। इसे रोकने के लिए सरकार हर वस्तु पर नियंत्रण करने लगती है, नियन्त्रण सफल नहीं हो पाता, काला बाज़ार चल पड़ता है।

(ग) **बदलता हुआ सामाजिक पर्यावरण** (Transitional social environment)*—अपराध का एक बड़ा भारी कारण हमारे गाँवों तथा शहरों का बड़ी तेज़ी से बदल रहा पर्यावरण भी है। पर्यावरण में जो परिवर्तन अपराध की मनोवृत्ति को बढ़ा रहे हैं वे निम्न हैं:

(i) **उत्तेजक वातावरण**—आज का शहरों का वातावरण बड़ी तेज़ी से बदल रहा है। हर-एक शहर में सिनेमाओं की भरमार होती जा रही है। सिनेमा के अश्लील इश्तहार ऐसे स्थानों पर प्रदर्शित किये जाते हैं जहाँ हर किसी की नज़र पड़ सके। सिनेमा हाल के भीतर तो प्रेम की कहानियाँ और प्रेम के गीतों के सिवाय कुछ नहीं होता। सिनेमा के अलावा फ़ैशनपरस्ती भी बढ़ती जा रही है। लड़के लड़कियों और लड़कियाँ लड़कों-सी बनती जा रही हैं। ऐसे फ़ैशन बढ़ते जा रहे हैं जिनसे शरीर का नग्न प्रदर्शन हो। फ़ैशन का आधार सैक्स का आकर्षण होता जा रहा है। यह बदलता हुआ उत्तेजक वातावरण अपराधी मनोवृत्ति को उभारता है।

(ii) **सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन**—कोई समय था जब सचाई, ईमानदारी, समाज-सेवा आदि मानव की प्रतिष्ठा के आधार माने जाते थे, आज इनका नाम रह गया है, रुपया-पैसा सब-कुछ हो गया है। पढ़े दर्जे का बेईमान हो परन्तु पैसे वाला हो तो वह समाज में पूजा जाता है, व्यभिचारी-दुराचारी होने पर भी कोठीवाला और मोटरवाला होने से मनुष्य आदर पा लेता है। ये बदलते हुए सामाजिक मूल्य भी अपराधी मनोवृत्ति को उभारते हैं।

(iii) **पड़ौसीपन का अभाव**—गाँव में सब एक-दूसरे को जानते-पहचानते हैं, इसलिए किसी प्रकार की बुराई करते हुए पड़ौसी से शर्माते हैं, परन्तु शहरों में साथ-साथ मकान होते हुए भी लोग एक-दूसरे को पहचानते नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि सामाजिक नियन्त्रण उन पर से उठ जाता है, उन्हें किसी की शर्म नहीं होती। अनेक अपराध एक-दूसरे की शर्म के कारण रुके रहते हैं, जब हम पड़ौस के व्यक्ति को पहचानते तक नहीं तब किसे किसकी शर्म। पड़ौसीपन की बदलती हुई भावना भी अपराधी मनोवृत्ति को उभारती है।

(iv) **प्रलोभनों की बहुलता**—उत्तेजक वातावरण के अतिरिक्त शहरों में प्रलोभनों की भी बहुलता रहती है। जूए के अड्डे, व्यभिचार के चकले यद्यपि कानून

---

* **Discuss the present transitional features in Indian urban social environments as causes of crime and vice.** (1954)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

द्वारा निषिद्ध हैं तो भी इनका अस्तित्व शहरों में बना रहता है और चुपके-चुपके ये सब काम होते रहते हैं। शहर में आनेवाला नवयुवक इन प्रलोभनों में आसानी से फँस जाता है और अपराध कर बैठता है।

८. अपराध के लिए दण्ड-विधान के वाद*

अपराध को रोकने के लिए आदि-काल से दण्ड का विधान है, परन्तु प्रश्न यह है कि दण्ड का उद्देश्य क्या होना चाहिए। दण्ड के उद्देश्य को सामने रखते हुए ही यह निर्णय किया जा सकता है कि किस प्रकार का दण्ड दिया जाय। इस संबंध में तीन 'वाद' हैं—'प्रतीकार-वाद' (Retributive theory), 'निरोध-वाद' (Deterrent theory) तथा 'सुधार-वाद' (Reformative theory)।

(क) **प्रतीकार-वाद**—इस 'वाद' का आधार यह नैतिक विचार है कि अच्छे काम का अच्छा और बुरे काम का बुरा फल मिलना चाहिए। अगर कोई शुभ कार्य करता है तो उसे इनाम और अशुभ कार्य करे तो उसे वैसी ही सज़ा मिलनी चाहिए। ऐसी सज़ा देते हुए यह भी ख्याल रखना चाहिए कि जिसका हर्जाना हुआ है वह पूरा किया जाय। आजकल भी हम देखते हैं कि जिसका नुकसान होता है वह दूसरे पक्ष के लिए सज़ा तथा दूसरे पक्ष से हर्जाना—दोनों की माँग करता है।

(ख) **निरोध-वाद**—इस 'वाद' का आधार यह है कि अपराधों के लिए इतना भय उत्पन्न कर दिया जाय कि आगे से समाज में वैसा अपराध न हो। सज़ा देते हुए ऐसी कड़ी सज़ा दी जाती है जिसे देख कर सब काँप उठें। प्राचीन-काल में चोरी के लिए हाथ काट देना, व्यभिचार के लिए गुप्तांग काट देना इसी उद्देश्य से होते थे। इस वाद का आधार भय है और इसलिए कड़ी-से-कड़ी सज़ा दी जाती है। आजकल भी कोड़े लगाना, मारना, पीटना—सब इसी उद्देश्य से किये जाते हैं कि अपराधी दुबारा अपराध न करे और उसे देखकर दूसरे भी रुकें।

(ग) **सुधार-वाद**—इस 'वाद' का आधार यह है कि अपराधी हमारी तरह ही मनुष्य है, समाज के वातावरण के कारण वह अपराधी बना है। जैसे वातावरण से वह अपराधी बना है, उससे भिन्न वातावरण उत्पन्न कर देने से वह अपराध को छोड़ भी सकता है। दण्ड का उद्देश्य अपराधी का सुधार होना चाहिए, न कि बदला लेना। इस उद्देश्य से मृत्यु-दण्ड, तनहाई, कोड़े लगाना आदि का दण्ड-व्यवस्था में कोई स्थान नहीं होना चाहिए। मृत्यु-दंड से तो अपराधी मर ही जाता है। उसके सुधार का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिए यह अनुचित है। अपराधी के साथ सहानुभूति से बरतना चाहिए। अगर आर्थिक कारण से अपराध हुआ है, तो कड़ी सज़ा देने से तो वह चोरी-डकैती को नहीं छोड़ेगा, वह इन

---

* **State the various theories of punishment and indicate the one which appears to you the most reasonable. (1954, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अपराधों को करेगा, परन्तु पकड़ में न आने के तरीके ढूँढेगा। उस के लिए तो उसकी आर्थिक समस्या को हल करना होगा और आर्थिक-समस्या को हल करने के लिए उसे किसी प्रकार के उद्योग-धंधे की शिक्षा देनी होगी। आजकल यही विचार-धारा प्रबल होती जा रही है। यह विचार २१ जनवरी १७९० में शुरू हुआ जब इंग्लैंड, अमरीका आदि देशों में अपराधी के सुधार का सिद्धान्त स्वीकार किया गया। आज हर देश में सुधारवाद की दृष्टि से जेलों का पुनः संगठन हो रहा है। कड़ी सज़ाएँ हटाई जा रही हैं, उनकी जगह कैदी को कष्ट देने के बजाय उसके साथ सहानुभूति का वर्ताव किया जा रहा है। मनोवैज्ञानिकों को कैदियों की देख-रेख के लिए रखा जा रहा है जिससे वे प्रत्येक कैदी के वैयक्तिक-सम्पर्क में आयें और देखें कि उसकी निज की क्या समस्या है, क्या कठिनाई है, वह क्यों अपराध करता है, और इस प्रकार उसे अपने जीवन की दिशा को बदलने में सहायता दें। अपने देश में अभी यह प्रक्रिया प्रारंभ हुई है, मुख्य तौर पर तो कैदियों के साथ बरतावे में भी भेद आया है। उनके रहने-सहने के तरीके बदल गये हैं, उनको आराम से रखा जाता है, उनके खेल-कूद के सामान बढ़ाये जा रहे हैं, उन्हें खाने-पहनने को अच्छा दिया जा रहा है। इससे लाभ है, परन्तु इससे हानि होने की भी संभावना है। यह हो सकता है कि कैदी को बाहर की अपेक्षा अच्छा खाना मिले, अच्छा पहनना मिले, खेलने-कूदने के सामान हों, बाहर उसे जो आराम नहीं मिलता अन्दर जेल में वह सब आराम मिले। इससे यह भी संभव है कि बेईमानी और चोरी करने पर एक कैदी को मक्खन-डबल रोटी मिले, और ईमानदारी से पसीना बहाकर पैसा पैदा करने वाले को सूखी रोटी भी न मिले। सुधारवाद के जोश में हम समाज के मूल्य को ही न पलट दें, बेईमान को जेल में अच्छा खाना और ईमानदार को समाज में सूखा खाना नसीब हो—ऐसी हालत न पैदा हो जाय, इस बात का ख्याल रखना होगा।

९. युवापराधों का इलाज*

बालकों तथा वयस्कों के अपराध के विषय में तो हम अगले अध्याय में लिखेंगे, यहाँ हम पूरी आयु के अपराधियों की चर्चा कर रहे हैं। उनके अपराधों को रोकने के लिए तीन उपायों का समाज में प्रयोग हो रहा है—(क) पुलिस, (ख) अदालत तथा (ग) जेलखाना। इन तीनों पर हम यहाँ संक्षेप में विचार करेंगे—

(क) **पुलिस**—अपराधी को पकड़ने का सबसे पहला काम पुलिस का है। पुलिस के लोग यों ही भर्ती नहीं किये जाने चाहियें, उन्हें अपराधी मनोवृत्ति को समझने की शिक्षा दी जानी चाहिए। कवायद कर लेना ही शिक्षा नहीं है।

---

* **What measures would you suggest for reforming criminals? Give Indian examples.** **-(1952, Rajasthan 1954)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आज जब कि अपराधी का सुधार हमारी दण्ड-व्यवस्था का आधार बनता जा रहा है, हमें अपराधी के साथ बिल्कुल निकट संपर्क में आने वाले पुलिस के व्यक्ति को शिक्षित करना होगा। काम करते-करते ये लोग जो थोड़ा-बहुत सीख जाते हैं वही उनकी शिक्षा नहीं समझी जानी चाहिए। जब तक समाज प्रारंभिक-अवस्था में था, ग्रामीण-परिस्थितियाँ शहरी परिस्थितियों के मुकाबले में अधिक थीं, तब तक किसी भी व्यक्ति को शान्ति-स्थापना का कार्य दिया जा सकता था। आज परिस्थितियाँ बदल गई हैं। पुलिस का काम उतना आसान न रहकर पेचीदा हो गया है। पुलिस का काम ज़िम्मेदारी का काम है। अभी तक यही मनोवृत्ति काम कर रही है कि बदमाशों के साथ बदमाशी से ही वर्ता जा सकता है। इस अवस्था को बदलने की ज़रूरत है। पुलिस वाले को साधारण शिक्षा के साथ-साथ कानूनी तथा कुछ अपराध-मनोविज्ञान की शिक्षा भी मिलनी चाहिए।

(ख) अदालत—अपराधी को पकड़कर अदालत के सामने पेश किया जाता है। कानून की इतनी बारीकियाँ हैं कि जो अच्छा तगड़ा वकील कर सकता है, वह भारी-से-भारी जुर्म करके भी छूट जाता है, कभी-कभी बेगुनाह आदमी अच्छा वकील न करने से मारा जाता है। १९५० में ३५,७९,८९५ जुर्मों की शिकायतें हुईं जिनमें से ३०,८२,०९४ सच्चे थे, किन्तु कानूनी पेचीदगियों के कारण २१,००,१८४ को ही अदालत सज़ा दे सकी, ९ लाख के लगभग को छोड़ना पड़ा। अगर हम उन व्यक्तियों के मनों में प्रवेश कर सकते, जो अपराध करके छूट जाते और बिना अपराध किये सज़ा पा जाते हैं, तो अमरीका के राष्ट्रपति टाफ्ट की उस उक्ति का हमें सत्य समझ आ जाता कि 'न्यायालयों में जिस प्रकार न्याय किया जाता है, वह अत्यन्त लज्जाजनक है।' अमरीका में न्यायालयों के साथ मनोवैज्ञानिकों का सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया जा रहा है। न्यायाधीश के सम्मुख जो भी व्यक्ति लाया जाय, उसका मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने से सचाई का पता अधिक लग सकता है।

*इसके अतिरिक्त न्यायालय को दण्ड देते हुए वर्तमान सुधार-वाद की दृष्टि से किन बातों का ध्यान रखना चाहिए—इस पर आजकल बहुत-कुछ विचार हो रहा है। वैसे यह विचार विधान-सभाओं का है, न्यायालयों का नहीं, परन्तु फिर भी न्यायालय विधान-सभाओं का ध्यान निम्न बातों की तरफ़ खींच सकते हैं—

(i) **प्राण-दंड**—आजकल की विचारधारा में यह असंगत प्रतीत होता है। हैनरी अष्टम के समय चोरों को सूली पर चढ़ा दिया जाता था, १६३४ में जालसाज़ी के अपराध में भी प्राण-दण्ड दे दिया जाता था, परन्तु सर सैम्युअल, रोमिल्ली, बैन्थम, लोम्ब्रोसो, बेक्केरिया आदि ने आन्दोलन किया कि प्राण-दण्ड

---

* What improvements you can suggest in the existing measures for their treatment? (Rajasthan, 1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

देने से तो सुधार को अवसर ही नहीं मिलता, इसलिए अब धीरे-धीरे सब देश इस दिशा की तरफ़ सोचने लगे हैं।

(ii) **कोड़े लगाना तथा यातनाएँ**—यह भी आजकल की दण्ड-व्यवस्था में चल रहा है। किसी समय तो अंग काट देते थे, कभी-कभी इस अंग-छेदन से अपराधी की मृत्यु हो जाती थी, आग से दाग़ देते थे, जलते-तेल में डाल देते थे। ये सब तो अब हट गये, परन्तु फिर भी जेल में तरह-तरह की यातनाएँ दी जाती हैं, तनहाई में रखा जाता है, कोड़े लगाये जाते हैं। इन यातनाओं का उद्देश्य सुधार नहीं, प्रतिशोध है। यह समझ लिया जाता है कि अपराधी का सुधार तो हो नहीं सकता, भय से उसे अपराध से रोका जा सकता है। १९१७ तक स्त्रियों को भी कोड़े लगाये जाते थे। १९१८ में इंग्लैंड में कोड़े लगाने की सज़ा को कानूनन निषिद्ध कर दिया गया। भारत में १९४४ में श्री काजमी ने विधान-सभा में इस आशय का एक बिल पेश किया था, परन्तु वह पास न हो सका। असल में, कोड़े लगाने आदि की सख्त सज़ा से अपराधी और ढीठ हो जाता है और सदा के लिए समाज को अपना शत्रु समझने लगता है।

(iii) **जुर्माना**—प्रायः अनेक अपराधों में जुर्माना किया जाता है। बहुत कुछ तो जुर्माना करने का कारण यह होता है कि इस प्रकार वसूल हुए रुपए से सरकार कैदियों का खर्च चलाती है, कुछ, जिसे नुकसान पहुँचाया गया है उसे हर्जाने के तौर पर भी दिया जाता है। जुर्माने से अपराधी का सुधार नहीं होता। छोटे-मोटे अपराधों के लिए जुर्माने में कोई हर्ज़ नहीं, परन्तु जहाँ तक हो सके, कोशिश यही होनी चाहिए कि जुर्माने के बिना काम चल सके। ग़रीब आदमियों को जुर्माना अदा करने के लिए काफ़ी समय देना चाहिए, अपराध के अनुपात में जुर्माना करना चाहिए, जुर्माना अदा करने वाले की सामर्थ्य को देखकर जुर्माने की मात्रा निर्धारित करनी चाहिए, सब को एक लाठी से हाँकना ठीक नहीं। हो सके तो किश्तों में अदायगी की सुविधा देनी चाहिए।

(iv) **तनहाई**—यह भी सज़ा का एक प्रकार है। कैदी को बिल्कुल इकला बन्द कर दिया जाता है। इस प्रकार उसे अकेले रखने में आधार-भूत बात यह है कि क्योंकि मनुष्य एक सामाजिक-प्राणी है इसलिए उसे समाज से काट देने पर वह दुःखी होता है। कहने वाले यह भी कहते हैं कि इकला रहने से वह आत्म-निरीक्षण कर सकता है, इसलिए इकला रहना उसके आत्मिक-सुधार का एक तरीका है। इनमें से पहली बात तो ठीक है, इकला रहकर इंसान दुःखी होता है, परन्तु यह बात ठीक नहीं कि इकला रहकर उसका सुधार होता है। दिमाग़ी काम करने वाला बेशक इकले में कुछ सोच-विचार करे, दूसरे इकले में और अधिक भड़कते हैं, और समाज से विद्रोह करने लगते हैं। जहाँ तक हो सके तनहाई की सज़ा नहीं देनी चाहिए। रूस में यह नहीं रही, अपराधी को अन्य व्यक्तियों से मिल-जुलकर आत्म-सुधार के लिए प्रेरित करना चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(v) **अनिश्चित-काल का दण्ड** (Indeterminate sentence)—यह कैदी के सुधार का बहुत अच्छा तरीका है। सज़ा की अवधि कहीं साल, कहीं दो साल—इस प्रकार थोड़ी या बहुत रखी जाती है। सज़ा देते हुए अदालत सज़ा का समय भी निर्धारित कर देती है। कई विचारकों का कहना है कि ऐसा करना ठीक नहीं। १७८१ में **जेम्स हैनवे** ने 'अनिश्चित-काल-दण्ड' (Indeterminate sentence) के विचार को जन्म दिया। अन्य विचारकों ने भी इस विचार की पुष्टि की। इसका अभिप्राय यह है कि कैदी की सज़ा का कोई काल निश्चित नहीं किया जाता, जितनी जल्दी व सुधर जाय उतनी जल्दी उसे रिहा कर दिया जाता है। स्पेन के **कर्नल मौन्टेसिनोज** ने १८३५ में कैदियों को फ़ौजी कम्पनियों की तरह टुकड़ियों में बाँट कर उनके कप्तान आदि निश्चित कर दिये, आत्म-नियंत्रण के सिद्धान्त के आधार पर उनका शासन चलाना प्रारंभ किया। उसका कहना था कि जब हर बात की ज़िम्मेदारी अपराधियों पर डाल दी जाती है, तब वे सुधार की दिशा में बहुत तेज़ी से उन्नति करते हैं। १८७६ में अमरीका में एलमीरा रिफ़ॉर्मेटरी बनाई गई जिसका उद्देश्य 'अनिश्चित-काल दण्ड' के आधार पर अपराधियों की देख-रेख करना था। इस कैद-खाने में ऐसे अपराधी रखे जाते थे जिन्होंने प्रथम बार अपराध किया होता था और जिनकी आयु १८ से ३० साल के अन्दर थी। इस प्रकार की रिफ़ॉर्मेटरी में मुख्य उद्देश्य अपराधी का सुधार है। जब भी वह सुधर जाता है तभी उसे रिफ़ॉर्मेटरी से छुट्टी दे दी जाती है। अमरीका में 'अनिश्चित-काल' के आधार पर दण्ड देने के अनेक जेलखाने खुले हैं। अधिक से अधिक समय तो अदालत निश्चित कर देती है, न्यून समय जेल के अधिकारियों पर छोड़ दिया जाता है। जो जितनी जल्दी सुधर जाते हैं उन्हें जेल के अधिकारी उतनी जल्दी बिना किसी से पूछे छोड़ देते हैं, हाँ, जो अधिक-से-अधिक निश्चित किये हुए काल में भी नहीं सुधर सकते उनके समय को बढ़ाने की कोई व्यवस्था नहीं है।

(vi) **प्रोबेशन या परिवीक्षा** (Probation)—इसकी आजकल दिनों-दिन अधिकाधिक आवश्यकता अनुभव की जा रही है। कोर्ट को यह अधिकार होना चाहिए कि वह अपराधी की मानसिक-अवस्था को सोच-समझकर अगर उसे जेलन भेजना चाहे, तो किसी 'सुधार-अधिकारी' (Probation officer) की देख-रेख में रख दे। ऐसी हालत में अपराधी को जेल भेजने की आवश्यकता नहीं रहती। उसे किसी 'सुधार-अधिकारी' की देख-रेख में रख दिया जाता है, स्वतंत्र जीवन व्यतीत करने का, अपने सुधार का उसे अवसर दिया जाता है, और अगर वह सुधर जाय, तो मुख पर जेल की कालिमा लगने से वह बच जाता है। कभी-कभी कुछ समय तक जेल में रहने के बाद भी अपराधी स्वयं या उसके अभिभावक इस बात की प्रार्थना कर सकते हैं कि उसे आत्म-सुधार का अवसर दिया जाय। ऐसी अवस्था में 'सुधार-अधिकारी' की संरक्षा में उसे छोड़ दिया जाता है। इस प्रकार कुछ देर जेल भुगतने के बाद प्रोबेशन पर छूटने को 'पैरोल' कहते

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हैं। इसी दृष्टि से १९३८ में उत्तर-प्रदेश में 'बन्दी की परिवीक्षार्थ रिहाई का कानून' (Prisoner's Release on Probation) पास किया गया। इसके अनुसार कोई अपराधी एक-तिहाई समय तक सज़ा भुगतने के बाद इस शर्त पर जेल से रिहाई माँग सकता है कि अब वह ठीक चाल-चलन रखेगा। अपराधी को अपना सुधार करने का इस कानून से अच्छा अवसर मिल जाता है। प्रोबेशन पर जैसे युवापराधियों को छोड़ा जा सकता है, वैसे वयस्क तथा बालापराधियों को भी प्रोबेशन पर छोड़ा जा सकता है। यह प्रणाली वर्तमान विचार-धारा से मेल खाती है। इसमें अपराधी से बदला लेने की भावना नहीं रहती, उसे एक प्रकार का रोगी समझ कर उसका इलाज करने का प्रयत्न किया जाता है। यह प्रणाली इंग्लैंड तथा अमरीका में ४०–५० वर्ष से चल रही है, भारत में अभी मद्रास, बम्बई तथा उत्तर प्रदेश में चालू है।

(vii) पैरोल (Parole)—अपराधी के सुधार का यह एक और तरीका है। प्रोबेशन में तो अपराधी को जेल नहीं भेजा जाता, किसी 'सुधार-अधिकारी' की देख-रेख में रख दिया जाता है। पैरोल में कुछ देर जेल भुगतने के बाद उसके या उसके अभिभावकों के आग्रह पर उसे छोड़ दिया जाता है। इस अवसर में वह 'पैरोल-अधिकारी' (Parole officer) की देख-रेख में रहता है। पैरोल पर छूटा हुआ अपराधी तभी ठीक से सुधर सकता है जब उस पर देख-रेख रखने वाला अधिकारी अपनी ज़िम्मेदारी को समझे और उससे सम्पर्क बनाये रखे। प्रायः देखा जाता है कि अधिकारी लोग अपनी ज़िम्मेदारी को ठीक-से नहीं निभाते और अपराधी वैसे-का-वैसा बना रहता है।

हमारे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि अदालत को सज़ा देते हुए अपराधी के सुधार का ध्यान अधिक रखना चाहिए, उसे दंड देने का इतना नहीं। बेकार के दंड देने से कुछ फ़ायदा नहीं। उदाहरणार्थ, १५ दिन या महीने की सज़ा देने से क्या लाभ है? ऐसी सजाएँ न देकर उनकी जगह अन्य उपायों को सोचना चाहिए। सज़ा ऐसी होनी चाहिए जिससे अपराधी का सुधार हो, उसकी आत्मा उन्नत हो, वह सज़ा भुगतकर समाज का शत्रु बनकर न निकले, समाज का मित्र बनकर निकले, यह अनुभव करके निकले कि जो कुछ उसने किया था अनुचित था और आगे से वह ऐसा काम नहीं करेगा। यह सारा दृष्टिकोण सामने रखना न्यायाधीश का कर्तव्य है।

(ग) जेलखाना—मनुष्य की सबसे प्रिय वस्तु स्वतंत्रता है, इसलिए अपराध करने के कारण उसको सबसे बड़ा दंड उसको जेल में बंद किये जाने का दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति समाज-विरोधी कार्य करता है, उसे समाज से हटा देना ही हितकर है। परंतु जेल का उद्देश्य यह नहीं है कि अपराधी इसमें रहकर इसी योग्य रह जाय, समाज में आकर भले-मानस की तरह रह ही न सके। इस समय हमारी जेलों की जो हालत है, उसमें व्यक्ति का सुधार नहीं हो पाता। जेल में से अपराधी समाज के कठोर अत्याचारों के प्रति

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और अधिक विद्रोह की भावना को लेकर निकलता है। इसी का परिणाम है कि कई अपराधी बार-बार बंदी-गृहों के अतिथि बनते हैं। अवस्था यहाँ तक पहुँच गई है कि अगर कोई एक बार जेल पहुँच गया, तो अगर वह कच्चा अपराधी था तो पक्का बनकर निकलता है, और इसी जीवन को बार-बार दोहराता है। हमें अपराधियों के दो भाग कर लेने होंगे। एक तो वे, जो अपने को सुधार ही नहीं सकते। समाज को उन्हें अन्य व्यक्तियों से सदा के लिए अलग रखने का निश्चय करना होगा। दूसरे वे, जो अपनी ग़लती समझ गये हैं, अपना सुधार करने के लिए तैयार हैं। उनके लिए अलग व्यवस्था करनी होगी। ऐसे अपराधियों को उन अपराधियों से अलग रखना होगा जो किसी हालत में भी सुधर नहीं सकते। इनको सुधरने की सब सुविधाएँ देनी होंगी, इनको समाज में फिर प्रतिष्ठित जीवन बिताने योग्य बनाना होगा, तभी समाज में से अपराध कम हो सकता है।

(घ) आदर्श-बन्दीगृह (Model Prisons)—इन सुधार के विचारों को लेकर जेलों में अनेक सुधार हुए। इस दिशा में उत्तर प्रदेश ने अन्य प्रांतों को मार्ग-प्रदर्शन का कार्य किया। १९४९ में लखनऊ में आदर्श बन्दी-गृह की स्थापना की गई। इस बन्दी-गृह में रेडियो भी रखा गया है और बन्दियों को नागरिक बनने की सुविधाएँ दी गई हैं। उन्हें शिक्षाप्रद फ़िल्में दिखाई जाती हैं। लखनऊ के इस आदर्श-बन्दीगृह के एक कैदी को बलरामपुर अस्पताल में भेजा गया। वह बिना किसी प्रतिबन्ध के डेढ़ महीने तक वहाँ रहा और इलाज हो चुकने पर अपने-आप बन्दी-गृह में वापिस चला आया। इस बन्दी-गृह के ऐसे कैदी जो पढ़ा-लिखा सकते हैं, उन्हें अन्य बन्दी-गृहों में शिक्षकों का काम करने के लिए भेजा जाता है। १९५२ में बनारस जिले की चकाई तहसील में चन्द्रप्रभा नदी के किनारे कैदियों का एक कैम्प खोला गया जो चारों तरफ़ से ऊँची-ऊँची दीवारों से घिरा हुआ नहीं था। इस कैम्प का नाम 'सम्पूर्णानन्द कैम्प' रखा गया क्योंकि श्री डॉ० सम्पूर्णानन्द जी की प्रेरणा से यह बन्दी-कैम्प खोला गया था। इस कैम्प में २००० के लगभग बन्दी थे। ये चन्द्रप्रभा नदी के बाँध पर काम करते थे। प्रान्त भर के कैदियों की छान-बीन कर ऐसे कैदी चुने गये थे जिन पर भरोसा किया जा सकता था। इन लोगों ने बड़ी मेहनत से काम किया। इन पर ज़िम्मेवारी डाल दी गई थी इसलिए खुले रहते हुए भी किसी ने भागने का प्रयत्न नहीं किया। इन कैदियों में से कुल दो भागे, बाकी सब दिल लगाकर काम करते रहे। इन्होंने इतना काम किया कि इनकी मज़दूरी १ लाख रुपया बनी। इनके लिए कैन्टीन खोली गई, अपनी आमदनी से ये कुछ रुपया घर भेज सकते थे, कुछ रुपया जमा कर सकते थे और कुछ बीड़ी-तेल में खर्च कर सकते थे। बिल्कुल इस तरह के तो नहीं, परन्तु इससे मिलते-जुलते परीक्षण बम्बई में हुए। वहाँ जेल में मनोवैज्ञानिक लोग रखे गये, मनोविज्ञान की प्रयोगशालाएँ भी रखी गईं। अगर जेलों के साथ मनोवैज्ञानिकों का संबंध जोड़ दिया जाय और अपराधियों के साथ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मनोविज्ञान के पंडितों का वैयक्तिक संबंध स्थापित कर दिया जाय, तो अपराधियों के सुधार में एक बहुत बड़ा कदम उठाया जा सकेगा।

१०. भारत में अपराध*

(क) **प्राचीन-काल**—इस देश का आचार संसार प्रसिद्ध था। छान्दोग्य उपनिषद् में राजा अश्वपति कैकेय का कथन आता है कि मेरे राज्य में चोर, शराबी, व्यभिचारी, मूर्ख—कोई नहीं। इतिहासकार स्ट्रैबो का इस देशवासियों के लिए कथन था कि यहाँ मकानों में ताले नहीं लगाये जाते थे और वचन देने के बाद लिखत-पढ़त की ज़रूरत नहीं समझी जाती थी। इसका यह मतलब नहीं है कि यहाँ अपराध होता ही नहीं था। निरुक्तकार यास्क ने अपराधों की गणना करते हुए लिखा है कि चोरी, परस्त्रीगमन, ब्राह्मण की हत्या, गर्भपात, मद्यपान, झूठ बोलना आदि अपराध माने जाते थे। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि अपराधों की संख्या बहुत कम थी।

(ख) **अर्वाचीन काल**—आधुनिक काल में अपराधों की संख्या बहुत बढ़ गई। उदाहरणार्थ, इंडिया १९५२–५३ के अनुसार अविभक्त भारत में १९४१ में अपराधों की शिकायतें २२ लाख के लगभग थीं, तो विभक्त भारत में १९५० में यह संख्या ३५ लाख के ऊपर चली गई। इसमें दंडित व्यक्तियों की संख्या १९४१ में १५ लाख थी, तो १९५० में यह संख्या २१ लाख तक चली गई। इससे स्पष्ट है कि अपने देश में अपराधों की संख्या बढ़ती पर है।

अपराधों का विवरण देखने से प्रकट होता है कि स्थानीय-निकायों अर्थात् म्यूनिसिपैलिटियों आदि के नियम भंग करने की संख्या सब से अधिक है, उसके बाद चोरी की संख्या है, उसके बाद चोट पहुँचाना, लड़ना-झगड़ना आता है, फिर सीमा का उल्लंघन अर्थात् किसी के मकान में घुसना आता है। ये सब अपराध एक ही प्रकार के हैं और इनमें से अधिक संख्या आर्थिक-अपराधों की पायी गई है।

ऊपर जो-कुछ कहा गया उससे यह स्पष्ट है कि भारत में अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है। इस प्रकार अपराधों की संख्या निरन्तर बढ़ने का कारण क्या है? कारणों का विवेचन हम इसी अध्याय में अन्यत्र कर आये हैं, इसलिए उन कारणों को यहाँ फिर से दोहराने की आवश्यकता नहीं है।

प्रश्न

१. अपराध के कारणों की विवेचना कीजिये। आप अपराधियों को सुधारने के लिए क्या उपाय सुझायेंगे? भारतीय उदाहरण दीजिये। (१९५१)

---

* Analyse the causes of increasing incidence of crime in India. (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२. इसका कारण समझाइये कि एक विशेष आर्थिक अवस्था में कुछ व्यक्ति अपराध करते हैं जबकि दूसरे नहीं करते। भारतीय उदाहरण दीजिये। (१९५३)

३. दण्ड के विभिन्न सिद्धान्त बतलाइये और यह संकेत कीजिये कि इनमें से कौन-सा आपको सबसे अधिक तर्कपूर्ण लगता है। (१९५४, १९५९)

४. वर्तमान समय में भारतीय नगरों में बदलते हुए सामाजिक पर्यावरण को अपराध और अवगुण के कारणों के रूप में विवेचना कीजिये। (१९५४)

५. अपराध के कारणों की विवेचना कीजिये। अपराध रोकने के तरीके व साधन बतलाइये। (राजस्थान, १९५४)

६. अपराध, निर्धनता और युद्ध के अन्तःसंबंधों को स्पष्ट कीजिये। (राजस्थान, १९५६)

७. भारत में अपराध की प्रकृति और कारणों का विवेचन कीजिये। उनके उपचार के लिए विद्यमान उपायों में सुधार के लिए आप क्या सुझाव दे सकते हैं? (राजस्थान, १९५८)

८. भारत में अपराध की घटनाओं की वृद्धि के कारणों का विश्लेषण कीजिये। (१९६३)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२३

भारत में किशोरापराध

(JUVENILE DELINQUENCY IN INDIA)

१. बालापराध या किशोरापराध की व्याख्या

हम पिछले अध्याय में लिख आये हैं कि ७ वर्ष से नीचे के बालक के विषय में तो कोई नहीं कहता कि उसने अपराध किया है, ७ से १८ वर्ष की आयु के बालकों या किशोरों के विषय में समझा जाता है कि उन्होंने अपराध किया है। १८ वर्ष से ऊपर की आयु के युवाओं के अपराधों के विषय में हम विस्तार से लिख आये हैं, ७ वर्ष से १६ या १८ या कहीं-कहीं २१ वर्ष की आयु के बालकों के अपराध बालापराध या किशोरापराध कहलाते हैं, और उन्हीं के विषय में इस

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :—

1. Discuss the causes of juvenile delinquency. How far have Borstal institutions helped in solving the problem? (1952)

2. What factors are mainly responsible for juvenile delinquency? What steps should be taken to reform juvenile offenders? (Rajasthan, 1955)

3. 'Poverty is the main cause of juvenile delinquency.' Discuss. (1956)

4. Discuss the measures that have been adopted in advanced countries for the reform of juvenile delinquents. (1957)

5. Discuss the role of home, the school and the correctional institutions in the rehabilitation of juvenile offenders. (1958)

6. What is the difference between criminal and delinquent? What plan would you suggest for the care of the delinquents? (1960)

7. What are the important factors which account for the increase in the rates of juvenile delinquency? (Rajasthan, 1960)

8. How far is probation helpful in the control of juvenile delinquency. (Rajasthan, 1961)

9. Distinguish between crime and delinquency and analyse the causes of increasing rate of delinquency in India. (1961)

10. Discuss the relation between poverty and juvenile delinquency. (Rajasthan, 1961)

11. Discuss the socio-economic background of juvenile delinquency in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अध्याय में चर्चा करनी है। ७ से १६ और कहीं-कहीं २१ वर्ष तक की आयु के व्यक्तियों द्वारा किये गये समाज-हित के विरुद्ध कार्यों को 'अपराध' (Crime) न कहकर 'बालापराध' या 'किशोरापराध' (Juvenile delinquency) कहा जाता है क्योंकि इस आयु के व्यक्ति युवा न होकर या तो बालक होते हैं, या ज़रा बड़ा होने पर किशोर कहे जाते हैं। समाज-हित के विरुद्ध कार्य करने वाले ७ वर्ष से अधिक तथा १६–१८–२१ वर्ष से कम आयु के बालक या किशोर जब यह जानते हैं कि उनका कार्य अनुचित है, तब वे बालापराधी या किशोरापराधी कहलाते हैं।

२. बालापराध या किशोरापराध का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

(क) रुकावट पाकर, 'ज्ञान', 'इच्छा', 'क्रिया' का सीधे नहीं परन्तु टेढ़े ढंग से अपने को पूरा करना अपराध का पहला रूप है—पशु तथा मनुष्य में कई 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) होती हैं, जो इस जन्म में नहीं सीखी जातीं, जो पैदा होते ही जन्म के साथ आती हैं। इन 'नैसर्गिक-शक्तियों' के कारण प्राणी में तीन बातें पाई जाती हैं। पहली बात तो यह है कि प्राणी तथा उसकी जाति की जीवन-रक्षा के लिए जो बातें आवश्यक हैं उनकी तरफ़ उसमें खुद-ब-खुद 'रुचि' (Interest) उत्पन्न होती है, उनकी तरफ़ उसका ध्यान खिचता है; दूसरी यह है कि उनकी तरफ़ ध्यान खिचने के बाद प्राणी में सुख या दुःख का 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग' (Emotion) उत्पन्न होता है; तीसरी यह है कि 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग' के उत्पन्न होते ही प्राणी के शरीर में 'क्रिया' (Action) उत्पन्न होती है जिसके कारण वह उस वस्तु को प्राप्त करने या उसे दूर करने का प्रयत्न करता है। प्राणी के प्रारम्भिक इतिहास से ही हमारी किन्हीं वस्तुओं को देख कर उनकी तरफ़ 'रुचि'; उसके अनुकूल या प्रतिकूल 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग'; और उस 'क्षोभ' या 'उद्वेग' की बेचैनी को दूर करने के लिए परिणाम-स्वरूप प्राणी का 'व्यवहार' या 'क्रिया'—ये तीन प्रक्रियाएँ पाई जाती हैं। ये तीनों 'ज्ञान' (Knowing), 'इच्छा' (Feeling) तथा 'कृति' (Willing) के ही रूपान्तर हैं। पशु ने तो 'संयम' सीखा नहीं होता, अतः शेर अगर 'भूखा' हो, तो शिकार देखकर 'बेचैन' हो जाता है, और यह बेचैनी तब तक दूर नहीं होती, जब तक वह उसपर 'लपक' कर उसे खाने नहीं लगता। हरिण भेड़िये को 'देख' कर 'डर' जाता है, और अपनी जान बचाने के लिये या तो 'भाग' खड़ा होता है, या भाग नहीं सकता तो सींगों से 'लड़ता' है। ये सब 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) ऊपर की तीनों प्रक्रियाओं—ज्ञान, इच्छा, कृति—में से स्पष्ट गुज़रती नज़र आती हैं। जीवन की रक्षा के लिए 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) का उक्त तीनों प्रक्रियाओं में से गुज़रना आवश्यक है, नहीं तो प्राणी इस जीवन-संग्राम में टिक नहीं सकता। जब तक मनुष्य जंगली अवस्था में था तब तक उसके जीवन की रक्षा के लिए 'रुचि', 'मानसिक-क्षोभ', 'क्रिया'—इसी प्रक्रिया की आवश्यकता थी, और वह इसी प्रक्रिया में से गुज़रता था, परन्तु ज्यों-ज्यों वह

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सभ्य होता गया, उसने इस प्रक्रिया पर काबू पाना शुरू किया, 'संयम' सीखना शुरू किया। भूखे आदमी के लिए भोजन देखते ही बेचैन होकर उस पर टूट पड़ना अनुचित समझा जाने लगा; पुरुषों तथा स्त्रियों का पशुओं की तरह मिलना-जुलना लज्जास्पद हो गया; भयानक वस्तु को देखकर भाग खड़े होना कायरता हो गया। परन्तु इस प्रकार के नियन्त्रण के लिए 'संयम' की आवश्यकता है, यह 'संयम' सीखा जाता है, जन्म से तो हम पशुओं की तरह 'नैसर्गिक-शक्तियों (Instincts) को लेकर ही आते हैं, और अगर सभ्यता के प्रभाव में न आये हों तो नैसर्गिक-व्यवहार ही करते हैं। भूख-प्यास, लड़ना-झगड़ना, छीनना-झपटना, विषय-वासना आदि 'नैसर्गिक-शक्तियों' (Instincts) को संयम में न रखकर, 'रुचि', 'मानसिक-क्षोभ', 'क्रिया'—इस प्रक्रिया में से पशु की तरह बिना रुकावट बहने देने को मनुष्य-समाज उचित नहीं समझता। 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) तो अपना पूरा रास्ता—'रुचि', 'क्षोभ', 'क्रिया'—तय करके दम लेती है—यह प्रक्रिया तो उसकी जान है—परन्तु मानव-समाज के नियम इस प्रक्रिया में रुकावट डालते हैं। परिणाम यह होता है कि कभी-कभी 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) इस प्रक्रिया को तो पूरा कर लेती है, परन्तु सीधे ढंग से पूरा करने के स्थान में टेढ़े ढंग से पूरा करती है। इसी टेढ़े ढंग से 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) की 'रुचि', 'क्षोभ', 'क्रिया' की प्रक्रिया को पूरा होने को हम 'दोष' या 'अपराध' कहते हैं। बालक को भूख लगी। बालक अगर पशु के तरीके से चले, तब तो जहाँ उसे भोजन दीखे, उठाकर खा ले। परन्तु समाज इसमें रुकावट डालता है। इसे बुरा मानता है। नतीजा यह होता है कि 'भूख' की 'नैसर्गिक-शक्ति' सीधे रास्ते से अपनी प्रक्रिया पूरा करने के स्थान पर, समाज के नियमों को रुकावट के तौर पर अपने सम्मुख खड़ा हुआ देख, टेढ़े रास्ते से उसी प्रक्रिया को पूरा करती है, और बच्चा 'चोरी' करके भूख को शान्त कर लेता है 'नैसर्गिक-शक्ति' के क्रिया में परिणत होने के मार्ग में जो रुकावटें आती हैं—भले ही वे माता-पिता द्वारा खड़ी की गई हों, भले ही समाज द्वारा खड़ी की गई हों—उन्हें बालक जिन उपायों से दूर करता है, उन्हीं उपायों को हम 'दोष' (Fault) या 'बालापराध' (Delinquency) कहते हैं। बालक को अपराध से बचाने का उपाय यही है कि उसकी 'नैसर्गिक-शक्ति' के प्रवाह को सीधा रोकने के स्थान पर उसे उचित दिशा में बहने दिया जाय। इसके बजाय कि बालक चोरी से किसी चीज़ को ले, और वह यह समझ ले कि चोरी से ही वह कुछ पा सकता है, इसके बिना नहीं, माता-बिता को चाहिए कि स्वयं उसे वह चीज़ दें, और उसमें यह भावना उत्पन्न कर दें कि पूछकर चीज़ लेने में किसी प्रकार की आशंका नहीं बनी रहती। 'नैसर्गिक-शक्तियों' को शुद्ध मार्ग में, देख-रेख में बहने का अवसर देना ही 'दोष' या 'अपराध' से बचाने का उपाय है।

(ख) अपराध का दूसरा रूप है 'भावना-ग्रन्थियाँ'—हमने अभी देखा था कि 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) में अपने को 'क्रिया' में लाने की एक

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अदम्य क्षमता होती है। इसका क्या कारण है? इसका कारण वह 'मानसिक-क्षोभ', 'उद्वेग' या 'बेचैनी' (Emotional disturbance) है, जो किसी 'नैसर्गिक-शक्ति' का आवश्यक अंग है। भूखे को भोजन देखकर 'बेचैनी' हो जाती है, कामी को विषय देखकर 'मानसिक-क्षोभ' उत्पन्न हो जाता है। यह 'बेचैनी' यह 'मानसिक-क्षोभ' तब तक बना रहता है जब तक इच्छा पूर्ण नहीं हो जाती। बालक में किसी चीज़ के लिए जब बेचैनी पैदा हो जाती है, तब या तो अपनी इच्छा को पूर्ण करके वह उस बेचैनी को दूर कर लेता है, और कोई अपराध कर बैठता है, और या वह उसे दबा देता है। अगर दबा देता है, तो क्या होता है? मनोविज्ञान का कथन है कि कोई इच्छा, खासकर एक 'बेचैन-इच्छा' दबती नहीं। वह अन्दर जाकर दूसरे रूप में प्रकट होती है और साथ ही अपनी बेचैनी किन्हीं दूसरी इच्छाओं को भी दे देती है। बच्चा किसी चीज़ को लेने के लिए बेचैन है। माँ ने उसे धमका दिया। बच्चे की इच्छा उस समय दब गई। परन्तु मौका पाते ही उसने उसे चुरा लिया। साथ ही, क्योंकि उसकी बेचैनी अन्दर चली गई थी, इसलिए दूसरी इच्छाओं के साथ भी वह जुड़ गई। इतना ही नहीं कि उसने चोरी करना सीख लिया, वह घर से भागना, अकारण गुस्सा करना भी सीख गया। दबा हुआ 'मानसिक-क्षोभ' या 'उद्वेग' (Emotion) भीतर जाकर नष्ट नहीं होता। प्रकृति का नियम यह है कि शक्ति कभी लुप्त नहीं होती। ये दबे हुए 'मानसिक-क्षोभ' ही 'अज्ञात-चेतना' में 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) बना देते हैं। ये मानो 'अज्ञात-चेतना' में भावना की एक गाँठ बाँध देते हैं। जब तक यह गाँठ नहीं खुलती तब तक बालक का व्यवहार सीधा न हो कर टेढ़ा रहता है, वह 'अपराध' किया करता है। बच्चे को 'दोषों' या 'अपराधों' से बचाने का उपाय 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) को न बनने देना है। इच्छा के होते हुए 'मानसिक-क्षोभ' का होना 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) का अंग है, परन्तु इच्छा के होने पर 'मानसिक-क्षोभ' को न होने देना मानवता की पराकाष्ठा है, विकास का ध्येय है। गीता में इसी अवस्था को 'निस्संगता', 'निष्कामता' कहा गया है, क्योंकि निष्काम-व्यक्ति की 'अज्ञात-चेतना' में 'भावना-ग्रन्थियों' (Complexes) का निर्माण नहीं होता। यह मानसिक-स्थिति साधना से प्राप्त होती है।

(ग) अपराध का तीसरा रूप 'नैसर्गिक-शक्ति' की प्रबलता या निर्बलता है—'नैसर्गिक-शक्तियों' के प्रवाह के सामने रुकावट का आना तथा 'भावना-ग्रन्थियों' का बनना—इन दो के अतिरिक्त 'अपराध' का एक तीसरा रूप भी है। 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) दो प्रकार की हैं—'सबल' (Sthenic) तथा 'निर्बल' (Asthenic)। 'सबल' में 'भोजनान्वेषण', 'भोग', 'क्रोध, 'संचय', 'पीछा करना', 'विचरण', 'जिज्ञासा', 'गिरोह में रहना', 'आत्म-गौरव' तथा 'क्रूरता'; 'निर्बल' में 'दैन्य', 'भय', 'घृणा', 'प्रेम', दुःख', 'खुशी' तथा 'खेल' सम्मिलित हैं। कई बालकों में जन्म से ही 'सबल-नैसर्गिक-शक्तियाँ'

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अधिक मात्रा में होती हैं, कई में न्यून मात्रा में; इसी प्रकार कई बालकों में 'निर्बल-नैसर्गिक-शक्तियाँ' जन्म से ही अधिक मात्रा में होती हैं, कई में न्यून मात्रा में। साधारण अवस्था का बालक तो संयम से काम ले लेता है, परन्तु स्वभाव से ही 'सबल' तथा 'निर्बल' नैसर्गिक-शक्तियों के बालकों के लिए 'संयम' संभव नहीं होता। इन 'नैसर्गिक-शक्तियों' के बहुत अधिक या बहुत न्यून होने के कारण बालक जो कुछ करते हैं, उसे भी हम 'दोष' या 'अपराध' कहते हैं। जिस बालक में भूख की 'नैसर्गिक-शक्ति' ही अधिक मात्रा में है वह मौका पाकर चोरी कर सकता है, पूछने पर झूठ बोल सकता है, खाने की इच्छा पर रुकावट देखकर घर से भाग सकता है। जिस बालक में 'दैन्य' की प्रधानता है, वह बुरी संगत में झट पड़ जाता है, भीख माँगने लगता है, बुराई का मुकाबिला नहीं कर सकता। माता, पिता तथा शिक्षक के लिए यह देखना आवश्यक है कि बालक जो अपराध कर रहा है, वह उस 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) के उसमें अधिक या न्यून होने के कारण तो नहीं। जिस बच्चे को भूख ही अधिक लगती है उसका इलाज उसे अधिक भोजन देना है, नहीं तो वह चोरी से खायगा। जिसमें काम-वासना अधिक है उसे कला में व्यस्त कर देना उचित है, नहीं तो वह अपने को और दूसरों को खराब करेगा। जिसमें क्रोध अधिक है उसे कमज़ोर साथियों की रक्षा के लिए प्रोत्साहन देना ठीक मार्ग है, नहीं तो वह हर बात में यों ही लड़ेगा।

३. बालापराध तथा किशोरापराध के कारण*

'बालापराध' तथा 'किशोरापराध' को दो भागों में बाँटा जा सकता है। 'वंशानुसंक्रमण' (Heredity) के कारण होने वाले अपराध; 'परिस्थिति' (Environment) के कारण होने वाले अपराध। 'परिस्थिति' के चार भाग किये जाते हैं—सामाजिक-परिस्थिति, शारीरिक-परिस्थिति, मनोवैज्ञानिक-परिस्थिति तथा आर्थिक-परिस्थिति। इस प्रकार अपराधों के सात मुख्य कारण हैं :

(क) वंश के कारण;
(ख) सामाजिक-परिस्थिति के कारण;
(ग) शारीरिक-परिस्थिति के कारण;
(घ) मनोवैज्ञानिक-परिस्थिति के कारण;
(ङ) अवरुद्ध-इच्छा के कारण;
(च) भावना-ग्रन्थियों के कारण;
(छ) आर्थिक-परिस्थिति के कारण।

---

* 1. Discuss the causes of juvenile delinquency. (1952)
2. What factors are mainly responsible for juvenile delinquency? What steps should be taken to reform juvenile offenders? (Rajasthan, 1955)
3. Discuss the socio-economic background of juvenile delinquency in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) वंश के कारण बालापराध या किशोरापराध

'वंश' से जो 'दोष' या 'अपराध' आते हैं, उनका कोई इलाज नहीं। ऐसे बच्चों के लिए 'रिफ़ॉर्मेटरी' आदि अलग ही स्थान हैं। ऐसे बालक समाज में सब जगह दिखलाई देते हैं। ऐसे बालकों के लिए जिस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए उसका हम इस अध्याय में आगे चलकर वर्णन करेंगे।

(ख) सामाजिक-परिस्थिति के कारण बालापराध या किशोरापराध

सामाजिक-परिस्थिति के कारण जो बालक या किशोर अपराध करते हैं, उनके (i) घर या परिवार की परिस्थिति, (ii) स्कूल की परिस्थिति, (iii) पास-पड़ौस, (iv) संगति, (v) युद्ध, (vi) सामाजिक-विगठन—ये मुख्य कारण हैं।

[घर या परिवार की परिस्थिति]

(*a*) **असंतुलित या भग्न-परिवार**—बालक जिस परिवार में जन्म लेता है, उसमें असंतुलन हो सकता है। माता-पिता की आपस में नहीं बनती, इसका प्रभाव बच्चों पर अच्छा नहीं पड़ता। बच्चा देखता है कि उसके माता-पिता हर समय लड़ते-झगड़ते हैं, किसी बात में एक-मत होकर नहीं चलते। बच्चा भी झगड़ालू हो जाता है, उसकी किसी से नहीं बनती। इस स्वभाव के कारण वह मार-पीट कर बैठता है, उद्दंडता करने लगता है।

पारिवारिक असंतुलन के अलावा कभी-कभी बच्चा अपने को भग्न-परिवार में पाता है। पिता ने माता को या माता ने पिता को छोड़ दिया, तलाक हो गया, तलाक नहीं भी हुआ किन्तु वे दोनों साथ-साथ नहीं रहते। बच्चा या तो माँ के साथ रहता है या बाप के साथ। जब माँ-बाप में इस प्रकार घनिष्ठता नहीं रहती तब बच्चा अपराधी मनोवृत्ति का हो जाता है।

(*b*) **माता-पिता का सन्तान के प्रति व्यवहार**—कभी-कभी माता-पिता का संतान के प्रति सौहार्द का व्यवहार होने के स्थान में कड़ा व्यवहार होने लगता है। बात-बात में सन्तान से कड़ाई से बरतना, झिड़कना, धमकाना, मारना-पीटना—इस सब से बच्चे माता-पिता के साथ भी सिधाई से बरतने के स्थान में टेढ़ा बरतने लगते हैं, झूठ बोलना, चोरी करना, घर से बाहर रहकर आवारागर्दी करना सीख जाते हैं।

(*c*) **माता-पिता का चरित्र**—कभी-कभी माता-पिता शराबी, व्यभिचारी, जुआरी, झगड़ालू, कुसंगी होते हैं। उनके बच्चे उन्हीं से दीक्षा लेकर बड़े होते हैं और अपने माँ-बाप के कान काटने लगते हैं।

(*d*) **माता-पिता द्वारा नियन्त्रण का अभाव**—माता-पिता के बिल्कुल नियंत्रण-हीन अथवा अत्यन्त नियंत्रण-शील होने पर भी बालक उच्छृंखल हो जाते हैं, वे या तो विद्रोह कर देते हैं या घर से भाग जाते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(*e*) **परिवार में इकला रह जाना**—कभी-कभी किसी बच्चे के माता-पिता मर जाते हैं, माता नहीं तो पिता या पिता नहीं तो माता मर जाती है, या पिता-माता में से कोई एक दूसरे साथी के न रहने से दूसरी शादी कर लेता है। इस परिवार की इन परिस्थितियों में बच्चे की तरफ़ ध्यान देने वाला कोई नहीं रहता, वह अपने को इकला अनुभव करता है। ऐसे बच्चे इकले रह जाने के कारण अपराधों में प्रवृत्त हो जाते हैं।

(*f*) **भाई-बहनों का प्रभाव**—माता-पिता के अलावा बड़े भाई-बहनों का छोटों पर अच्छा तथा बुरा दोनों तरह का प्रभाव पड़ सकता है। बड़ा भाई अगर शरारती है तो छोटा उससे कम नहीं रहता। बड़े भाई-बहन छोटों से उन्हें डरा-धमका कर ऐसे काम करवाते हैं जो अनुचित होते हैं। इसका प्रभाव छोटों पर अपराधी मनोवृत्ति को प्रोत्साहन देने के सिवाय कुछ नहीं होता।

[स्कूल की परिस्थिति]

(*a*) **स्कूल के साथी**—घर के बाद स्कूल में बच्चा भर्ती होता है। स्कूल में उसे कैसे साथी मिलते हैं। बुरे साथी आसानी से मिलते हैं इसलिए उनसे वह अपराध करना सीख जाता है।

(*b*) **खाली समय तथा मनोरंजन**—अगर स्कूल में बालक का सारा समय काम में लगा हुआ नहीं, उसके पास खाली समय है, तो यह देखा गया है कि इसी खाली समय को वह अपराध करने में बिताता है। ज़्यादातर अपराध शनि या रविवार को होते हैं क्योंकि इन दिनों उसके पास खाली समय ज़्यादा होता है। इसी प्रकार ४–५ के बीच सायंकाल जब बालक को फ़ुर्सत होती है, अपराध किये जाते हैं। हमें यह देखना चाहिए कि खाली समय में वह सिनेमा में, नाटक-घरों में जाता है या क्रिकेट-कबड्डी खेलता है? क्या खाली समय बिताने के लिए उसके पास आमोद-प्रमोद के उचित साधन हैं या नहीं? मनोरंजन के उचित साधन न होंगे तो अनुचित दिशा में उसका जाना स्वाभाविक हो जायगा। हमें यह भी देखना होगा कि जिस समय वह खाली नहीं होता, काम में लगा होता है, उस समय को क्या वह सचमुच काम में लगाता है या उस समय भी कोई शरारत सीख रहा होता है।

(*c*) **स्कूल का स्तर**—जिस स्कूल में बालक पढ़ता है, क्या वह उसके विकास के अनुकूल है, या प्रतिकूल? जो विषय वह पढ़ता है, उनमें उसकी रुचि है, या नहीं? जिन अध्यापकों के संपर्क में वह आता है, वे कैसे हैं? इन सब का बालक के अपराधी या निरपराधी होने पर बड़ा प्रभाव है। प्रतिकूल वातावरण में, विषयों में रुचि न होने के कारण या अध्यापक के ही कुरुचिपूर्ण होने के कारण बालक अपराधी बन सकता है। इन सब कारणों से स्कूल के स्तर का उठा होना आवश्यक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[पास-पड़ौस]

घर तथा स्कूल के बाद बालक के विकास पर पास-पड़ौस का असर पड़ता है। जिन मुहल्लों में बालक रहते हैं, जिनमें खेलते हैं, उनमें अन्य बालक किस तरह के हैं ? प्रायः देखा गया है कि शहर के मध्य में रहने वाले बालकों का पड़ौस अपराध की प्रवृत्ति सीखने में बहुत सहायक है, इसलिए सहायक है क्योंकि शहरों के बीच की घनी आबादी में चोरी, डाका, जूआ आदि की सब से अधिक सुविधा रहती है। ज्यों-ज्यों हम शहर के प्रान्त-भाग में जाते हैं, त्यों-त्यों बस्ती के विरल हो जाने के कारण अपराधों के लिए सुविधा भी कम हो जाती है, घनी आबादी न होने के कारण अपराध करने पर पकड़े जाने की आशंका भी बढ़ जाती है।

[बुरी संगत]

बालक अधिकतर अनुकरण से सीखता है, विशेषतः उन लोगों का वह अनुकरण करता है जो उसकी समान आयु के तो नहीं होते, परन्तु लगभग समान आयु के होते हुए उससे कुछ ही बड़े होते हैं। बालकों के सदा कुछ गिरोह बने होते हैं, और प्रत्येक बालक अपने गिरोह की वाह-वाही लेना चाहता है। लगभग समान-आयु के इन बालकों के गिरोह प्रायः बुरे कामों के प्रेरणा-स्रोत होते हैं। गिरोह अच्छे भी हो सकते हैं, परन्तु अच्छे कम होते हैं। समान-आयु के बालकों के इन गिरोहों की संगति से वह अपराध करना सीख जाता है।

[युद्ध]

जब देशों में युद्ध छिड़ जाते हैं तब पिता लड़ाई के मैदान में भेज दिया जाता है, माता कल-कारखानों में आजीविका के लिए जाती है। ऐसी परि-स्थिति से बालकों की देख-भाल ठीक-से नहीं हो पाती और वे अपराध की तरफ़ प्रवृत्त होने लगते हैं। ऐसे समय में ख़ास कर वे ऐसे अपराध करना सीख जाते हैं, जो माता-पिता के नियंत्रण के अभाव में हो सकते हैं। उदाहरणार्थ, लड़के-लड़कियों को इस समय विशेष स्वतंत्रता मिल जाती है, वे अवैध यौन-संबंध करने लगते हैं, अवैध संतानें इस समय बहुत अधिक होने लगती हैं।

[सामाजिक-विगठन]

जब संपूर्ण समाज में विगठन की अवस्था हो, पुराने मूल्य बदल रहे हों, उनका स्थान नवीन मूल्य ले रहे हों परन्तु इन नवीन मूल्यों की मान्यता अभी पूरी तरह से न स्वीकार की गई हो, तब संपूर्ण समाज में अपराधी मनोवृत्ति उत्पन्न हो जाती है और उसी का प्रतिबिंब बालकों तथा किशोरों के जीवन में पड़ने लगता है। उदाहरणार्थ, आज के समाज में जाति-व्यवस्था आदि पुरानी रूढ़ियाँ धीरे-धीरे टूट रही हैं, उनका स्थान किन्हीं नवीन रूढ़ियों ने नहीं लिया, समाज विगठन की प्रक्रिया में से गुज़र रहा है। ऐसे समय में जात-पात का ख्याल न करके युवक-युवति घरों से भाग जाते हैं, प्रेम-विवाह रचते हैं। यह सब-कुछ सामाजिक-विगठन का परिणाम है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) शारीरिक-परिस्थिति के कारण बालापराध तथा किशोरापराध

कई बच्चों का शरीर विकसित नहीं हो पाता, कइयों का ज़रूरत से ज़्यादा लम्बा-चौड़ा हो जाता है; कइयों की जवानी देर में उभरती है, कइयों को जवानी जल्दी आ पकड़ती है; कइयों का चेहरा खूबसूरत होता है, कइयों का बदसूरत। ये भी 'अपराध' में कारण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ—

(i) एक बच्चा ठिगना है। वह देखता है कि उसकी कोई परवाह ही नहीं करता, परन्तु 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) की 'नैसर्गिक-शक्ति' तो उसमें भी है। वह डॉक्टर बन गया। अब जो कोई भी उससे मिलने आता है वह आध घंटे से पहले बाहर नहीं निकलता। वह अपने मित्रों को भी इस प्रकार सताता है। उसके अपने बच्चे भी बीमार पड़ जायें, तो बिना दस बार गिड़गिड़ाने के वह किसी को दवाई नहीं देता। ठिगनेपन के कारण दुनिया ने जो उसका तिरस्कार किया उसी का वह दुनिया को सताकर बदला ले रहा होता है। एक बच्चे की आँखें कमज़ोर थीं, वह पढ़ नहीं सकता था। उसने दूसरे बच्चों की ऐनकें चुरानी शुरू कर दीं। आँखें कमज़ोर होने के कारण वह क्लास में पीछे था; दूसरे बच्चे ऐनक लगाने के कारण सब-कुछ देख सकते थे, और पीछे नहीं थे। 'प्रतिस्पर्द्धा' की भावना ने पढ़ाई में तेज़ होने के स्थान पर ऐनक चुराने का रूप धारण कर लिया। इसी प्रकार बच्चे अनेक ऐसे अपराध कर बैठते हैं, जिनका कभी-कभी कोई कारण समझ नहीं आता।

(ii) एक बच्चा अपनी श्रेणी के अध्यापक से भी लम्बा-चौड़ा था। बचपन का मन और पूरे जवान का-सा शरीर! सब उस पर हँसते थे—वह घर से भाग गया।

(iii) जवानी भी कई 'अपराध' करा देती है। जब बच्चा अपने भीतर कोई नई शक्ति देखता है, तो उस शक्ति का प्रयोग करने लगता है। जब वह पाँवों पर खड़ा होना सीखता है, तो दिन भर भागा फिरता है, निश्चल नहीं बैठ पाता। जब बोलना सीखता है, तो बेमतलब 'अ-आ'—'ऊ-ऊ' किया करता है। नई शक्ति को देख कर वह उसके ओर-छोर को देखने के प्रलोभन का संवरण नहीं कर सकता। इसी प्रकार जब उसकी जननेन्द्रियों में विकास होता है, तब वह इन अंगों का भी कभी-कभी दुरुपयोग करने लगता है, जो प्रायः 'जिज्ञासा'-वश ही होता है।

(iv) खूबसूरत बच्चे अपनी खूबसूरती के कारण मारे जाते हैं, और बद-सूरत अपनी कमी को पूरा करने के लिए मार-पीट करने लगते हैं।

(घ) मनोवैज्ञानिक-परिस्थिति के कारण बालापराध तथा किशोरापराध

कई बच्चे 'मन्द-बुद्धि' होते हैं; कई तेज़ होते हैं। कई पढ़ने में, गणित में या किसी विषय में कमज़ोर होते हैं; कई बात-बीत में, कल्पना-शक्ति में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

या दस्तकारी आदि में तेज़ होते हैं। मन्द-बुद्धि या तेज़ होना अपराध का कारण कैसे बन जाता है?

(i) बुद्धि की मन्दता प्रायः 'अपराध' की तरफ़ ले जाती है। 'मन्द-बुद्धि' बालक में इतनी दीर्घ-दर्शिता नहीं होती कि वह समझ सके कि प्रलोभनों में फँसने से अन्त में पछताना ही पड़ता है। एक बालक चोरी करता था। उसकी आयु ८ वर्ष की थी, परन्तु परीक्षा करने से ज्ञात हुआ कि उसकी 'मानसिक-आयु' (Mental age) पाँच ही वर्ष की थी। वह किसी चीज़ को चमकता देखकर उठा लेता था। एक दूसरा बच्चा 'भगोड़' था। वह स्कूल जाते हुए रास्ते में ही गलियों की सैर में पड़ जाता था। वह दस वर्ष का था, परन्तु उसकी 'मानसिक-आयु' छः वर्ष की थी। उसकी माँ को समझाया गया कि इसे दस वर्ष का न समझकर छः वर्ष का ही समझो, और छः वर्ष के बच्चे की-सी इसकी देख-रेख करो। बच्चा सुधर गया। प्रकृति में एक खास क्रम से 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instincts) का विकास होता है। इन शक्तियों पर संयम पाना ही शिक्षा है। 'मन्द-बुद्धि'-बालक इस संयम को नहीं पा सकता। परिणाम-स्वरूप वह बुद्धि के विकास के बहुत निचले स्तरों पर रहता है। इन स्तरों के जो विकास-क्रम हैं उन्हीं के अनुसार उसके 'अपराध' होते हैं। शुरू-शुरू में बच्चा 'क्रोध' तथा 'घूमना' शुरू करता है, अतः 'मन्द-बुद्धि'-बालकों के ज़्यादातर अपराध भगोड़ेपन (Truancy), क्रूरता तथा नुक्सान पहुँचाने के होते हैं। 'संचय-शक्ति' का विकास पीछे होता है, इसमें कुछ थोड़ी-बहुत बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है, अतः चोरी करना, और चोरी को छिपाने के लिए झूठ बोलना बच्चा पीछे सीखता है। साधारण बच्चा 'नैसर्गिक-शक्तियों' के विकास-क्रम में से गुज़रता हुआ उनका लाभ उठा लेता है, 'मन्द-बुद्धि' इन्हीं शक्तियों की उलझन में पड़कर अपराधी बन जाता है।

(ii) कभी-कभी तेज़ बालक भी अपराध करते हैं। बेवकूफ़ माता-पिता का तेज़ लड़का प्रायः उन्हें चकमा दिया करता है। जो तेज़ लड़के कमज़ोर बच्चों की क्लास में आ पड़ते हैं, वे पाठ को बहुत आसान देखकर ही अपनी होशियारी को शरारतों में खर्च किया करते हैं। ऐसे बच्चों को ऊपर की श्रेणी में चढ़ा देने से उनकी शक्ति ठीक दिशा में चल पड़ती है।

(iii) कई बच्चे किन्हीं खास विषयों में कमज़ोर होते हैं, इसलिए, स्कूल से भाग खड़े होते हैं।

(iv) कई बच्चों की कोई-कोई खास योग्यता होती है। जो बच्चे बात-चीत में तेज़ होते हैं, वे पढ़ाई में कमज़ोर होने पर, गप्पें मार-मार कर दूसरों पर रौब जमाया करते हैं, इसी से उनकी झूठ बोलने की प्रवृत्ति दृढ़ हो जाती है। कई बच्चों की 'कल्पना-शक्ति' असाधारण होती है। जैसे हम स्थूल-जगत् से काम लेते हैं, वैसे वे काल्पनिक-जगत् से काम लेते हैं। वे अपने साथी को कल्पना में ऐसे ही देखते हैं, जैसे यथार्थ में देख रहे हों। ऐसे बच्चे प्रायः कहा करते हैं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि बुराई को जानते हुए भी उससे बच नहीं सकते। 'कल्पना-शक्ति' ही 'यथार्थता' का रूप धारण कर उनसे हठात् कोई काम करा देती है। कई बच्चे हाथ के काम में कुशल होते हैं, वे मौका पाकर किसी की जेब कतरने में 'संचय-शक्ति', 'जिज्ञासा' या 'आत्म-गौरव' की 'नैसर्गिक-शक्तियों' के वेग को पूरा करते-करते सिद्ध-हस्त चोर हो जाते हैं।

(ङ) अवरुद्ध-इच्छा के कारण बालापराध तथा किशोरापराध

मन के तीन पहलू हैं : ज्ञान (Feeling), 'इच्छा' (Knowing) तथा 'कृति' (Willing)। 'ज्ञान' की कमी के कारण बालक 'मन्द-बुद्धि' हो जाता है; 'इच्छा-शक्ति' के ठीक संचालन न होने से वह 'अपराधी' हो जाता है, 'कृति-शक्ति' न होने से वह 'अस्थिर' हो जाता है। इस दृष्टि से अपराध का प्रश्न वास्तव में 'इच्छा-शक्ति' (Knowing), संवेदन' (Feeling) तथा 'उद्वेग' (Emotion) का प्रश्न है, इसलिए हम इस पर कुछ विस्तृत विवेचन करेंगे।

(i) मैक्डूगल ने प्रत्येक' नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) के साथ एक 'उद्वेग' या 'क्षोभ' (Emotion) लगा हुआ माना है। 'पलायन' एक 'नैसर्गिक-शक्ति' है। इसके साथ 'भय' का 'उद्वेग' जुड़ा हुआ है। यह 'उद्वेग' ही 'नैसर्गिक-शक्ति' में 'क्रियाशीलता' को उत्पन्न करता है। 'उद्वेग' से अन्दर-ही-अन्दर जो 'क्षोभ'—'बेचैनी'—पैदा होती है, वह तब तक दूर नहीं होती, जब तक 'नैसर्गिक-शक्ति' अपने को पूर्ण नहीं कर लेती। पशु इस 'उद्वेग' या 'क्षोभ' को रोकता नहीं, मनुष्य रोकता है। रोकने के कई कारण हैं—मुख्य कारण समाज तथा धर्म हैं। 'उद्वेग' अर्थात् 'क्षोभ' (Emotion) का नियम यह है कि यह क्रिया में आकर ही निवृत्त होता है, अन्यथा वह वैसा ही बना रहता है, या दूसरा रूप धारण कर लेता है। जिस 'उद्वेग' को हमने दबा दिया, वह 'ज्ञात-चेतना' में जाकर भावना की एक गाँठ बना देता है। यह गाँठ वहाँ पड़ी-पड़ी रड़क पैदा करती रहती है। इसी को 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) कहते हैं। यह 'कम्प्लेक्स'—अतृप्त-इच्छा—क्षोभ की गाँठ होती है, और हमारे व्यवहार को भीतर से ही प्रभावित करती रहती है।

(ii) दबी हुई इच्छाओं के विषय में दूसरी बात यह है कि जब कोई 'नैसर्गिक-शक्ति' (Instinct) अवरुद्ध होकर 'भावना-ग्रन्थि' उत्पन्न करती है, तो भीतर जाकर इसकी बेचैनी इसी तक सीमित नहीं रहती। यह अपनी बेचैनी दूसरी इच्छाओं को भी दे देती है, और इसीलिए धमकाए जाने पर बच्चा झूठ भी बोल सकता है, चोरी भी कर सकता है, घर से भाग भी सकता है, दूसरे पर आक्रमण भी कर सकता है। यही कारण है कि जो बच्चे अपराध करते हैं, वे एक ही नहीं, सभी प्रकार के अपराध किया करते हैं।

(iii) तीसरी बात ध्यान देने की यह है कि दबी हुई इच्छा रूपान्तरित होकर प्रकट होती है, हमने किसी लड़के को किसी लड़की के साथ मिलने-जुलने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मना किया। अब वह उस लड़की की फ़ोटो को उसकी जगह रखने लगा। फ़ोटो भी छीन लिया, तो अनजाने ही वह उसी लड़की से मिलती-जुलती किसी लड़की के साथ खेलने लगा। जिस अध्यापक ने मना किया था उसके किसी प्रिय शिष्य पर उसने हमला कर दिया। दबी हुई इच्छा रूपान्तरित हुई, परन्तु फिर भी वह एक ख़ास दिशा में चली। जिस लड़की से मिलने से उसे मना किया गया था उसके कोट में एक-फूल लगा हुआ था। वह लड़का बगीचे में जहाँ फूल देखता तोड़ लेता। लड़के में फूलों के तोड़ने की एक बुरी लत पड़ गई। 'भावना-ग्रन्थि' हमारे व्यवहार में परिवर्तन ही नहीं करती, एक ख़ास दिशा में परिवर्तन करती है। जो 'नैसर्गिक-शक्ति' दबाई गई है उसके साथ मिलते-जुलते किसी 'स्थानापन्न'—'उपलक्षक' (Substitute) को लेकर हमारे व्यवहार में परिवर्तन होता है। परिणाम यह होता है कि बच्चा चोरी तो करता है, परन्तु किसी ख़ास ही चीज़ की चोरी करता है, हर चीज़ की नहीं, और वह ख़ास चीज़ असली चीज़ की 'स्थानापन्न' होती है। जो बच्चा आँख कमज़ोर होने से केवल ऐनक की चोरी करने लगा वह इसी नियम का दृष्टान्त है।

(iv) 'अवरुद्ध-इच्छाओं' (Repressed desires) के संबंध में चौथी बात ध्यान देने की यह है कि वे एक अन्तर्द्वन्द्व (Mental conflict) को उत्पन्न कर देती हैं। बच्चा घर में मिठाई देखता है। उसमें इसे लेने की इच्छा होती है, उठा लूँगा तो पिटूँगा, यह डर भी पैदा होता है। ये दोनों 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' हैं। बालक में जो प्रबल होगी उसी के अनुसार वह कर गुज़रेगा, और प्रायः मिठाई को मुँह में डाल कर वह 'अन्तर्द्वन्द्व' को शीघ्र समाप्त कर देगा। अगर माता-पिता के लिए सम्मान की भावना उसमें प्रबल है, तो वह बिना पूछे मिठाई को हाथ नहीं लगाएगा। परन्तु अगर उसे बार-बार वह मिठाई दीखे, और बार-बार ही माता-पिता के सम्मान या डर के कारण उसे अपनी इच्छा दबानी पड़े, तो दोनों भावनाओं के प्रबल हो जाने के कारण 'अन्तर्द्वन्द्व' लम्बा हो जायगा। साधारणतः अच्छे वातावरण में पला हुआ लड़का अपने दिल में कहेगा—'मैं बिना पूछे तो लूँगा नहीं, परन्तु मिठाई को छोड़ूँगा भी नहीं, माँ से जाकर पूछ आता हूँ, मिठाई ले लूँ?' परन्तु प्रायः या तो बालक ही इस इच्छा को दबा लेता है, या माता-पिता बच्चे की इच्छा पूरी न करके उसे दबा देते हैं। एक इच्छा दब जाती है, दूसरी जीत जाती है। परन्तु यह दबी हुई इच्छा नष्ट होने के स्थान में 'अज्ञात-चेतना' में जाकर मानो अन्दर का फोड़ा बन जाती है। मवाद अन्दर रुक नहीं सकता, फोड़ा तो फूटकर रहेगा। कोई क्षण आता है कि माता-पिता के सम्मान या डर की भावना को बालक परे फेंक देता है, वह मिठाई चुरा लेता है। वह अपने दिल में कहता है—'मैं पकड़ा नहीं जाऊँगा, फिर मुझे डर क्या है?' परन्तु कुछ देर बाद वह क्या देखता है कि उसकी आत्मा पर एक बोझ-सा आ पड़ा है, उसके अन्तरात्मा में एक गाँठ-सी पड़ गई है, और वह दुःखी रहने लगा है। कभी-कभी बालक इस प्रलोभन का मुकाबिला करता है, वह दिल में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कहता है—'मैं चोरी नहीं करूँगा ।' कुछ देर बाद ही देखते हैं कि वह अनजाने चिड़चिड़ा हो गया है, और यों ही किसी से लड़ने लगा है। कभी-कभी हमारी 'ज्ञात-चेतना' में 'अन्तर्द्वन्द्व' होता है, इसका हमें पता होता है; 'अन्तर्द्वन्द्व' प्रायः 'अज्ञात-चेतना' में, 'भावना-ग्रन्थि' द्वारा, चल रहा होता है, इसका हमें पता नहीं होता—हम सब-कुछ भूल चुके होते हैं। बालक के अनेक 'अपराध' इस 'अन्तर्द्वन्द्व' के परिणाम होते है। 'अन्तर्द्वन्द्व' की स्थिति न उत्पन्न होने देना अपराध को रोकने का एक मुख्य साधन है।

(च) भावना-ग्रन्थियों के कारण बालापराध तथा किशोरापराध

हमने अभी देखा कि दो इच्छाओं की टक्कर से 'अन्तर्द्वन्द्व' प्रारंभ होता है। एक इच्छा दब जाती है, दूसरी जीत जाती है। ये दोनों ही 'नैसर्गिक-शक्तियाँ' (Instinces) या 'सामान्य-प्रवृत्तियाँ' (Innate or General tendencies) होती हैं। जो दब जाती है, उसे हम भूल जाते हैं, वही 'भावना-ग्रन्थि' (Complex) बन जाती है, और हमारे अनजाने भिन्न-भिन्न रूपों में प्रकट होती है। 'भावना-ग्रन्थियाँ' (Complexes) 'अन्तर्द्वन्द्व' (Mental conflict) की ही उपज हैं और अपराध का मनोवैज्ञानिक कारण हैं। वे अनेक हैं, परन्तु हम मुख्य चार का वर्णन करेंगे :—

(i) 'विमाता-ग्रन्थि' (Step-mother Complex):—यह प्रायः लड़कियों में पैदा होती है। २ वर्ष तक लड़की माता को ही सब कुछ समझती है। इसके बाद वह इधर-उधर दौड़ने-फिरने लगती है, तो माँ उसे भिन्न-भिन्न बातों में टोकने लगती है। साथ ही पिता का प्रायः लड़के की अपेक्षा लड़की पर ज्यादा प्रेम होता है। बच्ची दिल में सोचने लगती है कि माँ का मुझ से प्रेम क्यों कम हो गया ? पहले तो यह मुझे कभी कुछ न कहती थी, अब मुझे यह हर बात में टोकती है; यह न कर, वह न कर, इधर न जा, उधर न जा ! साथ ही वह देखती है कि पिता उससे माता की अपेक्षा अधिक प्रेम करता है। तीन वर्ष की नन्ही बच्ची अपने दिल से पूछती है—'तो क्या यह मेरी असली माता है ?' उसका दिल कहता है, 'नहीं, यह असली माँ होती तो मुझे टोकती क्यों, पहला-सा प्रेम क्यों न करती, साथ ही पिता की अपेक्षा ज्यादा प्रेम क्यों न करती ?' यह बच्ची अपनी माता को 'विमाता' समझने लगती है। अगर उसकी माँ वास्तव में ही विमाता हो, और उसका बच्ची या बच्चे को किसी तरह से भान हो जाय, तब तो कहना ही क्या ? बच्ची के हृदय में विद्रोह मच जाता है। परन्तु, माँ के प्रति विद्रोह करना वह उचित भी नहीं समझती। इन दो भावनाओं में 'द्वन्द्व' छिड़ जाता है, और बच्ची विमाता की भावना को दबा देती है, यही 'विमाता-भावना-ग्रन्थि' कहलाती है। अपनी ही 'माँ' के प्रति लड़की में, और 'विमाता' के प्रति लड़के तथा लड़की दोनों में, यह ग्रन्थि पैदा हो जाती है। परिणाम यह होता है कि बच्चा प्रेम के लिए तरसा करता है। कई बच्चे इसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खोज में घर से भाग जाते हैं। वे अपनी असली माँ को खोजा करते हैं। वे कहते हैं कि माँ-सा प्रेम देने वाला कोई मिले। माँ नहीं मिलती, तो जो भी उनसे सहानुभूति दर्शाता है उसी के वे गुलाम हो जाते हैं। बच्चों में घर से विद्रोह तथा बाहर से लगन का यही मनोवैज्ञानिक आधार है।

(ii) **'शासन-ग्रन्थि'** (Authority Complex)—लड़का माँ के प्रति विद्रोह नहीं करता, पिता के प्रति करता है। कारण यह है कि माँ लड़के को ज्यादा प्यार करती है। माँ को कुछ कहना भी होता है, तो पिता से ही कहलवाती है। माताएँ अक्सर कहा करती हैं, 'आने तो दे बाप को'। लड़के के लिए बाप शासन का, दण्ड का प्रतिनिधि बन जाता है। परन्तु पिता के प्रति विद्रोह करने को भी बच्चा उचित नहीं समझता, अतः इस भावना को वह दबा लेता है, और 'शासन-भावना-ग्रन्थि' का निर्माण हो जाता है। बच्चा पिता से तो डरता है, परन्तु अध्यापक, सभा, सोसाइटी, धर्म—प्रत्येक शासन के प्रति विद्रोह का झंडा खड़ा कर देता है, कहीं किसी के बस नहीं आता। आज्ञा न पालने की जो प्रायः शिकायत सुनी जाती है, उसका कारण यही 'भावना-ग्रन्थि' है।

(iii) **'लिंग-ग्रन्थि'** (Sex Complex)—ग़रीब घरों में घर छोटे होने के कारण प्रायः बच्चे छुटपन में ही 'लिंग-संबंधी' बहुत-सी बातें जान जाते हैं। इन बातों का जानना इतना नुक्सान नहीं पहुँचाता जितना इस संबंध में उत्पन्न हुई उत्सुकता को दबाना। धनी घरों के बालक को घर की परिस्थितियों के कारण इन बातों का ज्ञान प्रायः कम रहता है। इन बातों को जानने की जिज्ञासा तो सब में है, परन्तु इनका जानना बुरा समझा जाता है। जानूँ-न-जानूँ—इस अन्तर्द्वन्द्व से ही 'लिंग-संबंधी भावना-ग्रन्थि' (Sex Complex) उत्पन्न होती है जिसे संक्षेप में 'लिंग-ग्रन्थि' कह सकते हैं। जिन बालकों में काम-वासना प्रबल होती है, वे तो अपने को रोक ही नहीं सकते, परन्तु जो अपने को बस में कर लेते हैं, वे काम-प्रवृत्तियों से बचकर भी दूसरे अपराध कर बैठते हैं। इन अपराधों का आधारभूत तर्क यह होता है कि काम-संबंधी कुकर्म तो बहुत बुरा है, इससे कम बुरे कार्य करने में क्या हर्ज है? प्रायः देखा गया है कि धनी माता-पिता के बालक घर में आराम से रहने की बजाय मारे-मारे फिरते हैं, चोरी करते हैं। घर में सब-कुछ होते हुए भी उनकी इस दशा का कारण उक्त 'भावना-ग्रन्थि' ही है।

(iv) **'हीनता-ग्रन्थि'** (Inferiority Complex)—छोटे बच्चों में, खासकर ग़रीब बच्चों में, 'हीनता की भावना-ग्रन्थि' पड़ जाती है जिसे संक्षेप में 'हीनता-ग्रन्थि' कह सकते हैं। छोटा बच्चा तो चारों तरफ़ से बड़े-बड़े लोगों से घिरा होता है। वे क़द में बड़े, हर बात में बड़े, इसलिए हर बच्चे में कुछ-न-कुछ अंश में यह ग्रंथि होती है। ग़रीब के पास कुछ होता नहीं, उसे सब का मुँह ताकना पड़ता है। परन्तु 'आत्म-गौरव' (Self-assertion) की 'नैसर्गिक-शक्ति' भी सब में है। 'दैन्य' तथा 'आत्म-गौरव' के संघर्ष में 'हीनता-ग्रन्थि' का निर्माण होता है। जो बच्चा एक दिशा में दब गया है, वह दूसरी दिशा में प्रबल वेग से

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

फूट निकलता है। बायरन लंगड़ा था, वह अच्छा तैराक बन गया, मिल्टन अन्धा था, वह महान् कवि बन गया। एक प्रकार की न्यूनता दूसरे प्रकार की श्रेष्ठता से पलड़ा बराबर कर लेती है। पत्नी की धिक्कार ने ही कालिदास को कालिदास बना दिया, और तुलसीदास को तुलसीदास। 'आत्म-गौरव' का शुद्ध रूप तो यही है कि बच्चा अच्छे कामों से अपनी हीनता को, क्षति को पूरा करे, परन्तु यह रास्ता कठिन है। प्रायः बच्चा आसान रास्ता पकड़ लेता है। जो बच्चा पढ़ाई में कमज़ोर है, वह घर से पैसे चुरा लाता है, और साथियों को बाँट देता है, उन पर रौब जमाता है, इसी से वह 'हीनता की भावना' का मुकाबला करता है। काणा काम में तेज़ होकर भी अपनी हीनता को दूर कर सकता है, रंगीन चश्मा लगा कर भी। 'आत्म-गौरव' की भावना को उत्तेज़ित कर देना शिक्षक का काम है। अक्सर देखा गया है कि लंगड़े ऐसे चलते हैं जैसे लंगड़े न हों, काणे ऐसे देखते हैं जैसे उनकी भली-चंगी आँखें हों। जिन लोगों में एक दिशा में कोई कमी होती है, वे दूसरी दिशा में उसे बहुत काफ़ी पूरा कर लेते हैं। यह सब 'आत्म-गौरव' की 'नैसर्गिक-शक्ति' का ही परिणाम है जो अच्छे शिक्षक की देख-रेख में बच्चे को कुछ-का-कुछ बना सकती है।

हमने बच्चों के 'साधारण दोष' (Faults) तथा 'अपराध' (Delinquency)—सभी के मनोवैज्ञानिक आधार का निरूपण किया है, इसलिए 'चोरी', 'झूठ', 'घर से भागना', 'मारना-पीटना', 'चिढ़ना-चिढ़ाना' आदि का अलग-अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक बालक के 'दोष' या 'अपराध' को देख कर उसके कारण का पता लगाना, तथा उस कारण को दूर कर देना ही बच्चे के सुधार का एकमात्र उपाय है।

(छ) आर्थिक-परिस्थिति के कारण बालापराध तथा किशोरापराध*

निर्धनता अपराध का बड़ा भारी कारण है, विशेषतः बालक निर्धनता के कारण चोरी करने लगते हैं। जब बालक देखता है कि उसके साथी के पास सब-कुछ है, उसके पास कुछ नहीं, तब वह या तो धनी बालकों से द्वेष करने लगता है, या ईर्ष्या करने लगता है या उनकी वस्तुओं के लिए ललचाने लगता है। द्वेष, ईर्ष्या तथा लालच से जो भी अपराध हो सकते हैं, उन सब के लिए उसमें भूमि तैयार हो जाती है।

पाश्चात्य देशों में और अब अपने देश में भी लड़कियाँ परिवार की आय बढ़ाने के लिए दफ्तरों में काम करती हैं, बेपढ़ी-लिखी लड़कियाँ घरों में झाड़ू-

---

* 1. 'Poverty is the main cause of juvenile delinquency.' Discuss. (1956)

2. Discuss the relation between poverty and juvenile delinquency. (Rajasthan, 1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफाई के लिए जाती हैं, चौका-चूल्हा करती हैं। आजकल दुकानों पर भी लड़कियों को काम दिया जाने लगा है। इस सब का परिणाम यह होता है कि मौका पाकर या तो वे पथ-भ्रष्ट हो जाती हैं या उन्हें पथ-भ्रष्ट किया जाता है।

जहाँ ग़रीबी के कारण बालक अपराध करते हैं वहाँ अमीरी के कारण भी कम अपराध नहीं होते। अमीर चोरी नहीं करेगा तो दूसरे अपराध करेगा। पैसा देकर किसी को पिटवा देना, मार-पीट करके पैसे के ज़ोर पर छूट जाना, पैसे का लालच देकर दूसरे को अपराध के लिए फुसलाना—ये सब पैसे के अपराध हैं। यह ठीक है कि ग़रीब अपराध करके पकड़ा जाता है, क़ानून के शिकंजे में आ जाता है, अमीर पकड़ा नहीं जाता, पकड़ा जाता है तो 'इन्फ्लुएन्स' लगा कर छूट जाता है।

४. किशोरापराध की परिभाषा

किशोर-अपराध को दो दृष्टियों से देखा जा सकता है। इसके विषय में एक दृष्टि मनोवैज्ञानिक है, दूसरी दृष्टि क़ानूनी है।

मनोवैज्ञानिक-दृष्टि के अनुसार १४–१५ से १८–२१ वर्ष की आयु के वे सभी बालक तथा बालिकाएँ किशोरापराधी हैं जो दूसरे को नुक़सान पहुँचायें, भले ही वे पकड़े जायें या न पकड़े जायें। उदाहरणार्थ, एक बालक किसी मकान को आग लगा देता है, दूसरे की वस्तु चुरा लेता है, किसी की साइकल उड़ा लेता है। ये सब लोग मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से किशोरापराधी हैं। जो लोग इन कामों को करते हुए पकड़े जाते हैं वे क़ानूनी दृष्टि से किशोरापराधी हैं परन्तु जो पकड़े नहीं भी जाते, वे मनोवैज्ञानिक-दृष्टि से अपराध के क्षेत्र से बाहर नहीं जाते। जो आज पकड़ा नहीं गया वह कल पकड़ा जा सकता है।

क़ानूनी-दृष्टि के अनुसार उक्त प्रकार के असामाजिक कार्य करने वाला, क़ानून को तोड़ने वाला किशोर-अपराधी समझा जाता है। क़ानून ने किशोरापराधी की आयु निश्चित की हुई है। कहीं यह आयु १५ वर्ष है, कहीं १६, कहीं १८, कहीं २० और कहीं २१ वर्ष है। भारत में क़ानूनी-दृष्टि से किशोरापराधी की अधिकतम आयु १६ वर्ष है। इस आयु तक किशोर को नरम दृष्टि से देखा जाता है, इसके बाद उसे सख्त दृष्टि से देखा जाता है।

[क] डॉ० सेथना की परिभाषा—"बालक अथवा किशोर द्वारा समाज की दृष्टि से अनुचित कार्य करने को 'किशोरापराध' कहते हैं। इस अपराधी की क़ानून द्वारा कोई-न-कोई आयु निश्चित की गई होती है।"

[क] "Juvenile delinquency involves wrong doing by a child or young person who is under an age specified by law (for the time being in force) of the place concerned."
—*Sethna.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ख] **श्री न्यूमेयर की परिभाषा**—"किशोरापराधी वह व्यक्ति है जो किसी निश्चित आयु से छोटा होता है और जिसने कोई समाज-विरोधी ऐसा कार्य किया होता है जो कानून की दृष्टि से अनुचित है।"

५. अपराधी तथा किशोरापराधी में भेद*

(क) **आयु में भेद**—अपराधी तथा किशोरापराधी दोनों समाज-विरोधी कार्यों के दोषी हैं परन्तु जो व्यक्ति एक निश्चित आयु से कम है वह 'किशोरापराधी' (Delinquent) कहलाता है, जो उस निश्चित आयु से अधिक है वह 'अपराधी' (Criminal) कहलाता है।

(ख) **अपराध के प्रकार में भेद**—अपराधी योजना बनाकर अपराध करता है, किशोरापराधी बिना योजना बनाये काम करता है। अपराधी सारी योजना बना कर चोरी करने जायगा, डाका डालेगा, किसी ख़ास उद्देश्य से कहीं आग लगायेगा; किशोरापराधी बिना मतलब के, निरुद्देश्य जंगल में आग लगा देगा, रेल की पटरी पर पत्थर रख देगा, किसी की मोटर का शीशा तोड़ देगा, हँसी में ही किसी को नुक्सान पहुँचा देगा। 'अपराध' (Crime) योजना-बद्ध होता है, 'किशोरापराध' (Delinquency) योजनाहीन होता है।

६. अपराधों का इलाज†

[नवीन दृष्टिकोण]

पिछले अध्याय में हम युवापराधों का वर्णन कर आये हैं। उस सिल-सिले में युवाओं के लिए जेलखानों आदि का वर्णन भी हमने किया है। अपराधों के विषय में अब दृष्टिकोण बदलता जा रहा है। अब यह नहीं समझा जाता कि अपराधी अपने माँ-बाप से ही अपराध करने की प्रवृत्ति लेकर आता है। आज का दृष्टिकोण समाज-शास्त्रीय दृष्टिकोण है। यह समझा जाता है कि अपराध का मुख्य कारण परिस्थिति है—चाहे वह घर की हो, समाज की हो, भौतिक हो, मनोवैज्ञानिक हो, परन्तु मनुष्य में अपराध करने का बीज परिस्थिति से

[ख] "A delinquent is a person under age who is guilty of anti-social act and whose misconduct is an infraction of law." —*Newmeyer.*

*** 1. What is the difference between criminal and delinquent? What plan would you suggest for the care of the delinquents? (1960)**

2. Distinguish between crime and delinquency and analyse the causes of increasing rate of delinquency in India. (1961)

† 1. Discuss the measures that have been adopted in advanced countries for the reform of juvenile delinquents. (1957)

2. What steps should be taken to reform juvenile offenders? (Rajasthan, 1955)

3. Discuss the role of home, the school and the correctional institutions in the rehabilitation of juvenile offenders. (1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पड़ता है। इसीलिए अपराधों का इलाज करने के स्थान में अपराधी का इलाज करने का प्रयत्न किया जा रहा है, अपराधी को सुधारने की दिशा में ज्यादा उद्योग हो रहा है, अपराधी के निकट संपर्क में आकर उसके जीवन को बदलने का प्रयत्न हो रहा है। युवापराधियों के विषय में अगर यह बात उचित है कि उनको दंड देने के बजाय उनका सुधार करने का प्रयत्न करना चाहिए, तो किशोरापराधियों के विषय में तो यह बात और भी अधिक उचित है। किशोरापराधी ही तो आगे चलकर युवापराधी बनता है। इसलिए इस दिशा में जो सुधार के प्रयत्न हो रहे हैं, उनका दिग्दर्शन कराना आवश्यक है।

(क) किशोर-न्यायालय
(Juvenile Courts)

कोई समय था जब कानून के सामने ७ से १४ वर्ष के बच्चों को बड़ों की तरह अपराधी समझा जाता था और उसी प्रकार दण्ड दिया जाता था। बच्चों तथा बड़ों को एक-से अपराधों के लिए एक-से दण्ड दिये जाते थे, उन्हें जेल में एक-साथ रखा जाता था, जब ये बच्चे जेलों से निकलते थे, तो जो थोड़ा-बहुत उनमें कच्चापन होता था, वह भी निकल जाता था। बच्चों तथा बड़ों को भिन्न-भिन्न दृष्टि से देखना चाहिए—यह एक नया विचार है और इस विचार के अनुसार 'अपराधी-न्यायालय' (Criminal Court) तथा 'किशोर-न्यायालय' (Juvenile Court) अलग-अलग होने चाहिएँ। अब कई देशों में बच्चों के लिए अलग और बड़ों के लिए अलग न्यायालय खुल गये हैं और जिनमें अब तक नहीं खुले उनमें खुलते जा रहे हैं। इन दोनों प्रकार के न्यायालयों का एक-दूसरे से निम्न भेद है :—

अपराधी-न्यायालय (Criminal courts)	किशोर-न्यायालय (Juvenile courts)
१. इसमें दो विरोधी पक्षों की गवाहियाँ ली जाती हैं और देखा जाता है कि व्यक्ति ने अपराध किया है या नहीं किया।	१. इसमें वैज्ञानिक ढंग पर जानने का प्रयत्न किया जाता है कि किस मनोवृत्ति के कारण बालक ने अपराध किया है।
२. गवाहियों का उद्देश्य सिर्फ़ यह जानना होता है कि अपराध किया गया या नहीं, इसलिए यह मुकद्दमा (Trial) कहलाता है।	२. इसमें 'मुकदमा' नहीं चलता परन्तु ज्यादातर बालक की बात सुनी जाती है, इसलिए यह 'सुनवाई' (Hearing) कहलाती है।
३. इसमें चल रहे मुकदमे के अतिरिक्त मुल्जिम के चाल-चलन का पता लगाने की व्यवस्था नहीं होती।	३. इसमें बालक के साधारण चाल-चलन का पता लगाने की लंबी-चौड़ी व्यवस्था की जाती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. अगर मुल्जिम के चाल-चलन की चल रहे मुकदमे के अतिरिक्त दूसरी बातें ज्ञात हों, तो इस मुकदमे की सज़ा बढ़ाने-घटाने पर उसका विशेष प्रभाव नहीं पड़ता।	४. बालक के साधारण चाल-चलन का जानना इसमें आवश्यक है क्योंकि उसी के आधार पर यह व्यवस्था करनी होती है कि उसके सुधार के लिए किस प्रकार का कदम उठाया जाय।
५. दोषी पाये जाने पर जेल भेजा जाता है, और दंड दिया जाता है।	५. दोषी पाये जाने पर जेल नहीं भेजा जाता, उसे सरकारी संरक्षा में लेकर सुधार-अधिकारी की देख-रेख में या रिफ़ॉर्मेटरी में भेजा जाता है।
६. जेल में व्यवहार 'अपराधी' को दृष्टि में रख कर नहीं, 'अपराधों' को दृष्टि में रख कर विधान-सभाओं द्वारा बनाये कानूनों के अनुसार किया जाता है। ये कानून भिन्न-भिन्न अपराधियों को सामने रख कर बनाये ही नहीं जा सकते, इस दृष्टि से बनाये जाते हैं कि जो कोई भी चोर आदि हों, उन सब पर एक समान लागू किये जायें ताकि आगे से वे अपराध न करें।	६. सुधार-अधिकारी उसे माता-पिता की संरक्षा में ही छोड़ देता है, उसकी सिर्फ़ देख-रेख करता है। रिफ़ॉर्मेटरी में भी उस पर खास तौर पर देख-रेख रखी जाती है। इनके साथ व्यवहार के कोई निश्चित नियम नहीं होते। उद्देश्य 'अपराधों' को दूर करना नहीं, इस 'अपराधी' का सुधार करना होता है, इसलिए सबके साथ एक-सा बर्ताव करने के बजाय हर अपराधी के साथ उसके योग्य बर्ताव किया जाता है।

अमरीका में पहले-पहल १८९९ में 'किशोर-न्यायालय' (Juvenile Courts) बने। इससे पहले ७ वर्ष तक के बालक को बड़ों के साथ नहीं गिना जाता था, उससे ऊँची आयु के बालक अन्य अपराधियों के साथ ही गिने जाते थे। १८९९ में यह आयु १६ वर्ष कर दी गई। १६ वर्ष तक के अपराधियों के लिए अलग न्यायालयों की व्यवस्था की गई। धीरे-धीरे यह आयु १६ से १७, १८ और कई अपराधों में २१ तक कर दी गई। जिन देशों में 'किशोर-न्यायालय' (Juvenile courts) बन गये हैं, उनमें तो बच्चों के मामले 'अपराधी-न्यायालय' (Criminal courts) में जाते ही नहीं, 'किशोर-न्यायालयों' में जाते हैं, जिनमें 'किशोर-न्यायालय' नहीं बने, उनमें भी ऐसे कानून बन गए हैं जिनके अनुसार बच्चों के लिए सुधार की दृष्टि से कानून बना दिये गये हैं और 'अपराधी-न्यायालय' इन कानूनों के अनुसार ही निर्णय देते हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इंग्लैंड में भी इस बात को अनुभव किया गया कि बच्चों या बड़ों के अपराधों को एक ही श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। बच्चों के लिए अलग कानून बनाने की व्यवस्था करना लाज़मी है। इस दृष्टि से इंग्लैंड में भिन्न-भिन्न समयों पर भिन्न-भिन्न कानून बनाये गये, जिनका उद्देश्य कानून के नाम से ही स्पष्ट हो जाता है। इस संबंध के अंग्रेज़ी कानून निम्न हैं :—

१८५७ में रिफ़ॉर्मेटरी-स्कूल एक्ट बना,
१८७९ में समरी जुरिसडिक्शन एक्ट बना,
१८८७ में प्रोबेशन ऑफ़ फर्स्ट औफ़ेण्डर्स एक्ट बना,
१९०७ में प्रोबेशन ऑफ़ औफ़ेण्डर्स एक्ट बना,
१९२५ में प्रोबेशन ऑफ औफेण्डर्स एक्ट, प्रिवेंशन ऑफ क्राइम एक्ट, क्रिमिनल जस्टिस एडमिनिस्ट्रेशन एक्ट, तथा चिल्ड्रेन एक्ट— इन सब एक्टों का एकीकरण १९२५ के एक्ट में किया गया।
१९३३ में चिल्ड्रेन एण्ड यंग परसन्स एक्ट बना।

भारत में बम्बई में 'किशोर-न्यायालय' है। इसका वातावरण न्यायाधीश, अपराधी, पुलिस का-सा नहीं होता, अपितु मनोवैज्ञानिकों की प्रयोग-शाला का-सा होता है। पुलिस के लोग भी रौबदार वर्दी में नहीं होते। न्यायाधीशों में दो स्त्री-न्यायाधीश भी होती हैं। सारा वातावरण सहानुभूति से ओत-प्रोत होता है। जैसे चिकित्सक रोगी का इलाज करने के लिए अपने सहयोगियों से सलाह करता है, वैसे न्यायाधीश भी बालक का सुधार करने के लिए यह सोच-विचार करता है कि उसको सही रास्ते पर किस प्रकार डाला जाय। इस प्रकार के 'किशोर-न्यायालयों' के प्रत्येक प्रान्त में बनने की आवश्यकता है।

उक्त 'अपराधी-न्यायालय' तथा 'किशोर-न्यायालय' बालकों के सुधार की दृष्टि से अपराधी बालकों के लिए दो प्रकार की आज्ञाएँ देते हैं। एक व्यवस्था तो अपराधी बालक को किसी 'सुधार-अधिकारी' (Probation officer) की देख-रेख में छोड़ने की है, दूसरी व्यवस्था उसे किसी 'सुधार-गृह' (Reformatory school) में भेज देने की है। 'सुधार-गृह' कई प्रकार के हैं, जिनमें एक प्रकार 'बोर्स्टल-संस्था' (Borstal Institute) की है। किशोरापराधियों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए 'सुधार-अधिकारी', 'सुधार-गृह', 'बोर्स्टल' का जानना आवश्यक है। आगे हम इन तीनों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

(ख) सुधार-अधिकारी (Probation officer)*

इस बात को माना जा रहा है कि अनेक बालकों तथा युवाओं का सुधार हो सकता है। उन्हें दंड देकर सीधा जेल भेज देने से वे पक्के अपराधी बन जाते हैं। अमरीका में 'युवा-सुधार-कानून' (Youth Correction Act) बना

---

* How far is probation helpful in the control of juvenile delinquency? (Rajasthan, 1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ है, जिस के अनुसार जज को २१ वर्ष से कम आयु के अपराधियों को 'युवा-सुधार-अधिकारियों' (Youth Correction Authority) के पास भेज देने का अधिकार है। उत्तर-प्रदेश में १९५२ में 'बाल-सुधार-कानून' (Children's Act) स्वीकृत हुआ है जिसके अनुसार १६ वर्ष से कम आयु के बालकों के सुधार के लिए आश्रम खोले जा रहे हैं, और जो बालक अपराधी पाये जाते या आवारा फिरते मिलते हैं, जिन बालकों के घर का वातावरण उनके स्वस्थ विकास के लिए ठीक नहीं होता, उन्हें इन आश्रमों में रख कर दस्तकारी आदि की शिक्षा दी जाती है। ऐसे कानून सारे देश में बनने की भी व्यवस्था हो रही है।

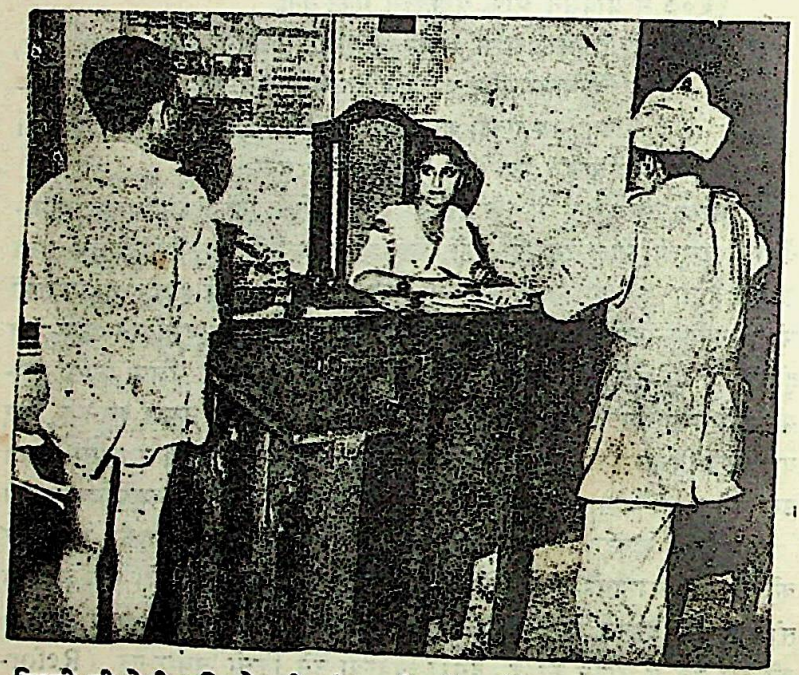

दिल्ली की लेडी मजिस्ट्रेट श्रीमती गुरदीपकौर नौनिहालसिंह एक अपराधी बच्चे से प्रश्नोत्तर कर रही हैं।

बाल-सुधार के लिए कुछ नये परीक्षण किये जा रहे हैं। १९३८ में उत्तर प्रदेश में 'प्रथम-अपराधी-प्रवीक्षा-कानून' (First Offender's Probation Act) पास हुआ। इस कानून के अनुसार १८ वर्ष से छोटी आयु का व्यक्ति अगर कोई अपराध करे, तो न्यायाधिकारी उसे दण्ड तो दे देता है, परन्तु जेल में भेजने के स्थान में 'सुधार-अधिकारी' (Probation Officer) के सुपुर्द कर देता है। इस समय उत्तर-प्रदेश में प्रायः सभी जिलों में सुधार-अधिकारी हैं। मैजिस्ट्रेट पहले 'सुधार-अधिकारी' से रिपोर्ट माँगता है कि उसकी सम्मति में अमुक अपराधी को उसकी देख-रेख में छोड़ा जा सकता है या नहीं। 'सुधार-अधिकारी' जाँच-पड़ताल करके पता लगाता है कि वह अपराधी कैसा है, प्रयत्न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से वह सुधर सकता है या नहीं। अगर सुधर सकता है, तो अपराधी इस शर्त पर छोड़ दिया जाता है कि जितने समय का उसे दंड मिला है, उतने समय तक वह घर में रहता हुआ 'सुधार-अधिकारी' के सम्पर्क में रहेगा। 'सुधार-अधिकारी' को अपराधी नियत दिनों में मिलता रहता है, 'सुधार-अधिकारी' भी समय-समय पर अपराधी के घर पर जाकर उसकी पड़ताल करता रहता है। वह कितना कमाता है, कमाई घर लाता है या नहीं, चाल-चलन कैसा है, पड़ौसियों की उसके विषय में क्या सम्मति है—ये सब बातें पता लगाकर 'सुधार-अधिकारी' बालक का सुधार करने का प्रयत्न करता है। दिल्ली, बम्बई, मद्रास, बिहार आदि में भी ऐसे ही कानून बने हुए हैं।

सुधार-अधिकारी के काम

सुधार-अधिकारी को अंग्रेज़ी में 'प्रोबेशन-आफिसर' कहते हैं, जिसका सुधार किया जाय उसे 'प्रोबेशनर' कहते हैं। 'प्रोबेशन' के लिए हिन्दी में 'प्रवीक्षण'-शब्द का प्रयोग होता है। 'सुधार-अधिकारी' या 'प्रवीक्षक' के निम्न काम हैं:

(क) जिस बालक या किशोर को 'प्रोबेशन' पर रखना है उससे निकटता, मित्रता स्थापित करना, उससे सहानुभूति प्रदर्शित करना।

(ख) प्रोबेशनर के घर जाकर उससे मेल-मुलाकात रखना, कभी-कभी उसे अपने निवास-स्थान पर भी बुलाना, उसे यह अनुभव कराना कि वह उसका हित-चिन्तक है।

(ग) प्रोबेशनर ने न्यायालय में जिन शर्तों के पालन करने का वचन देकर बौंड भरा है उन शर्तों के पालन में उसे प्रेरित करना तथा सहायता देना।

(घ) न्यायालय को प्रोबेशनर की गति-विधि से समय-समय पर सूचित करते रहना।

(ङ) अगर प्रोबेशनर को काम-धन्धे की ज़रूरत हो तो उसे किसी व्यवसाय को करने में सहायता देना।

(च) समय-समय पर प्रोबेशनर की समस्याओं का पता लगाकर उसे उनके हल करने में परामर्श देना।

इस व्यवस्था से लाभ

(क) इस व्यवस्था से बालक सुधरने का प्रयत्न करता है। जब उसे मित्रता, सहानुभूति, सहायता मिलती है तब वह अपने को समाज के अनुरूप बनाने का प्रयत्न करता है।

(ख) इस व्यवस्था से बालक कारावास के घृणित वातावरण से बच जाता है। उस वातावरण में रहकर तो कुसंगति के प्रभाव से वह और पक्का अपराधी बनकर निकलता, परन्तु इस व्यवस्था से वह ऐसे संकट से बच जाता है।

(ग) इस व्यवस्था से इतना ही नहीं कि बालक अपराधी होने से बच जाता है, वह समाज का उपयोगी अंग बन जाता है। अनुभव ने सिद्ध किया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है कि जितने बालकों को प्रवीक्षण पर छोड़ा जाता है उनमें से दो-तीन को छोड़कर बाकी सब सन्मार्ग पर चलने लगते हैं।

(ग) सुधार-गृह (Reformatory School)

सुधार-गृह दो तरह के हो सकते हैं। 'किशोर-सुधार-गृह' (Juvenile reformatories) तथा 'वयस्क-सुधार-गृह' (Adult reformatories)। बालकों के लिए 'किशोर-सुधार-गृह' तथा बड़ों के लिए 'वयस्क-सुधार-गृह' बनाये जाते हैं। इनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के गृह-उद्योग सिखाये जाते हैं। ये एक प्रकार की 'औद्योगिक-पाठशालाएँ' होती हैं जिनमें बालकों तथा बड़ों को काम सिखा कर उन्हें अपराध से निवृत्त करने का प्रयत्न किया जाता है। अनेक अपराध काम न मिल सकने के कारण होते हैं। जब इनको जीवन में कमाने के लिए कोई धंधा सिखा कर इस योग्य बना दिया जाता है कि ये अपने पाँवों पर खड़े हो सकें, तब अपराधी-कार्यों को वे अपने आप छोड़ देते हैं। लखनऊ तथा बरेली में इस प्रकार के सुधार-गृह सरकार की तरफ़ से बन चुके हैं। पूर्वी पंजाब में हिसार में एक सुधार-गृह खुला है जिसमें पंजाब, दिल्ली और हिमाचल-प्रदेश के बालापराधी भेजे जाते हैं। बम्बई में डेविड सैसून औद्योगिक स्कूल, चैम्बूर में बाल-गृह, पूना में यरवदा औद्योगिक-स्कूल, सतारा में श्री साहू छत्रपति बोर्डिंग हाउस, नासिक में सेवा-सदन-गृह, शोलापुर में सर्टिफ़ाइड स्कूल, धारवाड़ में बोर्स्टल स्कूल आदि इस दिशा में अच्छा कार्य कर रहे हैं। मध्य-प्रदेश के लिए जबलपुर में तथा पश्चिमी बंगाल, बिहार एवं उड़ीसा के लिए हजारीबाग में एक सुधार-गृह है। इन स्कूलों में निश्चित समय तक रहने के बाद जब ये बालक बाहर निकलते हैं, तब भी इनकी देख-रेख आवश्यक है। ठीक धन्धा न मिल सकने के कारण फिर से ये लोग अपराधी-मनोवृत्ति के शिकार हो सकते हैं। इस उद्देश्य से रिफ़ॉर्मेटरी से बाहर निकलने के बाद इनकी देख-रेख के लिए 'उपरान्त संरक्षण-समितियों' (After-care associations) की आवश्यकता है। बम्बई में इस प्रकार की समिति बनी हुई है, अन्य प्रांतों में भी जहाँ-जहाँ रिफ़ॉर्मेटरियाँ हैं, इनके बनने की ज़रूरत है।

(घ) बोर्स्टल-संस्था (Borstal Institute)*

१६०२ में सर रगल्स ब्राइस (Ruggles Brice) ने इंग्लैंड के बोर्स्टल स्थान पर एक ग़ैर-सरकारी जेलखाना स्थापित किया जिसका उद्देश्य किशोरा-पराधियों को वहाँ रख कर उनका सुधार करना था। १६०८ में बोर्स्टल-प्रशिक्षण को सरकारी मान्यता दे दी गयी। १६३० में बोर्स्टल जेलखानों में बालक के सुधार के लिए शिक्षा के नवीन सिद्धांतों का उपयोग शुरू किया गया। १६४८ से इस पद्धति को और अधिक मान्यता दी जाने लगी। यह निश्चय किया गया

---

* How far have Borstal institutions helped in solving the ◇ile delinquency problem? (1952)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कि बोर्स्टल में १६ वर्ष से कम और २१ वर्ष से अधिक आयु का युवक नहीं रह सकेगा। इस अवस्था में सुधार की संभावना रहती है इसलिए आयु की निचली तथा ऊपरली ये दो सीमाएँ निर्धारित की गयीं। यह निश्चय किया गया कि बोर्स्टल के लिए युवक को कम-से-कम तीन या चार साल के लिए भेजना चाहिए ताकि दो साल तक शिक्षा-संस्था में काम-धंधा सीख कर संस्था से निकलने के बाद एक-दो साल उसकी 'उपरान्त देख-रेख' (After-care) की जा सके।

बोर्स्टल-पद्धति में बालक तथा संस्था के अधिकारी का निकट का संबंध होना आवश्यक है। इस पद्धति का आधारभूत सिद्धान्त ही यह है कि अपराधी-बालक के व्यक्तित्व को इस प्रकार बढ़ावा दिया जाय जिससे वह अपराधी मनोवृत्ति को परे फेंक दे। इस पद्धति में 'अपराध' का इतना ख्याल नहीं किया जाता जितना 'अपराधी' का किया जाता है ? 'अपराध' तो 'अपराधी' की किसी विशेष परिस्थिति का परिणाम होता है। वह परिस्थिति क्या थी, क्यों थी, वैसी परिस्थिति आगे उत्पन्न न हो, यह सब प्रयत्न करना बोर्स्टल के अधिकारी का काम है।

यद्यपि 'बोर्स्टल-स्कूल कानून' मद्रास, आन्ध्र, पंजाब, बंगाल, मध्य-प्रदेश, उत्तर-प्रदेश, बम्बई, मैसूर, तथा ट्रावनकोर (केरल) में लागू है, तथापि अभी भारत में सिर्फ़ एक बोर्स्टल-संस्था है। इनके अधिक बढ़ाने की आवश्यकता है क्योंकि अपराधों की ज्यादातर नींव इसी उम्र में पड़ती है जिस उम्र के बालकों का सुधार 'बोर्स्टल-पद्धति' का मुख्य लक्ष्य है।

'सुधार-गृह' (Reformatory) तथा 'बोर्स्टल-संस्था' (Borstal institute) में भेद यह है कि 'सुधार-गृह' तो एक प्रकार का मान्यता-प्राप्त विद्यालय ही है जिसमें छोटी आयु के अपराधी बालक सुधार की दृष्टि से भेजे जाते हैं, उन्हें अन्य स्कूल के विद्यार्थियों की तरह पढ़ाया जाता है, 'बोर्स्टल' भी एक प्रकार के मान्यता-प्राप्त विद्यालय हैं, परन्तु विद्यालय के साथ वे एक प्रकार के बन्दीगृह ही हैं जिनमें १५ से २० और कभी-कभी २३ वर्ष तक के वयस्क अपराधी रखे जाते हैं। अगर कोई अपराधी 'बोर्स्टल' में रह कर भी सुधरता नज़र नहीं आता, तो उसे बाकायदा जेल में ही भेज दिया जाता है।

किशोरापराधियों के लिए भारत के १५ राज्यों में कानून बने हैं। कुछ राज्यों में इनके मुकदमे विशेष अदालतों में पेश होते हैं। अभी तक इस प्रकार के अपराधियों की सुधार-संस्थाओं की बहुत कमी है। योजना-आयोग के विवरण के अनुसार इस समय किशोरापराधियों के लिए देश भर में ६७ हवालात, ४९ सर्टिफ़ाइड स्कूल, ७ सुधार-स्कूल, ५ किशोरापराधी-जेल तथा १ बोर्स्टल स्कूल है। यह व्यवस्था बहुत कम है, इसलिए केन्द्रीय सरकार ने राज्य-सरकारों को सुझाव दिया है कि प्रत्येक प्रमुख नगर में किशोरापराधियों के लिए एक हवालात होनी चाहिए, इनमें वे किशोरापराधी रखे जायेंगे, जिनके मामलों की जाँच या सुनवाई हो रही हो। केन्द्रीय-सरकार ने प्रत्येक राज्य में एक सर्टिफ़ाइड

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्कूल तथा छात्रावास खोलने का भी सुझाव दिया है ताकि इनमें उन बाल-अपराधियों को रखा जाय, जो मुचलके पर छोड़ दिये जाते हैं और जिन्हें उपयुक्त परिवारों में रखने की व्यवस्था नहीं की जा सकती। केन्द्रीय सरकार का एक और सुझाव प्रत्येक राज्य में एक-एक बोर्स्टल-स्कूल खोलने का है, जिसमें १५ से २० वर्ष की अवस्था के किशोरापराधी रखे जा सकें।

प्रश्न

१. किशोरापराध के कारणों की विवेचना कीजिये। बोर्स्टल संस्थाएँ इस समस्या को हल करने में कहाँ तक सफल हुई हैं? (१९५२)

२. कौन-से कारक बालापराध के लिए प्रमुख रूप से उत्तरदायी हैं? बालापराधियों को सुधारने के लिए कौन-से उपाय करने चाहियें? (राजस्थान, १९५५)

३. "बालापराधों का मुख्य कारण दरिद्रता है"—इस कथन की विवेचना कीजिये। (१९५६)

४. प्रगतिशील देशों में बालापराध के सुधार के जो तरीके अपनाये गये हैं उनकी विवेचना कीजिये। (१९५७)

५. बालापराधियों के पुनः प्रतिष्ठान में गृह, विद्यालय तथा सुधार-संस्थाओं के महत्व की विवेचना कीजिये। (१९५८)

६. अपराधी और किशोर-अपराधी में क्या अन्तर है? किशोर-अपराधियों की देख-भाल के लिए आप कौन-सी योजना प्रस्तुत करेंगे? (१९६०)

७. किशोरापराध को बढ़ाने के मुख्य कारणों पर प्रकाश डालिये। (राजस्थान, १९६०)

८. बालापराध को रोकने के लिए प्रोबेशन कहाँ तक सफल हो सकता है? (राजस्थान, १९६१)

९. अपराध और बालापराध में भेद बतलाइये और भारत में बालापराध की बढ़ती हुई संख्या का कारण बतलाइये। (१९६१)

१०. बालापराध तथा निर्धनता के पारस्परिक संबंध की विवेचना कीजिये। (राजस्थान, १९६१)

११. भारत में बाल-अपराध की सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठ-भूमि की व्याख्या कीजिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२४

नशा-निरोध
(PROHIBITION)

१. नशा-निरोध का अर्थ*

स्वतंत्र भारत की नीति नशा-निरोध की नीति है। भारतीय संविधान के ४७वें अनुच्छेद में कहा गया है कि नशीले पदार्थों के सेवन को रोकने का प्रयास करना राज्य-सरकारों का कर्तव्य है। तो फिर नशीले-पदार्थों के सेवन को रोकने का क्या अर्थ है ?

(क) उत्तेजक या अचेतनाकारक पदार्थों पर रोक—नशीले पदार्थ तीन तरह के हो सकते हैं—उत्तेजक, अचेतनाकारक, न्यून चेतना कारक। शराब उत्तेजक पदार्थ है, अफ़ीम अचेतनाकारक है, चरस, गाँजा, भाँग चेतना को न्यून कर देते हैं। ये सब पदार्थ स्वास्थ्य को नष्ट करते हैं, इसलिए इन सब नशीले पदार्थों पर रोक लगाना नशा-निरोध है।

(ख) नशा-निरोध की नीति रूढ़िगत नहीं है—नशा-निरोध की नीति एक गतिशील नीति है, रूढ़िगत नीति नहीं। इसका क्या अर्थ है ? इसका अर्थ यह है कि अनेक औषधियों में मद्य की, अफ़ीम की, भाँग की आवश्यकता पड़ती है।

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :—

1. Discuss the socio-economic importance of prohibition in India. How far will prohibiton be beneficial to Indian labourers? (1951)

2. * What do you understand by prohibition? How is it likely to benefit the people? Has this policy been successful in U.P. (1955)

3. Make a case for prohibition in India. Has it been successful? (1958)

4. To what extent has prohibition helped in improving the socio-economic condition of the labourer in India? (1959)

5. Write short note on Prohibition policy of Indian Government. (1961)

6. "The policy of prohibition is bound to end in failure." Discuss. (1963)

7. *Write short notes on Prohibition in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उन पदार्थों के निर्माण के लिए नशा-निरोध-नीति के रहते हुए भी छूट दी जाती है, उस छूट से नशा-निरोध-नीति में भेद नहीं पड़ता। इस नीति के गतिशील होने का यह अर्थ भी है कि कई व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हें डाक्टरी सलाह पर इन पदार्थों के सीमित मात्रा में सेवन करने की आवश्यकता पड़ सकती है। इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए सरकार की तरफ़ से परमिट दिया जा सकता है। ऐसा परमिट देने पर भी सरकारी नीति नशा-निरोध की ही कही जायगी।

(ग) **पूर्ण तथा आंशिक निषेध**—नशा-निषेध पूर्ण भी हो सकता है, आंशिक भी। उदाहरणार्थ, किसी दिन भी शराब न पी जा सके—ऐसा नियम पूर्ण-निषेध है, किसी-किसी दिन की छूट दे देना आंशिक-निषेध है।

२. नशा-निरोध का पुराना इतिहास

नशीले पदार्थों में मद्य, अफ़ीम, भाँग, गाँजा, और चरस आते हैं। इनमें मद्य को छोड़ कर अन्य नशीले पदार्थ अधिकतर नीचे तबके के लोग पीते हैं। मद्य ऐसी चीज़ है जो ऊँचे-नीचे सब तबकों के लोगों में चलती है। पहले हम मद्य के विषय में ही लिखेंगे क्योंकि नशीले पदार्थों में वही एक विकट समस्या है। इसके साथ आनुषंगिक तौर पर हम अन्य नशीली वस्तुओं का भी वर्णन करेंगे।

प्राचीन-भारत में सुरापान को निषिद्ध माना जाता था। यह राक्षसों का पेय था। उच्च-वर्ण के लोग सुरापान से दूर रहते थे। मध्य-काल में इसका कुछ प्रचार हुआ परन्तु उस समय भी कई शासक इसे निषिद्ध करार देते रहे। अलाउद्दीन खिलजी ने १३१० में दिल्ली में नशेबन्दी का कानून लागू कर दिया था। औरंगज़ेब शराब को हाथ नहीं लगाता था। फ़ा-हियान, वास्को-डी-गामा, बर्नियर तथा टैवर्नियर यात्री भारत में आये। उनका कहना यही है कि राजा लोग भले ही नशा करते रहे हों, यहाँ की आम जनता शराब से सदा परहेज़ करती रही।

अंग्रेज़ों के भारत में आने से पहले शराब और नशीली वस्तुओं से सरकार आमदनी नहीं करती थी। इसके दो कारण थे। एक कारण तो यह था कि नशा करने वाले लोग ही थोड़े थे, दूसरा कारण यह था कि इस प्रकार की कमाई को राज्य के लिए उचित कमाई नहीं समझा जाता था। यही कारण है कि जब अंग्रेज़ों की ईस्ट-इंडिया-कम्पनी का यहाँ राज हुआ, तो उन्होंने पहले-पहल आबकारी महकमा खोला, ऐसा महकमा जिसका काम शराब तथा अन्य नशीली वस्तुओं से ठीक उस ढंग की आमदनी करना था जैसी खेती से मालगुज़ारी की आमदनी होती है। १७९० में आबकारी तथा अन्य नशीली वस्तुओं की बिक्री के कानून बने, महकमा खोला गया, आबकारी की पुलिस बनाई गई। शराब बनाना एक प्रकार का गृहोद्योग समझा गया। सरकार की यह नीति ज़रूर रही कि इस पर ज़्यादा-से-ज़्यादा कर लगाया जाय क्योंकि पीने वाला तो हर हालत में कितना भी क्यों न देना पड़े, ख़र्च करके पीयेगा। क्योंकि सरकार को इस विभाग से अच्छी-खासी आमदनी हो जाती थी इसलिए शराब बन्द करना अंग्रेज़-सरकार का उद्देश्य

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कभी नहीं रहा। १८७५–७६ में विदेशों से ७,०१,१७७ गैलन शराब आयी थी, १९०४–०५ में १२,९७,६११ गैलन आयी। इसका यह मतलब नहीं कि क्योंकि इस अर्से में आबादी बढ़ गई इसलिए शराब का आयात भी बढ़ गया। आबादी तो १८७२ से १९०१ तक ४२.७ प्रतिशत बढ़ी, शराब का आयात ८५ प्रतिशत बढ़ा। शराब का इतना अधिक आयात इसीलिए हुआ क्योंकि ब्रिटिश-सरकार की नीति शराब की बिक्री पर कर लगा कर ज़्यादा-से-ज़्यादा रुपया कमाने की थी। १८९९-१९०० तथा १९०५–०६ के बीच शराब की दुकानों की संख्या ८२,१७७ से बढ़कर ९१,४४७ हो गई; नशीली वस्तुओं को बेचने वाली दुकानों की संख्या इस अर्से में १९,७६६ से बढ़कर २१,८६५ हो गई।*

३. भारत सरकार की सन् १९०५ की आबकारी की नीति

७ सितम्बर, १९०५ को तत्कालीन भारत-सरकार ने अपने प्रस्ताव सं० ५००१ द्वारा अपनी आबकारी संबंधी नीति को एक प्रस्ताव का रूप दिया जिससे उनकी नीति की निश्चित दिशा निर्धारित हो जाय। इस प्रस्ताव में कहा गया था—"भारत-सरकार उन लोगों की आदतों में दखल देना नहीं चाहती, जो मध्य-मान में शराब का इस्तेमाल करते हैं। ऐसे व्यक्तियों की ज़रूरियात को पूरा करना लाज़मी है। भारत-सरकार की निश्चित नीति यह है कि शराब जो नहीं पीते उनके सामने पीने के प्रलोभन को कम-से-कम किया जाय, और जो ज़्यादा पीते हैं उन्हें अनुत्साहित किया जाय। आमदनी का ख़्याल इस नीति को मुख्य बना कर रखना होगा। इस नीति को क्रियात्मक रूप देने का उपाय यही है कि शराब पर ज़्यादा-से-ज़्यादा कर लगाया जाय, परन्तु कर बढ़ाते हुए इस बात का ख़्याल रखा जाय कि इससे चोरी-छुपे ग़ैर-कानूनी तौर पर शराब न बनने लगे और शराब की जगह लोग इससे भी ज़्यादा हानिकारक किसी पदार्थ का सेवन न करने लगें। शराब की दुकानों के संबंध में भी सरकारी नीति यह है कि उनकी संख्या परिमित कर दी जाय, और उनका स्थान निश्चित करते समय इस बात का ध्यान रखा जाय कि वे ऐसी जगह पर न हों जहाँ प्रलोभन मनुष्य को पुकारने लगता है। इन दुकानों की जगह निश्चित करते हुए जनता के विचारों का ध्यान रखा जाय। इन दुकानों पर जो शराब बिके वह स्वास्थ्य के लिए हानिकर नहीं होनी चाहिए।"

भारत-सरकार की आबकारी की यह नीति ३२ साल तक ऐसी ही चलती रही। सरकार नशा-निरोध के लिए बहुत उत्सुक तो थी नहीं, इसलिए वह इस कार्य के लिए केवल दो उपाय बरतती रही। एक उपाय था शराब और अन्य मादक-द्रव्यों का दाम ज़्यादा-से-ज़्यादा बढ़ाना, और दूसरा उपाय था मादक-द्रव्य

---

* इस अध्याय के आँकड़े 'Report of the Prohibition Enquiry Committee' से लिये गये हैं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बेचने वाली दुकानों की संख्या कम करना। अगर सरकार सचमुच चाहती कि इन चीज़ों की खपत रुके, लोगों में मादक-द्रव्यों के इस्तेमाल की रुचि घटे, तो इस आशय का कोई कानून बनाती, जनता में इनके विरुद्ध कुछ प्रचार करती, परन्तु ऐसा-कुछ नहीं किया गया, न कानून बने, न प्रचार हुआ। परिणाम यह हुआ कि नशीली चीज़ों की खपत वैसी ही बनी रही, घटने के स्थान में कुछ बढ़ी ही। शराब और नशीले पदार्थ का सेवन ऐसा तो नहीं है कि अगर ये कम तादाद में मिलें, इनके पीने में नियन्त्रण हो, हर दुकान पर न मिल सकें, किन्हीं खास इनी-गिनी दुकानों पर मिलें, महँगे दामों पर मिलें, तो लोग इनका सेवन करना छोड़ दें। ये तो लत हैं, और जब किसी चीज़ की लत पड़ जाती है, तो सस्ते-महँगे का सवाल नहीं रहता, पास-दूर का सवाल नहीं रहता, सवाल किसी-न-किसी तरह उसे पाने का रह जाता है। सरकारी नीति यह थी कि शराब तथा नशीली चीज़ों का ठेका ज्यादा-से-ज्यादा दाम पर उठे, ठेकेदारों की नीति यह थी कि वे इन चीज़ों को बेच कर ज्यादा-से-ज्यादा नफ़ा उठायें और पीने वालों की नीति यह थी कि किसी भाव भी मिले, कहीं पर भी मिले, जब सरकार कहती है कि वह किसी की वैयक्तिक-स्वतंत्रता में दखल नहीं देना चाहती, तो जितना हो सके पियें।

सरकार यह तो नहीं कह सकती थी कि वह नशाखोरी बढ़ाना चाहती है, परन्तु यह सत्य है कि वह नशाखोरी न बढ़ाना चाहती हो, आमदनी ज़रूर बढ़ाना चाहती थी, इसलिए सरकार की घोषित-नीति यह थी कि इतना बढ़ा-चढ़ा कर दाम लो कि लेने वाले की कमर टूट जाय, नशाखोरी अपने-आप बन्द हो जायगी। इस नीति का परिणाम यह हुआ कि नशाखोरी तो नहीं बन्द हुई, सरकार के खजाने भर गए। १९१२–१३ में नशीली चीज़ों पर लगाये गए कर से सरकार को १३.२ करोड़ की आमदनी हुई थी, वह १९३०–३१ में बढ़कर १६.७ करोड़ हो गई; १९३८–३९ में नशीली चीज़ों पर लगाये गए कर से १३.०८ करोड़ की आमदनी हुई थी, वह १९४४–४५ में बढ़कर ४३.४२ करोड़ हो गई। आज भी जब नशाबन्दी की बात की जाती है, तो स्वतंत्र-भारत की राज्य-सरकारों की तरफ़ से कहा जाता है कि रुपया कहाँ से आयेगा? अब तो मादक-द्रव्यों पर लगाये गए कर से जो रुपया आता है, वह शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर व्यय किया जाता है। अगर मादक द्रव्यों का बिल्कुल निषेध कर दिया जाय, तो शिक्षा, स्वास्थ्य आदि पर व्यय करने के लिए रुपए का क्या प्रबन्ध होगा? इस युक्ति को देनेवाले यह नहीं सोचते कि एक तरफ़ शराब से स्वास्थ्य-नाश करना और दूसरी तरफ़ उसी रुपए से स्वास्थ्य का प्रबन्ध करना कुछ अर्थ नहीं रखता। मकान को गिरा कर उसे खड़ा करने की क्या ज़रूरत है? ज़रूरत इस बात की है कि मकान को गिरने ही न दिया जाय, परन्तु फिर भी ऐसे लोग हैं जो अच्छे-भले मकान को गिराकर उस पर कच्चा कोठा खड़ा करना चाहते हैं। अंग्रेज़ी सरकार की अपने राज्य-काल में यही नीति बनी रही।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. कांग्रेसी-सरकार की १९३७-३८ की नशा-निरोधक नीति*

१९३७–३८ में जब कांग्रेसी मन्त्री-मंडल बना तब नशीले पदार्थों के सेवन के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। इस समय कांग्रेस ने मादक-द्रव्यों के निषेध को अपने कार्य-क्रम का एक मुख्य अंग बनाया। कांग्रेस इस दिशा में १९२० से कार्य कर रही थी। १९२० में कांग्रेस ने शराब तथा मादक-द्रव्यों को बेचने वाली दुकानों को बन्द कर देने की माँग की और नशा-निवारण को अपनी नीति घोषित किया। इसके बाद १९३० के सत्याग्रह-आन्दोलन में शराब की दुकानों पर धरना दिया गया। इसी समय जब गांधी-इरविन समझौता हुआ तब महात्मा गांधी ने शराब की दुकानों पर धरना देने को प्रत्येक व्यक्ति का जन्म-सिद्ध अधिकार कहा। १९३१ में कांग्रेस की कार्य-कारिणी ने इस बात को स्पष्ट किया कि शराब की दुकानों पर धरना देना सत्याग्रह-आन्दोलन का हिस्सा नहीं है, यह तो प्रत्येक नागरिक का जन्म-सिद्ध अधिकार है, इसलिए अगर सरकार के साथ किसी समय समझौता करने पर सत्याग्रह का हथियार हटा भी लेना पड़े, तो भी नशीली चीज़ों को बेचने वाली दुकानों पर धरना देना नहीं रुक सकता। १९३७ से सितम्बर १९३९ तक, जब द्वितीय विश्व-युद्ध शुरू हुआ, कांग्रेस मन्त्री-मंडल काम करता रहा। सितम्बर १९३९ में कांग्रेस मन्त्री-मंडल ने इस्तीफ़ा दे दिया। अपने कार्य-काल में कांग्रेस ने मद्रास, सी० पी०, बरार, बिहार, उड़ीसा तथा फ्रंटीयर—इन पाँचों प्रान्तों में मादक-द्रव्य-निषेधक कानून पास किये। पहले-पहल सारे प्रान्त में नशेबन्दी के स्थान में कुछ-कुछ भागों को नशा-निवारण के लिए क्षेत्र चुना गया। मद्रास में १ अक्तूबर १९३७ में सेलम ज़िले को नशा-निषिद्ध-क्षेत्र घोषित किया गया। उसके बाद चित्तूर, कुड्डपाह ज़िलों में १ अक्तूबर १९३८ तथा उत्तरी अरकॉट में १९३९ में नशा-निषेध का कानून लगाया गया। जुलाई १९३८ में बम्बई के अहमदाबाद ज़िले के मज़दूरी इलाकों में, और कुछ देर बाद विशाल-बम्बई में यह कानून जारी हुआ। उत्तर-प्रदेश में १९३८ में दो ज़िलों से यह परीक्षण शुरू हुआ और १९३९ में चार और ज़िलों को नशा-निषिद्ध क्षेत्र घोषित कर दिया गया। मध्य-प्रदेश में १९३८ में ९३३३ वर्ग-मील क्षेत्र को निषिद्ध-क्षेत्र बनाया गया।

जैसा हमने शुरू में ही कहा था नशे से अभिप्राय केवल शराब से नहीं है, अफ़ीम, चरस, गाँजा—सब नशीले पदार्थ हैं। जैसे शराब के निरोध के लिए प्रयत्न हुए वैसे इन पदार्थों के निरोध के लिए भी प्रयत्न हुए। ब्रिटिश-सरकार की तो हर नशीली चीज़ के लिए एक ही नीति थी। 'थोड़े-से-थोड़ा खाओ और ज़्यादा-से-ज़्यादा दाम दो' (Maximum revenue from minimum consumption)—इस नीति के आधार पर शराब, अफ़ीम, गाँजा, भाँग, चरस

---

* Write short note on prohibition policy of Indian Government. (1961, 1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

—सब-कुछ मिलता था। अफ़ीम के लिए तो यह समझा जाता था कि इसको खाना हानिकारक नहीं है, इसे धुएँ के साथ पीना हानिकारक है। आसाम में अफ़ीम को चिलम में पीने की बहुत प्रथा थी। अफ़ीम पीने वालों पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए 'ओपियम स्मोकिंग एक्ट्स' पास किये गए जिनके अनुसार कुछ देर के लिए इनको रजिस्टर्ड किया जाता था, बाद को इनका रजिस्ट्रेशन समाप्त कर दिया जाता था। इनसे आशा की जाती थी कि इस बीच वे अपनी आदत बदल लें। पीनेवालों पर प्रतिबन्ध लगाने पर भी अफ़ीम खाने वालों पर प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया। खाने वालों के विषय में तो वही पुरानी नीति रही कि दाम बढ़ा दो, अपने-आप खाना कम हो जायगा, परन्तु जैसा हम पहिले कह आये हैं, लत वाले दाम की पर्वाह नहीं करते और दाम बढ़ने पर भी जैसे शराब का पीना कम नहीं हुआ, वैसे अफ़ीम का खाना भी कम नहीं हुआ। अन्त में १९४९ में केन्द्रीय-सरकार ने हर साल १० प्रतिशत कोटा कम करने की नीति का अवलम्बन किया और यह निश्चय किया कि धीरे-धीरे १० प्रतिशत कम करते-करते १९५९ में अफ़ीम का खाना-पीना दोनों सर्वथा रोक दिये जाँय।

चरस भाँग की ही एक किस्म है। पंजाब सरकार इसे यारकन्द से काश्मीर के लेह के रास्ते मँगवाकर भिन्न-भिन्न प्रान्तों के लायसेंसशुदा ठेकेदारों में बाँटती है। चरस को चिलम में पीते हैं। यह लत उत्तर-प्रदेश, पंजाब, दिल्ली, बंगाल तथा बम्बई में अधिक है। जहाँ यह पैदा होता था अब वहाँ की सरकार ने इसकी पैदावार बन्द कर दी है इसलिए इसके पीने वाले अब गाँजा पीने लगे हैं। गाँजा भी भाँग से ही बनता है। इसे चिलम में पीते हैं, भाँग घोट कर पी जाती है। जिन प्रान्तों में नशा-निवारण का कानून बना हुआ है, उनमें भाँग की पैदावार पर भी रोक लगी हुई है। मद्रास में १९४७–४८ में भाँग पैदा करने पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और १९४९–५० में गाँजे का गोदाम बन्द कर दिया गया। बम्बई में १९४७ में गाँजे और भाँग के लिए परमिट-प्रथा जारी की गई जिसके अनुसार सरकारी डिपो से केवल रजिस्टर्ड व्यक्तियों को जिन्हें इनकी लत पड़ी हुई है, गाँजा तथा भाँग मिल सकती है। उनके कोटे की भी लगातार कटौती होती रहती है ताकि वे अपनी आदतों को बदलें। इनके दाम भी बढ़ा दिये गए हैं। पश्चिमी बंगाल में गाँजे पर कर १९३२–३३ में ४० रुपए प्रति सेर था, वह १९५१–५२ में २३६ रुपया प्रति सेर कर दिया गया; १९३५–३६ में भाँग पर कर ३ रुपये ८ आने प्रति सेर था, वह १९४९–५० में ६० रुपया प्रति सेर कर दिया गया। बिहार सरकार ने १६ नवम्बर १९४९ में गाँजे पर कर १७५ रुपए से २८० प्रति सेर कर दिया परन्तु इसका नतीजा यह हुआ कि नैपाल से चोरी-छुपे गाँजा आने लगा। इसकी रोक-थाम के लिए बिहार सरकार को फिर वही पुराने दाम कर देने पड़े। चरस तथा भाँग के सम्बन्ध में ब्रिटिश-सरकार तथा स्वतंत्र-भारत की सरकार ने परमिट-पद्धति एवं दाम बढ़ा देने की नीति का आश्रय लेकर इन मादक-द्रव्यों की बिक्री पर पर्याप्त प्रतिबन्ध लगाया। पश्चिमी-बंगाल के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रतिबन्ध का परिणाम यह हुआ कि १९४७–४८ में गाँजे की खपत जहाँ ६७६ मन १८ सेर थी, वहाँ १९५०–५१ में कुल २४० मन ३० सेर हो गई। इसी प्रकार बिहार सरकार की खपत भी कम हुई।

५. स्वतंत्र-भारत की नशा-निरोधक नीति

हमने अभी देखा था कि १९३७–३८ में जब कांग्रेसी मंत्री-मंडल आया, तब उसने अपनी नशा-निरोध नीति के अनुसार ज़ोर से कार्य करना शुरू कर दिया। १९३९ में द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारंभ होने पर कांग्रेसी मन्त्री-मंडल ने इस्तीफ़ा दे दिया था। १९४६ में फिर सार्वजनिक मंत्री-मंडल बना। १५ अगस्त १९४७ में जब देश का विभाजन हो कर देश स्वतंत्र हुआ तब कांग्रेस ने फिर से अपनी नशा-निरोधक नीति को क्रियान्वित किया। देश के स्वतंत्र होने पर स्वतंत्र-भारत का जो संविधान बना उसमें 'प्रेरक-निर्देशों' (Directive Principles) में ४७वें खंड में कहा गया था—"राज्य के प्राथमिक-कर्त्तव्यों में एक कर्तव्य यह भी होगा कि अपने नागरिकों के पोषण के स्तर तथा जीवन के मान-दंड को ऊँचा करे, और विशेष तौर पर राज्य उद्योग करे कि नशीले पेयों तथा औषधों का, जो स्वास्थ्य के लिए हानिकर हैं, चिकित्सा को छोड़ कर अन्य किसी प्रकार का उपयोग न किया जा सके।"

इस नीति को आधार बनाकर देश को दो भागों में बाँट दिया गया। एक तो वे राज्य थे जिनमें नशा-निवारण चालू किया गया, दूसरे वे राज्य थे जिनमें लक्ष्य तो नशा-निवारण रखा गया परन्तु आर्थिक कारणों से वहाँ की राज्य-सरकारों ने इस नीति को शुरू नहीं किया। नशा-निवारण करने वाले राज्य थे—बम्बई, सौराष्ट्र, मद्रास, मैसूर, उत्तर-प्रदेश, मध्य-प्रदेश, उड़ीसा, ट्रावनकोर-कोचीन तथा कुछ अन्य प्रदेश; नशा-निवारण न करने वाले राज्य थे—पश्चिमी बंगाल, बिहार, हैदराबाद, राजस्थान, पेप्सू तथा अजमेर एवं कुर्ग को छोड़ कर सब 'सी'-राज्य। अब तो नए विभाजन के अनुसार 'सी' राज्य रहे नहीं, दिल्ली के लिए कॉर्पोरेशन बन गया है, और दिल्ली में भी १९५६ से नशाबन्दी का श्रीगणेश हो गया।

६. पूर्ण नशाबन्दी के राज्य

महाराष्ट्र—१९४६ में जब जनता की सरकार बनी तब बम्बई राज्य ने यह निश्चय किया कि अप्रैल १९४७ से प्रारंभ करके तीन साल के अन्दर-अन्दर नशाबन्दी का काम पूरा कर दिया जाय। इस नीति के अनुसार शराब तथा अन्य मादक-द्रव्यों में प्रति वर्ष २५ प्रतिशत की दर से कटौती की जाने लगी और ६ अप्रैल १९५० में बम्बई राज्य भर में नशा-निवारण जारी कर दिया गया। शुरू-शुरू में २५ प्रतिशत कटौती के अलावा इस दिशा में अन्य कुछ उपाय भी बर्ते गए। वे थे—(क) १९४७–४८ में सप्ताह में २ दिन, १९४८–४९ में सप्ताह में ३ दिन, १९४९–५० में सप्ताह में ५ दिन नशे की दुकानों को बन्द रखा गया, (ख) १९४७–४८ से १९४९–५० तक उक्त प्रकार की दुकानों में क्रमशः कमी की

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गई, (ग) देशी शराब की मादकता को हल्का किया गया, (घ) विदेशी शराब तथा नशीली दवाइयों को रख सकने की मात्रा में क्रमिक ह्रास किया गया, (ङ) देसी शराब पर कर बढ़ाया गया और (च) नशाबन्दी के कानूनों को तोड़ने के अपराधों के दण्ड बढ़ा दिये गए। तीन साल का समय इसलिए रखा गया ताकि इस बीच में नशा करने वाले अपनी आदतें बदल लें, नशीली चीज़ें बेचने वाले अपने लिए कोई दूसरा धंधा चुन लें और सरकार इस आमदनी को गया समझ अपना खर्च चलाने का कोई दूसरा रास्ता निकाल ले। इसके बाद बिना परमिट या लाइसेंस के कोई नशीली चीज़ नहीं रख सकता। परमिट सिर्फ़ स्वास्थ्य की दृष्टि से उन लोगों को दिया जाता है जिनको डाक्टरी दृष्टि से इसकी ज़रूरत होती है। फ़ौजों में और विदेशी दूतावास के उन लोगों को जिनके देश में शराब आम तौर से पी जाती है, शराब पीने की आज्ञा है, परन्तु उसके लिए भी परमिट लेना ज़रूरी है। पारसी, ईसाई, यहूदी अपने धार्मिक कार्यों के लिए आज्ञा लेकर शराब रख सकते हैं। डाक्टरों, वैद्यों, होम्योपैथों को भी औषध के लिए इनकी आज्ञा दे दी जाती है। शराब के साथ-साथ अफ़ीम, चरस, गाँजा, भाँग, टौडी—इन सब की मनाही कर दी गई है। जब से बम्बई में नशाबन्दी की योजना चालू हुई है तब से मादक-द्रव्यों पर लगाये गए कर से आमदनी जो १९४५–४६ में ८९१ लाख थी, १९५०–५१ में गिरकर १०७ लाख रह गई और १९५४–५५ में सिर्फ़ ६९ लाख रह गई। १ अप्रैल १९६१ से महाराष्ट्र में पूर्ण नशाबन्दी है। पिछले दिनों दिसम्बर १९६३ में महाराष्ट्र के मुख्य मंत्री ने इस दिशा में नीति बदलने की बातें कहनी शुरू की थीं, परन्तु जनवरी १९६४ में भुवनेश्वर में जो कांग्रेस का अधिवेशन हुआ उसमें यह निश्चय किया गया कि नशाबन्दी के संबंध में कांग्रेस की घोषित नीति को ढीला न किया जाय।

सौराष्ट्र—बम्बई की योजना के अनुसार सौराष्ट्र में ६ अप्रैल १९५० से नशाबन्दी चालू की गई। सौराष्ट्र में पहले ही शराब का बहुत अधिक प्रचार नहीं था इसलिए वहाँ अन्य प्रान्तों की-सी कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा। यहाँ १९५०–५१ में मादक-द्रव्यों से आमदनी १५ लाख थी, जो १९५४–५५ में ७ लाख रह गई। अब जो आमदनी हो रही है, वह ज्यादातर अफ़ीम से तथा औषधियों एवं उन पदार्थों पर लगाये गए कर से वसूल हो रही है, जिनके बनाने में ऑलकोहल का प्रयोग होता है।

मद्रास—मद्रास में नशाबन्दी की योजना तीन क्रमों में चालू की गई। पहले-पहल १ अक्तूबर १९४६ में आठ ज़िलों को नशा-निषिद्ध-क्षेत्र घोषित किया गया; १९४७ में इस योजना में आठ और ज़िले सम्मिलित कर दिये गये और २ अक्तूबर १९४८ में शेष नौ ज़िलों पर यह योजना लगा दी गई। बम्बई में जिस प्रकार किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में अपवाद है, वैसा इस राज्य में भी है। अफ़ीम खाने वालों को रजिस्टर्ड किया गया और १ अक्तूबर १९४९ से उन पर २० प्रतिशत कटौती लागू की गई। सितम्बर १९५३ तक अफ़ीम को भी खत्म

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर दिया गया, सिर्फ़ उन लोगों को परमिट दिया जा रहा है जो इसके इतने आदी हो चुके हैं कि उनसे यह छूट ही नहीं सकती। उनको भी बिना डाक्टरी सर्टिफ़िकेट के अफ़ीम नहीं मिल सकती। १९४५–४६ में इस मद से आमदनी १२.८ करोड़ थी, जो १९५४–५५ में मद्रास तथा आन्ध्र दोनों राज्यों को मिलाकर ३२ लाख रह गई। यह आमदनी भी औषधियों तथा अन्य पदार्थों में इस्तेमाल की जाने वाली ऑलकोहल पर लगाये गए कर से या नशाबन्दी के कानूनों को तोड़ने वालों पर लगाये गए जुर्माने से वसूल होती है।

७. अर्ध-नशाबन्दी के राज्य

मैसूर—मैसूर में बंगलौर, गुलबर्गा तथा रायचूर ज़िलों को छोड़ कर सब ज़िलों में यह योजना चालू है। इस प्रकार मैसूर के ८१.१ प्रतिशत क्षेत्र तथा ७९ प्रतिशत जनता पर यह योजना लग रही है। १९३८ में मैसूर में इस योजना का परीक्षण शुरू किया गया। १९४७ तक सिर्फ़ दो ताल्लुकों में यह परीक्षण हो रहा था। १ जुलाई १९४८ में इस कछुए की चाल को छोड़ दिया गया और एकदम तीन ज़िलों में योजना लगा दी गई, १९४९ में इसमें दो ज़िले और जोड़ दिये गए। १९५०–५१ में इस मद में २ करोड़ की आमदनी थी, जो १९५४–५५ में १.५ करोड़ रह गई।

उत्तर-प्रदेश—उत्तर-प्रदेश में नशेबन्दी के लिए क्या-क्या किया जा रहा है और इस प्रदेश को अपने उद्देश्य में कहाँ तक सफलता मिली है ?*

उत्तर-प्रदेश का लक्ष्य पूर्ण नशाबन्दी करना है। शुरू-शुरू में इस प्रदेश में ५१ में से ११ ज़िलों में नशाबन्दी जारी थी। वे ११ ज़िले थे—फ़र्रुखाबाद, एटा, मैनपुरी, बदायूँ, प्रतापगढ़, सुल्तानपुर, जौनपुर, उन्नाव, कानपुर, फ़तेहपुर, तथा राय बरेली। इनके अलावा हरद्वार, ऋषिकेश तथा वृन्दावन के तीर्थ-स्थान होने के कारण इनमें भी नशाबन्दी थी। १ दिसम्बर १९६२ से सारे उत्तर-प्रदेश में राष्ट्रीय महत्व के सब दिन तथा अन्य ५७ दिनों में नशाबन्दी जारी कर दी गई। १९५०–५१ में नशे से इस प्रदेश को ६½ करोड़ की आमदनी थी जो १९५४–५५ में ५.४ करोड़ रह गई और अब और कम हो गई है। नशेबन्दी के लिए उत्तर-प्रदेश ने जो-कुछ किया वह निम्न है :

(क) १ दिसम्बर १९६२ से सारे उत्तर-प्रदेश में कुछ दिनों के लिए नशाबन्दी का कानून लगा दिया गया।

(ख) सिनेमाओं के बारों, नाचघरों, रेलवे के भोजनालयों के शराब के लाइसेंस रद्द कर दिये गये।

(ग) नशीली वस्तुओं को बेचने की दुकानों पर कर बढ़ा दिया गया और उनके खुलने के घंटे कम कर दिये गये।

---

* Has the policy of prohibition been successful in Uttar Pradesh? (1955)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(घ) नशाखोरी के विरुद्ध प्रचार शुरू किया गया। इस प्रचार के लिए कैम्प लगाये जाते हैं, मेलों में प्रचारक भेजे जाते हैं, सभाएँ की जाती हैं, नशे के परिणामों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया जाता है, चार्ट, चित्र, फ़िल्में दिखाई जाती हैं।

(ङ) जिन निम्न जातियों में शराबखोरी ज़्यादा है उनकी पंचायतों से शराब न पीने के प्रस्ताव पास कराये जाते हैं। लखनऊ के धोबियों और भंगियों की पंचायतों ने, कानपुर के पासियों और जल्लादों की पंचायतों ने इस प्रकार के प्रस्ताव पास किये हैं।

प्रश्न यह है कि क्या इस सब से उत्तर-प्रदेश की सरकार को अपने ध्येय में सफलता मिली है? इस प्रश्न का 'हाँ' तथा 'न'—इन दो में उत्तर दिया जा सकता है।

जैसा हमने कहा नशेबन्दी से उत्तर-प्रदेश की सरकार की आय डेढ़-दो करोड़ रुपया घट गई है। इससे स्पष्ट है कि मादक द्रव्यों की खपत में काफ़ी कमी हुई है। इस काम को पंचायतों ने अपने हाथ में लेना शुरू कर दिया है, इससे भी स्पष्ट है कि कानून के अलावा जनता में भी इस दिशा में काम करने की भावना उत्पन्न हो गई है। समाज-सुधारक संस्थाओं को सरकारी नीति से बल मिल रहा है और उनके आन्दोलन पहले से तीव्र हो गये हैं। इस सब से कहा जा सकता है कि नशेबन्दी का आन्दोलन सफल हो रहा है, परन्तु इसके साथ यह भी कहा जा सकता है कि जितनी सफलता की आशा की जानी चाहिए उतनी सफलता सरकार को नहीं मिल रही। इसका क्या कारण है?

कारण यह है कि नशेबन्दी पर आंशिक रोक लगाना इसे सफल नहीं होने दे रहा। जो वस्तु बुरी है वह बुरी है, एक दिन बुरी है, दूसरे दिन बुरी नहीं है—ऐसा नहीं हो सकता। अगर राष्ट्रीय महत्व के दिनों में नशीली वस्तुओं के सेवन पर रोक है, इनके अतिरिक्त ५७ और दिन मद्य-निषेध के हैं, तो बाकी दिन की छूट मद्य के व्यसनियों को इन छूट के दिनों के लिए और अधिक बेचैन कर देती है। प्रलोभन से बचने का सर्वोत्तम उपाय तो प्रलोभन को सामने न आने देना ही है। क्योंकि हमने शराब को बुरा तो कहा है, परन्तु इस प्रलोभन का शिकार बनने के लिए कभी-कभी छूट दे दी जाती है, इसलिए इस दिशा में आशानुकूल सफलता नहीं मिल रही।

मध्य-प्रदेश—१९३८ में कांग्रेसी मंत्री-मण्डल ने २२,२८५ वर्गमील क्षेत्र में यह योजना चलाई, परन्तु १९३९ में कांग्रेस के मन्त्री-मंडल के इस्तीफ़ा दे देने के कारण यह आगे नहीं बढ़ सकी। १९४६ में जनता के मन्त्री-मण्डल बनने के बाद उक्त क्षेत्र में १७,३५८ वर्गमील क्षेत्र उक्त योजना में सम्मिलित कर दिया गया। इसके बाद से १० साल के लगभग समय बीत जाने पर भी इस दिशा में कोई प्रगति नहीं हुई। इस समय इस योजना के अन्तर्गत राज्य का लगभग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तिहाई तथा आबादी का ४८ प्रतिशत हिस्सा आ जाता हैं। इस समय इस मद से राज्य को २ करोड़ की आमदनी है जो सारी आमदनी का ८ प्रतिशत है।

उड़ीसा—१९४७–४८–४९ में कटक, पुरी तथा बालासोर के ग्रामीण-क्षेत्रों में पूरी नशाबन्दी जारी की गई जो अप्रैल १९५४ में इन शहरों में भी लगा दी गई। १९४५–४६ में इस राज्य की आमदनी का एक-चौथाई हिस्सा शराब तथा मादक-द्रव्यों पर लगाये गए कर से ही वसूल होता था, अब भी इस राज्य की आमदनी इस मद से काफ़ी ज्यादा होती है। १९५४–५५ में यह आमदनी १.५ करोड़ थी। खास बात यह है कि उड़ीसा में इस १.५ करोड़ आमदनी का $\frac{1}{20}$वाँ हिस्सा अफ़ीम पर लगाये गए कर की आमदनी से होता है। १ अप्रैल १९५९ से अफ़ीम की दुकानों को सर्वथा बन्द कर दिया गया।

केरल—यहाँ ३६ ताल्लुकों में से १४, अर्थात् इस राज्य का ३० प्रतिशत क्षेत्र इस योजना के अन्तर्गत है। १९४७ में कोचीन के एक तथा १९४८ में ट्रावनकोर के ६ ताल्लुकों में यह योजना प्रारंभ की गई और धीरे-धीरे इसे अन्य तालुकों पर भी लगाया गया। जिन क्षेत्रों में यह योजना चल रही है, वहाँ परमिट से शराब आदि उन लोगों को दिये जाते हैं जो इनके आदी हैं, और जिन्हें स्वास्थ्य की दृष्टि से डाक्टर इन्हें परिमित मात्रा में लेने की अनुमति देता है। कई लोग 'अर्क' के नाम से शराब निकालते थे और इस नाम से लाइसेंस ले लेते थे। १ अप्रैल १९५४ से इन क्षेत्रों में इस प्रकार के लाइसेंस देना बन्द कर दिया गया है। १९५४–५५ में इस मद से यहाँ २ करोड़ की आमदनी थी जो इस राज्य की सारी आय का १२ प्रतिशत है।

८. बिना नशाबन्दी के राज्य

कुछ राज्यों में अभी तक नशाबन्दी की योजना बिल्कुल चालू नहीं हुई। उदाहरणार्थ, पश्चिमी बंगाल, बिहार, हैदराबाद, राजस्थान, पेप्सू तथा अजमेर और कुर्ग को छोड़कर 'सी'-राज्य। ये 'सी' राज्य तो अब समाप्त कर दिये गए हैं और भिन्न-भिन्न राज्यों में मिला दिये गए हैं। स्वभावतः जिस राज्य में ये मिलेंगे उसकी नीति ही इनमें भी चलेगी। दिल्ली में अगस्त १९५६ से नशाबन्दी शुरू हो गई है। होटलों आदि में शराब का चलन बन्द कर दिया गया है। जिन राज्यों में नशाबन्दी नहीं शुरू हुई, उनमें वही पुरानी अंग्रेज़ी नीति 'थोड़े-से-थोड़ा खाओ और ज्यादा-से-ज्यादा दाम दो' (Maximum revenue from minimum consumption) चल रही है। पश्चिमी बंगाल तथा बिहार ने अपना लक्ष्य तो नशाबन्दी को ही बनाया है परन्तु उनका कहना है कि आर्थिक-स्थिति कमज़ोर होने के कारण वे इसे जारी नहीं कर सकते क्योंकि उनकी कुल आय में इस मद से क्रमशः १० तथा १२ प्रतिशत आता है। राजस्थान तथा पेप्सु इस दिशा में अपनी कोई नीति स्थिर नहीं कर सके। पेप्सु की आमदनी पिछले पाँच सालों में इस मद से एक-तिहाई से एक-चौथाई तक होती रही है। हैदराबाद

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की २८ प्रतिशत आमदनी इस मद से है इसलिए वहाँ तो नशेबन्दी की दिशा में सोचा ही नहीं जा रहा।

९. नशाबन्दी से लाभ—आर्थिक, सामाजिक तथा स्वास्थ्य-संबंधी * (Socio-economic and Hygienic Advantages of Prohibition)

(क) प्रायः कहा जाता है कि जिन लोगों को नशा करने की आदत पड़ जाती है उन लोगों से वह छूटती नहीं। भिन्न-भिन्न राज्यों में नशाबन्दी की योजनाओं का अनुभव बतलाता है कि यह बात ग़लत है। मद्रास में नशा-निषेध पूर्णतया लागू है। वहाँ की सरकार का कहना है कि जब से नशा-निषेध लगाया गया है तब से पुराने खाने-पीने वालों ने भी आदतें बदल ली हैं, सिर्फ़ वही टस-से-मस नहीं होते जो बहुत ही ज्यादा आदी हो चुके हैं। मद्रास सरकार का कहना है कि २०–२५ लाख नशा करने वालों में-से ७५ प्रतिशत ने इस आदत को छोड़ दिया है, सिर्फ़ २५ प्रतिशत ऐसे रह गए हैं जिनके सुधार की आवश्यकता है। बम्बई सरकार का भी लगभग यही अनुभव है। सब से बड़ी बात तो यह है कि इन पुरानों के सुधार के साथ-साथ नई पीढ़ी में नशा करने की आदत नहीं पड़ती। ऐसे पुराने नशाबाज़ों के खत्म होते ही जो किसी तरह भी इस आदत को छोड़ नहीं सकते, नई पीढ़ी ऐसी उत्पन्न हो जायगी जो नशीली चीज़ों को हाथ लगाना भी पसन्द नहीं करेगी।

(ख) इसके अतिरिक्त नशा छोड़ने से व्यक्ति की आर्थिक स्थिति में सुधार हो जाना ज़रूरी है। बम्बई सरकार ने इस विषय में 'प्रोहीबिशन एन्क्वायरी कमेटी' के सम्मुख अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है—"शराब तथा अन्य मादक-द्रव्यों के न मिल सकने के कारण श्रमिकों का जो रुपया बच रहता है उसका बड़ा अच्छा परिणाम निकल रहा है। लोग अपने कर्ज़े चुकाने लगे हैं, मकानों की मरम्मतें होने लगी हैं, नए मकान बनने लगे हैं, मट्टी के बरतनों की जगह ताँबे और पीतल के बरतन खरीदे जाने लगे हैं। जो अबतक नशा करते थे, वे नशा छोड़कर उत्तम भोजन पर खर्च कर रहे हैं, कपड़े अच्छे पहनने लगे हैं, घर की औरतों के लिए ज़ेवर बनाने लगे हैं, बच्चों के लिए खिलौने लाते हैं, उन्हें शिक्षा देते हैं। अब तक जो खेती को छोड़ बैठे थे वे खेती के लिए नवीन उपकरणों का इस्तेमाल करने लगे हैं, नये बैल लाकर खेती में उन्नति कर रहे हैं।" हरिजनों में नशे की आदत ज्यादा पायी जाती थी। नशा-निवारण के बाद उनके जीवन का स्तर उच्च हो गया है। १९३८–३९ में बम्बई सरकार ने श्री गुलज़ारीलाल नन्दा की अध्यक्षता में 'नशा-निषेध गवेषणा-पटल' बनाया था जिसने अहमदाबाद

---

* 1. Discuss the socio-economic importance of prohibition in India. (1951, 1959)
2. How far is prohibition likely to benefit the people? (1955)
3. Make a case for prohibition in India. (1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के नशा-निषिद्ध-क्षेत्रों की जाँच-पड़ताल करते हुए ६,५८४ श्रमियों के पारिवारिक बजटों की पड़ताल की। इनमें से ५,२७९ व्यक्ति इस क्षेत्र को नशा-निषिद्ध क्षेत्र घोषित करने से पहले नशा करते थे, १,३०५ नशा नहीं करते थे। नशा-निषेध करने के बाद से इनकी वार्षिक आय ३१.२७ लाख रुपया बढ़ गई। इस रुपए में से २० लाख तो सीधा वह रुपया बचा जो ये लोग नशे पर ख़र्च करते थे, ३.२५ लाख वह रुपया बचा जो नशे के कारण बीमारी आदि पर ये लोग ख़र्च करते थे, ३.३१ लाख वह रुपया बचा जो स्वस्थ रहने के कारण इन लोगों की पहले से आमदनी बढ़ी और २.५९ लाख वह रुपया बचा जो नशे के साथ-साथ उससे सम्बद्ध अन्य इल्लतों पर ये लोग व्यय करते थे। इस प्रकार जो बचत हुई, उसमें से १९.१६ लाख इन लोगों का उत्तम भोजन, उत्तम वस्त्रों पर व्यय होने लगा, ७.२२ लाख कर्ज़ों को निपटाने में व्यय हुआ और ४.८९ लाख अन्य मदों में ख़र्च हुआ। बम्बई राज्य का अनुभव बतलाता है कि वहाँ के श्रमियों का नशा-निवारण से बहुत उपकार हुआ, पहले उनकी आय का २५ से ३० प्रतिशत जो रुपया पानी की तरह नशे में बह जाता था वह बचने लगा और उससे उनके जीवन का स्तर पहले से बहुत ऊँचा उठ गया।*

(ग) आर्थिक-स्थिति के सुधार के साथ-साथ नशा-निवारण से श्रमियों तथा अन्य नशावाजों की सामाजिक-स्थिति में भी बहुत सुधार हुआ। जो लोग शराब पीते थे, नशा करते थे, वे समाज में घृणित समझे जाते थे, किन्तु जब से उन्होंने इन सब बातों को छोड़ कर ज़िन्दगी को पलटा, तब से वे समाज के एक उपयोगी अंग बन गये, उन्हें घृणा से देखने के स्थान में उनको समाज में सम्मानपूर्वक देखा जाने लगा।

(घ) यह कहने की आवश्यकता ही नहीं कि नशे को छोड़ने के साथ-साथ इन लोगों के स्वास्थ्य में वृद्धि हुई। जिन-जिन राज्यों में नशा-निषेध हैं वहाँ के स्वास्थ्य में एकदम उन्नति हुई है।

१०. नशाबन्दी से हानि—ग़ैर-क़ानूनी शराब

नशा-बन्दी के लाभों के साथ-साथ कानून द्वारा शराब और नशा बन्द करने की एक बड़ी भारी हानि भी है और वह यह है कि ज्यों-ज्यों इसे कानून से रोका जाता है, त्यों-त्यों ग़ैर-कानूनी तौर पर, चोरी-छुपे शराब की भट्ठियाँ बनने लगती हैं, और आदी लोग अच्छी शराब न मिल सकने या उसके बहुत महँगा होने के कारण देशी, रद्दी शराब पीने लगते हैं, कई तो स्पिरिट ही पी जाते हैं। यह युक्ति शराब का धंधा करने वाले तो बहुत ही ज़ोर से देते हैं। उनका कहना है कि शराब का पीना तथा मादक-द्रव्यों का सेवन रुक नहीं सकता। इसे रोका जायगा, तो

---

* 1. How far will prohibition be beneficial to Indian labourers? (1951)

2. To what extent has prohibition helped in improving the socio-economic condition of the labourer in India? (1959)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ग़ैर-कानूनी तौर पर शराब बनने लगेगी। लोग तो पियेंगे, परन्तु राज्य को जो आमदनी होती थी वह खत्म हो जायगी। इस दृष्टि से नशेबन्दी की नीति असफल होकर रहेगी।*

यह बात कुछ अंश तक ठीक है, परन्तु इस बात पर ज़रूरत से अधिक बल दिया जाता है। ग़ैर-कानूनी शराब ज़रूर ही बनेगी—यह क्यों कहा जाता है? इसके कहने का मुख्य कारण यह है कि देश में शराब पर बिल्कुल रोक नहीं लगाई गई। कई प्रान्तों में रोक है, कई में नहीं। जिनमें रोक है उनमें भी कई प्रान्तों में कुछ हिस्से में रोक है, कुछ में नहीं। शराब की छूट और बिना छूट के हिस्से ऐसे मिले-जुले हैं, कि एक हिस्से से दूसरे हिस्से में आ-जा सकना संभव ही नहीं, आसान भी है। जिन स्थानों में छूट है वहाँ शराब बना सकने की आसानी ज्यादा है। इसलिए आसानी ज्यादा है क्योंकि वहाँ यह पहचाना नहीं जा सकता कि यह कानूनी शराब है या ग़ैर-कानूनी है। वहाँ बनती है, दूसरी जगह जाती है। इसका यह मतलब नहीं कि जहाँ छूट नहीं है वहाँ नहीं बनती। वहाँ भी जगह-जगह छिपे-छिपे भट्ठियाँ चलती हैं, परन्तु वहाँ पकड़े जाने की ज्यादा संभावना रहती है, क्योंकि वहाँ इस काम के लिए अलग पुलिस तैनात है। अगर पुलिस ही अपने काम में ढिलाई न करे, तो वहाँ यह काम कुछ कठिन हो जाता है। ऐसी हालत में ग़ैर-कानूनी शराब के बनने का मुख्य कारण सारे देश में एक-से कानून का न होना है। अगर देश भर में शराब पर पाबन्दी लगा दी जाय, कोई इलाका इस रोक से छुटा हुआ न हो, जो जहाँ बनाये वहीं उसके पकड़े जाने की संभावना हो, तो ग़ैर-कानूनी शराब बनने की मात्रा अपने-आप कम हो जायगी। इस का यह मतलब नहीं कि यह काम झट-से रुक जायगा, परन्तु इतना ज़रूर है कि यह धंधा उतना नहीं चल सकेगा जितना अब चलता है। चलती दुनिया में क्या चीज़ नहीं है? कानून बने हुए हैं तो क्या चोरी नहीं होती, डाके नहीं पड़ते, लूट-मार नहीं होती, व्यभिचार नहीं होता—क्या नहीं होता, सब-कुछ होता है। परन्तु क्योंकि कानून बने होने पर, अदालतों की मौजूदगी में, जेलखानों के होते हुए यह सब-कुछ होता है, इसलिए कानून रद्द कर दिये जाँय? कानून न हो, तो इनकी संख्या और अधिक बढ़ जाय। ऐसी हालत में सारे देश में जब शराब पर पाबन्दी हो जायगी, पाँच-सात राज्यों में नहीं, हर राज्य में, राज्य में भी पाँच-दस ज़िलों में नहीं, हर ज़िले में पाबन्दी हो जायगी, तो ग़ैर-कानूनी शराब बनना भी कम हो जायगा।

इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान देने की है। ग़ैर-कानूनी शराब बनाने का धंधा इसलिए नहीं चलता क्योंकि शराब पर रोक लगा दी जाती है। यह धंधा तो इसलिए चलता है क्योंकि इससे आमदनी ज्यादा है। समझा तो यह जाता है कि जिन राज्यों में शराब पर रोक लगा दी जाती है वहाँ ग़ैर-कानूनी शराब

---

* "The policy of prohibition is bound to end in failure." Discuss. (1963)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बनने लगती है, परन्तु यह बात नहीं है। जब शराब पर किसी प्रान्त में भी रोक नहीं थी, तब भी यह ग़ैर-कानूनी शराब बनती थी। जिस राज्य में रोक लगा दी जाती है, उसमें पुलिस सिर्फ़ इस काम पर मुस्तैद कर दी जाती है कि वह ऐसे मामलों को पकड़े इसलिए नशा-निषिद्ध क्षेत्र में ऐसे मामले ज़्यादा नज़र आने लगते हैं क्योंकि पुलिस के इन मामलों के लिए ही चौकन्ना हो जाने के कारण ऐसे मामले ही पकड़ में आते हैं, नहीं तो ग़ैर-कानूनी शराब का मुख्य कारण तो नफ़ा है।

११. प्रोहीबिशन-एन्क्वायरी-कमेटी की रिपोर्ट

स्वतंत्र-भारत की सरकार का ध्यान मादक-द्रव्यों के निषेध की तरफ़ ज़्यादा है। हम पहले ही लिख आये हैं कि जब-जब कांग्रेसी मंत्री-मंडल बना, तब-तब एकदम इस दिशा की तरफ़ ध्यान दिया गया। अब जब स्वतंत्र-भारत में मंत्री-मंडल ही कांग्रेस का है, ऐसी हालत में इस तरफ़ ध्यान दिया जाना स्वाभाविक था। इसी दृष्टि से नशा-निवारण पर विचार करके अपनी रिपोर्ट देने के लिए कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी श्रीमन्नारायण की अध्यक्षता में प्लैनिंग कमीशन ने १६ दिसम्बर १९५४ में एक कमेटी नियुक्त की। इस कमेटी ने १० सितम्बर १९५५ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में जो सिफ़ारिशें की गई हैं, वे निम्न हैं :—

(क) नशा-निवारण को पंच-वर्षीय-योजनाओं का अभिन्न-अंग माना जाय।

(ख) १ अप्रैल १९५८ तक देश भर में नशाबन्दी कर दी जाय। इस व्यवस्था को करने के लिए एक 'केन्द्रीय-समिति' का निर्माण किया जाय, जो समय-समय पर नशाबन्दी के संबंध में उठती समस्याओं का हल करती रहे, और जो राज्य इस दिशा में पछड़ रहा हो, उसको सावधान करती रहे।

(ग) १९५५ के अन्त से पहले केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारें इस बात की घोषणा कर दें कि नशा-निवारण राष्ट्र की नीति है और इस नीति को सफल बनाने में सहयोग देने के लिए जनता से अपील करें। केन्द्रीय-सरकार यह घोषणा कर दे कि १ अप्रैल १९५८ से पहले प्रत्येक राज्य-सरकार की तरफ़ से नशा-निरोध राष्ट्रीय-कानून का रूप ले लेगा।

(घ) जिन राज्यों में नशा-निवारण प्रारंभ नहीं हुआ, उनमें १ अप्रैल १९५६ से जो होटल, बार, रिस्टॉराँ, मैस, क्लब, सिनेमा हैं, और उनमें जो सामाजिक पार्टियाँ आदि हों, उनमें शराब का उपयोग न हो सके। बीच के काल के लिए उन होटलों में जहाँ विदेशी यात्री आते हैं शराब देने के लिए एक अलग कमरा निश्चित किया जाय। इन होटलों को राज्य-सरकार से परमिट लेना लाज़मी हो। फ़ौजों के भोजनालयों में जब बाहर के लोगों को निमन्त्रित किया जाय तब शराब टेबल पर लाने की मनाही हो। १ अप्रैल १९५६ से शराब-संबंधी सब इश्तिहार बन्द कर दिये जाँय।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ङ) १ अप्रैल १९५६ से १ अप्रैल १९५८ तक शहरों तथा ग्रामों में शराब की दुकानें क्रमशः कम करते जाँय। सप्ताह में ज्यादा-से-ज्यादा दिन इन दुकानों को बन्द रखा जाय, इन दुकानों को माल देने में क्रमशः कमती की जाय, जो शराब बेची जाय उसकी तेज़ी क्रमशः कम की जाय, श्रमियों के केन्द्रों तथा सामूहिक योजनाओं के आस-पास शराब की कोई दुकान न रहने दी जाय, गाँवों की दुकानें गाँवों से दूर हों और शहरों की दुकानें ऐन भरे बाज़ार में हों जहाँ से पीने वाले को हर-कोई देख सके।

(च) सरकारी नौकरी के नियमों में यह शर्त बढ़ा दी जाय कि कोई सरकारी नौकर शराब नहीं पी सकेगा।

(छ) अफ़ीम, गाँजा, चरस, भाँग आदि के लिए यह व्यवस्था की जाय कि उत्तरोत्तर दुकानों की संख्या को घटाया जाय और इन दुकानों का कोटा धीरे-धीरे कम किया जाय।

इसके अतिरिक्त कमेटी का कहना है कि स्वास्थ्य की दृष्टि से भी १९५८ के बाद किसी को परमिट न दिया जाय। विदेशी यात्रियों, धार्मिक कृत्यों तथा औषध के लिए इन द्रव्यों का इस्तेमाल हो सके, अन्य किसी काम के लिए नहीं।

१२. टेकचन्द मद्य-निषेध अध्ययन-दल
(Tek Chand Study Team)

प्लैनिंग कमीशन ने २९ अप्रैल १९६३ को पंजाब हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री टेकचन्द की अध्यक्षता में श्री एल० एम० श्रीकान्त तथा डॉ० ए० एम० खुसरो की एक स्टडी टीम की नियुक्ति की थी जिसका काम मद्य-निषेध की सरकारी नीति की सफलता की जाँच करना तथा मद्य-निषेध के संबंध में अपने सुझाव देना था। इस दल की रिपोर्ट ६ मई १९६४ में प्रकाशित हो गई।

मद्य-निषेध के विरुद्ध सब से बड़ी युक्ति यह दी जाती है कि इससे राज्य की आय कम हो जाती है, और मद्य-पान रुकने के बजाय अवैध तरीकों से बढ़ता है। अगर मद्य-निषेध का परिणाम यह हो कि मद्य-पान तो कम न हो, परन्तु राज्य की आय कम हो जाय, तो यह नीति निरर्थक ही नहीं, हानिकारक हो जाती है। टेकचन्द कमेटी का कहना है कि इस देश में साल में १४६ करोड़ की शराब पी जाती है, जिसमें से अवैध रूप से पी जाने वाली शराब ५२ करोड़ की है। अभी तक सारे देश में तो शराब-बन्दी चल नहीं रही। जितनी भी शराब-बन्दी चल रही है उससे देश को ४०.१ करोड़ का नुक्सान हो रहा है और शराब-बन्दी चालू रखने के लिए पुलिस आदि पर ५.४ करोड़ व्यय हो रहा है। इस नुक्सान के विषय में टेकचन्द-कमेटी का कहना है कि जहाँ देश को इतना नुक्सान है वहाँ जनता का शराब पर व्यय कम हो जाने के कारण ३१ करोड़ की बचत हो जाती है, और अगर शराब पीने की आदत उत्तरोत्तर कम होती जाय, तो देश का यह घाटा जनता के शराब पर व्यय कम हो जाने के कारण पूरा हो जाता है। अगर १९७५-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

७६ तक पूर्ण शराब-बन्दी क्रियान्वित हो जाय तो देश को ८० करोड़ का घाटा पड़ेगा, परन्तु वह सेल्स टैक्स, लग्ज़री टैक्स आदि से पूरा हो जायगा।

कमेटी का कहना है कि अगर ३० जनवरी १९७० तक, जब कि हम महात्मा गांधी की सौवीं वर्षगाँठ मना रहे होंगे, संपूर्ण देश में नशा-बन्दी हो जाय, तो इससे अच्छी दूसरी बात नहीं होगी, परन्तु अगर ऐसा न हो सके तो १९७५ तक तो समूचे देश में शराब-बन्दी हो ही जानी चाहिए। इसके लिए कमेटी ने शराब-बन्दी के लिए चार चरणों के कार्य-क्रम का सुझाव दिया है।

दल ने कहा है कि पहले चरण में जिन राज्यों में शराब-बन्दी नहीं है वहाँ सबसे कम असर वाली शराब की खपत की अनुमति दी जाय।

दूसरे चरण में देसी शराब की ताकत घटा दी जाय तथा उसमें १० प्रतिशत मद्यसार रखा जाय। विलायती शराब में मद्य-सार (अलकोहल) १४.२९ प्रतिशत से अधिक न रहने दिया जाय।

इसी प्रकार उत्तरोत्तर चरणों में शराब की खपत को धीरे-धीरे कम किया जाय और १९७५ तक संपूर्ण देश में शराब-बन्दी कर दी जाय।

कमेटी के सुझावों में से निम्न सुझाव महत्वपूर्ण हैं :

(क) शराबीपन की जाँच के लिए नवीन उपकरणों का उपयोग;

(ख) उच्च-स्तर के लोगों में शराब को प्रतिष्ठा के स्थान से अपदस्थ करना;

(ग) स्पिरिट आदि के पीने के दुरुपयोग पर रोक लगाना;

(घ) ताड़ी का नियन्त्रित प्रचार करना।

१३. अन्य देशों का अनुभव

भारत नशा-निरोध में जो-कुछ कर रहा है उसे कई लोग जल्दबाज़ी का नाम देते हैं। उनका कहना है कि जिन अन्य देशों ने इस किस्म का तजर्बा किया है हमें उससे लाभ उठाना चाहिए। दूसरे देशों की समस्या शराब-बन्दी की उतनी नहीं रही जितनी ज्यादा शराब पी जाने की रही है। उनमें से अनेक देशों में भोजन के पीछे शराब पीने का ऐसा ही रिवाज़ है जैसा हमारे यहाँ पानी पीने का है। उनके तजर्बे और हमारे तजर्बे में यह मौलिक भेद है कि हमारे यहाँ शराब इतनी ज़रूरी नहीं समझी जाती रही और न इतनी ज्यादा पी जाती रही है कि इसका रोक सकना कठिन हो। उन देशों में यह बात नहीं थी। उनमें घर-घर शराब पी जाती थी। हमारे यहाँ जैसे शराब पीना बुरा माना जाता है वैसे उनके यहाँ बुरा नहीं माना जाता। उन देशों का ध्यान शराब-बन्दी पर ज्यादा शराब पी लेने से जो इल्लतें उठ खड़ी होती हैं, उनकी तरफ़ गया। इस मौलिक भेद को ध्यान में रख कर हमें उन देशों के अनुभव पर विचार करना होगा।

बाहर के देशों में मुख्य तौर पर शराब-बन्दी का परीक्षण अमरीका, फिनलैण्ड तथा आइसलैण्ड में हुआ। स्वीडन तथा नार्वे में भी शराब के राशनिंग

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का परीक्षण किया गया। फ्रांस में दुनिया के सब देशों से ज्यादा शराब पी जाती है, वहाँ भी इसे कम करने का यत्न किया जा रहा है। हम इन देशों के तजर्बों की बाबत कुछ ज़िक्र यहाँ करेंगे :

अमरीका—१९१९ से १९३३ तक अमरीका में नशाबन्दी रही जब कि १९३३ में प्रेज़ीडेण्ट रूज़वेल्ट के समय यह कानून रद्द कर दिया गया। शुरू-शुरू में जब शराब पर रोक लगाई गई तब **प्रो० इर्विंग फ़िशर** के अनुसार अमरीका की सम्पूर्ण आर्थिक रचना को एकदम प्रोत्साहन मिला। व्यापार पहले से ज्यादा सुधर गया, प्रत्येक अमरीकन का जीवन-स्तर उठ गया। उस समय के व्यापार-मन्त्री **हरबर्ट हूवर** का कथन है कि शराब-बन्दी के परिणामस्वरूप श्रमियों की कार्य-क्षमता में १० प्रतिशत की वृद्धि हो गई। इसमें सन्देह नहीं कि शराब-बन्दी के कानून में कुछ ऐसे दोष रह गये थे कि पूरी तरह से शराब पीना रोका नहीं जा सका। यह काम राज्य-सरकार तथा केन्द्रीय सरकार—दोनों के हाथ में था, और दोनों में पूरा-पूरा सामंजस्य नहीं हो पाता था। जिस काम को एक की जगह दो करें, उसमें गड़बड़झाला हो ही जाता है, तो वैसा ही हुआ। शराबबन्दी राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वियों के वोट झपटने का अखाड़ा बन गया। बाहर से ग़ैर-कानूनी शराब को आने से रोकने का भी ठीक-ठीक प्रबन्ध न हो सका। शराब के ठेकेदारों और दुकानदारों का भी लगातार सख्त विरोध रहा। अमरीका के विधान में शराब-बन्दी का कानून 'अठारहवाँ संशोधन' (Eighteenth Amendmemt) कहलाता है। १९३० के बाद अमरीका में जो मंदी आयी उसने १८वें संशोधन को समाप्त कर दिया। उस समय जौ आदि इतना सस्ता हो गया कि किसी भाव भी न बिक सका। शराब के पक्षपातियों की बन आयी। उन्होंने यह कहना शुरू किया कि अगर इससे शराब बनाई जाय तो इतने कारखाने खुलेंगे कि सब अन्न खप जायगा, बेकारी दूर होगी और देश संकट में से निकल जायगा। जैसा हम अभी कह आये हैं, अगले चुनाव में रिपब्लिकन हार गए, डेमोक्रेट जीत गए, रूज़वेल्ट प्रेज़ीडेंट बने, १८वाँ संशोधन रद्द कर दिया गया और १४–१५ साल शराब-बन्दी का परीक्षण करने के बाद अमरीका फिर अपने पुराने रास्ते पर चलने लगा। इसका यह मतलब नहीं है कि अब वहाँ शराब-बन्दी का आन्दोलन नहीं है। आन्दोलन है, परन्तु पहले यह आन्दोलन अधिक शराब पीने के विरोध में था, अब यह बिल्कुल नशा-निरोध का रूप धारण करता जा रहा है।

फ़िनलैण्ड—फ़िनलैण्ड में नशा-निवारण का प्रबल आन्दोलन उठा और १९१९ में कानूनी तौर पर नशाबन्दी कर दी गई। लगभग १० साल तक यह कानून वहाँ चला और जब तक यह कानून रहा तब तक इस देश में अपराधों की संख्या भी कम रही। १९०९–१३ में १० हज़ार व्यक्तियों के पीछे ५४.४ व्यक्ति अपराध करते थे, १९२०–२६ में यह संख्या १० हज़ार व्यक्तियों के पीछे ४४.८ रह गई। अपराधों की कमी के साथ मृत्यु की दर भी कम हो गई। १९१० में मृत्यु-दर १७.१ प्रति हज़ार थी, १९२० में १५.९ तथा शराब-बन्दी के

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सात साल के अन्दर-अन्दर १९२६ में १३.४ प्रति हज़ार रह गई। देश में खेती तथा उद्योगों से होने वाली पैदावार बढ़ गई। फ़िनलैण्ड के एक बैंक के डॉयरेक्टर के अनुसार शराब-बन्दी के सालों में श्रमियों की बचत बढ़ गई और उसके साथ ही उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठ गया। इसका एक प्रत्यक्ष प्रमाण यह था कि १९२७ में श्रमियों ने अपने मकान बनाने में लाखों रुपया ख़र्च किया। १९३० में फ़िनलैण्ड में आर्थिक-संकट आया जिससे पार उतरने के लिए वहाँ की सरकार ने कर द्वारा आसानी से रुपया प्राप्त करने के लिए शराब पर से रोक उठा ली। इस आर्थिक संकट के अलावा फ़िनलैण्ड में शराब-बन्दी की असफलता का यह भी कारण था कि वह छोटा-सा देश है, चारों तरफ़ से ऐसे देशों से घिरा हुआ है जिनमें शराब पर कोई रोक-टोक नहीं है। वहाँ से लगातार चोरी-छिपे शराब आती रहती है। भारत में भी तो इस परीक्षण के सफल होने में यह रुकावट है कि अगर किसी एक राज्य में या एक राज्य के कुछ हिस्सों में इस परीक्षण को जारी किया जाता है, तो आस-पास से शराब आने लगती है। फ़िनलैण्ड का परीक्षण यही सिद्ध करता है कि अगर नशाबन्दी या शराब-बन्दी करनी हो तो छोटे-छोटे क्षेत्रों में यह परीक्षण करना कारगर नहीं होता, रोक लगाई जाय तो सब जगह, छोटी-छोटी जगह नहीं।

आइसलैण्ड—१९१२ से १९२० तक आइसलैण्ड में यह परीक्षण सफल रहा, परन्तु १९२२ में जब टनों कौड-मछलियाँ स्पेन जाने वाली थीं तब स्पेन ने मछलियाँ लेने से इनकार कर दिया और यह शर्त रखी कि अगर आइसलैण्ड स्पेन की शराब लेने को तैयार हो तभी वह आइसलैण्ड से मछलियाँ आने देगा। इस प्रकार स्पेन से बाधित होकर आइसलैण्ड को १९२५ में अपना शराब-बन्दी का कानून रद्द करना पड़ा।

इस प्रकार हमने देखा कि अन्य देशों के परीक्षण हमारे देश से कुछ भिन्न हैं और उनमें नशाबन्दी की असफलता यह सिद्ध नहीं करती कि हमारे देश में भी यह परीक्षण असफल ही सिद्ध होगा। यह ठीक है कि नशों के लिए खुली छूट होने से सरकार की कर की आमदनी बढ़ती है, परन्तु इस आमदनी का सरकार क्या उपयोग करेगी? यही उपयोग तो होगा कि इस रुपए को सरकार जनता के स्वास्थ्य पर ख़र्च करे, शिक्षा पर ख़र्च करे। परन्तु जब नशाबन्दी से स्वास्थ्य का स्तर उठ जाता है, श्रमी की व्यय-शक्ति बढ़ जाती है, उसका जीवन का मान-दंड बढ़ जाता है, तब सरकार से इन मदों का बोझ भी तो अपने-आप घट जाता है। लोग बीमार हों और उनके लिए हस्पताल खोले जाँय, वे बच्चों को पढ़ा न सकें और उनके लिए स्कूल खोले जाँय, इसकी अपेक्षा क्या यह अच्छा नहीं है कि वे बीमार ही न हों, ताकि अस्पतालों की इतनी ज़रूरत न पड़े, वे इतना कमायें कि अपने-आप बच्चों की शिक्षा का बोझ उठा सकें ताकि उन्हें किसी का मुँह न ताकना पड़े। शराबबन्दी और नशाबन्दी से आय अवश्य कम होगी, परन्तु उसी मात्रा में सरकार की ज़िम्मेदारी भी कम होगी।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रश्न

१. भारत में नशा-निषेध के सामाजिक तथा आर्थिक महत्व की विवेचना कीजिये। भारतीय श्रमिकों के लिये नशा-निषेध कहाँ तक लाभकारी होगा? (१९५१, १९५९)

२. नशा-निषेध का क्या अर्थ है? यह जनता के लिये किस प्रकार लाभदायक हो सकता है? क्या उत्तरप्रदेश में यह नीति सफल हुई है? (१९५५)

३. भारतवर्ष में नशा-निषेध के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिये। क्या यह सफल हुआ है? (१९५८)

४. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—भारत सरकार की मद्य-निषेध नीति। (१९६१)

५. "नशा-निषेध की नीति असफल होकर रहेगी"—इस कथन की विवेचना कीजिये। (१९६३)

६. भारत में मद्य-निषेध (नशा-निरोध) पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ दीजिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२५

भारत में श्रमिकों की हालत
(LABOUR CONDITIONS IN INDIA)

१. श्रमिकों की समस्या का श्रीगणेश*

भारत कृषि-प्रधान देश है, परन्तु कृषि से सब का पेट नहीं भरता। ज़मीन थोड़ी है, जन-संख्या अधिक है, भूमि पर जन-संख्या का दबाव बढ़ता जा रहा है। देहातों में जो कृषि करते हैं वे भी साल के कुछ दिन बेकार रहते हैं। इनके अतिरिक्त देहात के बिल्कुल बेकार रहने वालों की संख्या सवा करोड़ है। उत्तर-प्रदेश में ग्राम-वासियों में ३३ प्रतिशत भूमि-विहीन हैं। यह नहीं कि पहले इस देश के देहातों में सभी के पास भूमि थी, पहले भी ऐसे लोग थे जिनके पास भूमि नहीं थी, परन्तु उस समय इनके पास अगर भूमि नहीं थी, तो ग्रामों में जगह-जगह छोटे-छोटे उद्योग थे और उन उद्योगों में वे सब खपे रहते थे। १८वीं शताब्दी तक कृषि से बची हुई यह देहातों की अतिरिक्त जन-संख्या ग्रामोद्योगों में लगी हुई थी। यहाँ की खड्डियों पर बुना हुआ रेशम इतना महीन होता था कि थान-का-थान एक अंगूठी में से निकल जाता था। यहाँ के बने कपड़ों को विलायत की मेमें फ़ैशन के तौर पर पहनती थीं। विलायत ही नहीं, युरोप, मध्य-पूर्व तथा केन्द्रीय एशिया में यहाँ की बनी हुई चीज़ें जाती थीं। उस समय ईस्ट इंडिया कम्पनी भी यहाँ की बनी हुई चीज़ों को ख़रीद कर विलायत भेजती थी और ख़ूब नफ़ा उठाती थी। यह समय वह था जब युरोप में औद्योगिक-क्रान्ति हो रही थी। इस समय वहाँ कपड़े के बड़े-बड़े कारख़ाने खुले और मशीन के ज़रिये हर चीज़ सस्ती बनने लगी। अब अंग्रेज़ी कल-कारख़ानों का स्वार्थ यह हो गया कि भारत का माल विलायत में न आये, अपितु विलायत का माल भारत में जाकर बिके। इस नई परिस्थिति से

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :—

*** 1. Inspite of the most uptodate labour legislations, the lot of Indian workers remains unsatisfactory as compared to workers in other industrial countries. Explain. (1955)**

2. Account for the fact that inspite of the most modern labour legislations labour conditions in India are not comparable with such conditions in other industrially advanced countries of the world. (1957, Rajasthan, 1958)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कम्पनी-सरकार को अपनी नीति बदलनी पड़ी, और देहातों के गृहोद्योगों पर प्रतिबन्ध लगाने का उसे हुक्म हुआ। वही ईस्ट-इंडिया कम्पनी जो यहाँ के गृहोद्योगों का माल खरीद कर विलायत भेज कर मुनाफ़ा उठाती थी अब इन उद्योगों का सर्वनाश करने पर तुल गई। कारीगरों के अंगूठे काटे गए ताकि वे जीवन भर बेकार हो जाँय। भारत के विलायत जाने वाले माल पर ८० प्रतिशत तक कर लगाया गया और तब भी जब यहाँ के माल की माँग बनी रही, तो उसे कानूनन विलायत जाना रोक दिया गया। इस प्रकार भारत के भूमिहीन किसानों के गृहोद्योगों में खपने का जो हल था वह जाता रहा।

परन्तु इस बीच उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-काल में कुछ अंग्रेज़ों को भारत में कारख़ाने खोलने की सूझी। उन्होंने देखा कि इंग्लैण्ड में तो तरह-तरह के कानून बन रहे थे। मज़दूरों के लिए यह करो, वह करो। भारत में कारख़ाना खोलने से किसी प्रकार का झगड़ा न था। अंग्रेज़ों ने कारख़ाने खोले, उनकी देखा-देखी भारतवासियों ने भी कारख़ाने खोले। जितनी देर तक काम कराना चाहो कराओ, स्त्री-बच्चे सभी से काम लो। काम न करें तो कोड़े लगाओ, मारो-पीटो, जो चाहो करो, यहाँ पूछने वाला कोई न था। इसका नतीजा यह हुआ कि विलायत की बनिस्बत यहाँ माल सस्ता बनने लगा। यह देखकर लंकाशायर वालों ने फिर शोर मचाना शुरू किया। उन्होंने भारत सरकार का ध्यान इस बात की तरफ़ खींचा कि भारतवर्ष के कल-कारख़ानों में मज़दूरों की बुरी हालत है, उनसे ग़ुलामों की तरह काम लिया जाता है, कोई समय निश्चित नहीं, बच्चों को भी काम में जोता जाता है। विलायत के सरमायेदारों ने यह बात भारत के श्रमिकों के साथ हमदर्दी के लिए नहीं कही थी, उन्होंने तो इसलिए शोर मचाना शुरू किया था क्योंकि यहाँ की सस्ती मज़दूरी से सस्ता माल पैदा होने लगा था, इससे उनको धक्का पहुँच रहा था, परन्तु इस बुराई से भी भलाई निकल पड़ी और सरकार ने मज़दूरों के संबंध में तरह-तरह के कानून बनाने शुरू कर दिये। इन कानूनों का वर्णन हम आगे करेंगे, परन्तु यहाँ यह कह देना उचित प्रतीत होता है कि यह था वह प्रकार जिससे इस देश में श्रमियों की समस्या का श्रीगणेश हुआ।

२. श्रमियों की बुरी हालत

वैसे तो अंग्रेज़ी-सरकार भारत के उद्योग-कारख़ानों को अधिक प्रोत्साहन नहीं देती रही, परन्तु जब प्रथम महायुद्ध (१९१४–१९१८) हुआ तब बाहर से माल आना बन्द हो गया, और देश में अनेक नये कल-कारख़ाने खुले। प्रथम युद्ध के बाद फिर उद्योगों में कुछ ढील पड़ी, परन्तु द्वितीय-महायुद्ध (१९३९–१९४५) के कारण यह ढील फिर दूर हो गई। जापान के युद्ध में शामिल होने से तो जापान से माल आना भी बंद हो गया और कल-कारख़ाने बहुत तेज़ी से बढ़े। जितने कारख़ाने बढ़े उतने ही मज़दूर बढ़ने स्वाभाविक थे और मज़दूरों की बढ़ती के साथ उनकी समस्याएँ विकट रूप धारण करती गईं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कारख़ाने में काम करने के लिए उनके पास ही मज़दूरों की जगह-जगह बस्तियाँ पैदा हो जाती हैं। ये बस्तियाँ इतनी गन्दी होती हैं कि उनमें रहने वालों का स्वास्थ्य ठीक रह ही नहीं सकता। इन बस्तियों का वर्णन करते हुए श्री जवाहर-लाल नेहरू ने अपनी पुस्तक 'डिसकवरी ऑफ़ इंडिया' में लिखा है—"कल-कारख़ानों ने लड़ाई के दिनों में खूब कमाया, १०० से २०० प्रतिशत बंगाल की जूट तथा बम्बई-अहमदाबाद की कपड़ा-मिलों से आमदनी हुई। इस आमदनी का कुछ हिस्सा इन मिलों के अंग्रेज़ हिस्सेदारों के पास डंडी और लन्दन पहुँचा, कुछ हिस्से से हिन्दुस्तानी करोड़पतियों ने ख़जाने भरे। परन्तु जिन श्रमियों ने इस धन को पैदा किया था उनकी हालत ऐसी रही जिस पर यकीन भी नहीं किया जा सकता। उनके जीवन का स्तर वैसे ही नीचे-का-नीचा बना रहा, वे गन्दे, बीमारी के घर खुड्डों में पड़े रहे। वे जहाँ पड़े रहते थे वहाँ न हवा के लिए खिड़की थी, न धुँआ निकलने के लिए चिमनी, न रोशनी के लिए रोशनदान, न पानी के लिए नल, न हाजत के लिए टट्टी—ग़र्ज़ यह कि किसी बात के लिए किसी तरह का इन्तज़ाम नहीं था। बम्बई में जहाँ हिन्दुस्तानी सरमाया ज़ाहिरा तौर पर नज़र आता था, जाँच-कमीशन ने १५ फ़ीट लम्बे, १२ फ़ीट चौड़े कमरे में ६ परिवारों को रहते हुए पाया जिसमें ३० व्यक्ति रह रहे थे। इनमें से तीन स्त्रियाँ गर्भवती थीं। हर परिवार ने इस छोटे-से कमरे में अपना चूल्हा अलग-से बनाया हुआ था। मुझे याद है कि एक बार मैं श्रमियों की गन्दी-बस्तियों को देखने कमरे के अन्दर घुसा तो मेरा दम घुटने लगा और मैं वहाँ से चकराता हुआ निकला। इस हालत को देखकर मेरे आश्चर्य तथा क्रोध का ठिकाना न रहा। मैं एक बार झरिया की एक कोयले की खान देखने ज़मीन के नीचे उतरा। वहाँ मैंने स्त्रियों को बुरी हालत में काम करते देखा। यह देखकर कि मनुष्य से किस प्रकार बेरहमी से काम लिया जाता है मुझे जो धक्का लगा उसकी तस्वीर हर समय मेरे सामने बनी रहती है और उसे मैं कभी भूल नहीं सकता।"

भारत में कल-कारख़ानों का निर्माण यहाँ की सस्ती मज़दूरी देख कर हुआ। जब शुरू-शुरू में यहाँ कारख़ाने खुले तब १५–१५ घंटे मज़दूरों से काम लिया जाता था। छोटे-छोटे बच्चों से काम लेने में भी कोई संकोच नहीं था। मज़दूरी नाम मात्र को दी जाती थी। रहने-सहने की मिल-मालिक की कोई ज़िम्मेदारी नहीं थी। मज़दूर बीमार हो जाय या मर जाय—कोई पूछने वाला नहीं था। अब अवस्था वह नहीं है। अब सरकार की तरफ़ से मज़दूरों के लिए अनेक कायदे-कानून बन गये हैं। इन कानूनों का ज़िक्र हम आगे करेंगे। फिर भी अन्य देशों के मुकाबिले में श्रमियों की हालत सुधारने में हम बहुत पीछे हैं। मिल-मालिक नफ़ा कमाते हैं, नफ़े के लिए ही वे मिलें खोलते हैं, परन्तु मज़दूरों पर खर्च करते हुए वे हिचकिचाते हैं। वे समझते हैं कि जितना मज़दूरों को मज़दूरी देने में, उनकी हालत सुधारने में खर्च होगा, उतनी ही उनके मुनाफ़े में कमी आ जायगी। इस कारण अभी भारत के मज़दूर की हालत यह है कि उसे काम के मुताबिक पूरी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूरी नहीं मिल रही, उसके रहने के लिए मकान का पूरा प्रबन्ध नहीं है, जो-कुछ है वह ठीक नहीं है, बीमारी तथा बेकारी की हालत में उसकी समस्याएँ हल नहीं होतीं, उसके स्वास्थ्य तथा शिक्षा की समस्याएँ भी उसे हर समय घेरे रहती हैं।

श्रमियों की इस हालत को देख कर समय-समय पर यहाँ फ़ैक्टरी-कानून बनते रहे। श्रमियों की सब समस्याओं को लेकर **१९४८ के फैक्टरी-कानून** में उन्हें हल करने का प्रयत्न किया गया है। इस कानून का विस्तार-पूर्वक हम आगे वर्णन करेंगे, परन्तु क्योंकि इस कानून की धाराएँ श्रमियों की हालत सुधारने के लिए बनाई गई हैं, इसलिए हम यहाँ इस कानून में श्रमियों की दशा सुधारने के लिए जो बातें कही गई हैं, उनमें से मुख्य-मुख्य का वर्णन करेंगे।

३. श्रमियों की हालत में सुधार के प्रयत्न

(क) सफ़ाई—मिलों में जहाँ-तहाँ गन्दगी दिखाई देती है, स्वास्थ्य का कोई ध्यान नहीं रखा जाता। सफ़ेदी नहीं कराई जाती, फ़र्श कच्चा, चारों तरफ़ धूल और गर्दा। ऐसी हालत में श्रमी बीमार न पड़ें तो क्या हो। इस सब को ध्यान में रख कर **१९४८ के फैक्टरी-कानून** में यह कहा गया है कि कारख़ाने में नित्य सफ़ाई करनी होगी, झाड़ू देनी होगी, और प्रति सप्ताह श्रमी के काम करने के फ़र्श को फ़िनाइल आदि से धोना होगा, अगर कहीं पानी जमा होता हो तो उसे बाहर निकालने के लिए नाली आदि का बन्दोबस्त करना होगा, कारख़ाने की दीवारों, छतों आदि को कम-से-कम पाँच साल में एक बार रंगना और उन पर वारनिश करनी होगी। अगर उन पर रोग़न या वारनिश नहीं है, तो कम-से-कम १४ महीने में एक बार उन पर सफ़ेदी करनी होगी। इतना सब-कुछ होने पर भी कारख़ानों के मालिक सफ़ाई की तरफ़ ध्यान नहीं देते और श्रमियों को ग़न्दगी में काम करने पर बाधित होना पड़ता है। जो कारख़ाने कानून की परिभाषा में नहीं आते वे तो सफ़ाई करना अपनी गाँठ के पैसे पर आक्रमण समझते हैं।

(ख) हवा तथा तापमान—अपने देश की जल-वायु ऐसी है कि गर्मियों में गर्मी, सर्दियों में सर्दी और बरसात में वर्षा नाक में दम कर देती हैं। ग़रीब श्रमी तो इन तीनों की मार को सह नहीं सकता। फ़ैक्टरी कानून के अनुसार इस अवस्था को भी बदलने का प्रयत्न किया गया है। छतें और दीवारें ऐसी बनी होनी चाहिएँ जिससे गर्मी में ज़्यादा गर्मी और सर्दी में ज़्यादा सर्दी महसूस न हो। राज्य-सरकारों को आदेश दिया गया है कि प्रत्येक कारख़ाने में हवा और तापमान की ठीक-ठीक व्यवस्था करायें। फ़ैक्टरियों को बाधित किया जा सकता है कि छतों को ऊँचा करके, खिड़कियों पर पर्दे लगा कर, और जिस किसी तरह से भी हो अन्दर ऐसी अवस्था पैदा करें जिसे सहा जा सके।

(ग) गर्द तथा धुआँ—कारख़ानों में काम करते हुए गर्द और धुआँ इकट्ठा हो जाता है जो फेफड़ों में पहुँच कर नुक्सान देता है। फ़ैक्टरी-कानून में यह नियम बना दिया गया है कि इनको बाहर निकालने की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चाहिए। इन सब के बावजूद कारख़ानों का वातावरण गर्द तथा धुएँ से बिल्कुल बरी तो नहीं हो सकता और श्रमियों को थोड़ी-बहुत गर्द और धुआँ फाँकना ही पड़ता है।

(घ) **जगह की कमी**—कारख़ानों के मालिक थोड़े-से स्थान में सब-कुछ भर देना चाहते हैं। श्रमियों को खड़े होने तक के लिए जगह की तंगी होती है। अनेक वर्षों तक श्रमियों ने इसी हालत में काम किया, परन्तु अब १९४८ के कानून के अनुसार नए कारख़ानों के लिए ५०० घन फुट तथा पुरानों के लिए ३५० घन फुट प्रति व्यक्ति जगह होना आवश्यक कर दिया गया है।

(ङ) **प्रकाश**—कारख़ानों में काम करने वालों को अन्धेरी कोठरियों में काम करना पड़ता था। रोशनदान थे नहीं, थे तो शीशे इतने गन्दे होते थे कि उनमें से रोशनी नहीं आ पाती थी। इससे आँखों पर ज़ोर पड़ता था और प्रकाश कम होने के कारण दुर्घटनाएँ भी आये दिन हुआ करती थीं। फ़ैक्टरी कानून के अनुसार रोशनदान सफ़ा होने चाहिएँ, उनसे भरपूर प्रकाश आ सकना चाहिए, चाँध नहीं पड़नी चाहिए।

(च) **पानी**—फ़ैक्टरी-कानून के अनुसार यह नियम है कि जहाँ २५० से ज़्यादा श्रमी काम करते हों, वहाँ गर्मी के दिनों में ठंडे पानी का प्रबन्ध करना होगा। अन्यथा काफ़ी पानी का प्रबन्ध करना तो हर कारख़ाने के लिए आवश्यक है। जहाँ पीने का पानी रखा हो, वहाँ मोटे-मोटे अक्षरों में जिन्हें श्रमी पढ़ सकें, लिखा होना चाहिए कि यहाँ पीने का पानी मिलता है। टट्टी-पेशाब के स्थान के २० फ़ीट के अन्दर-अन्दर पानी का प्रबन्ध होना चाहिए।

(छ) **मूत्रालय तथा शौचालय**—कारख़ानों में प्रायः ऐसी जगह और इस ढंग के मूत्रालय तथा शौचालय हुआ करते थे जहाँ जाना नरक में जाने के समान था। यह समझा जाता था कि टट्टी की क्या सफ़ाई, वह स्थान तो सड़ा हुआ, बदबूदार और गन्दा होना ही चाहिए। फ़ैक्टरी-कानून में इस बात पर विशेष ध्यान दिया गया है कि मूत्रालय तथा शौचालय अलग-अलग हों, पुरुषों तथा स्त्रियों के लिए भी अलग हों, उनमें हवा और रोशनी आ सकें, हर समय साफ़ रहें, सफ़ाई के लिए मेहतर रहें। २५० श्रमियों वाले कारख़ाने के मूत्रालय तथा शौचालय स्वास्थ्य-विभाग के नियमों के अनुसार बनाये जाँय और उनके अन्दर की दीवारें फ़र्श से ३ फ़ीट तक चमकदार टाइलों की हों, प्रति सप्ताह उन्हें फ़िनाइल से धोया जाय। राज्य-सरकार मूत्रालयों तथा शौचालयों के लिए और कड़े नियम बना सकती है।

(ज) **थूकदान**—जहाँ बहुत अधिक श्रमी इकट्ठे हो जाते हैं, कोई पान चबाता है, कोई तम्बाकू फाँकता है, तो वे जगह-जगह थूका करते हैं, दीवारों को चितकबरा कर देते हैं। इससे बीमारी फैलती है, गन्दगी तो होती ही है। फ़ैक्टरी कानून में थोड़ी-थोड़ी दूर पर सुविधाजनक स्थानों पर थूकदान रखने का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी विधान है और जो थूकदान में न थूक कर इधर-उधर थूके उसे पाँच रुपए तक जुर्माना किया जा सकता है।

(झ) दुर्घटनाओं से सुरक्षा—पहले कारखानों में अनेक दुर्घटनाएँ हो जाया करती थीं। कोई मशीन की लपेट में आ गया, किसी का हाथ कट गया, किसी की टाँग कट गई। मशीन जो ठहरी, अगर कोई पकड़ा गया तो उसकी चिल्लाहट को सुनती थोड़े ही थी, दनादन चलती चली जाती थी। फ़ैक्टरी-कानून में मशीन को इस प्रकार घेर देने के विधान बनाये गए हैं जिससे कोई दुर्घटना न हो सके। चलती मशीन को कोई बच्चा हाथ नहीं लगा सकता। युवा ही उसे परखेगा और वह भी वही जो इस काम का खास प्रशिक्षण प्राप्त कर चुका हो, जिसके कपड़े बिल्कुल जिस्म से सटे हों। मशीन का हर पुर्ज़ा, जिससे मनुष्य का सम्पर्क हो सकता है, ऐसा घिरा होना चाहिए जिससे कोई उसे छू तक न सके। चलती मशीन कोई बालक या स्त्री नहीं छू सकेगी, न उसमें तेल दे सकेगी। इस कानून में चलती मशीन को, ख़तरे की हालत में, बिजली से एकदम काट देने का प्रबन्ध आवश्यक है। १९४८ के कानून के अनुसार हर मशीन के ढके होने का नियम बना दिया गया है। मशीन के ख़रीदार का ही काम नहीं कि ढकी हुई मशीन को लगाये, मशीन बेचने वाले के लिए कानून में व्यवस्था की गई है कि ढकी हुई मशीन को ही बेचेगा जिससे ख़तरे की संभावना न रहे। एक व्यक्ति कितना बोझ उठा सकता है—इसके भी नियम बना दिये गए हैं। कुछ मात्रा से अधिक बोझ नहीं उठवाया जा सकता ताकि चोट का ख़तरा न हो। तेज़ रोशनी से आँख को बचाने, ख़तरनाक भाप से तथा आग लग जाने पर रक्षा करने की भी इस कानून में व्यवस्था है। कारखानों के निरीक्षकों को अधिकार दिया गया है कि श्रमियों की रक्षा के लिए जो बात आवश्यक समझें, कारखानों के मालिकों से उसे करायें।

जैसे **१९४८ के फैक्टरी-एक्ट** में श्रमियों की दशा सुधारने के लिए कानूनी व्यवस्था की गई है, वैसे **१९५२ के इण्डियन-माइन्स-एक्ट** तथा **१९५१ के प्लान्टेशन लेबर-एक्ट** में इन-इन उद्योगों में काम करने वाले श्रमियों की दशा सुधारने के लिए कानून बना दिये गए हैं। इन सब का वर्णन हमने 'श्रम-कानून' के अध्याय में किया है।

४. कानून बन जाने पर भी श्रमियों की समस्या नहीं सुलझी

कारखानों, खानों, बाग़ान आदि के सम्बन्ध में 'रीगे लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी (१९४६)' ने जो जाँच की थी उसमें वह इसी परिणाम पर पहुँची थी कि यद्यपि कई कानून बन गए हैं, सरकार इस दिशा में काफ़ी जागरूक है, तो भी अभी श्रमियों की हालत सुधरी नहीं है। इसके निम्न कारण हैं :

(क) अशिक्षा—अन्य देशों में लोग शिक्षित हैं, इसलिए जब कोई कानून बनता है तब वे उस का लाभ उठा सकते हैं। 'रीगे लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी' का कहना था कि यद्यपि चोट लग जाने पर मुआविज़ा देने का कानून

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(Wokman's Compensation Act) १९२३ से बना हुआ है तो भी १९४६ तक किसी इक्के-दुक्के ने ही इस कानून का फ़ायदा उठाया।

(ख) **ग़रीबी**—अन्य देशों में जहाँ श्रमी शिक्षित हैं वहाँ इतने ग़रीब भी नहीं हैं कि अपने अधिकारों को प्राप्त करने के लिये खर्च ही न कर सकें। भारत में अदालती काम बहुत महँगा पड़ता है, श्रमी के पास लड़ने के लिए धन नहीं होता, इसलिए कानूनों के होते हुए भी वे कानूनी सहायता नहीं ले सकते।

(ग) **मालिकों की उपेक्षा तथा विरोध**—अन्य देशों में मिल-मालिक कानूनों की उपेक्षा नहीं करते, कानून बन जाने पर उसका विरोध नहीं करते, इसलिए वहाँ श्रमियों की वह दुर्गति नहीं होती जो अपने देश में होती है। यहाँ कानून बन जाता है, तो भी कारख़ानों के मालिक उसकी उपेक्षा करते हैं, कभी-कभी उपेक्षा ही नहीं, वे इन कानूनों का विरोध भी करते हैं। जो श्रमी अपने अधिकारों के लिए लड़ता है उस पर झूठे आरोप लगाकर उसे तंग कर देते हैं, और अगर श्रम-निरीक्षक बीच में पड़ता है तो उसकी मुट्ठी गर्म कर मामला ख़त्म कर देते हैं।

(घ) **निरीक्षकों की शिथिलता**—कानून बना देना एक बात है, कानून के अनुसार कार्यवाही करना दूसरी बात है। सरकार ने श्रमियों के कल्याण के लिए अनेक कानून बनाये हुए हैं, उन का पालन हो—यह देखने के लिए निरीक्षक नियत किये हुए हैं। परन्तु अगर निरीक्षक ही आँखें बन्द कर लें, खाने-पीने लगें, तब काम कैसे चल सकता है। कानून होने पर भी श्रमियों की बुरी दशा का यह भी बड़ा भारी कारण है।

(ङ) **श्रम-संघों की दुर्बलता**—श्रमियों के अधिकारों की रक्षा के लिए श्रम-संघ बने हुए हैं परन्तु दो कारणों से वे सफल नहीं हो रहे। पहला कारण तो यह है कि श्रमियों में ही एकता नहीं है। हर जगह श्रमियों में दो दल हो जाते हैं। एकता टूटी कि संघ के पैर उखड़ गये। दूसरा कारण यह है कि ये श्रम-संघ भिन्न-भिन्न राजनीतिक दलों के अखाड़े बने हुए हैं। पेशेवर राजनीतिक नेता इन श्रम-संघों का नेतृत्व करते हैं जिनका उद्देश्य श्रमियों का कल्याण करना नहीं, अपना उल्लू सीधा करना होता है। श्रमियों की संख्या अधिक है, उनके पास वोट होते हैं। ये नेता बार-बार बिना कारण के मामलों को तूल देते रहते हैं ताकि उनका नाम सब की ज़बान पर आ जाय और चुनाव के समय सब उनके नाम की माला जपें। इस कारण भी कानून बन जाने पर भी अन्य देशों की तुलना में अपने देश में श्रमियों की हालत शोचनीय ही बनी हुई है।

प्रश्न

१. "भारत में आधुनिकतम श्रम-अधिनियमों के होते हुए भी श्रमिकों की दशा अन्य औद्योगिक देशों की तुलना में दयनीय है।" विवेचना कीजिये।
(१९५५, १९५७; राजस्थान, १९५८)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२६

श्रम-कल्याण की समस्याएँ

(PROBLEMS OF LABOUR WELFARE)

१. श्रम-कल्याण के विचार का अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रारम्भ

युरोप की 'औद्योगिक-क्रान्ति' ने संसार के सम्मुख एक सुख तथा वैभव का नक्शा खड़ा कर दिया था। तरह-तरह की चीज़ें मशीनों के ज़रिये बनने लगी थीं। संसार के सम्पत्तिशाली लोग धन-कुबेर बनने के सपने लेने लगे थे, परन्तु उसके साथ-ही-साथ श्रमियों की समस्या भी उठ खड़ी हुई थी। दुनिया को आनन्द-वैभव से भरपूर करने के लिए अपने घर-बार को छोड़कर ग्राम-वासी शहरों की तरफ़ चल पड़े थे। वहाँ उनको रहने की ठीक जगह नहीं मिलती थी, अन्धेरी काल-कोठरियों में वे ज़िन्दगी बसर करते थे, जीवन का निर्वाहमात्र करने के लिए उन्हें मज़दूरी मिल जाती थी। इस स्थिति को देखकर कई लोगों के हृदय में विद्रोह उत्पन्न हुआ। उन्होंने श्रमियों की हालत सुधारने की कोशिश की। इनमें से इंग्लैण्ड का एक व्यक्ति **राबर्ट ओवन** (१७७१–१८५९) था। वह स्वयं एक कारीगर था, अपने उद्योग से समृद्ध उद्योगपति हो गया। स्काटलैण्ड में उसकी अपनी कपड़े की मिल थी। उसने अपनी मिल में काम करने के घंटे कम कर दिये, मज़दूरों के रहन-सहन का बन्दोबस्त किया, उनके बाल-बच्चों की पढ़ाई-लिखाई

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :–

1. Discuss the extent of overcrowding in industrial towns. What measures have been taken by (*a*) the Government, (*b*) Municipal Boards and Improvement Trusts, and (*c*) Employers, in providing better housing for workers ? (1951)

2. What steps have been taken by the Government of India to protect female and child labour in Indian factories? (1951)

3. Discuss the problem of post-war urbanisation in India. How far have the Central and Provincial Governments succeeded in solving the problems of overcrowding in industrial towns? Suggest other remedies. (Agra, 1952; Rajasthan, 1955)

4. Discuss the evils of the system of indirect recruitment. How far have Employment Exchanges been successful in meeting the situation? (1955)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की व्यवस्था की। १८१९ में उसके प्रयत्न से पार्लियामेंट ने कारख़ानों में बच्चों के काम करने के घंटे परिमित कर दिये। उसने मज़दूरों की समस्याओं को हल करने के लिए आन्दोलन किया।

राबर्ट ओवन के सामने यह समस्या खड़ी की गई कि यदि इंग्लैण्ड में मज़दूरों को ज़्यादा मज़दूरी दी जाय, उनके रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने के लिए उन पर बहुत-सा रुपया खर्च कर दिया जाय, तो दूसरे देशों के व्यापारी सस्ता माल पैदा कर सकेंगे क्योंकि उनका उत्पादन पर व्यय कम आयगा। ऐसी हालत में इंग्लैण्ड का व्यापार पीछे रह जायगा। इन विचारों का परिणाम यह हुआ कि कुछ लोगों ने श्रम-कानूनों के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से सोचना शुरू किया। उनका कहना था कि एक देश में ही नहीं, सब देशों में मज़दूरों की हालत सुधारनी होगी, सब देशों के कानूनों में ऐसा परिवर्तन करना होगा जिससे मज़दूर को काफ़ी मज़दूरी मिले, उसके रहने के लिए साफ़-सुथरे मकानों का प्रबन्ध हो, उसकी अन्य समस्याओं को भी हर देश में हल किया जाय। इस दिशा में ब्रिटिश पार्लियामेंट के सदस्य **श्रीयत् चार्ल्स हिंडले** ने बहुत काम किया।

एक देश के ही नहीं, संसार के सब श्रमियों का जीवन-स्तर ऊँचा करना होगा, यह राष्ट्रीय नहीं, अन्तर्राष्ट्रीय-समस्या है—यह आवाज़ चारों तरफ़ से उठने लगी। अलसेशिया के **डेनियल लेग्रैंड** तथा बेलजियम के **एडूआर्ड डुकपैटाऊ** ने १९वीं शताब्दी के मध्य-काल में मज़दूरों की समस्या को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हल करने पर ज़ोर दिया। इन सब प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में युरोप के अनेक देशों में ट्रेड-यूनियन-मूवमेंट का प्रारंभ हो गया। मज़दूर अपनी यूनियन बनाते थे, माँगें पेश करते थे, माँगों के पूरा न होने पर हड़तालें करते थे। इन हड़तालों को तोड़ने के लिए मिल-मालिक दूसरी जगहों से मज़दूर ले आते थे। यह ट्रेड-यूनियनों के लिए नया अनुभव था। इसके आधार पर ट्रेड-यूनियनों ने पारस्परिक सहयोग से काम लेना शुरू किया और इस सहयोग से भी मज़दूर-वर्ग में अपनी समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि-कोण से विचार करना प्रारंभ हुआ।

१८४७ में मार्क्स और ऐंजल्स ने अपना प्रसिद्ध 'कम्यूनिस्ट मैनीफ़ेस्टो' प्रकाशित किया जिसमें संसार भर के मज़दूरों को सम्बोधित करके कहा गया था—"संसार के मज़दूरो! एक हो जाओ, तुम्हारी एकता से तुम्हारा अगर कुछ जायगा तो तुम्हारे दासता के बन्धन ही जायेंगे, और कुछ नहीं जायगा।"

जो लोग मज़दूरों के अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारों के लिए प्रयत्न कर रहे थे, उन्होंने प्रथम महायुद्ध के समाप्त होने पर यह माँग की कि जहाँ युद्ध को समाप्त करते हुए संसार भर के लोगों के लिए राजनीतिक तथा आर्थिक स्वतंत्रता की नींव रखी जा रही है, वहाँ संसार भर के मज़दूरों के लिए भी ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी जाय जिससे उन्हें भौतिक आवश्यकताओं से मुक्ति मिले, उन्हें बेकारी का सामना न करना पड़े, वे अपना संगठन बना सकें, उनके काम करने के घंटे निश्चित कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिये जाँय और उनके स्वास्थ्य, सुरक्षा आदि का पूरा-पूरा प्रबन्ध हो। परिणाम यह हुआ कि ३१ जनवरी १९१९ को 'शान्ति-सम्मेलन' (Peace Conference) ने एक कमीशन की नियुक्ति की जिसका नाम 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' (I. L. O.) रखा गया, और जिसका काम 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-कानून' बनाना था, ऐसे श्रम-कानून जो इस संघ की दृष्टि में मज़दूरों के हित में हर देश में चलने चाहिएँ। यह संघ 'राष्ट्र-संघ' (League of Nations) का अंग था और लीग के विश्व-शान्ति के उद्देश्यों की तरह इसका उद्देश्य भी मज़दूरों में शान्ति उत्पन्न करना था।

द्वितीय विश्व-युद्ध से 'राष्ट्र-संघ' तो समाप्त हो गया, परन्तु 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' (I.L.O.) मौण्ट्रीयल में काम करता रहा। मई १९४४ में द्वितीय विश्व-युद्ध के समाप्त होने पर इस संघ ने फिर अपने उद्देश्यों को दोहराया और यह घोषित किया गया कि 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' (I.L.O.) के प्रोग्राम के आधारभूत सिद्धान्त ये होंगे—(१) हर-एक व्यक्ति को काम मिलना चाहिए, उसका जीवन-स्तर ऊँचा होना चाहिए, (२) प्रत्येक श्रमी को वही काम मिलना चाहिए जिसमें वह अपना पूरा-पूरा कौशल काम में ला सकता है, जो उसकी रुचि के अनुकूल है, (३) प्रत्येक श्रमी को अपनी योग्यता बढ़ाने और जहाँ वह काम करना चाहे वहाँ जाने की सुविधा मिलनी चाहिए, (४) मज़दूरी, काम करने के घंटे तथा सुरक्षा का यथोचित प्रबन्ध होना चाहिए, (५) मज़दूरों को संगठित रूप से सौदा करने का अधिकार होना चाहिए, उत्पादन के स्तर को बढ़ाने के लिए मालिक तथा मज़दूर का सहयोग होना चाहिए तथा सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को हल करने में दोनों को मिल कर एक-दूसरे की समस्या को सुलझाना चाहिए, (६) ज़रूरतमन्दों के सम्मुख सुरक्षा के साधन उपस्थित करना तथा उनकी चिकित्सा की पूरी-पूरी व्यवस्था करना जरूरी है, (७) हर पेशे के श्रमियों की ज़िन्दगी की हिफ़ाज़त तथा उनके स्वास्थ्य की देख-रेख करनी चाहिए, (८) बाल-कल्याण तथा मातृ-कल्याण के साधनों का अवलंबन करना चाहिए, (९) पर्याप्त-पोषण, पर्याप्त-गृह-व्यवस्था तथा मनोरंजन एवं संस्कृति-विकास के सब उपाय उपस्थित रहने चाहिएँ, और (१०) शिक्षा प्राप्त करने तथा किसी धंधे के सीख सकने की पूरी-पूरी व्यवस्था होनी चाहिए।

पहले जिस प्रकार 'राष्ट्र-संघ' (League of Nations) के अन्तर्गत 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ (I.L.O.) काम कर रहा था, वैसे अब 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (United Nations Organisation) के अन्तर्गत यह काम कर रहा है, और ऊपर जिन आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है उनके आधार पर 'विधान' (Conventions) बनाता रहता है। इन 'विधानों' (Conventions) से प्रेरणा पाकर हर देश की सरकारें अपने-अपने यहाँ मज़दूरों के सम्बन्ध में कानून बनाती रहती हैं।

अगस्त १९४२ में 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' की रचना के आधार पर भारत ने भी एक 'त्रि-दलीय श्रम-संघ' (Tripartite Labour Organisation)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

की स्थापना कर दी थी। इसे 'त्रि-दलीय' इसलिए कहते हैं क्योंकि इसमें सरकार, मालिक तथा मज़दूर तीनों दलों के प्रतिनिधि होते हैं। 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' भी 'त्रि-दलीय' है, 'भारतीय श्रम-संघ' भी 'त्रि-दलीय' है। इसका उद्देश्य यहाँ के कानूनों को 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ-विधानों' (Conventions) के अनुसार ढालना है। पहले तो इस दिशा में कोई अधिक काम नहीं हुआ, परन्तु अगस्त १९५४ में भारत-सरकार के श्रम-मंत्रालय ने 'त्रि-दलीय' सिद्धान्त पर एक कमेटी बनायी जिसका काम 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I.L.O.) के 'विधानों' (Conventions) की छान-बीन करके उन्हें भारतीय-मज़दूर-कानूनों का अंग बनाना था। १९५५ तक भारत 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' के १०३ 'विधानों' में से २३ को अपना चुका था।

२. श्रम-कल्याण की समस्याएँ

जैसे कृषि-युग में 'किसान' की समस्याएँ होती हैं, वैसे औद्योगिक-युग में 'मज़दूर' की समस्याएँ हैं। कृषि पर विचार करते हुए हमें किसान की समस्याओं को समझना और उन्हें हल करना है; उद्योगों पर विचार करते हुए हमें 'मज़दूर' की समस्याओं को समझना और हल करना है। मज़दूर की समस्याएँ क्या हैं? वे निम्न हैं :—

(क) प्रवासी प्रवृत्ति की समस्या (Problem of Migratory character of labour),

(ख) मज़दूरों की भर्ती की समस्या (Problem of Recruitment of labour),

(ग) मज़दूरों की काम से अनुपस्थिति (Absenteeism),
(घ) मज़दूरों का हेर-फेर (Turn-over in labour),
(ङ) छुट्टियाँ तथा सवेतन अवकाश (Holidays and leave with pay),
(च) ट्रेड-यूनियन-आन्दोलन (Trade-unionism),
(छ) औद्योगिक-झगड़े (Industrial disputes),
(ज) औद्योगिक गृह-समस्या (Industrial Housing problem),
(झ) श्रम-कल्याण (Labour-Welfare),
(ञ) मज़दूरी (Wages),
(ट) ऋण-ग्रस्तता (Indebtedness),
(ठ) जीवन का स्तर (Standard of living),
(ड) स्वास्थ्य (Health),
(ढ) कार्य-क्षमता (Efficiency),
(ण) स्त्री-श्रमिकों तथा बाल-श्रमिकों की समस्या (Problem of Female and Child labourers)।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(क) प्रवासी प्रवृत्ति की समस्या

पाश्चात्य देशों में फ़ैक्टरियों में काम करने वाले मज़दूर शहर में स्थिर तौर पर बस गये हैं, वे काम के लिए शहर में आते हों और मौके-बे-मौके गाँव वापस चले जाते हों—ऐसा नहीं होता। भारत में यह बात नहीं है। यहाँ मज़दूर लोग गाँवों से आते हैं, और स्थिर तौर पर शहरों में नहीं रहते, उनका गाँवों से आना-जाना लगातार चलता रहता है। इस दृष्टि से जहाँ पाश्चात्य देशों का औद्योगिक श्रमी-वर्ग स्थिर है, वहाँ भारत का श्रमी-वर्ग अस्थिर है। आते ये गाँवों से हैं—इसमें सन्देह नहीं। १९५१ की जन-गणना के अनुसार १ लाख की आबादी के ७५ शहरों की जन-संख्या पिछले १० सालों में ४३.८ प्रतिशत बढ़ गई। दिल्ली की १९७.७, मद्रास की ८३.९, बम्बई की ६३.१ तथा कलकत्ता की २०.९ बढ़ी। इतनी आबादी कैसे बढ़ी? कुछ तो पाकिस्तान बन जाने से बढ़ी, और बहुत-कुछ कल-कारखानों में गाँवों से मज़दूर आने से बढ़ी। यह ज़रूरी नहीं कि ये मज़दूर आस-पास से ही आते हों। दूर-दूर के ज़िलों और भिन्न-भिन्न प्रान्तों से मज़दूर आते हैं। यह भी ज़रूरी नहीं कि ये सब मज़दूर पेशे के किसान हों, और तभी शहरों में आते हों, जब फ़सल के दिनों से उन्हें फ़ुर्सत मिलती है। ये ज़्यादा-तर भूमिहीन किसान होते हैं। कर्ज़ चुकाने या कमाई करने ये शहरों को निकल पड़ते हैं, परन्तु क्योंकि मज़दूरों की सुरक्षा का शहरों में उचित प्रबन्ध नहीं हैं, इसलिए बीमारी के समय, आराम के लिए, बच्चों से मिलने-जुलने के लिए ये लौट-लौट कर गाँवों में आते-जाते रहते हैं।

यह आना-जाना मज़दूरों के लिए और मालिकों के लिए एक समस्या है। मालिकों के लिए तो इसलिए समस्या है क्योंकि उन्हें अपनी मज़दूर-संख्या पर भरोसा नहीं रहता। पता नहीं कब मज़दूर छुट्टी लेकर चला जायगा। इसके अतिरिक्त जब मज़दूर जाता है, तब जो-कुछ उसने सीखा होता है, उस सब के मट्टी में मिल जाने का खतरा रहता है। नए मज़दूर को नए सिरे से सिखाना पड़ता है और इससे उत्पादन की सुकरता में बाधा पड़ती है। मज़दूरों के लिए यह इसलिए समस्या है क्योंकि उन्हें परिस्थितियों से बाधित होकर गाँव जाना पड़ता है। अच्छे मकानों का प्रबन्ध न होने से उन्हें बाल-बच्चों को गाँव में छोड़ कर आना होता है। शहर में एक कमरे में आठ-दस पड़े रहते हैं, उसमें बाल-बच्चों को कैसे रखें? फिर उन्हें समय-समय पर मिलने न जाँय तो क्या करें? साथ ही रोगी होने की हालत में उनकी शहर में देख-भाल कौन करे? इसलिए भी बीमार होने पर वे गाँव भाग जाते हैं। बेकार होने पर भी मज़दूर के लिए गाँव चले जाने के सिवाय कोई चारा नहीं है। वहाँ वह संयुक्त-परिवार का अंग है, खाने की समस्या वहाँ उठती हुई भी नहीं उठती। एक तरह से गाँव चले जाना उसकी 'सुरक्षा' (Security) का एक साधन है।

मज़दूर का गाँव से सम्बन्ध बना रहना चाहिए या नहीं, क्या भारत का मज़दूर-वर्ग प्रवासी ही बना रहे—इस संबंध में भिन्न-भिन्न विचार हैं। रॉयल

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लेवर कमीशन ने १९३१ को अपनी रिपोर्ट में कहा था कि मज़दूर का गाँव से सम्बन्ध कायम रहने देना चाहिए—इससे उसका स्वास्थ्य सुधरता है, उसमें स्फुरण उत्पन्न होता है, और वह नये उत्साह से काम करने आता है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी का कहना है कि हमें फ़ैक्टरियों के निर्माण में नियोजन का पुट देना चाहिए। कल-कारखाने बनाने ही ऐसी जगह चाहिएँ जहाँ मज़दूर अपने गाँवों से लारियों या रेलों से आ सकें और शाम को अपने-अपने गाँवों में घरों में जा सकें। १९४६ में रीगे की अध्यक्षता में जो लेबर इन्वेस्टिगेशन कमिटी की रिपोर्ट प्रकाशित हुई, उसमें कहा गया कि मज़दूर दो बातों से गाँव जाते हैं—एक तो 'आराम' के लिए, दूसरा 'सुरक्षा' के लिए। आराम के लिए जाँय इसमें किसी को आपत्ति नहीं, परन्तु सुरक्षा के लिए जाँय इसका तो यही अभिप्राय है कि हमने उनके मकानों का प्रबन्ध नहीं किया, उनके बाल-बच्चों के रहने का प्रबन्ध नहीं किया, बीमारी और बेकारी में उनका कोई वाली-वारिस नहीं। सुरक्षा के ये काम संयुक्त-परिवार-प्रथा या जात-बिरादरी पर न छोड़ कर अब सरकार को अपने हाथ में लेने होंगे, क्योंकि धीरे-धीरे ये पुराने संगठन टूटते जा रहे हैं और ऐसी स्थिति आती जा रही है कि अगर सरकार की तरफ़ से इन सब बातों का प्रबन्ध न हुआ, तो भारत का मज़दूर न घर का रहेगा, न घाट का।

(ख) मज़दूरों की भर्ती की समस्या*

१८९६ में प्लेग तथा १९१८ में इन्फ्लुएन्ज़ा से इतने लोग मरे कि मज़दूरों की भर्ती में भी बड़ी कठिनाई आने लगी। इन कारणों से तथा इसलिए भी क्योंकि यह तरीका ही आसान था शुरू-शुरू में कारखानों में भर्ती ठेकेदारों के ज़रिये होती थी। इन्हें सरदार, मिस्त्री, मुकद्दम, टंडेल, चौधरी कहा जाता था। स्त्रियों की भर्ती नायकिनों तथा मुकद्दमियों के ज़रिये होती थी। इस प्रथा से मिल-मालिकों को तो यह लाभ था कि मज़दूरों की भर्ती के लिए जगह-जगह नहीं भटकना पड़ता था, मज़दूरों की जवाबदेही भी इन्हीं ठेकेदारों के ऊपर रहती थी, इसके साथ ही श्रम-कल्याण के कामों पर भी उन्हें कुछ नहीं खर्च करना पड़ता था क्योंकि मज़दूरों की सारी ज़िम्मेदारी ठेकेदारों की थी। ठेकेदारों को यह लाभ था कि उन्हें मज़दूर लाने का कमीशन मिलता था, और मज़दूरों से भी काम पर लगाने का अपना कमीशन अलग ले लेते थे। मज़दूरों को यह लाभ था कि जाने-पहचाने लोगों के साथ काम-व्यवहार करने में उन्हें ज़्यादा आसानी प्रतीत होती थी, इन ठेकेदारों को वे अपना कर्ता-धर्ता समझते थे। इन लाभों के होते हुए भी ठेकेदारों के ज़रिये भर्ती करने में एक बड़ा भारी दोष था। एक तो ये ठेकेदार मज़दूरों को ख़ूब ठगते थे, दूसरा मिल-मालिक उनकी भलाई का कोई काम नहीं करते थे, वे समझते थे कि उनकी कोई ज़िम्मेदारी ही नहीं है, ठेकेदार की ज़िम्मेदारी है।

---

* **Discuss the evils of the system of indirect recruitment. How far have Employment Exchanges been successful in meeting the situation? (1955)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इन सब बातों को देखकर रायल लेबर कमीशन ने यह राय दी कि भर्ती की इस प्रथा को बदल देना चाहिए। भर्ती किसी के ज़रिये नहीं, सीधी करनी चाहिए। प्रत्येक मिल को अपना एक लेबर अफ़सर रखना चाहिए। यह अफ़सर स्वयं गाँव में जाकर मज़दूरों की भर्ती करे। इस प्रकार बिना ठेकेदार को बीच में डाले सीधे तौर पर भर्ती करने के कई परीक्षण हुए और हो रहे हैं। एक तो यही है—लेबर-अफ़सर रखने का। बम्बई, कलकत्ता में ५० प्रतिशत कपड़े की मिलों ने लेबर-अफ़सर रख लिये हैं, वे ही मज़दूरों की भर्ती करते हैं। कई मिलों ने स्पेशल रिक्रूटिंग आफ़िसर रखा है, यह भी लेबर-अफ़सर ही समझना चाहिए। कई जगह लेबर ब्यूरो खोल दिया गया है। यह एक दफ्तर होता है जो लेबर-अफ़सर के नीचे काम करता है। इसका काम मज़दूरों की भर्ती तथा अन्य सब समस्याओं को हल करना है। कई जगह लेबर-यूनियन ने यह काम अपने ज़िम्मे लिया है। मिल-मालिकों को जो नई भर्ती करनी होती है उसकी सूचना लेबर-यूनियन के पास पहुँचा दी जाती है, और यूनियन इस माँग को पूरा करती है। बम्बई की कई मिलों में कुछ नए परीक्षण शुरू हुए हैं—इनमें से एक परीक्षण 'बदली' कहलाता है। इन्होंने मज़दूरों को तीन श्रेणियों में बाँट दिया है—पक्के, कच्चे तथा बदली। पक्के वे हैं जो स्थिर हैं, कच्चे वे हैं जो कुछ समय के लिए रखे गए हैं। ये पक्के और कच्चे समय-समय पर छुट्टी जाते रहते हैं। इनका स्थान भरने के लिए कुछ नए आदमी रखे जाते हैं। ये नए कौन होते हैं? कच्चों में से कुछ को कार्ड दिये जाते हैं, और बेकार मज़दूर जो नौकरी चाहते हैं उनको भी कुछ कार्ड दिये जाते हैं। ये कार्ड वाले मज़दूर प्रातःकाल मिल में पहुँचते हैं। अगर कुछ पक्के छुट्टी पर चले गए हैं, तो कार्ड वाले कच्चे उनकी जगह रख लिये जाते हैं, और इन कच्चों की जगह कार्ड वाले जो अब तक बेकार थे, उन्हें रख लिया जाता है। इसी को 'बदली' कहते हैं। कई जगह यह भी कोशिश हो रही है कि मज़दूर के बाल-बच्चों को नौकरी के लिए तरजीह दी जाय। उत्तर-प्रदेश में 'लेबर डिपो' खोले जा रहे हैं जहाँ मज़दूर लोग आकर इकट्ठे होंगे और वहाँ से उनकी भर्ती होगी। जहाँ पर वे जमा होंगे वहाँ उनके रहन-सहन आदि की व्यवस्था की जायगी। इस प्रकार उन्हें कोई बहका नहीं सकेगा।

इस प्रकार हमने देखा कि अब धीरे-धीरे मालिक तथा मज़दूर में जो बिचैल थे वे हटते जा रहे हैं, मज़दूरों की सीधी भर्ती होने लगी है। कपड़े की मिलों, शक्कर के कारखानों जिनमें मौसमी भर्ती होती है, खानों में अब सीधी भर्ती होने लगी है। इसका सबसे अच्छा उपाय 'रोज़गार-दफ्तर' (Employment Exchange) है। अन्य देशों में तो रोज़गार-दफ्तर बहुत पहले खुल गये थे, परन्तु अपने देश में जुलाई १९४५ से ये दफ्तर खुले हैं। मज़दूरों की इनके ज़रिये भर्ती करने से भर्ती की अनेक समस्याएँ सुलझ सकती हैं। यह सब-कुछ होने पर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि अभी बहुत हद तक बिचैलों, ठेकेदारों, चौधरियों और टंडैलों की मार्फ़त ही मज़दूरों की भर्ती होती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ग) मज़दूरों की काम से अनुपस्थिति की समस्या

अभी तक हमारे यहाँ मज़दूरों के रहने की व्यवस्था ठीक नहीं है। जिन स्थानों में वे रहते हैं, वे अत्यन्त गन्दे होते हैं। ऐसे मकानों में रहने और रूखा-सूखा खाने के कारण उनकी जीवनी-शक्ति बहुत निम्न-कोटि की हो जाती है। नतीजा यह होता है कि वे हर समय मलेरिया, टायफ़ाइड, तपेदिक के शिकार बने रहते हैं। छोटी-मोटी बीमारी तो उनका पीछा छोड़ती ही नहीं। ऐसी हालत में वे काम से अनुपस्थित हो जाते हैं। फ़सल के दिनों में भी मज़दूर लोग अपने गाँवों को भाग जाते हैं। ब्याह-शादी के लिए भी उनका जाना ज़रूरी होता है। अगर वे छुट्टी लेकर जाँय तब तो इसे अनुपस्थिति नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस हालत में उनकी जगह दूसरा इन्तज़ाम हो जाता है। परन्तु ऐसे मज़दूरों की संख्या भी बहुत पर्याप्त है जो बिना छुट्टी लिये और अपनी जगह बिना एवज़ी दिये घर को चल देते हैं। मार्च, १९५८ में ऐसे ग़ैर-हाज़िरी वाले मज़दूरों की संख्या सूत, ऊन तथा रेशम की मिलों में बम्बई में ८.०, अहमदाबाद में ८.०, शोलापुर में १३.१, मद्रास में १०.०, मदुरा में १५.५, कोयम्बटूर में १३.४, कानपुर में १३.०, धारीवाल में ५.९, माइसोर में ११.१ प्रतिशत थी। १ अप्रैल १९६२ से ३१ मार्च १९६३ तक भारत के कारख़ानों में काम करने वाले मज़दूरों की अनुपस्थिति की दर ७.३ प्रतिशत थी।*

इस अनुपस्थिति का मज़दूरों पर तो यह असर होता है कि उनकी दिहाड़ी मारी जाती है और मिल-मालिकों पर यह असर होता है कि उनको काम सीखे हुए मज़दूर नहीं मिलते, काम का नुक़सान होता है। इसका उपाय मिल-मालिकों ने यह सोच रखा है कि वे कुछ फ़ालतू लेबर-फ़ोर्स रखते हैं। वे मज़दूरों को समय-समय पर ज़बर्दस्ती छुट्टी के लिए भेजते हैं और उनकी जगह इस लेबर-फ़ोर्स से काम लेते हैं। यह लेबर-फ़ोर्स एक तरह की मिल-मालिकों की द्वितीय रक्षा-पंक्ति है, परन्तु इससे मज़दूरों का नुक़सान तो होता ही है।

अनुपस्थिति को दूर कैसे किया जाय—यह एक समस्या है। रीगे लेबर इन्वेस्टिगेशन कमिटी ने सुझाव दिया था कि मज़दूरों की दशा सुधारी जाय, उनका वेतन बढ़ाया जाय, छुट्टियों की व्यवस्था की जाय—इन सब से उनको अनुपस्थित रहने का प्रलोभन नहीं रहेगा।

(घ) मज़दूरों की हेर-फेर की समस्या

'अनुपस्थिति' (Absenteeism) तथा 'हेर-फेर' (Turn-over) में भेद है। 'अनुपस्थिति' में तो मज़दूर काम पर आता ही नहीं, परन्तु 'हेर-फेर' में जो काम पर नहीं आता उसकी जगह या तो वही एवज़ी रख जाता है, या प्रबन्धक लोग नया मज़दूर रख लेते हैं। मज़दूरों की संख्या में कमी नहीं आती, सिर्फ़ हेर-फेर हो जाता है। परन्तु इस हेर-फेर से काम को तो नुक़सान पहुँचता

* Indian Labour Journal, January 1964, p. 5.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

है। जो मज़दूर काम सीखा हुआ है उसकी जगह नया मज़दूर कितना काम करेगा ? यह हेर-फेर भी हमारे कारखानों में काफ़ी है। पुराने मज़दूर घर की अवस्थाओं से, रोगी होने के कारण, या किसी अन्य कारण से काम छोड़ जाते हैं, उनकी जगह नयों की भर्ती होती रहती है। इससे कारखानों को नुक्सान पहुँचता है।

इस हेर-फेर को कैसे रोका जाय ? मिल-मालिक स्वयं भी हेर-फेर करते रहते हैं। उनका ख्याल रहता है कि नए मज़दूरों को कम मज़दूरी देनी पड़ेगी इसलिए मिल-मालिकों को फ़ायदा हो जायगा। परन्तु यह भ्रम-मूलक विचार है। पुराना, सीखा हुआ मज़दूर जितना काम कर सकता है, उतना नया मज़दूर नहीं कर सकता। मिल-मालिकों के अलावा जहाँ चौधरी, ठेकेदार, मुकद्दम आदि के ज़रिये मज़दूर रखे जाते हैं, वहाँ ये लोग अपने फ़ायदे के लिए नए-नए मज़दूर भर्ती करने लगते हैं ताकि उनको कमीशन मिले। वे पुरानों को हटाने लगते हैं। इससे भी हेर-फेर बढ़ती है। हर हालत में हेर-फेर न मज़दूर के हित में है, न मिल-मालिक के, इसे शीघ्र-से-शीघ्र दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए।

(ङ) छुट्टियों तथा सवेतन अवकाश की समस्या

'अनुपस्थिति' तथा 'हेर-फेर' अपने देश में इतने अधिक इसलिए हैं क्योंकि मज़दूरों को छुट्टी की सुविधाएँ नहीं हैं। अगर मज़दूर लम्बी छुट्टी पर जाता है, तो उसे बिल्कुल जाना पड़ता है, नौकरी छोड़नी पड़ती है। रॉयल कमीशन ने मशवरा दिया था कि कारखानों के मालिकों को छुट्टी के लाभ समझने चाहियें। इससे मज़दूरों का स्वास्थ्य उन्नत होता है, उनमें क्रियाशीलता बढ़ती है, फुर्ती आती है, और छुट्टी से वापस लौट कर वे काम को पहले से अच्छा करने लगते हैं। हमारे देश में छुट्टी के महत्त्व को पूरा नहीं समझा जाता। स्थिर कार्यकर्ताओं को तो सवेतन अवकाश दिया जाता है, अन्य किसी को नहीं। अब तो इतवार तथा त्यौहारों के दिन छुट्टी होने लगी है, परन्तु फिर भी छुट्टियों की व्यवस्था अभी बहुत ढीली है। दक्षिणी-भारत की मिलें साल में १०–१५ दिन की सवेतन छुट्टी देने लगी हैं। फ़ैक्टरी एक्ट १९४८ के मुताबिक २४० दिन काम करने पर २० दिन के पीछे १ दिन के हिसाब से वार्षिक सवेतन अवकाश का नियम भी बन गया है। इन सब बातों के बावजूद स्थिति बहुत सुधरी हुई नहीं है। इस समय कोई छुट्टी न ले तो २ साल से ज्यादा समय तक वह जमा नहीं हो सकती। इस समय को बढ़ाने की आवश्यकता है।

(च) ट्रेड-यूनियन-आन्दोलन

मज़दूर की समस्याओं पर विचार करते हुए मज़दूर की सबसे प्रिय संस्था 'ट्रेड-यूनियन' पर विचार करना भी ज़रूरी हो जाता है। 'ट्रेड-यूनियन' का विचार अपने यहाँ नया है और बाहर से आया है, इसलिए भारत में 'ट्रेड-यूनियन' पर विचार करने से पहले इंग्लैण्ड में यह विचार कैसे उत्पन्न हुआ इस पर थोड़ा-सा विचार कर लेना अप्रासंगिक न होगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(i) **इंग्लैंड में 'ट्रेड-यूनियन'**—युरोप में ट्रेड-यूनियन औद्योगिक-क्रान्ति का परिणाम थी। जब तक कोई हुनर घर में ही चलता था तब तक तो ट्रेड-यूनियन का कोई सवाल नहीं पैदा हुआ, परन्तु औद्योगिक-क्रांति के बाद हाथ की मशीनों की जगह बिजली की मशीनों से बड़े-बड़े कारख़ाने खुलने लगे। पहले एक हुनर के मज़दूरों को दूसरे हुनर वालों से मिलने का कोई मौका नहीं पड़ता था, अब कारख़ानों में सैंकड़ों-हज़ारों मज़दूर एक-दूसरे के सम्पर्क में आये। १८वीं शताब्दी में इंग्लैण्ड के उद्योग बढ़े, और इन उद्योगों के कारण मज़दूरों को आपस में मिलने का मौका मिला। जब लोग आपस में मिलते हैं, तो स्वाभाविक तौर पर अपनी समस्याओं पर विचार करते हैं। इस विचार का क्रियात्मक रूप ट्रेड-यूनियनों के रूप में प्रकट हुआ। उस समय इन्हें 'यूनियन' न कहकर नफ़रत से 'साँठ-गाँठ-संघ' (Combination) कहते थे। शुरू-शुरू में पार्लियामेंट ने मज़दूरों का इस प्रकार मिल कर बड़ी-बड़ी बातें बनाना व्यापार के लिए अहितकर समझा, और इन संगठनों को षड्यन्त्र का नाम दिया, इनको अवैध घोषित किया। इससे मज़दूरों में असन्तोष उत्पन्न हो गया, और ज्यों-ज्यों परिस्थिति खराब होती गई, त्यों-त्यों असन्तोष भी बढ़ता गया। वे खुले तौर पर यूनियन नहीं बना सकते थे, उन्होंने लुके-छिपे मिलना शुरू किया, जो लोग इन मीटिंगों में जाते थे उनके नाम भी गुप्त रखे जाते थे। इस बीच १८२४ में पार्लियामेंट के कुछ सदस्यों के प्रयत्न से एक कानून बना जिसके अनुसार इन संगठनों के अवैधपन को हटा दिया गया। इस नये कानून के अनुसार मज़दूर अपनी संगठित-शक्ति के आधार पर मिल-मालिकों से अपने अनुकूल शर्तें तय कर सकते थे। १८२४ के बाद से यूनियनों का काम लुक-छिप कर होने के स्थान में प्रत्यक्ष रूप में होने लगा। १८६७ में ट्रेड-यूनियनों पर विचार करने के लिए रॉयल कमीशन नियुक्त हुआ। उसकी सिफ़ारिशों के आधार पर १८७१ में **'ट्रेड-यूनियन एक्ट'** पास हुआ। इस समय से ट्रेड-यूनियन की बाकायदा कानूनी-सत्ता मानी जाने लगी—अगर ट्रेड-यूनियन अपने को रजिस्टर्ड करा ले तो वह कानूनी तौर पर अपना काम-काज चला सकेगी यह स्वीकृत हो गया। एक तरफ़ तो १८७१ के एक्ट के अनुसार यूनियनों की कानूनी-सत्ता स्वीकार की गई, दूसरी तरफ़ फौज़दारी-कानून के अनुसार पिकेटिंग को ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया। इससे तो ट्रेड-यूनियन का काम ही नहीं चल सकता था। यूनियन को मौक़ा आ पड़ने पर पिकेटिंग करना ही पड़ता है इसलिए इस विषय में आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। १८७५ में दूसरा कानून बनाना पड़ा जिसके अनुसार शान्तिमय पिकेटिंग को वैध घोषित कर दिया गया और मज़दूरों को अपने अधिकारों को पाने के लिए 'सामूहिक सौदा' करने का अधिकार दे दिया गया। इसके बाद इंग्लैण्ड में अनेक 'ट्रेड-यूनियनें' बनीं। इंग्लैण्ड की 'ट्रेड-यूनियनों' ने मज़दूरों के लिए कई काम किये। उनकी गृह-समस्या को हल किया, ज़रूरत पड़ने पर यूनियन मज़दूरों को कानूनी सहायता देती है, मज़दूरों के बच्चों को स्कालरशिप देती है, बीमारी, चोट लगने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

और मौत हो जाने पर नकद रुपए से भी सहायता करती है। इंग्लैण्ड में ट्रेड यूनियन का थोड़ा-सा हाल हमने इसलिए दिया जिससे अपने देश में ट्रेड-यूनियन की समस्या को तुलनात्मक दृष्टि से समझने में हमें सहायता मिले।

(ii) **भारत में 'ट्रेड-यूनियन'**—इंग्लैण्ड के दृष्टान्त में हमने अभी देखा कि ट्रेड-यूनियन वर्तमान 'औद्योगिक-विकास' का परिणाम है, यह मशीनों के युग की सन्तान है। 'श्रम' कोई ऐसी चीज़ तो नहीं जिसे सँभाल कर रखा जा सके। काम न मिला तो मज़दूर की श्रम-शक्ति बेकार रही। मज़दूर को या तो काम मिलना चाहिए, या वह भूखा मरेगा। इसलिए वह किसी शर्त पर भी, थोड़े वेतन और कई घंटे काम करके पेट भरने के लिए काम करेगा ही करेगा। इसी कारण पैसे वाले मिल-मालिक श्रमी का जितना हो सके नाजायज़ फ़ायदा उठाते हैं। इकला श्रमी अपने अधिकारों के लिए कुछ नहीं कर सकता। हाँ, जब श्रमी मिल जाते हैं, तब वे अपनी शर्तें रख सकते हैं, काम करने से इन्कार कर सकते हैं। कोई काम नहीं करेगा, तो मिल-मालिक को श्रमियों की बात माननी ही पड़ेगी। इसी विचार-धारा से सब जगह 'ट्रेड-यूनियनों' का सूत्रपात हुआ, और इसी विचार-धारा से भारत में भी 'ट्रेड-यूनियनें' बनीं। इस दृष्टि से 'ट्रेड-यूनियन' श्रमिकों के उस संगठन का नाम है जिसमें वे मिलकर अपने हितों की रक्षा करते हैं। वे इसके लिए रुपया इकट्ठा करते हैं, अपनी संस्था को रजिस्टर्ड कराते हैं और मज़दूरों के अधिकारों के लिए आन्दोलन करते हैं।

'ट्रेड-यूनियन'-आन्दोलन किसी देश में तभी चल सकता है अगर वहाँ औद्योगिक-विकास हो रहा हो, और साथ ही वहाँ मज़दूरों में अपनी हालत से असन्तोष भी हो। जहाँ औद्योगिक-विकास नहीं हुआ, मशीन का युग नहीं आया, वहाँ ट्रेड-यूनियन काहे को बनेगी। इसके साथ ही जहाँ मज़दूर अपनी स्थिति से असन्तुष्ट न हों, वहाँ भी यूनियन बनने का कोई कारण नहीं। भारत में बहुत देर तक तो कल-कारखाने ही नहीं बने, बने तो अशिक्षित होने के कारण मज़दूरों में असन्तोष नहीं उत्पन्न हुआ, वे जितना-कुछ मिलता था उससे सन्तुष्ट रहे। हम पहले देख आये हैं कि यहाँ का मज़दूर शहर में टिकना नहीं चाहता, वह हर समय गाँव में जाने की धुन में रहता है क्योंकि उसके बाल-बच्चे, सगे-सबंधी सब वहीं हैं। इसलिए भी उसका ध्यान 'ट्रेड-यूनियन' की तरफ़ उतना नहीं गया जितना स्थिर रूप से शहरों में रहने वाले पाश्चात्य-देशों के श्रमियों का गया। वह ग़रीब भी इतना है कि यूनियन का चन्दा तक नहीं दे सकता। अन्य देशों में हर-एक मज़दूर यूनियन का सदस्य होता है, सदस्यता का कार्ड हर समय अपनी जेब में रखता है, उसे बड़ी प्रसन्नता से सब को दिखाता है, यूनियन का चन्दा बिना माँगे मनीआर्डर से प्रति सप्ताह या प्रतिमास स्वयं भेजता रहता है, यहाँ मज़दूरी ही इतनी कम मिलती है कि मज़दूर लोग यूनियन का चन्दा देने से कतराते हैं, यूनियन के कार्यकर्त्ता दरवाज़े-दरवाज़े चन्दा इकट्ठा करने के लिए फिरते हैं। ऐसी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हालत में अगर यहाँ ट्रेड-यूनियन के आन्दोलन ने उतनी गहरी जड़ें नहीं पकड़ीं, तो कोई आश्चर्य नहीं। फिर भी इसका यह मतलब नहीं कि यह आन्दोलन भारत में बिल्कुल नगण्य है।

भारत में 'ट्रेड-यूनियन' का आन्दोलन प्रथम महायुद्ध के बाद १९१८ से प्रारंभ हुआ। इस युद्ध ने युरोप का नक्शा बदल दिया था। रूस में मज़दूरों की क्रांति से राज ही पलट गया था। जो सिपाही युरोप से लौटे उन्होंने वहाँ मज़दूरों को आराम से रहते देखा था। लड़ाई के दिनों में बाहर का माल न आ सकने के कारण यहाँ भी नए-नए कारख़ाने खुल गए थे, और मज़दूरों की संख्या बढ़ गई थी। नौकरी से छूटने पर युद्ध से लौटे हुए सिपाहियों की भी मज़दूरों की तरह इन कारख़ानों में भर्ती हुई। इन सब बातों से कारख़ानों में काम करने वालों में एक नवीन चेतना ने जन्म लिया और जैसे देहातों में किसान-आन्दोलन चला था वैसे अब मज़दूर-आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। इस बीच महात्मा गांधी का स्वराज्य आन्दोलन भी तेज़ी से प्रगति कर रहा था। महात्मा जी का अहमदाबाद-बम्बई में बहुत प्रभाव था। समय-समय पर वे भी बाज़ारों की, स्कूलों की, मज़दूरों की हड़ताल कराते रहते थे। इन संगठित हड़तालों से मज़दूरों में और अधिक चेतना उत्पन्न हुई। धीरे-धीरे मज़दूरों ने संगठन शुरू किया और 'यूनियन' बनने लगीं।

'ट्रेड-यूनियन' के तीन काम थे—पहला काम तो यह था कि मिल-मालिकों से लड़-झगड़ कर, हड़तालें करके, बॉयकाट करके, आपस में बातचीत चला कर और 'सामूहिक-सौदा' करके मज़दूरों की तनख्वाह बढ़वाना, उनके काम करने के घंटे कम करवाना, उन्हें छुट्टी आदि की सुविधाएँ दिलवाना आदि। दूसरा काम यह था कि चन्दा करके ज़रूरतमन्द मज़दूरों की मदद करना, मज़दूरों में सहयोग तथा भ्रातृ-भाव उत्पन्न करना ताकि मौक़ा पड़ने पर सब एक-साथ आवाज़ उठा सकें। तीसरा काम एक और था जो महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन के समय धीरे-धीरे स्पष्ट रूप धारण करता गया। यह तीसरा काम यह था कि मज़दूरों की इतनी संख्या थी कि ये किसी भी राजनीतिक आन्दोलन को आगे बढ़ने में धक्का दे सकते थे। १९१९ में **रौलट एक्ट** के विरोध में जो देश भर में हड़ताल हुई, उससे यह स्पष्ट हो गया कि मज़दूर आन्दोलन राजनीतिक-क्षेत्र में कम महत्वपूर्ण नहीं है।

हम पहले देख आये हैं कि 'राष्ट्र-संघ' (League of Nations) के समय 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' (I. L. O.) की स्थापना हुई थी। मित्र-राष्ट्र इसके सदस्य थे, और अंग्रेज़ों के आधीन होने के कारण भारत भी इसका सदस्य था। इस 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' के सालाना जलसों में हर सदस्य-देश की 'ट्रेड-यूनियन' से प्रतिनिधि भेजे जाते थे। १९२० में जब प्रतिनिधि भेजने की ज़रूरत हुई, तब 'ऑल-इंडिया-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' (A. I. T. U. C.) की स्थापना की गई।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अखिल भारतीय स्तर पर यह पहली ट्रेड-यूनियन थी। इसका श्रीगणेश इंडियन-नेशनल-कांग्रेस की तरफ़ से हुआ था। इसके प्रथम अधिवेशन के सभापति लाला लाजपत राय थे। इस अधिवेशन के बाद श्री चित्तरंजन दास, श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोस तथा श्री गिरी इसके अगले अधिवेशनों के प्रधान होते रहे। 'ट्रेड-यूनियन' का मुख्य उद्देश्य मज़दूरों की समस्याओं को हल करना है, परन्तु राजनीतिक दल उसका अपने मतलब से प्रयोग करना चाहते हैं। इस ध्येय से १९२६ तथा १९२८ में कम्यूनिस्टों ने 'ऑल-इंडिया-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' पर कब्ज़ा करने के प्रयत्न किये। कम्यूनिस्टों को इस प्रकार कब्ज़ा करते देख कर अंग्रेज़ सरकार चौकन्नी हो गई और उन्होंने मुख्य-मुख्य कम्यूनिस्टों की पकड़-धकड़ शुरू कर दी। 'मेरठ कान्स्पीरेसी' केस' के नाम से एक मुकदमा चलाया गया जो चार साल तक चलता रहा। १९३३ में इन सब को भिन्न-भिन्न समयों की जेल देकर सरकार ने ठंडी साँस ली।

इसके बाद 'ऑल-इंडिया-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' (A. I. T. U. C.) पर कम्यूनिस्टों का ही कब्ज़ा रहा। इस सारी स्थिति को देखकर इंडियन-नेशनल-कांग्रेस के नेता सरदार पटेल ने जून १९४७ में अखिल भारतीय स्तर पर मज़दूरों के एक दूसरे संगठन की नींव रखी जिसका नाम 'इंडियन-नेशनल-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस (I. N. T. U. C.) रखा। १९४६–४७ में 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' के लिए फिर प्रतिनिधि भेजने की समस्या उत्पन्न हुई, तो कम्यूनिस्टों ने दावा किया कि उनकी 'ऑल-इंडिया-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' (A. I. T. U. C.) को प्रतिनिधि भेजने का हक़ है, और कांग्रेस ने दावा किया कि उनकी 'इंडियन-नेशनल-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' (I.N.T.U.C.) को प्रतिनिधि भेजने का हक़ है। १९४८ में दोनों संस्थाओं के सदस्यों की गणना की गई, तो कम्यूनिस्टों की ट्रेड-यूनियन के ८,१५,०११ सदस्य पाये गए, कांग्रेस की ट्रेड-यूनियन के ९,७३,१७९ सदस्य, और इसलिए कांग्रेस ट्रेड-यूनियन को ही भारत-सरकार ने प्रतिनिधित्व दिया। दिसम्बर, १९४८ में समाजवादियों ने अपना अलग श्रमिक-संघ बनाया जिसका नाम 'हिन्द मज़दूर सभा' (H.M.S.) रखा, मई १९४९ में प्रो० के० टी० शाह ने एक और श्रम-संघ बनाया जिसका नाम 'संयुक्त श्रमिक संघ कांग्रेस' (U.T. U.C.) रखा। १९६० में कम्यूनिस्टों की 'ऑल-इंडिया-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' (A.I.T.U.C.) के ५,०४,६६२ सदस्य थे; कांग्रेस की 'इंडियन-नेशनल-ट्रेड-यूनियन-कांग्रेस' (I.N.T.U.C.) के १०,५३,३८६ सदस्य थे; समाजवादियों की 'हिन्द मज़दूर-सभा' (H.M.S) के २,८६,२०२ सदस्य थे और 'संयुक्त श्रमिक संघ कांग्रेस' के १,१०,०३४ सदस्य थे।

भारत में ट्रेड-यूनियन आन्दोलन को वैध रूप देने के लिए पहले-पहल १९२१ में एन० एम० जोशी ने उस समय की एसेम्बली में एक बिल पेश किया था, परन्तु वह स्वीकृत न हो सका। १९२६ में फिर एक ट्रेड-यूनियन बिल पेश

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हुआ, जो अन्त में एक्ट बन गया। इस प्रकार अपने देश में ट्रेड-यूनियन का असली काम १९२६ से शुरू हुआ। १९२८ तथा १९४२ में इस एक्ट में मामूली-से संशोधन होते रहे। १९४७ में **'ट्रेड-यूनियन एक्ट'** में जो संशोधन हुआ उसके अनुसार यह नियम बना दिया गया कि मिल-मालिकों को ऐसे यूनियन की हस्ती स्वीकार करनी होगी जो मज़दूरों की प्रतिनिधि हो। यह नियम बना दिया गया कि ७ या इससे ज़्यादा सदस्य रजिस्ट्रार के सामने यूनियन बनाने की दरख्वास्त दे सकते हैं। इनमें से कम-से-कम आधे व्यक्ति किसी उद्योग में काम करने वाले होने चाहिएँ। इनकी दरख्वास्त पर ट्रेड-यूनियन रजिस्टर्ड कर ली जायगी। रजिस्टर्ड-ट्रेड-यूनियन के सदस्य अपने अधिकारों के लिए कानून को बिना तोड़े आन्दोलन कर सकते हैं। इन पर अपने अधिकारों के लिए लड़ने के कारण अदालती कार्यवाही नहीं चल सकेगी। इनको अपनी यूनियन का हिसाब-किताब ठीक तौर से रखना होगा जिसकी रजिस्ट्रार की तरफ़ से जाँच-पड़ताल हो सकती है। हिसाब में गड़बड़ी पाये जाने पर यूनियन का रजिस्ट्रेशन भंग किया जा सकता है। १९४७ के एक्ट के अनुसार मज़दूरों तथा मालिकों के लिए कुछ बातें अनुचित घोषित की गई हैं। उदाहरणार्थ, अनियमित हड़ताल में भाग लेना यूनियन के लिए उचित नहीं है। इसी प्रकार मालिक के लिए मज़दूरों को यूनियन के सदस्य होने से रोकना अनुचित है, यूनियन के साथ समझौते की बातचीत करने से इन्कार कर देना अनुचित है। जो मालिक अनुचित कार्यवाही करता पाया जायगा, उस पर १,००० रुपए तक जुर्माना हो सकता है, जो यूनियन अनुचित कार्यवाही करती हुई पायी जायगी उसका रजिस्ट्रेशन रद्द किया जा सकता है। १९५० में इस कानून में फिर संशोधन करने का प्रयत्न किया गया, परन्तु वह स्वीकृत नहीं हुआ। सरकार यह चाहती है कि ट्रेड-यूनियन की स्वीकृति के बिना जो हड़तालें होती हैं, उन पर रोक-थाम लगाई जाय और उनके विषय में यूनियन की ज़िम्मेदारी निश्चित कर दी जाय। इस विषय में अभी तक अन्तिम निर्णय कुछ नहीं हो पाया।

जैसा हमने देखा, ट्रेड-यूनियन का मुख्य उद्देश्य तो मज़दूरों की हालत सुधारना है—हड़तालों तथा सामूहिक-सौदेबाज़ी से अपने लिए सुविधाजनक अवस्थाओं को मालिकों से मनवा कर और चन्दा आदि इकट्ठा कर के आपस में मेल-जोल और सहयोग बढ़ा कर, परन्तु इनका उपयोग राजनीतिक लोग अपने कामों के लिए लेने लगे हैं। अधिकतर इन यूनियनों के नेता अन्दर के नहीं कोई बाहर के व्यक्ति होते हैं, ऐसे व्यक्ति जो मज़दूरों की हालत को अपने अनुभव से नहीं जानते, देखा-सुनी जानते हैं, जिनका अपना धंधा कोई और ही होता है, जो कभी-कभी अपने राजनीतिक जीवन को बनाने के लिए मज़दूरों को अपना कार्य-क्षेत्र चुन लेते हैं। बाहर के लोगों के इस क्षेत्र में आने का यह भी कारण है कि मालिक लोग यूनियन में अधिक दिलचस्पी रखने वाले श्रमियों के साथ बदला उतारते हैं, उन्हें तंग करते हैं, और मौका पड़ने पर उन्हें छठी का दूध पिलाये बग़ैर नहीं मानते। मालिकों के लिए यह समझना ज़रूरी है कि जितना ही वे बाहर के व्यक्तियों को

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूर-समस्या में हाथ डालने का मौका देंगे उतना ही वे आर्थिक के साथ-साथ राजनीतिक-समस्याओं में उलझते जायेंगे। इसलिए श्रमियों के साथ उन्हें सहयोग से काम लेना चाहिए ताकि श्रमियों में से ही उनका नेतृत्व हो सके। श्रमी लोग श्रमियों की समस्या को अधिक अच्छा सुलझा सकते हैं—उनकी तो वह असली समस्या ही है, दिन-रात उन्हें उसी से उलझना है, नेता लोग तो श्रमियों के दर्द के लिए उतना नहीं छटपटाते जितना अपने लिए, अपने दल का टिकट लेने के लिए छटपटाते हैं।

(छ) औद्योगिक झगड़ों की समस्या

छोटे उद्योगों में 'श्रम' (Labour) तथा 'पूंजी' (Capital) एक ही के हाथ में होती है, जो थोड़ी-सी पूंजी लगाकर उद्योग चलाता है वही अपने हाथ से या अपने बाल-बच्चों के साथ काम करता है, इसलिए वहाँ कोई झगड़ा नहीं होता। बड़े उद्योगों में मजदूर श्रम करता है, पूंजीपति पूंजी लगाता है; मजदूर चाहता है उसको फ़ायदा मिले, पूंजीपति चाहता है, वही सब-कुछ हड़प जाय। इससे झगड़े खड़े हो जाते हैं। मज़दूर इकले तो कुछ कर नहीं सकते, संगठन बनाकर, यूनियनों द्वारा अपना मुतालबा पेश करते हैं, माना जाय तो ठीक, नहीं तो हड़ताल कर देते हैं। अगर मज़दूरों का संगठन मज़बूत है तब तो उनकी माँग पूरी हो जाती है, अगर पूंजीपतियों की भेद-नीति से संगठन टूट गया, तो लेने के देने पड़ जाते हैं। अपने देश में अभी मज़दूरों में उतना प्रबल संगठन नहीं बना, वे औद्योगिक-नगरों में स्थिर रूप में रहना भी नहीं चाहते, उनका दिल अपने गाँव में होता है, इसलिए अभी उनकी सामूहिक रूप से सौदा कर सकने की ताकत उतनी नहीं बढ़ी जितनी पश्चिमी देशों में बढ़ गई है। फिर भी हमारे देश के मज़दूर-संगठन बिल्कुल कमज़ोर भी नहीं हैं। कई बार उन्होंने लम्बी-लम्बी हड़तालें की हैं। राजनीतिक-हड़तालों में लोकमान्य तिलक को ६ साल की सज़ा दिये जाने पर १९०८ में मज़दूरों ने ६ दिन की लगातार हड़ताल रखी थी। १९१९ में रौलट एक्ट के विरुद्ध सारे देश में हड़ताल हुई जिसमें मज़दूरों ने विशेष भाग लिया। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४–१८) के बाद से तो यहाँ 'ट्रेड-यूनियनों' का संगठन भी बढ़ गया और हड़तालों की संख्या भी दिनों-दिन बढ़ने लगी। इसके अतिरिक्त मज़दूर आर्थिक कारणों से तो हड़ताल करते ही रहते हैं। १९२१ में आसाम के चाय-बाग़ान में वहाँ काम करने वाले सब मज़दूरों ने हड़ताल कर दी और वे सामूहिक तौर पर अपने-अपने घरों को लौट गए। जब ये अपने घरों को वापस जा रहे थे, तो गोरखा सिपाहियों ने इन निहत्थों पर आक्रमण कर दिया जिसके विरोध में आसाम-बंगाल रेलवे के मज़दूरों ने भी हड़ताल कर दी।

निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि इस देश में किस प्रकार मज़दूरों की तरफ़ से हड़तालें तथा पूंजीपतियों की तरफ़ से तालेबन्दियाँ हो रही हैं :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

साल*	हड़ताल तथा ताले-बन्दियों की संख्या	हड़तालियों की संख्या	काम के दिनों का नुक्सान
१९२१	३९६	६,००,३५१	६९,८४,४२६
१९३१	१६६	२,०३,००८	२४,०८,१२३
१९३९	४०६	४,०९,१८९	४९,९२,७९५
१९४३	७१६	५,२५,०८८	२३,४२,२८७
१९४६	१,६२९	१९,६१,९४८	१,२७,१७,७६२
१९४७	१,८११	१८,४०,७८४	१,६५,६२,६६६
१९५१	१,०७१	६,९१,३२१	३८,१८,९२८
१९५२	९६३	८,०९,२४२	३३,३६,९६१
१९५३	७७२	४,६६,६०७	३३,८२,६०८
१९५४	८४०	४,७७,०००	३३,७३,०००
१९५५	१,१६६	५,२८,०००	५६,९८,०००
१९५६	१,२०३	७,१५,०००	६९,९२,०००
१९५७	१,६३०	८,८९,००८	६४,२९,०००
१९५८	१,५२४	९,२८,५६६	७७,९७,५८५
१९५९	१,५३१	६,९३,६१६	५६,३३,१४८
१९६०	१,५५६	९,८२,८६८	६५,१४,९५५
१९६१ (सितम्बर तक)	१,३२६	४,८०,१३२	४१,९२,८४४

उक्त विवरण से स्पष्ट हो जायगा कि प्रथम विश्व-युद्ध के पीछे हड़तालों का सिलसिला शुरू हुआ और द्वितीय विश्व-युद्ध के पीछे फिर बढ़ा। इनमें सबसे अधिक झगड़े बम्बई में और वहाँ भी कपड़ों की मिलों में हुए। आसाम में १९५२ में १८ और १९५३ में ९ झगड़े हुए, तो बम्बई में इन सालों में क्रमशः २६९ और १७६ हुए। यही कारण है कि इस संबंध में कानून की शुरूआत भी पहले-पहल बम्बई में ही हुई।

इन झगड़ों का मुख्य कारण आर्थिक है। मज़दूर-वर्ग चाहता है कि उसका वेतन बढ़े, बोनस मिले, महँगाई-भत्ता मिले, रहने-सहने के तरीके में सुधार हो, काम करने के घंटे कम किये जाँय, नौकरी से यूँ ही बर्ख़ास्त न किया जाय, उनके साथियों के साथ न्याय हो। ये सब बातें झगड़ों की कारण हैं। १९२९ में 'रॉयल लेबर कमीशन' ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि १९२१ से १९२८ के बीच ९७६ झगड़ों में मुख्य माँग वेतन तथा बोनस से संबंध रखती थी। १९५० में ८१४ झगड़ों में २२३ झगड़े वेतन और बोनस के सम्बन्ध में थे, १९५१ में २९ प्रतिशत झगड़ों की जड़ में मज़दूरी और भत्ता—यही कारण थे।

---

* Indian Labour Year Book for 1961.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूरों की तरफ़ से हड़तालें तथा पूँजीपतियों की तरफ़ से मिलों पर ताले ठोक देना—इससे किसका फ़ायदा होता है? पूँजीपति तो पैसे वाले हैं इसलिए नुक्सान बर्दाश्त भी कर लेते हैं, बेचारे मज़दूर को तो रोज़ के खाने के लिए भी कमाना होता है। ऐसी हालत में इन 'औद्योगिक-झगड़ों' का कोई इलाज़ होना ज़रूरी है। इसका दो तरह से इलाज़ हो सकता है। एक तरीका तो यह है कि झगड़े पैदा ही न होने दिये जाँय। यह 'निरोधक-उपाय' (Preventive method) है। दूसरा तरीका है, झगड़े पैदा होने पर श्रमी तथा मालिक में सुलहनामा करा दिया जाय। यह 'उपचारात्मक-उपाय' (Curative) है। हम इन दोनों का संक्षेप से वर्णन करेंगे।

[झगड़ों को दूर करने के लिए निरोधक उपाय]

'निरोधात्मक-उपाय' क्या है? 'निरोधात्मक-उपायों' को चार भागों में बाँटा जा सकता है—(i) मज़बूत ट्रेड-यूनियन, (ii) 'कार्य-समिति' (Works Committee) का निर्माण, (iii) मज़दूरों की आर्थिक-दशा का सुधार तथा (iv) 'स्थायी-निर्देशों' (Standing Orders) की व्यवस्था।

(i) **'मज़बूत ट्रेड-यूनियन'**—मिल-मालिक हर-एक मज़दूर की समस्याओं को अलग-अलग तो नहीं समझ सकता, सुसंगठित ट्रेड-यूनियन के ज़रिये ही ये समस्याएँ उसके सामने लायी जा सकती हैं। जो मालिक इन यूनियनों को अपना शत्रु न समझ कर मित्र समझते हैं वे सदा इनसे सम्पर्क बनाये रखते हैं, और उनके यहाँ समस्याएँ भी ज़्यादा नहीं उठतीं। मज़दूरों को अपनी समस्याओं को आसानी से सुलझाने के लिए इन संगठनों को दृढ़ बनाना होगा।

(ii) **'कार्य-समिति'**—१९२९ में 'रॉयल लेबर कमीशन' ने राय दी थी कि औद्योगिक-केन्द्रों में झगड़े पैदा न हों, इस उद्देश्य से हर केन्द्र में 'कार्य-समिति' (Works Committee) का निर्माण होना चाहिए। इसमें मज़दूरों के प्रतिनिधि भी हों, और मिल-मालिकों के भी। ये लोग रोज़-रोज़ की समस्याओं को आपस में मिल-जुल कर तय कर लिया करें। समस्याएँ मज़दूरों की हैं, तो मालिकों की भी तो हैं। दोनों मिलकर बैठेंगे, तो एक-दूसरे को ज़्यादा समझ सकेंगे। लेबर-कमीशन की यह सिफ़ारिश १७ साल तक यों ही पड़ी रही। १९४७ में जब **'इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट'** बना तब उसमें इन कार्य-समितियों के निर्माण को कानूनी रूप दिया गया। यह तय किया गया कि जिस कारख़ाने में १०० से अधिक मज़दूर हों, उसमें 'कार्य-समितियों' का निर्माण किया जाय ताकि वे रोज़-रोज़ होने वाली चख-चख़ को दूर कर सकें। इन कार्य-समितियों में मज़दूरों के प्रतिनिधि ट्रेड-यूनियन की तरफ़ से चुने जायेंगे। अबतक तो यही झगड़ा चला आता था कि मालिक तो इन कार्य-समितियों को दूसरी ट्रेड-यूनियन समझते थे, और रोज़-रोज़ के काम में उसका दख़ल अनुचित समझते थे, इधर ट्रेड-यूनियन वाले इन 'कार्य-समितियों' को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझते थे इसलिए इनको सन्देह की नज़र से देखते थे। आवश्यकता इस बात की थी कि इनका कार्य-क्षेत्र

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

निश्चित कर दिया जाय, सो १९४७ के 'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट' में वह कर दिया गया। यह तय किया गया कि इन 'कार्य-समितियों' में मज़दूरों के प्रतिनिधि ट्रेड-यूनियन की तरफ़ से भेजे जायेंगे। उत्तर-प्रदेश ने इन 'कार्य-समितियों' के निर्माण में सबसे पहले कदम रखा। १९४७ में उत्तर-प्रदेश की सरकार ने एक आज्ञा जारी की जिसमें पहले शक्कर के कारख़ानों को और बाद में दूसरों को एक महीने के अन्दर-अन्दर 'कार्य-समितियों' को बनाने का हुक्म दिया। १९५४ की लेबर-रिपोर्ट के अनुसार देश में २,०९५ 'कार्य-समितियाँ' कार्य कर रही थीं।

(iii) **'मज़दूरों की आर्थिक-दशा का सुधार'**—मज़दूर जो आन्दोलन करते हैं उसका मुख्य कारण यह होता है कि वे अपनी आर्थिक-दशा को सुधारना चाहते हैं। वे बोनस चाहते हैं, वेतन बढ़वाना चाहते हैं, भत्ता ज़्यादा चाहते हैं, कम घंटे काम करना चाहते हैं, मकान-स्वास्थ्य-शिक्षा की सुविधा चाहते हैं। मालिक लोग ये सुविधाएँ नहीं देते इसलिए सारा झगड़ा है। परन्तु अगर गहराई से सोचा जाय, तो इन सुविधाओं को देने से मालिकों को भी तो फ़ायदा है। अगर हड़तालें होती रहें, मज़दूर हड़ताल न करें परन्तु काम में 'धीरे चलो' की नीति का अवलम्बन करने लगें, तो मालिकों को क्या फ़ायदा है? कम्यूनिस्टों का कहना तो यह है कि जब तक पूँजीवाद रहेगा तब तक मज़दूरों की हालत सुधर ही नहीं सकती, परन्तु अमरीका तथा इंग्लैण्ड के अनुभवों ने इस बात को ग़लत सिद्ध कर दिया है। वहाँ कम्यूनिज़्म नहीं है, परन्तु मज़दूर वर्ग अपनी स्थिति से संतुष्ट है, सन्तुष्ट ही नहीं, मौका पड़ने पर हुकूमत भी हाथ में ले लेता है। असल में पूँजीपतियों को समझ लेना चाहिए कि उनके सामने दो ही रास्ते हैं—या तो रूस की तरह अपनी सारी पूँजी से हाथ धोयें, या इंग्लैण्ड और अमरीका की तरह मज़दूरों के हित में अपनी आय का बहुत बड़ा हिस्सा ख़र्च करें। अब मज़दूरों के ख़ून से पलने के दिन नहीं रहे। अब तो कुछ ऐसी बातें होने वाली हैं जिनमें मज़दूरों की मज़दूरी ही नहीं बढ़ेगी, उन्हें कारख़ानों की आय का कुछ हिस्सा भी मिलने लगेगा।

(iv) **'स्थायी-निर्देश'**—मज़दूर तथा मालिक के झगड़ों को दूर करने का चौथा निरोधक-उपाय यह है कि सरकार मज़दूर की नौकरी की शर्तों को निश्चित कर दे। मज़दूर तथा मालिक के बीच छोटी-छोटी बातें इकट्ठी होकर बड़ा रूप धारण कर लेती हैं। मज़दूर को यह अधिकार तो होना ही चाहिए कि जिन शर्तों पर वह नौकरी कर रहा है, उनका उसे ज्ञान हो। मज़दूर तथा मालिक के बीच नौकरी की जो शर्तें हैं उन्हीं को 'स्थायी-निर्देश' (Standing Orders) कहते हैं। विलायत में मालिक तथा मज़दूर के बीच एक-दूसरे की रज़ामन्दी से इच्छा-पूर्वक जो शर्तें तय हो जाती हैं, वे लिख ली जाती हैं। इनकी कानून की-सी हैसियत होती है। इनके विरुद्ध कोई नहीं जा सकता। इस देश में बड़े-बड़े अंग्रेज़ी कारख़ानों में इसी प्रकार के 'स्थायी-निर्देश' रखने का रिवाज़

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अंग्रेज़-मालिकों ने डाल रखा था। कहीं-कहीं कारख़ानों के मालिकों के संघों ने इस प्रकार के 'स्थायी-निर्देश' जारी कर रखे थे। परन्तु अनेक उद्योगों में इस प्रकार के 'स्थायी-निर्देशों' का अभाव था, मज़दूर को पता भी नहीं था कि वह किन शर्तों पर नौकरी कर रहा है, उसे क्या मिलेगा, क्या नहीं मिलेगा। पहले-पहल बम्बई सरकार ने अनुभव किया कि इस प्रकार के 'स्थायी-निर्देश' का होना कारख़ानों के झगड़ों को कम करने के लिए ज़रूरी है। १९३८ में जब बम्बई में **'बम्बई इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट'** बना तब कानून बना दिया गया कि इस एक्ट के बनने के दो मास के अन्दर-अन्दर सब कारख़ाने 'स्थायी-निर्देशों' का मसौदा लेबर-कमिश्नर के सामने पेश करें। इन 'स्थायी-निर्देशों' में उन्हें यह दिखाना था कि मज़दूर कच्चा है, पक्का है, बदली का है, मज़दूर को क्या मज़दूरी दी जायगी, कितने घंटे काम लिया जायगा, नौकरी से बरख़ास्त किया जायगा तो किस तरह—आदि-आदि। अगर इन 'स्थायी-निर्देशों' के उचित-अनुचित होने के सम्बन्ध में कोई झगड़ा खड़ा होता था, तो लेबर-कमिश्नर उसकी सुनवाई करता था, उसके फ़ैसले के खिलाफ़ अपील 'इण्डस्ट्रियल-कोर्ट' में हो सकती थी, यह कोर्ट मामला सुन कर 'स्थायी-निर्देश' को रद्द भी कर सकता था, इसे बहाल भी रख सकता था। जो 'स्थायी-निर्देश' एक बार तय हो गया एक साल तक उसमें रद्दोबदल नहीं हो सकती थी। 'स्थायी-निर्देशों' की उपयोगिता को केन्द्रीय-सरकार ने भी अनुभव किया और १९४६ में **'इण्डस्ट्रियल एम्प्लायमेंट (स्टैंडिंग आर्डर्स) एक्ट'** पास किया जिसके अनुसार प्रत्येक प्रान्त के सौ से अधिक मज़दूरों के कारख़ानों में 'स्थायी-निर्देश' रखने की व्यवस्था हो गई जिससे झगड़ों में भी कमी की संभावना हुई।

[झगड़ों को दूर करने के उपचारात्मक उपाय]

झगड़ों को दूर करने के निरोधक-उपायों का हमने वर्णन किया। इनका उद्देश्य है, झगड़ों को पैदा ही न होने देना। परन्तु अगर झगड़े पैदा हो जाँय, तब क्या किया जाय? इसके लिए उन झगड़ों का उपचार करना होगा। यह उपचार का काम कानूनों के ज़रिये ही हो सकता है इसलिए सरकार ने झगड़ों को निपटाने के लिए कई कानून बनाये और बना रही है। वे कानून क्या हैं?

(i) **१८६० का औद्योगिक-विवाद का कानून**—औद्योगिक-झगड़ों को निबटाने के लिए सब से पहला कानून १८६० में बना। इसका नाम था—**'एम्प्लायर्स एण्ड वर्कमैन (डिस्प्यूट्स) एक्ट'**। इस कानून का मुख्य उद्देश्य यह था कि मज़दूरी के संबंध में झगड़ों को देर तक न खींचा जाय, जल्दी-से-जल्दी निपटा दिया जाय। दुर्भाग्यवश, इस कानून में नौकरी की शर्तें भंग करने पर मज़दूर पर फ़ौजदारी की दफ़ा लगाई जाने का विधान था। यह कानून मज़दूरों के हित में न होकर मालिकों के हित में बनाया गया था। 'रॉयल लेबर कमीशन' की सिफ़ारिश पर १९३२ में इसे रद्द कर दिया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) १९२९ का औद्योगिक-विवाद का कानून—१९२९ में केन्द्रीय-सरकार ने 'ट्रेड-डिस्प्यूट्स एक्ट' पास किया। औद्योगिक-झगड़े निपटाने का यह दूसरा कानून था। इस एक्ट के मुताबिक दो चीजें बनाई गईं—'कोर्ट ऑफ़ एन्क्वायरी' तथा 'बोर्ड ऑफ़ कनसिलियेशन'। कोई भी झगड़ा हो, वह पहले 'कोर्ट आफ़ एन्क्वायरी' के पास जाँच के लिए जाता था, फिर उस जाँच के प्रकाश में यह सुलह-सफ़ाई के लिए बोर्ड के पास जाता था। अगर सुलह-सफ़ाई करने वाले 'बोर्ड ऑफ़ कनसिलियेशन' के प्रयत्न करने पर भी झगड़ा नहीं निपटता था, तो बोर्ड अपनी रिपोर्ट, सिफ़ारिशों के साथ, सरकार के पास भेज देता था। इस एक्ट के अनुसार रेलवे, पोस्ट आफ़िस, बिजली, पानी, सफ़ाई आदि जन-सामान्य के लिए आवश्यक कार्यों में हड़ताल करने के लिए पहले से १४ दिन का नोटिस देने की शर्त लगा दी गई। अगर नोटिस दिये बिना हड़ताल होगी, तो उसके लिए दण्ड का विधान किया गया। यह भी कहा गया कि उसी हड़ताल को वैध माना जायगा, जो औद्योगिक-झगड़ों को निपटाने के लिए की जायगी, अन्य प्रकार की हड़तालों को सरकार ग़ैर-कानूनी मानेगी। सहानुभूति के लिए की गई हड़तालों को भी इस कानून द्वारा अवैध कहा गया। इस एक्ट के अनुसार मज़दूरों के हितों को देखने के लिए सरकारी लेबर-आफ़िसरों की नियुक्ति का भी विधान किया गया।

१९३४ में इस एक्ट में संशोधन हुआ। १९२९ का एक्ट सिर्फ़ पाँच वर्ष के लिए लागू किया गया था, अब १९३४ के संशोधन के अनुसार इसे स्थिर रूप दे दिया गया। १९३८ में इसमें फिर संशोधन हुआ, परन्तु अब भी इस कानून में भारी दोष बने रहे। पहला दोष तो यह था कि 'कोर्ट ऑफ़ एन्क्वायरी' तथा 'बोर्ड ऑफ़ कनसिलियेशन' स्थिर संस्थाएँ नहीं थीं। ज़रूरत पड़ने पर इनका निर्माण किया जाता था, ज़रूरत ख़त्म हो जाने पर ये अपने-आप भंग हो जाती थीं। दूसरा दोष यह था कि इनके फ़ैसले को मानना ज़रूरी नहीं था, इनके फ़ैसले को कोई पक्ष माने या न माने—यह उसकी इच्छा पर निर्भर था। इन सब झगड़ों को देखकर १९३८ में बम्बई में 'बम्बई-इण्डस्ट्रियल-डिस्प्यूट्स एक्ट' बना। इस कानून के अनुसार ट्रेड-यूनियनों को चार हिस्सों में बाँट दिया गया—'स्वीकृत" (Recognised); 'रजिस्टर्ड' (Registered); 'योग्य' (Qualified); 'प्रतिनिधि' (Representative)। 'स्वीकृत' वे थीं जिन्हें मिल-मालिक स्वीकार कर चुके थे; रजिस्टर्ड वे थीं जो रजिस्टर्ड हो चुकी थीं; 'योग्य' वे थीं जिनके संगठन में उस धंधे को करने वाले ५ प्रतिशत मज़दूर सदस्य थे; 'प्रतिनिधि' वे थीं जिनकी सदस्य-संख्या उस धंधे में काम करने वालों में से २५ प्रतिशत थी। ये सब ट्रेड-यूनियन बम्बई में इस कानून के अनुसार वैध मान ली गईं। दूसरी बात इस कानून में यह थी कि प्रान्त के लेबर-कमिश्नर को अपने पदाधिकार से कनसिलियेशन-कमिश्नर (सुलहकार) मान लिया गया। इसके आधीन भिन्न-भिन्न स्थानों तथा भिन्न-भिन्न व्यवसायों के लिए सहायक-सुलहकार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नियत किये गए। इनका काम औद्योगिक-झगड़ों में सुलह-सफ़ाई कराना था। इस कानून के अनुसार झगड़ा हो जाने पर निम्न तरीका बरता जाता था। पहले तो झगड़े की बातें लिखित रूप में रजिस्ट्रार के सामने पेश की जाती थीं। रजिस्ट्रार वही जो यूनियनों को रजिस्टर करता है। रजिस्ट्रार इस चिट्ठे को 'कनसिलियेशन-कमिश्नर' के सामने पेश करता था। यह हम कह ही चुके हैं कि 'लेबर-कमिश्नर' ही 'कनसिलियेशन-आफ़िसर' था। अब यह 'कनसिलियेशन-आफ़िसर' सुलह कराने के लिए कुछ व्यक्ति नियत कर देता था, जो मालिक तथा मज़दूरों के बीच में पड़कर सुलह-कार्य कराते थे। अगर मामला तय हो गया तो ठीक, न हुआ तो 'कनसिलियेशन-आफ़िसर' अपनी रिपोर्ट सरकार के पास भेज देता था। यह हम पहले ही कह आये हैं कि १९२९–१९३४–१९३८ के **'ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट'** के अनुसार दो चीज़ें बनी हुई थीं—'कोर्ट ऑफ़ एन्क्वायरी' तथा 'बोर्ड ऑफ़ कनसिलियेशन'। सरकार 'कनसिलियेशन-कमिश्नर' की रिपोर्ट इस 'कनसिलियेशन-बोर्ड' के पास भेज देती थी। यह बोर्ड फिर सुलह-सफ़ाई के प्रयत्न करता था। अगर फ़ैसला हो गया तो ठीक, नहीं तो अगर दोनों पक्ष माने तो मामला 'बोर्ड ऑफ़ आर्बिट्रेशन' को भेजा जाता था। यह 'बोर्ड ऑफ़ आर्बिट्रेशन' क्या था? यह 'इण्डस्ट्रियल-कोर्ट' का ही दूसरा नाम था। 'इण्डस्ट्रियल-कोर्ट' अथवा 'बोर्ड-ऑफ़-आर्बिट्रेशन' का फ़ैसला दोनों पक्षों को मानना होता था। इस प्रकार **'इण्डस्ट्रियल-डिस्प्यूट्स एक्ट'** को बम्बई सरकार ने अपने यहाँ नया रूप दिया। इस कानून से बम्बई में झगड़ों में काफ़ी कमी आयी और बम्बई के अनुभव के आधार पर केन्द्रीय-सरकार ने १९४७ में एक नया कानून बनाया।

(iii) **१९४७ का औद्योगिक-विवाद का कानून**—१९४७ के इस कानून का नाम **'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट'** था। इस एक्ट ने १९२९ का **'ट्रेड-डिस्प्यूट्स एक्ट'** खत्म कर दिया और उसका स्थान ले लिया। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भी १९४७ के **'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट'** के अनुसार कानून बनाये गए। **'ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट'** की जगह यह १९४७ का **'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट'** क्या था? इसमें दो बातों पर ज़ोर दिया गया। एक बात तो यह थी कि १०० से अधिक मज़दूर जहाँ हों, वहाँ मज़दूरों तथा मालिकों के रोज़-रोज़ के झगड़े न खड़े हों इसके लिए उन दोनों के प्रतिनिधियों के सहयोग से 'कार्य-समितियों' (Works Committees) के निर्माण की व्यवस्था इस कानून में की गई। दूसरी बात यह थी कि बम्बई के कानून के अनुसार सुलह-सफ़ाई के लिए बने तरीके को कानून का रूप दे दिया गया। वह तरीका निम्न था। इस कानून के अनुसार चार व्यवस्थाएँ की गईं—(१) भिन्न-भिन्न उद्योगों के लिए तथा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों के लिए अनेक 'कनसिलियेशन-आफ़िसर', (२) 'बोर्ड-ऑफ़-कनसिलियेशन', (३) 'बोर्ड-ऑफ़-एनक्वायरी' तथा (४) 'इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल'। इस कानून के अनुसार पहले हर-एक झगड़ा 'कनसिलियेशन-आफ़िसर' के पास जाता है। वहाँ फ़ैसला हो गया, तो दोनों पक्ष सुलहनामे पर हस्ताक्षर करते हैं और झगड़ा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खत्म हो जाता है। अगर वहाँ खत्म न हुआ, तो मामला सरकार के पास भेज दिया जाता है। सरकार इस मामले के लिए 'बोर्ड ऑफ़ कनसिलियेशन' बना देती है। हर मामले के लिए 'बोर्ड ऑफ़ कनसिलियेशन' अलग-अलग बनाया जाता है। इसमें एक स्वतंत्र अध्यक्ष होता है और दोनों पक्षों की तरफ़ से एक-एक या दो-दो प्रतिनिधि होते हैं। इस बोर्ड को दो मास के भीतर मामला तय कर देना होता है। अगर तय हो गया तो ठीक, अगर न हुआ तो यह बोर्ड अपनी रिपोर्ट सरकार के पास भेज देता है। ऐसी हालत में सरकार सब बातों की जांच करने के लिए मामले को 'कोर्ट ऑफ़-एन्क्वायरी' के पास भेजती है, और आदेश देती है कि छः महीने के भीतर-भीतर सारी जाँच होकर मामला सरकार के पास पहुँच जाय। फिर सारा केस 'इण्डस्ट्रियल ट्रिब्यूनल' के पास भेज दिया जाता है। इस ट्रिब्यूनल का फ़ैसला दोनों पक्षों के लिए मान्य होता है, और झगड़े करने वाले दोनों पक्ष एक वर्ष के लिए उस फ़ैसले से बँध जाते हैं।

१९४७ के **'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट'** के अनुसार लोकोपयोगी कार्यों में हड़ताल करने के लिए ६ सप्ताह का नोटिस देना आवश्यक कर दिया गया। जब फ़ैसले की बातचीत चल रही हो तब हड़ताल, तालेबन्दी ग़ैर-कानूनी करार दिये गए। फ़ैसले के बाद भी अगर कोई पक्ष फ़ैसले से असन्तुष्ट होकर किसी प्रकार की कार्यवाही करना चाहता है, तो उसे भी किसी हालत में सात दिन और किसी हालत में दो महीने का नोटिस देना होगा। अगर कोई लोकोपयोगी कार्यों में बिना नियमित सूचना दिये हड़ताल करेगा या हड़ताल एवं तालेबदी के उपरोक्त नियमों को तोड़गा, तो उसके लिए भी इस कानून में दण्ड की व्यवस्था कर दी गई। जब मामला चल रहा हो, तब कोई मालिक नौकरी की शर्तों को बदल नहीं सकेगा, और मज़दूरों को किसी प्रकार का दंड नहीं दे सकेगा। हाँ, अगर उनका कसूर चल रहे मामले से किसी प्रकार संबंधित नहीं होगा, तो दंड दिया जा सकेगा। इस प्रकार हमने देखा कि १९४७ के कानून में झगड़ों को निबटाने का सारा सिल-सिला बना दिया गया। एक बात की इसमें कमी थी। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में 'इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल' कायम तो कर दिये गए, परन्तु जैसे हाई-कोर्टों के ऊपर सुप्रीम-कोर्ट है, इस प्रकार का कोई अखिल-भारतीय-ट्रिब्यूनल नहीं कायम किया गया। इसका नतीजा यह हुआ कि सब जगह के फ़ैसले भिन्न-भिन्न प्रकार के होने लगे, उनमें कहीं-कहीं विरोध भी दिखाई देने लगा। इस कमी को पूरा करने के लिए १९५० में **'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (अपैलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट'** पास किया गया जिसके सामने भिन्न-भिन्न ट्रिब्यूनलों के फ़ैसलों के खिलाफ़ अपील की जा सकती थी। १९४७ के एक्ट में १९५३ में एक संशोधन किया गया जिसके अनुसार जो मज़दूर १ वर्ष तक लगातार नौकरी पर रहे हैं, उन्हें नौकरी से बर्ख़ास्त करना हो तो, या तो उसे एक महीने का नोटिस देना होगा या उसे एक महीने का वेतन देना होगा। इस प्रकार का नोटिस या वेतन दिये बिना उसे नौकरी से नहीं हटाया जा सकेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४७ के एक्ट के आधार पर उत्तर-प्रदेश, मध्य-भारत में भी झगड़ों को निबटाने के लिए कानून बने जिनमें उक्त आधार पर झगड़े ख़त्म किये जाते हैं। तरीका यह है कि दिल्ली में तो एक 'चीफ़-लेबर-कमीशन' रहता है, उसके आधीन भिन्न-भिन्न रीजनों में 'रीजनल-लेबर-कमिश्नर' रहते हैं। पंजाब तथा उत्तर-प्रदेश के लिए कानपुर में, बम्बई तथा सी० पी० के लिए नागपुर में, इसी तरह अन्य प्रान्तों के लिए अन्य क्षेत्रों में 'रीजनल-लेबर-कमिश्नर' रहते हैं। इन 'रीजनल-लेबर-कमिश्नरों' के साथ-साथ उस-उस रीजन में 'रीजनल कनसिलियेशन-आफ़िसर' भी रहते हैं। पहले झगड़ा 'रीजनल कनसिलियेशन-आफ़िसर' के पास आता है। वहाँ फ़ैसला न हो, तो 'रीजनल-लेबर-कमिश्नर' के पास जाता है। वहाँ भी फैसला न हो, तो 'चीफ़-लेबर-कमिश्नर' के पास जाता है। वहाँ फ़ैसला न हो, तो 'इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल' के पास जाता है। वहाँ फ़ैसला न हो, तो 'अपैलेट-ट्रिब्यूनल' के पास जाता है।

यह सब तो चलता ही है, परन्तु अगर सरकार, मज़दूर और मिल-मालिक तीनों मिलकर फ़ैसला कर लें कि देश को संकट में से निकालना है, कम उत्पादन होगा तो देश पछड़ जायगा, तब तो ये तीनों किसी झगड़े को जड़ पकड़ने ही न दें। इस आशय से दिसम्बर १९३७ में एक **'इण्डस्ट्रियल ट्रूस रिज़ोल्यूशन'** पास किया गया जिसमें सरकार, मज़दूरों और मिल-मालिकों के प्रतिनिधि थे। इस प्रस्ताव द्वारा सबने मिलकर तय किया कि अगले तीन साल तक हड़तालें, तालाबन्दी आदि कुछ न हो, देश की खातिर यह सब बन्द रखा जाय, तीन साल के बाद देखा जायगा। इस प्रस्ताव को सामने रखकर भारत-सरकार ने ६ अप्रैल १९४८ के प्रस्ताव द्वारा अपनी औद्योगिक-नीति की घोषणा की जिसमें निजी-क्षेत्र की विस्तृत-सीमा का प्रतिपादन किया गया। निजी-क्षेत्र में काम तभी चल सकता था अगर औद्योगिक-क्षेत्र में लड़ाई-झगड़े न हों, शान्ति का राज्य हो। परन्तु शान्ति प्रस्तावों से थोड़े ही होती है। अगर मज़दूर जब काम पर आये, तब मालिक को आँखें तरेरता हुआ पाये, घर जब लौटे तब अपने को गन्दगी से चारों तरफ़ से घिरा हुआ पाये, बढ़ते हुए दामों में अपने पैसे की कीमत को दिनोंदिन गिरता हुआ देखे, तो वह इस बात की पर्वाह कब करेगा कि उसने किसी 'ट्रूस' के प्रस्ताव पर हस्ताक्षर किये हैं, या नहीं। परिणाम यह हुआ कि 'ट्रूस' के प्रस्ताव को सामने रखकर सरकार ने अपनी 'औद्योगिक-नीति' की १९४८ के प्रस्ताव द्वारा घोषणा तो कर दी, परन्तु मज़दूर-जगत् में शान्ति का राज्य फिर भी न रहा।

(iv) १९५६ का औद्योगिक-विवाद का कानून—अगस्त १९५६ में एक नया कानून बना जिसका नाम है—**'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (अमेंडमेंट एण्ड मिस्सलेनियस प्रोवियन्स) एक्ट'**। इस एक्ट द्वारा १९४७ के एक्ट में कुछ सुधार किये गए हैं और १९५० के **'इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (अपैलेट ट्रिब्यूनल) एक्ट'** को रद्द कर दिया गया है। अपैलेट-ट्रिब्यूनल को इसलिए रद्द कर दिया गया है कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इसमें अपीलें महीनों पड़ी रहती थीं। अब तीन तरह के कोर्ट बनाये जायेंगे—लेबर कोर्ट, इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल तथा नेशनल इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल। इन तीनों में सिर्फ़ एक आदमी के सुपुर्द मामला होगा। बहुत आदमियों से भी मामला लम्बा हो जाता है। 'नेशनल-इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल' फ़िलहाल एक ही बनेगा जिसके सामने बड़े-बड़े मामले लाये जायेंगे। बाकी, पहले मामला 'लेबर-कोर्ट' में जायेगा, वहाँ एक ही आदमी मामला सुनने वाला होगा, इसलिए जल्दी फ़ैसला हो जायगा, वहाँ फ़ैसला न हुआ तो 'इण्डस्ट्रियल-ट्रिब्यूनल' में मामला चला जायगा। वहाँ भी सुनने वाला एक ही होगा, इसलिए फ़ैसले में वहाँ भी देर नहीं लगेगी। इसके अतिरिक्त दूसरा सुधार इस कानून में यह किया गया है कि ५०० से नीचे वेतन लेने वाले सब श्रमियों को 'श्रमी' की श्रेणी में रख दिया गया है। अबतक उच्च श्रेणी के श्रमी श्रमी-वर्ग में नहीं आते थे, वे ट्रेड-यूनियन के सदस्य भी नहीं हो सकते थे। अब ५०० रुपए तक लेने वाले सब 'श्रमी' होने का लाभ उठा सकेंगे। 'श्रमी' लोग हड़ताल कर सकते हैं, तरह-तरह की माँगें कर सकते हैं, ये सब माँगें अभी तक छोटी तनख्वाहों वाले ही कर सकते थे। तीसरा सुधार एक और हुआ है। १९४७ के एक्ट की धारा ३३ के अनुसार ट्रिब्यूनल के सामने कार्यवाही चल रही हो, तो नौकरी की शर्तों में कोई तब्दीली नहीं हो सकती थी, झगड़े से जिन श्रमियों का संबंध हो उनके खिलाफ़ किसी तरह की कार्यवाही भी नहीं की जा सकती थी। अगर कुछ कार्यवाही करनी होती, तो अधिकारियों से लिखित स्वीकृति लेनी पडती थी। इस प्रकार के मिल-मालिकों के अनेक प्रार्थना-पत्र हर समय अधिकारियों के सामने पड़े रहते थे जिनमें यह शिकायत होती थी कि अमुक-अमुक श्रमी जिसका ट्रिब्यूनल के सामने झगड़ा चल रहा है काम बिगाड़ रहा है, उसके विरुद्ध कार्यवाही करने की आज्ञा दी जाय। अब १९५६ के कानून में यह सुधार किया गया है कि अगर मालिक यह देखे कि झगड़े से सम्बन्ध न रखती हुई बातों में भी श्रमी गड़बड़ कर रहा है, तो कारखाने के जो 'स्थायी-निर्देश' (Standing Orders) हैं उनके मुताबिक कार्यवाही कर सके। हाँ, अगर इस कार्यवाही में श्रमी को नौकरी से अलग करना पड़े, तो उसे एक महीने का वेतन दिया जाय, और उसी समय, जिस अधिकारी के आगे मामला चल रहा है उसके सामने इस कार्यवाही की स्वीकृति का प्रार्थना-पत्र दिया जाय। १९५६ के कानून के अनुसार एक और बात भी की गयी है। १९४६ में **'इण्डस्ट्रियल एम्प्लायमेंट (स्टैण्डिंग आर्डर्स) एक्ट'** पास हुआ था जिसमें यह व्यवस्था की गई थी कि १०० से अधिक मज़दूरों के कारख़ानों में 'स्थायी-निर्देश' रखने की व्यवस्था की जाय, ऐसे निर्देश जिनको मिल-मालिक ने एक बार मान लिया और जिसे अब वह भंग नहीं करेगा। परन्तु इन 'स्थायी-निर्देशों' का निर्माण प्रायः मालिक लोग ही करते थे। अब इस कानून में इस बात की गुँजाइश रखी गई है कि इन 'स्थायी-निर्देशों' को भी देखा जाय, वे न्याय-संगत हैं या नहीं, ऐसा तो नहीं कि वे सिर्फ़ मालिक की बात कहते हैं, मज़दूर की बात ही उनमें नहीं।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

झगड़ों का निपटारा पाँच तरह से होता है—(क) लेन-देन की बात (Negotiation); (ख) सामूहिक-सौदेबाजी (Collective bargaining); (ग) समझौता (Conciliation); (घ) झगड़े के कारणों की जाँच (Enquiry) तथा मध्यस्थ द्वारा निपटारा (Arbitration or Adjudication)। औद्योगिक-विवादों के संबंध में अब तक जितने कानून बने हैं उनमें इन पाँचों उपायों को ध्यान में रखा जाता रहा है।

(ज) औद्योगिक गृह-समस्या

(i) **गन्दी बस्तियाँ (Slums)***—अपने देश में आने-जाने की सुविधा कम है, मज़दूर फ़ैक्टरी से दूर रहे तो उसका बहुत-सा समय आने-जाने में नष्ट हो जाता है, इसलिए वह फ़ैक्टरी के पास ही रहना चाहता है। वहाँ झोंपड़े डाल कर या टीन-टान के टुकड़े खड़े कर वह जैसे-तैसे मेंह-धूप में गुज़र करता है। कल-कारखानों के बढ़ने के साथ-साथ उसमें काम करने के लिए गाँवों से आने वाले मज़दूरों की आबादी भी बढ़ती जाती है। वे लोग रहना भी जान-पहचानवालों के साथ चाहते हैं। नतीजा यह होता है कि कल-कारखानों के गिर्द मज़दूरों की गन्दी बस्तियाँ बनने लगती हैं।

कल-कारखाने बढ़ने से गन्दी-बस्तियाँ बढ़ती हैं—यह इन बस्तियों के बढ़ने का एक कारण है। गन्दी-बस्तियों के बढ़ने का दूसरा कारण यह है कि जिन शहरों में कल-कारखाने होते हैं उनमें मज़दूरी पेशा लोगों की आबादी भी बहुत अधिक बढ़ जाती है। उदाहरणार्थ, १९४१ से १९५१ तक दस सालों में ७५ बड़े-बड़े शहरों की आबादी ४३.८ प्रतिशत बढ़ गई। नई दिल्ली में १९७.७, मद्रास में ८३.९, बम्बई में ६३.१, कलकत्ता में २०.९ प्रतिशत आबादी बढ़ी। उत्तर-प्रदेश के प्रमुख नगरों में आबादी इस अर्से में ३३.७ प्रतिशत बढ़ी। १९५१ से १९६१ के बीच २० हज़ार या इससे अधिक आबादी के शहरों में जन-संख्या ४० प्रतिशत बढ़ी परन्तु १९५१ में जहाँ मकानों की कमी २५ लाख थी वह १९६१ में ५० लाख तक पहुँच गई।† इस जन-संख्या में अधिक तादाद मज़दूरों की होती है जो गन्दी-बस्तियाँ बसाते हैं।

गन्दी-बस्तियों का तीसरा कारण यह है कि जिस तेज़ी से शहरों की आबादी बढ़ती है उस तेज़ी से मकान नहीं बनते। परिणाम यह होता है कि कई जगह मज़दूर-पेशा लोग रात को सड़कों पर चारपाई डाल कर सोते हैं, जहाँ ज़रा-सी भी जगह मिली वहीं डेरा डाल देते हैं और गन्दी-बस्तियाँ उठ खड़ी होती हैं। इन बस्तियों में आदमियों को इतनी भी जगह नहीं मिलती जितनी हम लोग गाय-भैंस के लिये रखते हैं।

---

* **What are the reasons for slum conditions in industrial towns?** **(1959)**

† **THIRD FIVE YEAR PLAN—p. 680.**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ii) **औद्योगिक गृह-समस्या** (Problem of industrial housing)*—गन्दी-बस्तियों की समस्या मुख्य तौर पर औद्योगिक गृह-समस्या है। उद्योगों के बढ़ने के कारण ही तो शहरों की आबादी घनी होती जा रही है, घनी होने पर मकानों की कमी के कारण गन्दी-बस्तियाँ बन जाती हैं, गन्दी-बस्तियों के बनने से इन स्थानों की अनेक समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। वे क्या हैं?

(*a*) **श्रमिकों का स्वास्थ्य नष्ट होता है**—इन बस्तियों में रहने वाले कूड़े-कर्कट में पड़े रहते हैं, उनका स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है, बीमारियों के वे शिकार हो जाते हैं।

(*b*) **श्रमिकों की कुशलता नष्ट हो जाती है**—अच्छा स्वास्थ्य न रहने से श्रमिक की कार्य-कुशलता अपने-आप नष्ट हो जाती है। स्वच्छ मकान में न रहने से, चारों तरफ शोर-गुल बने रहने से न व्यक्ति ठीक-से सो सकता है, न ठीक-से आराम कर सकता है। जो व्यक्ति हर समय थका-थका रहेगा उसकी कार्य-कुशलता कैसे बनी रह सकेगी।

(*c*) **श्रमिकों की नैतिकता नष्ट हो जाती है**—घिच-पिच में रहने से गोपनीयता नहीं रहती और बच्चे माता-पिता के गोपनीय व्यवहार को भी देखते हैं और बुरी आदतों के शिकार हो जाते हैं। इसी प्रकार सारी बस्ती एक प्रकार से उघड़ी रहती है, किसी का व्यवहार गोपनीय नहीं रहता। इस गन्दे वातावरण में जुआ, चोरी, व्यभिचार, शराब सब अपना अड्डा आ जमाते हैं।

(*d*) **श्रमिकों को आर्थिक हानि होती है**—कार्य-कुशलता और नैतिकता नष्ट हो जाने से श्रमिक की उत्पादन-शक्ति कम हो जाती है, वह उतना काम नहीं कर सकता जितना उसे करना चाहिए। परिणाम यह होता है कि उसकी आय में कमी आ जाती है।

(*e*) **मालिकों को भी आर्थिक हानि होती है**—गन्दी-बस्तियों में रहने के कारण जब श्रमिक रोगी रहने लगता है, थका-माँदा काम पर आता है, तब जहाँ उसकी उत्पादन-शक्ति कम हो जाने से उसे आर्थिक हानि होती है, वहाँ मालिक का काम कम होने लगता है, इसलिए मालिक को भी आर्थिक हानि होने लगती है।

(iii) **औद्योगिक-नगरों में अत्यधिक भीड़-भाड़ की समस्या** (Problem of overcrowding in industrial towns)†—बड़े-बड़े शहरों में कल-कारखाने खुल जाने से गाँवों के लोग आजीविका के लिए नगरों की तरफ़ चल देते हैं। परिणाम यह होता है कि इन नगरों में गन्दी-बस्तियाँ उठ खड़ी होती हैं और

---

* **Write short notes on the problem of industrial housing. (1961)**

† **Discuss the extent of overcrowding in industrial towns. (1951)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औद्योगिक गृह-समस्या अपना विकराल रूप धारण कर लेती है। औद्योगिक नगरों में आबादी जिस तेज़ी से बढ़ रही है, गृह-निर्माण उस तेज़ी से नहीं बढ़ रहा। इसके अतिरिक्त श्रमियों के पास जो मकान हैं, उनमें जगह की भारी कमी पायी गई है। एक सर्वेक्षण के अनुसार नगरों में ४४ प्रतिशत मकान सिर्फ़ एक कमरे वाले, २८ प्रतिशत सिर्फ़ दो कमरे वाले पाये गये हैं। इतने थोड़े स्थान में भीड़-भाड़ का होना स्वाभाविक है। कुछ प्रमुख नगरों की भीड़ की दशा निम्न है :

(*a*) **बम्बई**—बम्बई में गन्दी-बस्तियों को 'चॉल' कहा जाता है। यहाँ १०′ × १२′ के कमरे में ७–८ व्यक्ति पड़े रहते हैं जिसका सब मिलकर थोड़ा-थोड़ा किराया देते हैं। आस-पास कूड़े-कर्कट का ढेर लगा होता है, हवा-रोशनी का अभाव रहता है।

(*b*) **कलकत्ता**—कलकत्ते में गन्दी-बस्तियों को 'बस्ती' कहते हैं। ये बस्तियाँ बिना तरतीब बनी अनेक झोंपड़ियों का झुण्ड होती हैं। इन बस्तियों में पानी का निकास नहीं होता। वहीं बच्चे टट्टी-पेशाब करते हैं, वहीं बर्तनों का पानी इकट्ठा पड़ा-पड़ा सड़ा करता है। इनमें मिलों के मज़दूरों की भीड़ जमा रहती है।

(*c*) **मद्रास**—मद्रास में गन्दी-बस्तियों को 'चेट्टी' कहते हैं। ये अत्यन्त घनी बस्तियाँ हैं जिनमें पशुओं की तरह मज़दूरों की भीड़ जमा रहती है। इनमें न हवा, न रोशनी, न पानी का प्रबन्ध होता है जिससे इनमें रहने वाले मज़दूरों का स्वास्थ्य दिनोंदिन नष्ट होता जाता है।

(*d*) **कानपुर**—कानपुर में गन्दी-बस्तियों को 'अहाता' कहते हैं। कानपुर श्रम-जाँच-समिति की रिपोर्ट के अनुसार ६५ प्रतिशत श्रमिक-परिवार एक कमरे वाले मकान में रहते हैं जिनकी लम्बाई-चौड़ाई ८ × १० फीट होती है। इन मकानों में न रोशनी है, न हवा है, न सड़कों में नालियाँ हैं, न आस-पास पानी की कोई व्यवस्था है। इस समिति की रिपोर्ट के अनुसार रात के समय इन क्षेत्रों में किसी नये व्यक्ति के लिए जाना खतरनाक है।

(iv) **औद्योगिक गृह-समस्या के हल करने के प्रयत्न** (Measures to relieve the problem of industrial housing)*—औद्योगिक गृह-समस्या को हल करने के प्रयत्न सरकार, म्यूनिसिपल बोर्डों, इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट तथा मालिकों द्वारा हो रहे हैं। इन सब पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

(*a*) **सरकार द्वारा प्रयत्न**—सितम्बर १९५२ में भारत-सरकार ने राज्य-सरकारों, मालिकों तथा श्रमिकों के प्रतिनिधियों से परामर्श करके 'सहायता प्राप्त

---

* **What measures have been taken by (*a*) Government, (*b*) Municipal Boards and Improvement Trusts, and (*c*) Employees in providing better housing for workers? (1951, 1952, 1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

औद्योगिक आवास योजना' (Subsidized Industrial Housing Scheme) बनाई जिसके अनुसार केन्द्रीय सरकार तीन प्रकार की संस्थाओं को मकान बनाने के लिए सहायता दे रही है—राज्य-सरकार, सहकारी-समितियाँ तथा मिल-मालिक। राज्य-सरकार को संपूर्ण लागत दी जायगी जिसका ५० प्रतिशत सहायता के रूप में होगा, ५० प्रतिशत ऋण के रूप में होगा। यह ऋण राज्य-सरकारों को २५ वर्ष में चुकाना होगा। इस सहायता से राज्य-सरकार श्रमियों के लिए मकान बनायेगी। श्रमिकों की रजिस्टर्ड सहकारी-समितियों को २५ प्रतिशत सहायता के रूप में, ५० प्रतिशत ऋण के रूप में दिया जायगा, बाकी उन्हें अपने पास से व्यय करना होगा। सहकारी-समितियों को दिया गया ऋण २५ वर्ष में चुकाना होगा। मिल मालिकों को २५ प्रतिशत सहायता के रूप में और ३७.५ प्रतिशत ऋण के रूप में दिया जायगा जो उन्हें १५ वर्ष में चुकाना होगा।

प्रथम-योजना-काल में औद्योगिक-आवासों के लिए २५ करोड़ रुपया रखा गया था परन्तु ऋण तथा सहायता के रूप में १३.३८ करोड़ व्यय हुआ। इस काल में ४३,८३४ मकानों का निर्माण हुआ।

द्वितीय-योजना-काल में औद्योगिक गृह-निर्माण के लिए ५२.७६ करोड़ रुपया रखा गया और १९६२ तक १ लाख २५ हज़ार मकानों का निर्माण हो गया।

तृतीय-योजना-काल में औद्योगिक गृह-निर्माण के लिए २९.८ करोड़, डाक श्रमिकों के गृह-निर्माण के लिए २ करोड़, गन्दी बस्तियों को हटा कर उनके स्थान में अच्छे मकान बनाने के लिए २८.६ करोड़ रखा गया है। इस रुपये से औद्योगिक गृह-निर्माण द्वारा ७३ हज़ार गन्दी बस्तियों को हटा कर उनके स्थान में १० हज़ार मकान बनाने की योजना है।

(*b*) **म्यूनिसिपल बोर्डों आदि द्वारा प्रयत्न**—म्यूनिसिपल बोर्डों तथा इम्प्रूवमेंट ट्रस्टों द्वारा भी श्रमिकों के लिए मकान बनाये जा रहे हैं। उदाहरणार्थ, लखनऊ बोर्ड ने ऐशबाग़ में ५६० मकान बनाये हैं, कानपुर में ट्रस्ट के द्वारा ४,५०० मकान बनाये गये हैं।

(*c*) **मिल-मालिकों द्वारा प्रयत्न**—कानपुर में ब्रिटिश इंडिया कौरपोरेशन ने दो कमरों वाले १,६०० मकान बनाये हैं, कानपुर की एलगिन-मिल ने १५६ मकानों की दो बस्तियाँ बनाई हैं। मद्रास में मदुरा मिल्स ने श्रमिकों के लिए ६०० उत्तम मकान बनाये हैं। अहमदाबाद की सूती श्रमिक समिति ने ३६ सहकारी समितियों का निर्माण किया है जिनके द्वारा श्रमिकों के लिए ५०० मकान बनाये गये हैं।

(झ) श्रम-कल्याण की समस्या*

कई लोग 'श्रम-कल्याण' (Labour Welfare) तथा 'सामाजिक-कल्याण' (Social Welfare) में भेद करते हैं। उनका कहना है कि जब मिल-

---

* **Write short notes on Labour Welfare.** **(1964)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मालिक श्रमियों के कल्याण की योजना बनाता है, तब उसे 'श्रम-कल्याण' कहते हैं, जब दूसरी कोई संस्था ऐसी योजना बनाती है, तब उसे 'सामाजिक-कल्याण' कहते हैं। 'रीगे-लेबर-इन्वेस्टीगेशन-कमेटी' का कहना है कि 'श्रम-कल्याण' में वे सब योजनाएँ आ जाती हैं जो सरकार, मिल-मालिक या अन्य कोई संस्था मज़दूरों की भलाई के लिए बनाती है। साधारण तौर पर सरकार, मिल-मालिक या अन्य किसी संस्था के लिए बाधित तौर पर इन योजनाओं को करने की कोई ज़िम्मेदारी नहीं होती। वे इन योजनाओं को करें या न करें—यह उनकी इच्छा पर निर्भर है। फिर भी मानवीयता के नाते ऐसी योजनाएँ बनाई जाती हैं जिन पर सरकार, मिल-मालिक या अन्य कोई संस्था व्यय करती है। अस्पताल खोले जाते हैं, शिक्षा का प्रबन्ध किया जाता है, बच्चों की देख-भाल का इन्तज़ाम होता है, खाने-पीने की सुविधा दी जाती है, मकान बनाये जाते हैं, और भी बहुत-कुछ किया जाता है। इसके विपरीत कई लोगों का कहना है कि 'श्रम-कल्याण' की योजनाएँ किसी की मर्ज़ी पर छोड़ने से काम नहीं चलेगा। इस क्षेत्र में सरकार की तरफ़ से हस्तक्षेप होने की आवश्यकता है, 'श्रम-कल्याण' के लिए कानून बनना ज़रूरी है। कुछ अंश तक सरकार ने इस क्षेत्र में दखल देना शुरू कर भी दिया है। फ़ैक्टरी, माइनिंग, प्लांटेशन, रेलवे आदि से संबंध रखने वाले सब कानूनों में श्रम-कल्याण को आजकल सरकार ध्यान में रखती है। नियम बनाती है कि इतने मज़दूरों पर अस्पताल रखना होगा, कैन्टीन खोलनी होगी, बच्चों की देख-रेख के लिए शिशु-गृह बनाने होंगे—यह सब श्रम-कल्याण में सरकार का हस्त-क्षेप ही तो है।

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में श्रम-कल्याण का बहुत-कुछ कार्य हुआ है। १९३९ में बम्बई में कुछ आदर्श-श्रम-कल्याण-केन्द्र खोले गए थे जिनके लिए सरकार ने १ लाख २० हज़ार रुपया स्वीकृत किया। १९४४–४५ में २ लाख २० हज़ार स्वीकृत किया गया; १९४९–५० में इस मद पर १० लाख ९८ हज़ार रुपया व्यय किया गया। वहाँ श्रम-कल्याण की योजना का रूप यह था कि डिप्युटी लेबर-कमिश्नर के आधीन ५३ केन्द्र खोले गए जिन्हें अ-ब-स-द के नाम से अलग-अलग बाँट दिया गया। 'अ' केन्द्र में एक बड़ा शामियाना होता था जिसमें नाटक करने के मंच का भी प्रबन्ध था। केन्द्र के साथ एक क्रीड़ा-क्षेत्र था जिसमें सब लोग मज़े में खेलते थे। व्यायामशाला, स्नान-गृह, स्नान के लिए स्त्री तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग फव्वारे, बच्चों के लिए नर्सरी-स्कूल—इस सब का 'अ' केन्द्र में प्रबन्ध था। 'ब' केन्द्र इसी का छोटे पैमाने पर संगठन था। 'स' केन्द्र किराये के मकान में रखा गया था और उसमें उतनी सुविधाएँ नहीं हो सकती थीं जितनी 'अ' और 'ब' केन्द्र में थीं। 'द' केन्द्र में केवल दूर मैदान में खेलों का प्रबन्ध था। १९३७ में उत्तर-प्रदेश में श्रम-कल्याण योजनाओं का लेबर-कमिश्नर के आधीन आयोजन किया गया। इनको 'अ'-'ब'-'स'—इन तीन श्रेणियों में बाँटा गया। 'अ' केन्द्र में एक ऐलोपैथिक दवाखाना, वाचनालय, पुस्तकालय, स्त्रियों के लिए किसी कला के सीखने का प्रबन्ध, खेल-कूद का बन्दोबस्त, गाना, रेडियो,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

तबला, ढोलक—सब की व्यवस्था थी। ज़च्चा-बच्चा के लिए पूरा प्रबन्ध और बच्चों की पूरी व्यवस्था—यह-सब 'अ' केन्द्र में था। 'ब' केन्द्र में यह सब-कुछ तो था, परन्तु अस्पताल में एलोपैथी की जगह होम्योपैथी की दवा मिलती थी। 'स' केन्द्र में इससे कुछ कम प्रबन्ध था। इसी प्रकार बंगाल, बिहार, मध्य-प्रदेश तथा सौराष्ट्र आदि प्रान्तों में श्रम-कल्याण की योजनाएँ चलायी गईं। क्योंकि रुपया सीमित था इसलिए ये योजनाएँ सीमित रूप में ही चलाई जा सकती थीं। हर जगह तो ये कल्याण की योजनाएँ नहीं चल सकीं, परन्तु जितना बन पड़ा इन्हें चलाया गया।

सरकार ने श्रम-कल्याण की बहुत-सी बातें तो कानूनों में वैसे ही डाल दी हैं। **'फ़ैक्टरीज़-एक्ट'** में स्वास्थ्य-रक्षा तथा सुरक्षा-संबंधी सभी बातें रख दी गई हैं। वहाँ स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है कि सफ़ाई, रोशनी, हवा, पानी का पूरा-पूरा प्रवन्ध होना चाहिए, गन्दगी नहीं रहनी चाहिए, धूल-धुआँ नहीं दीखना चाहिए, सर्दियों में कमरे गरम तथा गर्मियों में ठंडे रखने का प्रबन्ध होना चाहिए, २५० से अधिक श्रमी हों तो पीने के ठंडे पानी की व्यवस्था होनी चाहिए, इस एक्ट के वाद जो फ़ैक्टरियाँ बनें उनमें प्रति व्यक्ति ५०० घन फ़ुट तथा पहले वनी फ़ैक्टरियों में ३५० घन फ़ुट जगह अवश्य होनी चाहिए। नहाने-धोने की सुविधा, फ़र्स्ट एड, कैन्टीन, विश्राम-गृह, शिशु-गृह, श्रमियों के बैठने की जगह—सब का प्रबन्ध होना चाहिए। कपड़े सुखाने की जगह अलग-से हो। ५०० से ज़्यादा श्रमी जहाँ हों, वहाँ 'लेवर-वेलफ़ेयर-आफ़िसर' नियुक्त किये जांय। इनकी नौकरी की शर्तें सरकार तय करेगी, तनख्वाह कारख़ाने वाले देंगे। खानों के सम्बन्ध में जो कानून बनाये गए हैं उनमें भी स्वास्थ्य, कल्याण तथा सुरक्षा की बातें डाल दी गई हैं। ज़मीन के ऊपर तथा नीचे काम करने वाले मज़दूरों के लिए इन कानूनों में पीने के पानी की व्यवस्था, जगह-जगह शौचालय तथा मूत्रालय, १५० मज़दूरों के पीछे फ़र्स्ट-एड बक्स तथा निश्चित दवाएँ, ५०० मज़दूरों के पीछे एम्बूलेंस गाड़ी, स्ट्रेचर आदि की व्यवस्था की गई है। अगर किसी खान में ख़तरा दीखता हो, तो जब तक ख़तरा हट न जाय तब तक इन्स्पेक्टर को अधिकार दिया गया है कि काम रुकवा दे। कैन्टीन, शिशु-गृह आदि को भी इन कानूनों में स्थान दिया गया है। फ़ैक्टरी और खान की तरह चाय-बग़ीचों के लिए जो कानून बने हैं, उनमें, यातायात के कानूनों में, जहाज़ों पर काम करने वाले मज़दूरों के लिए बने कानूनों में—गर्ज़ यह कि श्रमियों की समस्याओं को हल करने के लिए जितने भी कानून बने हैं और बन रहे हैं, उन सब में इस बात का ध्यान रखा जाता है कि इन कानूनों की पृष्ठभूमि स्वास्थ्य और कल्याण को लिये हुए हो।

श्रम-कल्याण के लिए जो-कुछ भी करना होगा उसमें रुपया तो ख़र्च होगा ही। सरकार ने इस रुपये का भी प्रबन्ध सोच रखा है। सरकार ने इसके लिए सरकारी कारख़ानों में **'लेबर वेलफ़ेयर फंड'** खोले और निजी कारख़ानों में **'वेल-फ़ेयर ट्रस्ट फंड'** खोलने की योजना बनाई। १९४८–४९ में सरकार द्वारा चलाये

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाने वाले ८० कारखानों में और १९५०–५१ में २२१ सरकारी कारखानों में यह फंड खोला गया। इस फंड में ७ लाख रुपया जमा हो गया जिससे १ लाख २० हज़ार श्रमियों को लाभ पहुँचा। इस फंड से वाचनालय, पुस्तकालय चलाये जाते हैं, घर में तथा घर से बाहर की खेलों का प्रबन्ध होता है, इसी प्रकार श्रमियों के लाभ की अन्य बातें की जाती हैं। इस फंड का रुपया जमा करने का तरीका यह है कि पहले साल तो सरकारी कारखानों में जितने श्रमी काम करते हैं, उनके हिसाब से प्रति व्यक्ति एक रुपया सरकार देती है। दूसरे और तीसरे साल सरकार प्रति-व्यक्ति आठ आने, तथा श्रमी लोग जितना रुपया दें उतना रुपया सरकार की तरफ़ से और दिया जाता है। सरकार यह अतिरिक्त रुपया आठ आना प्रति व्यक्ति से अधिक नहीं देती। चौथे साल जितना श्रमी लोग देते हैं उतना सरकार दे देती है, जो एक रुपया प्रति व्यक्ति से अधिक नहीं होना चाहिए। इस रुपए का इन्तज़ाम करने के लिए एक 'फंड-कमेटी' बना दी जाती है और वही कल्याण-योजनाओं पर रुपया खर्च करती है। ८ अगस्त १९५६ को उत्तर-प्रदेश की विधान-सभा में **यू० पी० लेबर वेलफ़ेयर फंड** का बिल रखा गया। जैसे सरकारी कारखानों से **लेबर वेलफ़ेयर फंड** जमा होता है, वैसे निजी कारखानों से **वेलफ़ेयर ट्रस्ट फंड** जमा होता है। १९५२ में भारत-सरकार की तरफ़ से प्रान्तीय-सरकारों को पत्र लिखे गए और उन्हें कहा गया कि इस प्रकार का फंड निजी कारखानों में खोलें। कारखानों के मालिकों ने इधर विशेष ध्यान नहीं दिया। १९५४ में फिर सरकार ने मालिकों का ध्यान इधर खींचा और उनसे अपने-आप, इच्छापूर्वक इस प्रकार के **'वेलफ़ेयर ट्रस्ट फंड'** खोलने का अनुरोध किया। सारी योजना यह है कि पहले साल कारखानों के मालिक प्रति व्यक्ति एक रुपया इस फंड में दें, और मज़दूरों से देने के लिए कोई शर्त न रखें। दूसरे और तीसरे साल मालिक आठ आना प्रति व्यक्ति दें, और श्रमी वर्ग जितना इस मद में दें उतना कारखानों के मालिक और जमा कर दें वशर्ते कि यह अतिरिक्त राशि आठ आना प्रति व्यक्ति से ज्यादा न हो। चौथे साल जितना श्रमी दें उतना मिल-मालिक दें, परन्तु यह राशि एक रुपया प्रति व्यक्ति से ज्यादा न हो।

१९४७ में **कोल-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर फंड** बना। १९५३–५४ में ५३.४१ लाख रुपया कोयले की खानों की भिन्न-भिन्न योजनाओं पर इस फंड में से व्यय हुआ जिसमें ७.६३ लाख गृह-व्यवस्था तथा ४५.७८ लाख अन्य कल्याण-योजनाओं पर व्यय किया गया जिसमें अस्पताल आदि योजनाएँ भी सम्मिलित थीं। इस फंड द्वारा २ केन्द्रीय अस्पताल, ८ क्षेत्रीय अस्पताल जिनमें मातृ-गृह तथा शिशु-गृह सम्मिलित हैं, २ चिकित्सालय, २ टी० बी० के क्लिनिक चल रहे हैं। मलेरिया दूर करने तथा बी० सी० जी० के टीके लगाने का भी उपक्रम हो रहा है। युवकों तथा स्त्रियों को शिक्षा देने के केन्द्र भी खोले जा रहे हैं, बच्चों के लिए खेलने के उद्यान भी बन रहे हैं। १९६३ तक इस फंड की सहायता से ३,६९८ मकान बन चुके थे, और १०३ बन रहे थे। इस फंड की आमदनी १९६३ में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२,७५,००,००० रु० थी और इसमें से समाज-कल्याण के कार्य पर २,३४,२७,००० रु० व्यय किये जाने का अन्दाज़ था। कोयले की खानों की तरह माइका की खानों में भी **माइका-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर फंड** खोला गया। इस फंड में से विहार, आन्ध्र, तथा राजस्थान में हज़ारों श्रमियों को श्रम-कल्याण की योजनाओं से लाभ पहुँचा। कहीं अस्पताल खोले गए, कहीं मलेरिया के नाश का यत्न किया गया, कहीं शिक्षा की योजनाओं को चलाया गया। १९६२–६३ में माइका पैदा करने वाले प्रान्तों को इस फंड में से विहार को १७.२ लाख, आन्ध्र प्रदेश को ४.५ लाख और राजस्थान को ८.८ लाख समाज-कल्याण के कार्यों के लिये दिया गया। कहने का मतलब यह है कि **वेलफ़ेयर-ट्रस्ट-फंड** तथा **लेबर-वेलफ़ेयर-फंड** से श्रम-कल्याण की योजनाओं को बहुत प्रगति मिली।

अब प्रश्न यह रह जाता है कि श्रमियों के कल्याण की मोटी-मोटी योजनाएँ क्या हैं? ये योजनाएँ हैं—(i) कैन्टीन, (ii) श्रमी-शिशु-गृह (क्रेचेज़), (iii) मनोरंजन के साधन, (iv) चिकित्सा, (v) नहाने-धोने की सुविधाएँ, तथा (vi) शिक्षा की सुविधाएँ। इन छहों पर हम कुछ संक्षेप से विचार करेंगे :—

(i) **कैन्टीन**—इनके विषय में यह समझा जाता है कि किसी ठेकेदार को ठेका दे दिया तो कैन्टीन बन गई। ये ठेकेदार तो मुनाफ़े के लिए कैन्टीन चलाते हैं, और रद्दी-से-रद्दी माल रखते हैं। असल में, श्रमियों के लिए कैन्टीन का अर्थ है ऐसा भोजनालय जिसमें थोड़े-से-थोड़े खर्च में अच्छे-से-अच्छा पौष्टिक-भोजन दिया जाय। इसका उपाय तो यह है कि कैन्टीन के संचालक का वेतन मिल-मालिक दे, इसके अतिरिक्त कैन्टीन को मिल की तरफ़ से अन्य प्रकार की भी रुपए-पैसे की मदद दी जाय। ऐसा न होने से कैन्टीनों में रद्दी भोजन मिलता है और श्रमी लोग वहाँ का भोजन लेने के स्थान में घरों से डिब्बों में भोजन लाना पसन्द करते हैं। भोजन की पौष्टिकता बढ़ा कर श्रमियों को कैन्टीनों में खाना खाने की आदत डालनी चाहिए। १९४८ के **फ़ैक्टरीज़-एक्ट** में कैन्टीनों के लिए नियम भी बनाये गए हैं जिनके अनुसार २५० श्रमियों वाले कारख़ानों को कैन्टीन बनानी पड़ती है। उसकी सजावट कैसी हो, जगह कितनी हो, मेज़-कुर्सी कितनी हों, दाम क्या लिया जाय, प्रबन्ध करने वाली समिति को किस प्रकार चुना जाय—ये सब बातें इस एक्ट में कैन्टीनों के प्रकरण में स्पष्ट की गई हैं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कारख़ानों, खानों, बाग़ान, यातायात-विभाग तथा अन्य स्थानों में कैन्टीन भिन्न-भिन्न संख्या में खुल गए हैं।

(ii) **श्रमी-शिशु-गृह (क्रेचेज़)**—इनका भी श्रम-कल्याण में महत्वपूर्ण स्थान है। इनके अभाव में माताएँ बच्चों को अपने साथ रखती हैं, जो उनको काम नहीं करने देते, और अलग रखती हैं तो उन्हें सोये रहने के लिए अफ़ीम खिला देती हैं। उनके पड़े रहने का स्थान भी अस्वच्छ होता है। नीचे ज़मीन पर उन्हें डाले रखती हैं। इस स्थिति को बदलने के लिए **फ़ैक्टरीज़-एक्ट** में श्रमी-शिशु-गृहों के निर्माण की व्यवस्था है। ५० से ज़्यादा स्त्रियाँ जहाँ काम करती हों, वहाँ

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

६ साल से नीचे के बच्चों के लिए ऐसे गृहों का निर्माण होना आवश्यक है। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में कारख़ानों, खानों, बागान, यातायात-विभाग तथा अन्य स्थानों में श्रमी-शिशु-गृह भिन्न-भिन्न संख्या में खुल गए हैं।

(iii) **मनोरंजन के साधन**—इनका श्रमियों के लिए होना आवश्यक है। इनके बिना वे शराब, जूआ, व्यभिचार में पड़ जाते हैं। उनका काम धूल-धुआँ-शोर में जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा बिता देना होता है। इसमें से निकल कर अगर उन्हें मनोरंजन के साधन न मिलें, तो वे उखड़े-उखड़े फिरते हैं। इस उखड़ेपन का इलाज न हो, तो वे स्वयं शहर की बुराइयों का शिकार हो जाते हैं? श्रमियों के लिए टैनिस, बिलियर्ड जैसे खेलों का प्रबन्ध होना चाहिए, हाकी, फ़ुटबाल का भी प्रबन्ध होना चाहिए। मनोरंजन के इन साधनों को जुटाने में खर्च तो ज्यादा नहीं पड़ता, परन्तु इनसे लाभ ज्यादा होता है। श्रमियों की थकान मिट जाती है, उनकी कार्यशीलता तथा कार्यक्षमता बढ़ जाती है और वे स्वस्थ रहने लगते हैं।

(iv) **चिकित्सा**—इसकी श्रमियों तथा मालिकों दोनों के हित में इसलिए आवश्यकता है, क्योंकि कारख़ानों में अनुपस्थिति का मुख्य कारण श्रमियों की बीमारी है। क्योंकि श्रमी को पौष्टिक-भोजन नहीं मिलता इसलिए एक बार बीमार पड़ने पर उसकी बीमारी लम्बी चलती है, अगर वह ठीक होकर काम पर आने भी लगता है तो कमज़ोरी की वजह से पहले से आधा काम कर पाता है। मज़दूर भी देश की अन्य जनसंख्या का अंग है, इसलिए जैसे हर मनुष्य के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी सरकार की है, वैसे मज़दूर के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी भी केवल मिल-मालिक की ही नहीं, सरकार की भी है। जैसा हम पहले भोर-समिति की सिफ़ारिशों का वर्णन करते हुए लिख आये हैं, देश में स्वास्थ्य-सेवाओं का ताँता बिछ जाना चाहिए और देश में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं रहना चाहिए जिसे 'निरोधात्मक' तथा 'उपचारात्मक' चिकित्सा का लाभ न पहुँचे। सरकार इधर ध्यान दे रही है, परन्तु जब तक स्वास्थ्य की ये लम्बी-चौड़ी योजनाएँ क्रिया में परिणत नहीं हो जातीं, तब तक मालिकों का भी कर्त्तव्य है कि वे श्रमियों के स्वास्थ्य की तरफ़ ध्यान दें। इस समय फ़र्स्ट-एड का बक्स रखना **फ़ैक्टरीज़ एक्ट** के अनुसार आवश्यक है, परन्तु उसका कभी उपयोग नहीं होता, उसका उपयोग जानने वाला भी फ़ैक्टरियों में कोई नहीं मिलता। अब १९५१ से **'एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्यूरेंस एक्ट'** पास हुआ है जिससे श्रमियों के स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी मालिकों पर न रहेगी सरकार पर हो जायगी। इस एक्ट का आगे 'सुरक्षा' के अध्याय में विस्तार से वर्णन किया जायगा।

(v) **नहाने धोने की सुविधाएँ**—इनके सम्बन्ध में **फ़ैक्टरीज़ एक्ट** में यह लिख दिया गया है कि अगर श्रमियों को मिल आदि में किसी ऐसे पदार्थ से सम्पर्क करना पड़े जो स्वास्थ्य के लिए घातक है तो उन्हें कपड़े धोने के लिए पर्याप्त जल मिलना चाहिए, उनके स्नान के लिए नलों आदि की व्यवस्था होनी चाहिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'रॉयल लेवर कमीशन' ने तो अपनी सिफ़ारिशों में यहाँ तक लिखा था कि क्योंकि अधिकांश मज़दूर ऐसे स्थानों में रहते हैं जहाँ नल की सुविधाएँ नहीं हैं इसलिए कारख़ानों में सब के स्नान का प्रबन्ध होना चाहिए, फव्वारे से स्नान का प्रबन्ध होना चाहिए जिससे उनकी तबीयत बहाल हो।

(vi) शिक्षा—इसकी दृष्टि से मज़दूरों की तरफ़ ध्यान देना आवश्यक है। इनकी अधिकांश संख्या एकदम खेती से उद्योग में प्रवेश करती है। उद्योग में जो कौशल अपेक्षित है वह इनमें होता नहीं, इसलिए जहाँ तक हो सके शिक्षा द्वारा इनका मानसिक-विकास कर देना आवश्यक है। शिक्षा से जहाँ इनमें कौशल उत्पन्न होगा वहाँ वे अपने पेशे की समस्याओं को भी समझने लगेंगे। इस समय श्रम-कल्याण के अनेक कार्य हो रहे हैं, परन्तु श्रमियों के अशिक्षित होने के कारण इन कार्यों का संगठन नहीं हो पा रहा। जितना ये लोग शिक्षित होंगे उतना इन संगठनों को सफल बना सकेंगे। श्रमियों की अपनी शिक्षा के अतिरिक्त उनके बच्चों की शिक्षा भी उतनी ही ज़रूरी है। वे लोग जब काम पर चले जाते हैं, तब उनके बच्चे मारे-मारे धक्के खाते फिरते हैं, और शहरों में रहकर बुरी आदतें सीख जाते हैं। इनके स्कूल खुल जाने से ये बच्चे देश के लिए किसी काम के बन सकते हैं, नहीं तो यही बच्चे बड़े होकर देश की अनेक उलझनों में एक और उलझन उत्पन्न कर देते हैं।

(ञ) मज़दूरी की समस्या

मज़दूरी दो तरह की होती है—'नकद' और 'असली'। 'नकद' मज़दूरी तो वह है जो दिहाड़ी के तौर पर साप्ताहिक या मासिक रूप में नकद दी जाती है। परन्तु इसके अतिरिक्त भी तो मज़दूर को बहुत-कुछ मिलता है—बोनस, श्रम-कल्याण के रूप में शिक्षा, स्वास्थ्य, खेल, कैन्टीन आदि की सुविधाएँ। इनका नकद मूल्य जोड़ा जाय, तो मज़दूर को नकद से काफ़ी ज़्यादा मिल जाता है, जो 'असली' है, परन्तु मज़दूरी तय करते हुए इन चीज़ों को साथ नहीं जोड़ा जाता।

[मज़दूरी के सिद्धान्त]

(i) **जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त**—मज़दूरी तय किस नियम पर होती है—इस विषय में अनेक सिद्धान्त हैं। एक सिद्धान्त यह है कि मज़दूरी इस बात पर निश्चित होती है कि मज़दूर का कम-से-कम कितने में गुज़ारा चल जायगा। इसे 'जीवन-निर्वाह का सिद्धान्त' (Theory of subsistence) कहते हैं। अगर आम मज़दूरों का ४५ रुपया प्रतिमास से गुज़ारा चल जाता है, तो मज़दूरी अपने-आप ४५ रुपये पर आकर टिक जायगी। मज़दूरी की रेट अगर ४५ से कम कर दी जायगी, तो काम करने के लिए कम मज़दूर मिलेंगे। कम मज़दूर होंगे, तो मज़दूरी अपने-आप ज़्यादा देनी पड़ेगी और फिर ४५ रुपया रेट आ जायगा। अगर मज़दूरी ४५ से ज़्यादा दी जायेगी, तो ज़्यादा मज़दूर काम करने

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के लिए आने लगेंगे, ज्यादा आयेंगे तो मज़दूरी अपने-आप गिर जायगी और फिर रेट ४५ रुपये पर आ टिकेगा। इस सिद्धान्त के विषय में यही कहा जा सकता है कि ग़रीब मुल्कों में तो यह नियम काम करता है, दूसरे देशों में तो ट्रेड-यूनियनों के ज़रिये मज़दूरी को गिरने ही नहीं दिया जाता।

(ii) **जीवन-स्तर का सिद्धान्त**—मज़दूरी के विषय में दूसरा सिद्धान्त 'जीवन-स्तर का सिद्धान्त' (Theory of standard of living) है। यह हो सकता है कि एक आदमी का जीवन-निर्वाह बहुत थोड़े रुपये में हो सके, परन्तु उसने अपना स्तर ऐसा बना लिया हो कि उतने में वह अपना निर्वाह करने के लिए तैयार न हो। आजकल लोगों ने अपने ख़र्चे ऐसे बना लिये हैं कि निर्वाह-मात्र लेने के लिए वे तैयार नहीं होते, उन्हें अपने निर्वाह के लिए नौकरी नहीं चाहिए, अपना स्तर कायम रखने के लिए नौकरी चाहिए। ऐसी हालत में यह कहना असंगत न होगा कि मज़दूरी की राशि का निश्चय हर-एक व्यक्ति के जीवन-स्तर पर आश्रित है। उस स्तर से नीचे मज़दूरी मिलेगी, तो वह काम छोड़ देगा। परन्तु सिर्फ़ स्तर ऊँचा कर लेने से कोई नौकरी अवश्य दे देगा यह बात नहीं है। नौकरी तो मिलती है श्रम द्वारा इतनी उत्पत्ति करने से कि दूसरे को लाभ हो।

(iii) **अवशेष का सिद्धान्त**—मज़दूरी की दर क्या होती है इस विषय में एक सिद्धान्त यह है कि वस्तु के उत्पन्न करने में जो-जो भी व्यय होते हैं उनके अदा करने के बाद जो अवशिष्ट रह जाता है, बच रहता है, वह मज़दूरी के रूप में दिया जाता है। वस्तु को उत्पन्न करने में पूँजी लगती है, मकान का किराया देना पड़ता है, सूद लगता है, मुनाफ़ा भी लगाना ही होता है। इन सब के निकाल देने पर जो शेष बचता है वह मज़दूरी में दिया जाता है। इसका मतलब यह हुआ कि अगर कार्य-क्षमता के कारण आमदनी ज्यादा हो जाय, तो मज़दूरी बढ़ जाती है, कम हो जाय, तो मज़दूरी घट जाती है। परन्तु यह बात भी ग़लत है। उत्पादन से तो बहुत पहले मज़दूरी की दर तय हो जाती है और बची हुई रकम मज़दूर को नहीं, कारख़ाने के मालिक को मिलती है। कभी-कभी कुछ नहीं बचता, तो मालिक को पूँजी भी हाथ से खोनी पड़ती है। 'अवशेष के सिद्धान्त' को अंग्रेज़ी में 'Residual claimant theory' कहते हैं।

(iv) **मज़दूरी-फंड का सिद्धान्त**—श्रीयुत् मिल का कहना था कि किसी भी उद्योग में मज़दूरों की कुछ निश्चित संख्या होती है, और उद्योगपति ने उद्योग में काम करने वाले मज़दूरों को बाँटने के लिए धन-राशि अलग-से निकाल रक्खी होती है। इस राशि को 'मज़दूरी-फंड' (Wages fund) कह सकते हैं। यह मज़दूरी-फंड तो एक निश्चित राशि है, मज़दूर घटते-बढ़ते रहते हैं। अगर मज़दूरों की संख्या बढ़ गई, तो मज़दूरी घट जाती है, अगर संख्या घट गई तो मज़दूरी बढ़ जाती है। मज़दूरी की राशि बढ़ाने के लिए या तो मज़दूरी-फंड को बढ़ाना पड़ेगा, या मज़दूरों की संख्या को घटाना पड़ेगा। परन्तु इस सिद्धान्त

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में यह मान लिया गया है कि मज़दूरी-फंड तो निश्चित है, इसमें घटा-बढ़ी नहीं हो सकती। क्यों नहीं हो सकती ?

(v) **उत्पादन में बचत का सिद्धान्त**—हम मज़दूर रखते हैं। क्यों रखते हैं ? इसलिए कि वह जो-कुछ पैदा करेगा उसमें से उसके श्रम का मूल्य उसे मिलेगा, और कुछ श्रम ऐसा भी करेगा जिससे वह उत्पादन तो करेगा, परन्तु उस उत्पादन को वह मालिक के लिए छोड़ देगा। अगर मज़दूर के ऊपर हमारा इतना खर्च आ जाय कि मालिक को कुछ न बचे, ऐसे मज़दूर को कौन रखेगा ? मज़दूर के श्रम पर सिर्फ़ इतना खर्च पड़ना चाहिए जिससे उसका खर्च निकाल कर उत्पादन में बचत हो सके। यह 'उत्पादन में बचत का सिद्धान्त' (Theory of marginal productivity) कहलाता है। उत्पादन में जितनी बचत होगी उतनी मज़दूरी बढ़ेगी। परन्तु ऐसा नहीं होता। मालिकों को बचत होती है, और उससे वे अपना ही पेट भरते हैं। 'उत्पादन में बचत' तथा 'अवशेष का सिद्धान्त' लगभग एक-से हैं।

(vi) **माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त**—मज़दूरी के विषय में 'माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त' (Theory of Demand and Supply) सब से ज्यादा प्रचलित है। हम मज़दूर को मज़दूरी देते हुए इस बात का ध्यान रखते हैं कि वह जो-कुछ उत्पादन करे उसमें से हमें भी कुछ बचे। हम मज़दूर को ज्यादा-से-ज्यादा उतना ही तो दे सकते हैं, जितने से, हमें कुछ मिले या न मिले, परन्तु उसके श्रम से उसका खर्च निकल सके। इससे अधिक मज़दूरी उसे किसी हालत में नहीं मिल सकती। कम-से-कम हम मज़दूर को उतना देते हैं जिससे उसका निर्वाह हो सके। निर्वाह से कम मिलने पर मज़दूर काम नहीं करेगा, और अपना खर्च न चला सकने पर मालिक मज़दूर को नहीं रखेगा। मज़दूर का निर्वाह होना चाहिए और मालिक को कुछ बचना भी चाहिए। इन दोनों बातों के साथ-साथ मज़दूर ने अगर अपना कोई जीवन-स्तर बना लिया है, तो उसका भी ख्याल रखना चाहिए। यह सब होते हुए भी 'माँग तथा पूर्ति का सिद्धान्त' के ऊपर मज़दूरी की दर निश्चित होती है। ज्यादा माँग होगी, कम पूर्ति होगी, तो मज़दूरी अपने आप बढ़ जायगी, ज्यादा पूर्ति होगी, कम माँग होगी, तो दर अपने-आप घट जायगी, परन्तु इस माँग तथा पूर्ति के साथ जीवन-निर्वाह, जीवन-स्तर, अवशेष, तथा बचत के सिद्धान्त भी जुड़े रहेंगे।

[भारत में मज़दूरी की दर]

ये तो सिद्धान्तों की बातें हुईं। भारत के मज़दूर को क्या मज़दूरी मिल रही है ? इस संबंध में १९२१ में श्री **फिंडले शिराज़** ने जो जाँच की थी उसके अनुसार यहाँ के मज़दूर को जेल के कैदी को दी जाने वाली खुराक से कम खाना मिल रहा था। १९३१–३२ में **डा० राव** की जाँच के अनुसार बिहार तथा उड़ीसा में ४५३, मद्रास में ३०५, बम्बई में २९५, बंगाल में १९५, मध्य-प्रदेश में १८७,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उत्तर-प्रदेश में १२९, आसाम में ९३ रु० प्रतिवर्ष प्रति श्रमी की आमदनी थी। बम्बई सरकार के लेबर विभाग ने १९३५ में जो जाँच की उसके अनुसार द्वितीय महायुद्ध से पहले मज़दूर को बम्बई में ५० रुपया प्रतिमास, अहमदाबाद में ४६, शोलापुर में ४०, मद्रास में ३७ प्रतिमास मिल रहा था।

भिन्न-भिन्न उद्योगों में मज़दूरी की दर अलग-अलग है। इंडियन लेबर ईयर बुक १९६१ के अनुसार १९५९ तथा १९६० में भिन्न-भिन्न उद्योगों में वार्षिक मज़दूरी निम्न थी :*

उद्योग	प्रति व्यक्ति वार्षिक मज़दूरी	
	१९५९	१९६०
सूती कपड़े के कारखाने	१,४७७	१,५४७
जूट के कारखाने	१,०५७	१,१३०
रेशमी कपड़े के कारखाने	१,१४६	१,३०१
कागज़ बनाने के कारखाने	१,४१०	१,३७६
छापाखाना, प्रकाशन	१,३१६	१,२२८
चमड़े के कारखाने	७८३	७७१
खाद बनाने के कारखाने	१,३६१	१,२६०
हैवी कैमीकल	१,३५९	१,४२४
दियासलाई के कारखाने	१,५७०	८९६
लोहा तथा इस्पात	२,११३	१,९२७
ट्रंक बनाने के कारखाने	१,१३४	१,११८
मशीनरी बनाने के कारखाने	१,३८४	१,३१४
जहाज़ बनाने के कारखाने	१,६२०	१,६८८

ऊपर जो-कुछ लिखा गया है उससे इतना स्पष्ट है कि पहले इस देश में मज़दूरी बहुत कम थी, पिछले दिनों उसमें कुछ सुधार हुआ है। परन्तु इस सुधार के बावजूद हम यह नहीं भूल सकते कि जिस कदर चीज़ों के दामों में वृद्धि हुई है उस कदर मज़दूरी में वृद्धि नहीं हुई। मज़दूर के जीवन का स्तर भी पहले से ऊँचा हो गया है। मज़दूरी क्या होनी चाहिए इस पर विचार करते हुए हमें सोचना है कि श्रमी को पौष्टिक भोजन मिले, रहने को उसके पास मकान हो, कपड़े वह

* Indian Labour Year Book, 1961.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पहन सके। अगर एक मज़दूर को प्रतिदिन २,७०० कैलोरी देने वाला भोजन, १०० वर्ग फ़ीट रहने को स्थान और ४५ गज़ प्रति वर्ष कपड़ा लेना हो, तो द्वितीय महायुद्ध से पहले इतने पर २० से २५ रुपया मासिक व्यय होता था। आज उक्त सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए पहले की-सी मज़दूरी से तो काम नहीं चलेगा। यह सब सोच-विचार कर १९४८ में **मिनिमम वेजेज एक्ट** पास किया गया। यह एक्ट क्या है?

[१९४८ का मिनिमम वेजेज एक्ट]

भारत में पहले-पहल १९४८ में **मिनिमम वेजेज एक्ट** पास हुआ। यह एक्ट उन उद्योगों पर लगा जिनमें श्रमियों को बहुत अधिक पसीना बहाना पड़ता है। इस कानून द्वारा केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को अधिकार दे दिया गया कि अपने क्षेत्रों में वे श्रमियों की न्यूनतम मज़दूरी को एक निश्चित-काल की अवधि के अन्दर निश्चित कर सकें। जिन उद्योगों में यह न्यूनतम मज़दूरी निश्चित की जा सकेगी, उनकी सूची बना दी गई। इनमें ऊनी, ग़लीचे तथा शाल बनाने के कारखाने, तम्बाकू तथा बीड़ी बनाना, चावल, आटे तथा दाल दलने की चक्कियाँ, बाग़ान, तेल की मिलें, सिटी-बोर्डों के नौकर, सड़क बनाना, पत्थर तोड़ना, मकान बनाना, लाख, अभ्रक तथा चमड़े के कारखाने—ये सब आ जाते हैं। जिस उद्योग में प्रान्त भर में १,००० से कम मज़दूर काम करते हैं उसमें न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करने की आवश्यकता नहीं समझी गई। इस एक्ट में यह निश्चित कर दिया गया कि भिन्न-भिन्न व्यवसायों में प्रौढ़, वयस्क तथा बच्चों से कितने 'घंटे' ज़्यादा-से-ज़्यादा काम लिया जा सकेगा। इसके साथ यह भी निश्चित कर दिया गया कि 'ओवर-टाइम' काम ज़्यादा-से-ज़्यादा कितने घंटे हो सकेगा। काम की दृष्टि से भी प्रत्येक धंधे को देखकर निश्चय किया गया कि ज़्यादा-से-ज़्यादा 'काम' कितना लिया जा सकेगा क्योंकि थोड़े घंटों में भी तो लालच देकर, मार-पीट करके ज़्यादा काम कराया जा सकता है। अब प्रश्न यह रह जाता है कि इस एक्ट के अनुसार 'न्यूनतम-मज़दूरी' क्या होगी?

न्यूनतम मज़दूरी निश्चित करने के तीन तरीके हो सकते हैं। पहला तरीका तो यह है कि श्रमी की 'मूल-मज़दूरी' (Basic wage) के अतिरिक्त उसे महँगाई भत्ता इस आधार पर दिया जाय कि आजकल वस्तुओं के जो दाम बढ़ गए हैं उनके अनुसार उसका भत्ता हो। दूसरा तरीका यह है कि मूल-मज़दूरी के साथ महँगाई भत्ता दिया जाय या न दिया जाय, परन्तु खाने-पीने की जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं को रियायती दामों पर दिया जाय या इस प्रकार रियायत करने पर जितनी रियायत बने वह नक़द दे दी जाय। तीसरा तरीका यह है कि 'मूल-मज़दूरी' के झगड़े में न पड़कर मज़दूरी ही बढ़ा दी जाय। महँगाई भत्ता या

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

चीज़ों के रियायती ख़रीदने के दाम अलग से इन नामों से न देकर सीधा मज़दूरी बढ़ा दी जाय।

इस एक्ट के अनुसार सरकार को अधिकार दे दिया गया कि वह प्रतिदिन काम करने के घंटे नियत करे, साप्ताहिक छुट्टियों की व्यवस्था करे और यह देखे कि जिन-जिन व्यवसायों में यह एक्ट लागू किया गया है उनमें मालिक लोग ओवर-टाइम का रुपया नियमपूर्वक देते हैं या नहीं। सरकार को अधिकार दिया गया कि वह भिन्न-भिन्न व्यवसायों की जाँच-पड़ताल करने के लिए समितियाँ, उप-समितियाँ बनाये और देखे कि किस व्यवसाय में न्यूनतम मज़दूरी क्या होनी चाहिए, जो दी जा रही है उसमें कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है या नहीं। इन कमेटियों के पारस्परिक-सहयोग के लिए एक सलाहकार-बोर्ड भी बनाया गया ताकि वह सब समितियों के कार्यों में समन्वय स्थापित करता रहे, ऐसा न हो कि कहीं की कमेटी ने कुछ मज़दूरी तय कर दी, कहीं की कमेटी ने कुछ। जिस प्रकार प्रान्तीय सरकारें सलाहकार-बोर्ड स्थापित कर सकती हैं, उसी प्रकार केन्द्रीय-सरकार भी भिन्न-भिन्न कमेटियों में एकरूपता लाने के लिए सलाहकार-बोर्ड स्थापित कर सकती है। इन सब कमेटियों में मालिक तथा मज़दूरों के प्रतिनिधि बराबर-बराबर रहेंगे, और बाहर के लोग भी होंगे जिनकी संख्या एक-तिहाई से ज्यादा न होगी। इन्स्पैक्टरों का काम होगा कि वे देखें कि न्यूनतम निश्चित मज़दूरी प्रत्येक श्रमी को मिल रही है या नहीं। इस काम के लिए रजिस्टर रखे जायेंगे और अगर कोई मालिक निश्चित मज़दूरी नहीं दे रहा होगा, तो वह दण्डनीय होगा।

उक्त एक्ट में उद्योगों में 'न्यूनतम-मज़दूरी' लागू करने की अवधि २ साल तथा कृषि में ३ साल रखी गई थी। १९५० में उक्त एक्ट में संशोधन करके सब धन्धों के लिए ४ साल की अवधि रख दी गई। १९५१ में एक और संशोधन से फिर अवधि बढ़ाई गई और अन्य उद्योगों में ३१ मार्च १९५२ तथा कृषि में ३१ दिसम्बर १९५३ कर दी गई। यह अवधि फिर मार्च १९५४ तक बढ़ा दी गई।

भारत सरकार ने एक केन्द्रीय-सलाहकार-बोर्ड बनाया है जिसमें मालिकों तथा मज़दूरों के प्रतिनिधि भी हैं। बोर्ड ने अप्रैल १९५४ की अपनी बैठक में यह निश्चय कर दिया कि देश के मज़दूर को कम-से-कम १–२–० से २ रुपया प्रतिदिन के हिसाब से मज़दूरी मिलनी चाहिए, इससे कम नहीं। १९४८ के एक्ट के अनुसार किस-किस प्रान्त में किस-किस धंधे में इस समय क्या-क्या न्यूनतम-मज़दूरी निश्चित है, इसका निम्न चित्र से कुछ परिचय मिल जायगा :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

भिन्न-भिन्न प्रान्तों में निश्चित रुपये-पैसे में न्यूनतम प्रतिवर्ष मजदूरी *
(३१ दिसम्बर १९६१ की संशोधित मजदूरी की दरें)

काम	आसाम	बिहार	महाराष्ट्र	मध्यप्रदेश	मद्रास	उत्तर-प्रदेश	मैसूर
चावल, आटा दाल की चक्की	१.५५ से १.७३	१.३७	२२.७५ से ६० मासिक	१.२५ से १.७५	१.२५	१.५०	०.८७ से १.६९
तेल-मिल	—	१.३७	१.१२ से १.७४	१.२५ से १.७५	१.२५	१.७३	१ से १.५०
सड़क या मकान बनाना	१.५०	१.७५	१.२५ से २.३७	१.२५ से १.७५	१.१२ से १.३७	१.००	.८१ से २
पत्थर तोड़ना	—	१.२५	४० से ६० मासिक	१.२५ से १.७५	१.१२ से १.३७	१.००	०.९४ से १.५०
चमड़े का काम	—	२.३७	४० से ६० मासिक	३५ मासिक	०.७५	१.७३	१.५०
मोटर यातायात (अकुशल व्यक्ति)	१.८१	३५ से ४५ मासिक	४० से ६० मासिक	—	५१ मासिक	१.००	२८ से ४५ मासिक
खेती	१ से १.२५ (५ घंटे काम)	पैदावार का $\frac{1}{8}$ हिस्सा	०.६२ से १ रुपया	०.९० से १.३५	—	१ से १.५०	१ से १.७५
सिटी बोर्ड आदि	—	२५ से ३५ रुपया मासिक	३५ से ६० रुपया मासिक	१.२५ से १.७५	३४ से ४९ रुपया मासिक	१७.५० से ३६.२५ मासिक	२५ से ५५ रुपया मासिक

* Indian Year Book, 1961, p. 74-75.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(ट) ऋण-ग्रस्तता की समस्या

हम पहले कह आये हैं कि भारत का किसान ऋण में पैदा होता है, ऋण में मरता है, और अपनी सन्तान को विरासत में ऋण दे जाता है। यही हालत यहाँ के मज़दूर की है। 'रॉयल लेबर कमीशन' ने अपनी रिपोर्ट में लिखा था कि सबसे आश्चर्य परन्तु साथ ही दुःख की बात यह है कि भारत का मज़दूर अपने बाप के उस क़र्ज़ को जिसकी उसके ऊपर कोई क़ानूनी ज़िम्मेदारी नहीं है झट अपने ऊपर ले लेता है और इस बात की बिना पर्वाह किये हुए कि साहूकार उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकता क़र्ज़ को उतारने के लिए जी-जान से लग जाता है।

१९४७–४८ की लेबर-ईयर-बुक में मज़दूर-परिवारों की जाँच करने के बाद उनकी ऋण-ग्रस्तता के विषय में जो परिणाम निकला वह इस प्रकार दिया है :

मज़दूरों में ऋण-ग्रस्तता

केन्द्र	कितने परिवारों को जाँचा	कितने परिवार ऋण-ग्रस्त थे	ऋण-ग्रस्त परिवारों का प्रतिशत	ऋण-ग्रस्त परिवार का ऋण
बम्बई	२,०३०	१,३०१	६४.१	१२३-१४-७
जलगाँव	३३८	२०५	६०.७	२२७- ०-०
कलकत्ता	२,७०७	१,१२४	४१.५	११७- ६-१
जमशेदपुर	६९१	४३०	६२.२	२३४-११-८
गौहाटी	२४१	३२	१३.३	१९७- १-५
लुधियाना	२३१	६९	३२.४	१५०- ८-४
मद्रास	२७४	१९८	७२.३	७९- ०-०
कोचीन	२०	१७	८५.८	५५- ०-०

१९४६ की 'रीगे लेबर इन्वेस्टीगेशन कमेटी' के अनुसार भिन्न-भिन्न उद्योगों में ऋण-ग्रस्तता की मात्रा निम्न प्रकार थी :

ग़लीचे बुनने में मिर्ज़ापुर में ७०.८ प्रतिशत मज़दूरों पर क़र्ज़ था और हर क़र्ज़दार पर लगभग ११४ रुपया क़र्ज़ था। इसी धंधे में श्रीनगर में ८२ प्रतिशत मज़दूरों पर क़र्ज़ था और हर क़र्ज़दार पर लगभग १३०–८–० क़र्ज़ था। चमड़े के धंधे में कलकत्ते में १००, कानपुर में ६९.३ तथा मद्रास में ६६.४ प्रतिशत मज़दूरों पर क़र्ज़ था। छापेखाने में शिमला में ८४ प्रतिशत पर क़र्ज़ था और हर क़र्ज़दार पर ४३४ के लगभग क़र्ज़ था। दिल्ली में ५१.३ प्रतिशत पर क़र्ज़ और हर क़र्ज़दार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर ३३० के लगभग देनदारी, अलाहाबाद में ८७.२ प्रतिशत पर कर्ज़ और हर कर्ज़दार पर १६१ रुपए की देनदारी, अलीगढ़ में ८०.७ प्रतिशत पर कर्ज़ और हर कर्ज़दार पर १७१ की देनदारी, कलकत्ता में ७०.१ प्रतिशत पर कर्ज़ और प्रति कर्ज़दार पर २४७ की देनदारी, मद्रास में ७१ प्रतिशत पर कर्ज़ और प्रति कर्ज़दार पर १९४ की देनदारी, बम्बई में ६८.८ प्रतिशत पर कर्ज़ और प्रति कर्ज़दार पर ३३५ की देनदारी थी।

मज़दूरों में इतनी भारी कर्ज़दारी का कारण क्या है? इसका सबसे बड़ा कारण कम मज़दूरी है। भारत का मज़दूर अशिक्षित होने के कारण प्रथा का दास है। उसे विवाह आदि सामाजिक-प्रथाओं पर काफ़ी खर्च करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त जब वह शहर में नौकरी करने आता है तब शुरू-शुरू में उसके पास कुछ नहीं होता। उस हालत में वह कर्ज़ लेता है। ज़मानत के तौर पर वह कुछ रख नहीं सकता इसलिए २०० प्रतिशत से ऊपर के सूद पर उसे कर्ज़ मिलता है। इस कर्ज़ को वह चुकाता रहता है और नया कर्ज़ लेता रहता है। शहर में आकर उसे जुए-शराब की भी आदत पड़ जाती है। ये भी उसकी ऋण-ग्रस्तता के कारण हैं।

मज़दूरों की इस ऋण-ग्रस्तता को दूर करने के लिए अनेक उपाय सोचे गए। 'रॉयल लेबर कमीशन' ने मज़दूरों की ऋण-ग्रस्तता को सुधारने के लिए सिफ़ारिश की कि ऐसा कानून बनना चाहिए जिससे ३०० रुपया प्रतिमास से कम वेतन लेने वाले श्रमी के वेतन को कुर्क न किया जा सके। कमीशन की सिफ़ारिश को क्रिया में परिणत करने के आशय से १९३७ में कानून पास किया गया जिसके अनुसार १०० रुपए से कम लेने वाले श्रमी के वेतन की कुर्की नहीं की जा सकती। अगर कोई श्रमी सरकारी नौकर हो, तो नौकरी लगने के पहले महीने के १०० रुपए और उस के बाद के आधे वेतन की कुर्की नहीं हो सकती। साथ ही इस कानून के अनुसार अगर किसी श्रमी के आधे वेतन की लगातार २४ महीने तक कुर्की होती रही है, तो उसके बाद १ साल तक उसकी कुर्की रोक दी जायगी। अक्तूबर १९५० में सरकार ने एक विज्ञप्ति द्वारा बोनस, महँगाई-भत्ता आदि के कुर्क किये जाने का भी निषेध कर दिया।

कई साहूकार मज़दूरों को कर्ज़ के लिए जेल भिजवा देते थे। अबतक ५० रुपए से ऊपर के कर्ज़दार को साहूकार ६ महीने के लिए और कम के कर्ज़दार को डेढ़ महीने के लिए कर्ज़ न अदा करने पर जेल भिजवा सकता था। 'रॉयल लेबर कमीशन' ने सिफ़ारिश की कि इस कानून को बदलना होगा। इसके अनुसार १९३६ में भारत-सरकार ने कर्ज़ के लिए मज़दूरों का जेल भिजवाना रोक दिया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रायः देखा जाता है कि मज़दूर-लोगों के ऊपर अपने मासिक वेतन से चार गुणा कर्ज़ होता है। इस अवस्था को दूर करने के लिए कमीशन ने सिफ़ारिश की थी कि साहूकार के लिए कर्ज़ देना बेकार बना दिया जाय। अभी तक इस दिशा में केवल मध्य-प्रदेश की सरकार ने कदम उठाया है। उन्होंने कानून बना दिया कि ९० रुपया प्रतिमास लेने वाला मज़दूर जिस पर उसके तीन मास से ज़्यादा का कर्ज़ है किसी समय भी अदालत में दरख्वास्त दे सकता है कि उसे ऋण-मुक्त कर दिया जाय। इस कानून में यह भी कहा गया है कि सूद की जमा राशि किसी भी समय मूल-कर्ज़ से बढ़ नहीं सकती। इस प्रकार के कानूनों के अन्य प्रान्तों में भी बनने की आवश्यकता है।

(ठ) जीवन के स्तर की समस्या

'जीवन का स्तर' भी मज़दूर की एक समस्या है, परन्तु जीवन का स्तर क्या है—यह कुछ नहीं कहा जा सकता। एक देश का दूसरे देश से जीवन का स्तर ऊँचा या नीचा होता है, एक ही देश में एक वर्ग का दूसरे वर्ग से जीवन का स्तर ऊँचा या नीचा होता है। जीवन के स्तर के एक-दूसरे से भिन्न होने का अभिप्राय यह है कि शिक्षा पर, स्वास्थ्य पर, आराम पर, मनोरंजन पर कोई कितना खर्च करता है। खाने-पीने, कपड़े-मकान पर तो हर-कोई खर्च करता ही है, इन खर्चों के बिना तो गुज़र ही नहीं, परन्तु इनके अलावा अन्य बातों पर जो जितना खर्च करता है उसका जीवन का स्तर उतना ही ऊँचा है, जो इन पर कम खर्च करता है उसका जीवन का स्तर उतना ही नीचा है। इसके अतिरिक्त एक और बात ध्यान रखने की है। ऊँचे तथा नीचे जीवन-स्तर वालों में भोजन-कपड़े आदि के व्यय में अगर तुलना की जाय, तो उसमें इतना भेद नहीं होता जितना शिक्षा, स्वास्थ्य मनोरंजन आदि के ऊपर किये गए व्यय में भेद होता है। अमीर भी रोटी खाता है, ग़रीब भी रोटी खाता है। अमीर रोटी पर १०० रुपए खर्च कर लेगा, तो ग़रीब २० रुपए तो खर्च करेगा ही, परन्तु शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन आदि पर ग़रीब ५ रुपए खर्च करेगा, तो अमीर ५ हज़ार भी व्यय कर देगा। जीवन का स्तर इस बात से प्रतीत होता है कि भोजन आदि जीवन के लिए आवश्यक बातों की तुलना में अन्य बातों पर हम कितना व्यय करते हैं। इस दृष्टि से देखा जाय तो श्रमी की मज़दूरी का बहुत अधिक हिस्सा भोजन-कपड़े पर ही खर्च हो जाता है, अन्य बातों के लिए उसके पास कुछ बचता ही नहीं। इसके अतिरिक्त ब्याह-शादी पर, रीति-रिवाज़ पर, संयुक्त-परिवार-प्रथा होने के कारण अन्य सगे-संबंधियों, भाई-भतीजों पर मज़दूर का सब-कुछ व्यय हो जाता है, बचा-खुचा कर्ज़ चुकाने में चला जाता है, फिर उसके पास जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए रुपया ही कहाँ है ?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मज़दूर के जीवन-स्तर के संबंध में १९४७–४८ की इण्डियन-लेबर-ईयर-बुक में एक सारिणी दी गई है जिससे पता चलता है कि मज़दूर के परिवार में कमाने वाले कितने हैं और किन-किन मदों में उसका कितना-कितना व्यय होता है। इस सारिणी का कुछ अंश नीचे दिया जा रहा है:

मज़दूर के परिवार की रचना

केन्द्र	कितने परिवार जाँचे	परिवार में व्यक्तियों का अनुपात	कमाने वाले	न कमाने वाले
कलकत्ता	२,७०७	४.०९	१.४३	२.६६
खड़गपुर	२२२	.६२	१.५७	४.०५
अहमदाबाद	१,८२०	४.३३	१.५६	२.७७
बम्बई	२,०३०	३.९६	१.५३	२.४३
शोलापुर	७७८	५.३९	१.८५	३.५४
दिल्ली	५८१	३.८०	१.३४	२.४६

उक्त सारिणी से प्रकट होता है कि मज़दूरों के परिवार में जितने व्यक्ति होते हैं, उनमें से लगभग एक-चौथाई कमाने वाले होते हैं; बाकी तीन-चौथाई न कमाने वाले होते हैं। क्योंकि ये मज़दूर प्रायः गाँवों से आते हैं, और गाँवों में संयुक्त-परिवार-प्रथा है, इसलिए कमानेवाले बिना कमानेवालों का भरण-पोषण करते हैं। पहले तो मज़दूर की मज़दूरी ही कितनी होती है, उस पर जो-कुछ वह कमाता है, उसका बहुत बड़ा भाग दूसरों पर खर्च हो जाता है, इसलिए मज़दूर के जीवन का स्तर ही क्या हो सकता है?

इसके अतिरिक्त मज़दूर का निम्न-जीवन-स्तर इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वह जीवन के लिए आवश्यक बातों पर कितना खर्च करता है। खाने-पीने, कपड़े आदि पर उसकी आमदनी का कितना व्यय होता है, और अन्य बातों पर उसकी आमदनी का कितना भाग व्यय होता है। इस बात को स्पष्ट करने के लिये निम्न सारिणी जीवन के स्तर के विषय में मज़दूर की स्थिति को बहुत अधिक स्पष्ट कर देती है। इस सारिणी को अगले पृष्ठ पर देखिये—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

मजदूर के परिवार में आय तथा व्यय

केन्द्र	परिवार में व्यक्तियों का अनुपात	कमाने वाले	आनुपातिक आमदनी मासिक	भोजन पर प्रतिशत व्यय	ईंधन रोशनी पर प्रतिशत व्यय	मकान भाड़ा	कपड़े आदि पर व्यय	विस्तर आदि पर व्यय	अन्य व्यय	कुल व्यय
कलकत्ता	४.०६	१.४३	७०-८-७	६५.६६	७.२८	६.७१	७.७४	०.०६	१२.५५	७१-११-८
खड़गपुर	५.६२	१.५७	१२०-५-८	६६.१८	५.८६	३.३५	१०.२३	०.५०	१०.६५	६६- ७-०
अहमदाबाद	४.३३	१.५८	१३४-५-८	५२.७४	६.६६	५.४०	१२.०४	२.११	१८.२५	६५-१५-२
बम्बई	३.६६	१.५३	६७-२-३	५१.६६	१०.१६	७.२०	११.७२	०.५०	१८.४६	८६- ८-०
शोलापुर	५.३६	१.८५	६६-१५-६	४८.७५	१२.२०	३.६४	१४.५७	०.६६	१६.८८	७७- ७-४
दिल्ली	३.८०	१.३४	६६-४-११	६०.६८	८.८४	६.३५	६.१३	३.२७	१८.४३	६०- ०-११

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उक्त सारिणी से यह स्पष्ट है कि मज़दूर की आमदनी का आधे से ज्यादा तो खाने पर ख़र्च हो जाता है, बाकी ईंधन, रोशनी, कपड़ा, किराया आदि में चला जाता है। इस व्यय से भोजन भी वह ऐसा पाता है जिसमें कैलोरी की मात्रा बहुत कम होती है, पोषक-तत्वों के भोजन पर वह व्यय नहीं कर सकता। कपड़े भी उसके प्रायः फटे होते हैं। अक्सर मज़दूर बदन पर धोती के सिवाय कुछ नहीं पहनते। जिस दिन धोती ख़रीद लाते हैं उस दिन मानो उत्सव मनाते हैं, सब को धोती दिखाते फिरते हैं। रोशनी के लिए मट्टी के तेल की टीन की एक डिबिया जलाते हैं। अन्य व्ययों में शराब-नशे आदि आ जाते हैं। जहाँ शराब-बन्दी हो जाती है वहाँ चोरी-छिपे देशी शराब जो बिकती है उसे पीकर ग़म ग़लत करते हैं—ऐसी हालत में उनका जीवन-स्तर कैसे ऊँचा हो सकता है जब तक उनकी आमदनी न बढ़े।

जीवन के स्तर पर विचार करते हुए 'निर्वाह-सूचक-अंक' या 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' (Cost of living-index number or Consumer price index) के विषय में कुछ लिख देना असंगत न होगा। अब तक जिसे 'निर्वाह-सूचक-अंक' (Cost of living-index) कहते हैं, अब उसे अन्तर्राष्ट्रीय परिभाषा में 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' (Consumer price index) कहने लगे हैं। यह तो सब-कोई जानते हैं, कि वस्तुओं के दाम घटते-बढ़ते रहते हैं, किसी का कम किसी का ज्यादा घटता-बढ़ता है। हिसाब लगाने वालों ने एक तरीका निकाला है जिससे पता लग जाता है कि पहले की अपेक्षा सब वस्तुओं के दामों को मिलाकर कितनी घटा-बढ़ी हुई। उदाहरणार्थ, अगर यह मान लिया जाय कि १९३९ में वस्तुओं का 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' या 'निर्वाह-सूचक-अंक' १०० था, तो हम देखते हैं कि १९४५ में बम्बई में यह २२४, मध्य-प्रदेश में २५९, मद्रास में २२८, पंजाब में ३३३, बिहार में ३०५ था। १९३९ के 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' या 'निर्वाह-सूचक-अंक' को आधार मान कर उसे १०० माना जाय, तो १९४९ में यह अंक बम्बई में २९१, मध्य-प्रदेश में ३८१, मद्रास में ३२७, पंजाब में ४६८ तथा बिहार में ४४४ हो गया। अब जो आँकड़े इकट्ठे किये जा रहे हैं, उनमें १९३९ को आधार मानने के स्थान पर १९४९ को आधार मान कर उपभोक्ता-मूल्य का सूचक-अंक निकाला जा रहा है। अर्थात् अगर १९४९ में निर्वाह पर जो व्यय था, उसे १०० मान लिया जाय, तो अब निर्वाह पर क्या व्यय पड़ रहा है। इस हिसाब से यह पता लगा है कि अखिल-भारतीय-स्तर पर अगर 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' या 'निर्वाह-सूचक-अंक' १९४९ में १०० था, तो १९५३ में १०६ हो गया, १९५४ के मार्च में १०१ हो गया। भिन्न-भिन्न स्थानों के मज़दूरों के संबंध में भिन्न-भिन्न सालों के 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' या 'निर्वाह-सूचक-अंक' देखने से पता चलता है कि अगर १९४९ को आधार बनाकर उसका अंक १०० मान कर चला जाय, तो १९६१ में अजमेर का 'निर्वाह-सूचक-अंक' ११३, गौहाटी का १०६, जमशेदपुर का

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१२३, बम्बई का १४०, अहमदाबाद का १२१, शोलापुर का ११८, दिल्ली का १२७, नागपुर का १३१, मद्रास का १४८, बंगलौर का १५०, मैसूर का १५१, लुधियाने का १०५ तथा कानपुर का १०२ था। इसका मतलब यह हुआ कि १९४९ की अपेक्षा १९६१ में जीवन का स्तर 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' या 'निर्वाह-सूचक-अंक' के बढ़ने के कारण घटा क्योंकि 'उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक' या 'निर्वाह-सूचक-अंक' जितना बढ़ेगा उतना जीवन का स्तर घटेगा।

१९५०–५१ से १९५८ तक अखिल-भारतीय तथा बड़े-बड़े प्रान्तों के स्तर पर यह अंक किस प्रकार बढ़ता रहा इसकी झलक निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगी और इससे यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ज्यों-ज्यों समय गुज़रता जा रहा है, अपने देश में जीवन का स्तर ऊँचा उठने के स्थान में नीचे गिरता चला जा रहा है—

मज़दूरों का उपभोक्ता-मूल्य-सूचक-अंक*
(अगर १९४९ में यह अंक १०० माना जाय)

वर्ष	अखिल-भारतीय स्तर	बम्बई	कलकत्ता	दिल्ली	मद्रास
१९५०–५१	१०१	१०३	१०१	१०२	१०१
१९५१–५२	१०४	१०८	१०६	१०८	१०४
१९५२–५३	१०४	११२	१००	१०७	१०३
१९५३–५४	१०६	११८	९९	१०७	१०९
१९५४–५५	९९	११७	९४	१०३	१०४
१९५५–५६	९६	११०	९३	१००	१००
१९५६–५७	१०७	११६	१०२	११२	११३
१९५७–५८	११२	१२२	१०५	११२	११७
१९५९–६०	१२४	—	—	—	—
१९६०–६१	१२६	—	—	—	—

(ङ) स्वास्थ्य की समस्या

मज़दूर के स्वास्थ्य की समस्या के दो पहलू हैं। एक पहलू तो यह है कि मज़दूर भी अन्य लोगों की तरह देश में रहने वालों में से एक है। जैसे अन्य लोगों के स्वास्थ्य की देख-रेख सरकार का काम है, वैसे मज़दूर के स्वास्थ्य की देख-भाल भी सर्व-साधारण के लिए खोले गए अस्पतालों के अन्तर्गत आ जाती है। दूसरा पहलू

* India—1959.

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

यह है कि भिन्न-भिन्न उद्योगों में उन-उन उद्योगों से कई बीमारियाँ हो जाती हैं। छापे-खानों में काम करने वालों को सीसे का ज़हर चढ़ जाता है, खानों में काम करने वालों को दमा-निमोनिया हो जाता है, चाय-बाग़ान के मज़दूरों को मलेरिया अधिक सताता है, कल-कारख़ानों में जहाँ आग से काम लिया जाता है, वहाँ गर्मी के कारण, तथा जहाँ कारख़ाने में सीलन रहती है, वहाँ नमी के कारण बीमारियाँ हो जाती हैं। इन सब का इलाज करना ज़रूरी है और जहाँ साधारण स्वास्थ्य की ज़िम्मेदारी सरकार की है वहाँ उद्योग-धंधों से होने वाले रोगों की ज़िम्मेदारी मालिकों की है और इसके लिए उन्हें अपने यहाँ अस्पताल तथा डिस्पेंसरी रखना ज़रूरी है। कभी-कभी मिल के काम के कारण कई प्रकार की चोटें लग जाती हैं, उनकी ज़िम्मेदारी भी मिल-मालिक की ही है।

मज़दूरों के स्वास्थ्य के सम्बन्ध में कई रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं। **प्रो० अदरकर** ने औद्योगिक-श्रमियों के स्वास्थ्य-बीमे के सम्बन्ध में कुछ मसाला एकत्रित किया था। उनका कहना था कि अपने देश में प्रति वर्ष प्रति श्रमी के १४.६ दिन बीमारी में कटते हैं। **डा० थामस बेडफ़ोर्ड** ने १९४६ में श्रमियों के स्वास्थ्य के संबंध में भारतीय-सरकार के आदेशानुसार एक रिपोर्ट तैयार की थी। इसका कहना था कि इस देश में कारख़ाने ही ऐसे बने हैं जिनकी बनावट ठीक नहीं। हवा-पानी-रोशनी का इनमें बन्दोबस्त नहीं, साँस में धुँआ तथा रेता जाते हैं और पाश्चात्य देशों की अपेक्षा बीमारी की प्रतिशत बहुत अधिक है। खानों के संबंध में जाँच से पता लगा कि वहाँ रतौंधे की बीमारी बहुत है। बाग़ान के संबंध में १९४७ में **डा० लोयड जोन्स** ने जो जाँच की उसके अनुसार इन मज़दूरों के खाने में कोई पौष्टिक-तत्व नहीं जाता, वे कमज़ोर हैं, जीवन-शक्ति-शून्य हैं। भोर-कमेटी ने, जिसका वर्णन हम तेरहवें अध्याय में कर आये हैं, कहा कि यहाँ के मज़दूरों के स्वास्थ्य ठीक न होने के कारण हैं—(i) कारख़ानों में अस्वास्थ्यकर अवस्थाएँ, (ii) अपौष्टिक-भोजन तथा (iii) उपचारात्मक एवं निरोधात्मक चिकित्सा का अभाव। इनमें से कुछ का उपाय तो १९४८ के **फ़ैक्टरीज़-एक्ट** ने कर दिया है, कुछ का उपाय श्रम-कल्याण की योजनाओं ने कर दिया है। इन योजनाओं का वर्णन हम पहले कर आये हैं।

(ढ) कार्य-क्षमता की समस्या

एक निश्चित समय में एक श्रमी कितना काम कर सकता है—यह एक समस्या है। एक मज़दूर छः घंटे में जितना काम करता है, दूसरा उससे ड्योढ़ा काम कर लेता है। जो ड्योढ़ा काम करता है उसकी पहले की अपेक्षा कार्य-क्षमता अधिक है। यह स्पष्ट है कि मालिक सदा कार्य-क्षमता चाहता है। परन्तु यह हो सकता है कि एक कार्य-क्षम मज़दूर इतनी अधिक मज़दूरी माँगने लगे कि मालिक के लिए वह कार्य-क्षमता बेकार सिद्ध हो। इसलिए कार्य-क्षमता पर दो दृष्टियों से विचार किया जा सकता है—एक निरपेक्ष कार्य-क्षमता, ऐसी जिसमें

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खर्च का कोई सवाल न हो, कार्य-क्षमता की ही बात हो, पैसा चाहे कितना ही देना पड़े; दूसरी सापेक्ष कार्य-क्षमता, ऐसी जिसमें दूसरे मज़दूरों के बराबर पैसा देने पर काम उनकी अपेक्षा अच्छा मिले। असल में, हमारे काम आनेवाली कार्य-क्षमता तो यह सापेक्ष कार्य-क्षमता ही है।

कार्य-क्षमता के आधार-भूत कारण क्या हैं? कई लोग तो पैदाइश से ही दूसरों की अपेक्षा ज्यादा तथा कुशलता-पूर्वक काम करते हैं। पंजाबी गुजराती की अपेक्षा शारीरिक काम अधिक कर सकेगा। यह कार्य-क्षमता आनुवंशिक है। जल-वायु भी क्षमता को बढ़ाने में कारण है। सर्दी में गर्मी की अपेक्षा अधिक काम होता है। जीवन का स्तर जिसका ऊँचा होगा, जो पौष्टिक-भोजन खायेगा, जिसको काफ़ी मज़दूरी मिलेगी, जो शिक्षित होगा, जिसके काम करने के घंटे कम होंगे, जिसे काम के बीच थकावट दूर करने का मौका मिलता होगा, जिसके काम करने की जगह साफ़-सुथरी होगी, जिसके उपकरण ठीक होंगे, उसकी कार्य-क्षमता बढ़ेगी, इसमें सन्देह नहीं। आज भारत का मज़दूर अन्य देशों की तुलना में कम कार्य-क्षम है। १९२७ में टैरिफ़ बोर्ड ने लिखा था कि मिल में भारत का मज़दूर १८० तकुओं को संभाल सकता है जब कि जापान का २४० को, इंग्लैण्ड का ५४० से ६०० को और अमरीका का ११२० को उतने ही समय में संभाल लेता है। इण्डस्ट्रियल कमीशन के सामने गवाही देते हुए सर **एलैग्ज़ैंडर मैक-रौबर्ट** ने कहा था कि भारतीय मज़दूर की अपेक्षा अंग्रेज़ मज़दूर ३.५ गुणा अधिक काम करता है।

यह बात नहीं कि भारत का मज़दूर पैदाइश से ही अंग्रेज़-मज़दूर का मुकाबिला नहीं कर सकता। भारत का मज़दूर भरपेट भोजन नहीं पाता, जो-कुछ उसे खाने को मिलता है उसमें पौष्टिक-तत्व नहीं होते, उसका जीवन का स्तर नीचा है, वह हर समय शहर से भाग कर गाँव जाने की सोचता है, कर्ज़ से वह दबा रहता है, शिक्षा उसे है नहीं—ऐसी हालत में अगर वह अंग्रेज़-मज़दूर की अपेक्षा कार्य-क्षमता में नीचे है, तो आश्चर्य ही क्या है। इन कमियों को दूर कर दिया जाय, तो यहाँ का मज़दूर संसार के किसी भी श्रमी के साथ कार्य-क्षमता में टक्कर ले सकता है।

(ण) स्त्री-श्रमिकों तथा बाल-श्रमिकों की समस्या*

[स्त्री-श्रमिकों की समस्याएँ तथा सरकारी-अधिनियम]

(i) **स्त्री-श्रमिकों की समस्याएँ**—कारख़ानों, खानों तथा चाय-बग़ीचों में काम करने वाली स्त्री-श्रमिकों की अनेक समस्याएँ हैं जो निम्न हैं:

(a) पुरुषों के बराबर काम करने पर भी उन्हें पुरुषों से कम मज़दूरी दी जाती है।

---

* **What steps have been taken by the Government of India to protect female and child labour in Indian factories? (1951)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(*b*) स्त्रियों को कठोर काम दे दिये जाते हैं जो उनके स्वास्थ्य के लिए अहितकर होते हैं।

(*c*) बच्चों को दूध पिलाना, सुलाना आदि उनकी पुरुषों से भिन्न समस्याएँ हैं।

(*d*) प्रसूति-लाभ तथा शिशु-गृहों के विधान के बावजूद इनकी व्यवस्था नहीं की जाती।

(ii) **स्त्री-श्रमिकों की समस्याओं को हल करने के लिए सरकार द्वारा कानूनी व्यवस्था**—स्त्री-श्रमिकों की उक्त समस्याओं को हल करने के लिए सरकार द्वारा कुछ कानून बनाये गये हैं जिनका उद्देश्य स्त्री-श्रमिकों की समस्याओं को हल करना है। ये कानून निम्न हैं :

(*a*) **१८९१ का कारख़ाना-अधिनियम**—स्त्री-श्रमिकों के लिए सबसे पहिले १८९१ में कानून बना कि उन से ११ घंटे से अधिक काम न लिया जाय, रात के ८ बजे से सवेरे ५ बजे के बीच काम न लिया जाय और दिन को काम के बीच १½ घंटा विश्राम के लिए छुट्टी दी जाय।

(*b*) **१९४८ का कारख़ाना-अधिनियम**—इसके बाद १९४८ में कानून बना जिसमें स्त्री-श्रमिकों को विशेष सुविधाएँ देने की व्यवस्था की गई। इस कानून के अनुसार जो व्यवस्था की गई वह निम्न थी :

१. स्त्री-श्रमिकों से ९ घंटे प्रतिदिन से अधिक काम नहीं लेना।
२. उनसे शाम ७ बजे से प्रातः ६ बजे तक काम नहीं लेना।
३. मशीन चलते समय उनसे इनकी सफ़ाई तथा तेल डालने का काम नहीं लेना।
४. किसी ख़तरनाक काम पर उन्हें नहीं लगाना।
५. ६५ पौंड से अधिक बोझ उनसे नहीं उठवाना।
६. दोपहर को विश्राम के अतिरिक्त बच्चों को दूध पिलाने की सुविधा देना।
७. जहाँ ५० से अधिक स्त्री-श्रमिक हों वहां शिशु-गृह बनवाना।

(*c*) **मातृत्व-लाभ कानून**—मातृत्व के कारण स्त्री-श्रमिकों को प्रसव से पहले तथा पीछे ६ सप्ताह का सवेतन अवकाश देने के लिए भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों ने नियम बनाये हुए हैं जिनकी चर्चा हम सामाजिक-सुरक्षा के अध्याय में करेंगे।

[बाल-श्रमिकों की समस्याएँ तथा सरकारी-अधिनियम]

(i) **बाल-श्रमिकों की समस्याएँ**—कारख़ानों, खानों, चाय-बग़ीचों में काम करने वाले बाल-श्रमिकों की अनेक समस्याएँ हैं जो निम्न हैं :

(*a*) बचपन में श्रम प्रारंभ करने से उन बच्चों की शिक्षा नहीं हो पाती।
(*b*) इससे देश में शिक्षा की दर कम हो जाती है।
(*c*) कठोर काम करने के कारण बच्चों का स्वास्थ्य गिर जाता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(*d*) कारखानों में बच्चों की अधिक संख्या होने से उत्पादन-दर गिर जाती है।

(*e*) बच्चों का व्यक्तित्व उभर नहीं पाता।

(*f*) बच्चे अपने अधिकारों को नहीं जानते इसलिए कानून निरर्थक हो जाते हैं।

(ii) **बाल-श्रमिकों की समस्याओं को हल करने के लिए सरकार द्वारा कानून की व्यवस्था**—बाल-श्रमिकों की उक्त समस्याओं को हल करने के लिए सरकार द्वारा कुछ कानून बनाये गये हैं जिनका उद्देश्य बाल-श्रमिकों की समस्याओं को हल करना है। वे कानून निम्न हैं :

(*a*) **१८८१ का कारखाना अधिनियम**—बाल-श्रमिकों के लिए सबसे पहले १८८१ में कारखाना-अधिनियम बना कि ७ वर्ष से कम आयु के बच्चों से काम न लिया जाय, ७ से १२ वर्ष की आयु के बच्चों से एक घंटा आराम का मिला कर ९ घंटे से अधिक काम लेना ग़ैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

(*b*) **१८९१ का कारखाना-अधिनियम**—१८९१ में जो कारखाना-अधिनियम बना उसके अनुसार ९ वर्ष से कम आयु के बच्चों से काम लेना अवैध घोषित कर दिया गया, ९ से १४ वर्ष की आयु के बच्चों से काम लिया जा सकता था, परन्तु उनके काम के घंटे ९ की जगह ७ कर दिये गये।

(*c*) **१९११ का कारखाना-अधिनियम**—१९११ के कारखाना-अधिनियम के अनुसार बच्चों के काम करने के घंटे प्रतिदिन ६ कर दिये गये और उनसे रात को काम लेने की मनाही कर दी गई।

(*d*) **१९२२ का कारखाना-अधिनियम**—१९२२ के कारखाना-अधिनियम के अनुसार १२ वर्ष से कम आयु के बालकों के काम पर लगाने पर रोक लगा दी गई, सायं ७ से प्रातः ५½ बजे तक बच्चों के काम पर लगाने का निषेध कर दिया गया, प्रति ४ घंटे के बाद आध घंटे का आराम देना आवश्यक कर दिया गया।

(*e*) **१९३४ का कारखाना-अधिनियम**—१९३४ के कारखाना-अधिनियम के अनुसार बच्चों के काम के घंटे प्रतिदिन ५ कर दिये गये। उन्हें भर्ती से पहले शारीरिक-योग्यता का प्रमाण पत्र देना आवश्यक हो गया।

(*f*) **१९४८ का कारखाना-अधिनियम**—१९४८ के कारखाना-अधिनियम के अनुसार १४ वर्ष से कम आयु के बच्चों के काम पर रोक लगा दी गई। काम के घंटे ४½ प्रतिदिन निश्चित कर दिये गये, सायं ७ बजे से प्रातः ६ तक उनसे काम लेने पर रोक लगा दी गई, १५ दिन के बाद १ दिन तथा बरस के बाद १४ दिन के सवेतन अवकाश देने का नियम बना दिया गया, भर्ती से पहले आयु का डाक्टरी प्रमाण-पत्र देना आवश्यक हो गया।

(*g*) **१९५२ का खान-अधिनियम**—१९५२ में खानों में काम करने वाले बालकों के लिए कानून बना कि १८ वर्ष से कम आयु के बालकों को खानों में न

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लगाया जाय, उन्हें भर्ती से पहले आयु का डाक्टरी प्रमाण-पत्र देना होगा, उनके काम के घंटे ४½ प्रतिदिन होंगे।

हमने इस अध्याय में श्रम-कल्याण की समस्याओं पर विचार किया। ये समस्याएँ सब एक-दूसरे से बढ़ कर हैं। इन समस्याओं के समाधान से ही मज़दूरों का कल्याण हो सकता है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि देश की एक बहुत बड़ी संख्या मज़दूरों के रूप में काम कर रही हैं। हमारी सब योजनाओं का भार इन्हीं के कन्धों पर है। जितना इनकी समस्याओं का हल होगा उतना ही ये लोग जी-जान लड़ाकर देश की योजनाओं को पूरा करेंगे। इनकी समस्याओं के हल में देश की समस्याओं का हल छिपा है।

प्रश्न

१. औद्योगिक नगरों में अत्यधिक भीड़-भाड़ की सीमा की विवेचना कीजिये। श्रमिकों के लिए अच्छे मकान निर्माण करने में सरकार, नगर-पालिकाओं, विकास ट्रस्टों तथा मालिकों ने क्या प्रयत्न किये हैं? (१९५१)

२. भारत-सरकार ने भारतीय कारखानों में काम करने वाली स्त्री-श्रमिकों तथा बाल-श्रमिकों की रक्षा के लिए क्या उपाय किये हैं? (१९५१)

३. भारत में युद्ध के उपरान्त नगरीकरण की समस्याओं का वर्णन कीजिये। औद्योगिक नगरों में अधिक भीड़-भाड़ की समस्याओं को सुलझाने में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों को कहाँ तक सफलता मिली है? अन्य सुझाव प्रस्तुत कीजिये। (१९५२)

४. अप्रत्यक्ष भर्ती पद्धति की बुराइयों का उल्लेख कीजिये। रोज़गार दफ्तर इस समस्या को हल करने में कहाँ तक सफल हुए हैं? (१९५५)

५. औद्योगिक नगरों में गन्दी बस्तियों के होने के क्या कारण हैं? सरकार, नगरपालिकाओं और मालिकों ने गन्दी बस्तियों को समाप्त करने के लिए कौन-से तरीके अपनाये हैं? (१९५९)

६. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये—औद्योगिक-निवास की समस्या। (१९६१)

७. श्रम-कल्याण पर टिप्पणियाँ लिखिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२७

श्रम-कानून
(LABOUR LEGISLATION)

१: भारत में श्रम-कानून का इतिहास*

भारत में श्रम-कानून के इतिहास को दो भागों में बाँटा जा सकता है। अंग्रेज़ों के भारत आने के बाद से प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४–१८) से पहले तक लगभग सौ वर्ष का एक काल है, उसके बाद आज तक का दूसरा काल है। प्रथम-काल में यहाँ श्रम-कानून लगभग न होने के बराबर था। इसका मुख्य कारण यह था कि तबतक कल-कारख़ाने इस देश में खोलना अंग्रेज़ों की नीति में ही नहीं था। उनकी नीति यह थी कि कच्चा माल यहाँ से विलायत जाय, और वहाँ तैयार होकर पक्का माल यहाँ आकर बिके। उनके लिए यह देश कच्चे माल की खान और पक्के माल की खपत का क्षेत्र था। मुनाफ़ा सब लंदन को मिलना चाहिए—यह उनकी नीति थी। प्रथम-युद्ध के समय जब बाहर से माल आना बन्द हो गया, तब यहाँ दबादब कारख़ाने खुलने लगे। पहले क्योंकि कारख़ाने कम थे इसलिए श्रमी भी कम थे, श्रम-कानून भी नहीं थे; जब कारख़ाने खुले तब श्रम-कानून भी घड़ाघड़ बनने लगे।

परन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि लड़ाई से पहले यहाँ श्रम-कानून थे ही नहीं। थे, परन्तु उनका उद्देश्य श्रमियों की समस्याओं को हल करना नहीं था, मालिकों की समस्याओं को हल करना था। सबसे पहले यहाँ चाय-बाग़ान का काम शुरू हुआ था। पहला बग़ीचा १८५० में आसाम में बना। उस समय सबसे बड़ी समस्या यह थी कि श्रमी कहाँ से आयें। जो आते थे, वे अंग्रेज़ मालिकों के दुर्व्यवहार तथा काम करने की कठिनाइयों को देख कर भाग खड़े होते थे। १८५९ तथा १८६० में इन श्रमियों के विरुद्ध यह कानून बना कि जो काम करने के इकरार को तोड़ कर भागेगा उसे सज़ा मिलेगी। साथ ही उस समय जो कानून

इस अध्याय से संबंध रखनेवाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं मे आ चुके हैं।

*** 1. Discuss the growth of labour legislation in India with particular reference to safety and welfare of workers. (1952)**

2. Give a brief history of labour legislation in India indicating the important provisions of the Act of 1948. (1959)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

बने वे सब प्रकार के श्रमियों की समस्याओं को हल करने के लिए, श्रमी-मात्र को सामने रखकर नहीं बने। चाय-बाग़ान के श्रमियों की समस्या खड़ी हुई तो बाग़ान के कानून बने, खानों की समस्या खड़ी हुई तो खानों के कानून बने, कपड़े की मिलों की समस्या खड़ी हुई तो कपड़े के कारखानों के मज़दूरों के संबंध में कानून बने, मज़दूर-मात्र के लिए कानून नहीं बने।

हमारे कथन का यह भी अभिप्राय नहीं है कि इस समय श्रम-कानून सदा मज़दूरों के खिलाफ़ और मालिकों के हक में ही बने। मज़दूरों के हक में भी बने, परन्तु उनका मुख्य उद्देश्य भी मज़दूरों का हित नहीं था। शुरू-शुरू में इस देश में जो मिलें बनीं वे मज़दूरों से सुबह से शाम तक काम लेती थीं, छोटे-छोटे बच्चों को हर समय काम में जोते रखती थीं, कम-से-कम खर्च कर ज्यादा-से-ज्यादा मुनाफ़ा कमाना पूंजीपतियों का उद्देश्य था। १८७० में लंकाशायर की कपड़े की मिलों के मालिकों को कहीं से पता चला कि बम्बई में एक कपड़े की मिल खड़ी हो गई है, जो धड़ाधड़ पैसा बना रही है और इसका कारण यह है कि इस देश में मज़दूरी पर कुछ खर्च ही नहीं पड़ता। इसका मतलब यह था कि यह मिल लंकाशायर से बहुत सस्ता कपड़ा बनाकर बेच सकती थी और लंकाशायर को नुकसान था। उन लोगों ने १८७४ में एक डेप्यूटेशन भारत-सचिव के पास भेज कर यह अनुरोध किया कि फ़ैक्टरी-एक्ट के जो कानून ब्रिटेन में लग रहे हैं वे ही भारत में भी लगाये जाँय। १८७५ में इस बात के लिए एक कमीशन बनाया गया। उसने सारी स्थिति की जाँच करके यह सिफ़ारिश की कि एक फ़ैक्टरी-कानून बनाया जाय जिसके अनुसार मज़दूरों से १० घंटे से ज्यादा काम न लिया जाय, बच्चों की न्यून-से-न्यून आयु नियत कर दी जाय, सप्ताह में एक दिन की छुट्टी हो, हवा-पानी का बन्दोबस्त हो। भारत के समाज-सुधारकों ने भी इस दिशा में आवाज़ उठानी शुरू की। अन्त में १८८१ में लंकाशायर के मिल-मालिकों तथा भारत के सुधारकों के उद्योग से पहला **फ़ैक्टरी-एक्ट** स्वीकृत हुआ। इसके बाद इसमें अनेक बार संशोधन हुए जिनका वर्णन हम फ़ैक्टरी-एक्ट पर विस्तृत विचार करते हुए करेंगे।

१९१४–१८ का जब प्रथम विश्व-युद्ध समाप्त हुआ तब लड़ाई की समाप्ति के साथ-साथ एक और बात हुई जिसने भारत में श्रम-कानूनों के बनने में बड़ा भाग लिया। प्रथम विश्व-युद्ध की समाप्ति पर 'वारसाई की संधि' हुई थी। इस संधि में यह कहा गया था कि हमें संसार का जो पुनर्निर्माण करना है उसमें सब के साथ न्याय होना चाहिए, सामाजिक-न्याय उस संधि का मूल मंत्र था। अगर सामाजिक-न्याय नहीं होगा, तो जिस वर्ग के साथ न्याय नहीं होगा, वह अशान्ति का केन्द्र बना रहेगा। जैसे पहले अछूत, अस्पृश्य आदि पीड़ित वर्ग हुआ करते थे वैसे औद्योगिक-युग में एक और पीड़ित-वर्ग उत्पन्न हो गया है, और वह है श्रमी-वर्ग। पहले का युग धर्म-प्रधान था, इसलिए उस समय धर्म-पीड़ित वर्ग बन गया, अब का युग धन-प्रधान है, इसलिए इस समय धन-पीड़ित वर्ग उत्पन्न हो गया है। इस श्रमी-वर्ग के अधिकारों की रक्षा न होगी, तो अशान्ति का बीज बना रहेगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस उद्देश्य से १९१९ में विश्व के श्रमियों की समस्याओं को हल करने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' (I. L. O.) की स्थापना की गई। इस संघ में संसार के बहुत-से देश शामिल हैं। १९६२ में सदस्य-राज्यों की संख्या १०२ थी। भारत १९१९ से इस संघ का सदस्य है और १९२२ से इसकी 'गवर्निंग बॉडी' का भी सदस्य है। उसके सारे खर्च का ५ से ७ प्रतिशत यह देश देता है। इस संघ का अपना दफ्तर है। १९६२ में इसके स्टाफ़ में ९७१ व्यक्ति थे। संघ की अपनी शासिका-सभा है जिसमें कुल ३२ सदस्य हैं। इन ३२ में १६ सदस्य भिन्न-भिन्न राज्य-सरकारों के, ८ मालिकों तथा ८ श्रमियों के हैं। इस प्रकार की इसकी रचना सरकार, मालिक तथा मज़दूर—इन तीन के कारण 'त्रि-दलीय' (Tripartite) है। इस संघ की तरफ़ से प्रति वर्ष अन्तर्राष्ट्रीय-कान्फ़रेंसें होती हैं जिनमें सदस्य-राष्ट्र अपने प्रतिनिधि भेजते हैं। इन कान्फ़रेंसों में कुछ 'सामाजिक-विधान' (Conventions) तथा कुछ 'सिफ़ारिशें' (Re-commendations) स्वीकृत होती हैं। इनमें भिन्न-भिन्न राज्यों को श्रमिकों के लिए जिन कानूनों को बनाना चाहिए, उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है, और सदस्य-राज्यों से यह आशा की जाती है कि अपने देश की शासिका-सभाओं द्वारा उन-उन 'सामाजिक-विधानों' तथा 'सिफ़ारिशों' को अपने यहाँ स्वीकृत कराकर चालू करायेंगे। जैसा हमने कहा, भारत शुरू से 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I.L.O.) का सदस्य रहा है और जहाँ तक हो सका है वहाँ स्वीकृत हुए 'सामाजिक-विधानों' (Conventions) को अपने यहाँ चलाने का प्रयत्न करता रहा है। १९३९ में जब द्वितीय महायुद्ध शुरू हुआ तब संघ का कार्यालय जेनेवा से कनाडा में मौन्टरीयल चला गया। द्वितीय युद्ध के दरमियान १९४४ में फ़िलेडलफ़िया में एक अन्तर्राष्ट्रीय-कान्फ़रेंस हुई जिसमें यह घोषित किया गया कि इस युद्ध के बाद श्रमियों के लिए सामाजिक-न्याय की उसी नीति को संसार के राष्ट्र अपनायेंगे जिसे वे प्रथम विश्व-युद्ध के बाद 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' के द्वारा अपनाते रहे हैं। द्वितीय-युद्ध के बाद से 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I. L. O.) तथा 'संयुक्त-राष्ट्र-संघ' (U. N. O.) दोनों का पूरा सहयोग चल रहा है। १९१९ से १९६२ तक 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ' ११८ 'सामाजिक-विधान' (Conventions) बना चुका था जिनमें से २७ को भारत अपना चुका था।

पहले तो अंग्रेज़ सरकार 'न्यूनतम हस्त-क्षेप' (Laissez-faire) की नीति की दुहाई देती थी। किसी प्रकार का श्रम-कानून नहीं बनाती थी। बनाती तो इसलिए नहीं थी क्योंकि यहाँ ज्यादातर अंग्रेज़ों ने ही कल-कारखाने खोले हुए थे, परन्तु जब देशी लोगों ने भी कारख़ाने खोलने शुरू कर दिये, लंकाशायर के मिल-मालिकों ने शोर मचाना शुरू किया और प्रथम-युद्ध के बाद 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' की स्थापना हुई और भारत उसका सदस्य बना तब से यहाँ राज्य ने श्रम-समस्या में दख़ल देना शुरू किया और श्रम-कानून बनने लगे। 'श्रम-कानून' केवल कपड़े की मिलों के लिए ही नहीं बने, बाग़ान के लिए भी बने,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खानों के लिए, यातायात के साधन रेलों तथा बसों के लिए, जहाज़ों-बन्दरगाहों के लिए—इन सब के लिए बने। इनके साथ-साथ श्रमी-मात्र के लिए भी श्रम-कानून बने, सिर्फ़ अलग-अलग उद्योगों के लिए नहीं, अपितु उद्योग-मात्र के लिए, श्रमी-मात्र के लिए, हर उद्योग के श्रमियों के झगड़ों को निपटाने के लिए कानून बने। हम पहले भिन्न-भिन्न उद्योगों से संबंध रखने वाले श्रम-कानूनों का वर्णन करेंगे, फिर श्रमी-मात्र से संबंध रखने वाले कानूनों का वर्णन करेंगे। भिन्न-भिन्न उद्योगों में कल-कारख़ानों के लिए **फ़ैक्टरी-एक्ट** पास हुआ, खान, बाग़ान, यातायात आदि के लिए अलग-अलग कानून बने। हम पहले फ़ैक्टरियों के, फिर खानों, बाग़ान, यातायात आदि के कानूनों का क्रमशः वर्णन करेंगे।

२. फ़ैक्टरियों के लिये कानून*

जैसा हम अभी कह आये हैं, भारतवर्ष में पहली फ़ैक्टरी उन्नीसवीं शताब्दी के मध्यकाल में खुली। लंकाशायर के मिल-मालिकों को जब पता चला कि उसमें मज़दूरों के काम लेने पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, और वह कारख़ाना धड़ाधड़ पैसा बना रहा है, तो उन्होंने आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन के फलस्वरूप १८८१ में पहले-पहल फ़ैक्टरी-एक्ट पास हुआ।

पहला फ़ैक्टरी-एक्ट (१८८१)—इसके अनुसार फ़ैक्टरी वह थी जो साल में कम-से-कम चार महीने या इससे ज्यादा समय तक काम करती थी और १०० या इससे ज्यादा मज़दूर जिसमें काम करते थे। इस कानून द्वारा ७ वर्ष से नीचे के बच्चों से काम लेने की मनाही की गई और ७ से १२ वर्ष की आयु के बच्चे ९ घंटे से ज्यादा काम नहीं कर सकते थे। काम के बीच १ घंटे का उन्हें अवकाश तथा महीने में ४ दिन की छुट्टी आवश्यक थी। ख़तरनाक मशीन को घेर कर रखना, अगर कोई दुर्घटना हो जाय तो उसकी रिपोर्ट करना, और इन कानूनों को क्रियान्वित करने के लिए फ़ैक्टरी-इन्स्पेक्टरों का नियुक्त करना ज़रूरी कर दिया गया। वयस्क स्त्री-पुरुष मज़दूरों के लिए इस कानून में कुछ नहीं कहा गया, उनके संबंध में उचित-अनुचित का फ़ैसला मिल-मालिक की मर्ज़ी पर छोड़ दिया गया।

दूसरा फ़ैक्टरी-एक्ट (१८९१)—१८८१ के कानून से लंकाशायर संतुष्ट नहीं हुआ। उन्होंने भारत-सचिव के पास फिर फ़र्माइश की कि इतने से तो कुछ नहीं बना। १८८४ में फिर एक कमीशन बनाया गया जिसने बच्चों तथा स्त्रियों के संबंध में ऐसे कानून बनाने का परामर्श दिया जिससे उनसे ज्यादा काम न लिया जा सके। अन्त में १८९१ में पहले फ़ैक्टरी-एक्ट को बदला गया। पहला कानून तो १०० मज़दूरों के कारख़ानों पर लगता था, यह कानून ५० या इससे ज्यादा मज़दूरों के उन कारख़ानों पर लगाया गया जिनमें हाथ के बजाय भाप आदि शक्ति (पॉवर) से काम लिया जाता था। राज्य-सरकार की इच्छा

---

* **Give a brief history of labour legislation in India. (1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

पर छोड़ दिया गया कि वह चाहे तो २० मज़दूरों के कारख़ानों को भी इस कानून के अन्तर्गत कर सकती है। इस कानून के अनुसार ९ साल के नीचे के बच्चे को कारख़ाने में भर्ती नहीं किया जा सकता था। ९ से १४ साल के व्यक्ति बच्चे गिने जायेंगे, और ७ घंटे से ज़्यादा काम नहीं कर सकेंगे। स्त्रियाँ तथा बच्चे सुबह ८ से लेकर ५ बजे तक ही काम कर सकेंगे, आगे-पीछे नहीं। स्त्रियाँ ११ घंटे काम कर सकेंगी, परन्तु इस बीच उन्हें डेढ़ घंटा आराम के लिए देना होगा। सप्ताह में १ दिन की छुट्टी की सब प्रकार के श्रमियों के लिए व्यवस्था की गई। फ़ैक्टरियों के निरीक्षण, शुद्ध-वायु तथा स्वास्थ्य-प्रबन्ध का भी इस कानून में ध्यान रखा गया।

तीसरा फ़ैक्टरी-एक्ट (१९११)—१९०५ में जब बम्बई की मिलों में बिजली का प्रवेश हुआ तब तो रात को भी काम करना संभव हो गया, और मिल-मालिकों ने दिन-रात कारख़ाने चलाने शुरू किये। मज़दूरों से देर-देर तक काम लिया जाने लगा। ख़ासकर कलकत्ते की जूट की मिलों में तो मज़दूरों को बहुत काम करना पड़ता था। इससे फिर लंकाशायर चौकन्ना हो उठा। भारत के समाज-सुधारकों ने भी काफ़ी आन्दोलन किया। इन सब आन्दोलनों के फल-स्वरूप १९११ का कानून बना। इस कानून में फ़ैक्टरी की परिभाषा तो वही रही जो १८९१ में थी, परन्तु फ़ैक्टरी कानून में पहली बार यह कानून बना कि मज़दूर से १२ घंटे से ज़्यादा काम नहीं लिया जा सकता, साथ ही बीच में उसे १ घंटा विश्राम के लिए देना होगा। अबतक स्त्रियों और बच्चों के लिए तो कानून ने कुछ राहत दी थी, पुरुषों के लिए कोई कानून नहीं था, उनसे ग़ुलामों की तरह जितने घंटे चाहे काम लिया जाता था। बच्चों के लिए ६ घंटे से अधिक काम करना निषिद्ध ठहराया गया, रातपाली उनके लिए हटा दी गई। स्त्रियों के ११ घंटे काम के निश्चित किये गए थे, वे तो वैसे ही रखे गए, परन्तु उनके विश्राम का समय डेढ़ घंटे से घटा कर १ घंटा कर दिया गया। उनके लिए भी रातपाली की मनाही रखी गई। अबतक मौसमी कारख़ाने इस एक्ट के अन्दर नहीं आते थे। १९११ के कानून को विस्तृत करके मौसमी कारख़ानों को भी इस एक्ट में शामिल कर दिया गया, उन पर भी ये नियम लागू होने लगे। बच्चों के लिए उनकी आयु का डाक्टरी सर्टिफ़िकेट होना लाज़मी कर दिया गया ताकि मिल-मालिक बच्चों को भर्ती करके यह न कहने लगें कि ये पूरे आदमी हैं और उनसे आदमियों जितना काम लेने लगें।

चौथा फ़ैक्टरी-एक्ट (१९२२)—१९१४–१८ में प्रथम विश्व-युद्ध हुआ जब कि बाहर से माल इस देश में आना कम हो गया। उस समय कल-कारख़ानों की यहाँ बहुत वृद्धि हुई। मुनाफ़ा बढ़ने लगा, यह देखकर मज़दूर ने भी चिल्लाना शुरू किया कि उसे भी कुछ मिलना चाहिए। इस कानून में फ़ैक्टरी की परिभाषा को और अधिक विस्तृत किया गया। १८९१ तथा १९११ में ताकत से चल रहे ५० मज़दूरों के कारख़ाने को इस कानून में गिना गया था, १९२२ में २० मज़दूरों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से ऊपर के कारख़ानों को जिनमें ताक़त से काम होता था इस कानून में लाया गया। सरकार चाहे तो २० मज़दूरों से कम के कारख़ानों पर भी यह कानून लगा सकेगी—यह भी साथ जोड़ दिया गया। वयस्क-मज़दूर के लिए काम करने के घंटे १२ की जगह ११ कर दिये गए। सप्ताह में ६० घंटों से ज़्यादा उससे काम नहीं लिया जा सकता था। बच्चों के लिए ६ घंटे काम रखा गया, परन्तु १८८१ में ७ से १२ साल, १८९१ में ९ से १४ साल तथा १९२२ में बच्चों की आयु १२ से १५ साल कर दी गई। इससे नीचे की आयु के बच्चे फ़ैक्टरी में काम नहीं कर सकते थे, और इससे ऊपर की आयु के लोग ही वयस्क समझे जा सकते थे। स्त्रियाँ तथा बच्चे सायंकाल ७ से प्रातःकाल ५.३० तक काम पर नहीं लगाये जा सकते थे। ४ घंटे काम करने के बाद बच्चों को आधा घंटा विश्राम के लिए देना होता था, रविवार या अन्य किसी वार सप्ताह में एक दिन की छुट्टी ज़रूरी थी। ६ घंटों के बाद तो हर-एक श्रमी को १ घंटे का विश्राम आवश्यक था। इसके बाद इस एक्ट में दो बार संशोधन हुआ और १८५९ तथा १८६० के उन कानूनों को भी रद्द कर दिया गया जिनके अनुसार काम पर न आने पर मज़दूरों को सज़ा हो सकती थी, जो कानून शुरू-शुरू में मिल-मालिकों के हित में बनाये गए थे।

पाँचवाँ फ़ैक्टरी-एक्ट (१९३४)—१९२८ में 'रॉयल लेबर कमीशन' नियुक्त हुआ जिसने १९३१ में अपनी रिपोर्ट पेश की। इस के अनुसार १९३४ का यह संशोधन हुआ। इसके अनुसार फ़ैक्टरियों के दो विभाग किये गए—बारहमासी (Perennial) तथा मौसमी (Seasonal)। जो फ़ैक्टरियाँ साल में छः महीने से ऊपर चलती थीं, वे 'बारहमासी', जो साल में १८० घंटे से कम चलती थीं, वे 'मौसमी' मानी गईं। बारहमासी में काम करने के घंटे प्रतिदिन १० तथा प्रति सप्ताह ५४ एवं मौसमी में ११ तथा ६० निश्चित किये गए। बच्चों के काम के घंटे ६ से घटा कर ५ कर दिये गए। इस एक्ट के अनुसार एक नई बात की गई और वह थी 'फैलाव' (Spread over) के सिद्धान्त का एक्ट में समावेश। 'फैलाव' का मतलब क्या है? कई धंधे ऐसे हैं जिनमें श्रमी सुबह से काम करने आता है, शाम तक रहता है। बीच में उसे ३–४ घंटे की छुट्टी दे दी जाती है। वह इन ३–४ घंटों से कोई काम नहीं ले सकता। एक तरह से उसका सारा दिन बेकार जाता है। इस 'फैलाव' के सिद्धान्त का यह अर्थ था कि अगर इस प्रकार काम लेना हो, तो फैला कर ज़्यादा-से-ज़्यादा इतने घंटे में मज़दूर को काम से छुट्टी मिल जानी चाहिए। इस कानून में मज़दूर के काम के घंटे १० रखे गए थे, परन्तु 'फैलाव' के सिद्धान्त से वे १३ घंटे से अधिक नहीं होने चाहिएँ—यह निश्चित किया गया। बच्चे के काम करने के घंटे ५ रखे गए थे, परन्तु 'फैलाव' से वे ६½ घंटे से ज़्यादा नहीं बढ़ने चाहिएँ। ओवर-टाइम के लिए निश्चित किया गया कि वेतन से ड्योढ़ा देना होगा। इस कानून में श्रमियों का एक और वर्ग बनाया गया। अभी तक 'बच्चे' (Children) तथा 'वयस्क' (Adults) ये दो वर्ग थे, अब 'युवा' (Adolescents)—यह तीसरा वर्ग बनाया गया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१५ से १७ वर्ष आयु के बालक 'युवा' समझे जायेंगे, 'वयस्क' नहीं, और उनको बच्चों की सब सुविधाएँ प्राप्त होंगी।

छठा फ़ैक्टरी-एक्ट (१९४६)—१९३४ के बाद सात बार इस कानून में रद्दो-बदल हुई और फिर १९४६ का कानून बना। इसके बाद १९४७ में भी सुधार हुआ, १९४८ में भी हुआ। १९४८ का सुधार तो बहुत गहरा था इसलिए उसका वर्णन हम पृथक् तौर पर करेंगे। १९४६ में एक ज़रूरी सुधार यह हुआ कि बारहमासी कारखानों में काम के घंटे १० से घटाकर ९ प्रतिदिन तथा ५४ से घटा कर ४८ प्रति सप्ताह एवं मौसमी कारखानों में ११ से घटा कर १० तथा ६० से घटा कर ५४ कर दिये गए। 'फैलाव' को भी घटाकर बारहमासी तथा मौसमी में १३ से घटाकर क्रमशः १० तथा ११ कर दिया गया। ओवर-टाइम का पैसा डेढ़ गुणा से दुगुना कर दिया गया। १९४७ के संशोधन के अनुसार २५० श्रमियों से अधिक के कारख़ानों में कैन्टीन रखने का भी कानून बना।

[फ़ैक्टरी-एक्ट १९४८] *

१९३४ के कानून में अन्य भी कई दोष पाये गए इसलिए १९४८ में इन सब दोषों के निराकरण के लिए १९४८ का एक विस्तृत कानून बनाया गया। यह विस्तृत कानून आजकल सब फ़ैक्टरियों पर लागू हो रहा है इसलिए इसकी विशेष रूप से जानकारी आवश्यक है। इस कानून की विस्तृत रूप-रेखा निम्न है :—

क्षेत्र—इस कानून के क्षेत्र में जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर भारत के वे सब कारख़ाने आ जाते हैं जिनमें अगर ताकत से काम लिया जाता है, तो १० या इससे ज्यादा मज़दूर काम करते हों, अगर ताकत से काम नहीं लिया जाता तो २० या इससे ज्यादा मज़दूर काम करते हों।

स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा श्रमी-कल्याण—श्रमियों के स्वास्थ्य तथा कल्याण एवं उनकी सुरक्षा के लिए इस कानून में विस्तृत धाराएँ बनाई गई हैं। सफ़ाई, प्रकाश, हवा के लिए निश्चित नियम बनाये गए हैं, कूड़ा-कर्कट को हटाने, गर्द-धुँआ दूर करने, थूकने की व्यवस्था के संबंध में भी धाराएँ दी गई हैं। यह भी कहा गया है कि फ़ैक्टरी का तापमान नियन्त्रित रखना होगा, ठंड में गर्मी तथा गर्मी में ठंड की व्यवस्था करनी होगी। २५० से ज्यादा मज़दूर जहाँ हों वहाँ गर्मियों में ठंडा पानी पिलाने का प्रबन्ध होना चाहिए। इस कानून से पहले बने कारख़ानों में प्रतिव्यक्ति ३५० घन-फ़ुट तथा बाद में बने कारख़ानों में प्रतिव्यक्ति ५०० घन-फ़ुट जगह अवश्य होनी चाहिए। श्रमियों को चोट आदि न लगे इसके लिए जो उपाय मिल-मालिक को बरतने चाहिएँ, वे सब इस कानून में दे दिये गए हैं। वयस्क, युवा, बच्चे तथा स्त्रियाँ कितना बोझा ढो सकते हैं—इसकी भी व्यवस्था की गई है। नहाने-धोने, फ़र्स्ट-एड, कैन्टीन, आराम-गृह, शिशु-गृह आदि का भी विधान है। १९४८ के कानून में यह नई बात जोड़ी गई कि मज़दूरों के बैठने के

---

* **Indicate the important provisions of the Act of 1948. (1959)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

लिए अलग स्थानों का प्रबन्ध होना चाहिए, उनको कपड़े धोने और उन्हें सुखाने की पूरी-पूरी सुविधा और उसकी व्यवस्था होनी चाहिए। इन श्रम-कल्याण-योजनाओं में श्रमियों के प्रतिनिधि मालिकों के साथ मिल-जुल कर इन कल्याण-योजनाओं को पूरा करायें—इसके लिए भी इस कानून में नियम बनाने का अधिकार राज्य-सरकार को दिया गया है। अगर किसी कारखाने में ५०० मज़दूर होंगे, तो वहाँ कारखाने के मालिक को वेलफ़ेयर-आफ़िसर रखना होगा।

'युवाओं' (Adolescents) का मज़दूरी करना—यह निश्चित कर दिया गया है कि १४ साल से कम आयु का बालक मज़दूरी नहीं कर सकता। १५ से १८ साल की आयु के बालक युवा समझे जायेंगे, और उन पर बच्चों के नियम लगेंगे। कोई बालक तब तक कारखाने में मज़दूरी नहीं कर सकेगा जब तक उसके पास सर्टिफ़िकेट देने वाले सर्जन का उसकी आयु को प्रमाणित करने का पत्र नहीं होगा। यह पत्र उसके पास, जब भी वह काम कर रहा हो, होना चाहिए। एक साल के बाद दुबारा प्रमाण-पत्र लेना होगा।

काम करने के घंटे—इस कानून के अनुसार 'वयस्क' ९ घंटा प्रतिदिन एवं ४८ घंटे प्रति सप्ताह काम कर सकता है। 'फ़ैलाव' की हालत में दिन में १०½ घंटे। ५ घंटे काम करने के बाद ½ घंटा अवकाश अवश्य होगा। बच्चों तथा युवाओं के लिए काम के घंटे ५ से ४½ कर दिये गए हैं, फैलाव से ५ घंटे। कुछ सीमाओं में राज्य-सरकारों को किन्हीं-किन्हीं व्यवसायों में कुछ व्यक्तियों को छूट देने का भी अधिकार है, किन्तु किसी भी हालत में १० घंटों से, और फैलाव की हालत में वयस्कों से १२ घंटों से ज़्यादा काम नहीं लिया जा सकता। सप्ताह में ५० घंटे से अधिक काम नहीं कराया जा सकता। ओवर-टाइम मज़दूरी से दुगुना देना होगा।

वेतन-सहित अवकाश— इस कानून में यह व्यवस्था की गई है कि साप्ताहिक छुट्टी के अतिरिक्त हर वयस्क को १२ मास के निरन्तर सेवा-काल के पश्चात् प्रत्येक २० दिन पर १ दिन के हिसाब से कम-से-कम १० दिन की छुट्टी देनी होगी। बच्चों तथा युवाओं को १५ दिन पर १ दिन की और साल की सेवा के बाद कम-से-कम १४ दिन की छुट्टी।

धंधे के रोग—अगर कोई मज़दूर काम करता हुआ आहत हो जाय, मर जाय या उसे कोई विकार हो जाय जिसका उस धंधे से संबंध हो, तो उसकी फ़ौरन रिपोर्ट देनी होगी। इन कारखानों में जो डाक्टर काम करते हैं उनकी भी यह कानूनी ज़िम्मेवारी है कि इस प्रकार की कोई बात उनके ध्यान में आये, तो उसे फ़ौरन फ़ैक्टरी के इंस्पेक्टर के नोटिस में लायें। कारखाने में जो चीज़ें बनती हैं उनके नमूने लेकर उन पर इस बात की जाँच करने का कि इनसे मज़दूरों को कोई रोग तो नहीं हो सकता, इंस्पेक्टर को पूरा अधिकार है। कोई वाकया हो जाय, तो उस पर राज्य-सरकार जाँच-कमेटी बैठा सकती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

प्रबन्ध—इस एक्ट के अनुसार १० मज़दूरों की ताकत से काम करने वाली तथा २० मज़दूरों की बिना ताकत से काम करने वाली सभी फ़ैक्टरियाँ इस कानून के अन्दर आ गईं। इसका नतीजा यह हुआ कि जहाँ १९४८ से पहले फ़ैक्टरी-एक्ट में कुल १६,००० फ़ैक्टरियाँ थीं, वहाँ १९४८ से १९५३ तक इस एक्ट के कारण उनकी संख्या ३२,३३० हो गई। इतने भारी काम के निरीक्षण के लिए निरीक्षकों की आवश्यकता भी बहुत बढ़ गई। इतने निरीक्षक थे नहीं, इसलिए इस कानून के बनने के बावजूद अनेक स्थानों पर इसके अनुसार काम नहीं हो सका, न हो रहा है। १९४९ में २०.१ प्रतिशत, १९५० में १०.५ प्रतिशत, १९५१ में १४.० प्रतिशत, १९५२ में १६.८ प्रतिशत तथा १९५३ में १५.४ प्रतिशत फ़ैक्टरियों का निरीक्षण नहीं हुआ था क्योंकि इतने निरीक्षक नहीं थे।

फ़ैक्टरी-एक्ट (१९५४)—१९४८ के बाद १९५४ में भी थोड़ा-बहुत संशोधन हुआ परन्तु अस्ली एक्ट जो इस समय चालू है वह १९४८ का ही है। १९४८ के एक्ट में १२ मास निरन्तर सेवा-काल का ज़िक्र था, १९५४ के संशोधन में १२ मास का अर्थ २४० दिन कर दिया गया।

हमने देखा कि १८८१ से १९५४ तक फ़ैक्टरी-एक्ट में अनेक परिवर्तन हुए। किस प्रकार क्रमशः काम करने के घंटे कम हुए, छुट्टियाँ बढ़ती गईं, बच्चों से मज़दूरी कराने को कम किया गया—इस सब का क्रमिक-विकास निम्न चित्र-पट से स्पष्ट हो जायगा :—

फ़ैक्टरी-एक्ट के विकास का चित्र

साल	फ़ैक्टरी में काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या	वयस्कों के काम के घंटे	स्त्रियों के काम के घंटे	बच्चों तथा युवाओं के काम के घंटे	बच्चों की काम की आयु	आराम का समय	छुट्टी	अन्य बातें
१८८१	१००	जितने घंटे चाहो	जितने घंटे चाहो	९ घंटे	७ से १२ वर्ष	बच्चों को १ घंटा	केवल बच्चों को मास में ४ दिन	४ मास काम करने वाली फ़ैक्टरी इस कानून में है।
१८९१	ताकत से चलने वाले कारखानों में ५०, दूसरे १००	,,	११ घंटे	७ घंटे	९ से १४	बच्चे १ घं. वयस्क ½ घं. स्त्री १½ घं.	सब के लिए सप्ताह में १ दिन	

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९११	"	१२ घंटे	११ घंटे	६ घंटे (बच्चे होने का सर्टी-फ़िकेट भी साथ चाहिए)	"	बच्चे १ घं. वयस्क १ घं. स्त्री १ घं.	"	४ मास से कम भी काम करने वाली सब मौसमी फ़ैक्टरी इसमें आ गईं।
१९२२	ताकत से चलने वाले कारख़ानों में २० मजदूरों पर लागू	११ घं. प्रतिदिन ६० घंटे प्रति सप्ताह	११ घं. प्र. दि. ६० घं. प्रति सप्ताह	६ घंटे	१२ से १५ वर्ष	बच्चे ४ घंटे बाद ½ घंटा और अन्य ६ घंटे बाद १ घंटा	सब के लिए सप्ताह में १ दिन छुट्टी	१८५९-१८६० के कानून रद्द कर दिये गए।
१९३४	"	बारहमासी में १० घं. प्रतिदिन या ५४ घं. प्रति सप्ताह; मौसमी में ११ घं. प्रति दिन या ६० घं. प्रति सप्ताह	जैसे पुरुषों के वैसे स्त्रियों के (१० घं.) प्रतिदिन	५ घंटे	१२ से १५ बच्चे कहायेंगे और १५ से १७ युवा कहायेंगे जो बच्चे माने जायेंगे	"	"	(१) १८० दिन से कम चलने वाली 'मौसमी' और ६ मास से ज्यादा चलने वाली बारहमासी कही गईं (२) फैलाव का सिद्धान्त लगा (३) युवा-वर्ग बनाया गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
Digitized by Arya-Samaj Foundation Chennai and eGangotri

१९४६	ताकत से चलने वाले कारखानों में २० मजदूरों पर लागू	बारहमासी में ९ घंटा रोज ४८ घं. सप्ताह; मौसमी में १० घं. रोज ५४ घं. प्रति सप्ताह	जैसे पुरुषों के वैसे स्त्रियों के (९ घं.) प्रतिदिन	५ घंटे	१२ से १५ बच्चे कहायेंगे और १५ से १७ युवा कहायेंगे जो बच्चे माने जायेंगे	बच्चे ४ घंटे बाद ½ घंटा और अन्य ६ घंटे बाद १ घंटा	सब के लिए सप्ताह में १ दिन छुट्टी	—
१९४८	ताकत से चलने वाले कारखानों में १० तथा बिना ताकत वालों में २० मजदूरों पर लागू होगा	९ घं. रोज ४८ घं. सप्ताह और फैलाव से १०½ घं०	जैसे पुरुषों वैसे स्त्रियों के घं. (९ घं.) प्रतिदिन	४½ घंटे और फैलाव से ५ घंटे	बच्चे १४ और युवा १५ से १८ वर्ष	,,	सप्ताह में १ दिन के अतिरिक्त वयस्क २० दिन पर १ और बच्चे तथा युवा १५ दिन पर १ दिन साधिकार अवकाश	बारहमासी और मौसमी का भेद हटा दिया गया। सब तरह के कारखानों पर यह कानून लागू होगा
१९५४	—	—	—	—	—	—	—	१२ मास का अर्थ २४० दिन किया गया

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.
Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. खानों के लिए कानून

१८९० में बर्लिन में एक अन्तर्राष्ट्रीय-कान्फ्रेंस हुई थी जिसमें खानों के विषय में विचार-विमर्श हुआ था। भारत-सरकार ने भी अपना प्रतिनिधि वहाँ भेजा था। वहाँ के विचार-विमर्श के अनुसार इस देश में भी १८९४ में एक खान-निरीक्षक नियत किया गया। अभी तक कोई इंडियन-माइन-एक्ट नहीं बना था। १९०१ में पहला माइन-एक्ट बना जिसके अनुसार कानूनी तौर पर खान-निरीक्षक नियत किये गये। इससे पहले एक निरीक्षक नियत किया गया था, परन्तु क्योंकि तब तक कोई एक्ट नहीं बना था इसलिए वह सरकार ने ही अपनी तरफ़ से नियत कर दिया था, १९०१ में तो एक्ट ही बन गया। यह एक्ट १९२३ में संशोधित होकर एक नये रूप में आया।

इंडियन माइन्स-एक्ट (१९२३)—यह एक्ट सब खानों पर लागू किया गया। खान की परिभाषा यह की गई कि वह खुदाई जो खनिज पदार्थों के ढूँढने या पाने के लिए की जा रही है, खान कहलायेगी। खान में श्रमी खान के बाहर तथा भीतर, ज़मीन से ऊपर या नीचे काम करते हैं। ऊपर वालों के लिए अलग और नीचे वालों के लिए अलग नियम बनाये गये। ऊपर वालों के लिए ६० घंटे तथा नीचे वालों के लिए काम के ५४ घंटे प्रति सप्ताह नियत किये गये। सप्ताह में १ दिन की छुट्टी थी। १३ साल से कम का कोई बालक नीचे काम नहीं कर सकता। इस समय ४५ प्रतिशत मज़दूरों का काम औरतों से लिया जाता था। शुरू-शुरू में उनको हटा देने से काम ही रुक जाता इसलिए उन पर कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया गया, परन्तु इस दिशा में सुधार की आवश्यकता तो थी ही, इसलिए १९२९ में सरकार ने नियम बना दिया कि औरतों से खानों में नीचे काम नहीं लिया जायगा, उनसे ऊपर का जो काम लिया जा सके ले लिया जाय। इसके बाद इस कानून में अनेक बार संशोधन होते रहे। 'रॉयल-लेबर-कमीशन' ने कई संशोधनों की तरफ़ निर्देश किया था, वे भी हुए। १९३४, १९३७, १९४०, १९४६ में इस कानून में कई बार संशोधन हुए।

माइन्स-एक्ट (१९५२)—हम पहले देख आये हैं कि १९४८ में फ़ैक्टरी-एक्ट में विस्तृत संशोधन हुआ था। इस संशोधन के बाद आवश्यकता अनुभव हुई कि श्रम-संबंधी अन्य कानूनों को भी १९४८ के फ़ैक्टरी-एक्ट के समकक्ष लाया जाय। इस दृष्टि से खानों से संबंध रखने वाले कानून में भी १९५२ में संशोधन हुआ। १९५२ का संशोधित खान-कानून निम्न है :—

क्षेत्र—जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर यह कानून भारत की उन सब खानों पर लागू होगा जिनका उद्देश्य खनिज-पदार्थों को ढूँढना या पाना होगा। इसमें हर प्रकार की मशीन, वर्क-शाप, बिजली-घर जिसका संबंध किसी खान के काम से होगा शामिल समझी जायगी।

स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा श्रमी-कल्याण—हर कानून में मज़दूर के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा कल्याण का ध्यान रखा जाता है इसलिए इस कानून में कहा गया कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सब खानों में ऊपर तथा नीचे काम करने वालों के लिए पीने के पानी का प्रबन्ध होना चाहिए, सुविधाजनक स्थानों पर शौचालय तथा मूत्रालय होने चाहिएँ। फ़र्स्ट-एड बक्स हो, १५० श्रमियों के पीछे एक अलमारी हो जिसमें निश्चित वस्तुएँ हर समय मौजूद रहें। ये सब किसी ऐसे व्यक्ति की देख-रेख में होनी चाहिएँ जो थोड़ी-बहुत दवाई करना जानता हो। ५०० से ज़्यादा श्रमियों की खान में एम्बूलेंस गाड़ी हो, स्ट्रेचर हों और इन वस्तुओं का उपयोग करने में सधा हुआ स्टाफ़ हो। अगर खान-निरीक्षक स्वास्थ्य के लिए अन्य किन्हीं बातों की आवश्यकता समझें तो सब बातें कराने का उन्हें अधिकार है। कोई खान असुरक्षित प्रतीत होती हो, तो उसमें निरीक्षक तबतक काम रोक सकते हैं जब तक उसमें काम करना खतरे से खाली नहीं बना दिया जाता। अगर कहीं कोई दुर्घटना हो जाय, तो उसकी सूचना तत्काल देनी होगी, हर दुर्घटना की जाँच करानी होगी। सरकार किसी बीमारी को खान की खास बीमारी घोषित कर सकती है। जब कोई बीमारी सरकार द्वारा खान की बीमारी घोषित कर दी जाय, तब हर ऐसे बीमार की सूचना निरीक्षक को देनी होगी। ऐसे बीमार जब खान के डाक्टर के ध्यान में आयें, तो उनकी सूचना निरीक्षक को देना डाक्टर का कर्त्तव्य होगा। अगर खान की खास बीमारियों से कहीं रोगी मरेगा, तो उस पर सरकार को जाँच-कमेटी बैठाने का अधिकार होगा। इस कमेटी की जाँच प्रकाशित कर दी जायगी। केन्द्रीय-सरकार को अधिकार होगा कि खान के प्रबन्धकों की योग्यता के संबंध में, सामान जमा रखने के संबंध में, बारूद के संबंध में, खान के खतरनाक स्थानों के संबंध में, हवा, रोशनी, सुरक्षा आदि के संबंध में नियम बनाये। केन्द्रीय-सरकार खानों के लिए शिशु-गृहों, स्त्री-पुरुषों के लिए पृथक्-पृथक् स्नान-गृहों, १५० से ज़्यादा मज़दूरों वाली खानों में मज़दूरों के लिए आराम-गृहों, कैन्टीनों तथा ५०० से ज़्यादा मज़दूरों वाली खानों के लिए कल्याण-अधिकारी रखने के नियमों को बना सकती है।

युवाओं का मजदूरी करना—१५ वर्ष से कम का बालक खान में मज़दूरी नहीं कर सकेगा। ऐसे बालकों का खान के अन्दर या बाहर, जहाँ खुदाई चल रही हो, आना-जाना भी मना है, खुदाई में गोला-बारूद भी तो चलता है जिसमें अनजाने बालक कहीं घिर सकता है। १५ से १८ वर्ष के बालक ज़मीन के नीचे मज़दूरी कर सकते हैं, परन्तु इन्हें 'युवा' (Adolescent) समझा जायगा, 'वयस्क' (Adult) नहीं समझा जायगा। इन युवाओं से नीचे काम नहीं लिया जा सकेगा जबतक उनके नीचे काम करने के योग्य होने का डाक्टरी सर्टिफिकेट न होगा, वह सर्टिफिकेट उन्हें हर समय अपने पास रखना होगा और उन्हें हर ४½ घंटे के काम के बाद आधा घंटा विश्राम के लिए देना होगा। यह सर्टिफिकेट हर साल नया बदलना होगा। अगर सर्टिफ़िकेट देते हुए चिकित्सक अनुभव करे कि 'युवा' के स्वास्थ्य की हालत खान में नीचे काम करने की नहीं, तो वह ऐसा सर्टिफ़िकेट देने से इन्कार कर सकता है। इन 'युवाओं' के अतिरिक्त, खान में

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम करने वाले 'वयस्कों' की आयु १८ वर्ष या इससे ऊपर की निर्धारित की गई है।

काम करने के घंटे—वयस्क ९ घंटे प्रतिदिन तथा ४८ घंटे प्रति सप्ताह ज़मीन के ऊपर काम करेगा। ज़मीन के नीचे ८ घंटे प्रतिदिन तथा ४८ घंटे प्रति सप्ताह। जो मशीनें हर समय चलती हैं, उनके लिए सप्ताह में ५४ घंटे का समय दे दिया गया है। ५ घंटे के बाद आध घंटे का 'वयस्क' के लिए आराम आवश्यक है। 'युवा' जिसे 'वयस्क' की तरह काम करने का सर्टिफ़िकेट नहीं मिला ४½ घंटे से ज़्यादा काम नहीं कर सकेगा। स्त्रियों से खान के नीचे काम लेना निषिद्ध है। उनसे सायंकाल ७ बजे के बाद से प्रातः ६ बजे तक काम नहीं लिया जा सकता। किन्हीं खास-खास अवस्थाओं में केन्द्रीय-सरकार स्त्रियों तथा युवाओं के संबंध में रात में काम करने पर से प्रतिबन्ध उठा सकती है, परन्तु फिर भी रात के १० बजे से सवेरे के ५ बजे तक तो किसी भी हालत में उनसे काम नहीं ले सकते। ओवर-टाइम मिला कर १० घंटे रोज़ से ज़्यादा किसी से काम नहीं लिया जा सकेगा। ओवर-टाइम के लिए ज़मीन के नीचे काम करने वालों को वेतन से दुगुना और ऊपर वालों को वेतन से ड्योढ़ा मिलेगा।

वेतन-सहित अवकाश—सप्ताह में १ दिन छुट्टी के अलावा इस कानून के अनुसार खानों में काम करने वाले श्रमियों को १२ मास लगातार काम करने पर अगर उसे वेतन मासिक मिलता है तो १४ दिन का और अगर साप्ताहिक मिलता है तो ७ दिन का वेतन-सहित साधिकार अवकाश मिलेगा। जो श्रमी मासिक वेतन पाते हैं उनकी छुट्टी ज़्यादा-से-ज़्यादा २८ दिन तक जमा हो सकेगी, दूसरों की नहीं। मासिक वेतन पाने वाले श्रमी की उपस्थिति अगर २६५ दिन होगी, और दूसरों की १९० दिन होगी, तो यह समझा जायगा कि वह १२ मास उपस्थित रहा है।

प्रबन्ध—खानों का प्रबंध खानों के मुख्य-निरीक्षक के आधीन होगा। उसके आधीन खान-निरीक्षक होंगे जो इनकी देख-रेख और जाँच-पड़ताल करते रहेंगे। १९५३ में इस देश में ३,१३० खाने थीं जिनमें से २,३६९ का निरीक्षण हो सका। इनमें से २७१ के ऊपर अनियमित काम करने के कारण कानूनी कार्य-वाही की गई।

४. बाग़ान के लिए कानून

१८६० में आसाम में पहला चाय-बग़ीचा बना। इसके बाद बग़ीचों का ताँता बंध गया। आमदनी बहुत थी। इन बग़ीचों के लिए मज़दूर दूर-दूर से लाये जाते थे। उनके साथ जो दुर्व्यवहार होता था उससे वे भाग भी जाते थे। इसलिए बाग़ान के संबंध में शुरू-शुरू में १८५९–६० में जो कानून बने, वे इन मज़दूरों की पकड़-धकड़ के, बाग़ान से भाग जाने पर इन्हें जेल में डाल देने के कानून थे। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इन कानूनों को तो १९२२ में रद्द किया गया। इनके साथ इन बाग़ान के लिए १८६३ तथा १९०१ में कुछ सालों के लिए एग्रीमेंट

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से मज़दूर भर्ती किये जाते थे जो तब तक काम करने के लिए बँध जाते थे। यह भर्ती गुलामी जैसी थी। इस तरह के कानूनों को १९०८ तथा १९१५ में रद्द किया गया। १९३१ में 'रॉयल-लेबर-कमीशन' ने इन सब समस्याओं को सामने रखते हुए परामर्श दिये। इन परामर्शों के आधार पर १९३२ में एक कानून बना जिसका नाम **टी डिस्ट्रिक्ट्स एमीग्रेंट लेबर एक्ट** था। उस एक्ट का आशय निम्न था :—

टी डिस्ट्रिक्ट्स एमीग्रेंट लेबर एक्ट (१९३२)—इस कानून का उद्देश्य आसाम के चाय-बग़ीचों में मज़दूरों की भर्ती को नियमित करना था। इसके अनुसार केन्द्रीय-सरकार किसी क्षेत्र को बाग़ान की भर्ती के लिए नियन्त्रित-क्षेत्र घोषित कर सकती थी। इस क्षेत्र से बाग़ान के कारकुन मज़दूर भर्ती कर सकते थे, परन्तु उनकी भर्ती पर सरकारी देख-रेख रखी जाती थी। इन कारकुनों को भर्ती करने के लाइसेंस लेने पड़ते थे। अगर कोई कारकुन मज़दूर को बाग़ान तक पहुँचाने के रास्ते में उनके रहन-सहन, भोजन, आराम की व्यवस्था नहीं कर सकते थे, तो उन्हें लाइसेंस नहीं दिया जाता था। इन मज़दूरों को निर्धारित मार्ग से ही भेजा जा सकता था। इस कानून के अनुसार १६ साल से कम के लड़के बाग़ान में मज़दूरी के लिए इसी शर्त पर जा सकते थे यदि उनके माता-पिता अथवा अन्य कोई अभिभावक साथ होते थे। कोई विवाहिता स्त्री पति की आज्ञा बिना नहीं जा सकती थी। प्रत्येक मज़दूर के परिवार वालों को अधिकार था कि आसाम में प्रवेश करने के तीन साल बाद अपने रिश्तेदारों को किन्हीं ख़ास हालतों में बाग़ान के मालिकों के खर्च पर वापस बुला सकें।

इस कानून के अनुसार भर्ती के मज़दूरों का नियन्त्रण करने के लिए एक कन्ट्रोलर की नियुक्ति भी की गई थी जिस के नीचे उसके कुछ सहायक थे। इस विभाग का ख़र्च चलाने के लिए बाहर से आने वाले प्रत्येक मज़दूर के पीछे ९ रुपया बाग़ान के मालिकों से लिया जाता था। १९५१–५२ में यह रुपया ९ से ३ कर दिया गया। इस कानून में और तो बहुत-कुछ था, परन्तु श्रमियों के कार्य की अवस्थाओं आदि पर ध्यान नहीं दिया गया।

प्लान्टेशन लेबर एक्ट (१९५१)—बाग़ान में काम करने वाले मज़दूरों की शोचनीय अवस्था पर १९४६ की 'रीगे-लेबर-इन्वेस्टीगेशन-कमेटी' ने ध्यान आकर्षित किया। कमेटी ने कहा कि चाय बाग़ान ही नहीं, सब प्रकार के बाग़ान के लिए, जिनमें काफ़ी, रबड़ आदि सब सम्मिलित हों, एक पृथक् कानून बनने की ज़रूरत है। इसके बाद कई कमेटियाँ बनीं, बहुत विचार-विमर्श हुआ और अन्त में १९५१ का कानून बना जिसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

क्षेत्र—यह कानून जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर ऐसे हर बाग़ पर लागू होगा जिसमें चाय, काफ़ी, रबर, सिनकोना आदि की खेती की जाती है, जिसका क्षेत्रफल २५ एकड़ तथा जिसमें काम करने वाले मज़दूरों की संख्या ३० या इससे अधिक है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा श्रमी-कल्याण—इस कानून के अनुसार श्रमियों के लिए पीने के शुद्ध जल की व्यवस्था, स्त्रियों तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग स्टैण्डर्ड शौचालयों तथा मूत्रालयों का बनवाना, चिकित्सा का प्रबन्ध करना—ये सब आवश्यक हैं। अगर कोई बग़ीचा ये व्यवस्थाएँ नहीं करता, तो बाग़ान के मुख्य-निरीक्षक को अधिकार है कि इन स्वास्थ्य-सेवाओं का प्रबन्ध कर दे और ख़र्चा बाग़ान से वसूल कर ले। राज्य-सरकारों को इस कानून द्वारा अधिकार दे दिया गया है कि वे मज़दूरों के मनोरंजन के नियम बनाकर मालिकों से उन्हें पूरा करायें, जहाँ १५० मज़दूर हों वहाँ कैन्टीन और जहाँ मज़दूरों के ६ से १२ की आयु के २५ या अधिक बच्चे हों, वहाँ शिशु-गृह तथा पाठशाला खुलवायें। जहाँ ५० या इससे ज़्यादा स्त्री काम करें वहाँ इनके बच्चों के इस्तेमाल के लिए उपयुक्त कमरों की व्यवस्था भी होनी चाहिए। राज्य-सरकारों ने कैन्टीन, शिशु-गृह, मनोरंजन के साधन, शिक्षणालय आदि के विषय में विस्तार-पूर्वक नियम बनाये हैं कि इनका क्या-क्या रूप होना चाहिए। मज़दूरों के परिवारों के रहने के लिए गृह-व्यवस्था करना भी मालिकों का काम है। ये मकान कैसे होने चाहिएँ, मकान बनाने की जगह कैसी होनी चाहिए—इन सब बातों के लिए भी राज्य-सरकारों को अधिकार दिया गया है कि इन दिशाओं में नियम बनाकर उनका पालन करायें। राज्य-सरकारों को इस सम्बन्ध में भी नियम बनाने होंगे कि मालिक मज़दूरों को धूप-वर्षा से बचने के लिए किस प्रकार के छाते, बरसाती, कोट दे। ३०० से ज़्यादा मज़दूर जहाँ काम करें, वहाँ श्रम-कल्याण-अफ़सर नियुक्त होना चाहिए जिसका काम राज्य-सरकार नियत करेगी।

युवाओं का मज़दूरी करना—१२ वर्ष से कम आयु का बालक इनमें काम नहीं करेगा। १५ से १८ वर्ष की आयु के 'युवा' (Adolescent) कहे गए हैं। १८ से अधिक आयु का 'वयस्क' (Adult) है। बच्चे तथा युवा तभी काम कर सकेंगे अगर उनके पास काम करने के योग्य होने का डाक्टरी सर्टिफ़िकेट होगा और वह सर्टिफ़िकेट काम करते समय उनके पास होगा। साल भर के बाद इस सर्टिफ़िकेट का दुबारा बनाया जाना भी ज़रूरी है। ये सब नियम इसलिए बनाये गए हैं ताकि बच्चों और कमज़ोर आदमियों से ज़बर्दस्ती काम न लिया जा सके।

काम करने के घंटे—बच्चों से ४० और वयस्कों से ५४ घंटा प्रति सप्ताह काम लिया जा सकता है। प्रति दिन घंटे का इस कानून में हिसाब नहीं है। फैलाव की दृष्टि से यह कह दिया गया है कि काम के लिए इन्तिज़ार, छुट्टी आदि मिला कर किसी दिन १२ घंटे से ज़्यादा किसी को काम पर नहीं रहना होगा। सरकार की स्पष्ट आज्ञा लिए बिना स्त्रियों तथा बच्चों से प्रातः ६ से सायं ७ के बीच ही काम लिया जा सकेगा, इन समयों के इधर या उधर नहीं। ५ घंटे काम करने के बाद आध घंटा आराम के लिए देना होगा। अगर कोई श्रमी काम शुरू होने के समय से आध घंटा पीछे आये, तो मालिक उसे काम पर लगाने से इन्कार कर सकता है। श्रमी आराम के दिन भी काम करना चाहे तो कर सकता है, वह दिन ऐसा नहीं

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होना चाहिए जिस दिन सब काम बंद हों। लगातार बिना छुट्टी के १० दिन लगातार से अधिक वे काम नहीं कर सकते। अगर कोई श्रमी आंधी-तूफ़ान आदि के कारण काम पर नहीं आ सके, तो वह चाहे तो उस दिन को अपनी हफ्तेवार छुट्टी में गिना सकता है। जिन मज़दूरों ने ६ दिन पूरे हफ्ते काम नहीं किया उन्हें साप्ताहिक अवकाश का अधिकरा नहीं।

वेतन-सहित अवकाश—साप्ताहिक छुट्टी के अलावा वयस्क को २० दिन के काम पर १ दिन और बच्चे तथा युवा को १५ दिन के काम पर १ दिन सवेतन अवकाश का अधिकार होगा। ३० दिन तक की छुट्टी इकट्ठी जुड़ सकेगी। छुट्टी के दिनों में बोनस और ओवर-टाइम निकाल कर किन्तु महँगाई भत्ता और अन्य रियायतें मिला कर जितना वेतन बनता है वह मिलेगा। अगर किसी वायदे, इकरारनामे आदि के कारण उसे छुट्टियों से ज्यादा वेतन मिल सकता है तो वैसा मिलेगा।

रुग्णावस्था तथा मातृत्व के लाभ—योग्य चिकित्सक से प्रमाण-पत्र मिलने पर रोगी को रोगी-भत्ता मिलेगा और स्त्री को ज़च्चा-बच्चा की हालत में मातृत्व का भत्ता मिलेगा। इस संबंध में विशेष-विशेष नियम राज्य-सरकारें स्वयं बनायेंगी और उन नियमों को क्रियान्वित करना राज्य-सरकारों के द्वारा नियुक्त वाग़ानों के मुख्य-निरीक्षकों का काम होगा। राज्य-सरकार किसी मालिक को इन शर्तों से मुक्त भी कर सकती है, परन्तु उसके लिए केन्द्रीय-सरकार की आज्ञा लेनी होगी।

५. यातायात के लिए कानून

यातायात के कानूनों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(क) रेलवे के यातायात के कानून, (ख) जहाज़ों के कानून तथा (ग) बन्दरगाहों के कानून। ये तीनों यातायात के साधन हैं। इन तीनों पर हम क्रमशः विचार करेंगे।

(क) इंडियन रेलवेज एक्ट (१८९०)—इस एक्ट के अनुसार रेलवे-श्रमियों के दो विभाग किये गए हैं—'निरंतर श्रमी' (Continuous workers), 'अनिरन्तर-श्रमी' (Intermittent workers) अनिरंतर श्रमी वे हैं जिनके काम का रूप ही इस प्रकार का है कि उन्हें निरंतर काम नहीं करना होता, निरन्तर-श्रमी वे हैं जिनके काम का रूप इस प्रकार का है कि उन्हें लगातार काम करना होता है। अनिरन्तर-श्रमी ८४ घंटा और निरंतर-श्रमी ६० घंटा प्रति सप्ताह काम करेंगे। सब रेल-कर्मचारियों को प्रति सप्ताह २४ घंटे का विश्राम मिलेगा। अगर काम का बहुत बोझ होगा, तो इस अवकाश के समय में काम लिया भी जा सकेगा, परन्तु काम लेने की अवस्था में उनको विश्राम के समय में इस प्रकार काम करने का मुआविज़ा देना होगा। ओवर-टाइम साधारण वेतन से सवा गुणा होगा। इस कानून में सरकार को कर्मचारियों के लिए कुछ नियम बनाने का अधिकार दिया गया है जिनमें काम के घंटों के संबंध में कुछ नियम बनाये गए हैं। 'रीगे लेबर-इन्वेस्टीगेशन-कमेटी' ने इन नियमों के सब

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

कर्मचारियों पर लागू न होने तथा अन्य बातों से रेलवे-कर्मचारियों में बढ़ते असन्तोष की तरफ़ सरकार का ध्यान खींचा था। रेलवे-श्रमियों में 'निरंतर-श्रमी' और 'अनिरन्तर-श्रमी' के भेद से उनमें असन्तोष था। इस सब पर विचार कर के अपना निर्णय देने के लिए सरकार ने १९४६ में न्यायाधीश श्री राजाध्यक्ष को अपना निर्णय देने के लिए नियुक्त किया। श्री राजाध्यक्ष ने १९४७ में अपना निर्णय दिया जिसे सरकार ने मान लिया।

राजाध्यक्ष-निर्णय—सरकार को काम करने के घंटों के संबंध में कुछ नियम बनाने का अधिकार था, जो कुछ कर्मचारियों पर लागू किये गए थे, कुछ पर नहीं। जिन पर वे लागू नहीं किये गए थे उनकी माँग थी कि उन नियमों को उन पर भी लागू करना चाहिए। राजाध्यक्ष-निर्णय में कहा गया कि ये नियम सब पर एक-समान लागू किये जाँय। अबतक श्रमियों में जो दो प्रकार का भेद था उसको राजाध्यक्ष-निर्णय में बदलकर चार प्रकार का कर दिया गया। एक तो वे श्रमी गिने गए जिनका काम कठोर था। इन्हें 'कठोर-श्रमी' (Intensive workers) कहा गया। इनको काम में लगातार ध्यान गड़ाये रखना होता था और सख्त काम करना पड़ता था। इनके काम के घंटे सप्ताह में ४५ निश्चित किये गए और सप्ताह में ३० घंटे इनके लिए विश्राम का समय नियत किया गया। दूसरे 'निरन्तर-श्रमी' (Continuous workers) कहे गए। इनके लिए ५४ घंटे काम के रखे गए, सप्ताह में ३० घंटे का आराम। तीसरे 'अनिरन्तर-श्रमी' (Intermittent workers) कहे गए। ये ऐसे श्रमी थे जिनके पास कुछ समय करने का कुछ भी काम होता ही नहीं है। इनके काम के घंटे सप्ताह में ७५ रखे गए। काम के बाद रात मिला कर २४ घंटे का आराम इन्हें दिया गया। चौथे, 'इनसे बाहर' के (Excluded) थे। ये वे थे जो उक्त चारों में नहीं आते थे। उदाहरणार्थ, गेट-कीपर, स्वास्थ्य-सेवा का स्टाफ़ आदि। इनके लिए १० घंटे से अधिक काम नहीं लिया जायगा। उक्त श्रेणी-विभाग के अतिरिक्त राजाध्यक्ष निर्णय में छुट्टी, सवेतनावकाश आदि के संबंध में भी अनेक बातें कही गईं। १९४८ में भारत-सरकार ने इस निर्णय को स्वीकार कर लिया। १९५१ में भारत-सरकार ने रेलवे कर्मचारियों के लिए राजाध्यक्ष-निर्णय को सामने रखते हुए नए नियम बनाये।

(ख) इंडियन मर्चेण्ट शिपिंग एक्ट (१९२३)—१९२० में अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-कान्फ़रेंस ने नाविकों के संबंध में न्यूनतम आयु का 'सामाजिक-विधान' (Convention) बनाया। १९२१ में इसी कान्फ़रेंस ने नाविकों के संबंध में दो और 'सामाजिक-विधान' बनाये। इन सब को आधार बनाकर भारत-सरकार ने १९२३ में शिपिंग-एक्ट बनाया। १९४९ तथा १९५१ में इसमें फिर संशोधन हुए। १९४९ के संशोधन के अनुसार नाविकों की भर्ती के लिए ऐसे दफ्तर खोले गए जिनके द्वारा नाविकों की भर्ती होगी। १९५१ के संशोधन के अनुसार

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

नाविकों की डाक्टरी-परीक्षा तथा उनकी योग्यता के अन्य नियम बनाये गए। मुख्य कानून १९२३ का ही है और उसकी मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

भर्ती—इसके अनुसार भारतीय, ब्रिटिश या विदेशी जहाज़ पर केवल शिपिंग-मास्टर की उपस्थिति में किसी जहाज़ का मालिक निश्चित नियमों के अनुसार नाविक की भर्ती कर सकता है। १९४९ के संशोधित कानून के अनुसार भारत की केन्द्रीय-सरकार नाविकों की भर्ती के दफ्तर बन्दरगाहों पर खोलेगी और उन्हीं के द्वारा नाविकों की भर्ती हो सकेगी। जहाँ ये दफ्तर नहीं खुल सकेंगे वहाँ भी सरकार द्वारा नियुक्त व्यक्तियों के द्वारा ही भर्ती होगी। इस कानून के लिए जब तक वहाँ कोई दफ्तर नहीं खुलता तब तक वे व्यक्ति ही भर्ती के दफ्तर समझे जायेंगे। जो जहाज़ों के मालिक सीधे भर्ती करेंगे उन्हें १०० रुपया तक जुर्माना हो सकता है। १९५४ में बम्बई में इसी प्रकार का नाविकों की भर्ती का एक रोज़गार-दफ्तर खोला गया और कलकत्ता में भी अब खुल गया है। भर्ती से पहले नाविकों की डाक्टरी-परीक्षा होती है। इस के लिए १९५१ में भारत-सरकार ने नाविकों की डाक्टरी-परीक्षा के कुछ नियम बनाये थे। १९५२–५३ में बम्बई में ८,६९५ तथा कलकत्ता में १०,६५६ नाविकों की डाक्टरी-परीक्षा हुई। जिन नाविकों को नौ-सेवा के अयोग्य करार दे दिया जाता है उनकी शिकायत को सुनने के लिए एक अपील-बोर्ड भी बना हुआ है। जब किसी श्रमी की जहाज़ पर भर्ती होती है तब जहाज़ के मालिक को श्रमी के साथ एग्रीमेंट करना पड़ता है कि अगर विदेश में उसे सेवा से मुक्त किया जायगा, तो या तो उसे वहाँ नौकरी दिलाई जायगी या भारत के किसी बन्दरगाह तक या जिस बन्दरगाह से उसे भर्ती किया गया है वहाँ तक लौटने की उसकी व्यवस्था की जायगी या वहाँ तक का उसे किराया दिया जायगा।

युवाओं का काम करना—१४ से कम आयु के बालक नाविक के काम में नहीं भर्ती किये जा सकते। १८ से कम उम्र के लड़के को पतवार चलाने का काम नहीं दिया जा सकता।

मज़दूरी देने के नियम—एग्रीमेंट के बाद काम के लिए नाविक को अपने को पेश करते ही उसका वेतन का अधिकार शुरू हो जाता है। माल को बन्दरगाह पर उतारने के ४ दिन बाद या नाविक की बर्खास्तगी के ५ दिन बाद नाविक का वेतन उसे मिल जाना चाहिए। अगर नाविक को समय पर वेतन न मिले, तो हर देरी के १ दिन के लिए उसे २ दिन का वेतन देना पड़ेगा। कुल हर्जाना १० दिन के दुगुने वेतन से ज़्यादा न होगा। प्रत्येक नाविक के पास एक फ़ार्म रहेगा जिसमें उसके वेतन, कटौती आदि का विस्तृत ब्यौरा लिखा होगा। अगर बिना कसूर के नाविक को यात्रा प्रारंभ करने से पहले ही नौकरी से अलहदा किया जायगा, तो उसे १ मास का वेतन देना होगा। वेतन मिलने से पहले ही वेतन को कुर्क नहीं कराया जा सकता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा श्रमी-कल्याण—शुद्ध पानी की पर्याप्त मात्रा नाविक को जहाज़ पर मिलनी चाहिए। यात्रा में होने वाली दुर्घटनाओं तथा बीमारी के लिए जहाज़ में औषधियों की भी पर्याप्त मात्रा होनी चाहिए। नाविकों की चिकित्सा मुफ्त होगी। हर-एक नाविक को कम-से-कम ७२ घन फ़ुट जगह देनी होगी।

नियन्त्रण—जिस नाविक को नियमपूर्वक नौकरी पर रखा गया हो, वह शर्तों के अनुसार, समय पूरा होने से पहले काम नहीं छोड़ सकता। अगर कोई छोड़कर चला जाय, तो उसका सब सामान ज़ब्त हो जाता है, और उसे बचा हुआ वेतन भी नहीं दिया जाता। अगर भारत के बाहर कोई इस प्रकार काम छोड़ कर चला जाय, तो उसे १२ सप्ताह की जेल हो सकती है। काम करने से इन्कार करने पर या बिना छुट्टी लिये अनुपस्थित होने पर नाविकों के लिए भिन्न-भिन्न सज़ाओं का विधान है।

प्रबन्ध—जहाज़ों के दफ्तरों का प्रबन्ध शिप-मास्टरों तथा उनके सहायकों के आधीन होता है। जहाँ कोई शिप-मास्टर नियत न हो वहाँ कस्टम्स के दफ्तर ही शिप-मास्टरों का काम करते हैं। शिप-मास्टर का कर्तव्य है कि जहाज़ों पर काम करने के लिए नाविकों की व्यवस्था करे और उनकी देख-भाल रखे। कलकत्ता तथा बम्बई में नाविक-कल्याण-अफ़सर रखे गए हैं जो नाविकों के सम्बन्ध में कल्याण-योजनाओं का संचालन करते हैं।

(ग) डौक वर्कर्स (रेगुलेशन ऑफ़ एम्प्लायमेंट) एक्ट (१९४८)—जहाज़ों पर काम करनेवालों के अतिरिक्त बन्दरगाहों पर काम करने वाले मज़दूरों की भी समस्याएँ हैं। ये समस्याएँ दो तरह की हैं। एक समस्या तो यह है कि वहाँ छोटे-छोटे बच्चों से मज़दूरी कराई जाती है, दूसरी समस्या यह है कि बन्दरगाहों का काम हर रोज़ का नहीं, वहाँ का काम आकस्मिक है। बच्चों से नौकरी न कराने के लिए १९०८ में भारतीय-बन्दरगाह-कानून (इंडियन पोर्ट्स एक्ट) बना। १९२२ तथा १९३१ में उसमें संशोधन हुए। इस कानून के अनुसार १२ वर्ष से न्यून आयु के बालकों से बन्दरगाह में मज़दूरी कराने की मनाही की गई। मज़दूरों की मज़दूरी की आकस्मिकता दूर करने के लिए १९२९ में, 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I. L. O.) ने कुछ 'सामाजिक-विधान' (Conventions) बनाये। 'रॉयल-लेबर-कमीशन' ने भी इन मज़दूरों की आकस्मिकता को हटाने के परामर्श दिये। इन सब का नतीजा यह हुआ कि १९४८ का कानून बना। इस कानून की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

इस कानून के अनुसार केन्द्रीय-सरकार मुख्य-मुख्य बन्दरगाहों तथा राज्य-सरकारें अपने-अपने बन्दरगाहों के लिए मज़दूरों के रजिस्ट्रेशन की योजनाएँ बनायेंगी ताकि बन्दरगाहों पर काम करने वाले मज़दूरों को नियन्त्रित किया जा सके। इन मज़दूरों को मज़दूरी क्या दी जाय, काम के घंटे कितने रखे जाँय, छुट्टी, जिन पर ये योजनाएँ नहीं लगतीं उन पर नियन्त्रण, इन मज़दूरों का प्रशिक्षण, इनके स्वास्थ्य तथा कल्याण का प्रबन्ध, जिन दिनों इनके पास काम न हो उन दिनों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भी इनको मज़दूरी देना—इस सब की भी सरकार व्यवस्था करेगी। २७ जनवरी १९५१ को इन मज़दूरों के लिए केन्द्रीय-सरकार ने एक योजना बनाई। इस योजना के अनुसार रजिस्टर्ड मज़दूरों का एक रजिस्टर बनाया गया। जिन आसामियों का बहुत काम आता था उनका भी एक रजिस्टर बनाया गया। हर आसामी के लिए रजिस्टर्ड मज़दूर नियत कर दिये गए। जिस आसामी के लिए जो मज़दूर नियत थे, उस आसामी को उन्हीं मज़दूरों से काम लेना होता था, वे मज़दूर भी अन्य किसी का काम नहीं कर सकते थे। इस प्रकार उन्हें महीने में १२ दिन की मज़दूरी निश्चित रूप से देने का प्रबन्ध कर दिया। इन दिनों में अगर किसी दिन उन्हें काम नहीं भी मिलता था, तो १ रुपया प्रतिदिन के हिसाब से उन्हें मज़दूरी दी जाती थी। इस प्रकार इस कानून द्वारा इन मज़दूरों की 'आकस्मिकता' (Casualness) का इलाज किया गया।

इस योजना का संचालन हर बन्दरगाह पर 'डौक-लेबर-बोर्ड' करता है। यह एक प्रकार का त्रिदलीय बोर्ड है जिसमें १२ सदस्य होते हैं। इनमें कुछ सरकार के, कुछ बन्दरगाह के मज़दूरों के और कुछ उन कम्पनियों के प्रतिनिधि होते हैं जिनका माल बन्दरगाहों से जाता है। इस प्रकार मज़दूरों को रजिस्टर्ड करके उनकी समस्या को हल करने का प्रयत्न किया गया है। ३१ मार्च, १९५४ तक बम्बई में ३,५२४ तथा कलकत्ते में १०,६७९ मज़दूर रजिस्टर्ड थे और उक्त योजना के अनुसार 'आकस्मिकता-निवारण' (The Decasualisation) की योजना चल रही थी।

६. अन्य श्रम-कानून

हमने फ़ैक्टरियों, ख़ानों, बाग़ान तथा यातायात (रेल, जहाज़, बन्दरगाह) के मुख्य-मुख्य कानूनों का वर्णन किया। इनके अलावा अन्य भी अनेक प्रकार के श्रम-कानून हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :—

(क) दुकानों तथा व्यापारिक-संगठनों में काम करने वाले मज़दूरों के लिए श्रम-कानून (Legislation for Workers in Shops and Commercial Establishments),

(ख) औद्योगिक-संगठनों के श्रमियों के लिए गृह-निर्माण का कानून (Legislation for Industrial Housing),

(ग) सुरक्षा तथा मज़दूरों के कल्याण के लिए श्रम-कानून (Legislation for Safety and Welfare),

(घ) मज़दूरों को मज़दूरी देने का श्रम-कानून (Legislation for Payment of Wages),

(ङ) न्यूनतम मज़दूरी के श्रम-कानून (Legislation for Minimum Wages),

(च) लड़ाई-झगड़ों के निपटाने के श्रम-कानून (Legislation for Industrial Disputes),

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(छ) सामाजिक-सुरक्षा संबंधी श्रम-कानून (Legislation for Social Security)।

इन छहों श्रम-कानूनों का थोड़ा-थोड़ा विवेचन करने की आवश्यकता है। हम यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

(क) दुकानों तथा अन्य व्यापारिक-धंधों में काम करने वाले मजदूरों के लिए श्रम-कानून (Shops etc.)—दुकानों तथा अन्य व्यापारिक-धंधों में भी छोटे-छोटे बाबुओं तथा श्रमियों की देश भर में बहुत अधिक संख्या काम करती है। ये लोग न फ़ैक्टरी-एक्ट में आते हैं, न खानों, बाग़ान या यातायात के कानूनों में आते हैं। इनसे सुबह से शाम तक काम लिया जाता था। दुकानदार सवेरे ६ बजे से दुकान खोल कर बैठ जाते थे, और रात को दस बजे तक दुकान खोले बैठे रहते थे। इतवार को भी छुट्टी नहीं करते थे। इनको तो पैसा कमाना होता था, इसलिए इन्हें तो १४–१५ घंटे काम करना दूभर नहीं लगता, परन्तु उनके कर्मचारी उतने ही निश्चित वेतन में, बिना किसी प्रकार के आराम या छुट्टी के दिन-रात पिसते थे। इनके लिए सब से पहले १९३९ में बम्बई ने कानून बनाया, १९४९ में बम्बई ने इस कानून में संशोधन किया। इस कानून को १९४० में बंगाल तथा पंजाब ने, १९४७ में उत्तर-प्रदेश, मद्रास तथा मध्य-प्रदेश ने, १९४८ में आसाम तथा मद्रास ने, १९५० में ट्रावनकोर-कोचीन ने, १९५१ को हैदराबाद ने और १९५२ में मध्य-भारत ने अपना लिया, १९५४ में दिल्ली में भी इस आशय का कानून बन गया।

क्षेत्र—यह कानून दुकानों, व्यापारिक धंधों, होटलों तथा सिनेमा आदि पर लागू होता है। सरकार इसे जिस क्षेत्र में भी लगाना चाहे उसमें लगा सकती है और जिस क्षेत्र को इससे मुक्त करना चाहे उसे मुक्त कर सकती है।

काम के घंटे तथा आराम—भिन्न-भिन्न प्रान्तों में काम के घंटे भिन्न-भिन्न हैं। दुकानों में पश्चिमी बंगाल तथा पंजाब में काम के घंटे १०, आसाम, बम्बई, मध्य-भारत, मध्य-प्रदेश तथा बिहार में ९ एवं उत्तर-प्रदेश, मद्रास तथा हैदराबाद में ८ घंटे रखे गये हैं। व्यापारिक-धंधों में कहीं ९ तथा कहीं ८, होटलों में भी ८ से लेकर १० घंटे तक काम रखा गया है। उत्तर-प्रदेश में दुकानों, धंधों, होटलों, सिनेमाओं में ८ घंटे से ज्यादा काम नहीं हो सकता।

छुट्टी—पहले इन लोगों को सातों दिन काम करना पड़ता था, परन्तु जब से ये कानून लागू हुए तब से सप्ताह में एक दिन की छुट्टी आवश्यक कर दी गई है। इस छुट्टी के अतिरिक्त साधिकार-अवकाश को भी स्थान दिया गया है। साल में आसाम में १६, बम्बई में १४, बिहार में वयस्कों के लिए २० दिन के बाद १ दिन तथा बच्चों के लिए १५ दिन के बाद १ दिन, उत्तर-प्रदेश में १५ दिन का साधिकारावकाश लिया जा सकता है। इस साधिकारावकाश के अतिरिक्त कहीं १० और कहीं १२ दिन का आकस्मिकावकाश भी मिलता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

काम करने वालें की आयु—आसाम, बम्बई, मध्य-प्रदेश, मध्य-भारत, हैदराबाद, बिहार में १२ तथा मद्रास एवं उत्तर-प्रदेश में १४ से कम आयु के बालक से नौकरी नहीं कराई जा सकती। इनसे ६ घंटे प्रतिदिन से ज्यादा काम नहीं लिया जा सकता। मध्य-प्रदेश, पंजाब, बंगाल तथा हैदराबाद में काम का समय ७ घंटे रखा गया है। ३ या ४ घंटे के बाद आधा घंटा इन्हें विश्राम देना होगा।

वेतन का भुगतान—कई प्रान्तों में कानून बना दिया गया है कि **'पेमेंट ऑफ वेजेज़ एक्ट'** हर क्षेत्र में जहाँ कोई भी श्रमी काम करता है, लागू होगा। उदाहरणार्थ, बम्बई तथा मध्य-भारत में दुकानों, धंधों, होटलों तथा सिनेमाओं के कर्मचारियों पर **'पेमेंट ऑफ वेजेज़ एक्ट'** लगता है। पश्चिमी-बंगाल तथा आसाम में वेतन वाजिब हो जाने के १० दिन के अन्दर, उत्तर-प्रदेश में ७ दिन के अन्दर, मद्रास-हैदराबाद में ५ दिन के अन्दर, पंजाब के कानून के अनुसार वाजिब होते ही वेतन दे देना होता है। ओवर-टाइम के लिए पंजाब, उत्तर-प्रदेश, बिहार तथा मद्रास के कानूनों के अनुसार साधारण वेतन से दुगुना वेतन देना पड़ता है, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद तथा पश्चिमी-बंगाल के कानूनों के अनुसार डेढ़ गुना। बम्बई तथा मध्य-भारत के कानूनों के अनुसार दुकानों, औद्योगिक-धंधों, होटलों तथा सिनेमाओं के कर्मचारियों को ड्योढ़े की दर से और विश्रामालयों में काम करने वालों को दुगुने की दर से ओवर-टाइम मिलने का कानून है। उत्तर-प्रदेश तथा अन्य अनेक प्रान्तों में किसी कर्मचारी को १ महीने का नोटिस दिये बग़ैर निकाल नहीं सकते, अगर निकाला जाय तो १ महीने का वेतन देना पड़ता है। इसके संबंध में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के कानूनों में थोड़ा-बहुत फ़र्क है। उत्तर-प्रदेश, बिहार, हैदराबाद के अनुसार कर्मचारी भी बिना एक महीने का नोटिस दिये नौकरी नहीं छोड़ सकते।

प्रबन्ध—उत्तर-प्रदेश, पश्चिमी-बंगाल, पंजाब तथा हैदराबाद में इन कानूनों को क्रियात्मक रूप देने के लिए और यह देखने के लिए कि इनका पूरा-पूरा पालन होता है कि नहीं, निरीक्षक रखे गए हैं। दिल्ली में 'डायरेक्टर ऑफ़ इण्डस्ट्रीज़ तथा लेबर' का काम है कि इन व्यवस्थाओं को देखे। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में भिन्न-भिन्न विभागों की यह देखने की ज़िम्मेदारी लगा दी गई है कि ये कानून सिर्फ़ कागज़ों पर ही न लिखे रहें। अब तो दूकानों, होटलों, सिनेमाओं में काम करने वालों ने अपनी-अपनी यूनियनें बना ली हैं और इन कानूनों को क्रियान्वित करना आसान हो गया है।

(ख) औद्योगिक-संगठनों के श्रमियों के लिए गृह-निर्माण के कानून (Industrial Housing)—जो श्रमी औद्योगिक-संगठनों में काम करते हैं, कोयले की या अभ्रक की खानों में, शक्कर के कारखानों में और दूसरी जगहों पर—उनके लिए मकानों की बड़ी भारी समस्या है। पहली समस्या तो रुपए की है,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दूसरी जगह ख़रीदने, तीसरी जगह पर किसी योजना के अनुसार मकान बनाने की हैं। रुपए की समस्या को हल करने के लिए दो प्रकार के उपाय किये गए हैं। एक उपाय तो भिन्न-भिन्न उद्योगों में कानूनों द्वारा फंड कायम किये गए हैं। उदाहरणार्थ, १९४६ में केन्द्रीय-सरकार ने **माइका-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर-फंड-एक्ट** बनाया था, १९४७ में **कोल-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर-फंड एक्ट** बनाया गया। इन कानूनों से इन उद्योगों पर एक ख़ास प्रकार का टैक्स लगा दिया गया था जिससे इनके श्रमियों के मकान आदि की व्यवस्था की गई। १९५१ में उत्तर-प्रदेश में **'उत्तर-प्रदेश शुगर एंड पावर एलकोहल-इंडस्ट्रीज लेबर-वेलफ़ेयर एण्ड डिवलपमेंट फण्ड एक्ट'** बनाया गया। इसका उद्देश्य ऊपर के दोनों कानूनों के अनुसार शक्कर के कारख़ानों पर टैक्स लगाकर रुपया जमा करना था जिससे इनके श्रमियों के गृह-निर्माण का कार्य किया जा सके। ८ अगस्त १९५६ में उत्तर-प्रदेश की विधान-सभा में **'यू० पी० लेबर वेलफ़ेयर फ़ण्ड बिल'** पेश हुआ जिसका उद्देश्य यह था कि मिल-मालिकों के पास ऐसा जो रुपया पड़ा है जो बोनस आदि के रूप में नहीं बाँटा गया, जो सालों-साल से जमा होता-होता काफ़ी बढ़ गया है, उसे इस फंड के नाम से इकट्ठा कर दिया जाय और सरकार के आधीन एक बोर्ड बना कर इस रुपए से श्रमियों के गृह-निर्माण आदि का कार्य किया जाय। १९४८ में बम्बई में **बौम्बे हाउसिंग बोर्ड एक्ट** बना, १९४९ में मैसूर में **मैसूर लेबर हाउसिंग एक्ट** बना, १९५० में मध्य-प्रदेश में **मध्य-प्रदेश हाउसिंग एक्ट** बना, १९५२ में हैदराबाद में **हैदराबाद लेबर हाउसिंग** एक्ट बना। इन सब का उद्देश्य श्रमियों के लिए गृह-निर्माण की समस्या को हल करना था। इनको सहायता, जैसा हमने अभी कहा, उन-उन उद्योगों पर टैक्स लगाकर की गई, साथ ही प्लैनिंग-कमीशन ने इनके लिए प्रथम योजना में ३८.५ करोड़ रुपया तथा द्वितीय-योजना में १२० करोड़ रुपया सहायता आदि के रूप में रखा। इसका विस्तृत विवरण हम 'श्रम-कल्याण की समस्याएँ' के अध्याय में दें आये हैं। जगह ख़रीदने आदि के लिए १९३३ में **लैंड एक्वीजीशन एक्ट** पास किया गया था जिसके अनुसार श्रमियों के मकान बनाने को सार्वजनिक-कार्य कहा गया था। उक्त योजनाओं के लिए मकान बनाना इस एक्ट के अनुसार आसान हो गया। इन योजनाओं के अनुसार मकान बनाने के लिए सरकार ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर बोर्ड बना दिये जिनमें सरकार, श्रमी तथा मालिकों के प्रतिनिधि थे। इनका काम परस्पर विचार-विनिमय करके श्रमियों के लिए मकान बनाने की व्यवस्था करना था।

(ग) **सुरक्षा तथा मजदूरों के कल्याण के लिए श्रम-कानून (Welfare)**—हम 'श्रम-कल्याण' की समस्याओं का वर्णन करते हुए सुरक्षा तथा कल्याण के लिए बनाये गए कानूनों का ज़िक्र कर आये हैं। इसी अध्याय में अभी हमने औद्योगिक-श्रमियों के लिए मकानों के लिए बनाये गए कानूनों का भी ज़िक्र किया।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

भिन्न-भिन्न उद्योगों में फंड जमा करने के ये कानून सुरक्षा तथा कल्याण के उद्देश्य से ही बनाये गए हैं। इनमें से कुछ कानूनों का वर्णन हम यहाँ करेंगे :—

(i) **इंडियन डौक लेबरर्स एक्ट (१९३४)**—बन्दरगाहों पर काम करने वाले श्रमियों की सुरक्षा तथा कल्याण का यह कानून १९३४ में बना था, परन्तु कई कठिनाइयों के कारण यह १९४७ में लागू हुआ। जहाज़ों से सामान उतारने तथा उनमें चढ़ाने वाले मज़दूरों की सुरक्षा के लिए यह कानून बना। इस कानून के अनुसार ऐसे नियम बनाये गए जिनसे काम करने की जगह पर आने-जाने के मार्ग में किसी तरह का खटका न रहे, काम करने की जगह में प्रकाश का प्रबन्ध हो, वह स्थान घिरा हुआ तथा सुरक्षित हो, जहाज़ पर चढ़ने-उतरने के साधनों में किसी प्रकार का खतरा न हो, मज़दूरों को जहाज़ तक पानी में हिफ़ाज़त से ले जाया जाय और उतनी ही हिफ़ाज़त से वापस लाया जाय, बड़ी-बड़ी चीज़ों को इधर-उधर करने में उन्हें कोई खतरा न हो, अगर कोई पानी में गिर पड़े तो उसको झट-से बचा लिया जाय—आदि। ये नियम बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, वैशाखापटाम तथा कोचीन बन्दरगाहों पर लागू हैं। इन नियमों में कुछ दोष पाये गए, उन्हें भारत सरकार ने १९५३ में दूर कर दिया। अब तक अगर कोई दुर्घटना हो जाती थी, तो उसकी शिकायत करने की ज़िम्मेदारी बन्दरगाह के अधिकारियों पर थी, अब यह ज़िम्मेदारी मालिक की कर दी गई। इस सारी व्यवस्था की देख-भाल फ़ैक्टरियों के चीफ़ इन्स्पेक्टर के आधीन है।

(ii) **माइका-माइन्स लेबर-वेलफेयर-फंड एक्ट (१९४६)**—माइका अभ्रक को कहते हैं। भारत से जितना अभ्रक विदेशों को जाता है उस पर ६¼ प्रतिशत उसके मूल्य पर कर लग सकता है, १९५३–५४ में यह कर २½ प्रतिशत था। इस प्रकार इस कानून के आधीन जो रुपया वसूल होता है उसे अभ्रक की खानों में काम करने वाले श्रमियों के गृहों के निर्माण तथा अन्य सुरक्षा एवं कल्याण व्यवस्था पर खर्च करने का अधिकार केन्द्रीय-सरकार को है। प्रत्येक प्रान्त में इस फंड को सुरक्षा पर व्यय करने के लिए सरकार ने परामर्शदातृ-समितियाँ बनाई हुई हैं जिनके परामर्श के अनुसार यह रुपया व्यय होता है।

(iii) **कोल-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर-फंड एक्ट (१९४७)**—खानों से जब कोयला लदता है तब ४ आने से ८ आना टन के हिसाब से इस एक्ट के अनुसार कर ले लिया जाता है। यह रुपया गृह-निर्माण तथा सुरक्षा एवं श्रम-कल्याण में खर्च किया जाता है। इसका खर्च भी केन्द्रीय-सरकार भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बनाई गई परामर्शदातृ-समितियों के साथ सलाह-मशविरे से करती है।

(iv) **यू० पी० शुगर एण्ड पॉवर-अलकोहल इण्डस्ट्रीज लेबर-वेलफ़ेयर एण्ड डिवलपमेंट फंड एक्ट (१९५०)**—यह पास तो १९५० में हुआ परन्तु लागू १९५३ में हुआ। अलकोहल बनाने वाले कारखानों को सरकार शीरे (मोलासेज़)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

को एक निश्चित दाम पर देती हैं। इनको देने के बाद जो शीरा बच रहता है वह खुले बाज़ार में बेचा जाता है। खुले बाज़ार में शक्कर के कारखानों को दाम कुछ ज़्यादा मिलते हैं। ज़्यादा दाम की यह जो भी राशि होती है, वह इस फंड में चली जाती है। इस फंड को इन कारखानों में काम करने वाले श्रमियों के गृह-निर्माण, सुरक्षा तथा कल्याण-योजनाओं पर व्यय किया जाता है। इसकी व्यवस्था के लिए भी परामर्शदातृ-समितियाँ बनाई गई हैं।

(v) बम्बई लेबर वेलफ़ेयर फंड एक्ट (१९५३) तथा उत्तर-प्रदेश लेबर-वेलफ़ेयर फंड एक्ट (१९५६)—१९५३ में बम्बई में उक्त एक्ट स्वीकृत हुआ। उत्तर-प्रदेश में इस आशय का बिल ८ अगस्त १९५६ को विधान-सभा में पेश हुआ, जो अब एक्ट बन चुका है। इन दोनों का उद्देश्य इन-इन प्रदेशों के श्रमियों के लिए सुरक्षा तथा कल्याण की योजनाओं को क्रिया रूप में परिणत करना है?

(घ) मज़दूरों की मज़दूरी देने का श्रम-कानून (Payment of Wages)—'रॉयल-लेबर-कमीशन' ने अपनी रिपोर्ट में मज़दूरों के सम्बन्ध में जो परामर्श दिये थे, उनको क्रियान्वित करने के लिए १९४६ में एक कानून बना जिसका नाम **'पेमेंट ऑफ़ वेजेज़ एक्ट'** था। वह कानून निम्न था :—

पेमेंट ऑफ़ वेजेज़ एक्ट (१९३६)—इस कानून के अनुसार यह तय किया गया कि मज़दूरी हर रोज़, हर हफ्ते, हर पखवाड़े या हर मास दी जा सकती है। मज़दूरी देने का अर्सा इससे ज़्यादा नहीं हो सकता। यह नहीं हो सकता कि हर दो मास के बाद या हर तीन मास के बाद मज़दूरी दी जाय। इसके साथ ही जिस कारखाने, बगीचे, खान या जहाँ-कहीं १,००० से अधिक मज़दूर काम करते हों, वहाँ मज़दूरी वाजिब होने के दिन से ७ दिन के अन्दर-अन्दर दे दी जाय, दूसरी जगह १० दिन के भीतर। मज़दूरी देने में इससे ज़्यादा दिन नहीं लगने चाहिएँ। जिस मज़दूर को काम से हटाया जाय उसे अगले दिन, जिस रोज़ काम चालू हो, मज़दूरी देनी पड़ेगी। मज़दूरी काम के दिनों में देनी होगी, छुट्टी के दिनों में नहीं, अन्यथा मज़दूर का छुट्टी का दिन बेकार जाता है। मज़दूरी में से कुछ कटौती काटने के भी नियम इस कानून में हैं। जुर्माना, ग़ैर-हाज़री, नुकसान, गुम कर देना, मकान किराया, अगाऊ, इन्कम टैक्स आदि वेतन में से काटे जा सकते हैं। यह एक्ट सब खानों, मोटर बसों, जहाज़ों, छापेखानों आदि पर प्रायः सब प्रान्तों में केन्द्रीय-सरकार ने लागू कर दिया है। यह देखना कि इस एक्ट का पालन हो रहा है या नहीं, फ़ैक्टरियों के निरीक्षकों का काम है। किन्हीं-किन्हीं प्रान्तों में लेबर कमिश्नरों के सुपुर्द यह काम किया गया है। १९५३ में बम्बई में इस एक्ट का संशोधन हुआ। अब तक के कानून के अनुसार श्रमी मालिक से उसी हालत में अपनी मज़दूरी वसूल कर सकता था अगर फ़ैक्टरी के मैनेजर से वह वसूल नहीं कर सकता था। यह लम्बा-चौड़ा किस्सा था, इसलिए १९५३ के संशोधन

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

के अनुसार यह तय कर दिया गया कि मज़दूरी मैनेजर, मालिक जो-कोई भी हो, सब से अलग-अलग या एक-साथ वसूल की जा सकती है। कारख़ाना बन्द होने वाला हो, तो १९५३ के नए संशोधन के अनुसार मालिक की जायदाद को कारख़ाने के बन्द होने से पहले कुर्क किया जा सकता है। अगर मालिक अधिकारियों के पास यह धन दौलत के तौर पर रख दे तो कुर्की रुक जाती है। इस संशोधन की एक अन्य धारा के अनुसार अगर श्रमी मालिक के खिलाफ़ वेतन न देने के मुकदमे में जीत जाता है, तो कोर्ट-फ़ीस भी मालिक से वसूल की जाती है। १९५४ में बम्बई सरकार ने इसमें फिर संशोधन किया जिसके अनुसार यह तय किया कि मालिक से वसूली लगान की तरह वसूल की जा सकती है। इन्हीं दिशाओं में केन्द्रीय-सरकार भी कानून बनाने की सोच रही है। इसमें बम्बई सब का मार्ग-प्रदर्शक रहा है।

(ङ) न्यूनतम मजदूरी का मिनिमम वेजेज एक्ट, १९४८ (Minimum Wages)—इस कानून के संबंध में हम विस्तारपूर्वक 'श्रम-कल्याण की समस्याएँ' के अध्याय में लिख आये हैं इसलिए यहाँ कुछ लिखने की आवश्यकता नहीं।

(च) औद्योगिक-झगड़ों के कानून (Industrial disputes)—औद्योगिक झगड़ों को निपटाने के लिए **इंडियन ट्रेड यूनियन एक्ट** (१९२६) का वर्णन हम 'श्रम-कल्याण की समस्याएँ' के अध्याय में कर आये हैं। उसी अध्याय में **इण्डस्ट्रियल एम्प्लायमेंट (स्टैंडिंग आर्डर्स) एक्ट** (१९४६) तथा **इंडस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट १९४७–१९५६** का भी हमने विस्तृत विवरण दिया है। इन तीनों कानूनों का उद्देश्य झगड़ों को निपटाना है। अन्य कानूनों में तो हर बात के लिए नियम बने हुए हैं, परन्तु कई झगड़े ऐसे भी तो उठ खड़े होते हैं जिनके लिए कानून तो कोई है नहीं जिसके अनुसार व्यवस्था दे दी जाय, परन्तु झगड़ा ज़रूर खड़ा हो जाता है। इन झगड़ों को ट्रिब्यूनलों के ज़रिये हल किया जाता है।

(छ) सामाजिक-सुरक्षा संबंधी श्रम-कानून (Social Security)—कानून का उद्देश्य सिर्फ़ श्रमियों को मज़दूरी दिलाना, उनकी छुट्टी के दिन बढ़वाना, काम के घंटे कम करवाना ही नहीं है। कानून यह भी चाहता है कि श्रमियों की सुरक्षा का प्रबन्ध हो। किसी को चोट लग जाय, तो उसे मुआविजा मिले, बीमारी की हालत में उसकी देख-रेख हो, बुढ़ापे में उसका कोई सहारा हो, परिवार के मुखिया के मर जाने पर बाल-बच्चों का कोई रखवारा हो, बच्चा होने पर माँ की देख-भाल हो। इन सब उद्देश्यों से अनेक कानून बने हुए हैं जिनमें (i) वर्कमेन्स कम्पेन्सेशन एक्ट (१९२३), (ii) एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्यूरेंस एक्ट (१९४८), (iii) कोल माइन्स प्रौवीडेंट फंड एण्ड बोनस स्कीम्स एक्ट (१९४८), (iv) एम्प्लायीज़ प्रोवीडेंट फंड्स एक्ट (१९५२) तथा (v) मैटरनिटी बैनीफ़िट एक्ट्स (१९२९ से १९५३) मुख्य हैं। यह विषय इतना आवश्यक है कि हम इस पर एक पृथक् अध्याय में विचार करेंगे।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

इससे पहले कि हम आगे बढ़ें हम यहां भिन्न-भिन्न श्रम-कानूनों का एक तुलनात्मक चित्र दे रहे हैं जिससे मुख्य-मुख्य श्रम-कानूनों के संबंध में उनका एक-दूसरे के साथ संबंध स्पष्ट हो जायगा :—

भिन्न-भिन्न श्रम-कानूनों का तुलनात्मक चित्र

कानून का नाम	नौकरी की कम-से-कम आयु	काम करने के अधिक-से-अधिक घंटे			काम के बीच की छुट्टी	ओवर-टाइम की दर
		दैनिक	साप्ताहिक	फैलाव से (spread over)		
१. फ़ैक्टरीज़ एक्ट, १९४८ (बिना पावर के २० या ज़्यादा और पावर वाले १० या ज़्यादा श्रमियों के कारख़ानों पर लागू)	१४ वर्ष	९ घंटे वयस्कों, तथा १८ वर्ष से नीचे की आयु वालों के लिए ४½ घंटे	४८ घंटे वयस्कों के लिए	१०½ घं. वयस्कों, तथा ५ घं. १८ से कम आयु वालों के लिए	५ घंटे के काम के बाद कम-से-कम ½ घं. छुट्टी	साधारण मज़दूरी से दुगुनी
२. माइन्स एक्ट, १९५२ (यह कोयला, लोहा, सोना—सब खानों पर लागू है)	ज़मीन के नीचे १८, ज़मीन के ऊपर १५। (१५ से १८ वर्ष के डाक्टरी सर्टिफ़िकेट पर नीचे काम कर सकते हैं)	९ घं. ऊपर, ८ घं. नीचे। (१८ वर्ष से कम आयु के नीचे के काम करें तो ४ घं. ही काम कर सकते हैं)	४८ घंटे (ख़ास काम के मज़दूर ५४)	१२ ज़मीन पर, और ८ घंटे नीचे (१८ वर्ष से कम आयु के ५ घं. से ज़्यादा काम नहीं कर सकते)	५ घं. के बाद ½ घं.। (१८ वर्ष से कम आयु वालों के लिए ४ घंटे के बाद ½ घंटा छुट्टी)	ज़मीन पर काम करने वालों को १½ गुनी, नीचे वालों को दुगुनी मज़दूरी देनी होगी
३. प्लांटेशन्स लेबर एक्ट, १९५१	१२ वर्ष	—	५४ घं. वयस्क और १८ वर्ष से कम ४० घं.	१२ घंटे	५ घंटे के बाद ½ घंटा छुट्टी	—

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

४. इंडियन रेलवेज एक्ट, १८६०	१५ वर्ष	—	७½ घं. तोड़-तोड़ कर काम करने वालों के लिए, ४½ घं. सख्त काम वालों के लिए, ५४ घं. लगातार काम वालों के लिए	—	—	—	साधारण वेतन का सवा गुणा
५. इंडियन मर्चेंट शिपिंग एक्ट, १९२३ (भारत में रजिस्टर्ड सब जहाजों पर लागू है)	१४	—	—	—	—	—	—
६. शॉप्स एण्ड कमर्शियल एस्टैब्लिशमेंट्स एक्ट्स (भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दुकानों पर लागू है)	१२ से १४	८ से १० वयस्कों तथा ५ से ७ घं. बच्चों के लिए	४८ से ५६ वयस्कों तथा ३० से ४२ घं. बच्चों के लिए	११ से १४ घंटे (बिहार में १२ से १४ साल वालों के लिए ८ तथा १४ से १८ साल वालों के लिए १० घंटे)	वयस्कों को ४ से ६ घं. काम करके और बच्चों को ३ से ४ घं. काम के बाद से १½ से १ घंटा छुट्टी	—	१½ से २ गुणा तक
७. मिनिमम वेजेज एक्ट, १९४८ (खेती, उद्योग, म्यूनिसिपैलिटियों आदि में लागू है)	—	९ वयस्कों तथा ४ घंटे बच्चों के लिए	४८	१२	—	—	खेती में १½ गुणा तथा अन्य व्यवसायों में डयुना
८. एम्प्लायमेंट ऑफ चिल्ड्रेन एक्ट, १९३८	जहाजी बन्दरगाहों तथा रेलवे में १५ तथा अन्यत्र १४ वर्ष	—	—	—	—	—	—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

कानून का नाम	साप्ताहिक छुट्टी	वार्षिक छुट्टी	कल्याण-योजनाएँ	स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियम
१. फ़ैक्टरीज़ एक्ट, १९४८ (बिना पावर के २० या ज़्यादा और पावर वाले १० या ज़्यादा श्रमियों के कारख़ानों पर लागू)	१ दिन सवेतन	२४० दिन काम करने पर २० दिन के पीछे १ दिन और १८ वर्ष से नीची आयु वालों को १५ दिन पीछे १ दिन	नहाने-धोने का प्रबन्ध, २५० श्रमी हों तो कैन्टीन, ५० स्त्रियाँ हों तो शिशु-गृह (क्रेचेज़), १५० श्रमी हों तो विश्रामालय तथा भोजनालय, ५०० से ज़्यादा श्रमी हों तो वेलफ़ेयर आफ़िसर की नियुक्ति आवश्यक है।	सफ़ाई, कूड़े-कर्कट के उठाने, शुद्ध हवा, तापमान के नियंत्रण, धूएँ तथा गर्द के ठीक-से बाहर जाने, प्रकाश, जल, साफ़ टट्टी तथा पेशाबघर, थूकदानों, फ़र्स्ट-एड (आपत्ति-रक्षा) तथा ५०० श्रमी हों तो एम्बुलेंस का प्रबन्ध आवश्यक है।
२. माइन्स एक्ट, १९५२ (यह कोयला, लोहा, सोना—सब खानों पर लागू है)	१ दिन सवेतन	,,	डुबकी लगाकर नहाने का प्रबन्ध, कमरों में लॉकर वाले तालों का, २५० श्रमियों पर कैन्टीन का, ५० स्त्रियों पर शिशु-गृहों का, १५० श्रमियों पर विश्रामालय तथा ५०० से ज़्यादा श्रमी हों तो वेलफ़ेयर आफ़िसर की नियुक्ति आवश्यक है।	पीने के पानी, मूत्रालय-शौचालय, फ़र्स्ट-एड, हवा तथा शावर-बाथ का प्रबन्ध, ५०० से ज़्यादा श्रमियों पर एम्बूलेंस, स्ट्रैचर तथा औषधियों की व्यवस्था

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

३. प्लान्टेशन्स लेबर एक्ट, १९५१	१ दिन सवेतन	,,	प्रान्तीय-सरकार द्वारा स्वीकृत औषध-व्यवस्था, १५० श्रमियों पर कैंटीन, ५० स्त्रियों पर शिशु-गृह, प्रान्तीय-सरकार द्वारा स्वीकृत आमोद-प्रमोद के साधन, ३०० श्रमियों पर लेबर वेलफ़ेयर अफ़सर, बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध, मकान, छाता, बरसाती, मातृत्व अलौ-एन्स तथा रोगी होने पर ख़र्च देना।	पीने के पानी, मूत्रालय-शौचालय की व्यवस्था, प्रान्तीय-सरकार द्वारा स्वीकृत औषधियों की व्यवस्था
४. इंडियन रेलवेज़ एक्ट, १८९०	तोड़-तोड़ कर काम करनेवालों को २४, सख्त वालों को ३०, शेष को महीने में ४८ लगातार घंटे या पखवाड़े में २४ लगातार घंटे	—	—	—

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

५. इंडियन मर्चेंट शिपिंग एक्ट, १९२३ (भारत में रजिस्टर्ड सब जहाज़ों पर लागू है)	—	—	—	पीने के पानी तथा काफ़ी दवाइयों की व्यवस्था, जहाज़ पर नाविकों को ७२ घन फुट जगह मिलनी चाहिए।
६. शौप्स एण्ड कमर्शियल एस्टैब्लिशमेंट्स एक्ट्स (भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दुकानों पर लागू है)	१ से १½ दिन तक	१२ मास लगातार सेवा के बाद १० से १६ दिन तक। मध्य-भारत में १ मास तक। बच्चों को बिहार में १५ दिन पर १ दिन, मैसूर में साल में १२ दिन। रुग्णावकाश मद्रास, मैसूर, उ. प्र., हैदराबाद में १० से १५ दिन वेतन-सहित। आसाम में १ मास पर आधा वेतन। आकस्मिक-अवकाश १० से १४ दिन और ग़ज़ेटेड छुट्टी पूरे वेतन सहित मिलेगी।	—	मद्रास, मैसूर, बम्बई, मध्य-प्रदेश, केरल तथा सौराष्ट्र में सफ़ाई, हवा तथा रोशनी का प्रबन्ध आवश्यक है।
७. मिनिमम वेजेज़ एक्ट, १९४८ (खेती, उद्योग, म्यूनिसिपैलिटियों आदि में लागू है)	१ दिन वेतन-सहित या वेतन रहित	—	—	—
८. एंम्प्लायमेंट आफ़ चिल्ड्रेन एक्ट, १९३८	—	—	—	—

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

कानून का नाम	सुरक्षा-सम्बन्धी नियम	स्त्री तथा बच्चों के लिए रातपाली	स्त्रियों तथा बच्चों से काम लेने पर अन्य प्रतिबन्ध
१. फ़ैक्टरीज़ एक्ट, १९४८ (बिना पावर के २० या ज़्यादा और पावर वाले १० या ज़्यादा श्रमियों के कारख़ानों पर लागू)	मशीनों को तारों से घेरने की व्यवस्था, मशीन की खड़ी तथा चालू हालतों में जाँच, खतरे की हालत में बिजली काट डालने का प्रबन्ध, सामर्थ्य से अधिक बोझ उठाने की मनाही, आँखों के बचाव की व्यवस्था, घातक-भाप से बचाने का प्रबन्ध—ये सब ज़रूरी हैं।	सायं ७ बजे से प्रातः ६ बजे तक स्त्रियों को काम पर न लगाना, बच्चों को रातपाली पर न लगा सकने का नियम है। स्त्रियों तथा बच्चों को रातपाली की आज्ञा भी दी जाय तो भी रात को १० से ४ तक स्त्रियों तथा १० से ६ तक बच्चों से काम नहीं लिया जा सकता।	स्त्रियाँ दिन में ९ घं० से ज़्यादा काम नहीं करेंगी, स्त्रियाँ तथा बच्चे किसी चलती मशीन को साफ़ नहीं करेंगे न उसमें तेल देंगे। जिस मशीन को छूने में खतरा हो उसमें स्त्रियों तथा बच्चों से काम लेने की मनाही है। जो वयस्क नहीं है उससे तभी काम लिया जा सकता है जब डाक्टर यह सर्टिफ़िकेट दे कि वह काम करने लायक है।
२. माइन्स एक्ट, १९५२ (यह कोयला, लोहा, सोना—सब खानों पर लागू है)	खतरे की हालत में बचाव के लिए किसी निश्चित जगह की व्यवस्था, दुर्घटना हो जाने पर सरकारी अधिकारियों को सूचना देना ज़रूरी है।	स्त्रियों से सायं ७ से प्रातः ६ तक काम नहीं लिया जा सकता, रात १० से प्रातः ५ तक तो किसी भी हालत में काम नहीं लिया जा सकता। १८ साल से कम के बच्चे रात में काम नहीं कर सकेंगे, वे बच्चे माने जायेंगे, ये ६ बजे शाम से ६ बजे प्रातः तक काम नहीं कर सकेंगे, केन्द्रीय-सरकार की आज्ञा लेकर ही रात १० से प्रातः ५ तक काम कर सकते हैं।	स्त्रियाँ खानों के नीचे और बच्चे खानों में कहीं भी काम नहीं कर सकते। युवाओं (Adolescents) से ज़मीन के नीचे तभी काम लिया जा सकता है जब डाक्टर सर्टिफ़िकेट दे कि वे काम करने के लायक हैं।

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

३. प्लान्टेशन्स लेवर एक्ट, १९५१	—	स्त्रियाँ तथा बच्चे सायं ७ से प्रातः ६ बजे तक काम नहीं कर सकते। काम करना हो तो राज्य-सरकार की आज्ञा लेनी होगी।	जो 'वयस्क' (Adults) नहीं हैं उनसे काम नहीं लिया जा रकता। अगर लिया जायगा तो डाक्टरी सर्टिफ़िकेट होना ज़रूरी है। यह सर्टिफ़िकेट काम करते समय इन श्रमियों के पास होना चाहिए ताकि जाँच की जा सके।
४. इंडियन रेलवेज़ एक्ट, १८९०	—	—	—
५. इंडियन मर्चेंट शिपिंग एक्ट, १९२३ (भारत में रजिस्टर्ड सब जहाज़ों पर लागू है)।	समुद्र में गिर पड़ने पर बचाव के साधनों का प्रबन्ध हर समय रहना चाहिए।	—	१८ से कम आयु का काम पर नहीं लगाया जा सकता जब तक डाक्टरी सर्टिफ़िकेट न हो। डाक्टरी परीक्षा का होना ज़रूरी है।
६. शौप्स एण्ड कमर्शियल एस्टेब्लिशमेंट्स एक्ट्स (भिन्न-भिन्न प्रान्तों में दुकानों पर लागू हैं)	आग से बचने का प्रबन्ध—यह मद्रास, मैसूर, बम्बई, मध्य-भारत, केरल तथा सौराष्ट्र में लागू है।	बिहार में सायं ७ से प्रातः ७ तक बम्बई और सौराष्ट्र में ७ से ६ तक स्त्रियों से और बम्बई, मद्रास, केरल, सौराष्ट्र, हैदराबाद में ७ से ६ तक बच्चों से काम नहीं ले सकते। बच्चों से मध्य-प्रदेश में रात को ९ से ७, पंजाब में ७ से ८, बिहार में ७ से ७ तक काम नहीं ले सकते।	

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

७. मिनिमम वेजेज़ एक्ट, १९४८ (खेती, उद्योग, म्यूनिसिपैलिटियों आदि में लागू है)	—	—	—
८. एम्प्लायमेंट ऑफ़ चिल्ड्रेन एक्ट, १९३८	—	रेलवे तथा बन्दरगाहों में १५ वर्ष, अन्य स्थानों में १४ वर्ष से नीचे की आयु वालों से काम नहीं लिया जा सकता। रेलवे तथा बन्दरगाहों में १५ वर्ष से १७ वर्ष के बालक समझे जायेंगे और उन्हें १२ घंटे लगातार आराम मिलना चाहिये। इस १२ घंटे आराम में से आराम के ७ घंटे सायं के १० बजे से प्रातः ७ बजे तक होने चाहियें। अर्थात्, रात को इनसे काम नहीं लिया जा सकता।	

अन्य आवश्यक श्रम-कानून

१. इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स एक्ट, १९४७
२. पेमेंट ऑफ़ वेजेज़ एक्ट, १९३६
३. वर्क्समेन्स कम्पेन्सेशन एक्ट, १९२३
४. एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट, १९४८
५. कोल माइन्स प्रोवीडेंट फंड एण्ड बोनस स्कीम्स एक्ट, १९४८
६. एम्प्लायीज़ प्रोवीडेंट फण्ड्स एक्ट, १९५२
७. माइन्स मैटरनिटी बैनीफ़िट एक्ट, १९४१ तथा राज्य-सरकारों के मैटरनिटी-बैनिफ़िट एक्ट्स
८. कोल-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर फण्ड एक्ट, १९४७
९. माइका-माइन्स लेबर-वेलफ़ेयर फण्ड एक्ट, १९४६
१०. यू० पी० शूगर लेबर-वेलफ़ेयर फण्ड एक्ट, १९५०
११. बॉम्बे लेबर-वेलफ़ेयर फण्ड एक्ट, १९५३

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri
CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२८

श्रम-कल्याण

(LABOUR WELFARE)

१. श्रम-कल्याण की परिभाषा*

भिन्न-भिन्न लेखकों ने श्रम-कल्याण की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ की हैं जिनमें से मुख्य-मुख्य निम्न हैं :

[क] **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ** (I. L. O.) द्वारा व्याख्या—"श्रमिकों के कल्याण का अर्थ है श्रमिकों को ऐसी सेवाएँ, सुविधाएँ तथा आराम देना जो या तो उन्हें कारखाने के भीतर मिलें या कारखाने के आस-पास मिलें, जिनसे वे अपने काम को स्वस्थ तथा अनुकूल वातावरण में कर सकें, जिनसे उनका स्वास्थ्य तथा नैतिक-स्तर ऊँचा उठ सके।"

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. "Welfare work, intelligently conceived and generously administered must in the long run repay the employer." Comment. Show the importance of labour welfare work in India. (1953)

2. What is the distinctive role of the state, employer and worker in schemes of labour welfare? What activities would you include under welfare? (1954)

*** 3. Define 'Labour Welfare'. Whose responsibility should it be? (1956)**

4. "The importance of labour welfare work is greater in India than in the West." Examine this statement and trace critically the nature of welfare work undertaken by the State. (1958)

*** 5. What is meant by labour welfare? Discuss the importance of labour welfare activities. (Rajasthan 1961)**

*** 6. Write short notes on Labour Welfare. (1964)**

[क] "Workers welfare should be understood as meaning such services, facilities and amenities which may be established in, or in the vicinity of undertakings to enable the persons employed in them to perform their work in healthy, congenial surroundings and provided with amenities conducive to good health and high moral." —*Report of I. L. O.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[ख] **लेबर इन्वेस्ट्रीगेशन कमेटी द्वारा व्याख्या**—"हम श्रम-कल्याण में उन सब कार्यों को शामिल करते हैं जो श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक एवं आर्थिक विकास के लिये किये जायें, चाहे ये कार्य मालिकों द्वारा किये जायें, चाहे सरकार द्वारा, चाहे अन्य किसी संस्था द्वारा। इसमें श्रम-कल्याण के वे कार्य तो आ ही जाते हैं जो कानून द्वारा उन्हें प्राप्त हैं या मालिकों के साथ समझौते और सौदेबाज़ी से उन्होंने कभी प्राप्त कर लिये हैं। इस परिभाषा के अनुसार मकानों की व्यवस्था, चिकित्सा एवं शिक्षा-संबंधी सुविधाएँ, पौष्टिक भोजन, विश्राम एवं मनोरंजन की सुविधाएँ, सहकारी समितियाँ, धाय-गृह और शिशु-गृह, स्वच्छ आवास का प्रबन्ध, वेतन सहित छुट्टी, सामाजिक बीमा, बीमारी एवं मातृत्व-लाभ योजनाएँ, प्रौवीडेंट फ़ंड, पेंशन आदि भी सम्मिलित हैं।"

२. भारत में श्रम-कल्याण संबंधी कार्य*
(Labour welfare work in India)

श्रम-कल्याण की तरफ़ ध्यान देना संसार के प्रत्येक देश के लिए आवश्यक है, परन्तु पश्चिमी देशों की तुलना में भारत के लिए इस दिशा में कार्य करने की विशेष आवश्यकता है। इसका कारण यह है कि अन्य देशों में श्रमिक-वर्ग अपने अधिकारों के प्रति ज्यादा जागरूक हैं, वहां के श्रमी-संघ भारत के श्रमी-संघों की अपेक्षा ज्यादा संगठित हैं। जहाँ श्रमियों तथा श्रमिक-संघों में जागरूकता हो वहाँ समस्याएँ उत्पन्न होती रहती हैं और सुलझती रहती हैं, भारत में श्रमियों तथा श्रमिक-संघों में पाश्चात्य-देशों की-सी जागरूकता नहीं, इसलिए इस देश में श्रम-कल्याण-संबंधी कार्य-क्रम की तरफ़ विशेष ध्यान देने का अधिक महत्व है।

[ख] "We prefer to include under welfare activities anything done for the intellectual, physical, moral and economic betterment of the workers, whether by employers, by Government or by other agencies, over and above what is laid down by law or what is normally expected as part of the contractual benefits for which the workers may have bargained. Thus, under this definition, we may include housing, medical and educational facilities, nutrition, facilities for rest and recreation, co-operative societies, day nurseries and cretches, provision of sanitary accommodation, holiday with pay, social insurance measures undertaken voluntarily by employers alone or jointly with workers, including sikness and maternity benefit schemes, provident funds, gratuities and pensions." —*Report of the Labour Investigation Committee.*

*** 1. What activities would you include under labour welfare? (1954)**

2 "The importance of labour welfare work is greater in India than in the West." Explain this statement. (1958)

3. Discuss the importance of labour welfare activities. (Rajasthan, 1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

श्रम-कल्याण संबंधी वे कार्य जिन पर भारत में विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए निम्न हैं :

[कारखाने के भीतर श्रम-कल्याण संबंधी कार्य]

(क) भर्ती में मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण—इस समय श्रमियों की भर्ती बेतरतीब होती है। इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि प्रत्येक श्रमी की बुद्धि, योग्यता, रुचि एक-दूसरे से भिन्न होती है। एक श्रमी जिस काम को अपनी बुद्धि, योग्यता तथा रुचि से जितनी सफलतापूर्वक कर सकता है, दूसरा व्यक्ति उस प्रकार की बुद्धि, योग्यता तथा रुचि न होने से उस काम को उतनी योग्यता से नहीं कर सकता। इस दृष्टिकोण को सम्मुख रख कर आजकल 'व्यावसायिक मनोविज्ञान' (Industrial Psychology) का जन्म हुआ है। पाश्चात्य देशों में किसी कल-कारखाने में भर्ती के लिए व्यावसायिक-मनोवैज्ञानिक की सहायता ली जाती है। जब किसी काम के उपयुक्त, उस काम में रुचि रखने वाले श्रमी भर्ती किये जाते हैं तब वे काम से असन्तुष्ट नहीं रहते, वे भी सफल होते हैं, काम भी ठीक होता है।

(ख) औद्योगिक प्रशिक्षण—आज के युग में कल-कारखानों में विज्ञान की सहायता से दिनोंदिन उन्नति होती जा रही है। जो मशीनें आज काम देती थीं, कल वे नकारा हो जाती हैं। पाश्चात्य देशों में कारखानों में चतुर श्रमियों को नवीन वैज्ञानिक यंत्रों के प्रयोग का प्रशिक्षण दिया जाता है जिससे उनकी कार्य-शक्ति कुंठित नहीं हो पाती, उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और वे स्वयं पहले से अधिक उपयोगी बनते हैं, कारखाने को भी नई भर्ती की जरूरत नहीं पड़ती।

(ग) वातावरण का सुधार—कारखाने का वातावरण ऐसा होना चाहिए जिससे श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़े। इसके लिए कारखाने में प्रकाश का अच्छा प्रबन्ध होना चाहिए, जल-वायु की पूरी सुविधा होनी चाहिए, चारों तरफ़ स्वच्छता और सफ़ाई दृष्टिगोचर होनी चाहिए।

(घ) दुर्घटनाओं को न होने देना—कभी-कभी असावधानी से कारखाने में आग लग जाती है, बड़ी-बड़ी मशीनों की लपेट में आ जाने से दुर्घटनाएँ हो जाती हैं। इन सब के न होने देने की कारखाने में पूरी व्यवस्था होनी चाहिए। पाश्चात्य देशों में श्रमी चौकन्ने रहते हैं, भारत में अशिक्षा के कारण श्रमिकों को इन दिशाओं में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है।

(ङ) कैन्टीन, शिशु-गृह, विश्राम आदि का प्रबन्ध—श्रमियों को भूख लगती है, उसके लिए उत्तम तथा सस्ते भोजन का कारखाने की तरफ़ से प्रबन्ध होना चाहिए; माताओं की गोद में छोटे बच्चे होते हैं, उनकी देख-रेख के लिए शिशु-गृहों की व्यवस्था होनी चाहिए; श्रमी काम करते-करते थक जाते हैं, उन्हें आराम देने का प्रबन्ध होना चाहिए। इस सब से श्रमी-वर्ग की कार्य-क्षमता बढ़ती है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

[कारखाने के बाहर श्रम-कल्याण-संबंधी कार्य]

(क) **मकानों की व्यवस्था**—श्रमी को निश्चिन्त बनाने के लिए सब से ज़रूरी चीज़ मकान का होना है। मकान न हो तो उसका रहना-सहना, खाना-पीना सब बेढंगा हो जाता है। इससे श्रमी की कार्य-क्षमता घट जाती है, कारखाने के मालिक को भी नुक्सान पहुँचता है। इसी लिए श्रम-कल्याण संबंधी कार्यों में कारखाने के मालिकों को तथा सरकार को श्रमियों के आवास की तरफ़ विशेष ध्यान देना चाहिए।

(ख) **शिक्षा की व्यवस्था**—भारत के श्रमिक प्रायः अशिक्षित होते हैं। अशिक्षा तथा अज्ञानता के कारण वे अपने उद्योग में कुशलता नहीं प्राप्त कर सकते। शिक्षा के अभाव के कारण सभी वर्ग के लोग उनका शोषण करते हैं। इस कमी को दूर करने के लिए श्रमी-वर्ग के लिए रात्रि-पाठशालाएँ खोलनी चाहियें।

(ग) **चिकित्सा की व्यवस्था**—श्रमी स्वस्थ रहेगा तो अपनी कमाई करेगा, मालिक के लिए भी कमायेगा। वह जितना तन्दुरुस्त होगा उतनी उसकी कार्य-क्षमता बढ़ेगी।

(घ) **मनोरंजन की व्यवस्था**—श्रमियों के लिए स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था नहीं होगी तो श्रमी जैसा भी मनोरंजन उसे प्राप्त होगा उसी के पीछे भागेगा। जुआ, शराब, व्यभिचार—ये सब तभी पनपते हैं जब श्रमियों के लिए स्वस्थ मनोरंजन की व्यवस्था नहीं होती। कारखाने के मालिकों को चाहिए कि श्रमिकों के लिए सांस्कृतिक कार्य-क्रमों का आयोजन करते रहें जिनमें संगीत, नाटक, सिनेमा का प्रबन्ध हो। पाश्चात्य देशों में ऐसी व्यवस्था की जाती है।

३. श्रम-कल्याण-संबंधी कार्य का उत्तरदायित्व*

श्रम-कल्याण-संबंधी कार्य का उत्तरदायित्व राज्य, मालिक तथा श्रमी—इन तीन पर है। इन तीनों का उत्तरदायित्व क्या है?

(क) **श्रम-कल्याण के लिए राज्य का उत्तरदायित्व**—श्रम-कल्याण के कई ऐसे कार्य हैं जिन्हें राज्य ही कर सकता है। उदाहरणार्थ, ऐसे कानून बनाना जिनसे श्रमियों के अधिकारों की रक्षा हो। राज्य ही यह निश्चित कर सकता है कि श्रमियों के काम के घंटे कितने हों, स्त्रियों तथा बालकों से क्या काम लिया जाय, क्या न लिया जाय, कितना लिया जाय, बोनस कितना दिया जाय। राज्य ही मालिकों को बाधित कर सकता है कि श्रमियों के आवास की, चिकित्सा की, शिक्षा की व्यवस्था करे। राज्य मालिकों को आवास आदि की व्यवस्था के लिए

---

* 1. What is the distinctive role of the state, employer and worker in schemes of labour welfare? (1954)

2. Define 'Labour Welfare'. Whose responsibility should it be? (1956)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

अनुदान भी दे सकता है। इस संबंध में राज्य बहुत-कुछ कर रहा है और इसकी चर्चा हम पुस्तक में जगह-जगह कर चुके हैं।

(ख) श्रम-कल्याण के लिए मालिकों का उत्तरदायित्व—प्रायः कारखानों के मालिक समझते हैं कि श्रम-कल्याण के कार्यों पर, श्रमियों की सुख-सुविधा पर, कैन्टीन, शिशु-गृह, प्रशिक्षण आदि पर व्यय करना उन पर एक बोझ है, परन्तु उन्हें समझना चाहिए कि श्रमी जितने सुखी रहेंगे, सन्तुष्ट होंगे, उतना ही उत्पादन अधिक करेंगे, और मालिक को लाभ पहुँचा सकेंगे।

(ग) श्रम-कल्याण के लिए श्रमिकों का उत्तरदायित्व—राज्य तथा कारखानों के अतिरिक्त श्रमिकों को भी अपने कल्याण के प्रति सजग होना पड़ेगा। प्रायः राजनैतिक नेता ट्रेड यूनियनों का नेतृत्व अपने हाथ में ले लेते हैं और श्रमियों का भला करने के स्थान में अपना उल्लू सीधा करते हैं। कोई श्रमियों का नेता बन कर एसेम्बली में, कोई पार्लियामेंट में जाने की भूमिका बाँधता है। श्रमियों को संगठित होकर अपने अधिकारों को समझ कर बाहर के नेतृत्व को हटा कर भीतर के नेतृत्व को उभारना होगा।

प्रश्न

१. "बुद्धिमत्तापूर्वक आयोजित तथा उदारतापूर्वक प्रशासित कल्याण-कार्य अन्त में मालिकों के लिए ही लाभप्रद होता है।" समीक्षा कीजिये। भारत में श्रम-कल्याण कार्य के महत्व की विवेचना कीजिये। (१९५३)

२. श्रम-कल्याण की योजना में राज्य, मालिक और श्रमिक का क्या कार्य है? आप श्रम-कल्याण में किन कार्यों को सम्मिलित करेंगे? (१९५४)

३. श्रम-कल्याण की परिभाषा कीजिये। यह किसका उत्तरदायित्व होना चाहिए? (१९५६)

४. "भारत में श्रम-कल्याण-कार्य का महत्व पश्चिमी देशों की तुलना में अधिक है।" इस कथन की विवेचना कीजिये तथा राज्य द्वारा सम्पन्न कार्यों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये। (१९५८)

५. श्रम-कल्याण का क्या अर्थ है? श्रम-कल्याण कार्यों के महत्व की विवेचना कीजिये। (राजस्थान, १९६१)

६. श्रम-कल्याण पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

२९

सामाजिक-सुरक्षा
(SOCIAL SECURITY)

१. सामाजिक-सुरक्षा का आधार

व्यक्ति की दो हालतें होती हैं—'समर्थ अवस्था' तथा 'असमर्थ अवस्था'। 'समर्थ'-अवस्था में उसकी समस्या होती है—काम का मिलना और काम मिलने के साथ ऐसी परिस्थितियों का होना जिनमें उसे ग़ुलाम की तरह काम न करना पड़े। उसके काम के घंटे निश्चित हों, निर्वाह के लिए पर्याप्त पैसा मिले, ठीक समय पर मिले, आराम के लिए छुट्टी मिले, रहने को मकान मिले, जहाँ काम करे वहाँ स्वास्थ्य के अनुकूल अवस्थाएँ हों। इन सब बातों के लिए मालिक-लोग अपने-आप तैयार नहीं होते, वे मज़दूर को थोड़े-से-थोड़ा देकर ज़्यादा-से-ज़्यादा चाहते हैं, इसलिए सरकार को, अगर वह 'कल्याण-राज्य' है, तो बीच में पड़ना पड़ता है, कानून बनाने पड़ते हैं। पिछले एक अध्याय में हमने ऐसे ही श्रम-क़ानूनों का वर्णन किया। परन्तु व्यक्ति सदा समर्थ ही नहीं बना रहता। ऐसा समय भी आता है जब वह 'असमर्थ' हो जाता है। काम का न मिलना, रोगी हो जाना, वृद्ध

इस अध्याय से संबंध रखने वाले निम्न प्रश्न परीक्षाओं में आ चुके हैं :

1. Examine critically Prof. Adarkar's scheme of health insurance for Indian factory workers. (1951, 1953)

2. Discuss broad principles of social security. What social security measures have been adopted by the state for industrial workers in India? Suggest further ways and means of improvement. (1952)

3. Dscuss the need of social security measures in India. (1956)

4. Define social security and describe briefly any one Indian social security programme. (1961)

5. Discuss the concept of social insurance and give the main provisions of Employees' State Insurance Scheme. (1962)

6. Give an outline of the social security measures adopted for the benefit of industrial workers in India. (1963)

7. Write short notes on social security for industrial workers in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

हो जाना, काम करते-करते हाथ-पैर का कट जाना, जिस धंधे को कर रहा है उससे ही कोई पेशेजन्य रोग हो जाना, स्त्रियों के लिए गर्भवती होने पर काम न कर सकना—ये सब ऐसी अवस्थाएँ हैं जिनका पिछले अध्याय में वर्णित कानूनों में इलाज नहीं है। प्रश्न यह है कि जब किसी की असमर्थ-अवस्था हो, वह रोगी हो, वृद्ध हो, तो उसका और उसके मर जाने पर उसके परिवार का पालन कैसे हो?

जब तक तो मानव-समाज कृषि-युग में था, तब तक तो परिवार ही व्यक्ति का पालन करता था। उस समय संयुक्त-परिवार-पद्धति काम करती थी, जीवन से मृत्यु-पर्यन्त जिस परिवार का वह अंग था उस परिवार में उसकी हर प्रकार की देख-रेख होती थी। रोगी हो जाय, बेकार हो जाय, वृद्ध हो जाय, स्त्री विधवा हो जाय—जिस किसी प्रकार की भी असमर्थ-अवस्था हो, संयुक्त-परिवार-पद्धति व्यक्ति को भूखा नहीं मरने देती थी। जब से मशीन-युग आया है तब से अवस्था बदल गई है। अब व्यक्ति अपने गाँव को छोड़कर, घर-बार से जुदा होकर शहर में आ जाता है, कारखाने में काम करने लगता है, शहर के लोगों को देखकर उसकी शहर की-सी आदतें हो गई हैं, वह अपनी कमाई पर अपना अधिकार समझने लगा है, संयुक्त-परिवार-पद्धति के बंधन टूटते जा रहे हैं। ऐसी हालत में जब वह बीमार पड़ता है, बेकार हो जाता है, बूढ़ा हो जाता है, तब उसे पूछने वाला कोई नहीं रहता। उस समय उसकी देख-रेख कौन करे—यह वर्तमान मशीन-युग की बड़ी भारी समस्या है। इससे भी बड़ी समस्या यह है कि उसके मर जाने पर उसके परिवार का क्या हो?*

इस समस्या का हल जब से मशीन-युग आया तब से ढूँढा जा रहा है। यह हम पहले देख चुके हैं कि मशीन-युग के साथ-साथ पूँजीवाद उत्पन्न हुआ। पूँजीवाद का कहना था कि हर व्यक्ति को स्वतंत्र होना चाहिए, उसके काम में राज्य को हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए। राज्य को तो हस्त-क्षेप नहीं करना चाहिए, परन्तु ऐसी हालत में पूँजीपति रुपया जोड़ता जाता था, मज़दूर से ग़ुलाम की तरह काम लेता था, उस मज़दूर की अवस्था कैसे ठीक हो? इसका उत्तर पूँजीवाद यह देता था कि वह दान देगा, अपनी कमाई में से कुछ हिस्सा मज़दूरों पर खर्च करेगा, उनके लिए मकान बनायेगा, स्कूल खोलेगा, अपने रुपए में से उनका भला करेगा। परन्तु अपनी मर्ज़ी से दूसरों का भला कितने लोग करते हैं? इंग्लैण्ड में इस युग में यह अवस्था थी कि अगर कोई स्वस्थ व्यक्ति बेकार दीखता था, तो यह समझा जाता था कि यह जान-बूझ कर काम नहीं करना चाहता। उसे पकड़ कर उसकी पीठ पर 'वी' (v) दाग दिया जाता था जिसका अर्थ था—'वैगाबॉंड'। इस व्यक्ति को पकड़ कर कोई भी उससे दो साल तक सूखी दाल-रोटी देकर काम ले सकता था। अगर उसके बाद वह बेकार पाया जाता, तब उसकी पीठ पर

---

* **Discuss the need of social security measures in India. (1956)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

'एस' (S) दाग दिया जाता था जिसका अर्थ था—'स्लेव', और ऐसे व्यक्ति को उम्र भर गुलामी करनी होती थी। १८०१ में इंग्लैण्ड में यह बात पहले-पहल समझी गई कि काम न मिलने से, बुढ़ापे से, रोगी होने से भी कोई बेकार हो सकता है। इस भावना के अनुसार ग़रीब आदमियों को सरकार की तरफ़ से राहत देने के कुछ कानून बने। १८३४ में एक क़ानून बना जिसके अनुसार जो व्यक्ति काम करने योग्य पाये जाते थे, उनके लिए 'काम-घर' (Work-houses) बने, और जो ६० वर्ष से अधिक तथा रोगी थे, उनको राज्य की तरफ़ से सहायता दी जाने लगी। १९१९ के बाद से इंग्लैण्ड में यह अनुभव किया जाने लगा कि अगर सब-कुछ पूँजीपतियों पर छोड़ दिया जायगा, तो ग़रीबों की अवस्था सुधरने वाली नहीं। पूँजीपति तो रुपया कमाना चाहता है, दूसरे की भलाई उसका उद्देश्य नहीं हो सकता। साथ ही इस बात को इंग्लैण्ड में ही नहीं, सब जगह अनुभव किया जाने लगा कि दान के भरोसे किसी का रहना उचित नहीं। दान तो अपनी इच्छा पर आश्रित है, कोई देना चाहे दे, न देना चाहे न दे। परन्तु क्या श्रमी का जीने का अधिकार दूसरे की इच्छा पर अवलंबित है? श्रमी बेकार हो जाता है, तो क्यों? रोगी होकर इलाज नहीं कर पाता, तो क्यों? इन सब का कारण हमारी सामाजिक तथा आर्थिक रचना ही तो है। हमारी आर्थिक-रचना ही इस प्रकार की है कि हम कभी-कभी मशीनों से इतना पैदा कर बैठते हैं कि वह खप नहीं पाता, फिर हम मज़दूर को नौकरी से अलग कर देते हैं। हम उसके लिए स्वास्थ्य-संबंधी व्यवस्था कानूनों के होते हुए भी ठीक-ठीक नहीं करते इसलिए वह बीमार पड़ जाता है। श्रमी की 'असमर्थ'-अवस्था की ज़िम्मेदारी सरकार को लेनी होगी। आज संयुक्त-परिवार-प्रथा टूट गई, रही-सही मशीन-युग की कृपा और व्यक्तिवाद के अंधाधुन्ध प्रहार से टूटती जा रही है, पूँजीपति के दान तथा उसकी कृपा के भरोसे श्रमी के भविष्य को छोड़ा नहीं जा सकता। आज तो एक नया ही दृष्टि-कोण उत्पन्न हो गया है। आज यह दृष्टि-कोण उत्पन्न हो गया है कि राज्य का काम है कि वह देखे कि उसका कोई नागरिक—स्त्री, पुरुष, बाल, युवा, वृद्ध—बेकार नहीं है, कोई भूखा-नंगा नहीं है, हर किसी को काम मिलता है, जो जिस काम को कर सकता है, उसे वही काम मिलता है, हर-एक को शिक्षा, स्वास्थ्य आदि के सब अवसर समान मिलते हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र के विधान में ये बातें आ गई हैं, भारत के विधान में भी ये निर्देश दिये गए हैं। आज श्रमी किसी के दान या कृपा से नहीं, अपने अधिकार से, अपनी असमर्थ-अवस्था में राज्य द्वारा अपनी देख-रेख चाहता है। कम्यूनिस्ट देशों में तो यह बात चल ही रही है, पूँजीवादी देशों में भी इस माँग को माना जा रहा है, न मानें तो अशान्ति तथा उपद्रव न होने लगें? इंग्लैण्ड में तो १९४१ में लार्ड विलियम बेवरिज को इस प्रकार की स्कीम बनाने के लिए नियुक्त किया गया कि वे ऐसी योजना बनायें जिससे देश भर के हर व्यक्ति की सुरक्षा का प्रबन्ध हो सके। उन्होंने १९४२ में अपनी विशाल योजना बनाकर पेश की जिसे भिन्न-भिन्न हिस्सों में वहाँ की पार्लियामेंट ने स्वीकार किया। इस योजना

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ने सारी दुनिया में तहलका मचा दिया। इस योजना के अनुसार इंग्लैण्ड के हर व्यक्ति की पालने से लेकर श्मशान तक की सारी ज़िम्मेदारी सरकार ने अपने ऊपर ले ली। हर व्यक्ति को काम देना, बेकारी के दिनों में निर्वाह-व्यय देना, बीमारी, वृद्धावस्था, मृत्यु के समय सहायता करना, हर बच्चे का खर्च देना—इन सब बातों को इस योजना में स्थान दिया गया। यह इतनी बड़ी योजना है जिसे इंग्लैण्ड जैसा समृद्ध देश ही क्रियान्वित कर सकता है, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि अगर प्रत्येक नागरिक के भरण-पोषण की व्यवस्था करना राष्ट्र का कर्त्तव्य है, तो इतनी व्यापक-योजना से ही काम चल सकता है।

भारत में भी इस समस्या पर देर से विचार हो रहा है। एक दृष्टि-कोण तो यही है कि जिस प्रकार इंग्लैण्ड के लिए बेवरिज-योजना बनी है, जिस योजना में हर व्यक्ति का हर आर्थिक-संकट के लिए सरकारी बीमा है, उसी प्रकार की विशाल-योजना इस देश में भी बने, परन्तु अपने देश की महान् जन-संख्या तथा दरिद्रता को दृष्टि में रख कर इतनी बड़ी योजना को तो अभी हाथ में नहीं लिया जा सकता। जो-कुछ किया जा सकता है, वह किया जा रहा है, कुछ कानून बने हैं और कुछ बनाये जा रहे हैं, परन्तु इससे पहले कि हम उन कानूनों पर कुछ लिखें, सामाजिक-सुरक्षा की परिभाषा तथा राज की तरफ़ से 'सामाजिक-सुरक्षा' किन आधारों पर खड़ी की जा सकती है, इस पर कुछ प्रकाश डाल देना चाहते हैं।*

२. सामाजिक-सुरक्षा की परिभाषा†

सामाजिक-सुरक्षा की भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न व्याख्या की है। कुछ व्याख्याएँ नीचे दी जा रही हैं:—

[क] सर विलियम बेवरिज की परिभाषा—"अभाव, रोग, अज्ञान, गन्दगी और बेकारी पर आक्रमण का नाम सामाजिक-सुरक्षा है।"

[ख] अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ (I. L. O.) की परिभाषा—"समाज के सदस्यों पर जो खतरे आ सकते हैं उनके विरुद्ध उपयुक्त संगठन के द्वारा समाज की रक्षा करना सामाजिक-सुरक्षा है।"

बेवरिज-योजना का विस्तृत वर्णन हमने छठे अध्याय में दिया है जिससे सामाजिक-सुरक्षा तथा उस के स्वरूप पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

---

* **Discuss broad principles of social security.** (1952)

† **Define social security.** (1961)

[क] "Social security is an attack on five giants, namely, Want, Disease, Ignorance, Squalor and Idleness."
—*Sir William Beveridge.*

[ख] "Social security is the security that society furnishes through appropriate organisation against certain risks to which its members are exposed."
—*Approaches to Social Security, published by I. L. O.*

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

३. सामाजिक-बीमा, सामाजिक-सहायता तथा वैय्यक्तिक-बीमा

'सामाजिक-सुरक्षा' एक बहुत व्यापक-शब्द है, और इसमें तीन योजनाओं का समावेश है। ये तीन योजनाएँ हैं—'सामाजिक-बीमा' (Social insurance); 'सामाजिक-सहायता' (Social assistance) तथा 'वैय्यक्तिक अथवा व्यापारिक बीमा' (Private or Commercial insurance)।

'वैय्यक्तिक अथवा व्यापारिक बीमा' व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर है, हम चाहें बीमा करायें, चाहें न करायें। बीमा कम्पनी अब तक अन्य व्यापारों की तरह एक उद्योग रहा है, और व्यक्ति रूप से जो चाहे उसमें बीमा करा सकता है। उद्देश्य तो हर व्यक्ति का भी यही रहता है कि अपने तंगी के समय के लिए बीमे द्वारा वह कुछ बन्दोवस्त कर ले, परन्तु इसमें उसे बाधित रूप में बीमा नहीं कराना पड़ता। 'सामाजिक-बीमे' में यह बात नहीं है। सामाजिक-बीमा व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर नहीं है। सामाजिक-बीमे का तो कानून बनता है, कानून बनने पर वह बीमा हर व्यक्ति को कराना ही होता है। वैय्यक्तिक-बीमे में व्यक्ति ही कम्पनी को अपना बीमे का पैसा देता है, सामाजिक-बीमे में श्रमी अपना हिस्सा देता है, परन्तु वह बहुत कम होता है। श्रमी के नाममात्र के हिस्से के अतिरिक्त इस बीमे में मालिक तथा सरकार का हिस्सा ज़्यादा होता है। इस बीमे से श्रमी को जो लाभ दिये जाते हैं, वे उसके दिये हिस्से से बहुत ज़्यादा होते हैं। इस योजना में श्रमी को लाभ कृपा के आधार पर नहीं दिये जाते, ये किसी प्रकार के दान नहीं होते, ये लाभ उसे उसके अधिकार के रूप में मिलते हैं। जैसे 'वैयक्तिक अथवा व्यापारिक बीमे' (Private or Commercial insurance) और 'सामाजिक-बीमे' (Social insurance) में भेद है, वैसे 'सामाजिक-बीमे' और 'सामाजिक-सहायता' (Social assistance) में भी भेद है। 'सामाजिक-सहायता' भी 'सामाजिक-बीमे' की तरह व्यक्ति को अधिकार के रूप में दी जाती है, कृपा या दया के रूप में नहीं, परन्तु 'सामाजिक-सहायता' का रुपया सिर्फ़ सरकार की तरफ़ से दिया जाता है, उसमें श्रमी या मालिक का कोई हिस्सा नहीं होता, 'सामाजिक-बीमे' में सरकार के साथ श्रमी तथा मालिक को भी अपना हिस्सा देना पड़ता है। 'सामाजिक-बीमे' का रुपया उसी को दिया जाता है जिनका बीमा होता है, 'सामाजिक-सहायता' तो हर-किसी ज़रूरतमन्द को दी जा सकती है। एक दृष्टि से यह भी हो सकता है कि जिसे 'सामाजिक-बीमे' से मदद दी जा रही है, उसे इतनी मदद न मिल रही हो कि उसका गुज़र चल सके। ऐसी हालत में उसे 'सामाजिक-सहायता'-कोष से भी मदद मिल सकती है। 'सामाजिक-बीमा' तथा 'सामाजिक-सहायता'—ये दोनों साथ-साथ चल सकने वाली योजनाएँ हैं। 'सामाजिक-सहायता' में व्यक्ति अपना हिस्सा बिल्कुल नहीं देता, 'वैयक्तिक अथवा व्यापारिक बीमे' में व्यक्ति ही अपना हिस्सा देता है और कोई नहीं देता, 'सामाजिक-बीमे' में व्यक्ति अपना कुछ हिस्सा देता है, सब हिस्सा नहीं देता।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

इस दृष्टि से 'सामाजिक-बीमा' अन्य दोनों प्रकार की सहायताओं के बीच का मार्ग है, और असमर्थ व्यक्ति की मान-मर्यादा के ज़्यादा उपयुक्त है। 'वैयक्तिक-बीमा' एक ऐसा रास्ता है जो ग़रीब श्रमी के बस का नहीं है। उसकी कमाई ही इतनी नहीं होती कि वह खा-पी-पहन कर कुछ बचा सके। जो व्यक्ति बचा पायेगा, वही तो इस प्रकार का बीमा करा सकेगा। 'सामाजिक-सहायता' एक ऐसा रास्ता है जिसमें सारा बोझ सरकार पर आ पड़ता है। सरकार के पास इतना रुपया कहाँ है जो सब असमर्थ व्यक्तियों में बाँटती फिरे। 'सामाजिक-बीमा' एक ऐसा रास्ता है जिसमें सब का सहयोग तो मिलता है, परन्तु इसमें भी इतना रुपया नहीं जमा हो पाता जिससे श्रमी की असमर्थ-अवस्था की सब ज़रूरतों को पूरा किया जा सके। ऐसी हालत में 'सामाजिक-सुरक्षा' का एक ही उपाय रह जाता है, और वह यह है कि 'सामाजिक-सहायता' तथा 'सामाजिक-बीमा' इन दोनों के सहयोग से असमर्थों की मदद की जाय। कुछ तो 'सामाजिक-बीमे' से रुपया इकट्ठा होगा ही, इससे जितनी मदद हो सके दी जाय, बाकी रही-सही मदद सरकार के 'सामाजिक-सहायता' कोष से की जाय। इस प्रकार इन दोनों कोषों के मिलने से असमर्थ की सहायता हो सकती है।

४. भारत में सामाजिक-सुरक्षा के विचार का विकास*

हमने अभी देखा कि सुरक्षा का प्रबंध दो प्रकार से किया जा सकता है—'सहायता' द्वारा या 'बीमे' द्वारा। अन्य देश हमसे बहुत आगे बढ़े हुए हैं। अमरीका, इंग्लैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैण्ड आदि में सामाजिक-बीमे की अनेक योजनाएँ चल पड़ी हैं, परन्तु अपना देश इस दिशा में अभी बहुत पछड़ा हुआ है। सामाजिक-बीमा तो बड़ी बात है, अभी सामाजिक-सुरक्षा के क्षेत्र में भी हम अन्य देशों से बहुत पीछे हैं। हम पहले देख चुके हैं कि 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I. L. O.) समय-समय पर 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन' बुलाकर श्रमियों के लिए 'सामाजिक-विधान' (Conventions) बनाता तथा 'सिफ़ारिशें' (Re-commendations) करता रहता है। इन 'सामाजिक-विधानों' तथा 'सिफ़ारिशों' के लिए जो देश 'स्वीकृति' (Ratification) दे देते हैं, उन्हें इनके अनुसार अपने श्रम-कानून बनाने पड़ते हैं। भारत ने १०० से ऊपर 'सामाजिक-विधानों' में से अभी तक केवल २३ के लिए स्वीकृति दी है। इन विधानों में से 'सामाजिक-सुरक्षा' से संबंध रखने वाले १९५३ तक २६ विधान थे जिनमें से कुल २ विधानों के लिए हमारे देश ने स्वीकृति दी थी जब कि तब तक बेलजियम ने ९, फ्रांस ने ११ और इंग्लैण्ड ने १३ विधानों के लिए स्वीकृति दे दी थी। 'सुरक्षा' के उद्देश्य से इन विधानों में संसार के सब देशों का जिन बातों की तरफ़ ध्यान आकर्षित किया

* **Give an outline of the social security measures adopted for the benefit of industrial workers in India. (1963)**

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

गया है, वे हैं—(क) बीमारी तथा असमर्थता के लिए व्यवस्था, (ख) दुर्घटना के कारण असमर्थता के लिए व्यवस्था, (ग) मातृत्व के कारण काम पर न आ सकने से बेकारी की व्यवस्था, (घ) काम न मिलने के कारण बेकार रहने के दिनों की व्यवस्था, (ङ) वृद्धावस्था के कारण काम न कर सकने पर व्यवस्था तथा (च) परिवार के मुख्य कमाने वाले के मर जाने के कारण परिवार के सदस्यों का—स्त्री, पुत्र, विधवा आदि का—आश्रयहीन हो जाना तथा इस कारण इन सब की सुरक्षा की व्यवस्था।

यह नहीं कहा जा सकता कि अपने देश में इन समस्याओं को हल करने का प्रयत्न किया ही नहीं गया। 'सामाजिक-बीमे' की तरफ़ से तो अपने देश का ध्यान इंग्लैण्ड में 'बेवरिज-रिपोर्ट' के प्रकाशित होने के बाद ही गया। इस रिपोर्ट के बाद १९४८ में देश-व्यापी बीमे की योजना तो यहाँ नहीं बनायी जा सकी, परन्तु कुछ उद्योगों के लिए **'एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट (१९४८–१९५१)** बनाया गया। बेवरिज-योजना तो इंग्लैण्ड के हर वर्ग के लिए है, श्रमी हो, श्रमी न हो, सब पर वह योजना लागू होती है; हम अपने देश में केवल श्रमियों के लिए उक्त कानून के अनुसार योजना बना सके हैं, श्रमियों में भी सब श्रमियों के लिए नहीं, कुछ के लिए ही, और कुछ के लिए भी केवल स्वास्थ्य-संबंधी बातों को सामने रख कर। अन्य श्रमियों के लिए यदि 'सामाजिक-बीमे' की योजना नहीं भी बना सके, तो भी उनकी समस्याओं के लिए अलग-अलग कानून बनाये गए हैं। वे कानून हैं—(क) **वर्कमेन्स कम्पन्सेशन एक्ट** (१९२३) (ख) **मैटरनिटी बैनीफिट एक्ट्स** तथा (ग) **एम्प्लायीज़ प्रौवीडेंट फ़ंड एक्ट** (१९५२)। जैसा हमने अभी कहा, इन तीन कानूनों के अलावा श्रमियों की स्वास्थ्य-संबंधी समस्याओं को हल करने के लिए 'सामाजिक-बीमे' की योजना भी बनाई गई है जिसके लिए (घ) **एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट** (१९४८–५१) बनाया गया है। अब हम क्रमशः इन चारों का वर्णन करेंगे।*

५. श्रमी-मुआविज़ा अधिनियम, १९२३
(Workmen's Compensation Act—1923)

भारत में औद्योगिक-विकास के साथ-साथ मशीन का प्रयोग दिनोंदिन बढ़ रहा है। मशीनों के बढ़ते प्रयोग से दुर्घटनाओं का बढ़ना भी स्वाभाविक है। वैसे तो **फ़ैक्टरीज़-एक्ट्स** में मशीनों की मार से बचने के सब साधनों का प्रयोग किया गया है, फिर भी मज़दूरों की असावधानी, नासमझी तथा थकावट की वजह

*** 1. What social security measures have been adopted by the State for industrial workers in India? (1952)**

इस प्रश्न के उत्तर में इस पुस्तक का पृ० ३९ भी देखिये।

2. Write short notes on social security for industrial workers in India. (1964)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

से दुर्घटनाएँ रोज़-रोज़ होती रहती हैं। मशीनें इतनी बड़ी हैं, इतनी तेज़ी से चलती हैं कि कोई-न-कोई लपेट में आ ही जाता है। दुर्घटना हो जाने पर कोई तो जीवन भर के लिए काम का नहीं रहता, कोई-कोई ज़िन्दगी से ही हाथ धो बैठता है। इन लोगों का जहाँ अपना जीवन दूभर हो जाता है, वहाँ इन पर आश्रित परिवार को भी मुसीबत का सामना करना पड़ता है। इन लोगों की समस्या का हल करना ज़रूरी है। इस संबंध में 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I. L. O.) ने 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन' बुला कर कुछ 'सामाजिक-विधान' (Conventions) तथा 'सिफ़ारिशें' (Recommendations) स्वीकार की हैं जो मुआविज़े संबंधी श्रम-कानूनों के लिए सिद्धान्तों का निरूपण करती हैं। इन सब सिद्धान्तों को सामने रख कर भारत-सरकार ने श्रमियों के मुआविज़े का कानून १९२३ में बनाया। इसका १९२६ तथा १९२९ में संशोधन किया गया। इस संशोधन द्वारा पेशेजन्य बीमारियों को भी मुआविज़े में शामिल कर दिया गया। १९३१ में 'रॉयल-लेबर-कमीशन' की रिपोर्ट प्रकाशित हुई। उसकी सिफ़ारिशों को ध्यान में रखते हुए १९३४ में फिर इस कानून में संशोधन हुआ। इसके बाद १९३८, १९३९, १९४२, १९४६ में फिर संशोधन हुए। १९४६ के संशोधन में मुआविज़ा दिये जाने वालों की योग्यता ३०० रुपया मासिक पाने वालों से बढ़ाकर ४०० रुपया कर दी गई और इस प्रकार इस कानून का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया। इस समय इस कानून का रूप निम्न है :—

क्षेत्र—जम्मू तथा काश्मीर को छोड़ कर फ़ैक्टरी, खान, रेलवे आदि सब क्षेत्रों में काम करने वाले श्रमियों पर यह कानून लागू है। क्लर्की या शासन-संबंधी काम करने वाले, फ़ौज में काम करने वाले, आकस्मिक रूप से काम करने वाले या ४०० रुपए से अधिक वेतन पाने वालों पर यह कानून नहीं लगता। ताकत से चलने वाली १० या उससे ज्यादा श्रमियों की तथा बिना ताकत से चलने वाली ५० या उससे अधिक श्रमियों की फ़ैक्टरियों पर यह कानून लागू है। अगर कोई जहाज़ ताकत से चलता है या जो जहाज़ ५० या इससे ज्यादा टन का है उस पर भी यह कानून लागू होता है। जिस धंधे में खतरा है उस पर भी यह कानून लागू है, या राज्य-सरकार इसे लागू कर सकती है। उत्तर-प्रदेश तथा मद्रास की सरकारों ने ताकत से चलने वाली गाड़ियों तथा माल लादने एवं उतारने के श्रमियों पर यह कानून लगा दिया है। बीड़ी, सिगरेट, तथा तम्बाकू के कारख़ानों में भी कहीं-कहीं इसे लगा दिया गया है। इमारतों के बनाने, ढाने, सड़क, पुल, बाँध, सुरंग, टैलीफ़ोन या तार के खंभे, नहर, फ़ायर-ब्रिग्रेड, सिनेमा, गोताखोरी,

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आदि के संबंध में भी यह कानून लगता है। जिसको **एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट** (१९४८–१९५१) के अनुसार मुआविज़ा मिल सकता है उसे इस कानून के आधीन नहीं मिलेगा क्योंकि दो जगह से तो मुआविज़ा देने का कोई मतलब नहीं है।

मुआविज़े का अधिकार—काम के समय अगर कोई दुर्घटना हो जाय, तो मालिक को मुआविज़ा देना पड़ता है। अगर दुर्घटना का असर १० दिन के अन्दर समाप्त हो जाता है, तो मुआविज़ा नहीं देना पड़ता। अगर दुर्घटना की ज़िम्मेदारी श्रमी की अपनी है, अगर नशे या किसी स्पष्ट आज्ञा के उल्लंघन से दुर्घटना हुई है, तब भी मुआविज़ा मालिक के सिर नहीं पड़ता। हाँ, अगर किसी कारण भी दुर्घटना से मृत्यु हो गई, तब मालिक को मुआविज़ा देना पड़ता है। इस एक्ट में एक शिड्यूल लगा दिया गया है जिसमें उन बीमारियों का नाम लिखा गया है जो पेशेजन्य बीमारियाँ समझी जायेंगी। उदाहरणार्थ, सीसे से विष का चढ़ जाना, भाप से जहर चढ़ जाना—आदि, आदि। राज्य-सरकार इस सूची को और बढ़ा सकती है। इन सब के लिए श्रमी को मुआविज़ा देने की इस कानून में व्यवस्था है।

मुआविज़े की राशि—मुआविज़े की राशि का निश्चय इस बात से किया जाता है कि श्रमी को चोट किस प्रकार की लगी है, दुर्घटना किस प्रकार की हुई है, और उसकी आमदनी क्या थी? इस दृष्टि से दुर्घटनाओं को तीन हिस्सों में बाँटा गया है—मृत्यु, स्थायी चोट, अस्थायी चोट। वयस्क की मृत्यु हो जाने पर, १०. रुपया मासिक से कम पाने वालों को ५०० तथा ३०० से अधिक पाने वालों को ४,५०० मुआविज़ा दिया जाता है; वयस्क को स्थायी चोट लगने पर आमदनी के अनुसार ७०० से ६,३०० तक मुआविज़ा मिलता है। नाबालिग की मृत्यु पर २०० तथा स्थायी चोट लगने पर १,२०० मुआविज़ा निर्धारित किया गया है। नाबालिग की आमदनी में कोई विशेष भेद नहीं होता इसलिए सब नाबालिगों के साथ एक ही नियम लगाया गया है। अस्थायी चोट के सम्बन्ध में वयस्कों तथा नाबालिग़ों को आमदनी का कुछ भाग दिये जाने का विधान है, यह भी ३० रुपया मासिक से अधिक नहीं मिलेगा। अस्थायी चोट में आधा मुआविज़ा चोट लगने के ७वें दिन से गिना जायगा, १६वें दिन से इसे देना शुरू किया जायगा और ज्यादा-से-ज्यादा पाँच साल तक दिया जा सकेगा। मुआविज़े की दर निम्न प्रकार होगी :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

आहत-श्रमी की मासिक-आय		मुआविज़े की राशि				
		मृत्यु		स्थिर चोट		अस्थिर चोट
		वयस्क	नाबालिग़	वयस्क	नाबालिग़	वयस्क-नाबालिग़
से	पुक					
०	१०	५००	२००	७००	१,२००	५-०-०
१०	१५	५५०	२००	७७०	१,२००	५-०-०
१५	१८	६००	२००	८४०	१,२००	६-०-०
१८	२१	६३०	२००	८८२	१,२००	७-०-०
२१	२४	७२०	२००	१,००८	१,२००	८-०-०
२४	२७	८१०	२००	१,१३४	१,२००	८-८-०
२७	३०	९००	२००	१,२६०	१,२००	९-०-०
३०	३५	१,०५०	२००	१,४७०	१,२००	९-८-०
३५	४०	१,२००	२००	१,६८०	१,२००	१०-०-०
८०	१००	३,०००	२००	४,२००	१,२००	२५-०-०
१००	२००	३,५००	२००	४,९००	१,२००	३०-०-०
२००	३००	४,०००	२००	५,६००	१,२००	३०-०-०
३००	—	४,५००	२००	६,३००	१,२००	३०-०-०

मुआविज़े के अधिकारी (आश्रित)—इस कानून के लिए आश्रितों को दो श्रेणियों में विभक्त कर दिया गया है—वे जो बिना किसी प्रमाण के आश्रित माने जाते हैं, और वे जिन्हें आश्रित साबित करना पड़ता है। बिना प्रमाण के आश्रित श्रमी की पत्नी, पुत्र, अविवाहिता पुत्री तथा विधवा-माता हैं; जिनके आश्रित होने का प्रमाण देना पड़ता है वे हैं—विधवा-माता के अतिरिक्त और दूसरे कोई माँ-बाप, नाबालिग़ अवैध पुत्र, नाबालिग़ अवैध पुत्री, वैध अथवा अवैध विवाहिता पुत्री जो या तो नाबालिग़ हो या विधवा हो गई हो, नाबालिग़ भाई, अविवाहिता या विधवा बहन, विधवा बहू, मृत-पुत्र की नाबालिग़ सन्तान, मृत-पुत्री की ऐसी नाबालिग़ सन्तान जिसका कोई अभिभावक नहीं—आदि। ये आश्रित व्यक्ति मुआविज़े के अधिकारी समझे गए हैं।

मुआविज़े का विभाजन—हर-एक घातक चोट की रिपोर्ट श्रमियों के मुआविज़े के कमिश्नर के पास करना ज़रूरी है। अगर मालिक इस बात को मानता है कि मुआविज़े की उसकी देनदारी है, तो उसे इस कमिश्नर के पास मुआविज़ा जमा कर देना होगा, अगर न मानता हो तो कमिश्नर सारे मामले की जाँच करेगा और आहत व्यक्ति को सूचना दे देगा कि वह मामला अदालत में ले जा सकता है। अपनी जाँच की सब बातें भी वह आहत व्यक्ति के सामने रख देगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध—इस कानून को क्रिया में परिणत करना राज्य-सरकारों का काम है। राज्य-सरकारें श्रमियों के मुआविज़े के कमिश्नर नियुक्त करती हैं। इस कमिश्नर का काम मुआविज़े के झगड़ों को निपटाना, इनका फ़ैसला करना और जिस-जिस को जितना मुआविज़ा मिलना चाहिए वह देना तथा दिलाना है। १९५३ में भिन्न-भिन्न कारखानों में १२१२ मौतें हुईं, ४,५४७ स्थिर-चोट के और ५५,९८३ अस्थिर चोटों के शिकार हुए। इस प्रकार कुल दुर्घटनाएँ ६१,७४२ हुईं। १९५३ में मौतों के लिए २३,४१,१३१, स्थिर-चोटों के लिए २३,१५,४४७, अस्थिर-चोटों के लिए १४,८१,८११ अर्थात् कुल ६१,३८,३८९ रुपया खर्च करना पड़ा।

इस कानून के लाभ—इस कानून में हर बात को निश्चित रूप देने का प्रयत्न किया गया है, इसलिए यह सफल-कानून कहा जा सकता है। मालिक लोग तो इसके शिकंजे में से निकलने का प्रयत्न करते हैं, परन्तु कुछ सस्थाओं ने मज़दूरों की सहायता के लिए अपने संगठन बनाये हुए हैं, जो उन्हें कानूनी मदद करते हैं। बम्बई के राष्ट्रीय-मिल-मज़दूर-संघ ने इस कानून का खूब प्रचार किया है और मज़दूरों को मुआविज़ा दिलवाने में पर्याप्त मदद की है। इस कानून के फ़ायदों को देख कर मैसूर-राज्य ने सिटी-बोर्डों तथा ज़िला-बोर्डों में भी इस कानून को लागू कर दिया है। सरकार ने १९५४ में इसे उन मज़दूरों पर भी लागू कर दिया है जो ट्रैक्टरों तथा खेतों में अन्य यान्त्रिक उपकरणों को इस्तेमाल करने का काम करते हैं।

इस कानून के दोष—मालिकों की शिकायत यह है कि घातक चोट-लगने पर अगर कारखाने के मालिक का दोष नहीं भी है तो भी मौत हो जाने पर मालिक को मुआविज़ा देना पड़ता है। यह उचित नहीं है। यह तो मालिकों की बात हुई, मज़दूरों की इस विषय में शिकायत यह है कि कानून के बावजूद उन्हें मुआविज़ा नहीं दिया जाता। अगर कोई मज़दूर मुआविज़े की बात करता है, तो किसी-न-किसी बहाने उसे नौकरी से बर्खास्त कर दिया जाता है। कभी-कभी उन्हें मुआविज़े में आधी या उससे भी कम रकम देकर पूरी की रसीद ले ली जाती है। अक्सर चोट लगने पर मज़दूर अपने गाँव चला जाता है। शहर में तो उसकी देख-भाल करने वाला कोई नहीं इसलिए उसे घर जाना ही पड़ता है। इधर उसकी मुआविज़े की बात खटाई में पड़ जाती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मुआविज़े की बात मुँह से निकालना अपनी नौकरी को खतरे में डालना है। मज़दूर अपनी पक्की नौकरी को मुआविज़े की खातिर खतरे में नहीं डालना चाहता इसलिए बिना मुआविज़ा लिये या थोड़ा-बहुत लेकर ही वह चुप हो जाता है। इसका क्या इलाज है?

इस दोष का इलाज—हाँ, इसका इलाज है। इस कानून के क्रियान्वित होने में सब से बड़ी बाधा यह है कि मालिक अपने सिर मुआविज़े-जैसी भारी

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

ज़िम्मेवारी नहीं लेना चाहते। उनको इस ज़िम्मेवारी से छुड़ाने का उपाय यह है कि वे हर-एक श्रमी का किसी कम्पनी में बीमा करा दें। बीमा करा देने से मालिक छूट जाता है और सारी ज़िम्मेवारी कम्पनी के सिर आ जाती है। रोज़-रोज़ दुर्घटनाएँ होती नहीं इसलिए बीमा कम्पनियों को भी कोई नुकसान नहीं होता। बीमा हो जाने से मालिक पहले जहाँ मुआविज़ा देने से भागता था वहाँ अब मुआविज़ा दिलवाने में मज़दूर की पूरी मदद करता है। इसी प्रकार यह दोष दूर किया जा सकता है।

६. मातृत्व-लाभ अधिनियम
(Maternity Benefit Acts)

हम पहले लिख आये हैं कि 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I. L. O.) समय-समय पर 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन' (International Labour Conferences) का आयोजन करता रहता है, और इन सम्मेलनों में श्रमियों की भिन्न-भिन्न समस्याओं को लेकर विचार होता रहता है। १९१९ में 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन' ने यह 'सामाजिक-विधान' (Convention) पास किया कि प्रसव से पहले माता को ६ सप्ताह तथा बाद को ६ सप्ताह का सवेतन-अवकाश मिलना चाहिए, बच्चे का भरण-पोषण तथा डाक्टरी सहायता का भी प्रबन्ध होना चाहिए। इस 'विधान' को कुछ देशों ने माना, कुछ ने नहीं माना; परन्तु इस दिशा में उन्होंने अपने देशों में अपनी आर्थिक व्यवस्था के अनुसार कानून ज़रूर बनाये। हमारे देश ने 'विधान' पर हस्ताक्षर तो नहीं किये, परन्तु हमारे यहाँ के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस विचार-धारा को आधार बनाकर कुछ कानून बनाये गये। यद्यपि इस समय केन्द्रीय-सरकार का इस संबंध में कोई कानून नहीं है, तो भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों में इस आशय के अलग-अलग कानून बन गए हैं। १९२४ में श्री एन० एम० जोशी ने इस आशय का एक केन्द्रीय कानून बनवाना चाहा था, परन्तु वह नहीं बन सका। सरकार की तरफ़ से कहा गया कि यहाँ का श्रमी-वर्ग स्थिर रहने वाला नहीं है, अधिकांश स्त्रियाँ प्रसूति के लिए अपने गाँव चली जाती हैं। ऐसी हालत में यहाँ की परिस्थितियों को देखकर मातृत्व-लाभ का कोई अधिनियम नहीं बन सकता। ऐसा एक केन्द्रीय-नियम बनना चाहिए इसमें कोई सन्देह नहीं। अपने देश में एक हज़ार बच्चों के पीछे २५ स्त्रियाँ प्रसूति के कारण चल बसती हैं। इस हिसाब से २ लाख ५० हज़ार स्त्रियों को प्रसूति की वजह से प्राण से हाथ धोने पड़ते हैं। ऐसी अवस्था में मातृत्व के संरक्षण पर ज़ोर देना निहायत ज़रूरी है। माताएँ मर जायेंगी, तो बच्चों का क्या होगा, वे जीती रहेंगी तो भी उनके बच्चों

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

का स्वास्थ्य किस काम का होगा। यह सब देख कर राज्य-सरकारों ने मातृत्व-लाभ के कानून बनाये हैं।

राज्य-सरकारों में १९२९ में सब से पहले बम्बई में **'मैटरनिटी-बैनीफिट एक्ट'** बना। १९३० में मध्य-प्रदेश ने बम्बई का अनुसरण किया। इस समय १९३१ में रॉयल-लेबर-कमीशन ने अपनी सिफ़ारिशों में इस बात पर ज़ोर दिया कि प्रसव-काल के लिए स्त्रियों को छुट्टी आदि की सुविधा दी जानी चाहिए। परिणामतः, अनेक प्रान्तों में इस आशय के कानून बने। मद्रास में १९३४ में, उत्तर-प्रदेश में १९३८ में, बंगाल में १९३९ में, पंजाब में १९४३ में, आसाम में १९४४ में, बिहार में १९४५ में यह कानून बना। १९३२ तथा १९३७ में बम्बई के कानून को ही अजमेर-मेरवाड़ा तथा दिल्ली में चालू किया गया। खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिए केन्द्रीय-सरकार ने १९४१ में **'माइन्स मैटरनिटी बैनीफिट एक्ट'** पास किया। इन सब अधिनियमों की आधार-भूत बातें निम्न हैं :—

क्षेत्र—बम्बई, मध्य-प्रदेश, आसाम, मैसूर, हैदराबाद में फ़ैक्टरी की परिभाषा में आने वाले कारख़ानों में काम करने वाली स्त्रियाँ इस कानून के अन्दर आ जाती हैं। बम्बई में किन्हीं निश्चित ज़िलों तथा शहरों पर ही यह कानून लागू है, सब जगह नहीं। आसाम में बाग़ान में काम करने वाली स्त्रियों पर ही यह कानून लागू होता था। १९४८ में पश्चिमी बंगाल के चाय-बग़ीचों पर भी यह कानून लागू कर दिया गया। १९५० में इस कानून में एक संशोधन हुआ जिसके अनुसार प्रसव के ६ सप्ताह बाद तक प्रसूता को काम से छुट्टी की सुविधा दी गई।

योग्यता-काल—आसाम में १२ मास में १५० दिन काम करने पर इस कानून का लाभ मिल जाता है। जो स्त्रियाँ काम पर लगने के समय गर्भवती थीं, उन पर १५० दिन की शर्त लागू नहीं होती, उन्हें बिना १५० दिन काम करने पर भी छुट्टी मिल सकती है। बिहार और यू० पी० में ६ मास, मद्रास में २४० दिन और बम्बई, मध्य-प्रदेश, हैदराबाद, मैसूर तथा ट्रावनकोर में ९ मास तक काम करने पर मातृत्व-लाभ की छुट्टी मिल सकती है।

मातृत्व लाभ के दिन—प्रसव के लिए प्रायः सभी प्रान्तों में ८ सप्ताह की छुट्टी का विधान है, चार सप्ताह प्रसव से पहले, चार सप्ताह बाद। मद्रास में मातृत्व-लाभ का समय ८ सप्ताह की जगह ७ सप्ताह, पंजाब में ६० दिन, हैदराबाद में तथा पश्चिमी-बंगाल के चाय-बाग़ान में १२ सप्ताह है।

लाभ की दर—गर्भवती तथा प्रसूता स्त्री को जो मातृत्व-लाभ दिया जाता है, उसकी दर भिन्न-भिन्न प्रान्तों में निम्न है :—

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रान्त	योग्यता-काल	लाभ के सप्ताह	लाभ की दर
आसाम (१९४४)	१५० दिन	८	बाग़ान में -।११।६ प्रतिदिन
बिहार (१९४७)	६ मास	८	८ आ० प्रतिदिन
बम्बई (१९२९)	९ मास	८	८ आ० प्रतिदिन
सी० पी० (१९३०)	९ मास	८	८ आ० प्रतिदिन
मद्रास (१९३५)	२४० दिन	७	८ आ० प्रतिदिन
पंजाब (१९४३)	९ मास	६० दिन	१२ आ० प्रतिदिन
उत्तर-प्रदेश (१९३८)	६ मास	८	८ आ० प्रतिदिन
पश्चिमी बंगाल (१९४८)	१५० दिन	१२	५–४–० प्रति सप्ताह
कोचीन (१९३८)	१२ मास	८	८ आ० प्रतिदिन
हैदराबाद (१९४०)	९ मास	१२	१२ आ० प्रतिदिन
ट्रावनकोर (१९४३)	९ मास	८	८ आ० प्रतिदिन
मैसूर (१९३७)	९ मास	८	१२ आ० प्रतिदिन
उड़ीसा (१९५३)	६ मास	७	१२ आ० प्रतिदिन
राजस्थान (१९५३)	७ मास	८	१२ आ० प्रतिदिन

अतिरिक्त-लाभ—अगर कोई श्रमी-स्त्री धाया या किसी ट्रेंड व्यक्ति की सेवाओं का लाभ उठाना चाहे, तो उसे बोनस भी दिया जाता है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार में ५ रुपया दिया जाता है, आसाम तथा पश्चिमी-बंगाल में प्रसव-काल के लिए मुफ्त डाक्टरी सहायता का प्रबन्ध है। उत्तर-प्रदेश तथा बिहार के मातृत्व-लाभ के कानूनों में यह भी कहा गया है कि यदि किसी मालिक के यहाँ ५० स्त्रियाँ काम करती होंगी, या उसके श्रमी-वर्ग में से अगर २५ प्रतिशत स्त्रियाँ होंगी, तो उसे शिशु-गृहों की व्यवस्था करनी होगी। इसके साथ ही मालिक को इन स्त्रियों तथा बच्चों के स्वास्थ्य की देख-भाल के लिए चिकित्सक का प्रबन्ध करना होगा। उत्तर-प्रदेश तथा राजस्थान के कानून में गर्भपात की हालत में ३ सप्ताह की छुट्टी का प्रबन्ध किया गया है। अगर किसी स्त्री का एक साल से न्यून आयु का बच्चा होगा, तो उसे प्रातः तथा सायं आध-आध घंटे की अतिरिक्त छुट्टी मिलेगी, आध घंटे की जो सब को मिलती है, वह तो मिलेगी ही। अगर फ़ैक्टरी में शिशु-गृहों की व्यवस्था होगी, तो यह अतिरिक्त छुट्टी आध घंटे के स्थान में पन्द्रह-पन्द्रह मिनट की होगी।

उक्त नियमों को तोड़ने पर प्रतिबन्ध—मातृत्व-लाभ के खर्च से बचने के लिए मालिक गर्भवती स्त्रियों को नौकरी से अलग न कर दें इसकी भी इन कानूनों में व्यवस्था कर दी गई है। गर्भावस्था में किसी स्त्री को निकाला नहीं जा सकता, और न उससे काम लिया जा सकता है, अगर कोई काम लेगा, तो वह दण्डनीय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

होगा। आसाम के कानून के अनुसार प्रसव से पहले के चार सप्ताह में काम लिया जा सकता है, परन्तु बहुत हल्का। पश्चिमी-बंगाल में भी चाय-बगीचों में प्रसव के पूर्व के छः सप्ताहों में हल्का काम लिया जा सकता है, परन्तु यह तब अगर डाक्टर स्त्री को काम के योग्य कहे।

प्रबन्ध—उक्त सब नियम राज्य-सरकारों के फ़ैक्टरी-इन्स्पेक्टरों की देख-रेख में चलते हैं। १९५३ में आन्ध्र, आसाम, बिहार, बम्बई, मध्य-प्रदेश, मद्रास, पंजाब, उत्तर-प्रदेश तथा पश्चिमी बंगाल में ४,३५,२४२ स्त्रियाँ इन प्रान्तों के कारखानों में काम कर रही थीं। इनमें से ६३,७६२ स्त्रियों ने मातृत्व-लाभ का अधिकार चाहा जिनमें से ६१,००५ को पूरा-पूरा या आंशिक मातृत्व-लाभ दिया गया, ४१२ को गर्भपात के कारण मातृत्व-लाभ दिया गया, और इन सब के ऊपर ३,६४०,१८४ रुपया मातृत्व-लाभ में खर्च हुआ। इनके अतिरिक्त हैदराबाद, मैसूर तथा ट्रावनकोर में ५५,२०२ स्त्रियों में से ४,१११ स्त्रियों पर २,१६,१२३ रुपया खर्च हुआ। यह सब इस बात का प्रमाण है कि मातृत्व-लाभ पर काफ़ी रुपया खर्च हो रहा है।

इस कानून के दोष—वैसे तो इस कानून से श्रमी-स्त्रियों को बहुत लाभ हुआ है, फिर भी इसका एक दोष तो यह है कि सब प्रान्तों में एक-से मातृत्व-लाभ के कानून नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्रसव के पूर्व तथा पश्चात् मुफ्त चिकित्सा की सहायता का प्रबन्ध भी नहीं है। कई जगह मालिक गर्भ के प्रथम लक्षण देख कर ही स्त्री को काम से हटा देते हैं ताकि उन्हें 'मातृत्व-लाभ' का रुपया न देना पड़े। अक्सर मालिक लोग ऐसी स्त्रियों को रखना पसन्द करते हैं जो मातृत्व के दायरे को पार कर चुकी हों या अविवाहिता हों। अविवाहिता लड़कियों के शादी करते ही उन्हें निकाल दिया जाता है। स्त्रियाँ भी कानून को न जानने और जान भी जाँय तो नौकरी छूट जाने के डर से 'मातृत्व-लाभ' का फ़ायदा नहीं उठातीं। प्रश्न यह है कि क्या इन दोषों को दूर नहीं किया जा सकता?

इन दोषों का इलाज—इन दोषों को दूर किया जा सकता है। रॉयल-लेबर-कमीशन ने सिफ़ारिश की थी कि इस कानून की देख-भाल के लिए स्त्री-निरीक्षिकाओं को नियुक्त किया जाना चाहिए। इसमें सन्देह नहीं कि अगर स्त्री-निरीक्षिकाओं के सुपुर्द यह काम किया जाय, तो उनके उद्योग से बहुत अधिक स्त्रियों को 'मातृत्व-लाभ'-कानून के फ़ायदे मिल सकेंगे। इन लाभों के न मिल सकने में सब से बड़ी कठिनाई यह है कि इस मद में जो रुपया देना पड़ता है, वह मालिक को देना पड़ता है, उसे यह बहुत अखरता है। अखरना तो नहीं चाहिए क्योंकि मजदूरों को भी जीने का ही नहीं मनुष्य की तरह जीने का अधिकार है, परन्तु, क्या करें, रुपया कुछ चीज़ ही ऐसी है कि उसे कोई छोड़ना नहीं चाहता। इसका सबसे अच्छा उपाय बीमा करा देना है। जैसे मुआविज़े के कानून के विषय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

में हमने अभी लिखा, बीमा करा देने से मालिक अपनी ज़िम्मेदारी से बरी हो जाता है, और सारी ज़िम्मेदारी बीमा कम्पनी की हो जाती है। इस विषय में भी प्रत्येक स्त्री का बीमा करा देने से चख-चख मिट जाती है, और फिर मालिक 'मातृत्व-लाभ' में बाधक होने के स्थान में सहायक होने लगता है। अब तो 'एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट' (१९४८–१९५१) के अनुसार जिन उद्योगों में बाधित तौर पर बीमा करना होगा उनमें मातृत्व-लाभ की समस्या अपने-आप हल हो जायगी क्योंकि उन धंधों में काम करने वाली स्त्रियों को प्रसव-काल में 'मातृत्व-लाभ' का रुपया बीमे से मिलेगा, उसका बोझ सिर्फ़ मालिक पर नहीं पड़ेगा। जब यह बीमे का कानून श्रमी-वर्ग के सब क्षेत्रों में लग जायगा तब तो पृथक् 'मैटर-निटी बैनिफ़िट एक्ट्स' की आवश्यकता ही नहीं रहेगी।

७. श्रमी प्रौवीडेंट-फंड अधिनियम, १९५२
(Employees Provident Fund Act—1952)*

सरकारी-विभागों में प्रायः हर जगह प्रौवीडेंट-फंड अथवा ग्रैच्युइटी की व्यवस्था है। प्रौवीडेंट-फंड में वेतन का कुछ हिस्सा सेवा-काल तक कटता रहता है, उसमें सरकार की तरफ़ से कुछ हिस्सा जुड़ता रहता है और सेवा समाप्त होने पर जब व्यक्ति बूढ़ा हो जाता है, किसी काम को नहीं कर सकता, तब यह रुपया उसे मिल जाता है। किसी-किसी विभाग में प्रौवीडेंट-फंड की नहीं, अपितु ग्रैच्युइटी की व्यवस्था है। इसमें वेतन से तो कुछ नहीं कटता, सरकार सहायता के तौर पर एक रकम दे देती है। अभी तक बड़ी-बड़ी नौकरियों में यह व्यवस्था है, परन्तु ज़रूरत तो ग़रीब लोगों को है। बड़ी नौकरी वाले तो वृद्धावस्था के दिनों के लिए अपने वेतन में से भी कुछ बचा सकते हैं, ग़रीब श्रमी को तो मज़दूरी ही अपना पेट भरने लायक मिलती है। वह बेचारा क्या बचायेगा। अबतक की सामाजिक-रचना में बुढ़ापे का सहारा संयुक्त-परिवार-प्रथा हो सकती थी, वह भी इस मशीन-युग में टूटती जा रही है। ऐसी हालत में जब श्रमी के श्रम कर सकने के दिन निकल जाते हैं, वह लाठी का सहारा लेकर चलने लगता है, तब वह कैसे पेट भरे, अपने बाल-बच्चों के लिए कहाँ से पैसा लाये?

श्रमियों की यह समस्या देर से मानव-समाज को व्याकुल करती रही है। १९३३ में 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I.L.O.) ने जो 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सम्मेलन' (International Conference) बुलाया था, उसमें संसार-मात्र के वृद्ध-जनों, असमर्थ-व्यक्तियों, विधवाओं तथा अनाथों के लिए किसी प्रकार के बीमे की व्यवस्था की तरफ़ ध्यान खींचा था। इस 'सामाजिक-विधान' (Con-vention) को स्वीकार कर सकने में हमारे देश में यहाँ की जन-संख्या तथा

---

* Describe briefly any one Indian social security programme. (1961)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

उसमें असमर्थों की महान्-संख्या को देखते हुए असमर्थता दिखाई थी, परन्तु फिर भी कुछ श्रमी-क्षेत्रों में १९५२ में श्रमियों के लिए प्रौवीडेंट फंड की योजना के लिए कानून बनाया गया। इस बीच इसमें कुछ दोष दिखाई दिये इसलिए १९५३ में इस कानून का संशोधन करके इसे चालू किया गया। शुरू-शुरू में सीमेंट, सिगरेट, बिजली तथा यान्त्रिक कारखाने, लोहे, कागज़ तथा कपड़े के कारखानों में इस योजना को लागू किया गया और कहा गया कि ज्यों-ज्यों इन क्षेत्रों में योजना सफल होती जायगी त्यों-त्यों अन्य क्षेत्रों में इसका विस्तार किया जायगा। १ नवम्बर १९५२ से तो यह योजना सीमेंट, सिगरेट, बिजली तथा यान्त्रिक कारखाने, लोहे, कागज़ तथा कपड़े के कारखानों पर लागू की गई, परन्तु ३१ जुलाई १९५६ से तेल, शक्कर, रबर, चाय, छापेखाने, दियासलाई आदि १३ व्यवसायों पर, ३१ सितम्बर १९५६ से कैमिकल्स, इंडिगो, लाख, समाचार-पत्र, बाग़ान आदि ११ व्यवसायों पर, ३० नवम्बर १९५७ से लोहा, मैंगनीज, सोना आदि खानों तथा अन्य ७ व्यवसायों पर और ३० अप्रैल १९५८ से बिस्किट के व्यवसाय पर इस योजना को लगा दिया गया। इस समय यह योजना ३८ प्रकार के व्यवसायों पर लागू हो चुकी है।

१९५३ के संशोधित रूप में इस योजना की मुख्य-मुख्य बातें निम्न हैं :—

क्षेत्र—यह कानून जम्मू तथा काश्मीर को छोड़ कर सारे भारत पर लागू है। इसके अन्तर्गत शुरू-शुरू में सीमेंट, सिगरेट, बिजली, यान्त्रिक, लोहे, कागज़, तथा चमड़े के वे सब कारखाने आ जाते हैं जिनमें ५० से अधिक मज़दूर काम करते हैं। केन्द्रीय सरकार इस कानून का क्षेत्र इन्हीं उद्योगों में ५० से कम काम करने वाले कारखानों तक भी बढ़ा सकती है। अगर केन्द्रीय-सरकार चाहे तो अन्य कारखानों पर भी इस योजना को लगा सकती है। १९५३ में इस कानून में जो संशोधन हुआ उसके अनुसार जिन कारखानों में मालिक तथा श्रमियों का बहुमत इस योजना के पक्ष में हो और इसे चालू करवाना चाहें वहाँ भी यह योजना चल सकेगी। योजना केन्द्रीय, राज्य-सरकारों, सिटी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्डों में नहीं लागू होगी। उन कारखानों में भी योजना लागू नहीं होगी जिन्हें खुले अभी तीन साल भी नहीं हुए। अगर किसी फ़ैक्टरी में प्रोवीडेंट-फंड, पेंशन या ग्रेच्युइटी के नियम इस कानून से बेहतर हैं, तो वहाँ भी यह कानून लागू नहीं होगा। इस प्रकार के कारखानों को इस कानून से बाहर रखने से पहले सरकार वहाँ के नियमों की पूरी-पूरी जाँच-पड़ताल करेगी। अगर किसी कारखाने की आर्थिक-अवस्था इस कानून को क्रियान्वित करने योग्य नहीं होगी, तो जाँच-पड़ताल करने के बाद सरकार उसे भी इस कानून से उतने समय के लिए मुक्त कर सकेगी। कानून बनने के पहले से भी किन्हीं-किन्हीं अवस्थाओं में यह कानून लग सकेगा। ३० सितम्बर १९५६ से केन्द्रीय-सरकार ने अन्य चार उद्योगों पर भी इस कानून को लागू कर

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिया। वे चार उद्योग हैं—हैवी कैमीकल, इन्डिगो, लाख तथा अभोज्य वानस्पतिक तथा जान्तविक तेल। इस प्रकार इस कानून में २०० और कारखाने आ जायेंगे जिनमें ५४,००० श्रमी काम कर रहे हैं।

देय-भाग (हिस्सा)—कारखाने के मालिक को इस प्रौवीडेंट-फंड में कितना भाग देना पड़ेगा, और श्रमी को कितना भाग देना पड़ेगा—इस 'देय-भाग' के लिए यह व्यवस्था की गई है कि श्रमी के मूल-वेतन तथा महँगाई भत्ते का ६¼ प्रतिशत मालिक को और जितना मालिक देगा उतना ही श्रमी को देना पड़ेगा अगर वे चाहें तो दोनों ६¼ प्रतिशत की जगह ८⅓ प्रतिशत भी 'देय-भाग' के रूप में जमा करा सकते हैं। इस कानून में यह भी धारा है कि प्रौवीडेंट-फंड के हिसाब में श्रमी के नाम से जो रकम जमा होगी, उसे किसी भी अदालत के हुक्म के अनुसार कुर्क नहीं किया जा सकेगा। कानून में यहाँ तक लिख दिया गया है कि श्रमी के मरने के बाद उसका या जिसे यह रकम मिलनी है उसका किसी प्रकार का कर्ज़ भी इस रकम में से वसूल नहीं किया जा सकता। क्योंकि मालिक को श्रमी की मज़दूरी का ६¼ प्रतिशत इस फंड में देना पड़ता है इसलिए कई मालिक श्रमी की मज़दूरी में ही कमी करने लगते हैं। इस कानून के अनुसार श्रमी की मज़दूरी में किसी प्रकार की कमी नहीं की जा सकती। योजना चालू होने से पहले उसे जो-कुछ मिलता था योजना के बाद उतना ही देना होगा, जो सुविधाएँ उसे मिल रही थीं, उनमें किसी प्रकार की कमी न की जा सकेगी।

सदस्यता—इस कानून के अनुसार जिन क्षेत्रों में यह योजना लगेगी, उनमें १ साल की सेवा के बाद हर श्रमी को इस योजना का सदस्य बनना होगा। जिसका मासिक वेतन ३०० से ज़्यादा है, जो सीधा कारखाने के मालिक के आधीन काम न करके किसी ठेकेदार के नीचे काम करता है, जो काम सीखने के लिए लगा है, जो ऐसे कारखाने में काम कर रहा है जिसमें अभी यह कानून चालू नहीं किया गया—ये सब इस कानून की सदस्यता से बाहर हैं, इन पर यह कानून नहीं लगेगा। जिनका मासिक वेतन योजना के लागू होने के समय ३०० नहीं था, परन्तु सदस्य होने के कुछ समय बाद ३०० या इससे ज़्यादा हो गया वे सदस्य बने रहेंगे, परन्तु उनके खाते में उनके वेतन तथा महंगाई भत्ते का १ आना रुपए से ज़्यादा जमा नहीं होगा। सदस्यों का देय-भाग उनके वेतन में से काट लिया जायगा।

प्रबन्ध—इस फंड का इन्तिज़ाम करने के लिए कुछ व्यय होगा। उस व्यय का बोझ उठाने के लिए कारखाने के मालिक सरकार को श्रमी तथा मालिक के देय-भाग का ३ प्रतिशत प्रतिमास देंगे। यह रुपया 'प्रौवीडेंट-फंड-अकौन्ट'-नाम से सरकार के पास जमा होगा। इस योजना के अनुसार मालिक लोग प्रत्येक श्रमी के नाम का एक कार्ड रखेंगे जिसमें मालिक तथा श्रमी ने इस फंड में जितना दिया, उसका हिसाब लिखा जाया करेगा। इन कार्डों को श्रमी अथवा श्रमी-फंड का सरकारी कमिश्नर जब चाहे देख सकेगा। श्रमी-फंड-कमिश्नर अपने कार्यालय में भी प्रत्येक श्रमी के फंड का हिसाब रखेगा। श्रमी के नाम इस फंड में जो रकम

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

खड़ी होगी, उस पर उसे सूद मिलेगा। सूद की दर केन्द्रीय-सरकार समय-समय पर निश्चित करेगी। १९५२–५४ में सूद की यह दर ३ प्रतिशत थी। इस सब की व्यवस्था के लिए केन्द्रीय-सरकार 'श्रमी-प्रौवीडेंट-फंड' का एक कमिश्नर नियत करेगी। इस कमिश्नर के आधीन एक 'सेंट्रल-बोर्ड' होगा। इस बोर्ड में केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों के प्रतिनिधि तथा जिन उद्योगों में यह योजना चालू की गई है उनके मालिकों तथा श्रमियों के प्रतिनिधि होंगे। जिस प्रकार केन्द्र में 'सेंट्रल-बोर्ड' होगा, इसी प्रकार प्रान्तों में 'स्टेट-बोर्ड' होंगे; जिस प्रकार केन्द्र में कमिश्नर होगा और उसके आधीन 'सेंट्रल-बोर्ड' काम करेंगे, उसी प्रकार प्रान्तों में कमिश्नर और उनके आधीन प्रान्तीय-बोर्ड काम करेंगे।

रुपया निकलवाना—कोई भी सदस्य अपना रुपया निम्न अवस्थाओं में इस फंड में से निकाल सकता है: (क) नौकरी की आयु पूरी होने पर जब वह नौकरी छोड़ दे। अगर नौकरी छोड़ते समय वह इस फंड का केवल ५ साल तक सदस्य रहा है तब उसे मालिक का 'देय-भाग' तथा उस पर जुड़ा हुआ सूद नहीं मिलेगा, उसका अपना रुपया सूद-सहित वापस मिल जायगा। जो श्रमी कानून लागू होने के समय ५० या इससे ज्यादा साल के थे, उनको पूरी आयु पर नौकरी छोड़ते समय अपना तथा मालिक का 'देय-भाग' दोनों सूद-सहित मिलेंगे। (ख) स्थायी तौर पर शारीरिक अथवा मानसिक दृष्टि से असमर्थ हो जाने की अवस्था में डाक्टरी सर्टिफिकेट देकर नौकरी छोड़ते समय फंड का पूरा रुपया निकाला जा सकता है। (ग) अगर कोई भारत छोड़ कर बाहर जा रहा हो तब भी वह फंड का रुपया निकलवा सकता है। (घ) अगर वह नौकरी छोड़ कर ऐसे कारखाने में चला गया है जिसमें प्रौवीडेंट-फंड की योजना लागू ही नहीं है।

निम्न तालिका से स्पष्ट हो जायगा कि श्रमी को मालिक का कितने समय बाद कितना 'देय-भाग' मिलेगा :—

फंड की सदस्यता का समय	मालिक का सूद-सहित देय-भाग जो श्रमी को मिलेगा
५ वर्ष से कम	कुछ नहीं
५ से ज्यादा पर १० से कम	५० प्रतिशत
१० से ज्यादा पर १५ से कम	६० प्रतिशत
१५ से ज्यादा पर २० से कम	७५ प्रतिशत
२० साल या ज्यादा	१०० प्रतिशत

श्रमी की मृत्यु के बाद, जिसके नाम वह फंड कर गया होगा, उसे फंड का रुपया मिलेगा, किसी के नाम नहीं कर गया होगा तो उसके परिवार के सदस्यों में बराबर-बराबर बाँट दिया जायगा, परिवार में कोई सदस्य नहीं होगा, तो कानूनी तौर पर उसका जो उत्तराधिकरी होगा उसे वह रुपया मिल जायगा।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

सफलता—इस योजना में जो सफलता मिली है वह इससे पता लग सकती है कि सितम्बर १९५४ तक १८८७ कारख़ानों पर यह योजना लगा दी गई थी जिनमें १४.५८ लाख श्रमी काम कर रहे थे। इन श्रमियों में सब तो इस कोटि में नहीं आते थे जिन पर यह योजना लग सके, किन्तु जो भी आते थे, उनसे ३१ मार्च १९५४ तक ७.५६ करोड़ रुपया इस योजना में जमा हो चुका था। मार्च १९५६ तक यह योजना ३,६०० कारख़ानों पर लग चुकी थी जिनमें २० लाख श्रमी काम कर रहे हैं। ३० सितम्बर १९५६ में यह योजना और २०० कारख़ानों पर लगा दी गई जिसका हम ऊपर वर्णन कर चुके हैं। सितम्बर १९५८ के अन्त तक ७,१८९ 'संस्थानों' (Establishments) में प्रौवीडेंट-फंड की व्यवस्था चल रही थी जिनमें काम करने वाले २९.५ लाख श्रमियों में से २४.०४ लाख इसका लाभ उठा रहे थे। इनका प्रौवीडेंट-फंड का १२१.५ करोड़ रुपया तब तक जमा हो चुका था।

८. कर्मचारी-राज्य-बीमा अधिनियम, १९४८-१९५१ (Employees' State Insurance Act—1948-1951)*

भूमिका—वृद्धावस्था के लिए 'एम्प्लायीज़ प्रौवीडेंट-फंड' बना—इसका हम अभी ज़िक्र कर आये हैं। श्रमियों के मुआविज़े के लिए 'मुआविज़ा-कानून' बना, स्त्रियों को प्रसूतावस्था में सवेतन-छुट्टी देने के लिए 'मातृत्व-लाभ' के कानून बने। परन्तु यह सब-कुछ 'बेवरिज़-योजना' को सामने रखते हुए कुछ नहीं थे। १९२७ में 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I.L.O.) की तरफ़ से जो 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-सम्मेलन' बुलाया गया उसमें उद्योग, व्यापार तथा कृषि में काम करने वाले संसार भर के श्रमियों के स्वास्थ्य के लिए दो 'सामाजिक-विधान' (Conventions) स्वीकार किये गए। रॉयल-लेबर कमीशन ने भी १९३१ में अपनी रिपोर्ट में भारत सरकार का ध्यान श्रमियों के लिए स्वास्थ्य संबंधी बीमे के प्रश्न की तरफ़ खींचा। १९४०, १९४१, १९४२ में भिन्न-भिन्न प्रान्तों के श्रम-मन्त्रियों के सम्मेलनों में भी इस प्रश्न की चर्चा हुई। यद्यपि भारत-सरकार इस दिशा में कदम उठाने के लिए इसलिए उत्साहित नहीं होती थी क्योंकि इतने बड़े देश में सब श्रमियों के लिए इतनी बड़ी योजना बनाना कठिन कार्य था, तो भी मार्च १९४३ में झिझकते हुए भारत सरकार ने प्रो० बी० पी० अदरकर को केवल औद्योगिक-श्रमियों के लिए स्वास्थ्य-बीमे की योजना बनाने का कार्य सौंपा। प्रो० अदरकर† ने अगस्त १९४४ में अपनी रिपोर्ट पेश की। उन्होंने अपनी सिफ़ारिशों में कहा कि शुरू-शुरू में 'मौसमी' (Seasonal) फ़ैक्टरियों को छोड़ दिया जाय, सिर्फ़ 'बारहमासी' (Perennial) फ़ैक्टरियों में इस योजना को चालू किया

---

*Give an outline of the main provisions of Employees' State Insurance Scheme. (1962)

† Examine critically Prof. Adarkar's scheme of health insurance for Indian factory workers. (1951, 1953)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

जाय। यह स्मरण रहे कि जब प्रो० अदरकर ने अपनी योजना प्रस्तुत की थी, तब तक फ़ैक्टरियों में 'मौसमी' तथा 'बारहमासी'—यह भेद था, यह तो १९४८ में हटा। उन्होंने कहा कि 'बारहमासी' में भी फिलहाल 'कपड़े', 'एंजीनियरिंग', 'खनिज तथा धात्वीय'—इन तीन उद्योगों में ही इस योजना को चलाया जाय। इस योजना में मालिक, मज़दूर तथा सरकार—ये तीनों अपना-अपना देय-भाग दें। मालिक प्रति श्रमी, प्रति मास १–४–० दे। मज़दूर अगर स्थिर है, तो १२ आना, अस्थिर है, तो ८ आना, आकस्मिक है, तो ४ आना प्रतिमास दे। प्रो० अदरकर की योजना के अनुसार सरकार ८ आना प्रति श्रमी प्रति मास देगी। इसके अनुसार सरकार को प्रति वर्ष ७२ लाख रुपया देना पड़ेगा जिसमें से १८ लाख केन्द्रीय-सरकार देगी, बाकी का ५४ लाख श्रमियों की संख्या के अनुपात में भिन्न-भिन्न प्रान्तों में बँट जायगा। इस सारी योजना पर २½ करोड़ रुपया व्यय कूता गया। प्रत्येक श्रमी के लिए बीमा कराना ज़रूरी रखा गया। श्रमियों को बीमारी, मुआविज़े आदि के लिए इसी फंड से सहायता दी जाने की व्यवस्था की गई। इस प्रकार के कानून बनाने का नतीजा यह होगा कि **वर्कमेन्स कम्पन्सेशन एक्ट** तथा **मैटरनिटी बेनिफ़िट एक्ट्स** की आवश्यकता नहीं रहेगी। उन कानूनों में सहायता की सारी ज़िम्मेदारी मालिकों पर आ पड़ती है, इसलिए वे उनमें से बच निकलने की कोशिश करते हैं। इस योजना में अगर मालिक कुछ हिस्सा देता है, तो श्रमी भी अपना हिस्सा देता है, सरकार भी अपना हिस्सा देती है. सिर्फ़ मालिक पर सारी ज़िम्मेवारी नहीं आ पड़ती, इसलिए वे इस कानून में से निकलने की कोशिश नहीं करेंगे। योजना में यह भी कहा गया था कि समय आने पर जैसे बीमारी के लिए यह बीमे की योजना बनाई जा रही है, वैसे बुढ़ापे के लिए पेंशन की तरह की तथा बेकारी के दिनों के लिए कुछ-न-कुछ मिलते रहने की बीमे के सिद्धान्त पर अन्य योजनाएँ बनाई जानी चाहिएँ, अथवा इसी कानून में उन्हें भी सम्मिलित कर लेना चाहिए। १९४५ में प्रो० अदरकर की इस योजना में सुधार करने के लिए 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-कार्यालय' के श्री **स्टोक** तथा **राओ** भारत आये, उन्होंने अदरकर-योजना की सराहना की, कुछ थोड़े-बहुत सुधारों की तरफ़ निर्देश किया और १९४८ में **'एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस एक्ट'** पास हो गया।

एक्ट पास हो गया, उस समय के गवर्नर-जनरल ने योजना के प्रारंभ करने की घोषणा कर दी, एक्ट को क्रिया में परिणत करने के लिए एक कॉर्पोरेशन बना दिया गया, डा० कटियाल को इसका डायरेक्टर-जनरल बनाया गया। यह सब-कुछ तो किया गया, परन्तु इतनी बड़ी योजना को एकदम सारे देश में चालू कर देना कोई हंसी-खेल न था, इसलिए यह निश्चय किया गया कि शुरू-शुरू में दिल्ली तथा अजमेर-मेरवाड़ा में इस योजना को 'अग्र-गामी-योजना' (पाइलट-स्कीम) की तरह से चलाया जाय। अन्य प्रान्तों में योजना के क्रियान्वित करने पर भी विचार होता रहा। यह निश्चय हुआ कि दिल्ली में योजना के शुरू करने के साथ-ही-साथ कानपुर में भी इसे चालू किया जाय। अन्त में निश्चय हुआ कि

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

दिल्ली, कानपुर तथा बम्बई में जुलाई १९५० से इस योजना को शुरू कर दिया जाय। केन्द्रीय सरकार ने प्रारंभिक व्यय का ५० प्रतिशत देना स्वीकार किया। जब दिल्ली, कानपुर तथा बम्बई में योजना चालू करने के सब प्रबन्ध हो रहे थे तब यकायक उत्तर-भारत की एम्प्लायर्स-एसोसियेशन ने उत्तर-प्रदेश सरकार की मार्फ़त एक आवेदन-पत्र भेज दिया कि फ़िलहाल इस योजना को कानपुर में न लागू किया जाय। उनका कहना था कि कानपुर में इसे चालू किया गया, तो वहाँ के व्यापारियों पर आर्थिक-बोझ बहुत आ पड़ेगा और प्रतियोगिता में वे अन्य व्यापारियों के मुकाबिले में माल को सस्ता नहीं बेच सकेंगे, कानपुर के व्यापार को धक्का पहुँचेगा। इस आवेदन-पत्र के बावजूद योजना को क्रियान्वित करने की माँग चारों तरफ़ से आती रही और अन्त में १९५१ में इस योजना में एक संशोधन कर दिया गया। यह संशोधन यह था कि यद्यपि योजना प्रारंभ में कुछ निश्चित-क्षेत्रों में चालू की जायगी, तो भी देश भर के कारखानों के मालिकों को, चाहे वे योजना के अन्दर हों या बाहर हों, इस योजना के लिए वेतन-बिल का $\frac{3}{4}$ प्रतिशत देना होगा। इस नियम से योजना के अन्तर्गत मालिकों के साथ विशेष रियायत दीखती थी इसलिए यह भी निश्चय किया गया कि जिन क्षेत्रों में योजना चलेगी उन्हें इस $\frac{3}{4}$ प्रतिशत के अलावा अपने वेतन-बिल का $\frac{1}{2}$ प्रतिशत और देना होगा, अर्थात् इन्हें $1\frac{1}{4}$ प्रतिशत देना होगा। इस प्रकार अन्त में २४ फ़रवरी १९५२ को कानपुर तथा दिल्ली में प्रधान मन्त्री के कर-कमलों द्वारा योजना का सूत्रपात हुआ। १७ मई १९५३ में पंजाब के ७ शहरों में योजना लगा दी गई। ११ जुलाई १९५४ में नागपुर तथा २ अक्तूबर १९५४ में विशाल-बम्बई में इसे लागू किया गया। १९५८–५९ में यह योजना राजस्थान में सवाई-माधोपुर, उत्तर-प्रदेश में हाथरस, अलीगढ़, बरेली, शिकोहाबाद, मैसूर में बंगलोर, केरल में त्रिवेंद्रम, आसाम में गौहाटी, धुबड़ी, डिब्रूगढ़, तिनसुखिया-मकूम, मद्रास में सलेम, तिरुपुर, मेत्तुर तथा उदुमलपेट में जारी की गई। यह आशा की जाती है कि १९५९ के अन्त तक केरल में कोझीकोडे, कैन्नानूर तथा आस-पास के प्रदेश एवं पंजाब में धारीवाल इस योजना के अन्तर्गत आ जायेंगे। अब तक औद्योगिक केन्द्रों के १३.५६५ लाखों मज़दूर इस योजना में आ चुके हैं और द्वितीय पंचवर्षीय-योजना के अन्त तक ८६.७० लाख श्रमी इस योजना में आ जाने की सम्भावना है।

योजना का जो वर्तमान रूप है, वह निम्न है :—

क्षेत्र—यह एक्ट जम्मू तथा काश्मीर को छोड़कर सारे भारत पर लागू है। मौसमी-फ़ैक्टरियों को छोड़ कर ताकत से चलने वाले उन कारखानों पर जिनमें २० या इससे अधिक श्रमी काम करते हैं, यह एक्ट लागू होता है। राज्य-सरकार इसका क्षेत्र बढ़ा भी सकती है। फौज में काम करने वालों और ४०० से अधिक वेतन पाने वाले कर्मचारियों पर तो यह एक्ट लागू नहीं होता, बाकी जितने दफ्तरों के बाबू हैं, कारखानों या कारखानों के बाहर सब पर यह एक्ट लग सकता है।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

प्रबन्ध—इस योजना को चलाने के लिए एक 'संघ' (Corporation) बनाया गया है। इस संघ का नाम होगा—'एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस कॉर्पोरेशन'। इसमें कुल ३१ सदस्य होंगे जिनमें ७ केन्द्रीय-सरकार के, १० प्रान्तों के, ५ मालिकों के, ५ श्रमियों के, २ स्वास्थ्य-विभाग के तथा २ विधान-सभाओं के प्रतिनिधि होंगे। केन्द्रीय-सरकार के प्रतिनिधियों में श्रम-मन्त्री तथा स्वास्थ्य-मंत्री भी होंगे जो 'कॉर्पोरेशन' के क्रमशः प्रधान तथा उप-प्रधान होंगे। इस 'कॉर्पोरेशन' की इन्हीं ३१ में से चुनी हुई १३ सदस्यों की एक 'स्थायी-समिति' (Standing Committee) होगी, जो 'कॉर्पोरेशन' की कार्य-कारिणी का काम करेगी। 'कार्पोरेशन' तथा 'स्थायी-समिति' के अलावा एक तीसरी कमेटी होगी जिसका नाम 'चिकित्सा-लाभ-समिति' (Medical Benefit Council) होगा, जो श्रमियों की चिकित्सा की क्या व्यवस्था की जाय, किसको क्या सहायता दी जाय—इन सब बातों पर 'कार्पोरेशन' को सलाह-मशविरा देगी।

आर्थिक-पहलू—इस योजना को चलाने के लिए एक **'एम्प्लायीज़ स्टेट इन्श्योरेंस फंड'** खोला गया है। इस फंड में मालिक, मज़दूर तथा सरकार का देय-भाग होगा। दान के रूप में भी इस कोष में सहायता ली जा सकेगी। केन्द्रीय-सरकार ने निश्चय किया है कि योजना के पहले पाँच वर्षों में प्रबन्ध पर जो व्यय आयगा उसका दो-तिहाई हिस्सा वह देगी। योजना में समय-समय पर श्रमियों को जो लाभ देने पड़ेंगे, केन्द्रीय-सरकार उनका कोई हिस्सा नहीं देगी। प्रान्तीय-सरकारों से भी कहा गया कि बीमे-शुदा श्रमियों की अपने डाक्टरों से देख-भाल करायें और इस हिस्से को अपने ज़िम्मे समझें। प्रान्तीय-सरकार तथा कॉर्पोरेशन आपस में खर्च का हिस्सा कैसे बाँटेंगे इस पर समय-समय पर आपस में निश्चय होता रहेगा। फ़िलहाल कॉर्पोरेशन पर ३ और प्रान्तीय सरकारों पर १ हिस्सा व्यय का पड़ता है, परन्तु इसमें तब्दीली होती रहती है।

देय-भाग (हिस्सा)—मालिक का देय-भाग इस योजना में क्या होगा, श्रमी का क्या होगा—इसकी व्यवस्था निम्न प्रकार है:

श्रमी का वर्ग	श्रमी का देय-भाग	मालिक का देय-भाग	कुल
१ रु० दैनिक से कम पाने वाले	कुछ नहीं	०— ७—०	०— ७—०
१ से १॥ पाने वाले	०— २—०	०— ७—०	०— ९—०
१॥ से २ के बीच पाने वाले	०— ४—०	०— ८—०	०—१२—०
२ से ३ के बीच पाने वाले	०— ६—०	०—१२—०	१— २—०
३ से ४ के बीच पाने वाले	०— ८—०	१— ०—०	१— ८—०
४ से ६ के बीच पाने वाले	०—११—०	१— ६—०	२— १—०
६ से ८ के बीच पाने वाले	०—१५—०	१—१४—०	२—१३—०
८ से ज़्यादा वेतन पाने वाले	१— ४—०	२— ८—०	३—१२—०

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

एक्ट में तो मालिकों के लिए ऊपर दी गई व्यवस्था है जिसके अनुसार मालिक को श्रमी से दुगुना देय-भाग देना पड़ता है। यह दुगुना इसलिए है क्योंकि इस एक्ट के चालू हो जाने पर मालिक को वर्क्समेन्स कम्पन्सेशन तथा मैटरनिटी-बैनिफ़िट अलग-से नहीं देना पड़ेगा, वे दोनों बातें इसी एक्ट के अन्दर आ जायेंगी। परन्तु जैसा हम पहिले कह आये हैं कानपुर के मिल-मालिकों के शोर मचाने से इस फंड का रुपया देश भर के कारखानों से लिया जाता है जिसमें उन्हें वेतन-बिल का तीन-चौथाई प्रतिशत देश भर के कारखानों को और जहाँ योजना चालू हो गई है वहाँ इस तीन-चौथाई के अलावा ½ प्रतिशत देना पड़ता है। जबतक यह व्यवस्था चालू है तबतक ऊपर के चित्र में मालिकों का जो देय-भाग दिखाया गया है वह नहीं देना पड़ रहा। जब यह योजना देशव्यापी योजना हो जायगी, तब ऊपर दिखाये दर से ही मालिकों को अपना देय-भाग देना होगा।

लाभ—इस योजना द्वारा श्रमियों को पांच प्रकार के 'लाभ' मिलेंगे। (क) 'रुग्णता-लाभ' (Sickness benefit); (ख) 'मातृत्व-लाभ' (Maternity benefit); (ग) 'असमर्थता-लाभ' (Disablement benefit); (घ) 'आश्रितों के लिए लाभ' (Dependants' benefit) तथा (ङ) 'चिकित्सा-लाभ' (Medical benefit)। इनमें से रुग्णता, मातृत्व तथा असमर्थता के लिए नकद सहायता दी जाती है, चिकित्सा के लिए नकद देने का नियम नहीं है, डाक्टरों की देख-रेख का प्रबन्ध है।

'रुग्णता' के सम्बन्ध में नियम यह है कि अगर किसी श्रमी ने अपना देय-भाग नियम-पूर्वक दिया है, तो ३६५ दिन की लगातार सेवा पर अधिक-से-अधिक ५६ दिन का 'लाभ' दिया जा सकता है। 'रुग्णता-लाभ' (Sickness benefit) की दर औसत दैनिक आय से आधी दी जाती है। जिस रोगी को 'रुग्णता-लाभ' दिया जा रहा हो, उसे किसी चिकित्सालय में रहकर चिकित्सा करानी होगी। टी० बी० के बीमारों को सहायता देने के लिए कॉर्पोरेशन ने उन रोगियों के लिए जो २ साल तक किसी फ़ैक्टरी में लगातार काम कर चुके हों, ५६ दिन की जगह १२६ दिन अर्थात् १८ सप्ताह सहायता देने का नियम बना दिया है। इस काल में उन्हें कम-से-कम १२ आना रोज़ मिलेगा और अगर उनकी औसत दैनिक आय १–८–० से ज्यादा होगी, तो उसका आधा मिलेगा।

'मातृत्व' के संबंध में नियम यह है कि मातृत्व के कारण कम-से-कम १२ आना रोज़ दिया जायगा और अगर औसत दैनिक आय १–८–० से ज्यादा होगी, तो उसका आधा मिलेगा। १२ सप्ताह तक यह लाभ मिलेगा जिसमें से प्रसव के ६ सप्ताह पहले काम छोड़ देना पड़ेगा।

"असमर्थता' के सम्बन्ध में नियम यह है कि अस्थायी-असमर्थता में ज्यादा से-ज्यादा ५२ सप्ताह तक औसत दैनिक-आय का आधा दिया जायगा, स्थायी-असमर्थता में जीवन-भर औसत दैनिक-आय का आधा दिया जायगा। इस कानून की परिभाषा में औसत दैनिक आय के आधे को 'पूरी आय की दर' (Full-

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

rate) कहा गया है। इसका मतलब यह हुआ कि स्थायी-असमर्थता में श्रमी को उसकी 'पूरी-आय की दर' से 'असमर्थता-लाभ' मिलेगा।

'आश्रितों के लिए लाभ' के संबंध में नियम यह है कि अगर दुर्घटना से किसी श्रमी की मृत्यु हो जाय, तो (क) उसकी विधवा को जबतक वह दूसरा विवाह न कर ले श्रमी की 'पूरी-आय' (Full-rate), जिसकी परिभाषा हम ऊपर कर चुके हैं, उसका $\frac{3}{5}$ हिस्सा मिलेगा। अगर उसकी दो या दो से अधिक पत्नियाँ होंगी, तो यह रुपया उनमें बराबर-बराबर बँट जायगा। (ख) उसके प्रत्येक वैध अथवा दत्तक-पुत्र को १५ वर्ष की आयु तक पहुँचने तक श्रमी की 'पूरी-आय' (Full-rate) के बाकी $\frac{3}{5}$ हिस्से में से उसका हिस्सा मिलेगा। (ग) उसकी प्रत्येक वैध पुत्री को इस $\frac{3}{5}$ हिस्से में से १५ वर्ष की आयु तक या जब तक वह विवाह न करे तबतक सहायता-धन मिलेगा। अगर लड़का या लड़की शिक्षा प्राप्त करते रहें तो १७ वर्षतक यह सहायता मिलती रहेगी। अगर मृत-श्रमी का इनमें से कोई भी आश्रित जीवित नहीं है तो उसके पिता, पितामह में से जो भी जीवित होगा उसे जीवन-पर्यन्त यह सहायता मिलेगी।

'चिकित्सा-लाभ' के संबंध में नियम यह है कि जिस समय भी कोई श्रमी उन शर्तों को पूरा कर ले जिन्हें पूरा कर लेने पर उसे रुग्णता, मातृत्व व असमर्थता का लाभ मिल सकता है, उसी समय उसे 'चिकित्सा-लाभ' के अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। जो श्रमी अपना देय-भाग देना बन्द कर दें, उनको भी 'चिकित्सा-लाभ' देने का नियम है। 'चिकित्सा-लाभ' अस्पतालों में अन्दर अथवा बाहर के रोगी के रूप में या चिकित्सक के बीमाशुदा-श्रमी के घर आकर चिकित्सा करने के रूप में दिया जाता है। 'कॉर्पोरेशन' श्रमी के परिवार के रोगियों को भी इस योजना में शामिल कर सकती है। बम्बई तथा पंजाब की राज्य-सरकारों ने यह माँग की थी कि उन्हें श्रमियों को चिकित्सा-संबंधी सहायता देने के लिए 'पेनेल-सिस्टम' जारी करने दिया जाय। इसमें कुछ डाक्टरों का एक वर्ग बना दिया जाता है, जो अपनी सुविधानुसार या बारी-बारी रोगियों को देखते हैं। इन प्रान्तों में यह व्यवस्था जारी कर दी गई है। कुछ सरकारों ने यह भी माँग की थी कि कई रोगी एलोपैथी की जगह अन्य प्रकार की चिकित्सा चाहते हैं। यह माँग भी कॉर्पोरेशन ने स्वीकार कर ली है। टी० बी० के बीमारों के लिए कॉर्पोरेशन ने अन्य रोगियों की अपेक्षा 'चिकित्सा-लाभ' के समय को बढ़ा दिया है। कॉर्पोरेशन ने रोगियों के लिए १ जुलाई १९५४ से ३,३०० रोगी-शय्याओं की व्यवस्था की योजना बनाई है जिसमें १,००० शय्याएँ सिर्फ़ टी० बी० के रोगियों के लिए होंगी। इस उद्देश्य से कॉर्पोरेशन ने अस्पतालों के निर्माण की योजनाएँ बनाईं और राज्य-सरकारों को अस्पतालों पर किये गए खर्च का तीन-चौथाई देने का वचन दिया, बाकी एक-चौथाई के लिए भी कॉर्पोरेशन ने राज्य-सरकारों को ऋण देने का वचन दिया।

बीमे से लाभ प्राप्त करने की योग्यता—इस बीमे का लाभ उठा सकने के के लिए कुछ शर्तें भी रखी गई हैं। एक शर्त तो यही है कि श्रमी को अपना हिस्सा

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

(देय-भाग) देना होगा। अपना देय-भाग देने पर भी यह आवश्यक है कि २६ सप्ताह तक लगातार श्रमी अपना देय-भाग देता रहे। २६ सप्ताह तक देय-भाग देने के बाद श्रमी अगले २६ सप्ताह तक 'रुग्णता' तथा 'मातृत्व' के लाभ लेने का अधिकारी हो जाता है। पहले २६ सप्ताह 'देय-भाग-काल' (Contribution period) कहलाते हैं, अगले २६ सप्ताह 'लाभ-काल' (Benefit period) कहलाते हैं। 'देय-भाग-काल' के २६ सप्ताह समाप्त होने के बाद १३ सप्ताह का बीच में व्यवधान पड़ना ज़रूरी है, तब जाकर 'लाभ-काल' प्रारंभ होता है। इसका मतलब यह हुआ कि बीमा कराने के लगभग नौ मास के बाद से बीमे के लाभ मिलने लगते हैं। बीमारी के पहले दो दिन का कुछ नहीं मिलता, अगले दिनों का वेतन से आधा मिलता है। अगर पहली बीमारी के झट १५ दिन के अन्दर-अन्दर अगली बीमारी आ पड़े, तो कटने वाले दो दिन नहीं कटते। यह तो 'रुग्णता' तथा 'मातृत्व' के लाभों के विषय में हुआ। 'असमर्थता, 'निराश्रितता' तथा 'चिकित्सा' के लाभों के विषय में ऐसी कोई शर्त नहीं है। ये लाभ तो जिस दिन से बीमा शुरू होगा, उसी दिन से प्राप्त हो सकेंगे।

आर्थिक-स्थिति—१९५३–५४ में मालिकों से ३९७.४५ लाख रुपया इस मद में प्राप्त हुआ था। केन्द्रीय-सरकार से कॉर्पोरेशन ने ६३.४२ लाख का ऋण लिया था वह १९५२–५३ में सब चुका दिया गया। ३१ मार्च १९५४ तक कॉर्पोरेशन का २८७.७० लाख रुपया सरकारी-काग़ज़ों में लगा हुआ था। ३० सितम्बर १९५४ तक कानपुर में १,३६,८९५, दिल्ली में ८४,१४७, पंजाब में ६३,७२६ तथा नागपुर में २१,५१२ श्रमियों का बीमा हो चुका था। १९५७–५८ में इस मद में मालिकों का २.८३ करोड़ तथा मज़दूरों का ३.५२ करोड़ रुपया जमा हो चुका था। इस समय तक बीमाशुदा व्यक्तियों को २.१३ करोड़ बीमारी, मातृत्व आदि व्ययों के लिए दिया जा चुका था।

९. उपसंहार

'सामाजिक-सुरक्षा' के संबंध में हमने मुख्य-मुख्य चार अधिनियमों का वर्णन किया। इस दिशा में और भी कई एक्ट बने हैं, उन सब का परिचय लेने के लिए भारत-सरकार द्वारा प्रकाशित इंडियन-ईयर-बुक का अवलोकन करना चाहिए। 'अन्तर्राष्ट्रीय-श्रम-संघ' (I. L. O.) द्वारा भी अनेक ग्रन्थ समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं उनका अध्ययन भी इस दिशा में बहुत ज्ञान-वर्धक है। लेकिन, श्रम-समस्याएँ तो 'कल्याण-राज्य' तथा 'समाजवादी-समाज' की एक अंग हैं। अगर हमने सारे समाज को आमूल-चूल बदलना हो, तो श्रम का क्षेत्र ही क्या, हर क्षेत्र में क्रांति की आवश्यकता है। यह क्रांति पहले सामाजिक कार्यकर्ताओं द्वारा हो रही थी। इन कार्यकर्ताओं को अपना पसीना बहाते हुए युग बीत गए। आज इस क्रांति को, चहुँमुखी क्रांति को, सामाजिक-क्षेत्र में, राजनैतिक-क्षेत्र में, आर्थिक-क्षेत्र में—हर क्षेत्र में क्रांति को, हर चीज़ के पुनर्निर्माण को, ग्रामों और

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

शहरों के पुनर्निर्माण को राज्य ने अपने हाथों में ले लिया है, और इस प्रकार हमारे देखते-देखते समाज का पुराना ढाँचा टूटता जा रहा है, उसकी जगह नया ढाँचा बनता जा रहा है। यह नया ढाँचा किस प्रकार बन रहा है, किस प्रकार सामाजिक-विधान तथा आर्थिक-विधान नया रूप धारण करते जा रहे हैं, इनका चित्र हमने यथाशक्ति इस पुस्तक में दिया है।

प्रश्न

१. प्रो० अदरकर की भारतीय फ़ैक्टरियों के श्रमियों के संबंध में स्वास्थ्य-बीमा स्कीम की आलोचनात्मक विवेचना कीजिये। (१९५१, १९५३)

२. सामाजिक-सुरक्षा के सामान्य सिद्धान्तों का वर्णन कीजिये। भारत में औद्योगिक मजदूरों की सुरक्षा के लिये सरकार ने सामाजिक-सुरक्षा के क्या उपाय किये हैं? सुधार करने के अन्य सुझाव दीजिये। (१९५२)

३. भारत में सामाजिक-सुरक्षा की आवश्यकताओं की विवेचना कीजिये। (१९५६)

४. सामाजिक-सुरक्षा की परिभाषा कीजिये तथा किसी एक भारतीय सामाजिक-सुरक्षा की योजना का वर्णन कीजिये। (१९६१)

५. सामाजिक बीमे का विचार क्या है? इसकी विवेचना कीजिये। कर्मचारी राज्य-बीमा अधिनियम के मुख्य-मुख्य अंशों का वर्णन कीजिये। (१९६२)

६. भारत में औद्योगिक-श्रमियों के लाभ के लिये सामाजिक-सुरक्षा के जो उद्योग हो रहे हैं उसकी रूप-रेखा बतलाइये। (१९६३)

७. भारत में औद्योगिक-श्रमियों के लिए सामाजिक-सुरक्षा पर टिप्पणियाँ लिखिये। (१९६४)

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

UNIVERSITY OF AGRA

B. A. Examination

Papers on Social Welfare and Security

(प्रत्यक प्रश्न के आगे जो पृष्ठ-संख्या दी गई है इस पुस्तक के उस पृष्ठ पर उस प्रश्न का उत्तर है)

1951

1. Discuss the importance of social legislation in India. How far will the codification of Hindu law help to improve the life of Indian women? 150, 158, 164

2. Discuss the socio-economic importance of prohibition in India. How far will prohibition be beneficial to the Indian labourers? 512, 513

3. Examine critically Prof. Adarkar's scheme of health insurance for Indian factory workers. 639

4. What steps have been taken by the Government of India to protect female and child labour in Indian factories? 576

5. Discuss the extent of overcrowding in industrial towns. What measures can be taken by (*a*) the Government, (*b*) Municipal Boards and Improvement Trusts, and (*c*) employers, in providing better housing for the workers? 553-554

6. "While nature showered her bounties on India with a liberal hand, man has failed to profit adequately by them. The contrast between the bounty of nature and poverty of man is here very striking." Discuss this statement, and state what measures the Government should take to remove poverty from India. 243

7. Discuss the importance of rural reconstruction and planning in India. Suggest positive measures that may be adopted in overcoming the evils that are found in villages. 320, 342, 361

8. What are the causes that have led or are leading to the disintegration of village community in the country? How far can the Gaon Hakumat Act help in the rehabilitation of village communities? 341, 36?

9. Discuss the causes of crime. What measures would you suggest for reforming criminals? Give Indian examples. 452

10. Examine critically the defects in the present educational system. Discuss briefly the latest scheme of the Uttar Pradesh Government for reforming the higher secondary education. 202, 215

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1952

1. State the socio-economic consequences of industrialisation in India. What steps should be taken to check the evil effects of industrialisation? 417

2. Discuss the problem of post-war urbanisation in India. How far the Central and Provincial Governments succeeded in solving the problems of overcrowding in industrial towns? Suggest other remedies. 554

3. What have been the social and economic consequences of the migration of refugees from Pakistan to India? Discuss some of the measures adopted by the Government for the rehabilitation of the refugees.

4. Mention the chief defects in the quality of Indian population. Make out a eugenics programme for India so as to remove the cacogenic elements from our population. 277, 274, 275

5. "The considerable proportion of disease and inefficiency in India has its primary causes in diet deficiency." Discuss. 310

6. "No individual should fail to secure adequate medical care because of inability to pay for it." What measures have been suggested by the Bhore Committee to achieve this objective? Examine them critically. 288

7. Discuss the broad principles of social security. What social security measures have been adopted by the State for industrial workers in India? Suggest further ways and means of improvement. 623, 626

8. Discuss the growth of labour legislation in India, with particular reference to safety and welfare of workers. 581

9. Discuss the causes of juvenile delinquency. How far have Borstal institutions helped in solving the problem? 468, 480, 498

10. Discuss the socio-economic significance of village communities in India. How far does the status of the village headman determine the strength of the village *panchayat*? 344

1953

1. What is a Welfare State? State what principles should be adopted by it to promote social welfare in India. 17, 31

2. What do you understand by social disorganisation? Discuss its causes. Show how far an individual is responsible for it. 433

3. Explain how in a particular economic situation certain individuals take to crimes while others do not. Illustrate your answer with Indian examples. 461

4. "The best general test of the industrialisation of a nations's life under modern conditions is the rate and character

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

of the growth of its town." Explain this statement by tracing the growth of towns in India. 393

5. Give your views on rural education as it exists in your province at present. Do you consider the present practice of entrusting rural education to District Boards satisfactory? Give reasons. 205

6. "Welfare work, intelligently conceived and generously administered, must in the long run repay the employer." Comment. Show the importance of labour welfare work in India. 615

7. "Organisation of social insurance should be treated as one part only of a comprehensive policy of social progress. Social insurance fully developed may provide income security; it is an attack upon Want. But Want is only one of five giants on the road of reconstruction and in some ways the easiest to attack. The others are Disease, Ignorance, Squalor and Idleness". Discuss. Show the importance of social security for India. 106, 115

8. Discuss the importance of village *panchayats* as a means of social reform in India. How far can the Gaon Hukumat Act help in improving village life? 369

9. Discuss Prof. Adarkar's Scheme of Health Insurance for Industrial Workers in India. 639

10. 'No individual should fail to secure adequate medical care because of inability to pay for it'. Discuss the plan suggested by the Health Survey and Development Committee to achieve this objective. 288

11. "The considerable proportion of disease and inefficiency in India has its primary cause in diet deficiency'. Discuss. 310

12. Differentiate between positive and negative eugenics. Suggest an eugenics programme to remove the cacogenic elements from Indian population. 274, 275

1954

1. State the various theories of punishment and indicate the one which appears to you the most reasonable. 467

2. Make out a case for social security of agricultural labourers in India.

3. Discuss the grounds on which the state should interfere in the economic activities of the individual. 69

4. 'Over population lies at the root of Indian poverty'. Examine this statement and give reasons for your answer. 238,258

5. Discuss the effects of technological progress on society. 416

6. Discuss the present transitional features in Indian urban social environment as causes of crime and vice. 466

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. Discuss the causes of growth of state activity in recent times in India. 76

8. How are Community Projects expected to improve rural life in India? What role are people expected to play in the fulfilment of these projects? 379, 381

9. What is the distinctive role of the state, employer and worker in schemes of labour welfare. What activities would you include under welfare. 616, 618

1955

1. Is the State justified in undertaking social legislation? Give reasons for your answer. 71, 151

2. Do you agree with the view that India is overpopulated? Support your answer with arguments. 263

3. What measures would you suggest to remove Indian poverty? 251

4. Discuss the role of co-operation in rural reconstruction in India. 324, 333

5. Is Zamindari abolition a complete solution of the land problem in U.P.? What other measures would you suggest? 354

6. What do you understand by Prohibition? How is it likely to benefit the people? Has this policy been successful in U. P.? 509, 512

7. What were the factors responsible for the growth of towns in the past? Account for the decay of the old towns and the growth of new ones. 387

8. 'In spite of the most up-to-date labour legislations the lot of Indian workers remains unsatisfactory as compared to workers in other industrial countries.' Explain. 521

9. Discuss the evils of the system of indirect recruitment. How far have Employment Exchanges been successful in meeting the situation? 533

1956

1. Give the chief characteristics of rural life in India. 319

2. Do you agree with the view that over-population is the cause of Indian poverty? 238, 258

3. 'Poverty is the main cause of juvenile delinquency'. Discuss. 490

4. Discuss the role of 'village *panchayats*' in rural reconstruction. 369

5. What do you understand by 'community projects'? Discuss their objects. 375

6. Discuss the need of social security measures in India. 621

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. Define 'labour welfare'. Whose responsibility should it be? 615, 618

8. Discuss the necessity of population control in India and indicate the lines on which population planning should proceed. 270, 272

9. What do you understand by 'basic education'? What are the suggestions of the Planning Commission for solving the difficulties of basic schools with regard to land? 199, 200, 211

1957

1. Discuss the measures that have been adopted in advanced countries for the reform of Juvenile delinquents. 492

प्रगतिशील देशों में बाल अपराध के सुधार के जो तरीके अपनाए गए हैं उनकी विवेचना कीजिए।

2. Indicate the social implications of economic planning in India. 129

भारत में आर्थिक नियोजन के सामाजिक उपलक्षण बताइए।

3. Examine critically the modern theroy of Social Reconstruction. 80

सामाजिक पुनर्निर्माण के आधुनिक सिद्धांतों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।

4. Discuss the statement, 'Education is a necessity of social life.' 191

इस कथन की विवेचना कीजिए "शिक्षा सामाजिक जीवन के लिए आवश्यक है।"

5. Define 'Poverty'. How are poverty and malnutrition related? 233

ग़रीबी की परिभाषा दीजिए। ग़रीबी और अपर्याप्त पोषण में क्या संबंध है?

6. Discuss the social consequences of an increase in population. Give examples. 270

जन-संख्या में वृद्धि के सामाजिक परिणामों की विवेचना कीजिए। उदाहरण दीजिए।

7. Bring out the contrast between the rural and urban communities in India. 388

भारत में ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों की असमानताओं का वर्णन कीजिए।

8. How is Social Disorganization engendered by modern industrial conditions? 447

आधुनिक औद्योगिक परिस्थितियाँ सामाजिक विघटन किस प्रकार उत्पन्न करती हैं?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

9. Account for the fact that in spite of the most modern labour legislations, labour conditions in India are not comparable with such conditions in the other industrially advanced countries of the world. 521

क्या कारण है कि भारत में आधुनिकतम श्रम-विधान होते हुए भी श्रमिकों की दशा विश्व के अन्य उन्नतिशील देशों के श्रमिकों की दशा से तुलनीय नहीं है।

1958

1. "Lack of education is the main cause of all rural problems in India." Discuss, and suggest the pattern of education which you consider suitable for a rural population. 227, 338

"शिक्षा का अभाव सर्व ग्रामीण समस्याओं का कारण है?" इस कथन की विवेचना कीजिए तथा ग्रामीण जनता के लिए शिक्षा-प्रणाली के विषय में अपने सुझाव दीजिए।

2. Describe briefly the pattern of village development as envisaged in the Second Five-Year Plan. 135

द्वितीय पंच-वर्षीय योजना में ग्राम-विकास के वांछित प्रतिरूप का उल्लेख कीजिए।

3. How far is social legislation effective in dealing with social problems in India? 152

भारतवर्ष में कहाँ तक सामाजिक-विधान सामाजिक-समस्याओं के समाधान में सफल हुआ है?

4. Discuss the role of the home, the school and the correctional institutions in the rehabilitation of juvenile offenders. 492

बाल-अपराधियों के पुनः प्रतिष्ठापन में गृह, विद्यालय तथा सुधार-संस्थाओं के महत्व की विवेचना कीजिए।

5. 'The importance of labour welfare work is greater in India than in the West'. Examine this statement and trace critically the nature of labour welfare work undertaken by the State. 616

"भारतवर्ष में श्रम-कल्याण कार्य का महत्त्व पश्चिमी देशों की तुलना में अधिक है।" इस कथन की विवेचना कीजिए तथा राज्य द्वारा सम्पन्न श्रम-कल्याण कार्यों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए।

6. Make a case for prohibition in India. Has it been successful? 512

भारतवर्ष में मद्य-निषेध के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए। यह भारत में कहाँ तक सफल हुआ है?

7. Do you agree with the view that Indian poverty is a result of over-population? 238, 258

क्या आप इस मत से सहमत हैं कि भारत में दरिद्रता का कारण जन-संख्या का आधिक्य है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

8. How far can urban life be regarded as a distinct sociological phenomenon? Mention its main characteristics. 388

नगरीय-जीवन को कहाँ तक एक स्पष्ट Sociological phenomenon माना जा सकता है? इसकी मुख्य विशेषताएँ बताइए।

9. Discuss the role of co-operation in rural reconstruction in India. 324, 333

भारतवर्ष के ग्रामीण पुनर्निर्माण में सहकारिता के स्थान की विवेचना कीजिए।

1959

1. Examine critically the concept of 'Welfare State'. Is India a Welfare State? 17, 40

कल्याण-राष्ट्र (वेलफेयर स्टेट) के शब्द की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। क्या भारतवर्ष एक कल्याण-राष्ट्र है?

2. What importance does social legislation have in a country like India? Is the State justified in undertaking social legislation? 71, 150, 151

भारतवर्ष जैसे देश में सामाजिक कानून का क्या महत्त्व है? क्या राष्ट्र के लिए सामाजिक कानून बनाना उचित है?

3. State the socio-economic consequences of industrialization in India and give your suggestions to check its evil effects. 417

भारत में उद्योगीकरण के सामाजिक-आर्थिक परिणामों को बतलाइये और इसके बुरे परिणामों को रोकने के लिए अपने सुझाव दीजिए।

4. Do you agree with the view that due to industrialization new towns have grown? What were the factors responsible for the growth of towns in India in the past? 389, 390

क्या आप इस मत से सहमत हैं कि उद्योग के कारण नये नगरों की उत्पत्ति हो गई है? भूतकाल में कौन-से तत्त्व, नगरों की उत्पत्ति के लिए उत्तरदायी थे?

5. To what extent has prohibition helped in improving the socio-economic condition of the labourer in India? 512, 513

नशा-निषेध आन्दोलन ने भारत के श्रमिक की सामाजिक-आर्थिक दशा को सुधारने में किस सीमा तक सहायता की है?

6. What are the causes that have led to the disintegration of the village community in our country? How far have the community projects helped in the rehabilitation of village communities? 341, 379

हमारे देश में ग्रामीण समुदाय के विघटन (Disintegration) के क्या कारण हैं? सामुदायिक योजनाओं ने ग्रामीण समुदाय के पुनः प्रतिष्ठापन में कैसे सहायता पहुँचाई है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

7. State briefly the various theories of punishment and indicate the one which appears to you the most reasonable. 467

दण्ड के सिद्धांतों का वर्णन संक्षेप में कीजिए और उनमें जो आपको सबसे उचित प्रतीत होता है, बताइये।

8. What are the reasons for slum conditions in industrial towns? What measures have been taken by the Government, Municipal Boards and employers to eradicate slums? 552. 554

औद्योगिक नगरों की गन्दी वस्तियों (स्लम्स) के होने के क्या कारण हैं? राष्ट्र, म्युनिसिपल बोर्ड और मालिकों (एम्प्लायर्स) ने गन्दी वस्तियों को समाप्त करने के लिए कौन-से तरीके अपनाये हैं?

9. Give in brief the history of factory legislation in India and indicate the important welfare provisions of the Factories Act of 1948. 586

फैक्टरी कानून के इतिहास की विवेचना संक्षेप में कीजिए और १९४८ के फैक्टरी एक्ट में जो महत्वशील कल्याण प्रवन्ध हैं, उनको स्पष्ट कीजिए।

10. Write a short essay on 'basic education'. 199

"बुनियादी शिक्षा" पर एक छोटा निवन्ध लिखिए।

केन्द्रीय शिक्षा संस्थान शिक्षा मंत्रालय भारत सरकार पुस्तकालय

1960

1. Enumerate briefly the chief causes of Indian poverty and also the measures taken by the Government to eradicate it. 36, 245

2. Which of the following factors are responsible for the growing population of India—a rising birth-rate or a falling death-rate, or both? 265

3. What are the reasons for the poor health of the people of India? What arrangement has been made by the Indian Government and the World Health Organization to eradicate disease? 286, 293

4. State briefly the influence of community projects upon village life. Illustrate your answer with examples. 379

5. What suggestions can you give to check the population growth of India? 272

6. State briefly the social implications of rapid industrialization in India. 421

7. Define the concepts of social organization and social dis-organization and explain the two processes by means of illustrations. 432, 433

8. Explain the meaning of urbanization. What are the chief differences between urban and rural life? 387, 388

9. What is the difference between criminal and delinquent? What plan would you suggest for the care of delinquents? 492

10. Describe briefly the progress made by our country as a result of the Five-Year-Plans. 133, 136

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

1961

1. Define 'Social Welfare' and discuss the concept of Welfare State. 17

2. Give the main provisions of any one piece of legislation in the field of marriage passed in our country during the last decade. 154, 156-162

3. Review critically our present system of education and suggest reforms. 215

4. Analyze briefly the causes of poverty in India. 236

5. Point out the main provisions incorporated in the Second Five-Year Plan to deal with the health problem of our country.

6. Discuss the main features of village life in India. 319

7. Give the main characteristics of the community development programme of our country. 376

8. What factors have been responsible for the recent growth of towns in our country? Discuss the main social problems faced by these growing towns. 395, 403

9. Distinguish between crime and delinquency and analyze the causes of the increasing rate of delinquency in India. 492

10. Define social security and describe briefly any one Indian social security programme. 623, 636

11. Write short notes on any two of the following :
   (*a*) Legislation for the welfare of the industrial workers in U. P.
   (*b*) Problems of industrial housing. 553
   (*c*) Prohibition policy of the Indian Government. 505
   (*d*) Basic Education. 199

1962

1. 'Increasing State control in the name of a welfare State is fraught with grave dangers'. Discuss this statement in the present Indian context. 61

"कल्याणकारी राज्य के नाम पर बढ़ते हुए राजकीय नियंत्रण से अत्यधिक भय उत्पन्न होने की आशंका है।" वर्तमान भारतीय स्थिति को सामने रखते हुए उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए।

2. Review the efforts being made by the Indian Government for promoting the welfare of the people. 33, 35, 131

जनता के कल्याण को बढ़ाने के लिए भारत सरकार जो प्रयास कर रही है, उनका विवरण कीजिए।

3. Discuss the role of legislation in bringing about social change. Give examples from the Indian setting. 150-151

सामाजिक परिवर्तन लाने में विधान के कार्यों की विवेचना कीजिए। भारतवर्ष की परिस्थिति से उदाहरण दीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

4. Give a brief history of the social reform movement in India, with special reference to the role of Mahatma Gandhi. 99, 176

महात्मा गांधी के कार्यों का विशेष विवरण करते हुए भारतवर्ष में समाज-सुधार आन्दोलन का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

5. Indicate some of the major tensions and conflicts prevailing today in our country and discuss their causes. 438

आजकल हमारे देश में पाए जानेवाले कुछ महान् आपत्ति और संघर्षों को बताइए और उनके कारण की विवेचना कीजिए।

6. What is social education? Review the steps being taken by the State Governments for its promotion. 222

सामाजिक शिक्षा क्या है? हमारी राज्य-सरकार इसकी उन्नति के लिए जो कार्य कर रही है, उसका विवरण कीजिए।

7. 'The Five-Year Plans of India are primarily economic plans.' Discuss the statement with particular reference to social aspects of planning. 126

"भारतवर्ष की पंचवर्षीय योजनाएँ प्राथमिक रूप से आर्थिक योजनाएँ हैं?" नियोजन की आकृतियों का हवाला देते हुए उपरोक्त कथन की विवेचना कीजिए।

8. What are the objectives of our community development programmes? How are they sought to be achieved? 375, 376

हमारे सामुदायिक विकास कार्यक्रम के क्या उद्देश्य हैं? उन्हें किस प्रकार प्राप्त किया जा रहा है?

9. Distinguish between personal and social disorganization and show their relationship with crime. 438

वैयक्तिक और सामाजिक विगठन में भेद बताइए और उनका अपराध से संबंध बतलाइए।

10. What are the social consequences of increasing industrial development in India? 421

भारतवर्ष में बढ़ते हुए औद्योगीकरण के सामाजिक परिणाम क्या हैं?

11. Discuss the concept of social insurance and give the main provisions of the Employees' State Insurance Scheme. 639

सामाजिक बीमे की धारणा की विवेचना कीजिए और एम्प्लाईज स्टेट इन्श्योरेंस स्कीम के मुख्य उद्देश्यों का उल्लेख कीजिए।

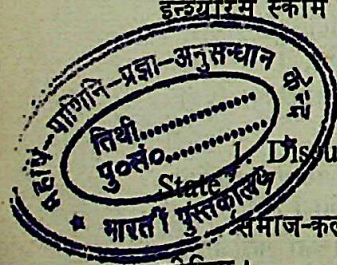
महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान केन्द्र
तिथी.....
पु०सं०.....
भारती पुस्तकालय

1963

1. Discuss the concepts of 'social welfare' and 'Welfare State'.

'समाज-कल्याण' और 'कल्याणकारी-राज्य' की धारणाओं की विवेचना कीजिए।

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. Review the measures incorporated in the Third Five-Year Plan for 'social welfare'. 138

तीसरी पंचवर्षीय योजना में समाज-कल्याण के लिए की गई व्यवस्था का विवरण दीजिए।

3. Discuss the impact of recent legislation on the patterns of family and marriage in India. 8th chapter (148-173)

भारतवर्ष में परिवार और विवाह के स्वरूपों पर अभिनव विधानों के प्रभाव की विवेचना कीजिए।

4. Show the relationship between social welfare and social reform. What social reforms would you advocate for India and why? 181

समाज-कल्याण और समाज-सुधार में संबंध बताइए। भारतवर्ष के लिए आप किन समाज-सुधारों का समर्थन करेंगे और क्यों?

5. Give the concept of basic education and show its progress in India. 208

मौलिक शिक्षा की धारणा का उल्लेख कीजिए और भारतवर्ष में उसकी प्रगति का विवरण दीजिए।

6. What steps are being taken for the reconstruction of rural India? 361

ग्रामीण भारत के पुनर्निर्माण के लिए क्या-क्या कार्य किए जा रहे हैं?

7. Give the major socio-economic problems of an industrial town. 417

एक औद्योगिक नगर की मुख्य सामाजिक-आर्थिक समस्याओं का उल्लेख कीजिए।

8. Define social disorganization and discuss its causes. 433

सामाजिक विघटन की परिभाषा कीजिये और उसके कारणों की विवेचना कीजिये।

9. Analyze the causes of the increasing incidence of crime in India. 474

भारतवर्ष में अपराध की बढ़ती हुई संख्या के कारणों का विश्लेषण कीजिए।

10. 'The policy of prohibition is bound to end in failure.' Discuss. 514

"मद्यनिषेध की नीति अवश्य असफल होगी।" विवेचना कीजिए।

11. Give an outline of the social security measures adopted for the benefit of industrial workers in India. 625

भारतवर्ष में औद्योगिक श्रमिकों के हित के लिए सामाजिक सुरक्षा-संबंधी कार्यों की रूपरेखा बताइये।

1964

1. Explain the concepts of social welfare and socialism. Is a Welfare State without socialism possible? 17, 70

सामाजिक कल्याण तथा समाजवाद की अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए। क्या समाजवाद के बिना कल्याणकारी राज्य का अस्तित्व संभव है?

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

2. Discuss briefly the aims and objectives of community development projects in India. Point out their shortcomings. 375, 382

भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं के लक्ष्य तथा उद्देश्यों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। इनकी न्यूनताओं पर भी प्रकाश डालिए।

3. Discuss the important measures of social legislation adopted by the State in recent years to promote the welfare of women and children in India. 8th chapter (148-173)

भारत में नारी तथा शिशु-कल्याण के संवर्धन के लिए हाल में राज्य द्वारा अपनाई गई महत्त्वपूर्ण संवैधानिक युक्तियों की विवेचना कीजिए।

4. Analyze the socio-economic effects of industrialization, with special reference to India. 421

भारत को दृष्टि में रखते हुए व्यवसायीकरण के सामाजिक तथा आर्थिक प्रभावों का विश्लेषण कीजिए।

5. Discuss the main causes of poverty and beggary in India. Suggest measures for their eradication. 236

भारत में दरिद्रता तथा बेकारी के मुख्य-मुख्य कारणों की पर्यालोचना कीजिए। इनके उन्मूलन के उपाय भी बतलाइये।

6. What do you understand by social disorganization? What is the relationship between industrialization and social disorganization? Illustrate your answer by Indian examples. 428, 433

सामाजिक विघटन से आप क्या समझते हैं? व्यवसायीकरण तथा सामाजिक विघटन में क्या संबंध है? अपना उत्तर भारतीय उदाहरणों द्वारा स्पष्ट कीजिए।

7. Discuss the socio-economic background of juvenile delinquency in India. 417, 480

भारत में बाल-अपराध की सामाजिक तथा आर्थिक पृष्ठभूमि की व्याख्या कीजिये।

8. Describe briefly the welfare programmes in the Second and Third Five-Year Plans of India. 33-41

भारत की द्वितीय तथा तृतीय पंचवर्षीय योजनाओं में प्रस्तुत कल्याण संबंधी कार्यक्रमों का संक्षिप्त वर्णन कीजिये।

9. Write a short essay on the problem of health and nutrition in India. 283, 310

'भारत में स्वास्थ्य तथा आहार' की समस्या पर एक संक्षित लेख लिखिए।

10. Write short notes on any two of the following :

(a) Basic education. 199, 200
(b) Labour welfare. 555, 615
(c) Prohibition in India. 505
(d) Social security for industrial workers in India. 627

निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :—

(क) मौलिक शिक्षा।
(ख) श्रम-कल्याण।
(ग) भारत में मद्य-निषेध।
(घ) भारत में औद्योगिक श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा।

769
महर्षि-पाणिनि-प्रज्ञा-अनुसन्धान
तिथी.....
पु०सं०.....
भारती पुस्तकालय

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0.Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.

Digitized by Arya Samaj Foundation Chennai and eGangotri

CC-0. Panini Kanya Maha Vidyalaya Collection.